UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186654

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H891.370109 U65P Accession No. H3705

Author उपाध्याय, भरतसिंह

Title पालि साहित्य का इतिहास

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रकाशकीय

श्री भरत सिंह उपाध्याय एम० ए० के इस ग्रन्थ 'पालि साहित्य का इतिहास' का प्रकाशकीय लिखना मैं अपने लिए विशेष महत्त्व की बात मानता हूँ। विद्वान् लेखक बौद्ध और जैन साहित्य के पण्डित हैं। "बौद्ध-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन" पर इन्हें बंगाल हिन्दी मण्डल से १५००) का 'दर्शन' पारितोषिक मिल चुका है। पर यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। गंभीर साहित्य पर लिखने वाले हिन्दी में अभी बहुत कम हैं। जिन इने-गिने व्यक्तियों का नाम उँगलियों पर गिना जा सकता है उनमें एक उपाध्याय जी हैं, यह इनके इस प्रकाशित ग्रन्थ के आधार पर पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है। लेखक ने चार वर्षों के अध्यवसाय और तपस्या से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। संसार के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य को हिन्दी जनता के लिए सुगम बनाने का श्रेय लेखक को मिल कर रहेगा। इस ग्रन्थ का लाभ देश की दूसरी भाषाओं को भी मिलेगा। साहित्य के विद्यार्थी इससे ईसा-पूर्व के सामाजिक जीवन, भाव और विचार से परिचित होंगे।

यह ग्रन्थ दस अध्याय और उनमें वर्णित वैज्ञानिक विभागों में पूरा हुआ है। विषय-सूची को एक बार देख लेने पर सामान्य हिन्दी पाठक का बौद्धिक क्षितिज अनायास विस्तृत हो उठता है और ग्रन्थ के भीतर पैठने की जिज्ञासा जाग जाती है। हिन्दी साहित्य के विकास और उन्नयन के लिए संस्कृत की जानकारी जितनी आवश्यक है उतनी ही आवश्यक है पालि की जानकारी भी। संस्कृत का परिचय संस्कार और अभ्यास से शिक्षित वर्ग को थोड़ा बहुत मिलता रहा है पर पालि परिचय के लिए हिन्दी में अब तक के प्रकाशित ग्रन्थों में यह ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है, यह कहने में हमें संकोच नहीं है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण दर्शनों में लेखक की रुचि और जिज्ञासा पाठक के भीतर दर्शन और साहित्य दोनों की रुचि जगा देती है।

पालि साहित्य में शाक्यमुनि के आचार-विचार, धर्म और संघ के विवरण के साथ इस देश का वह इतिहास जो ईसा-पूर्व और बाद की कई शताब्दियों का

इतिहास है, हमें मिल जाता है। पालि में उपलब्ध सामग्री जो न मिलती तो फिर उस काल का हमारा इतिहास भी लुप्त हो गया होता। दो सहस्र वर्ष पहले का हमारा समाज, हमारे जीवन का तल, हमारी आशा-आकांक्षायें, हमारी दिन-चर्या, बुद्धि और कौतुक के सभी क्षेत्र कम या अधिक इस ग्रन्थ से हमें सुगम बन जाते है। संस्कृति का वह सूत्र जिसे हम भूल चुके थे, लेखक ने जिस मनोयोग से खोज निकाला है, उसका अभिनन्दन हम इसलिए करेंगे कि महत्त्व के ऐसे कठिन कार्य अर्थ और यश की कामना से सम्भव नहीं होते। गहरी निष्ठा, कठोर संकल्प, अडिग समाधि और अनासक्त बुद्धि से, व्यक्ति जब निर्माण में लगता है तभी वह ऐसी रचनायें दे सकता है। श्री उपाध्याय जी का सरल स्वरूप कितनी सरलता से पाण्डित्य का पर्वत उठा सका है, देख कर विस्मय होता है। अभी वे तरुण हैं और कार्य करने के अनेक वर्ष उनके सामने है। संकल्प और साधना की यही योगवृत्ति जो उनमें बनी रही तो वे अभी और कई ग्रन्थ रत्न हिन्दी भाषा को दे सकेंगे।

—लक्ष्मीनारायण मिश्र
साहित्य मन्त्री

प्राक्कथन

भारतीय वाङ्मय में बौद्ध साहित्य और उसमें भी पालि-साहित्य का बहुत महत्त्व है, इतना कहने से भी हम पालि साहित्य के महत्त्व को अच्छी तरह प्रकट नहीं कर सकते। वस्तुतः ईसवी सन् के पहले और पीछे की पाँच शताब्दियों के भारत के विचार, साहित्य, समाज सभी क्षेत्रों की हमारी जानकारी बिलकुल अधूरी रह जाती, यदि हमारे पास पालि साहित्य न होता। हमारे इतिहास के कितने ही अन्धकारावृत भागों पर पालि साहित्य ने प्रकाश डाला है। हमारे ऐतिहासिक नगरों और गाँवों मे से बहुतों को विस्मृति के गर्भ में से बाहर निकालने का श्रेय पालि साहित्य को है। फिर भारत के सर्वश्रेष्ठ पुरुष गौतम बुद्ध के मानव रूप का साक्षात्कार करने के लिए पालि साहित्य तो अनिवार्यतया आवश्यक है।

दुनिया की प्रायः सभी उन्नत भाषाओं मे पालि साहित्य की अनमोल निधियों के अनुवाद हुए है, पालि साहित्य के ऊपर परिचयात्मक ग्रन्थ लिखे गए हैं। यह खेद की बात है कि हमारी हिन्दी भाषा में ऐसी कोई पुस्तक नहीं लिखी गई थी। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद अवश्य हुए हैं, लेकिन वहाँ भी बहुत थोड़े भाग में काम हो सका है। श्री भरतसिंह उपाध्याय ने पालि साहित्य के इतिहास पर एक विस्तृत ग्रन्थ लिख कर हिन्दी साहित्य की एक बड़ी कमी को पूरा किया है। उनके ग्रन्थ में पालि साहित्य और तुलनात्मक भाषा के सम्बन्ध मे भी पर्याप्त सामग्री दी गई है। इस ग्रन्थ के सब गुणों का परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है। किन्तु मैं समझता हूँ कि यह पुस्तक पालि साहित्य के उच्च विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के लिए तो बहुत सहायक साबित होगी ही, साथ ही साहित्य में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

दिल्ली

राहुल सांकृत्यायन

२–६–४९

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

प्रथम संस्करण की भूमिका

हिन्दी में पालि साहित्य सम्बन्धी अध्ययन का अभी सूत्रपात ही हुआ है। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवादों के अतिरिक्त पालि साहित्य सम्बन्धी कार्य हिन्दी में प्रायः बहुत ही कम हुआ है। अनुवाद भी प्रायः विनय-पिटक और सुत्त-पिटक के कुछ ग्रन्थों के ही हुए हैं। सुत्त-पिटक के भी संयुत्त और अंगुत्तर जैसे निकाय अभी अनुवादित नहीं हो पाए हैं। खुद्दक-निकाय के भी अनेक ग्रन्थ अभी अनुवादित होने को बाकी है। सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक पर तो अभी हाथ ही नहीं लगाया गया। इसी प्रकार सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य, जिसमें बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की अट्ठकथाएँ और अन्य विशाल साहित्य सम्मिलित है, अभी अनुवाद की बाट देख रहा है। इस साहित्य में से केवल 'मिलिन्द-प्रश्न' और 'महावंश' तथा कुछ अन्य अल्पाकार ग्रन्थ ही हिन्दी रूपान्तर ग्रहण कर सके है। 'विसुद्धिमग्गो' जैसा ग्रन्थ अभी हिन्दी जनता को अविदित है। ऐसा लगता है कि एक महान् उत्तराधिकार से हम वंचित हो गए है। जिस दिन अवशिष्ट पालि साहित्य हिन्दी रूपान्तर ग्रहण कर लेगा, उस दिन भारतीय मनीषा को एक नई स्फूर्ति मिलेगी। उसकी आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत, जो आज सूखे पड़े है, पुनः आप्लावित हो उठेंगे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

जो दशा पालि ग्रन्थों के अनुवादों की है, वही उनके मूल पाठों के नागरी संस्करणों की भी है। सन् '३७ में पुण्यश्लोक बर्मी भिक्षु उत्तम ने भिक्षु-त्रय, महामति राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित खुद्दक-निकाय के ११ ग्रन्थों को नागरी लिपि मे प्रकाशित किया था। तब से बम्बई विश्वविद्यालय की ओर से निदान-कथा, महावंस, दीघ-निकाय (दो भाग), मज्झिम-निकाय (मज्झिम-पण्णासक), थेरीगाथा,

थेरगाथा, मिलिन्दपञ्हो तथा पातिमोक्ख आदि का प्रकाशन नागरी लिपि में हो चुका है। पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य के भिक्खु और भिक्खुनी पातिमोक्ख के तथा डा० विमलाचरण लाहा के 'चरियापिटक' के नागरी संस्करण भी स्मरणीय हैं। इसी प्रकार मुनि जिनविजय का 'अभिधानप्पदीपिका' का संस्करण, प्रोफेसर बापट के 'धम्मसंगणि' और 'अट्ठसालिनी' के संस्करण, आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी के 'विसुद्धिमग्ग' एवं स्वकीय नवनीत-टीका सहित 'अभिधम्मत्थ संगह' के संस्करण तथा भिक्षु जगदीश काश्यप का मोग्गल्लान-व्याकरण पर आधारित 'पालि महा-व्याकरण' ये सब हिन्दी मे पालि-स्वाध्याय के महत्त्वपूर्ण प्रगति-चिन्ह हैं। इनके अलावा कुछ अन्य ग्रन्थों के भी नागरी संस्करण निकले है और धम्मपद, सुत्त-निपात, तेलकटाहगाथा, खुद्दक-पाठ आदि कुछ ग्रन्थों के मूल पालि-सहित हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुए है। फिर भी जो कुछ काम अभी तक हो चुका है, वह उसके सामने कुछ नही है जो अभी होना बाकी है। भारतीय विद्वानों के सामने एक भारी काम करने को पड़ा हुआ है। यह काम सफलतापूर्वक हो, इसके लिए अथक परिश्रम और आर्थिक व्यवस्था दोनों की ही बड़ी आवश्यकता है। महाबोधि सभा की कई योजनाएँ आर्थिक अभाव के कारण अपूर्ण पड़ी हुई हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत संयुत्त-निकाय का हिन्दी-अनुवाद वर्षों से पड़ा हुआ है और उसके प्रकाशन की व्यवस्था अभी-अभी हुई है। इसी प्रकार उनके द्वारा संकलित बृहत् पालि-हिन्दी शब्दकोश के प्रकाशन का सवाल है। अनेक पालि ग्रन्थों के मूल पाठ, जिन्हें विद्वान् भिक्षुओ ने नागरी अक्षरों में लिख लिया है, विद्यमान हैं, किन्तु उनके छपने की कोई व्यवस्था नही। यही अवस्था अनेक अनुवादों की है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि महाबोधि सभा या कोई पुरानी या नई साहित्य-संस्था सम्पूर्ण पालि साहित्य के मूल पाठ और हिन्दी-अनुवाद को प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में ले और विद्वानों के सहयोग से उसे निकट भविष्य में पूरा करे। सरकार और जनता का भी कर्तव्य है कि वह इसमे महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहयोग दे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दिनों में हम प्रत्येक स्वाधीनता-दिवस पर अंग्रेजों पर यह आरोप लगाया करते थे कि अन्य अनेक ह्रासों के साथ उन्होंने हमारा सांस्कृतिक ह्रास भी किया है। आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के चौथे वर्ष में भारतीयों को यह याद दिलाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी कि जब कि हमारी अपनी भाषा

में कुछ गिने-चुने पालि ग्रन्थों के मूल पाठों और अनुवादों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अंग्रेजों ने बीसों वर्ष पहले सम्पूर्ण पालि साहित्य के मूल पाठ और अंग्रेजी अनुवाद को रोमन-लिपि में रख दिया था। क्या पालि साहित्य भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अपेक्षा अंग्रेजी संस्कृति और सभ्यता से अधिक घनिष्ठ सम्बन्धित है? क्या हमारी अपेक्षा पालि साहित्य का महत्त्व और ममत्व अंग्रेजों के लिए अधिक था? क्या ५०० ई० पूर्व से लेकर ५०० ई० तक का भारतीय इतिहास हमारी अपेक्षा अंग्रेज लोगों के लिए अधिक ज्ञातव्य विषय था? सन् १९०२ में 'बुद्धिस्ट इंडिया' लिखते समय रायस डेविड्स ने अपने देश की सरकार की उदासीनता की शिकायत करते हुए लिखा था कि इंगलैण्ड में केवल दो जगह संस्कृत और पालि की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है जब कि जर्मनी की सरकार ने अपने यहाँ बीस से अधिक जगह इसका प्रबन्ध किया है "जैसे कि मानो जर्मनी के स्वार्थ भारत में हमसे दस गुने से भी अधिक हों।" आज सन् १९५१ में भारत में पालि के उच्च स्वाध्याय की अवस्था और उसके प्रति सरकार के शून्यात्मक सहयोग को देख कर कोई भारतीय विद्यार्थी यह दुःखद अनुभूति किए बिना नही रह सकता कि सन् '५१ में भारतीय सरकार का जितना हित इस देश की संस्कृति और साहित्य के साथ दिखाई पड़ता है, उसके कदाचित् दुगुने और बीस गुने से भी अधिक क्रमशः इंगलैण्ड और जर्मनी का सन् १९०२ में था!

जब पालि ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद और उनके मूल पाठों के नागरी-संस्करणों की उपर्युक्त अवस्था है तो पालि साहित्य पर हिन्दी में अभी विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने का कोई आधार ही नही मिलता। किसी भी साहित्य के विस्तृत शास्त्रीय अध्ययन एवं उस पर विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने के लिए पहले यह आवश्यक है कि उसके मूल संस्करण और अनुवाद उपलब्ध हों, जिनके आधार पर उपादान-सामग्री का संकलन किया जा सके। हिन्दी इस शर्त को पूरा नहीं करती। इसीलिए सिर्फ दो-एक निबन्धों के अतिरिक्त पालि साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में यहाँ कोई विवेचनात्मक ग्रन्थ हमें नहीं मिलते। पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी ने सिंहल में अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप पालि ग्रन्थों का एक संक्षिप्त विवरण लिखा था, जो 'पालि वाङ्मय की अनुक्रमणिका' शीर्षक से काशी विद्यापीठ

की पत्रिका 'विद्यापीठ' के संवत् १९९३ के आश्विन-पौष अंक में निकला था। एक दूसरा पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के चतुर्थ परिशिष्ट के रूप में है। सरसरी तौर पर यहाँ पालि साहित्य के विकास को दिखाने की चेष्टा की गई है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुवादों की प्रस्तावनाओं में उन-उन ग्रन्थों सम्बन्धी विवरणों के साथ-साथ सामान्यतः पालि साहित्य सम्बन्धी परिचयात्मक विवरण भी कहीं-कहीं दे दिया गया है। विशेषत. महापंडित राहुल सांकृत्यायन की 'बुद्ध-चर्या', 'दीघ-निकाय', 'विनय-पिटक' एवं 'अभिधर्म-कोश', आदि की भूमिकाएँ, भदन्त आनन्द कौसल्यायन की 'जातक' (प्रथम खण्ड) और 'महावंश' की भूमिकाएँ और भिक्षु जगदीश काश्यप की 'उदान' और 'पालि महाव्याकरण' की भूमिकाएँ, इस दृष्टि से देखने योग्य हैं। भदन्त श्री शान्ति भिक्षु जी के भी पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध इधर 'विश्व भारती पत्रिका' और 'विशाल भारत' में निकलते रहे हैं। 'धर्मदूत' में भी पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित जी, भिक्षु शीलभद्र जी, भिक्षु धर्मरत्नजी तथा अन्य अनेक बौद्ध विद्वानों के प्रायः निकलते रहते हैं। इधर बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी कुछ विवेचनात्मक ग्रन्थ भी हिन्दी में निकले हैं। उनमें भी यथास्थान पालि साहित्य का कुछ विवरण है। पर उनमें कोई ऐसी मौलिकता या विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती जिससे उसे विशिष्ट महत्त्व दिया जा सके। अतः प्रकीर्ण निबन्धों, प्रस्तावनाओं और गौण संक्षिप्त विवरणों के अतिरिक्त पालि साहित्य के इतिहास पर हिन्दी मे अभी कुछ नहीं लिखा गया है।

हाँ, अंग्रेजी में पालि साहित्य के इतिहास पर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मेबिल बोर्ड का 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा' (लन्दन, १९०९) और जी० पी० मललसेकर का 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन' (लन्दन, १९२८) क्रमशः बरमा और लंका के पालि साहित्य पर अच्छे विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। डा० विण्टर-नित्ज़ ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' (कलकत्ता, १९३३) की दूसरी जिल्द (पृष्ठ १–२२६) में पालि साहित्य का संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक विवरण दिया है। पालि भाषा और साहित्य का अत्यन्त सूक्ष्म

और गम्भीर विद्वत्तामय विवेचन जर्मन विद्वान् डा० विल्हेल्म गायगर ने अपने ग्रन्थ 'पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज' (अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता, १९४३) में किया है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में पालि साहित्य का निर्देश तो अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप में किया गया है (पृष्ठ ९–५८), किन्तु पालि भाषा का शास्त्रीय दृष्टि से जितना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन (पृष्ठ १–७ तथा ६१–२५०) इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। पालि भाषा और साहित्य दोनों के परिपूर्ण और शृंखलाबद्ध विवेचन की दृष्टि से डॉ० विमलाचरण लाहा का दो जिल्दों में प्रकाशित 'हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर' (लन्दन, १९३३) एक महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ है, यद्यपि इसका भाषा-सम्बन्धी विवेचन डॉ० गायगर के ग्रन्थ के सामने नगण्य-सा है। पालि साहित्य-सम्बन्धी इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अलावा उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले अनेक प्रबन्ध एवं परिचयात्मक निबन्ध आदि हैं, जो पालि टैक्स्ट् सोसायटी के 'जर्नल' में अनुसन्धेय हैं। रॉयल एशियाटिक सोसायटी के 'जर्नल' तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स में भी प्रासंगिक तौर पर पालि साहित्य सम्बन्धी प्रभूत सामग्री मिलती है। पालि टैक्स्ट सोसायटी लन्दन के अंग्रेजी-अनुवादों की भूमिकाओं और अनुक्रमणिकाओं में भी भारी सामग्री भरी पड़ी है, जिसका उपयोग पालि साहित्य के किसी भी इतिहास-कार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो सकता है। सम्पूर्ण पालि साहित्य में प्राप्त व्यक्तिवाचक नामों का विवरणात्मक कोश (डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स) जिसे अत्यन्त परिश्रम और विद्वत्ता के साथ सिंहली विद्वान् डा० मललसेकर ने, विशेषत: पालि टैक्स्ट् सोसायटी के अनुवादों की अनुक्रमणियों के आधार पर, ग्रथित किया है, (लन्दन, १९३७) पालि साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सदा एक प्रेरणा की वस्तु रहेगी। पालि साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर विवेचन हमें कर्न के 'मैनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म' (स्ट्रैसबर्ग, १८९६), रायस डेविड्स के 'बुद्धिज़्म : इट्स् हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर' (लन्दन, १८९६) एवं 'बुद्धिस्ट इंडिया' (लन्दन, १९०३) आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। वंश-साहित्य पर डॉ० गायगर का 'दीपवंस एण्ड महावंस' (अंग्रेजी अनुवाद, कोलम्बो, १९०८) एक महत्त्वपूर्ण समालोचनात्मक ग्रंथ है। अभिधम्म-पिटक के विषय का विवेचन करने वाले प्रबन्धों और ग्रन्थों में स० ज़० ऑंग का 'अभिधम्म लिटरेचर इन बरमा' (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी,

१९१०-१२), डॉ० सिलवा का 'ट्रीटाइज़ औन बुद्धिस्ट फिलासफी', श्रीमती रायस डेविड्स की 'ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स' ('धम्म-संगणि' का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, १९००) की भूमिका, महास्थविर ज्ञानातिलोक की 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक' (लुज़ाक एण्ड कं०, लन्दन, १९३८) एवं भिक्षु जगदीश काश्यप की 'अभिधम्म फिलॉसफी' (दो जिल्दें, सारनाथ, १९४२-४३) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार सुत्त-पिटक, विनय-पिटक, पालि काव्य, व्याकरण, अभिलेख-साहित्य, अट्ठकथा-साहित्य आदि पालि-साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर इतनी विवेचनात्मक सामग्री अंग्रेजी और यूरोप की अन्य भाषाओं जैसे फ्रेंच और जर्मन में भरी पड़ी है कि उसके संक्षिप्ततम निर्देश के लिए भी एक महाग्रन्थ की आवश्यकता पड़ेगी। यह कहना अतिशयोक्ति न जान पड़े, इसलिए यहाँ यह बता देना जरूरी है कि गत सत्तर-अस्सी वर्षों में पश्चिमी देशों में भारतीय विद्या-सम्बन्धी जो खोज-कार्य हुआ है, उसका तीन-चौथाई भाग बौद्ध धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति से ही सम्बन्धित है।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषा में पालि साहित्य के इतिहास पर लिखी जाने वाली यह प्रथम पुस्तक है। इस पृष्ठभूमि से देखने पर इसमें अनेक अनिवार्य कमियाँ मिलेंगीं, जिनकी पूर्ति भावी विद्वानों की कृतियाँ करेंगीं। १२-१-४७ के अपने कृपा-पत्र में पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने मुझे उत्साहित करते हुए लिखा था--"हिन्दी में 'पालि साहित्य का इतिहास' लिखा जाय तो ऐसा ही लिखा जाय कि अंग्रेजी इतिहास फीके पड़ जायें और १९४७ तक की साहित्यिक खोज का पूरा-पूरा सार रहे।.... अपनी राष्ट्र-भाषा मे 'पालि साहित्य का इतिहास' लिखा जाय तो वह ऐसा ही होना चाहिए कि उसे ही पढ़ने के लिए लोगों को हिन्दी पढ़नी पड़े।" मै नहीं कह सकता कि पूज्य भदन्त जी ने मुझसे जो बड़ी आशा बाँधी थी, उसे पूरा करने में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ। परन्तु मुझे विश्वास है कि बरमा, सिंहल और स्याम के निवासी भी यदि बुद्ध के देश के इस माणवक के पालि साहित्य सम्बन्धी विवरण को पढ़ेंगे तो अधिक निराश नहीं होंगे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन और पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप जी के अनुवादों से मुझे इस पुस्तक के लिखने में बड़ी सहायता मिली है। पूज्य भिक्षु काश्यप जी के अभिधम्म-सम्बन्धी अध्ययन

के फलों और निष्कर्षों को (जैसे कि वे अभिधम्म फिलॉसफी में प्रस्फुटित हुए हैं) पाठक इन पृष्ठों में हिन्दी-रूप में प्रतिबिम्बित देखेंगे और पूज्य राहुल जी की विद्वत्ता के फलों से मैं कितनी प्रकार लाभान्वित हुआ हूँ, इसकी तो कोई इयत्ता नहीं। उन्होंने कृपा कर इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखा है, जिसके लिए उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। पूज्य आचार्य श्री वियोगी हरि जी ने इस रचना में आदि से ही बड़ी रुचि दिखाई है, यह मेरे लिए एक बड़ी प्रेरणा और आश्वासन की बात रही है। उन्होंने ही श्री राहुल जी से मेरा परिचय कराया और इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायता भी की। आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जी ने इस ग्रन्थ की रूपरेखा को देखकर मुझे अत्यधिक उत्साहित किया, जिसके लिए उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। पूज्य गुरुवर आचार्य श्री जगन्नाथ तिवारी जी, आचार्य श्री धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री, आचार्य श्री सीताराम जी चतुर्वेदी एवं आचार्य श्री कृष्णानन्द जी पन्त का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कृपा कर पांडुलिपि के कई अंशों को ध्यानपूर्वक पढ़ा और सत्परामर्श दिये। राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन, श्री चन्द्रबलीजी पाण्डेय, श्री कृष्णदेव प्रसादजी गौड़, श्री दयाशंकरजी दुबे, श्री पं० लक्ष्मीनारायणजी मिश्र, श्री रामप्रतापजी त्रिपाठी, एवं सम्मेलन की साहित्य-समिति के सदस्यों का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को सम्मेलन के द्वारा प्रकाशन के योग्य समझा। अन्त में मैं श्री सीतारामजी गुप्ठे, व्यवस्थापक सम्मेलन मुद्रणालय तथा उनके सहयोगियों के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ, जिन्होंने बड़ी दक्षता से इस पुस्तक को छापा है। भगवान् बुद्ध का अनुभाव उन पर अभिवर्षित हो!

किसी खोजपरक विवेचनात्मक ग्रन्थ के लेखक के लिए आजकल यह प्रायः आवश्यक माना जाता है कि वह यह बताये कि कहाँ तक उसने अपने पूर्वगामियों का अनुसरण किया है, अथवा कहाँ तक उसने मौलिक स्थापनाएँ और निष्कर्ष उपस्थित किए है। मैं समझता हूँ यह काम तो पालि-साहित्य के मर्मज्ञ समालोचक ही, जिन्होंने पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों के ग्रन्थों को पढ़ा है, कर सकेंगे। जहाँ तक मैं समझता हूँ मैंने इस पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ, पंक्ति-पंक्ति, शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर का विश्लेषण कर देखा तो मुझे कहीं 'मैं' या 'मेरा' नहीं मिला, 'अपना' कुछ दिखाई नहीं दिया। जो 'मैं' नहीं है, जो मेरा 'अपना' नहीं है, उसको जितना जल्दी

हो छोड़ देना ही मेरे लिए कल्याणकारी होगा। इसी विचार के साथ मैं समाप्त करता हूँ।

जैन कालेज, बड़ौत
१०-९-५१

—भरतसिंह उपाध्याय

*

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १९५१ (सं० २००८) में प्रकाशित हुआ था। अब इसका द्वितीय संस्करण निकल रहा है। इस बीच पालि अनुशीलन के इतिहास में एक युगान्तकारी घटना हुई है। वह है पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप जी के प्रधान सम्पादकत्व में पूरे पालि तिपिटक का ४१ भागों में देवनागरी लिपि में प्रकाशन। अब तक पालि के विद्यार्थियों को तिपिटक पढ़ने के लिये रोमन, सिंहली, बर्मी, स्यामी या कम्बोजी (कम्बोडियन) लिपियों का सहारा लेना पड़ता था और पूरे ग्रन्थ भारत में कहीं भी उपलब्ध न थे। अब यह अभाव दूर हो गया है और पालि अनुशीलन की प्रकृत आधार-शिला रख दी गई है। पालि तिपिटक के देवनागरी संस्करण के प्रकाशन ने पालि अध्ययन के इतिहास के एक युग के अन्त और एक नये युग के आरम्भ की सूचना दी है और हिन्दी में पालि अनुशीलन अब अपने पैरों पर खड़ा हो चला है।

कुछ नये पालि ग्रन्थों के हिन्दी में अनुवाद भी इस बीच में हुए हैं, यथा संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय (प्रथम तीन निपात), थेर-गाथा, विसुद्धि-मग्ग, अभिधम्म-त्थ-संगह आदि। इस प्रकार अनुवादों की दिशा में भी हिन्दी अग्रसर हो रही है और आशा है कि निकट भविष्य में इसमें विशेष उन्नति होगी।

पालि साहित्य के इतिहास के नाम पर यद्यपि नये ग्रन्थ विदेशी या देशी भाषाओं में मेरी जानकारी में इधर प्रकाशित नहीं हुए, परन्तु पालि साहित्य तो इतिहास, पुरातत्त्व, धर्म, दर्शन और संस्कृति का अक्षय भाण्डार है और उसके इन पक्षों पर निरन्तर खोज-कार्य होता रहा है और प्रति वर्ष नये ग्रन्थ प्रकाशित होते रहे हैं। विशेषतः सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के कुछ अंगों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तुलनात्मक ग्रन्थ इधर अंग्रेजी में प्रकाशित हुए हैं, जिनका हवाला मैं इस पुस्तक में दूंगा। संस्कृत बौद्ध साहित्य के अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन से पालि परम्परा पर नया प्रकाश पड़ा है, जिसका अभी मूल्यांकन नहीं किया गया है।

मैंने इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण को भरसक अद्यावधि और पूर्ण प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया है। अनेक गलतियाँ सुधार दी गई हैं और कुछ नई सूचनाएँ जोड़ दी गई है। मुझे विश्वास है कि अपने इस रूप में यह पुस्तक पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

हिन्दू कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली
२५-८-१९६३

भरतसिंह उपाध्याय

विषय-सूची

पहला अध्याय

पालि भाषा

'पालि' शब्दार्थ-निर्णय—पालि भाषा—भारतीय भाषाओं के विकास में पालि का स्थान—पालि किस प्रदेश की मूल भाषा थी? पालि और वैदिक भाषा—पालि और संस्कृत—पालि और प्राकृत भाषाएँ : विशेषतः अर्द्ध-मागधी, शौरसेनी और पैशाची—पालि के ध्वनि-समूह का परिचय—पालि का शब्द-साधन और वाक्य-विचार—पालि भाषा के विकास की अवस्थाएँ—पालि भाषा और साहित्य के अध्ययन का महत्त्व, उपसंहार।

पृष्ठ १–८१

दूसरा अध्याय

पालि साहित्य का विस्तार, वर्गीकरण और काल-विभाग

पालि साहित्य का उद्भव और विकास—पालि साहित्य का विस्तार—सामान्यतः दो विभागों में उसका वर्गीकरण—पालि या पिटक साहित्य —अनुपालि या अनुपिटक साहित्य—पिटक साहित्य के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय और काल-क्रम——अनुपिटक साहित्य का काल-विभाग, उपसहार।

पृष्ठ ८२–१२२

तीसरा अध्याय

सुत्त-पिटक

पालि तिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन है? सुत्त-पिटक—विषय,

शैली और महत्त्व––सुत्त-पिटक के अन्तर्गत ग्रन्थों के वस्तु-विधान का संक्षिप्त परिचय और उनका साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्वः––

अ. दीघ-निकाय

आ. मज्झिम-निकाय

इ. संयुत्त-निकाय

ई. अंगुत्तर-निकाय

उ. खुद्दक-निकाय पृष्ठ १२३–३३१

चौथा अध्याय

विनय-पिटक

तिपिटक में विनय-पिटक का स्थान––विनय-पिटक का विषय और संकलन-काल––विनय-पिटक के भेद––विनय-पिटक के नियम––विनय-पिटक के वस्तु-विधान का संक्षिप्त परिचय––सुत्त-विभंग––खन्धक––परिवार, उपसंहार। पृष्ठ ३३२–३६७

पाँचवाँ अध्याय

अभिधम्म-पिटक

अभिधम्म-पिटक––रचना-काल––विषय, शैली और महत्त्व––अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ––पालि अभिधम्म-पिटक और सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अभिधर्म-पिटक की तुलना––अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के वस्तु-विधान का संक्षिप्त परिचयः––

अ. धम्मसंगणि

आ विभंग

इ. धातुकथा

ई. पुग्गलपञ्ञत्ति

उ. कथावत्थु

ऊ. यमक

ए. पट्ठान

पृष्ठ ३६८–४९६

छठा अध्याय

पूर्व-बुद्धघोष-युग

(१०० ई० पू० से ४०० ई० तक)

नेत्तिपकरण––पेटकोपदेस––मिलिन्दपञ्हो––अन्य साहित्य।

पृष्ठ ४९७–५२५

सातवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग

(४०० ई० से ११०० ई० तक)

अट्ठकथा-साहित्य––अट्ठकथा-साहित्य का उद्भव और विकास––अट्ठकथा-साहित्य की संस्कृत भाष्य और टीकाओं से तुलना––अट्ठकथाओं की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ––पालि तिपिटक के तीन बड़े अट्ठकथाकार––बुद्धदत्त ––बुद्धघोष––धम्मपाल––बुद्धदत्त––जीवन-वृत्त और रचनाएँ––अभिधम्मावतार––रूपारूपविभाग––विनय - विनिच्छय––उत्तर - विनिच्छय––बुद्धघोष––जीवन-वृत्त––रचनाएँ––विसुद्धिमग्गो––समन्तपासादिका––कंखावितरणी ––सुमंगलविलासिनी ––पपञ्चसूदनी––सारत्थप्पकासिनी––मनोरथपूरणी –– परमत्थजोतिका –– अट्ठसालिनी –– सम्मोहविनोदनी––धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान, इन पाँच अभिधम्म-ग्रन्थों पर अट्ठकथाएँ (पञ्चप्पकरणट्ठकथा)––धम्मपदट्ठकथा––जातकट्ठवण्णना––बुद्धघोष की अन्य रचनाएँ––पालि साहित्य में बुद्धघोष का स्थान––धम्मपाल––जीवन-वृत्त––रचनाएँ––विमानवत्थु-अट्ठकथा––

पेतवत्थु-अट्ठकथा—थेर-थेरी गाथाओं पर अट्ठकथाएँ—उदान, इतिवुत्तक और चरियापिटक पर अट्ठकथाएँ—अनुरुद्ध और उनका अभिधम्मत्थसंगह—अभिधम्मत्थसंगह के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विश्लेषण—बुद्धघोष-युग के अन्य अट्ठकथाकार, उपसंहार। पृष्ठ ५२६–५६८

आठवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग

(११०० ई० से वर्तमान समय तक)

सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनके शिष्यों की टीकाएँ—बर्मी पालि साहित्य—इस युग की अन्य रचनाएँ, उपसंहार। पृष्ठ ५६९–५८२

नवाँ अध्याय

वंस-साहित्य

'वंस' शब्द का अर्थ और इतिहास से भेद—वंस-ग्रंथ—दीपवंस—महावंस—चूलवंस — बुद्धघोसुप्पत्ति — सद्धम्मसंगह — महाबोधिवंस — थूपवंस—अत्तनगलुविहारवंस —दाठावंस—छकेसधातुवंस—नलाटधातुवंस—सन्देसकथा—गन्धवंस—सासनवंस—संगीति-वंस—उपसंहार। पृष्ठ ५८३–६२२

दसवाँ अध्याय

काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र, अभिलेख आदि

विषय - प्रवेश—काव्य - ग्रंथ—अनागतवंस—तेलकटाहगाथा—जिनालंकार—जिनचरित — पज्जमधु — सद्धम्मोपायन — पञ्चगतिदीपन — लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार—रसवाहिनी—बुद्धालंकार—सहस्सवत्थुप्पकरण—राजाधिराजविलासिनी—पालि का व्याकरण-साहित्य और उसके तीन सम्प्रदाय—कच्चान-व्याकरण और उसका सहायक साहित्य—मोग्गल्लान-व्याकरण और उसका सहायक साहित्य—अग्गवंस-कृत सद्द-

नीति और उसका सहायक साहित्य—अन्य पालि व्याकरण—पालि कोश—अभिधानप्पदीपिका—एकक्खरकोस—छन्दःशास्त्र—वुत्तोदय आदि—काव्य-शास्त्र—सुबोधालंकार आदि—पालि का अभिलेख-साहित्य, उपसंहार।

पृष्ठ ६२३–६९०

उपसंहार

भारतीय वाङ्मय में पालि साहित्य का स्थान—पालि और विश्व-साहित्य।

पृष्ठ ६९१–६९३

परिशिष्ट

१. नामानुक्रमणी पृष्ठ ६४९–७६६

२. उद्धृत पालि शब्दों की अनुक्रमणी पृष्ठ ७६७–७७५

पहला अध्याय

पालि भाषा

'पालि' शब्दार्थ-निर्णय

जिसे हम आज पालि भाषा कहते हैं, वह उसका प्रारम्भिक नाम नहीं है। भाषा विशेष के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। कम से कम ईसा की चौदहवीं शताब्दी से पूर्व उसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता। 'पालि' शब्द का सब से पहला व्यापक प्रयोग हमें आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी) की अट्ठकथाओं और उनके 'विसुद्धिमग्ग' में मिलता है। वहाँ यह शब्द अपने उत्तरकालीन भाषा-सम्बन्धी अर्थ से मुक्त है। आचार्य बुद्धघोष ने दो अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है, (१) बुद्ध-वचन या मूल तिपिटक (सं० त्रिपिटक) के अर्थ में, (२) 'पाठ' या 'मूल तिपिटक के पाठ' के अर्थ में। चूँकि 'मूल तिपिटक' और 'मूल तिपिटक के पाठ' में भेद कहने भर को है, अतः मोटे तौर से कहा जा सकता है कि 'मूल तिपिटक' या 'बुद्ध-वचन' के सामान्य अर्थ में ही बुद्धघोष महास्थविर ने 'पालि' शब्द का प्रयोग किया है। जिस किसी प्रसंग में उन्हें पोराण-अट्ठकथा (प्राचीन अर्थकथा) से विभिन्नता दिखाने के लिए मूल तिपिटक के किसी अंश को उद्धृत करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'पालि' शब्द से बुद्ध-वचन या मूल तिपिटक को अभिव्यक्त किया है, जैसे 'विसुद्धिमग्ग' में "इमानि ताव पालियं, अट्ठकथायं पन . . ." ("ये तो 'पालि' में हैं, किन्तु 'अट्ठकथा' में तो . . .।" तथा वहीं "नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं" ("यह न 'पालि' में आया है और न 'अट्ठकथा' में")। इसी प्रकार 'सुमंगलविलासिनी' (दीघ-निकाय की अट्ठ-कथा) की सामञ्ञफलसुत्त-वण्णना में तथा अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्ठ-कथा) में "नेव पालियं, न अट्ठकथायं दिस्सति"। ("यह न 'पालि' में दिखाई देता है और न 'अट्ठकथा' में") तथा पुग्गलपञ्ञत्ति-अट्ठकथा में "पालिमुत्तकेन पन अट्ठकथानयेन" ('पालि' को छोड़कर 'अट्ठकथा' की प्रणाली से) आदि। इसके अलावा जहाँ उन्हें तिपिटक की व्याख्या करते हुए कहीं-कहीं उसके पाठान्तरों का निर्देश करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'इति पि पालि' (ऐसा भी पाठ है) कह कर

'पालि' शब्द से मूल तिपिटक के 'पाठ' को द्योतित किया है, जैसे 'सुमंगलविलासिनी' की सामञ्ञफलसुत्त-वण्णना में 'महच्चराजानुभावेन' पद की व्याख्या करते हुए पहले उन्होंने उसका अर्थ किया है 'महता राजानुभावेन' और फिर पाठान्तर का निर्देश करते हुए लिखा है 'महच्चा इति पि पालि' अर्थात् 'महच्चा' ऐसा भी पाठ है। यहाँ 'पालि' का अर्थ निश्चित रूप से 'पाठ' ही है, यह इस बात से प्रकट होता है कि समान प्रसंगों में 'पालि' के समानार्थवाची शब्द के रूप में 'पाठ' शब्द का भी प्रचुर प्रयोग आचार्य बुद्धघोष ने किया है। कुछ एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। "सेतकानि अट्ठीनि . . . सेतट्ठिका ति पि पाठो" (समन्तपासादिका--वेरञ्ज-कण्डवण्णना) तथा "अपगतकाळको . . . . अपहतकाळको ति पि पाठो" (समन्त-पासादिका—वेरञ्जकण्डवण्णना)।

आचार्य बुद्धघोष के कुछ ही समय पूर्व लंका में लिखे गये 'दीपवंस' ग्रन्थ में भी, जो चौथी शताब्दी ईसवी की रचना है, 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के अर्थ में ही किया गया है।[1] आचार्य बुद्धघोष के बाद भी सिंहल देश में 'पालि' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों अर्थों में होता रहा। आचार्य धम्मपाल (पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी) ने अपनी 'परमत्थदीपनी' (खुद्दक-निकाय के कतिपय ग्रन्थों की अट्ठकथा) में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग मूल तिपिटक के 'पाठ' के अर्थ में किया है, यथा "अयाचितो तनागच्छीति . . . . आगतो ति पि पालि"। इसी प्रकार 'बुद्ध-वचन' के अर्थ में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग वहाँ उपलक्षित होता है। 'चूलवंस' (तेरहवीं शताब्दी) मे भी, जो 'महावंस' (पाँचवीं शताब्दी) का उत्तरकालीन परिवर्द्धित अंश है, 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन, अट्ठकथा से व्यतिरिक्त मूल पालि तिपिटक, के अर्थ में ही किया गया है। उसका एक अति प्रसिद्ध वाक्य है--"पालिमत्त इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध"[2] (यहाँ केवल 'पालि' ही लाई गई है, 'अट्ठकथा' यहाँ नहीं है)। इसी प्रकार 'पालि' महाभिधम्मस्स' अर्थात् 'मूल तिपिटक के अन्तर्गत अभिधम्म का' ऐसा भी प्रयोग यहीं मिलता है।[3] उसी के

---

१. पिटकत्तयपालिं च तस्सा अट्ठकथं पि च। २०।२० (ओल्डनबर्ग का संस्करण)।

२. ३७।२२७; मिलाइये वहीं ३३।१०० (गायगर का संस्करण)।

३. ३७।२२१ (गायगर का संस्करण)।

कुछ काल बाद लिखित 'सद्धम्मसंगह'[१] (चौदहवीं शताब्दी) में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

उपर्युक्त उद्धरण 'पालि' शब्द के अर्थ-निर्धारण में बड़े महत्व के हैं। चौथी शताब्दी ईसवी से लेकर चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक जिन अर्थों में 'पालि' शब्द का प्रयोग होता रहा है, उसका वे दिग्दर्शन करते हैं। अतः उनसे हमें एक आधार-मिलता है, जिसका आश्रय लेकर हम चौथी शताब्दी ईसवी से पहले 'पालि' शब्द के इतिहास पर विचार कर सकते हैं। तिपिटक में तो 'पालि' शब्द बुद्ध-वचन के अर्थ में मिलता नहीं। तिपिटक को आधार मान कर लिखे हुए साहित्य में भी बुद्धघोष की रचनाओं या 'दीपवंस' के समय से पूर्व किसी ग्रन्थ में 'पालि' शब्द का निर्देश बुद्ध-वचन के अर्थ में नहीं मिलता। फिर आचार्य बुद्धघोष ने किस परम्परा का आश्रय ग्रहण कर 'पालि' शब्द को 'बुद्ध-वचन' या उसके 'पाठ' के अर्थ में प्रयुक्त किया, यह हमारे गवेषण का मुख्य विषय है। दूसरे शब्दों में, बुद्धघोष के समय से पहले 'पालि' शब्द का इतिहास हमें जानना है। भाषाओं के विकास में, स्थान और युग की विशेष परिस्थितियों के कारण, शब्दों के रूपों, अर्थों और ध्वनियों में नाना विकार होते रहते हैं। ध्वनि, रूप और अर्थ के उन विकारों को हमें ढूंढना है, जिनका अतिक्रमण कर 'पालि' शब्द बुद्धघोष के समय तक 'बुद्ध-वचन' या 'मूल तिपिटक के पाठ' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और फिर चौदहवीं शताब्दी तक उसी अर्थ को धारण करता रहा। उसके बाद के अर्थ-विकार की बात तो बाद में। उपर्युक्त महत्वपूर्ण उद्धरणों में 'पालि' शब्द के जो अर्थ व्यक्त किये गये हैं, उन्ही को आधार मानकर कुछ आधुनिक विद्वानों ने 'पालि' शब्द की निरुक्ति के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं, जिनमें तीन अधिक प्रभावशाली है। पहली स्थापना इस बात को प्रमुखता देकर चलती है कि बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में चूंकि 'पालि' शब्द 'बुद्ध-वचन' या 'मूल तिपिटक' के अर्थ को व्यक्त करता है, इसलिये उसका मूल रूप भी कोई ऐसा शब्द रहा होगा जो बुद्ध-काल में इसी अर्थ को सूचित करता हो। दूसरी स्थापना इसी प्रकार 'पालि' शब्द के 'पाठ' अर्थ को प्रमुखता देकर चलती है। तीसरी स्थापना संस्कृत शब्द 'पालि', जिसका अर्थ पंक्ति है, को प्रधानता

---

१. पृष्ठ ५३ (सद्धानन्द द्वारा सम्पादित एवं जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट् सोसायटी, १८९०, में प्रकाशित संस्करण)।

देकर उसे बुद्धघोष आदि आचार्यों के द्वारा प्रयुक्त 'पालि' शब्द के अर्थों के साथ संगत करने का प्रयत्न करती है। इन तीनों स्थापनाओं की समीक्षा हमें करनी है।

पहली स्थापना के अनुसार 'पालि' शब्द का प्राचीनतम रूप हमें 'परियाय' शब्द में मिलता है। 'परियाय' शब्द तिपिटक में अनेक बार आया है। कहीं-कहीं 'धम्म' शब्द के साथ और कहीं-कहीं अकेले भी इस शब्द का व्यवहार हुआ है। उदाहरणतः 'को नामो अयं भन्ते धम्मपरियायो ति'[१] ('भन्ते! यह किस नाम का धम्म-परियाय है'), 'भगवता अनेक परियायेन धम्मो पकासितो'[२] ('भगवान् ने अनेक पर्यायों से धर्म को प्रकाशित किया') आदि। स्पष्टतः ऐसे स्थलों में 'परियाय' शब्द का अर्थ बुद्धोपदेश है। बाद में 'परियाय' शब्द का ही विकृत रूप 'पलियाय' हो गया। अशोक के प्रसिद्ध भाब्रू शिलालेख में 'पलियाय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। मगध के भिक्षु-संघ को कुछ चुने हुए बुद्ध-वचनों के स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हुए प्रियदर्शी 'धम्मराजा' कहते हैं, "भन्ते! ये धम्म-पलियाय हैं। मैं चाहता हूँ कि सभी भिक्षु-भिक्षुणियाँ, उपासक और उपासिकाएँ, इन्हें सदा सुनें और धारण करें।"[३] 'पलियाय' शब्द के 'पलि' उपसर्ग के प्रथम अक्षर का दीर्घ होकर बाद में 'पालियाय' शब्द बन गया। 'पालियाय' शब्द का ही संक्षिप्त रूप बाद में 'पालि' होकर 'बुद्ध-वचन' या 'मूल तिपिटक' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इस मत की स्थापना भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने 'पालि महाव्याकरण' की वस्तुकथा में योग्यतापूर्वक की है।[४]

दूसरा मत, जिसकी स्थापना भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने अंग्रेजी निबन्ध "पालि भाषा का उद्गम और विकास, विशेषतः संस्कृत व्याकरण के आधार पर" में की है,[५] इससे कुछ भिन्न है। उनके मतानुसार 'पालि' या ठीक कहें तो 'पाळि' शब्द

---

१. ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ. १।१)।

२. सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ. १।२)।

३. इमानि भन्ते धम्मपलियायानि...एतानि भन्ते धम्मपलियायानि इच्छामि किं ति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनयु चा उपधालेयेयु चा। हेवं मेवा उपासका चा उपासिका चा।

४. पृष्ठ आठ-बारह।

५. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६४१-६५६।

का मूल उद्गम संस्कृत 'पाठ' शब्द है। इस मत के अनुसार संस्कृत 'पाठ' शब्द का ही विकृत या परिवर्तित रूप 'पाळि' या 'पालि' है। यह विकास-क्रम भिक्षु सिद्धार्थ के मतानुसार कुछ-कुछ इस प्रकार चला। प्राचीन काल में 'पाठ' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण लोग विशेषतः वेद-वाक्यों के 'पाठ' के लिये किया करते थे। भगवान् बुद्ध के समय में भी यह परम्परा ब्राह्मणों में चली आ रही थी। जब अनेक ब्राह्मण-महाशाल बुद्ध-मत में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने इसी शब्द को, जिसे वे पहले वेद के पाठ के अर्थ में प्रयुक्त करते थे, अब बुद्ध-वचनों के लिये प्रयुक्त करना आरम्भ कर दिया। यह स्वाभाविक भी था। जब उन्होंने बुद्ध को 'मुनि', 'वेदज्ञ', 'वेदान्तज्ञ' कह कर अपनी श्रद्धा अर्पित की, तो उनके वचनों के निर्देश के लिये भी वे पवित्र 'पाठ' शब्द का अभिधान क्यों न करते? भिक्षु सिद्धार्थ ने ठीक ही 'पाठ' शब्द के अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दों की सूची दी है, जो पहले वैदिक परंपरा के थे, किन्तु बौद्ध संघ में आकर जिन्होंने नये स्वरूप ग्रहण कर लिये थे। 'संहिता' 'सहित' हो गई, 'तन्त्र' 'तन्ति' हो गया, 'प्रवचन' 'पावचन' हो गया। अतः प्राचीन 'पाठ' शब्द का भी बौद्ध संस्करण असम्भव न था। किन्तु बौद्धों ने जो कुछ लिया, उसे एक नया स्वरूप भी प्रदान किया। संस्कृत 'पाठ' शब्द भिक्षु-संघ में आकर 'पाळ' हो गया। यह ध्वनि-परिवर्तन भाषा-विज्ञान के नियमों के आधार पर सर्वथा सम्भव भी था। संस्कृत के सभी मूर्द्धन्य व्यञ्जन (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) पालि और प्राकृत भाषाओं में 'ळ्' हो जाते हैं। उदाहरणतः संस्कृत 'आटविक' पालि में 'आळविक' है, सं० 'पटच्चर' पालि में 'पळच्चर' है, सं० 'एडक' पालि में 'एळक' है। इसी प्रकार सं० वेणु-पालि वेळु; सं० दृढ़-पालि दळ्ह, आदि। 'पाळ' शब्द का ही बाद में विकृत रूप 'पाळि' हो गया। यह भी भाषा-विज्ञान सम्बन्धी नियमों के असंगत न था। अन्त्य स्वर-परिवर्तन का विधान पालि में अक्सर देखा जाता है, जैसे संस्कृत 'अंगुल' से पालि 'अंगुलि-अंगुली; सं० 'सर्वज्ञ' से पालि 'सब्बञ्ञू' आदि। अतः मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'पाळ' शब्द का विकृत रूप 'पाळि' हो गया। 'पाळि' शब्द में 'ल्' व्यञ्जन वैदिक मूर्द्धन्य 'ळ्' ध्वनि का प्रतिरूप था। इस ध्वनि का विकास कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'ड्' के रूप में हुआ है। यह वैदिक ध्वनि 'अन्तःस्थल्' से भिन्न थी। किन्तु 'ळ्' और 'ल्' के उच्चारणों में भेद न कर सकने के कारण बाद में मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'पालि' शब्द को 'पाळि' शब्द के साथ मिला दिया गया, जो वास्तव में व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से एक बिलकुल भिन्न शब्द था।'पाळि' शब्द के साथ इस

प्रकार मिल कर 'पालि' शब्द भी बुद्ध-वचन के ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। भिक्षु सिद्धार्थ के मतानुसार 'पालि' शब्द की यही निरुक्ति है।

तीसरे मत का निर्देश करने से पूर्व इन दोनों मतों की कुछ समीक्षा कर लेना आवश्यक होगा। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से दोनों मत निर्दोष हैं। ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों पर दोनों खरे उतरते है। दोनों एक दूसरे के विरोधी भी नहीं हैं। जहाँ तक वे भिन्न-भिन्न हेतुओं से 'पालि' शब्द का तात्पर्य 'बुद्ध-वचन' में दिखलाते हैं, वे एक दूसरे के पूरक हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भिक्षु सिद्धार्थ के मत की एक निर्बलता है। उन्होंने 'पाठ' शब्द का विकृत रूप 'पाळ' बतलाया है और फिर उससे 'पाळि' या 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की है। इसे ऐतिहासिक रूप से ठीक होने के लिये यह आवश्यक है कि 'पाळ' शब्द का प्रयोग पालि-साहित्य में उपलब्ध हो। तभी उसके आधार पर 'पाळि' शब्द की व्युत्पत्ति की स्थापना की जा सकती है। ऐसा कोई उदाहरण भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने उक्त निबन्ध में नहीं दिया। आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से जो उदाहरण उन्होंने दिये हैं, उनमें भी 'इति पि पाठो' ही बुद्धघोषोक्त वचन है, 'इति पि पाळो' नहीं। जब बुद्धघोष के समय अर्थात् ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक 'पाठ' शब्द का वैसा ही संस्कृत का सा रूप पालि-साहित्य में मिलता है, तो फिर इस स्थापना के लिये क्या आधार है कि बुद्ध-काल में ही संघ में आकर उसका रूप 'पाळ' हो गया था? वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से तो यही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है कि 'इति पि पालि' के बाद ही, उससे पहले नहीं, 'इति पि पाठो' लिखना आरम्भ किया गया होगा, जब कि तिपिटक के पठन-पाठन का प्रचार कुछ अधिक बढ़ा होगा। श्रीमती रायस डेविड्स् का भी यही मत है।[1] अतः भिक्षु सिद्धार्थ की व्युत्पत्ति के लिये कोई अवकाश नहीं रह जाता। इस ऐतिहासिक आधार की कमी के कारण वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। भिक्षु जगदीश काश्यप के मत में ऐसी कोई कमी दिखाई नहीं देती। भाब्रू शिलालेख का अद्वितीय साक्ष्य उसे प्राप्त है। 'पेय्यालं' शब्द में भी यही तत्व निहित है।[2] अतः एक पूरी परम्परा का आधार लेने के कारण और इस कारण भी कि पालि साहित्य में उपलब्ध 'पालि' शब्द के समस्त विकृत

---

१. देखिये उनका 'शाक्य और बुद्धिस्ट ऑरीजिन्स,' पृष्ठ ४२९-३०।

२. देखिये पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तेतालीस (वस्तुकथा)।

या विकसित रूपों के साथ उसकी संगति लग जाती है, वह मत हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में एक मान्य सिद्धान्त है।

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में तीसरा मत पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का है। उनके मतानुसार 'पालि' शब्द का अर्थ 'पंक्ति' है और इस प्रकार वह संस्कृत 'पालि' शब्द का पर्यायवाची है। इस मत को पालि भाषा और साहित्य का भी कुछ समर्थन प्राप्त न हो, ऐसी बात नहीं है। स्वयं विनय-पिटक के महावग्ग में हम मगध के एक खेत को 'पालि-बद्ध' (या 'पालि-बन्ध') अर्थात् 'कतार में बँधा' देखते हैं।[1] प्रसिद्ध पालि कोश 'अभिधानप्पदीपिका' (बारहवीं शताब्दी) में 'पालि' शब्द के 'बुद्धवचनं' अर्थ के साथ-साथ 'पंक्ति' अर्थ भी दिया गया है। "तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि"। पालि साहित्य में 'अम्बपालि', 'दन्तपालि', 'कण्णपालियो' जैसे प्रयोग भी 'पालि' शब्द के 'पंक्ति' अर्थ को ही द्योतित करते है। अतः 'पालि' शब्द का अर्थ 'पंक्ति' और बाद में 'ग्रन्थ की 'पंक्ति' इस आधार पर कर लिया गया है और बुद्धघोष द्वारा प्रयुक्त अर्थ के साथ उसकी संगति भी मिला ली गई है। किन्तु इस मत में दोष फिर भी स्पष्ट है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने उसमें प्रधानतया तीन कमियाँ दिखाई हैं।[2] (१) 'पंक्ति' के लिये लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है। तिपिटक प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व से पहले लिखा नहीं गया था। अतः उस समय के लिये तिपिटक के उद्धरण के लिये 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द इस अर्थ में उपयुक्त नहीं हो सकता था। (२) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति' होता तो उस अवस्था में 'उदान-पालि' जैसे प्रयोगों में 'उदान-पंक्ति' अर्थ करने से कोई समझने योग्य अर्थ नही निकलता। (३) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति' होता तो ग्रन्थ-पक्ति के अर्थ में कहीं भी उसका बहुवचन में भी प्रयोग दृष्टिगोचर होना चाहिये था, जो नहीं होता। अतः 'पालि' शब्द का 'पंक्ति' अर्थ उसके मौलिक स्वरूप तक हमें नहीं ले जा सकता। हाँ, भिक्षु जगदीश काश्यप ने जो आपत्तियाँ उठाई हैं, उनमें से प्रथम के उत्तर में आंशिक रूप से यह कहा जा सकता है कि तिपिटक की अलिखित अवस्था में 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द से तात्पर्य केवल शब्दों की पठित पंक्ति से लिया जाता रहा होगा और उसके लेखबद्ध कर दिये जाने पर उसकी लिखित पंक्ति ही 'पालि' कहलाई जाने

---

१. महावग्ग पालि, पृष्ठ ३०३ (श्री नालन्दा संस्करण); देखिये विनय-पिटक (राहुल सांकृत्यायन का हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ २७९ भी।

२. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ आठ (वस्तुकथा)।

लगी होगी। श्रीमती राइस डेविड्स् ने इसी प्रकार का मत प्रकाशित किया है।[1] फिर भी इस मत से 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। अतः प्रस्तुत प्रसंग में वह हमारे लिये महत्वपूर्ण नहीं हो सकता।

उपर्युक्त मतों के अलावा एक मत जर्मन विद्वान् डा० मैक्स वेलेसर ने सन् १९२४ और फिर १९२६ में प्रकाशित किया था। इस मत के अनुसार 'पाटलि' या 'पाडलि' (पाटलिपुत्र की भाषा) शब्द का ही संक्षिप्त रूप 'पालि' है। चूँकि 'पालि' शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के अर्थ में अट्ठकथाओं तक में नहीं मिलता, अतः मैक्स वेलेसर का मत अपने आप गिर जाता है। डा० थॉमस द्वारा उसका पर्याप्त प्रतिवाद कर दिये जाने पर[2] आज उसका कोई नाम नहीं लेता। यही भाग्य कुछ अन्य अल्प प्रसिद्ध मतों का भी हुआ है, जिनमें ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा उनके उद्भावकों का बुद्धि-वैचित्र्य ही अधिक दिखाई पड़ता है। इस प्रकार कुछ 'पल्लि' (गाँव) शब्द से 'पालि' भाषा की उत्पत्ति बताकर उसे ग्रामीण भाषा बताना चाहते हैं, कुछ प्राकृत-पाकट-पाअड-पाअल-पालि इस प्रकार उसकी व्युत्पत्ति करना चाहते है, कुछ संस्कृत 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) शब्द से उसकी व्युत्पत्ति बताकर उसमे एक विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्य की खोज करना चाहते है।[3] यह सब अन्धकार ही अन्धकार है।

हाँ, 'अभिधानप्पदीपिका' के 'पालि' शब्द के महत्वपूर्ण अर्थ को लेकर हमें कुछ और विचार कर लेना चाहिये। 'पालि' शब्द को तन्ति (संस्कृत 'तन्त्र'), 'बुद्ध-वचन' और 'पंक्ति' का समानार्थवाची मानते हुए इसकी व्युत्पत्ति वहाँ की गई है—"पालेति रक्खतीति पालि" अर्थात् जो पालन करती है, रक्षा करती है, वह 'पालि' है। किसको पालन करती है? किसकी रक्षा करती है? स्पष्टतम उत्तर

---

१. देखिये उनका 'शाक्य और बुद्धिस्ट ऑरीजिन्स', पृष्ठ ४२९-३०।

२. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, दिसम्बर १९२८, पृष्ठ ७७३; मिलाइये विंटरनित्ज़ : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०५ (परिशिष्ट दूसरा); लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १८ (भूमिका); देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३०-३१ में डा० कीथ द्वारा मैक्स वेलेसर के मत का खण्डन भी।

३. देखिये जहागीरदार-कृत 'कम्पेरेटिव फिलॉलॉजी ऑव दि इण्डो-आर्यन लॅग्वेजेज़' में पालि-सम्बन्धी विवेचन।

है "अत्थं पाति"। अर्थ की रक्षा करती है। दूसरे शब्दों में, बुद्ध-वचनों की। 'पालि' ने किस प्रकार बुद्ध-वचनों का पालन किया, किस प्रकार उनकी रक्षा की? एक उत्तर है तिपिटक के रूप में उनका संकलन कर के, दूसरा उत्तर है लंकाधिपति वट्टगामणि के समय में उनको लेखबद्ध करके। तिपिटक का संकलन किया, इसलिये 'पालि' 'बुद्धवचन' है, तिपिटक को लेखबद्ध किया, इसलिये 'पालि' 'पंक्ति' है। ऐसा मालूम पड़ता है कि 'अभिधानप्पदीपिका' कार ने 'पालि' शब्द के इस पालन करने या रक्षा करने सम्बन्धी अर्थ पर जोर देकर उस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य की ओर संकेत किया है, जो सिंहल में सम्पादित किया गया और जिसके विषय में 'दीपवंस' और 'महावंस' में समान शब्दों में लिखा है, "तिपिटक की पालि (पंक्ति) और उसकी अट्ठकथा को, जिन्हें पूर्व में महामति भिक्षु कंठस्थ कर के ले आये थे, प्राणियों की (स्मृति-) हानि देख कर, भिक्षुओं ने एकत्र हो, धर्म की चिरस्थिति के लिये, पुस्तकों में लेखबद्ध करवाया।"[१] कुछ भी हो, 'पालि' शब्द के इतिहास की दृष्टि से 'अभिधानप्पदीपिका' की निरुक्ति अवश्य महत्वपूर्ण है, यद्यपि वह 'पालि' शब्द के मौलिक रूप 'परियाय' पर विचार नहीं करती। वह केवल उसका समानार्थवाची 'बुद्ध-वचन' शब्द दे देती है। कुल मिलाकर हम कह सकते है कि 'पालि' शब्द की निरुक्ति और उसका अर्थ-निर्वचन जो 'परियाय' या 'पलियाय' शब्द में उसके मूल रूप को खोजता है, हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में एक मान्य सिद्धान्त है। 'तत्तु समन्वयात्'।

पालि भाषा

ऊपर हमने चौदहवीं शताब्दी तक का 'पालि' शब्द का इतिहास देखा है। इस बीच हमें एक भी उदाहरण ऐसा न मिला जिसमें 'पालि' शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के अर्थ में किया गया हो। फिर कब इस शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के स्थान पर जिस भाषा में बुद्ध-वचन लिखे गये, उसके लिये होने लगा, इसका

---

१. **पिटकत्तयपालिं च तस्सा अट्ठकथं पि च।**
मुखपाठेन आनेसुं पुब्बे भिक्खु महामति॥
हानिं दिस्वान सत्तानं तदा भिक्खु समागता।
चिरट्ठितत्थं धम्मस्स पोत्थकेसु लिखापयुं॥
दीपवंस २०।२०-२१; महावंस ३३।१००-१०१।

निर्धारण करना कठिन है। फिर भी हुआ यह बड़े स्वाभाविक नियम के आधार पर। पहले 'तन्ति' शब्द का प्रयोग मूल तिपिटक या उसके किसी ग्रन्थ के लिये पालि के अर्थ में होने लगा, यथा 'विनय-तन्ति' अर्थात् 'विनय-पालि'। बाद मे तिपिटक की भाषा को द्योतित करने के लिये सिंहल में 'तन्ति-भाषा' जैसा सामासिक शब्द प्रचलित हुआ। उसी का समानार्थवाची शब्द 'पालि-भाषा' भी बाद में प्रयुक्त होने लगा। 'पालि-भाषा' अर्थात् पालि (बुद्ध-वचन) की भाषा। बाद में स्वयं 'पालि' शब्द ही भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। आज 'पालि' से तात्पर्य हम उस भाषा से लेते हैं, जिसमें स्थविरवाद बौद्धधर्म का तिपिटक और उसका सम्पूर्ण उपजीवी साहित्य रक्खा हुआ है। किन्तु 'पालि' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग स्वयं पालि साहित्य में भी कभी नहीं किया गया है। जिस भाषा में तिपिटक लिखा गया है, उसके लिये वहाँ मागधी, मगध-भाषा, मागधा निरुक्ति, मागधिक भाषा जैसे शब्दों का ही व्यवहार किया गया है, जिनका अर्थ होता है मगध-देश में बोले जाने वाली भाषा। सिंहली परम्परा के अनुसार मागधी ही वह 'मूल' भाषा है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे और जिसमें ही उनका संग्रह 'तिपिटक' नाम से किया गया था। इसी अर्थ को व्यक्त करते हुए कच्चान-व्याकरण में कहा गया है "सा मागधी मूल भासा...सम्बुद्धा चापि भासरे" ("मागधी ही वह मूल भाषा है, जिसमें...सम्यक् सम्बुद्ध ने भी भाषण किया")। अट्ठकथाचार्य भगवान् बुद्धघोष की भी यही मान्यता थी कि "सम्मासम्बुद्धेन वुत्त-प्पकारो मागधको वोहारो"। अर्थात् "सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त भाषा-प्रयोग मागधी" ही है—समन्तपासादिका। इस रूप में मागधी भाषा की प्रतिष्ठा स्थविर-वादी बौद्ध साहित्य में इतनी अधिक है कि कहीं-कहीं उसके गौरव के विषय में इतना अधिक अर्थवाद कर दिया गया है कि वह आधुनिक ऐतिहासिक बुद्धि को कुछ अखरता भी है। मागधी भाषा को यहाँ सम्पूर्ण प्राणियों की आदि भाषा ही मान लिया गया है। आचार्य बुद्धघोष ने 'विसुद्धिमग्ग' में कहा है, "मागधिकाय सब्ब-सत्तानं मूलभासाय" ("सम्पूर्ण प्राणियों की मूल भाषा मागधी में")। इसी प्रकार महावंस के परिवर्द्धित अंश चूलवंस के परिच्छेद ३७ में कहा गया है "सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया" ("सम्पूर्ण प्राणियों की मूल भाषा मागधी भाषा में"), आदि। निश्चय ही सिंहली परम्परा अपनी इस मान्यता में बड़ी दृढ़ है कि जिसे हम आज 'पालि' कहते हैं, वह बुद्धकालीन भारत में बोले जाने वाली मगध की भाषा ही थी। बुद्ध-वचनों की भाषा को ही सिंहली परम्परा 'मागधी' कहना नहीं

चाहती, वह अट्ठकथाओं तक की भाषा को बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में 'मागधी' कहना ही अधिक पसन्द करती है। महावंस के परिवर्द्धित संस्करण चूलवंस (तेरहवीं शताब्दी) के सेंतीसवें परिच्छेद की २२९-२३० गाथाओं में जब रेवत स्थविर ने बुद्धघोष को लंका जाकर सिंहली अट्ठकथाओं को पालि में अनुवाद करने का आदेश दिया तो उन्होंने उनसे कहा, "मागधानं निरुत्तिया परिवत्तेहि"। अर्थात् "मागधी भाषा में अनुवाद करो।" और वहीं आगे कहा गया है कि बुद्धघोष ने ऐसा ही किया। "परिवत्तेसि सब्बा पि सीहलट्ठकथा तदा। सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया।" इसी प्रकार मोग्गल्लान (बारहवीं शताब्दी) ने अपना पालि-व्याकरण लिखते हुए उसके आदि में कहा है "भासिस्सं मागधी सद्दलक्खणं।" अर्थात् "मैं मागध शब्द-लक्षण (मागधी व्याकरण) को कहूँगा।" न केवल सिंहली परम्परा बल्कि उसका अनुसरण कर बर्मी बौद्ध धर्म की परम्परा भी आरम्भ से यह मानती आई है कि मगध की भाषा में ही, जिसे वह भी मूल भाषा कह कर पुकारती है, बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे और वही आज तिपिटक के रूप में प्राप्त हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध बर्मी विधिशास्त्रीय पालि ग्रन्थ 'मोह-विच्छेदनी' में यही बात कही गई है।[१] इतनी विस्तीर्ण यह परम्परा कहाँ तक या किन अर्थों में ठीक है या नहीं, यह हमारे अध्ययन की सम्भवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या है। पालि स्वाध्याय के प्रथम युग में यह परम्परा सिंहली भिक्षुओं की एक मनगढन्त कल्पना मानी जाती थी। ओल्डनबर्ग ने इस मान्यता के प्रचार में काफी योग दिया था। अनेक प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् भी उनके इस प्रवाह में बह गये थे।[२] किन्तु उसके बाद इस दिशा में जो महत्वपूर्ण गवेषण-कार्य हुआ है, उससे अब हमें पथभ्रष्ट होने की आवश्यकता नही है। इस महत्वपूर्ण समस्या पर हम अभी भारतीय भाषाओं के विकास में पालि की पृष्ठभूमि को देखने के बाद आयेंगे।

---

१. देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ८८-८९ (लन्दन, १९०९)।

२. डा० विमलाचरण लाहा जैसे आधुनिक विद्वान् भी इस मोह से मुक्त नहीं हो पाये हैं। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ११ (भूमिका) जहाँ उन्होंने मागधी निरुक्ति को सिंहली भिक्षुओं की शुद्ध गढ़ंत कहा है।

भारतीय भाषाओं के विकास में पालि का स्थान

भारतीय भाषाओं का इतिहास तीन युगों या विकास-श्रेणियों में विभक्त किया गया है। (१) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा युग (वैदिक युग से ५०० ईसवी-पूर्व तक), (२) मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग (५०० ईसवी-पूर्व से १००० ईसवी तक), (३) आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा युग (१००० ईसवी से अब तक)। प्रथम युग की भाषा का नमूना हमें ऋग्वेद की भाषा में मिलता है। उसमें तत्कालीन अनेक बोलियों का सम्मिश्रण है। ऋग्वेद की भाषा का विकास अन्य वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में हुआ है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग में एक ओर वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया, उसे एकरूपता प्रदान की गई, जिसके परिणाम-स्वरूप एक राष्ट्रीय, अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक भाषा का 'संस्कृत' के नाम से विकास हुआ और दूसरी ओर उसी के समकालिक, ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप में विकास ग्रहण करती गई। जब भगवान् बुद्ध ने मगध प्रान्त में भ्रमण करते हुए वहाँ की जन-भाषा में उपदेश दिया तो यह वही ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा के प्रान्तशः विकसित रूपों में से एक थी। तथागत के 'वाचनामग्ग' होने का गौरव मिलने के कारण इसका भी रूप बाद में राष्ट्रीय हो गया और इसी कारण अनेक बोलियों, प्रान्तीय भाषाओं और उपभाषाओं का संमिश्रण भी इसमें हो गया। इसे हम आज 'पालि' भाषा कहते है। इस प्रकार सस्कृत और पालि का विकास समकालिक है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग में इस जन-भाषा के विकास के हम तीन स्तर देखते हैं, (१) पालि और अशोक की धर्मलिपियों की भाषा (५०० ईसवी-पूर्व से १ ईसवी-पूर्व तक), (२) प्राकृत भाषाएँ (१ से ५०० ईसवी तक), (३) अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ईसवी से १००० ईसवी तक)। आधुनिक युग में आकर इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से हमारी हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बाद अब हमें पालि भाषा के स्वरूप आदि पर कुछ अधिक स्पष्टता के साथ विचार करना है।

पालि किस प्रदेश की मूल भाषा थी?

पालि भाषा के विषय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है—वह किस प्रदेश की मूल भाषा थी? सिंहली परम्परा उसे मागधी या मगध की भाषा मानती है, यह हम अभी कह ही चुके हैं। किन्तु यह समस्या इतनी सस्ती निबटने वाली नहीं

है। विद्वानों के एतद्विषयक मतों का यदि संग्रह किया जाय तो वह एक लम्बी सूची होगी। सभी मत उसे भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषा मानने के पक्षपाती हैं। कुछ विद्वानों के मतों का निदर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा।

(१) प्रोफेसर रायस डेविड्स[१]—पालि भाषा का आधार कोशल प्रदेश में छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व में बोले जाने वाली भाषा थी। कारण (१) भगवान् बुद्ध कोशल प्रदेश के थे, अतः उनकी मातृभाषा यही थी और इसी में उन्होंने उपदेश दिये थे। (२) भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष के भीतर प्रधानतः कोशल प्रदेश में ही उनके उपदेशों का संग्रह किया गया।

(२,३) वैस्टरगार्ड[२] और ई० कुहन[३]—पालि उज्जयिनी प्रदेश की बोली थी। कारण (१) गिरनार (गुजरात) के अशोक के शिलालेख से इसका सर्वाधिक साम्य है। (२) कुमार महेन्द्र (महिन्द), जिन्होंने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और पालि तिपिटक को वहाँ पहुँचाया, की मातृ-भाषा यही थी।

(४) आर० ओ० फ्रेंक[४]—पालि-भाषा का उद्गम स्थान विन्ध्य-प्रदेश है। कारण (१) गिरनार-शिलालेख से उसका सर्वाधिक साम्य है। निषेधात्मक कारण देते हुए फ्रेंक ने कहा है कि पालि उत्तर भारत के पूर्वी भाग की भाषा नहीं हो सकती, उत्तर-पश्चिमी भाग के खरोष्ठी लेखों से भी उसकी समानताएँ और असमानताएँ दोनों है, इसी प्रकार दक्षिण के लेखों की भाषा से भी उसकी विभिन्नता है। अधिकतर उसका साम्य मध्य देश के पश्चिमी भाग के लेखों से है, यद्यपि यहाँ भी कुछ असमानताएँ है। अतः पालि भाषा का उद्गम-स्थान 'विन्ध्य के मध्य और पश्चिमी भाग का प्रदेश' है।

(५) स्टैन कोनो[५]—विन्ध्य-प्रदेश पालि-भाषा का उद्गम-स्थान है।

---

१. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १५३-५४; केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ १८७; पालि-इंगलिश डिक्शनरी (पालि टैक्सट् सोसायटी), पृष्ठ ५ (प्राक्कथन)।

२.३,४,५ लाहाः हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ५०-५६ (भूमिका); बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ २३३; देखिये गायगरःपालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज पृष्ठ ३-४ (भूमिका); विटरनित्जः हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०४ (परिशिष्ट दूसरा)।

कारण (१) पैशाची प्राकृत से पालि का अधिक साम्य है। (२) पैशाची प्राकृत विन्ध्य-प्रदेश में उज्जयिनी के आसपास बोली जाती थी। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक होगा कि पैशाची प्राकृत-सम्बन्धी स्टैन कोनो का यह मत प्रसिद्ध भाषातत्वविद् ग्रियर्सन के मत से नहीं मिलता, जिसके अनुसार पैशाची प्राकृत केकय और पूर्वी गन्धार की बोली थी। ग्रियर्सन का मत ही अधिक युक्तियुक्त माना गया है।

(६) डा० ओल्डनबर्ग[1]—पालि कलिंग देश की भाषा थी। कारण (१) लंका के पड़ोसी होने के कारण कलिंग से ही लंका में धर्मोपदेश का कार्य शताब्दियों के अन्दर सम्पादित किया गया। (२) खारवेल के खंडगिरि-अभिलेख से पालि का अधिक साम्य है। ओल्डनबर्ग के मत को समझने के लिए यह जानना आवश्यक होगा कि महेन्द्र द्वारा लंका में बुद्ध-धर्म के प्रचार की बात को ओल्डनबर्ग ने ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना है। उनके मतानुसार कलिंग के निवासियों ने लंका में बुद्ध-धर्म का प्रचार किया और इसमें कई शताब्दियाँ लगीं।

(७) ई० मुलर[2]—कलिंग ही पालि का उद्गम-स्थान है। कारण, यहीं से सबसे पहले लोगों का लंका में जाकर बसना और धर्म-प्रचार करना अधिक संगत है।

आगे के मतों का निर्देश करने के पूर्व उपर्युक्त मतों की कुछ समीक्षा कर लेना आवश्यक होगा। इन सब मतों में सब से मुख्य बात यह है कि ये सभी मत पालि भाषा की उत्पत्ति के विषय में सिंहली परम्परा से असहमत हैं। पालि भाषा के मागधी आधार को वे किसी भी अर्थ में स्वीकार नहीं करते। केवल रायस डेविड्स के मत में उसके लिए कुछ अवकाश अवश्य है। भगवान् कोशल में उत्पन्न हुए, मगध में घूमे-फिरे, अतः उनके उपदेशों का माध्यम कोशल की भाषा भी हो सकती थी, मगध की भाषा भी और उनका संमिश्रण भी। किन्तु रायस डेविड्स का अपने मत को सिद्ध करने के लिए यह अनुमान करना कि अशोक के अभिलेखों की भाषा छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व की कोशल प्रदेश में बोले जाने वाली भाषा का ही विकसित रूप है, अथवा यह कि अशोककालीन मगध-शासन की

---

१. **विनय-पिटक (डा० ओल्डनबर्ग द्वारा रोमन अक्षरों में सम्पादित), जिल्द पहली, पृष्ठ १-५६ (भूमिका)।**

२. **सिम्पलीफाइड ग्रामर ऑव दि पालि लैंग्वेज, पृष्ठ ३ (भूमिका)।**

राष्ट्र-भाषा कोशल प्रदेश की टकसाली भाषा ही थी, ठीक नहीं माना जा सकता। प्रतिवेशी कोशल राज्य के मगध में सम्मिलित हो जाने के बाद मगध साम्राज्य जब अपनी चरम उन्नति पर पहुँचा तो यही मानना अधिक युक्तिसंगत है कि मगध की भाषा को ही राष्ट्र-भाषा होने का गौरव मिला। हाँ, चारों ओर की जनपद-बोलियों को भी, जिनमें एक प्रधान कोशल प्रदेश की बोली भी थी, उसमें अपना उचित स्थान मिला। एक सार्वदेशिक, टकसाली, राष्ट्र-भाषा के निर्माण में प्रादेशिक बोलियों का इस प्रकार का सहयोग सर्वथा स्वाभाविक है। अतः कोशल-प्रदेश की बोली का भी अन्तर्भाव मगध की राष्ट्र-भाषा (मागधी भाषा) में हो गया था, ऐसा हम कह सकते हैं। वैसे यदि रायस डेविड्स के मत को उसके मौलिक रूप में देखा जाय तो उसका कोई आधार ही नहीं मिलता, क्योंकि जैसा डा० विण्टरनित्ज ने भी कहा है, छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व की कोशल प्रदेश की बोली की आज हमारी जानकारी ही क्या है, जिसके आधार पर हम उसे पालि का मूल रूप मान सकें?[१] वैस्टरगार्ड, ई० कुह्न, फ्रैंक और स्टैन कोनो के ऊपर निर्दिष्ट मत भी, जो किसी न किसी प्रकार विन्ध्य-प्रदेश को पालि का जन्म-स्थान मानते हैं, एकांगदर्शी है। अधिक से अधिक वे पालि भाषा के मिश्रित रूप को, जो एक साहित्यिक एवं अन्तर्प्रान्तीय भाषा के लिए सर्वथा अनिवार्य है, व्यंजित करते है। इससे अधिक उनका और कुछ महत्व नही है। फ्रैंक ने विन्ध्य-प्रदेश के मध्य और पश्चिमी भाग को पालि का उद्गम-स्थान बताने के अतिरिक्त एक और विचित्र बात कही है। उन्होंने सामान्यतः पालि समझे जाने वाली भाषा (अर्थात् तिपिटक और उसके उपजीवी साहित्य की भाषा) के लिए तो 'साहित्यिक पालि' शब्द का प्रयोग किया है और 'पालि' शब्द से उन्होंने बुद्धकालीन भारत मे बोले जाने वाली अन्य सब आर्य-भाषाओं को अभिप्रेत करना चाहा है। फ्रैंक का यह पारिभाषिक शब्द-निर्माण भ्रमात्मक ही सिद्ध हुआ है। जिन आर्य-भाषाओं को उन्होंने 'पालि' कहा है, उनके लिए भारतीय साहित्य में प्राकृत भाषाओं का नाम रूढ़ है और आज भी उनका यही नाम प्रचलित है। अतः उसी का प्रयोग

---

१. **हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०५ (परिशिष्ट २); डा० कीथ ने भी रायस डेविड्स के मत का खंडन किया है। देखिये इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, सितम्बर १९२५ में प्रकाशित कीथ का 'पालि दि लेंग्वेज ऑव सदर्न बुद्धिस्ट्स' शीर्षक निबन्ध।**

करना अधिक उचित जान पड़ता है। तिपिटक की भाषा के लिए केवल 'पालि' नाम पर्याप्त है। उसके साथ 'साहित्यिक' लगाने से भ्रम पैदा होने की आशंका हो जाती है। स्टैन कोनो का मत पैशाची प्राकृत को उज्जयिनी-प्रदेश की बोली बतलाता है और इस प्रकार भाषातत्वविदों के सामने एक नई समस्या खड़ी कर देता है। वास्तव में उनका यह मत विद्वानों को कभी ग्राह्य नहीं हुआ है और पैशाची को केकय और पूर्वी गन्धार की बोली मानना ही सब प्रकार ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक तथ्यों से संगत है। ओल्डनबर्ग और ई० मुलर के मत प्रधानतः कल्पना-प्रसूत हैं। इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं कि पालि कलिंग से लंका गई। उल्टे इस बात के प्रमाण है कि सिंहली भाषा की अधिक समानताएँ अपेक्षाकृत भारत की पश्चिमी बोलियों के साथ है। ओल्डनबर्ग को अपने मत-स्थापन में महेन्द्र के लंका में धर्म-प्रचार संबंधी कार्य को भी, जो अन्यथा सब प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध है,[1] अनैतिहासिक मानना पड़ा है। इसी से उनके मत की गंभीरता का पता लग जाता है। खारवेल के खंडगिरि-अभिलेख के साक्ष्य पर पालि का जन्म-स्थान कलिंग बतलाना उतना ही अपूर्ण सिद्धान्त है जितना अशोक के गिरनार के शिलालेख के आधार पर उसे उज्जयिनी-प्रदेश की बोली ठहराना। पालि के प्रान्तीय कारणों से उत्पन्न मिश्रित स्वरूप को दिखाने के अतिरिक्त इन मतों का अन्य कोई साक्ष्य या महत्व नहीं है।

जिन विद्वानों ने पालि-भाषा के मागधी आधार को स्वीकार किया है, अथवा जिन्होंने सिंहली परम्परा को कुछ विशिष्ट अर्थों में समझने का प्रयत्न किया है, उनमें जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विंडिश, विण्टरनित्ज़, ग्रियर्सन और गायगर के नाम अधिक प्रसिद्ध है। भिक्षु सिद्धार्थ[2] और भिक्षु जगदीश काश्यप[3] ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। जेम्स एल्विस और चाइल्डर्स की यह मान्यता है कि 'मागधी' ही पालि भाषा का मौलिक और सबसे अधिक उपयुक्त नाम है। जेम्स एल्विस के मतानुसार बुद्धकालीन भारत में १६ प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित थीं। इनमें 'मागधी' बोली में , जो मगध में बोली जाती थी, भगवान् बुद्ध ने उपदेश

---

१. देखिये आगे दूसरे अध्याय में 'पालि साहित्य का उद्भव और विकास' सम्बन्धी विवेचन।

२. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ६४१-५६।

३. पालि महाव्याकरण की वस्तुकथा।

दिये थे। विंडिश ने भी पालि के 'मागधी' आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। विंटरनित्ज का मत भी इसी के समान है। उनका कहना है कि पालि एक साहित्यिक भाषा थी, जिसका विकास अनेक प्रादेशिक बोलियों के सम्मिश्रण से हुआ था, जिनमें 'प्राचीन मागधी' प्रधान थी।[1] ग्रियर्सन ने पालि के मागधी आधार को तो स्वीकार किया है, किन्तु पालि में तत्कालीन पश्चिमी बोलियों के प्रभाव को देखकर उन्हें यह मानना पड़ा है कि पालि का आधार विशुद्ध मागधी न होकर कोई पश्चिमी बोली है। इसी को सिद्ध करने के लिए उन्होंने यह कल्पना कर डाली है कि पालि का विकास मागधी भाषा के उस रूप से हुआ जो तक्षशिला विश्वविद्यालय में बोला जाता था और जिसमें ही तिपिटक का संस्करण वहाँ किया गया था।[2] किन्तु न तो मागधी भाषा के वहाँ शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होने की और न उसमें तिपिटक के वहाँ संकलित होने की कोई अकाट्य युक्ति ग्रियर्सन या अन्य किसी विद्वान् ने अभी तक दी है।[3] जर्मन विद्वान् गायगर का मत उपर्युक्त सभी मतों से अधिक परिपूर्ण और ग्राह्य है। उनके अनुसार पालि मागधी भाषा का ही एक रूप है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे। यह भाषा किसी जनपद-विशेष की बोली नहीं थी, बल्कि सभ्य-समाज में बोले जाने वाली एक सामान्य भाषा थी, जिसका विकास बुद्ध-पूर्व युग से हो रहा था। इस प्रकार की अन्तर्प्रान्तीय भाषा में स्वभावतः ही अनेक बोलियों के तत्व विद्यमान थे। एक मगध का निवासी इसे एक प्रकार से बोलता था, कोशल का दूसरी प्रकार से और अवन्ती का किसी तीसरे प्रकार से। यद्यपि भगवान् बुद्ध मगध प्रदेश के नहीं थे, किन्तु उनका जीवन-कार्य अधिकांश वहीं संपादित किया गया था। अतः मगध की बोली की उनकी भाषा पर अमिट छाप पड़ी होगी। इसलिए उनकी भाषा को आसानी से 'मागधी' कहा जा सकता है, फिर चाहे उसमें मागधी बोली की कुछ विशेषताएँ भले ही उपलब्ध न हों। अतः गायगर के मतानुसार पालि विशुद्ध मागधी तो

---

१. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १३।

२. आर० जी० भाण्डारकर कमेमोरेशन वोल्यूम, पृष्ठ ११७-१२३ (ग्रियर्सन का 'दि होम ऑव लिटररी पालि' शीर्षक लेख) (पूना, १९१७)।

३. यह आलोचना डा० कीथ की है। देखिए उनका 'दि होम ऑव पालि' शीर्षक निबन्ध, 'बुद्धिस्टिक स्टडीज' (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ७३९।

नहीं थी, किन्तु उस पर आश्रित एक लोक-भाषा थी, जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे ।[१]

वास्तव में पालि कहाँ तक या किन अर्थों में मागधी थी या नहीं, यह हमारे अध्ययन की सबसे बड़ी समस्या है। जिस मागधी का विवरण उत्तरकालीन प्राकृत-वैयाकरणों ने दिया है या जिसके स्वरूप का दर्शन कतिपय अभिलेखों या नाटक-ग्रन्थों में होता है, उससे तो पालि निश्चयतः भिन्न है, ऐसा कहा जा सकता है। प्राकृत-व्याकरणों, अभिलेखों और नाटक-ग्रन्थों की मागधी का विकास पालि के बाद हुआ है। इस प्रकार की मागधी भाषा के रूप की तीन प्रधान विशेषताएँ हैं। (१-२) प्रत्येक र् और स् का क्रमशः ल् और श् में परिवर्तित हो जाना, और (३) पुल्लिग और नपुसक लिंग अकारान्त शब्दों का प्रथमा विभक्ति एकवचन का रूप एकारान्त होना। पालि में र् रहता है, उसका 'ल्' में परिवर्तन केवल अनियमित रूप से कभी-कभी होता है, सर्वथा नियमानुसार नहीं। उदाहरणतः पालि में सं० 'तरुण' के लिए 'तलुण' है और 'तरुण' भी। इसी प्रकार अशोक के पश्चिम के लेखों में राजा, पुरा, आरभित्वा जैसे प्रयोग मिलते है, किन्तु पूर्व के लेखों में उनके क्रमशः लाजा, पुलुवं, आलभितु रूप हो जाते है। 'स्' का 'श्' में परिवर्तन तो पालि में होता ही नहीं। 'श्' पालि में है ही नहीं। केवल अशोक के उत्तर (मनसेहरा) के शिलालेख मे इसका प्रयोग अवश्य दृष्टिगोचर होता है, जैसे प्रियद्रशिन, प्रियदर्शि, प्राणशतसहस्रानि आदि। परन्तु मागधी की यह एक भारी विशेषता है। वह शकार-बहुला है। 'स्' और 'ष्' दोनों ही वहाँ 'श्' हो जाते है। 'सः' वहाँ 'शे' है, 'पुरुषः' 'पुलिशे' और 'शुष्क' 'शुश्क'। इस प्रकार पालि तिपिटक की भाषा से यह भारी भिन्नता है। पुल्लिग और नपुसक लिग अकारान्त शब्दों के रूप पालि में प्रथमा विभक्ति एकवचन में क्रमशः ओकारान्त और अनुस्वारान्त होते है, एकारान्त नहीं। राहुलोवादः' की जगह 'लाघुलोवादे', 'बुद्धः' की जगह 'बुधे', 'मृगः' की जगह 'मिगे' आदि मागधी के जैसे प्रयोग अशोक के कुछ शिलालेखों में अवश्य पाये जाते है और सुत्त-पिटक के कुछ अशो में भी। किन्तु नियमतः ये प्रयोग नही पाये जाते। अधिकतर पालि मे 'बुद्धो' और 'फलं' जैसे ही रूप है। अतः जिस मागधी का निरूपण प्राकृत-वैयाकरण करते है, उसे पालि का आधार नहीं माना जा सकता। उसका विकास तो, जैसा

---

१. पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ४-५ (भूमिका)।

अभी कहा गया है, पालि के बाद हुआ है। पालि का आधार तो केवल वही मागधी या मगध की बोली हो सकती है जो मध्य-मंडल अर्थात् पश्चिम में कुरु जनपद से पूर्व में मगध तक और उत्तर में श्रावस्ती से दक्षिण में अवन्ती तक फैले हुए प्रदेश की सामान्य सभ्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी और जिसका विकास अनेक कारणों से गौरव प्राप्त करने वाली मगध की भाषा से हुआ और अनेक कारणों से ही जिसमें नाना प्रदेशों की बोलियों का संमिश्रण हो गया, जिसका साक्ष्य आज हम उसके सुरक्षित रूप 'पालि' में पाते हैं। इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि जिस मागधी भाषा का परिचय प्राकृत-वैयाकरणों ने दिया है वही मगध में बुद्ध के काल में बोली जाती थी। यदि यह मान भी लिया जाय कि वह या उससे मिलती-जुलती भाषा बुद्ध के काल में नीची श्रेणी के लोगों के द्वारा मगध में बोली जाती थी (जैसी अपेक्षा संस्कृत के नाटककार और प्राकृत वैयाकरण हमसे करेंगे) तो भी बौद्ध धर्म के प्रभाव से राष्ट्रीय गौरव प्राप्त करने जाने वाली एक प्रादेशिक भाषा (मगध-भाषा—मागधी) इस प्रक्रिया में अपने कुछ ऐसे प्रयोगों को छोड़ सकती थी, जैसा आधुनिक काल में खड़ी बोली हिन्दी ने राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त करते हुए मेरठ और दिल्ली के आसपास के क्षेत्र के (जहाँ की वह मूल भाषा है) अपने अनेक प्रयोगो और शब्द-उच्चारणों को छोड़ दिया है और भारत के अन्य प्रदेशों, यहाँ तक कि दक्षिण के भी, भाषा-प्रयोगो को ग्रहण करने जा रही है और आगे और करेगी। अतः पालि मगध की भाषा होते हुए भी मागधी प्राकृत से भिन्न हो सकती है है, अपने प्रादेशिक आधार को कुछ हद तक छोड़ सकती है और दूसरे प्रादेशिक प्रयोगों को ग्रहण कर सकती है। वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही था।

जिस प्रकार प्राकृत वैयाकरणों द्वारा विवेचित मागधी को पालि भाषा का आधार नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार जैन सूत्रों की भाषा अर्द्ध-मागधी या 'आर्ष' को भी उसका आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसका भी विकास पालि के बाद हुआ है। पश्चिम में शौरसेनी और पूर्व में मागधी प्राकृत के बीच के क्षेत्र में जो भाषा बोली जाती थी, वह अपने मिश्रित स्वरूप के कारण 'अर्द्धमागधी' कहलाती है। ध्वनि-समूह, शब्द-साधन और वाक्य-विचार की दृष्टि से पालि और अर्द्धमागधी में क्या समानताएँ या असमानताएँ है, इसका विवेचन हम आगे पालि और प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते समय करेंगे। अभी लूडर्स के उस मत का निर्देश करना है, जिसके अनुसार 'प्राचीन अर्द्धमागधी' पालि भाषा का आधार है। लूडर्स का मत है कि मौलिक रूप में पालि तिपिटक प्राचीन

अर्द्धमागधी भाषा में था और बाद में उसका अनुवाद पालि भाषा में, जो पश्चिमी बोली पर आश्रित थी, किया गया। अतः उनके मतानुसार आज तिपिटक में जो मागधी रूप दृष्टिगोचर होते है, वे प्राचीन अर्द्धमागधी के वे अवशिष्ट अंश मात्र हैं जो उसका पालि में अनुवाद करते समय रह गये थे।[1] लूडर्स का यह तर्क बिलकुल अनुमान पर आश्रित है। जिस प्राचीन अर्द्धमागधी को लूडर्स ने तिपिटक का मौलिक आधार माना है, उसके रूप का निर्णय करने के लिए सिवाय उनकी कल्पना के और कोई आधार नहीं है। जैसा कीथ ने कहा है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि लूडर्स द्वारा निर्मित या परिकल्पित प्राचीन अर्द्ध-मागधी का विकास बाद में अर्द्धमागधी प्राकृत के रूप में ही हुआ है।[2] अतः लूडर्स ने तथाकथित 'प्राचीन अर्द्धमागधी' के रूप का निर्माण अशोक के शिलालेखों और बाद में अश्वघोष के नाटकों के अवशिष्ट अंशों से किया है। किन्तु यह अनुमानित निर्माण-कार्य प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकता। पालि भाषा में प्राप्त विभिन्नताओं की व्याख्या उसके प्रांतीय विकास और संमिश्रण, मौखिक परम्परा और एक भिन्न देश में तिपिटक के लिपिबद्ध किये जाने के परिणाम-स्वरूप भी की जा सकती है।[3]

लूडर्स के समान ही एक मत प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सिलवाँ लेवी का है। उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि पालि-तिपिटक मौलिक बुद्ध-वचन न होकर किसी ऐसी पूर्ववर्ती मागधी बोली का अनुवादित रूप है जिसमें ध्वनि परिवर्तन पालि भाषा की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था में था। पालि के 'एकोदि' एवं 'संघादिसेस' जैसे शब्दों की उनके संस्कृत प्रतिरूप 'एकोति', 'संघातिशेष' जैसे शब्दों के साथ तुलना कर उन्होंने तिपिटक के अन्दर एक ऐसी बोली के अवशिष्ट चिह्न खोजने का प्रयत्न किया है, जिसमें शब्द के मध्य स्थित संस्कृत अघोष (क्, च्,त्,प् आदि) स्पर्शो के स्थान पर घोष (ग्, ज्, द्, ब् आदि) स्पर्श होने का नियम था। पालि तिपिटक और अशोक के शिलालेखों के कुछ विशेष शब्दों में, जिनमें उपर्युक्त नियम लागू होता है, लेवी ने प्राचीन मौलिक बुद्ध-वचन (जिन्हें उन्होंने

---

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ७३४; गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ५; लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २०-२१ (भूमिका)।

२. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ७३४, पद- संकेत २।

३. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५।

ऐसा समझा है) में प्रयुक्त शब्दों के रूपों को खोजने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः भाब्रू अभिलेख में 'राहुलोवाद' की जगह 'लाघुलोवादे' है, 'अधिकृत्य' की जगह 'अधिगिच्य' है। लेवी का कहना है कि क् (अघोष स्पर्श) के स्थान पर ग् (घोष स्पर्श) का होना पालि में तो बहुत अल्प ही होता है, इसी प्रकार 'अधिगिच्य' में 'च्य' भी पालि की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान पालि तिपिटक एक ऐसी भाषा (मागधी) से अनुवाद किया हुआ है, जिसमें अघोष स्पर्शों (क्,त्,प् आदि) का घोष स्पर्शों (ग्,द्,ब् आदि) में परिवर्तित हो जाना अधिक सीमा तक पाया जाता था। नीचे के कुछ उदाहरण लेवी के तर्कों को स्पष्ट करने के लिए अलं होंगे—

संस्कृत	पालि
माकन्दिक	मागन्दिय
कचंगल	कजंगल
अचिरवती	अजिरवती
पाराचिक	पाराजिक
ऋषिवदन	इसिपतन

इन उद्धरणों के आधार पर लेवी ने अनुमान किया है कि पालि तिपिटक अपने मौलिक रूप में उस ऐसी भाषा में था जिसमें शब्द के मध्य-स्थित अघोष स्पर्शों के घोष स्पर्शों में परिवर्तित होने का नियम था। लेवी के मत को गायगर ने प्रामाणिक नहीं माना है। उन्होंने इसके तीन कारण दिये है। (१) लेवी ने 'संघादिसेस', 'एकोदि', 'पाचित्तिय' (प्राक्चित्तिक) आदि शब्दों की जो निरुक्तियाँ दी हैं, वे सभी अनिश्चित है। (२) अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तित होना केवल उपर्युक्त शब्दों मे ही नही पाया जाता, अन्य अनेक शब्दों में भी इस नियम का पालन देखा जाता है, उदाहरणतः

संस्कृत	पालि
उताहो	उदाहु
ग्रथित	गधित
व्यथते	पवेधति

(३) लेवी द्वारा निर्दिष्ट नियम का ठीक विपरीत अर्थात् संस्कृत घोष स्पर्शों का अघोष स्पर्शों में परिवर्तित हो जाना भी पालि में दृष्टिगोचर होता है--

झना चाहिए। आचार्य बुद्धघोष का तात्पर्य यहाँ वेद की आदरणीय भाषा से ही था। 'सस्कृत' शब्द पाणिनि के बाद का है और वह लौकिक संस्कृत का वाचक है। छन्दस् शब्द उस प्राचीन आर्य भाषा का द्योतक है जिसमें संहिताएँ लिखी गई है। भगवान् बुद्ध को यही अर्थ अभिप्रेत हो सकता था। स्वयं तिपिटक में 'सावित्थी छन्दसो मुखं'[1] जैसे प्रयोगों में 'छन्दस्' शब्द का प्रयोग वेद के लिए ही हुआ है। अतः यहाँ भी बुद्ध का तात्पर्य वेद की भाषा से ही था, जिससे विपरीत बुद्धघोष का मत भी नहीं है। अतः ऊपर उद्धृत भगवान् बुद्ध की अनुज्ञा ("अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितु") का अर्थ ("भिक्षुओ ! अनुज्ञा देता हूँ अपनी-अपनी भाषा में बुद्ध-वचन सीखने की") आसानी से समझा जा सकता है। बुद्ध की उदार शिक्षा के साथ इस अर्थ का सम्बन्ध भी मिल जाता है। कुछ शिक्षित ब्राह्मणों द्वारा ही समझी जाने वाली भाषा में अपने उपदेशों को रखवा कर वे उन्हें संकुचित नहीं बनाना चाहते थे। इसलिये उनकी उपर्युक्त अनुज्ञा प्रसंग को देखते हुए ठीक ही थी। किन्तु गायगर ने भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा का एक दूसरा ही अर्थ किया है। उन्होंने कहा है कि भगवान् की अनुज्ञा में 'सकाय निरुत्तिया' का अन्वय 'बुद्ध-वचन' के साथ है, 'भिक्खवे' के साथ नही। यदि 'भिक्खवे' के साथ 'सकाय निरुत्तिया' का अन्वय होता तो उसके साथ 'वो' (तुमको) शब्द भी अवश्य होना चाहिये था और तभी हम भिक्षुओं के सम्बन्ध में उनकी 'अपनी-अपनी भाषा' जैसा अनुवाद कर सकते थे। किन्तु चूँकि 'वो' शब्द मूल पाठ में है नहीं, अतः स्वाभाविक रूप से, व्याकरण के नियम के अनुसार, 'सकाय निरुत्तिया' शब्द 'बुद्ध-वचनं' के साथ जायगा, और इस प्रकार भगवान् की अनुज्ञा का अर्थ होगा, "भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ बुद्ध-वचन को उसकी (बुद्ध-वचन की) भाषा में सीखने की।" इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् बुद्ध ने बुद्ध-वचन को उसी की (बुद्ध-वचन की) भाषा अर्थात् मागधी भाषा में ही सीखने की आज्ञा दी।[2] आचार्य बुद्धघोष ने भी 'सकाय निरुत्तिया' पद से यही अर्थ लिया है। वे कहते हैं "एत्थ सका निरुत्ति नाम सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको वोहारो" अर्थात् "यहाँ 'सका निरुत्ति' (स्वकीय भाषा) से तात्पर्य भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा प्रयुक्त मागधी भाषा-व्यवहार से ही है।" गायगर ने अपने अर्थ की पुष्टि

---

१. विनय-पिटक—महावग्ग; सुत्त-निपात, गाथा ५६८ भी।

२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ६-७।

करते हुए इस बात पर बहुत अधिक बल दिया है कि बुद्ध-वचनों को उनके मौलिक प्रामाणिक रूप में अक्षुण्ण रखने की उस समय भी जब इतनी अधिक तत्परता थी तो बाद में तो इसका और भी अधिक अनुसरण किया गया होगा। उन्होंने यह भी कहा है कि न तो भिक्षुओं का ही और न बुद्ध का ही मन्तव्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न भाषाओं में उपदेश करने से हो सकता था। अतः 'अपनी-अपनी भाषा' अर्थ लेने का अनौचित्य दिखाने का उन्होंने प्रयत्न किया है।[1] बुद्धघोष या गायगर के मत का ही अनुसरण करते हुए भिक्षु सिद्धार्थ ने कहा है कि जब भगवान् बुद्ध ने संस्कृत जैसी परिमार्जित और सम्मानित भाषा में अपने उपदेशों के रक्खे जाने तक का विरोध किया तो फिर वे किसी साधारण बोलचाल की भाषा में उन्हें रक्खे जाने का किस प्रकार आदेश दे सकते थे? उस दशा में तो उनके मौलिक अर्थो और प्रभाव में ही काफी अन्तर हो जाता।[2] "अतः निःसन्देह भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश मगध-देश की टकसाली भाषा में ही दिये और उसी में उनके शिष्यों ने उन्हें सीखा और फिर उपदेश किया।"[3] भिक्षु सिद्धार्थ के इस मन्तव्य से किसी को विरोध नहीं हो सकता। चूँकि भगवान् बुद्ध ने मध्य-मंडल की सामान्य सभ्य-भाषा में ही अपने उपदेश दिये और उसी के विभिन्न स्वरूपों में उनके शिष्यों ने उन्हें सीखा, अतः आज हम कहना चाहें तो कह ही सकते हैं कि मागधी भाषा ही भगवान् बुद्ध के उपदेशों का माध्यम थी और उसी में उनके शिष्य उन्हें सीखते और उपदेश करते थे। इस दृष्टि से बुद्धघोष, गायगर और भिक्षु सिद्धार्थ के अर्थ ठीक है। किन्तु यदि उनके अर्थों से हम यह समझे कि स्वयं भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों को भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा से वही अर्थ अभिप्रेत था जो बुद्धघोष, गायगर और भिक्षु सिद्धार्थ ने उसे दिया है, तो यह बिलकुल गलत है। वास्तव में, हम बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा की व्याख्या करने में बुद्धघोष या गायगर की अपेक्षा

---

१. **पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ७।**

२. **बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ६४८।**

३. "There can be no doubt as to the fact that the Buddha preached his doctrine in the standard vernacular of the Magadha country and his disciples studied and taught it in that very language" **बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६४९।**

उस अनुज्ञा के ही पूर्वापर प्रसंग और बुद्ध की भावना से भी, जैसी वह अन्यत्र प्रस्फुटित हुई है, अधिक सहायता लेने के पक्षपाती हैं। विण्टरनित्ज़ ने कुछ स्पष्टता-पूर्वक यह दिखाया है कि 'सकाय निरुत्तिया' का सम्बन्ध 'भिक्खवे' के साथ लगाने के लिये उसके साथ 'वो' शब्द का आना अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है, जैसा कि गायगर ने आग्रह किया है। उसे प्रसंग-वश भी समझा जा सकता है।[१] डा० विमलाचरण लाहा ने पालि के मागधी आधार को स्वीकार नहीं किया है, अतः उन्होंने कुछ विस्तार से गायगर के मत का प्रतिवाद किया है।[२] कीथ ने भी, जो पालि को किसी पच्छिमी बोली पर आधारित मानते हैं, गायगर के परम्परावादी मत को स्वीकार नहीं किया है।[३] वास्तव में बात यह है कि व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होते हुए भी गायगर की बुद्ध-अनुज्ञा की उपर्युक्त व्याख्या उस प्रसंग में ठीक नहीं बैठती, जिसमें वह आई है। अतः पालि भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में उस मत को सिद्ध करने के लिये, जो दूसरे प्रमाणों के आधार पर उनके द्वारा ही सुनिश्चित कर दिया गया है, पर्याप्त नहीं ठहरती। सामान्यतः गायगर का अर्थ इन कारणों से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। (१) प्रसंग में वह ठीक नहीं बैठता। पहले भिक्षु लोग 'सकाय निरुत्तिया' ('अपनी-अपनी भाषा में') बुद्ध-वचनों को दूषित करते दिखाये गये है। इस पर ब्राह्मण भिक्षुओं ने उन्हें 'छन्दस्' में करने का प्रस्ताव रक्खा है। भगवान् ने इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए 'सकाय निरुत्तिया' बुद्ध-वचनों को सीखने की अनुज्ञा दे दी है। स्पष्टतः प्रसंग के अनुसार यहाँ 'सकाय निरुत्तिया' का वही अर्थ लेना ठीक है जो पहले लिया गया है, अर्थात् 'अपनी-अपनी भाषा में'। (२) किसी विशेष भाषा में बुद्ध-वचनों को सीखना रूढ़ कर देना भगवान् तथागत की प्रवृत्ति के विपरीत है। इस प्रकार उनका 'धम्म' प्रकाशित नही होता, जो सारी प्रजाओं के लिए खुलने पर ही प्रकाशित

---

१. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०२ (परिशिष्ट दूसरा)।

२. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ११-१६ (भूमिका)।

३. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १, १९२५, पृष्ठ ५०१; बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ७३०।

होता है।[१] (३) भगवान् बुद्ध का जोर शब्दों पर नहीं था, अर्थों पर था।[२] कोई भी भाषा किसी अन्य भाषा से उनकी दृष्टि में उच्च अथवा हेय नहीं थी। न उन्हें संस्कृत से द्वेष था, न मागधी से मोह। वे केवल जीवित भाषा में उपदेश देना चाहते थे, जिससे लोग उन्हें आसानी से समझ सकें। मागधी का ऐसा ही माध्यम उन्हें अनायास मिल गया, जिसे उन्होंने प्रयुक्त किया। (४) जनपद-निरुक्तियों अर्थात् भाषा के स्थानीय प्रयोगों में तथागत को अभिनिवेश नहीं था। किसी एक भाषा-प्रयोग में उनका आग्रह नहीं था। उन्होंने स्वयं कहा है कि एक ही वस्तु 'पात्र' के लिये किसी जनपद में 'पाति', किसी में 'पत्त', किसी में 'वित्थ', किसी में 'सराव', किसी में 'धारोप', किसी में 'पोण', किसी में 'पिसील' शब्द का प्रयोग होता है, तो भिक्षुओं को किसी एक शब्द को ही लेकर यह समझ कर नहीं बैठ रहना चाहिये कि यही प्रयोग ठीक है और सब गलत। बल्कि उन्हें तो अपने भी जनपद के प्रयोग के प्रति ममता न रखकर जहाँ जैसा प्रयोग चलता हो, वहाँ उसी के अनुसार बरतना चाहिये।[३] अतः मगध-जनपद के प्रयोग के प्रति भी तथागत का अभि-निवेश या पक्षपात-व्यवहार कैसे हो सकता था? अतः गायगर का अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता।

जैसा हम ऊपर कह चुके है, गायगर की 'सकाय निरुत्तिया' की व्याख्या के साथ असहमत होते हुए भी पालि भाषा के मागधी आधार को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अब तक हमने इस विषय सम्बन्धी जो विवेचन किया है, वह हमें इसी निष्कर्ष की ओर पहुँचने के लिये बाध्य करता है कि पालि भाषा का विकास मध्य-मंडल में बोले जाने वाली उस अन्तर्प्रान्तीय सभ्य भाषा से हुआ जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे और जिसकी सज्ञा बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार 'मागधी' है। इसी 'मागधी' के विकसित, विकृत या अधिक ठीक कहें तो विभिन्न जन-

---

१. ऐसा ही अंगुत्तर-निकाय के तिक-निपात के एक सुत्त में कहा गया है। "भिक्षुओ! ये तीन खुले चमकते हैं, ढँके नहीं। चन्द्र-मण्डल...सूर्य-मण्डल...तथागत द्वारा उपदिष्ट धर्म...ये तीन खुले चमकते हैं, ढँके नहीं।" देखिये मिलिन्द-प्रश्न (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद), पृष्ठ २३१ भी।

२. किन्ति-सुत्त (मज्झिम. ३।१।३)।

३. देखिये अरणविभंग-सुत्त (मज्झिम. ३।४।९)।

पदीय स्वरूप हमें अशोक के अभिलेखों की 'मागधी' में मिलते हैं। निश्चय ही इस अशोक-कालीन मगध-भाषा की उससे तीन सौ वर्ष पूर्व बोले जाने वाली मगध-भाषा से, जो तिपिटक में सुरक्षित है, विभिन्नताएँ भी है। इन विभिन्नताओं के आधार पर ही ओल्डनबर्ग आदि विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाल डाला था कि पालि मागधी नहीं है। पालि को मागधी न मानने से उनका तात्पर्य , जैसा डा० ई० जे० थॉमस ने दिखाया है, सिर्फ यही था कि पालि अशोक के अभिलेखों की भाषा नहीं है।[1] किन्तु यहाँ पर यह नहीं सोचा गया कि जो कुछ भी विभिन्नताएँ तिपिटक की भाषा और अशोक के अभिलेखों की भाषा में हैं, वे सब एक अन्त-र्प्रान्तीय राजभाषा के प्रान्तीय प्रयोगों के आधार पर समझी जा सकती है। अशोक का उद्देश्य अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न जनपदों की सामान्य जनता तक अपने सन्देश को पहुँचाना था। जनपद-निरुक्तियों का अभिनिवेश उसके हृदय में था नही। उसने जैसा प्रयोग जिस जनपद में चलता देखा, वैसा ही शिलालेखों में अंकित करवा दिया। इसी कारण उनमें उच्चारण आदि की अल्प विभिन्नताएँ मिलती है। एक ही प्रथम शिलालेख के पूर्व (जौगढ़), पश्चिम (गिरनार) और उत्तर (मनसेहरा) इन तीन संस्करणो का मिलान करने से यह भेद स्पष्ट हो जाता है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इन तीनों अभिलेखों को उद्धृत तो नहीं कर सकते,[2] किन्तु उनके आधार पर विभिन्न भाषा-स्वरूपों का अध्ययन करना आव-श्यक है। उनके भाषा-स्वरूपों में मुख्य विभिन्नताएँ इस प्रकार है। (१) पश्चिम (गिरनार) के शिलालेख में 'र्' का 'ल्' में परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणतः 'राजा', 'राज्ञा', 'पुरा', 'आरभित्वा' जैसे प्रयोग वहाँ दृष्टिगोचर होते है। उत्तर के शिला-लेख (मनसेहरा) में भी 'र्' का 'ल्' में परिवर्तन नहीं होता, किन्तु वहाँ प्रादेशिक उच्चारण-भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है। 'राजा', की जगह वहाँ 'रज', 'राज्ञा' की जगह 'राजिने', 'पुरा' की जगह 'पुर' और 'आरभित्वा' की जगह 'आरभितु' मिलते हैं। पूर्व के शिलालेख (जौगढ़) में 'र्' का 'ल्' में परिवर्तन हो जाता है।

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २३४ (डा० ई० जे० थॉमस का "बुद्धिस्ट एजूकेशन इन पालि एंड संस्कृत स्कूल्स" (शीर्षक निबन्ध)।

२. जिसके लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यपः पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तेतीस-चौंतीस (वस्तुकथा)।

वहाँ 'राजा' की जगह 'लाजा' है, 'राज्ञा' की जगह 'लाजिना' है, 'पुरा' की जगह 'पुलुवं' है और 'आरभित्वा' की जगह 'आलभितु' है। (२) पश्चिम के लेख में (सामान्यत. पालि के समान) केवल दन्त्य 'स्' का ही प्रयोग है। तालव्य 'श्' और मूर्द्धन्य 'ष्' वहाँ नहीं मिलते। इनकी जगह भी दन्त्य 'स्' का ही प्रयोग मिलता है। 'प्रियदसि' इसका उदाहरण है। पूर्व के लेख की भी यही प्रवृत्ति है। किन्तु उत्तर के लेख की आश्चर्यजनक प्रवृत्ति 'श्' और 'ष्' दोनों को रखने की है। वहाँ 'प्रियदसि' (पश्चिम) या 'पियदसि' (पूर्व) की जगह 'प्रियदर्शि' है। इसी प्रकार 'प्रियदसिना' या 'पियदसिना' की जगह 'प्रियद्रशिन' है। 'प्राणसतसहस्रानि' (पश्चिम) या 'पानसतसहमानि' (पूर्व) की जगह 'प्राणशतसहस्रानि' है। 'आरभरे' (पश्चिम) या 'आलभियिसु' की जगह आश्चर्यजनक रूप से 'अरभिषंति' है! (३) पुल्लिंग अकारान्त शब्द के प्रथमा एकवचन का रूप पश्चिम के अभिलेख में ओकारान्त है, जैसे 'एको मगो'। किन्तु पूर्व और उत्तर के अभिलेखो में वह एकारान्त हो गया है, जैसे 'एक मिगे' (पूर्व), 'एके म्रिगे' (उत्तर)। (४) पूर्व के अभिलेख में व्यंजन रेफयुक्त होने पर रेफ की ध्वनि लुप्त होकर व्यंजन में ही मिल गई है, जैसे 'प्रियदर्शी' से 'पियदसि'; 'प्राणा' से 'पानानि'। किन्तु पश्चिम और उत्तर के अभिलेखों में यह परिवर्तन नही हुआ है। वहाँ 'प्रियदसि', 'प्राणा' (पश्चिम) एवं 'प्रियदर्शि', 'प्रणनि' (उत्तर) शब्दों में रेफध्वनि सुरक्षित है। (५) 'ऋ' के परिवर्तन में भी असमानता है। मृग से 'मगो' पश्चिम में है, 'मिगे' पूर्व में है, 'म्रिगे' उत्तर में है। (६) पश्चिम का शिलालेख संस्कृत के अधिकतम समीप है। मिलाइये "पुरा महानसम्हि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राजो अनुदिवसं बहुनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय" (पश्चिम); "पुलुवं महानससि देवानं पियस पियदसिने लाजिने अनुदिवसं बहूनि पानसतसहसानि आलभियिसु सूपठाये" (पूर्व); "पुर महनससि देवनं प्रियस प्रियदर्शिस राजिने अनुदिवसं बहुनि प्राणशत-सहस्रानि आरभिसु सुपथये" (उत्तर)। इन विभिन्नताओं के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मौलिक न होकर एक ही सामान्य भाषा के प्रान्तीय या जनपदीय रूप हैं, जो उच्चारण-भेद से उत्पन्न हो गये है। दूसरे शब्दों में, अशोक के अभिलेखों की भाषा एक सामान्य मागधी राष्ट्रभाषा है जिसमें प्रादेशिक आवश्यकताओं के अनुसार उच्चारण आदि में अल्प परिवर्तन है और जिसके विभिन्न रूपो में एक दूसरे के साथ गहन अन्तर्सम्बन्ध हैं। मूल तो उन सबका एक ही है—मगध की राज-भाषा-मागधी—जिसमें ३०० वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश

दिये थे और जो आज तक अपने उसी प्रामाणिक किन्तु मिश्रित[1] रूप में पालि तिपिटक में सुरक्षित है।

पालि और वैदिक भाषा

ऊपर अशोक की धर्मलिपियों में पाई जाने वाली पालि की विभिन्नताओं की ओर संकेत किया गया है। वास्तव में ये विभिन्नताएँ पालि की जन्म-जात हैं। ये उसे वैदिक भाषा से उत्तराधिकार-स्वरूप मिली हैं। पालि का वैदिक भाषा से ऐतिहासिक दृष्टि से क्या सम्बन्ध है, इसका हम पहले विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम इन भाषाओं के स्वरूप की दृष्टि से ही विचार करेंगे। ऋग्वेद की रचना अनेक युगों में अनेक ऋषियों द्वारा की गई। अत. उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियों का संमिश्रण मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में इसी भाषा के विकसित स्वरूप के दर्शन होते है। बाद में पाणिनि ने इसी भाषा की भिन्नरूपता को सुसम्बद्ध कर उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। यही 'संस्कृत' अर्थात् संस्कार की हुई भाषा कहलाई। ब्राह्मण-ग्रन्थों और यास्क या पाणिनि के काल के बीच में इस भाषा का व्यवस्थापन-कार्य हुआ। प्राचीन वेद की भाषा के साथ इसका विभेद दिखाने के लिये इसके लिये 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जब कि वेद की भाषा का उपयुक्त नाम 'छन्दस्' है। वेद की भाषा जिस समय यास्क और पाणिनि के समय में और उसके कुछ पहले से सुसम्बद्ध होकर 'संस्कृत' के रूप में आर्यों के विज्ञान और धर्म की भाषा बन रही थी, उसी समय आर्यो की बोलचाल की भाषा भी विकसित होकर नया स्वरूप प्राप्त कर रही थी। मगध या कोशल के प्रान्तों में उसने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसी के दर्शन हमें आज 'पालि' के रूप में होते हैं। मगध-साम्राज्य के विकास के साथ इसी बोली ने एक व्यापक रूप धारण कर लिया। इस प्रकार हम देखते है कि एक ही वैदिक भाषा के आधार पर, एक ही मध्यकालीन आर्यभाषा-युग में, संस्कृत और पालि का विकास भिन्न-भिन्न ढंगों से हुआ। वैदिक

---

१. **अशोक के पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी अभिलेखों के ही भाषा-तत्व पालि में मिलते हैं। जिन्होंने पूर्वी तत्त्वों पर जोर दिया है, उन्होंने पालि को मागधी या अर्द्ध-मागधी पर आधारित माना है; जिन्होंने पश्चिमी तत्त्वों पर जोर दिया है, उन्होंने उसमें शौरसेनी के तत्त्व ढूंढ़े हैं और जिन्होंने उत्तरी तत्त्वों को प्रधानता दी है, उन्होंने उसमें पैशाची तत्त्व ढूंढ़े हैं।**

भाषा के एक ही शब्दों के क्रमशः पालि और संस्कृत में विकसित स्वरूपों को मिलान कर देखने से यह ऐतिहासिक तथ्य अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

वैदिक भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अनेकरूपता है। स्वभावतः इस अनेकरूपता का उत्तराधिकार संस्कृत की अपेक्षा पालि को ही अधिक मिला है। इस तथ्य का विशेष विवरण हम आगे पालि के शब्द-साधन और वाक्य-विचार का विवेचन करते समय करेंगे। यहाँ कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। अकारान्त शब्दों के तृतीया बहुवचन में वैदिक भाषा में 'देवेभिः', 'कर्णेभिः' जैसे रूप मिलते हैं। संस्कृत ने इन रूपों को छोड़ दिया है। किन्तु पालि में ये 'देवेभि', 'देवेहि'; 'कण्णेभि', 'कण्णेहि' आदि के रूप में सुरक्षित है। वैदिक भाषा में 'विश्वन्', 'च्यवन्' जैसे नपुसकलिंग शब्दों के प्रथमा और सम्बोधन के बहुवचन के रूप 'विश्वा', 'च्यवना' जैसे आकारान्त होते है। पालि में यह प्रवृत्ति 'चित्ता', 'रूपा' जैसे प्रयोगों में दिखाई पड़ती है, किन्तु संस्कृत में नहीं पाई जाती। उत्तम पुरुष बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'मसि' पालि में 'मसे' (मयमेत्थ यमामसे) के रूप में सुरक्षित है। इसी प्रकार प्रथम पुरुष बहुवचन में वैदिक भाषा में 'रे' प्रत्यय लगता है। संस्कृत में यह नहीं पाया जाता। किन्तु पालि में यह 'पच्चरे', 'भासरे' जैसे प्रयोगों में सुरक्षित है। वेद में निमित्तार्थक 'तवे' प्रत्यय का बहुत प्रयोग होता है। पालि में भी 'कातवे', 'गन्तवे' जैसे रूपों में यह सुरक्षित है। संस्कृत ने इस प्रयोग को छोड़ दिया है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों में हम यह प्रवृत्ति देखते हैं। संस्कृत 'आम्र' शब्द का वैदिक रूप 'आम्ब' है। पालि में यह 'अम्ब' है। पालि ने 'ब्' को रख लिया है। वैदिक अकारान्त पुल्लिंग शब्दों के प्रथमा बहुवचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय लग कर 'देवास.' जैसा रूप बनता था। पालि में भी यह 'देवासे', 'धम्मासे', 'बुद्धासे' जैसे रूपों में सुरक्षित है। संस्कृत ने इन रूपों को ग्रहण नहीं किया है।[1]

पालि और संस्कृत

पालि और संस्कृत के ऐतिहासिक सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। दोनों ही मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाएँ है। दोनों ही समान स्रोत वैदिक

---

१. **अधिक उद्धरणों के लिये देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ६५५-५६ (भिक्षु सिद्धार्थ का पालि भाषा सम्बन्धी निबन्ध)। देखिये आगे "कुछ विचित्र स्वर-परिवर्तन" शीर्षक विवेचन भी।**

भाषा से उद्भूत हुई हैं। किन्तु जैसा कबीर ने पन्द्रहवीं शताब्दी में लोकभाषा हिन्दी का संस्कृत से मिलान करते हुए संस्कृत को 'कूप-जल' कह कर (हिन्दी) 'भाषा' को 'बहता नीर' कहा था, वही बात हम पालि के विषय में भी कह सकते हैं। पालि वह बहता हुआ नीर था जो वैदिक काल से लेकर अप्रतिहत रूप से मध्य-मंडल में प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा था। इसके विपरीत संस्कृत वह बद्ध महासरोवर था, जिसमें समस्त आर्य ज्ञान-विज्ञान अनुमापित कर दिया गया था। एक की गति अवरुद्ध थी, दूसरे में आवर्त-विवर्तो की लहरें सतत चलती रहीं। परिणामतः प्राकृतों की सीमा पार कर, अपभ्रंश के नाना विवर्त धारण कर, वह आज हमारी अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप मे समाविष्ट हो गई है। संस्कृत 'पुराण युवती' है। पुरानी होते हुए भी वह सदा अपने मौलिक अभिराम रूप को धारण करती है। उसके जरा-मरण नहीं। इसके विपरीत पालि के कुमारी, युवती, वृद्धा स्वरूप हमे दृष्टिगोचर होते है। अन्त में वह अपनी सन्तानों के रूप में अपने को खो भी चुकी है। पालि तिपिटक में उसके बाल्य और तारुण्य का सामान्यतः दिग्दर्शन होता है, अनुपालि-साहित्य में सामान्यतः उसके वृद्धत्व का। उसके ये विभिन्न भाव एक ही व्यक्तित्व के विकार हैं, जो उसने काल और स्थान के भेद से ग्रहण किये है। जिन भाषा-तत्वविदों ने उसके इस रहस्य को नहीं समझा है, उन्होंने उसके आदि निवास-स्थान और स्वरूप आदि के विषय में अनेक एकांगदर्शी मत प्रकट किए है, यह हम पहले देख ही चुके है।

उद्गम की दृष्टि से पालि और संस्कृत सहोदरा है। जैसे दो सगी बहनों में एक का रूप कुछ अधिक निखरा हो, दोनों के स्वर-तन्त्रियों और शब्दों के समान होते हुए भी एक कुछ अधिक परिष्कार के साथ बोले, यही हालत पालि और सस्कृत की है। ध्वनि-समूह में तो कुछ अल्प विभिन्नताएँ है भी, किन्तु रूप-विधान में तो उतनी भी नही है। दोनो के ध्वनि, रूप और अर्थ का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन करते समय यह हम अभी देखेगे। पहले विकास-क्रम को पूरा करते हुए पालि-भाषा का सम्बन्ध प्राकृत भाषाओं के साथ देखें।

पालि और प्राकृत भाषाएँ : विशेषतः अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची

प्राकृतों का विकास (१-५०० ई०) पालि के बाद का है। यह भी कहा जा सकता है कि पालि प्राकृत की प्रथम अवस्था का ही नाम है। हम पहले कह चुके हैं कि अशोक के समय में पालि या तत्कालीन लोक-सामान्य भाषा के कम से कम

तीन स्वरूप प्रचलित थे। पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। इन्हीं बोलियों का विकास बाद में प्राकृतों के रूप में हुआ। मागधी और अर्द्धमागधी अशोककालीन पूर्वी बोली के, शौरसेनी पश्चिमी बोली के और पैशाची पश्चिमोत्तरी बोली के विकसित रूप है, ऐसा हम कह सकते हैं। पहले ये बोलियाँ मात्र थीं, किन्तु साहित्य में प्रयुक्त होने पर इनका स्वरूप अवरुद्ध हो गया। भरत मुनि ने सात प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है, (१) मागधी, (२) आवन्ती (अवन्तिजा), (३) प्राच्या, (४) शौरसेनी, (५) अर्द्धमागधी, (६) वाह्लीका, और (७) दाक्षिणात्या।[१] बाद में वैयाकरण हेमचन्द्र ने इनमें पैशाची और लाटी को और जोड़ दिया है। साहित्य की दृष्टि से प्राकृतों में चार मुख्य हैं, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री। महाराष्ट्री सम्भवतः शौरसेनी का ही उत्तरकालीन विकसित रूप है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को अधिक महत्व दिया है।[२] महाराष्ट्री प्राकृत (सामान्य प्राकृत) का विस्तृत विवेचन करने के बाद प्रसिद्ध प्राकृत-वैयाकरण वररुचि ने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' में अन्य प्राकृतों (पैशाची, मागधी और शौरसेनी) का विवरण दिया है। बारहवें (अन्तिम) परिच्छेद में उन्होंने शौरसेनी की केवल कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन कर अन्त में 'शेष महाराष्ट्रीवत्' लिखकर छोड़ दिया है।

भाषा-तत्व की दृष्टि से पालि और प्राकृतों में अनेक समानताएँ हैं। उपर्युक्त विकास-विवरण से स्पष्ट है कि मागधी, अर्द्ध-मागधी, शौरसेनी और पैशाची प्राकृत ही पालि के तुलनात्मक अध्ययन में अधिक ध्यान देने योग्य हैं। पहले हम सामान्यतः पालि में पाये जाने वाले प्राकृत-तत्वों का निर्देश करेंगे और फिर मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची के साथ उसका संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

पालि और प्राकृत भाषाओं का ध्वनि-समूह प्रायः एक सा ही है। ऋ; ॠ, ऌ, ऐ और औ का प्रयोग पालि और प्राकृतों में समान रूप से ही नहीं पाया जाता। केवल अपभ्रंश में ऋ ध्वनि अवश्य मिलती है। पालि और प्राकृतों में ऋ ध्वनि

---

१. मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्द्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्याश्च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥ नाट्यशास्त्र १७।४८

२. महाकवि दण्डी ने भी कहा है, "महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः"। काव्यादर्श १।३४

अ, इ, उ स्वरों में से किसी एक में परिवर्तित हो जाती है। ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही मिलता है। विसर्ग का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही नही मिलता। श्, ष् की जगह मागधी को छोड़ कर और सब प्राकृतों और पालि में 'स्' ही हो जाता है। मूर्द्धन्य ध्वनि 'ळ' पालि और प्राकृत दोनों में ही पाई जाती है।

विशेष रूप से प्राकृत-तत्व पालि में व्यंजन-परिवर्तनों में ही पाये जाते हैं। ये परिवर्तन इस प्रकार है। (१) शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्श की जगह य् या व् का आगमन। (२) शब्द के अन्तःस्थित घोष महाप्राण की जगह ह् हो जाना। (३) शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्शो का घोष हो जाना। (४) महाप्राणत्व (ह-कार) का आकस्मिक आगमन या लोप। (५) आकस्मिक वर्ण-व्यत्यय। ये परिवर्तन पालि में अनियमतः कहीं-कहीं और प्रायः अन्य सब प्राकृतों में नियमतः पाये जाते है। आगे पालि के ध्वनि-समूह के विवेचन में इनका सोदाहरण विवरण दिया जायगा। वास्तव में बात यह है कि जिन ध्वनि-परिवर्तनों का पालि में सूत्र-पात ही हुआ है, उन्हीं का विकास हमें प्राकृतों में देखने को मिलता है। यही इन समानताओं का कारण है। इसका कुछ विस्तार से विवेचन हम आगे पालि के 'व्यंजन-परिवर्तन' पर विचार करते समय करेंगे। यहाँ इतना ही कह देना आवश्यक है कि पालि के जिस रूप के साथ प्राकृत की समानता है अथवा उसके जिस रूप में प्राकृत-तत्व मिलते है, वह पालि का प्राचीन रूप न होकर उसका विकसित रूप है। इसीलिये पालि-भाषा के विकास में भी हम तारतम्य देखते हैं, जिसका वर्णन हम अभी आगे करेंगे।

मागधी और पालि के सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके है। अर्द्ध-मागधी के सम्बन्ध मे भी कुछ कह चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि जिस रूप में अर्द्धमागधी के स्वरूप का साक्ष्य हमे जैन आगमों में मिलता है, उसकी ध्वनि और रूप की दृष्टि से पालि से समानताएँ तो है, किन्तु अर्द्धमागधी को पालि का उद्गम या आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्युत उसका विकास पालि के बहुत बाद हुआ है। पालि और अर्द्धमागधी की कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं—(१) संस्कृत 'अस्' और 'अर्' के स्थान में 'ए' हो जाना। पालि के पुरे (पुरः); सुवे (श्वः); भिक्खवे (भिक्षवः); पुरिसकारे (पुरुषकारः); दुक्खे (दुःखं) जैसे शब्दों में यह अर्द्धमागधीपन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। (२) संस्कृत 'तद्' के स्थान पर 'से' हो जाना। यह प्रवृत्ति 'सेय्यथा' (तद्यथा) जैसे पालि के

प्रयोगों में रूढ़ हो गई है। (३) इसी प्रकार संस्कृत यद् के स्थान पर 'ये' हो जाना तथा (४) र् का ल् हो जाना अर्द्धमागधी की एक बड़ी विशेषता है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, पालि में भी यह कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है, नियमानुसार नहीं। (५) स्वरों और अनुनासिक स्वरों के बाद आने पर 'एवं' का अर्द्धमागधी में 'येव' हो जाता है। पालि में भी यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है। (६) कहीं-कहीं वर्ण-परिवर्तन का विधान भी पालि में अर्द्ध-मागधी के समान ही है। उदाहरणतः

संस्कृत	पालि	अर्द्धमागधी
साक्षं (आँखों के सामने)	सक्खि (सक्खिं भी)	सक्खं
त्सरु (मूँठ, तलवार)	थरु	थरु (छरु भी)
वेणु (बाँस)	वेळु	वेळु
लांगल (हल)	नंगळ	नंगळ

लूडर्स ने अर्द्धमागधी के प्राचीन स्वरूप को पालि का आधार माना है, अतः उन्होंने उपर्युक्त समानताओं पर अधिक जोर दिया है। किन्तु इन समानताओं की एक मर्यादा है। केवल कुछ छुटपुटे उदाहरणों को छोड़ पालि में ये प्रवृत्तियाँ नियमित दृष्टिगोचर नहीं होतीं। उदाहरणतः सं० अस् की जगह 'ए' हो जाना, 'र्' की जगह 'ल्' हो जाना आदि प्रवृत्तियाँ जो अर्द्धमागधी की अनिवार्य विशेषताएँ हैं, पालि में कहीं-कहीं ही पाई जाती है।

शौरसेनी प्राकृत शूरसेन अर्थात् व्रज-मंडल या मध्य-मंडल की भाषा थी। यह प्राकृत संस्कृत के अधिकतम समीप है। उत्तरकालीन पालि में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। पालि भी मध्य-मडल की ही लोक-भाषा रही थी। अतः उसका प्रभाव शोरसेनी पर आवश्यक रूप से पड़ा है। जिन विद्वानों ने पालि का आधार कोई पूर्वी बोली (मागधी या अर्द्ध-मागधी) न मान कर किसी पश्चिमी बोली को माना है उन्होंने शौरसेनी प्राकृत के साथ उसकी सर्वाधिक समानताएँ दिखाने का प्रयत्न किया है।[1] शौरसेनी की एक सबसे बड़ी विशेषता तो है पुल्लिग अकारान्त

---

१. ऐसे विद्वानों में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या मुख्य हैं। उन्होंने दिखाया है कि पालि के ध्वनि-समूह और रूप-विधान की सर्वाधिक समानताएँ शौरसेनी के साथ हैं, यद्यपि उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि

शब्दों के प्रथमा एकवचन का रूप ओकारान्त होना, यथा पुरिसो, बुद्धो, नरो आदि। हम जानते है कि उसकी यह प्रवृत्ति पूरी तरह पालि में विद्यमान है। दूसरी बात है शकार और षकार के स्थान में सकार का होना। यह बात भी पूरी तरह हमें पालि में मिलती है। 'शब्द' के 'सद्द' और 'पुरुष' के 'पुरिसो' रूप पालि और शौरसेनी में समान हैं। कुछ अन्य समानताएँ इस प्रकार हैं। (३) शौरसेनी में शब्द के मध्य में स्थित अघोष स्पर्शो का घोष स्पर्शो में परिवर्तन कुछ हद तक दिखाई पड़ता है। इस प्रकार 'माकन्दिक' से 'मागन्दिय', 'कचंगल' से 'कजंगल' और 'अचिरवती' से 'अजिरवती' जैसे ध्वनि-परिवर्तिन पालि और शौरसेनी में समान है। परन्तु पालि में ठीक इसके विपरीत प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है, अर्थात् शब्द के मध्य में स्थित घोष स्पर्शो का अघोष हो जाना, यथा 'अगरु' से 'अकलु', 'मृदंग' से 'मुतिग', 'कुसीद' से कुसीत, आदि। (४) पूर्वकालिक अव्यय में शौरसेनी में 'दूण' प्रत्यय लगता है, यथा 'पठिदूण'। यह इसी अर्थ में प्रयुक्त पालि 'तून' प्रत्यय के समान है यथा, 'सोतून', 'कातून', 'निक्खमितून' आदि। परन्तु पालि की यह विशेषता केवल शौरसेनी के सदृश ही नहीं है, पैशाची में भी यह पाई जाती है। वहाँ पूर्वकालिक अव्यय में इसी के सदृश 'तून' प्रत्यय लगता है, यथा, 'गन्तून', 'रन्तून', 'हसितून'। 'पेक्ख', 'गम्मिस्सिति', 'सक्किति', जैसे रूपों में भी पालि की शौरसेनी से समानता है। इन समानताओं के विषय में हमें यही कहना है, जैसा ऊपर के उदाहरणों में हम कुछ दिखा भी चुके हैं, कि इनमें से बहुत सी केवल पालि और शौरसेनी में ही नहीं मिलतीं बल्कि अन्य प्राकृतों में भी पाई जाती है। और कहीं पर पालि शौरसेनी से नहीं भी मिलती, यह भी हमने देखा है। एक भिन्नता यह भी है कि शौरसेनी में वतमान काल के प्रथम पुरुष एकवचन के क्रिया रूपों के अन्त में 'दि' आता है, जैसे 'करेदि', 'गच्छेदि', जबकि पालि में ये रूप 'करोति', 'गच्छति' होते है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने शौरसेनी के साथ पालि की समानताओं पर जोर देते हुए पालि के शौरसेनी आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और उसे एक पश्चिमी बोली बताने का

पालि में उत्तर-पश्चिमी तथा अन्य अनेक प्राचीन आर्य बोलियों के तत्त्व भी सम्मिलित हैं। देखिये उनकी 'दि ऑरीजिन एण्ड डिवेलप्मेण्ट ऑव दि बंगाली लेंग्वेज', कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२६, प्रथम भाग, पृष्ठ ५५-५६।

भी।[1] यह एक अपूर्ण और एकांगी मत ही है। यहाँ यह अनुभव नहीं किया गया कि पालि मगध की भाषा होते हुए भी पश्चिमी बोली या बोलियों के तत्त्वों को ग्रहण कर सकती है।[2]

इसी प्रकार पालि और पैशाची प्राकृत के सम्बन्ध का सवाल है। इन दोनों भाषाओं की मुख्य समानताएँ इस प्रकार है—(१) घोष स्पर्शों (ग्, द्, ब्) के स्थान पर अघोष स्पर्श (क्, त्, प्) हो जाना। इसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। (२) शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित रहना; (३) 'भारिय', 'सिनान', 'कसट' जैसे शब्दों में संयुक्त वर्णों का विश्लेषण (युक्त-विकर्ष) पाया जाना, (४) ज्ञ्, ण्य्, और न्य् का 'ञ्ञ्' में परिवर्तन होना; (५) य् का ज् में परिवर्तन न होकर सुरक्षित रहना; (६) अकारान्त पुल्लिग शब्दों के प्रथमा एकवचन में ओकारान्त हो जाना; (७) धातु-रूपों में समानताएँ; (८) र् का ल् में परिवर्तन न होकर सुरक्षित रहना। पालि की ये समानताएँ भी केवल पैशाची प्राकृत के साथ ही नही है। अन्य प्राकृतों में भी ये पाई जाती है। उदाहरणतः ज्ञ्, ण्य् और न्य् की जगह 'ञ्ञ्' मागधी और अन्य अनेक प्राकृतों में भी पाया जाता है। 'राज्ञा' से 'रञ्ञा', 'पुण्य' से 'पुञ्ञ', और 'अन्य' से 'अञ्ञ' जैसे ध्वनि परिवर्तन पालि,

---

१. दि आरीजिन एण्ड डिवेलपमेण्ट ऑव दि बंगाली लेंग्वेज, प्रथम भाग, पृष्ठ ५४-५६ (कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२६)।

२. ध्वन्यात्मक और रूपात्मक दृष्टि से शौरसेनी से अधिक समानता रखते हुए भी पालि मगध की भाषा या मागधी हो सकती है। इसे हम मैथिल कोकिल विद्यापति (चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी) की पदावली की भाषा से सिद्ध कर सकते हैं। विद्यापति के पदों की भाषा मिथिला की लोक-भाषा है, वहाँ की 'देसिल बअना' है, जिसके मागधी से विकसित होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। भौगोलिक दृष्टि से भी यह स्पष्ट ही है। परन्तु विद्यापति की उक्त भाषा में ल् की जगह र् है, श् की जगह स् है। 'ग्वाल' के लिये वे 'गोआर' कहते हैं, 'शंकर' के लिये 'संकर', 'शिवसिंह' के लिये 'सिवसिंह'। यह व्रजभाषा या उसकी पूर्वगामिनी शौरसेनी अपभ्रंश के प्रभाव के कारण है। ऐसा ही पश्चिमी बोली या बोलियों का प्रभाव पालि पर माना जा सकता है जो मूलतः मगध-भाषा थी और बाद में सारे भारत की—मध्य-मण्डल की—राष्ट्र-भाषा बनी।

मागधी और पैशाची में समान रूप से पाये जाते हैं। 'तून' प्रत्यय का उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं। इसी प्रकार य् का ज् में परिवर्तन न होकर 'य्' ही बने रहना मागधी तथा अन्य प्राकृतों में पाया जाता है। इसी प्रकार अकारान्त शब्दों का ओकारान्त हो जाना केवल पैशाची प्राकृत में ही नहीं, किन्तु सभी पश्चिमी बोलियों में पाया जाता है और संस्कृत के मिथ्या-सादृश्य के आधार पर उद्भूत है। शौरसेनी का उदाहरण हम ऊपर दे ही चुके हैं। इसी प्रकार पालि का धातु-रूप-विधान न केवल पैशाची से ही, अपितु सामान्यतः सभी पश्चिमी बोलियों से समानता रखता है। यही हाल 'र्' के पालि में परिवर्तित न होने का है। शौरसेनी आदि पश्चिमी बोलियों में भी ऐसा ही पाया जाता है। पैशाची प्राकृत के सब रूपों में 'र्' सुरक्षित मिलता ही हो, ऐसी भी बात नहीं है। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित बने रहना प्राचीनता का लक्षण अवश्य है, किन्तु पैशाची के साथ पालि के घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक नहीं। घोष स्पर्शो के स्थान पर अघोष स्पर्श हो जाना पालि में यत्र-तत्र ही अनियमित रूप से पाया जाता है और पैशाची में भी यह नियम अनिवार्य नहीं है। फिर भी पैशाची की अपेक्षा पालि में यह बहुत कम है। 'मधुरा' का पैशाची रूप 'मथुरा' है, परन्तु पालि मे यह 'मधुरा' ही है। अतः पैशाची प्राकृत के साम्य के आधार पर हम पालि के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित नही कर सकते। डा० नलिनाक्ष दत्त ने पालि के पैशाची आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है,[1] परन्तु पालि की विभिन्नरूपता उनके प्रयत्नो पर पानी फेर देती है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि किसी एक प्राकृत या उसके प्राचीन स्वरूप से पालि को सम्बद्ध कर देना कितना एकांगी और भ्रामक सिद्धान्त है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और नलिनाक्ष दत्त के प्रयत्नों को, जो क्रमशः शोरसेनी और पैशाची को पालि का आधार बताना चाहते है, डा० बड़ुआ ने गाड़ी को घोड़े के आगे कर देने के समान कहा है,[2] जो बिलकुल ठीक ही है। इन प्राकृत भाषाओं का विकास पालि के बाद हुआ है। पालि के सम्बन्ध में वास्तविक तथ्य यही है

---

१. देखिये उनकी 'अर्ली हिस्ट्री ऑव दि स्प्रेड ऑव बुद्धिज्म एण्ड दि बुद्धिस्ट स्कूल्स', पृष्ठ २५६ (लन्दन, १९२५)।

२. अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६१ (कलकत्ता, १९४६)।

कि वह एक मिश्रित, साहित्यिक भाषा है जिसमें अनेक प्राचीन बोलियों के सम्मिश्रण के चिन्ह मिलते हैं। उसके ध्वनि-समूह का विस्तृत विवरण, प्राकृतों के साथ उसके सम्बन्ध को, जिसे हमने अभी तक अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही निर्दिष्ट किया है, अधिक स्पष्टता से व्यक्त करेगा।

पालि के ध्वनि-समूह का परिचय

पालि के ध्वनि-समूह को समझने के लिये पहले वैदिक और संस्कृत भाषा के ध्वनि-समूह को समझ लेना आवश्यक है। वैदिक ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ थीं, जिनमें १३ स्वर थे और ३९ व्यंजन। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

स्वर—

(१) नौ मूल स्वर : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ,
(२) चार संयुक्त स्वर : ए, ऐ, ओ, औ,

व्यंजन—

(१) सत्ताईस स्पर्श व्यंजन —

कंठ्य	क्, ख्, ग्, घ्, ङ,
तालव्य	च्, छ्, ज्, झ्, ञ्,
मूद्धन्य	—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ळ्, ळ्ह्
दन्त्य	—त्, थ्, द्, ध्, न्
ओष्ठ्य	—प्, फ्, ब्, भ्, म्

(२) चार अन्तःस्थ —य्, र्, ल्, व्
(३) तीन ऊष्म —श्, ष्, स्
(४) प्राणध्वनि —ह्
(५) अनुस्वार ं
(६) तीन अघोष ऊष्म

विसर्जनीय या विसर्ग :

जिह्वामूलीय[1]
उपध्मानीय[2]

वैदिक ध्वनि-समूह ही प्रायः संस्कृत में उपलब्ध होता है। कुछ विशेष परिवर्तन इस प्रकार हैं—(१) ळ् ळ्ह, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों का प्रयोग संस्कृत में नहीं मिलता। (२) कुछ स्वरों और व्यंजनों के उच्चारणों में भी परिवर्तन हुआ है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर अब हम पालि के ध्वनि-समूह पर विचार करें। पालि में ४३ ध्वनियां हैं, जिनमें १० स्वर हैं और ३३ व्यंजन। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

स्वर

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ह्रस्व ए, ए, ह्रस्व ओ, ओ

व्यंजन

कंठ्य	—क्, ख्, ग्, घ्, ङ
तालव्य	—च् छ्, ज्, झ्, ञ्
मूर्द्धन्य	—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ळ्
दन्त्य	—त्, थ्, द्, ध्, न्
ओष्ठ्य	—प्, फ्, ब्, भ्, म्
अन्तःस्थ	—य्, र्, ल्, व्
ऊष्म	—स्
प्राणध्वनि	—ह्
अनुस्वार	—अं (जिसे पालि में 'निग्गहीत' कहते हैं)

संस्कृत से मिलान करने पर उपर्युक्त पालि ध्वनि-समूह में ये विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है—(१) ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ स्वरों का प्रयोग पालि भाषा में नहीं

---

१. क् से पहले आने वाला विसर्ग। 'ततः किं' में विसर्ग की ध्वनि इसका उदाहरण है।
२. 'प्' से पहले आनेवाला विसर्ग। 'पुनः पुनः' में प्रथम विसर्ग की ध्वनि इसका उदाहरण है।

मिलता। (२) पालि में दो नये स्वर ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ मिलते हैं। (३) विसर्ग पालि में नहीं मिलता। (४) श्, ष् पालि में नहीं मिलते। (५) 'ळ्' व्यंजन का प्रयोग पालि में होता है, संस्कृत में नहीं। मिथ्या-सादृश्य के कारण 'ळ्' का प्रयोग 'ल्' के स्थान पर भी देखा जाता है। (६) स्वतंत्र स्थिति में 'ह्' प्राणध्वनि व्यंजन है, किन्तु य्, र्, ल्, व् या अनुनासिक से संयुक्त होने पर इसका उच्चारण एक विशेष प्रकार से होता है, जिसे पालि वैयाकरणों ने 'ओरस' या 'हृदय से उत्पन्न' कहा है। इस संक्षिप्त निर्देश के बाद अब उन ध्वनि-परिवर्तनों का उल्लेख करना आवश्यक होगा, जो संस्कृत की तुलना में पालि में होते हैं। पहले हम स्वर-परिवर्तनों को लेंगे, बाद में व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों को। स्वर-परिवर्तनों में भी क्रमशः ह्रस्व स्वर, दीर्घ स्वर, संयुक्त स्वर, विसर्ग आदि का विवेचन किया जायगा। इसी प्रकार व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों में असंयुक्त और संयुक्त व्यंजनों की दृष्टि से शब्द में उनकी स्थिति के अनुसार विवेचन करेंगे, यथा आदि-व्यंजन, मध्य-व्यंजन और अन्त्य-व्यंजन। इसके साथ ही स्वर और व्यंजन-सम्बन्धी कुछ विशेष ध्वनि-परिवर्तनों का दिग्दर्शन करना भी आवश्यक होगा।

स्वर-परिवर्तन

ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ, ए, ओ)

(१) साधारणतया संस्कृत ह्रस्व स्वर अ, इ, उ, पालि (एवं प्राकृतों) में सुरक्षित रहते हैं।

उदाहरण

संस्कृत	पालि	
वधूः	वधू	(प्राकृत वहू)
अग्नि	अग्गि	प्राकृत में पालि के समान ही रूप
अर्थ	अट्ठ	
प्रिय	पिय	
मुखम्	मुखं	(प्राकृत मुह)

(२) यदि संस्कृत में अ संयुक्त व्यंजन से पहले होता है, तो पालि में उसका कहीं कहीं ए (ह्रस्व ए) हो जाता है।

उदाहरण

संस्कृत	पालि
फल्गु (सारहीन)	फेग्गु
शय्या	सेय्या (प्राकृत सेज्जा)

(३) इकारान्त और उकारान्त पालि शब्दों के रूपों में विभक्त्यन्त इकार और उकार का दीर्घ होकर क्रमशः ईकार और ऊकार हो जाता है, यथा ईहि, ऊहि, ईसु, ऊसु। इस प्रकार 'अग्नि' (अग्नि) और 'भिक्खु' (भिक्षु) शब्दों के रूपों में क्रमशः अग्गीहि, भिक्खूहि (तृतीया बहुवचन) एवं अग्गीसु, भिक्खूसु (सप्तमी बहुवचन) रूप होते हैं।

(४) यदि संस्कृत में इ और उ संयुक्त व्यंजन से पहले होते हैं, तो पालि में वे क्रमशः ए और ओ (ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ) हो जाते हैं। उदाहरण—

संस्कृत	पालि
विष्णु	वेण्हु (कहीं-कहीं विण्हु भी)
निष्क	नेक्ख
उष्ट्र	ओट्ठ
उल्कामुख	ओक्कामुख
पुष्कर	पोक्खर

(५) संस्कृत में जहाँ संयुक्त व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर होते हैं, वहाँ पालि में उनका रूप ह्रस्व हो जाता है, यह पालि भाषा का एक प्रसिद्ध नियम है, जिसका विवेचन हम दीर्घ स्वरों के परिवर्तन का विवरण देते समय आगे करेंगे। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस नियम के कारण संस्कृत के ए, ऐ तथा ओ, औ, जब संयुक्त व्यंजनों से पहले आते हैं तो पालि में उनके रूप क्रमशः ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ हो जाते है उदाहरण—

श्लेष्मन्	सेम्ह
चैत्य	चेतिय
ओष्ठ	ओट्ठ
मौर्य	मोरिय

(६) जब उपर्युक्त स्वर संयुक्त व्यंजनों से पहले न आकर अ-संयुक्त व्यंजनों के भी पहले आते है तो भी उनका परिवर्तन उपर्युक्त ह्रस्व स्वरूपों में ही हो जाता है, किन्तु उनके आगे आने वाला व्यंजन संयुक्त हो जाता है। उदाहरण—

एक	एक्कं
एवम्	एव्व

ऋ और ऌ के पालि प्रतिरूप

(अ) ऋ का परिवर्तन पालि में त्रिविध होता है। कहीं अ, कहीं इ, कहीं उ। समीपी ध्वनियों पर यह अधिक निर्भर करता है कि कब क्या परिवर्तन हो। ओष्ठ्य अक्षरों के बाद अक्सर उ होता है। फिर भी प्रयोगों के अनुसार विविधता पाई जाती है, जिसे नियमों में नहीं बाँधा जा सकता। ऋ का परिवर्तन बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में भी यह पाया जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि संस्कृत 'अवट' शब्द पहले 'अवृत' था। 'विकट' और 'विकृत' शब्द दोनों साथ-साथ ऋग्वेद में मिलते हैं। यास्क भी इस तथ्य से अवगत है। उन्होंने 'कुटस्य', 'कृतस्य' जैसे समानार्थवाची शब्दों के उदाहरण दिये हैं। उत्तरकालीन युग में इस परिवर्तन की मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम में ऋ का परिवर्तित स्वरूप 'अ' हो जाता है और दूसरी में 'इ' या 'उ'। प्रथम प्रवृत्ति के परिचायक सामान्यतः पालि, अशोक के गिरनार-शिलालेख, महाराष्ट्री प्राकृत एवं अर्द्धमागधी प्राकृत हैं। दूसरी प्रवृत्ति के परिचायक विशेषतः अशोक के पूर्व और उत्तर-पश्चिम के शिलालेख एवं शौरसेनी प्राकृत हैं।

उदाहरण

(१) ऋ की जगह 'अ' हो जाता है—

संस्कृत	पालि
ऋक्ष	अच्छ
वृक	वक
हृदय	हदय
दृढ़	दळ्ह (गिरनार शिलालेख)
मृग	मग (गिरनार शिलालेख)

(२) ऋ की जगह 'इ' हो जाती है—

कृत	कित (अशोक पालि) (शौरसेनी किड)
मृत	मित (अशोक पालि) (शौरसेनी मुद)
ऋक्ष	इक्क
ऋण	इण
वृश्चिक	विच्छिक

(३) ऋ की जगह 'उ' हो जाता है—

ऋजु	उजु या उज्जु
ऋषभ	उसभ
पृच्छति	पुच्छति

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ऋ के पालि प्रतिरूपों में अनेक विभिन्नताएँ हैं। कहीं-कहीं एक ही शब्द के दो परिवर्तित स्वरूप दृष्टगोचर होते है। जैसे 'कृत' से 'कत' और 'कित'; 'मृत' से 'मत' और 'मित'; 'ऋक्ष' से 'अच्छ' और 'इक्क'। कहीं-कहीं इस प्रकार के समान प्रयोगों में अर्थ की कुछ भिन्नता भी हो गई है, यथा 'वड्ढि' और 'वुद्धि' दोनों सं० 'वृद्धि' के ही परिवर्तित स्वरूप है, किन्तु प्रथम का प्रयोग होता है उन्नति के अर्थ में और दूसरे का उगने के अर्थ में। इसी प्रकार 'मृग' के दो परिवर्तित रूप 'मग' और 'मिग' हैं। 'मग' का प्रयोग होता है सामान्य पशु मात्र के लिए, किन्तु 'मिग' का केवल हिरन के लिये। अन्य भी अनेक विचित्रताएँ हैं। 'ऋण' का पालि में 'इण' होता है, किन्तु 'स-ऋण' के लिए 'स + इण' न होकर 'स + अण' अर्थात् 'साण' होता है। इसी प्रकार 'अनण' होता है, 'अनिण' नहीं। सम्भवतः यह परिवर्तन स्वर-अनुरूपता के कारण है। 'पितृ' और 'मातृ' शब्दों के परिवर्तन एक जगह तो 'पितिपक्खतो', 'मातिपक्खतो' इस प्रकार होते हैं, किन्तु दूसरी जगह 'पितुघातक', 'मातुघातक' इस प्रकार होते हैं। 'पृथिवी' शब्द के पालि प्रतिरूप तो और भी अधिक आश्चर्यमय हैं—पथवी, पठवी, पुथवी, पुथुवी, पुठुवी। ये सब पालि के भिन्नतामयी लोक-भाषा होने के साक्षी हैं।

(४) कहीं-कहीं ऋ व्यंजन भी हो जाता है—

संस्कृत	पालि
बृंहयति	ब्रूहेति
वृक्ष	रुक्ख
प्रावृत	पारुत
अपावृत	अपारुत

(आ) 'ऌ' का 'उ' हो जाता है—

संस्कृत	पालि
क्लृप्त	कुत्त
क्लृप्ति	कुत्ति

दीर्घ स्वर (आ, ई, ऊ)

(१) पद के अन्त में या संयुक्त व्यंजन के पूर्व की स्थिति को छोड़कर, संस्कृत दीर्घ स्वर पालि में प्रायः सुरक्षित रहते हैं।

उदाहरण

संस्कृत	पालि
काल	काल
प्रहीण	पहीण
क्षीरं	खीरं
मूल	मूल या मूळ

(२) पद के अन्त में जहाँ संस्कृत में दीर्घ स्वर होते हैं, पालि में वे ह्रस्व कर दिये जाते हैं।

उदाहरण

देवानां	देवानं
गणनायां	गणनायं
नदीं	नदिं

(३) संयुक्त व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर होने पर पालि में उसका प्रतिरूप ह्रस्व हो जाता है और उसके बाद भी संयुक्त व्यंजन रहता है। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि संयुक्त व्यंजन से पूर्व ह्रस्व स्वर का ही प्रयोग पालि में हो सकता है।

उदाहरण

जीर्ण	जिण्ण
मार्दवं	मद्दवं
तीर्थं	तित्थं

(४) संयुक्त व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर रहने पर कभी-कभी पालि में उसका प्रतिरूप भी दीर्घ ही बना रहता है और इस दशा में संयुक्त व्यंजन असंयुक्त हो जाता है। इसका भी सीधा अभिप्राय यह है कि दीर्घ स्वर केवल असंयुक्त व्यंजन से पूर्व ही पालि में आ सकता है।

उदाहरण

लाक्षा	लाखा
दीर्घ	दीघ

ए और ओ रहने पर संयुक्त व्यंजन विकल्प से असंयुक्त होता है, अर्थात् कहीं-कहीं वह असंयुक्त होता है और कहीं-कहीं नहीं भी।

उदाहरण

अपेक्षा	अपेखा, अपेक्खा भी
उपेक्षा	उपेखा, उपेक्खा भी
विमोक्ष	विमोख, विमोक्ख भी

उपर्युक्त (३) और (४) ध्वनि-परिवर्तनों के आधार पर प्रसिद्ध जर्मन भाषा-तत्त्वविद् डा० गायगर ने एक नियम खोज निकाला है। इस नियम का नाम 'ह्रस्व मात्रा-काल का नियम' या 'लघ्वक्षरोच्चारण-काल का नियम' (दि लॉ ऑव मोरा) है। इस नियम के अनुसार पालि में प्रत्येक शब्दांश के आरम्भ में या तो (१) ह्रस्व स्वर हो सकता है (एक ह्रस्व मात्रा-काल), या (२) दीर्घ स्वर हो सकता है (दो ह्रस्व मात्रा-काल), या (३) उसके अन्त में ह्रस्व स्वर हो सकता है (दो

ह्रस्व मात्रा-काल)। इस प्रकार किसी भी शब्दांश में दो से अधिक ह्रस्व मात्रा-काल या लघ्वक्षरोच्चारण-काल नहीं हो सकते। दीर्घ सानुनासिक स्वर पालि में नहीं हो सकते। इस नियम के आधार पर ही उपर्युक्त (३) व (४) ध्वनि-परिवर्तनों की सिद्धि डा० गायगर ने की है। इस नियम के अनुसार अन्य परिवर्तनों का भी उन्होंने उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

(१) जहाँ संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पहले ह्रस्व स्वर होता है, वहाँ पालि में साधारण व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर हो जाता है। उदाहरण

सर्षप (सरसों)	सस्सप के बजाय सासप
वल्क (छाल)	वक्क के बजाय वाक
निर्याति (बाहर चला जाता है)	नीयाति

(२) जहाँ साधारण व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर होता है, वहाँ पालि में संयुक्त व्यंजन से पूर्व ह्रस्व स्वर होता है। उदाहरण

आवृहति	अब्बहति
नीड	निड्ड (नेड्ड भी)
उदूखल	उदुक्खल
कूवर	कुब्बर

(३) जहाँ उपर्युक्त नियम (१) के अनुसार संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पहले (ह्रस्व) स्वर होने पर पालि में उसका साधारण व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर हो जाता है, वहाँ इस नियम के अनुसार कहीं-कहीं उसके दीर्घ स्वर के स्थान पर सानुनासिक ह्रस्व स्वर भी हो जाता है। इस नियम का कारण यह है कि ह्रस्व सानुनासिक स्वर में भी दीर्घ स्वर के समान दो ह्रस्व मात्रा-काल होते हैं।

उदाहरण—

मत्कुण	माकुण के बजाय मंकुण
शर्वरी	सावरी (सब्बरी) के बजाय संवरी
शुल्क	सूक (सुक्क) के बजाय सुंक

(४) उपर्युक्त नियम का विपर्यय भी देखा जाता है, अर्थात् संस्कृत अनुनासिक ह्रस्व स्वर का परिवर्तन पालि में दीर्घ स्वर भी हो जाता है।

सिंह	सीह
विंशति	वीसति, वीसं

(५) कभी-कभी संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पूर्व आने वाला दीर्घ स्वर पालि में भी बना रहता है। ऐसा अधिकतर सन्धियों में होता है, जैसे साज्ज= सा+अज्ज; यथाज्झासयेन=यथा+अज्झासयेन, आदि।

(६) पालि में स्वर-भक्ति का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जब स्वर-भक्ति के कारण संयुक्त व्यंजन असंयुक्त किये जाते है, तो संयुक्त व्यंजन से पहले आने वाला दीर्घ स्वर पालि में ह्रस्व कर दिया जाता है। उदाहरण—

सूर्य	सुय्य के बजाय सुरिय
प्रकीर्य	पकिरिय
मौर्य	मोरिय
चैत्य	चेतिय

(७) विवृत स्वर ई और ऊ पालि में क्रमशः ए और ओ हो जाते हैं।

उदाहरण

ईदृश्	एदिस (एरिस)
ईदृक्षा	एदिसक
जम्बूनद	जम्बोनद

संयुक्त स्वर (ए, ऐ, ओ, औ) और उनके पालि प्रतिरूप

ए और ओ पालि में ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही हैं। ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। दीर्घ ए और दीर्घ ओ भी पालि में पाए जाते हैं।

(१) पालि में ए और ओ का आगमन संस्कृत संयुक्त स्वरों ऐ और औ से हुआ है।[1]

ऐरावण	एरावण
मैत्री	मेत्ता
वै	वे
औरस	ओरस
पौर	पोर

(२) कभी-कभी ए, ऐ तथा ओ, औ संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों से पहले आने पर, पालि में लघु होकर क्रमशः इ और उ रह जाते हैं। उदाहरण

प्रतिवेश्यक	पटिविस्सक
प्रसेवक	पसिब्बक
ऐश्वर्य	इस्सरिय
सैन्धव	सिन्धव
श्रोष्यामि	सुस्सं
औत्सुक्य	उस्सुक
क्षौद्र	खुद्द (शहद)
रौद्र	लुद्द

विसर्ग

पालि में आते-आते विसर्ग का लोप हो गया है। प्राकृतों में भी वह नहीं मिलता। इसका परिवर्तन प्रायः तीन प्रकार से हुआ है।

(१) शब्द के मध्यस्थित विसर्ग का समावेश उसके आगे आने वाले व्यंजन में हो गया, जैसे

दुःखं	दुक्खं
दुःसह	दुस्सहो
निःशोक	निस्सोको

---

१. सं० अय से पालि ए; अव से ओ; आव से ओ; अयि, आयि, अवि से ए; इन परिवर्तनों के लिये देखिये आगे अक्षर-संकोच का विवरण।

(२) अकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का ओ हो गया।

देवः	देवो
कः	को

(३) इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का लोप हो गया।

अग्निः	अग्गि
धेनुः	धेनु

स्वर-अनुरूपता अर्थात् एक स्वर का दूसरे समीपवर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना

समीपवर्ती स्वरों का प्रभाव पालि में दूसरे स्वरों पर भी पड़ता है। इस प्रकार पालि में हम 'स्वर-अनुरूपता' का आरम्भ देखते हैं। समीपवर्ती स्वरों के कारण स्वर-विपर्यय के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(अ) पूर्ववर्ती स्वर का परवर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना—

(१) संस्कृत में 'इ' के बाद जहाँ 'उ' होता है, तो पालि में 'इ' की जगह भी 'उ' हो जाता है—

इषु	उसु
इक्षु	उच्छु (अर्द्धमागधी में इक्खु)
शिशु	सुसु

(२) अ के बाद जहाँ संस्कृत मे उ या ऊ होता है, तो पालि में अ की जगह भी उ हो जाता है।

समुद्ग	सुमुग्ग
असूया	उसूया (असुय्या भी)

(३) अ के बाद जहाँ संस्कृत में इ या ई होता है, तो पालि में अ की जगह भी इ हो जाता है।

तमिस्रा	तिमिस्सा
सरीसृप	सिरिंसप

(आ) परवर्ती स्वर का पूर्ववर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना।

(१) उ के बाद जहाँ संस्कृत में अ होता है, तो पालि में अ की जगह भी उ हो जाता है।

कुरंग	कुरुंग
उदंक	उळुंक

(२) अ या आ के बाद जहाँ संस्कृत में इ होता है, तो पालि में इ की जगह भी अ हो जाता है।

अलिंजर	अरंजर
काकिणिका	काकणिका
पुष्करिणी	पोक्खरणी

(३) अ या आ के बाद जहाँ संस्कृत में उ होता है, तो पालि में उ की जगह भी अ हो जाता है।

आयुष्मन्	आयस्मन्त
शष्कुली	सक्खली (सक्खलिका)

(४) इ के बाद जहाँ संस्कृत में अ होता है, तो पालि में अ की जगह भी इ हो जाती है।

शृंगवेर	सिंगिवेर
निषण्ण	निसिन्न

समीपवर्ती व्यंजनों का स्वरों पर प्रभाव

(१) ओष्ठ्य व्यंजनों के समीप विशेषतः उ आता है।

संमार्जनी	सम्मुज्जनी (कहीं-कहीं सम्मज्जनी भी)
मतिमान्	मुतीमा

(२) मूर्द्धन्य व्यंजनों के समीप विशेषतः इ आता है।

मज्जा	मिञ्जा
जुगुप्सते	जिगुच्छति

स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन

पालि में स्वराघात का क्या स्वरूप था, इसका निर्णय अभी नहीं हो सका है। किन्तु यह निश्चित है कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल के बाद ही स्वराघात के चिह्न को लगाने का प्रयोग उठ गया था। जेकोबी और गायगर का मत है कि पालि में स्वराघात का वही रूप था, जो संस्कृत में। यह तथ्य नीचे लिखे परिवर्तनों से स्पष्ट होता है।

(१) तीन-चार अक्षरों के शब्द में, जिसमें संस्कृत के साक्ष्य पर प्रथम अक्षर में स्वराघात होता था, स्वराघात वाले अक्षर के बाद के अक्षर में अर्थात् दूसरे अक्षर में पालि में स्वर-परिवर्तन पाया जाता है।

(अ) स्वराघात वाले अक्षर के बाद अ का इ हो जाता है—

चन्द्रमा	चन्दिमा
चरम	चरिम
परम	परिम
पुत्रमान्	पुत्तिमा
मध्यम	मज्झिम
अहंकार	अहिंकार

(आ) स्वराघात वाले अक्षर के बाद अ का उ भी हो जाता है—

नवति	नवुति
प्रावरण	पापुरण
सम्मति	सम्मुति

(इ) कभी-कभी स्वराघात वाले अक्षर के बाद इ का उ और उ का इ हो जाता है—

राजिल	राजुल
गैरिक	गेरुक
प्रसित	पसुत
मृदुता	मुदिता (मुदुता भी)

(२) स्वराघात वाले अक्षर के बाद आने पर अनुदात्त लघु स्वर कभी-कभी लुप्त भी कर दिये जाते हैं—

उदक	ओक
अगार	अग्ग

(३) स्वराघात के प्रभाव के कारण ही अनुदात्त अन्त्य अक्षर ह्रस्व कर दिये जाते है। इस प्रकार 'ओ' का 'उ' हो जाता है—

असौ	असु (प्रथम 'असो' हुआ; मागधी में यही रूप)
उताहो	उदाहु
सद्यः	सज्जु (प्रथम 'सज्जो' हुआ)

(४) कहीं-कहीं शब्द का दूसरा दीर्घ अक्षर ह्रस्व कर दिया जाता है। यह परिवर्तन पालि में स्वराघात के दूसरे अक्षर से हटाकर प्रथम अक्षर पर कर देने से होता है।

अलीक	अलिक
गृहीत	गहित
पानीय	पानिय (अर्द्धमागधी पाणिय)

(४) कहीं-कहीं प्रथम अक्षर के स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यह परिवर्तन भी उस अक्षर पर स्वराघात कर देने के कारण होता है।

अजिर	आजिर
अलिन्द	आलिन्द
अरोग	आरोग (अरोग भी)

सम्प्रसारण और अक्षर-संकोच

(अ) सम्प्रसारण—

(१) उदात्त 'य' का 'ई' हो जाता है—

स्यान	थीन
द्यह	द्वीह

त्र्यह	तीह
व्यतिवृत्त	वीतिवत्त

कहीं कही 'य' सुरक्षित भी रहता है

व्यसन	व्यसन
व्याध	व्याध

(२) सम्प्रसारण के कारण ही कहीं-कहीं 'व' का 'ऊ' हो जाता है।

श्वन्	सून

यदि 'व' संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों से पहले है, तो पालि में उसका रूप ऊ न होकर पहले उ होता है और फिर ओ में सम्प्रसारण—

स्वस्ति	सुवत्थि—सोत्थि
स्वप्न	सुपिन——सोप्प

असंयुक्त व्यंजनों से पहले 'व' होने पर ऊ की जगह ओ होता है—

श्वपाक	सोपाक (अर्द्धमागधी सोवाग)

(३) कुछ सम्प्रसारण विचित्र भी होते है, जैसे सं० 'द्वेष' और 'दोष' दोनों के प्रतिरूप पालि में 'दोस' में मिल गये हैं।

(आ) अक्षर-संकोच

(१) अय और अव क्रमशः ए और ओ हो जाते हैं। बीच में स्वराघात के कारण क्रमशः अयि, ऐ, अवु, औ की अवस्थाओं में होकर ये परिवर्तन होते हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

जयति	जेति (जयति भी)
अध्ययन	अज्झेन
मोचयति	मोचेति
कथयति	कथेति
अवधि	ओधि
प्रवण	पोण
लवण	लोण

(२) अय और आय का आ हो जाता है

प्रतिसंलयन	पटिसल्लान
स्वस्त्ययन	सोत्थान
कात्यायन	कच्चान (कच्चायन भी)
मौद्गल्यायन	मोग्गल्लान (मोग्गल्लायन भी)

(३) आव का ओ हो जाता है।

अतिधावन	अतिधोन

(४) अवा का आ हो जाता है।

यवागू	यागु

(५) अयि और अवि ए हो जाते हैं—

आश्चर्य	अच्छयिर, अच्छरिय से होकर अच्छेर
आचार्य	आचरिय-आचेर
मात्सर्य	मच्छेर
स्थविर	थेर

(६) प्राकृतों के समान पालि में भी कहीं-कहीं उप और अप उपसर्ग क्रमशः उव और अव स्वरूपों में होकर ऊ और ओ हो जाते है।

उपहदति	ऊहादेति
अपवरक	ओवरक
अपत्रप	ओत्तप्प

(७) कहीं-कहीं अनियमित अक्षर-संकोच भी दिखाई पड़ते हैं।

मयूर	मोर (मयूर)

स्वर-भक्ति के कारण स्वरागम

पालि में स्वरागम अधिकतर शब्द के मध्य में होता है। स्त्री से इत्थी; स्मयते से उम्हयति, उम्हयते जैसे शब्द अपवाद हैं। शब्द के मध्य में स्थित केवल

उन्हीं संयुक्त व्यंजनों के बीच में स्वर का आगमन होता है, जिनमें य्,र्, ल्, व्, में से कोई एक व्यंजन हो या जो सानुनासिक हो। 'कष्ट' जैसे शब्द का 'कसट' रूप होना एक अपवाद है। यह पालि में पाया जाने वाला पैशाची प्राकृत का प्रयोग है। इसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। पालि में पाये जाने वाले कुछ स्वरागम इस प्रकार हैं—

(अ) इ का आगमन, जो पालि में अधिकता से होता है।

(१) संयुक्त व्यंजन 'र्य्' में

ईर्यते	इरियति
मर्यादा	मरियादा

(२) ऐसे संयुक्त-व्यंजनों में, जिनमें एक य् हो

कालुष्य	कालुसिय
ज्या	जिया
ह्यः	हिय्यो

(अर्द्धमागधी हिज्जो)

(३) ऐसे संयुक्त व्यंजनों में, जिनमें एक ल् हो

प्लक्ष	पिलक्ख
ह्लाद	हिलाद

(४) ऐसे संयुक्त व्यंजनों में, जिनमें एक र् हो

वज्र	वजिर

(५) सानुनासिक संयुक्त व्यंजनों में,

स्नेह	सिनेह
तृष्णा	तसिणा

निम्नलिखित अपवाद भी हैं,

कृष्ण	कण्ह
नग्न	नग्ग

(आ) अ का आगमन,

प्रायः ऐसे संयुक्त व्यंजनों के मध्य में होता है, जिनके पूर्व और पश्चात् अ स्वर हो

गर्हा	गरहा
गर्हति	गरहति

(इ) उ का आगमन

प्रायः म् और व् से पूर्व होता है,

ऊष्मन्	उसुमा
सूक्ष्म	सुखुम
द्वे	दुवे

छन्द और समास के कारण स्वरों के मात्रा-काल में परिवर्तन

(अ) छन्द की आवश्यकता के कारण

(१) कहीं-कहीं ह्रस्व स्वर का दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'नदति' की जगह गाथा में लय को ठीक करने के लिये 'सीहो व नदती वने' में कर दिया गया है। 'सतिमती' से 'सतीमती', 'तुरियं' से 'तूरियं' आदि परिवर्तन भी इसी प्रकार कर दिये जाते हैं।

(२) कहीं-कहीं दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे 'भुम्मानि वा यानि व अन्तलिक्खे'। यहाँ 'व' की जगह 'वा' होना चाहिये था। किन्तु छन्द की गति के लिये उसे ह्रस्व कर दिया गया है। इसी प्रकार 'पच्चनीका' से 'पच्चनिका' जैसे प्रयोग भी छन्द में कर दिये जाते है।

(३) सानुनासिक स्वरों को अननुनासिक कर दिया जाता है, जैसे 'दीघ-मद्धान सोचति' में। यहाँ वैसे 'दीघमद्धानं' होना चाहिये था। इसी प्रकार 'जीवन्तो' से 'जीवतो' जैसे प्रयोग भी दिखाई देते हैं।

(४) संयुक्त व्यंजनों को सरल बनाकर उनमें से केवल एक रख लिया जाता है, जैसे 'दुक्खं' से 'दुख'। यह भी ह्रस्व कर देने के समान ही है।

(आ) समास में होने वाले स्वर-परिवर्तन

(१) समास के प्रथम पद के अन्त में होने पर ह्रस्व स्वर बहुधा दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे सखिभाव से सखीभाव; अब्भमत्त से अब्भामत्त; रजपथ से रजापथ। उपसर्ग-युक्त शब्दों में भी यह स्वरों को दीर्घ करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, जैसे सं० प्रवचन से पालि पावचन (अर्द्धमागधी पावयन); प्रकट से पालि पाकट (अर्द्धमागधी पागड)

(२) जब समास के प्रथम पद में आकारान्त, ईकारान्त या ऊकारान्त शब्द होते हैं, तो इनको ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे दासिगण (दासी+गण); उपाहनदान (उपाहना+दान)।

कुछ विचित्र स्वर-परिवर्तन

(१) एक ही सं० शब्द 'पुनः' के पालि में दो रूप-परिवर्तन हैं। 'पुन' और 'पन'। किन्तु इन दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न है। 'पुन' का अर्थ तो सं० 'पुनः' के समान ही है, किन्तु 'पन' का अर्थ है 'किन्तु', 'प्रत्युत'।

(२) कहीं-कहीं पालि के स्वर-परिवर्तन संस्कृत की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। इस प्रकार पालि का 'गरु' शब्द समानार्थवाची संस्कृत 'गुरु' शब्द से अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार संस्कृत 'अगरु' या 'अगुरु' की अपेक्षा समानार्थवाची पालि शब्द 'अगरु', 'अगलु' अधिक प्राचीन है। कही-कहीं पालि शब्दों का मूल रूप संस्कृत में न मिल कर प्राचीन वैदिक भाषा में मिलता है। 'अम्ब' शब्द का उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। 'सिम्बल' या 'सिम्बली' (कपास का पेड़) शब्द भी ऐसा है। यह संस्कृत के 'शाल्मली' से नही लिया गया, किन्तु वैदिक भाषा के 'शिम्बल' (कपास का फूल) से उद्भूत है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों के मूल रूप भी संस्कृत में न मिल कर वैदिक भाषा में मिलते है।[1]

स्वर-सन्धि

स्वर-संधि के नियमों का विवेचन करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। यह

---

१. अधिक उदाहरणों के लिये देखिये, गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ८०-८१।

तो व्याकरण का विषय है। यहाँ हम केवल स्वर-परिवर्तन की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का ही उल्लेख करेंगे।

(१) एक पद के अन्तिम स्वर का दूसरे पद के प्रारम्भिक स्वर के साथ मिलना पालि में अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार 'से अज यदा अयं धम्मलिपि लिखिता ति एव प्राणा आरभरे' (गिरनार शिलालेख) जैसे प्रयोग पालि में दिखाई पड़ते हैं। फिर भी जहाँ समान स्वर मिलते हैं तो संस्कृत के समान ही दोनों मिलकर दीर्घ हो जाते हैं, जैसे बुद्ध+अनुस्सति=बुद्धानुस्सति; सम्मन्ति+इध=सम्मन्तीध; बहु+उपकारं=बहूपकारं; दुग्गता+अहं=दुग्गताहं।

(२) अ अथवा आ से परे इ और उ आने पर क्रमशः ए और ओ होना भी पालि में संस्कृत के समान ही दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन अधिकांश पालि के प्राचीनतम रूप—गाथाओं की भाषा—में दृष्टिगोचर होता है। अव+इच्च=अवेच्च; उप+इतो=उपेतो; मुख+उदकं=मुखोदक; मच्चुस्स+इव+उदके=मच्चुस्सेवोदके; च+इमे=चेमे।

(३) इ से परे असवर्ण स्वर रहने पर इ का य और उ अथवा ओ से परे असवर्ण स्वर रहने पर उ का व हो जाता है। वि+आकतो=व्याकतो; यो+अयं=य्वायं; सु+आगतं=स्वागतं।

(४) असवर्ण स्वरों के मिलने पर कहीं-कहीं (१) पूर्व स्वर का लोप हो जाता है, (२) पर स्वर का लोप हो जाता है, (३) पर स्वर का दीर्घ हो जाता है, (४) पूर्व स्वर का दीर्घ हो जाता है।

उदाहरण (१) यस्स+इन्द्रियाणि=यस्सिन्द्रियाणि; मे+अत्थि=मत्थि। (२) चत्तारो+इमे=चत्तारो मे; ते+इमे=तेमे। (३) सचे+अयं सचायं। (४) देव+इति=देवाति; लोकस्स=इति=लोकस्साति।

(५) अनेक स्वर-सन्धियों में व्यंजनों का आगम होता है, जैसे न+इद=नयिदं; लघु+एस्सति=लघुमेस्सति; यथा+एव=यथरिव; तथा+एव=तथरिव; गिरि+इव=गिरिमिव; सम्मा+अत्थो==सम्मदत्थो, आदि, आदि।

(६) कभी-कभी अनुस्वार से परे स्वर का लोप हो जाता है, जैसे इदं+अपि=इदंपि; दातुं+अपि=दातुपि; अभिनंदु+इति=अभिनंदुति। इस प्रकार की सन्धियों के आधार पर गायगर ने अनुमान किया है कि पालि में स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त होने वाले 'व' (सं० 'इव' के लिये), 'पि' (सं० 'अपि' के लिये), 'ति' (सं० 'इति के लिये), 'दानि' (सं० 'इदानीं' के लिये), 'पोसथ'

(उपोसथ, सं० 'उपवसथ' के लिये) आदि शब्द लुप्त सन्धियों के स्मारक स्वरूप है।

व्यंजन-परिवर्तन

व्यंजनों का परिवर्तन पालि में प्रधानतः शब्द में उनकी स्थिति के अनुसार हुआ है। सामान्यतः संस्कृत आदि-व्यंजन पालि में सुरक्षित रहते है। मध्य-व्यंजनों का विकास मध्य-कालीन भारतीय आर्य भाषा-युग में तीन अवस्थाओं में हुआ है। पहली अवस्था में अघोष स्पर्श घोष हो जाते हैं। दूसरी अवस्था में घोष स्पर्श 'य्' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं। तृतीय अवस्था में 'य्' ध्वनि का भी लोप हो जाता है। पालि में प्रधानतः प्रथम दो अवस्थाएँ ही पाई जाती हैं। तीसरी अवस्था का विकास प्राकृत भाषाओं में हुआ है। अन्त्य व्यंजन पालि और प्राकृतों में समान रूप से ही लुप्त कर दिये जाते है। व्यंजन-परिवर्तनों का विस्तृत अध्ययन इस प्रकार है।

असंयुक्त व्यंजन

(अ) आदि व्यंजन

(१) सामान्यतः, शब्द के आदि में अवस्थित संस्कृत असंयुक्त व्यंजन (अल्पप्राण क्, त्, प्, ग्, द्, ब् आदि और महाप्राण ख्, थ्, फ्, घ्, ध्, भ् आदि) पालि में सुरक्षित रहते है। उदाहरण—

संस्कृत	पालि
करोति	करोति (प्राकृत करेदि)
गच्छति	गच्छति (प्राकृत गच्छेदि)
चौरः	चोरो
जनः	जनो
ताडयति	ताडेदि
पुत्रः	पुत्तो
दन्तः	दन्तो
बधिरः	बहिरो
खनति	खनति

घटः	घटो
फलं	फलं

(२) पाँच सानुनासिक व्यंजनों (ङ, ञ्, ण्, न्, म्) में से संस्कृत में भी केवल न् और म् ही शब्द के आदि में आते हैं, अन्य नहीं। यही नियम पालि में भी है। अतः संस्कृत शब्द के आदि में अवस्थित न् और म् पालि में भी सुरक्षित रहते हैं। प्राकृतों में चलकर न् का परिवर्तन ण् में हो गया है। 'म्' तो वहाँ भी सुरक्षित रहा है।

नाशयति	नासेति (प्रा० णासेइ)
मुखं	मुखं
मन्त्रयति	मन्त्रेति (प्रा० मन्तेदि)

(३) शब्द के आदि में अवस्थित अन्त.स्थ य्, र्, ल्, व् भी सुरक्षित रहते है। र् के विषय में यह विशेषता अवश्य ध्यान देने योग्य है कि र् का ल् में परिवर्तन होना पालि में एक बड़ी साधारण बात है। मागधी प्राकृत का तो यह एक नियम ही है और अन्य प्राकृतों में भी यह नियम कहीं-कहीं पाया जाता है। य् के विषय में भी यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि पालि में तो वह सुरक्षित रहता है (कही-कही उसके साथ ही ल् में परिवर्तित स्वरूप भी दिखाई पड़ता है), किन्तु प्राकृतों में चलकर बाद में उसका ज् में परिवर्तन हो गया है। उदाहरण—

रूपानि	रूपानि (लूपानि भी, विशेषतः अशोक के धौली और जौगढ़ के लेखों में)
रुज्यते	लुज्जति
राजा	राज (लाजा, विशेषतः अशोक के पूर्व के लेखों में)
रौद्र	लुद्द
यावत्	याव (प्राकृत जाव)
यष्टिका	यट्ठिका (लट्ठिका भी)
वातः	वादो

(४) संस्कृत ऊष्म श्, ष्, स् का अन्तर्भाव पालि में केवल 'स्' में हो गया है। अतः पालि में केवल दन्त्य स् है। पच्छिमी प्राकृतों की भी यही विशेषता है। इसके विपरीत पूर्वी प्राकृतों में केवल एक तालव्य 'श्' रह गया है। अशोक के शिला-लेखों में हम इस विकास-परम्परा के सभी रूप देखते हैं। इस प्रकार मगध के शिला-लेखों में केवल दन्त्य स् पाया जाता है। गिरनार के शिलालेख में भी केवल स् ही पाया जाता है। उत्तर-पच्छिम के शिलालेखों में तीनों ही श्, ष् और स् पाये जाते हैं। बोलियों के मिश्रण के कारण फिर भी इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बाँधा जा सकता। यह परिवर्तन आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों में दिखाई पड़ता है।

सार्थवाह	सत्थवाहो
श्रवणीय	सवनीय
देशः	देसो
परशु	फरसु
पुरुष	पुरिस

(५) उपर्युक्त नियम (१) के अपवाद-स्वरूप निम्नलिखित तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं, जो ध्यान देने योग्य है—

(अ) कहीं-कहीं शब्द के आदि में पालि में प्राणध्वनि (ह्) का आगमन होता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि शब्द के आदि में अवस्थित संस्कृत अघोष अल्पप्राण व्यंजन (क्, त्, प् आदि) पालि में उसी वर्ग के अघोष महाप्राण व्यंजन (ख्, थ्, फ् आदि) हो जाते है। उदाहरण

कील	खील
कुब्ज	खुज्ज
कृत्वः	खत्तु
परशु	फरसु

(आ) कहीं-कहीं, किन्तु अपेक्षाकृत कम संख्या में, उपर्युक्त नियम का विपर्यय भी देखा जाता है, अर्थात् संस्कृत अघोष महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर पालि में उसी वर्ग के अघोष अल्पप्राण व्यंजन भी दिखाई पड़ते हैं।

झल्लिका	जल्लिका (मैल)
भगिनी	बहिनी (बहिणी भी)

(इ) वर्णों के उच्चारण स्थान में परिवर्तन भी पालि में बहुत पाया जाता है। आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों में यह होता है। शब्द के आदि में होने वाले कुछ परिवर्तनों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(१) कहीं-कहीं कंठ्य स्पर्शो की जगह तालव्य स्पर्श हो जाते हैं।

कुन्द	चुन्द

(२) कहीं-कहीं दन्त्य स्पर्शो की जगह मूर्द्धन्य स्पर्श हो जाते हैं।

दहति	डहति
दाह	डाह
दसति	डसति

(आ) मध्य-व्यंजन

पालि में मध्य-व्यंजन सम्बन्धी परिवर्तनों का विचार करते समय हम उन प्रवृत्तियों की सूचना पाते हैं, जिन्हें 'प्राकृतत्व' या 'प्राकृतपन' कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि जिन परिवर्तनों का पालि में सूत्रपात ही हुआ है, उनका अन्तिम विकास प्राकृतों में चल कर हुआ है। इस विकास की तीन अवस्थाओं का निर्देश हम पहले कर चुके हैं। प्राकृतों के साथ मिलने वाली पालि की ये विशेषताएँ अनेक बोलियों के संमिश्रण के आधार पर व्याख्यात की जा सकती है। ये समानताएँ विशेषतः मध्य-व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों में पालि में कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती हैं, उदाहरणतः—

(१) शब्द के मध्य में स्थित संस्कृत अघोष स्पर्श पालि में उसी वर्ग के घोष स्पर्श हो जाते हैं। इस प्रकार क्, च्, ट्, त्, प्, थ् आदि क्रमशः ग्, ज्, ड्, द्, ब्, ध् आदि हो जाते हैं। उदाहरण—

प्रतिकृत्य	पटिगच्च (पटिकच्च भी) (पहले)
शाकल	सागल

माकन्दिक	मागन्दिय
सुच्	सुजा
कक्खट	कक्खळ (निर्दयी)
खेट	खेळ (गाँव)
स्फटिक	फळिक
उताहो	उदाहु
पृषत	पसद
अपांग	अवंग
कपि	कवि
कपित्थ	कविट्ठ
ग्रथित	गधित (गथित भी)

इस प्रकार के परिवर्तन अपभ्रंश और कई प्राकृतों में भी पाये जाते हैं।

(२) उपर्युक्त परिवर्तन से एक अधिक विकसित अवस्था वह है जिसमें अघोष स्पर्शों का लोप हो जाता है और वे 'य्' या 'व्' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं। इसके बाद ही वह अवस्था होती है जिसमें 'य्' या 'व्' व्यंजन का भी बिलकुल लोप हो जाता है। सं० 'शत' शब्द के विकृत या विकसित रूपों में हम इस विकास का अच्छा अध्ययन कर सकते हैं। पहले इसका पालि में 'सत' होता है, फिर अघोष स्पर्श 'त्' का 'द्' होता है और इस प्रकार प्राकृत में 'सद' रूप बनता है। इसका भी आगे विकसित रूप 'सय' बनता है और फिर अन्त में 'सअ' और 'सौ'। अघोष स्पर्शों का लुप्त हो कर 'य्' या 'व्' में परिवर्तित होना प्राकृतों के समान पालि में भी पाया जाता है। अतः वह भी पालि का एक 'प्राकृतपन' है। उदाहरण—

शुक	सुव (सुक भी)
खादित	खायित
स्वादते	सायति (सादियति भी)
अपरगोदान	अपरगोयान
कुशीनगर	कुसिनअर-कुसिनार
कौशिक	कोसिय

(३) शब्द के मध्य में स्थित घोष महाप्राण व्यंजनों (घ्, ध्, भ्,) आदि का 'ह्' में परिवर्तित हो जाना प्राकृतों की एक विशेषता है। यह प्रवृत्ति पालि में भी यत्र-तत्र पाई जाती है।

लघु	लहु
रुधिर	रुहिर (रुधिर भी)
साधु	साहु (अधिकतर तो साधु ही)

इसके विपरीत कहीं-कहीं पालि वैदिक भाषा के घोष महाप्राण व्यंजनों को सुरक्षित रखती है, जब कि संस्कृत में उनके स्थान में 'ह्' हो जाता है। इसका उदाहरण पालि 'इध' (यहाँ) शब्द है। अवेस्ता (जिसमें भी इसका रूप 'इध' होता है) के आधार पर हम जान सकते है कि इसका वैदिक स्वरूप 'इध' ही था। किन्तु सस्कृत में यह 'इह' हो गया है।

(४) शब्द के आदि में अवस्थित व्यंजनों में प्राण-ध्वनि के आगम और लोप का उल्लेख हम पहले कर चुके है। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजनों मे भी यह परिवर्तन होता है, अर्थात् मध्य में स्थित संस्कृत अघोष अल्पप्राण व्यंजन (क्, त्, प् आदि) पालि मे उसी वर्ग के अघोष महाप्राण व्यंजन हो जाते हैं—

शुनक (कुत्ता)	सुनख (प्रा० सुनह)
सुकुमार	सुखुमाल

इसी प्रकार कहीं-कहीं, किन्तु आदि स्थित व्यंजनों की तरह ही बहुत कम, प्राण-ध्वनि का लोप भी हो जाता है—

कफोणि	कपोणि (कुहनी)

(५) कहीं-कहीं नियम (१) के विपरीत सं० घोष स्पर्श पालि में उसी वर्ग के अघोष स्पर्श हो जाते है। ये परिवर्तन बोलियों की विभिन्नताओं के कारण हुए है।

अगरु	अकलु
छगल	छकल

परिघ	पलिख (पलिघ भी)
कुसीद	कुसीत
मृदंग	मुतिग
उपधेय (तकिया)	उपथेय्य
पिधीयते (ढाँका जाता है)	पिथीयति
शावक (जानवर का बच्चा)	चापक
प्रावरण	पापुरण

(६) व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन। यह परिवर्तन मध्य-स्थित व्यजनों में आदि-स्थित व्यजनों की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है। इस सम्बन्ध में सब से अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन स० दन्त्य व्यजनों का पालि मे मूर्द्धन्यीकरण है। सं० दन्त्य व्यजन त्, थ्, द्, ध्, न् पालि मे क्रमशः ट्, ठ्, ड्, ल्ह्, ण् हो जाते है। यह नियम सामान्यतः आदि और मध्य दोनो ही स्थितियों के लिए ठीक है।

पतग	पटग
हृत	हट
व्यापृत	व्यावट
प्रतिमा	पटिमा
प्रथम	पठम
पृथिवी	पठवी (पथवी भी)
दाह	डाह
द्वैध (सन्देह)	द्वेल्हक
शकुन	सकुण

(७) पालि मे मध्य-स्थित व्यजनों के अन्य उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्तन इस प्रकार है—

(अ) कहीं-कहीं सं० तालव्य स्पर्शो के स्थान पर पालि में दन्त्य स्पर्श होते है।

चिकित्सति	तिकिच्छति
जाज्वल्यते	दद्दल्लति

(आ) कहीं-कहीं मूर्द्धन्य के स्थान पर दन्त्य होते है—

डिडिम	देण्डिम (दिण्डिम भी)

(इ) कहीं-कहीं द् के स्थान पर र् होता है—

एकादस	एकारस (एकादस भी)
ईदृश	एरिस (एदिस भी)
ईदृक्षा	एरिक्खा (एदिक्खा भी)

(ई) कही-कही न् के स्थान पर ल् या र् होता है—

एनः (अपराध)	एल
नैरजना	नेरंजरा

(उ) कही-कहीं ण् के स्थान पर ळ् होता है—

वेणु	वेळु
मृणाल	मुळाल

(ऊ) र् के स्थान पर ल् अधिकतर होता है। आदि-स्थित र् के ल् में परिवर्तन के उदाहरण पहले दिये जा चुके है। मध्य-स्थित र् के ल् में परिवर्तन के कुछ उदाहरण ये है—

एरंड	एलंद
तरुण	तलुण (तरुण भी)
परिष्वजते	पलिस्सजति
परिखनति	पलिखनति

पालि मे यह परिवर्तन यद्यपि अधिकतर पाया जाता है, किन्तु नियमतः यह मागधी प्राकृत की ही विशेषता है। कुछ अन्य प्राकृतों में भी इसके स्फुट उदाहरण मिलते है।

(ए) कहीं-कहीं सं० ल् के स्थान पर पालि में र् पाया जाता है।

अलिंजर	अरंजर
आलम्बन	आरम्मण

इसके अपवाद-स्वरूप कहीं कहीं ल् के स्थान पर न् भी पाया जाता है—

देहली	देहनी

आदि में भी इसी प्रकार

लांगल (हल)	नंगल

(ऐ) सं० य् के स्थान पर पालि व्—

आयुध	आवुध
आयुष्मान्	आवुसो
कषाय	कसाव

(ओ) सं० व् के स्थान पर पालि य्—

दाव	दाय (दाव भी)

(औ) सं० व् के स्थान पर पालि म् और सं० म् के स्थान पर पालि व्--

द्रविड	दमिळ
मीमांसते	वीमंसति

कुछ अनियमित प्रयोग भी मिलते है, जैसे--

पिपीलिका	किपिल्लिका

(८) वर्ण-विपर्यय। शब्द के मध्य में स्थित व्यजनों में पारस्परिक एक दूसरे की जगह ग्रहण कर लेना भी प्रायः देखा जाता है। यह विपर्यय अधिकतर 'र्' व्यंजन में होता है।

आरालिक	आलारिक
करेणु	कणेरु
ह्रद	रहद
प्रावरण	पारुपण (पापुरण भी)

किन्तु अन्य व्यंजनों में भी,

मशक	मकस

संयुक्त-व्यंजन

(अ) आदि संयुक्त-व्यंजन

संस्कृत में भी शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग प्रायः सीमित होता है। प्रायः दो ही प्रकार के संयुक्त व्यंजन संस्कृत में शब्द के आदि में पाये जाते हैं, (१) व्यंजन+अन्तःस्थ (य्, र्, ल्, व्); (२) व्यंजन+ऊष्म (श्, ष्, स्)। व्यंजन+अन्तःस्थ में अन्तःस्थ कभी पहले न आकर व्यंजन ही पहले आते हैं। इस प्रकार शब्द के आदि में क्, त्य्, प्र्, ग्य् जैसे संयुक्त व्यंजन ही हो सकते हैं, ल्क्, र्च् जैसे नहीं। अन्तःस्थ+ऊष्म में ऊष्म पहले भी आ सकते है, जैसे स्त्, श्च् आदि में और पीछे भी जैसे क्ष् (क्+श्) मे

(१) व्यजन+अन्तःस्थ--इस अवस्था में व्यंजन के बाद की ध्वनि लुप्त होकर व्यंजन का ही रूप धारण कर लेती है--

प्रशान्त	पसन्तो
प्रज्ञा	पञ्ञा
ग्राम	गाम

कहीं-कहीं स्वर-भक्ति के कारण बीच में स्वर आने के कारण संयुक्त व्यंजन केवल असयुक्त कर दिये जाते है--

क्लेश	किलेसो
क्लान्त	किलन्तो

कहीं-कहीं, जब व्यंजन+य् का संयोग होता है, तो य् का पूर्ववर्ती व्यजन तालव्य हो जाता है--

त्यजति	चजति

(२) ऊष्म+व्यंजन--इस अवस्था में ऊष्म का लोप हो जाता है और वह परवर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेता है तथा वह व्यंजन, यदि वह अल्प प्राण होता है, तो महाप्राण हो जाता है।

स्कम्भः	खम्भो
स्तूपः	थूपो

स्थापयति	ठापेति
स्थित:	ठितो

(३) शब्द के आदि में क्ष् होने पर पालि में उसका क्ख् या च्छ् हो जाता है। मध्य-स्थिति में भी यही परिवर्तन होता है। यहाँ दोनों के ही उदाहरण दे देने ठीक होगे--

क्षुधा	खुधा
दक्षिणा	दक्खिणा
मक्षिका	मक्खिका
क्षारिका	छारिका
कक्ष	कच्छ
तक्षति	तच्छति
अक्षि	अक्खि (अच्छि भी)

कही-कही 'क्ष्' का परिवर्तित रूप 'ग्घ्' या 'ज्झ्' या झ् भी होता है। गायगर का मत है कि इस दशा मे सस्कृत अक्षर क्ष् एक विशेष भारत-यूरोपियन ध्वनि का विकसित रूप है--

प्रक्षरति	पग्घरति
क्षाम	झाम

(अ) मध्य-संयुक्त-व्यंजन

मध्य-संयुक्त-व्यजनों के परिवर्तन में पालि में व्यंजन-अनुरूपता, व्यंजन-विपर्यय, व्यंजनों के उच्चारण-स्थान मे परिवर्तन, प्राणध्वनि का आगमन और लोप, आदि सभी प्रवृत्तियाँ पाई जाती है। विशेषत: व्यजन-अनुरूपता और व्यंजन-विपर्यय अधिक पाये जाते है। नीचे के विवरण से यह स्पष्ट होगा।

(१) व्यंजन-अनुरूपता

(अ) पूर्ववर्ती व्यंजन का लुप्त होकर परवर्ती व्यजन का रूप धारण कर लेना--

(१) स्पर्श+स्पर्श में, यथा

उक्त	उत्त
सप्त	सत्त
शब्द	सद्द
उत्पद्यते	उप्पज्जति
मुद्ग (मूँग)	मुग्ग

(२) ऊष्म+स्पर्श में, यथा

आश्चर्य	अच्छेर
निष्क	निक्ख, नेक्ख

यहाँ पर साथ-साथ प्राण-ध्वनि का आगमन भी हो गया है।

(३) अन्तःस्थ+स्पर्श, या ऊष्म, या अनुनासिक व्यंजन में, यथा

कर्क	कक्क
किल्विष	किब्बिस
वल्क	वाक
कर्षक	कस्सक
कल्माष	कम्मास

(४) अनुनासिक+अनुनासिक, में यथा

निम्न	निन्न
उन्मूलयति	उम्मूलेति

(५) र्+ल्, या य्, या व् में, यथा

दुर्लभ	दुल्लभ
आर्य	अय्य (अरिय भी)
उदीर्यते	उदिय्यति
निर्याति	निय्याति
कुर्वन्ति	कुब्बन्ति

(आ) परवर्ती व्यजन का लुप्त होकर पूर्ववर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेना—

(१) स्पर्श+अनुनासिक में, यथा

लग्न	लग्ग
अग्निः	अग्गि
उद्विग्न	उव्विग्ग
स्वप्न	सोप्प

(२) स्पर्श+ र् या ल् में, यथा

तक्र	तक्क
शुक्ल	सुक्क

(३) स्पर्श+अन्तःस्थ में, यथा

शक्य	सक्क
उच्यते	वुच्चति
प्रज्वलति	पज्जलति

(४) ऊष्म+अस्तःस्थ में, यथा

मिश्र	मिस्स
अवश्यम्	अवस्सं
अश्व	अस्स
श्लेष्मन्	सेम्ह

(५) अनुनासिक या ल्+अन्तःस्थ में, यथा

किण्व	किण्ण
रम्य	रम्म
कल्य	कल्ल (स्वस्थ, योग्य, उचित, तैयार)
बिल्व	बिल्ल

(६) व्य्, व्र् जैसे संयुक्त व्यंजनों मे, जो ब्ब् हो जाते हैं,

परिव्यय	परिब्बय
तीव्र	तिब्ब

(२) व्यंजन-विपर्यय

(१) ह्+अनुनासिक, या 'य्', या 'व्'—इस व्यंजन-संयोग में विपर्यय होता है, अर्थात् 'ह्ण्', 'ह्न्', 'ह्म्', 'ह्य्', 'ह्व्,' इन संयुक्त व्यंजनों के क्रमशः 'ण्ह्', 'न्ह्', 'म्ह्', 'य्ह्', 'व्ह्' रूप हो जाते है—

पूर्वाह्ण	पुव्वण्ह
अपराह्ण	अपरण्ह
जिह्म	जिम्ह
सह्य	सय्ह
मह्य	मय्हं
चिह्न	चिन्ह
जिह्वा	जिव्हा

मह्यं—मय्हं के सादृश्य के आधार पर तुभ्यं का भी पालि प्रतिरूप तुय्हं हो गया है।

(२) ऊष्म+अनुनासिक—इस सयोग-दशा में भी व्यंजन-विपर्यय होता है। पहले ऊष्म का ह् में परिवर्तन होता है और फिर दोनों का विपर्यय। इस प्रकार 'श्न्', 'श्म्', 'ष्ण्', 'ष्म्', 'स्न्', 'स्म्' क्रमशः 'ह्ण्', 'म्ह्', 'ण्ह्', 'म्ह्', 'न्ह्', म्ह् हो जाते है—

प्रश्न	पञ्ह (अर्द्धमागधी पण्ह)
अश्मना (पत्थर के द्वारा)	अम्हना
उष्ण	उण्ह
कृष्ण	कण्ह
तृष्णा	तण्हा
ग्रीष्म	गिम्ह
सुस्नात	सुन्हात
विस्मय	विम्हय

(३) 'क्ष्ण्', 'क्ष्म्', 'त्स्न्'—इन संयुक्त व्यजनों के स्वरूप विपर्यय के कारण क्रमशः 'ण्ह्', 'म्ह्', 'न्ह्', हो जाते है। इस विकास का क्रम

यह है कि पहले 'क्ष्ण्', 'क्ष्म्', 'त्स्न्', के क्रमशः रूप 'ष्ण्', 'ष्म्' 'स्न्' होते है और फिर इनका विपर्यय हो कर उपर्युक्त नियम (२) के अनुसार इनके क्रमशः 'ण्ह्', 'म्ह्', 'न्ह्' रूप बनते है—

श्लक्ष्ण (सुन्दर, कोमल)	सण्ह
पक्ष्म (पलक)	पम्ह
ज्योत्स्ना	जुण्हा (पहले 'जुन्हा' रूप बना और फिर न् का मूर्द्धन्य होकर 'जुण्हा' हो गया)

(२) व्यंजनों के उच्चारण-स्थान मे परिवर्तन—

(१) दन्त्य स्पर्श+य्--इस सयोग-दशा में दन्त्य स्पर्शो का तालव्यीकरण हो जाता है--

सत्य	सच्च
छिद्यते	छिज्जति
जात्या	जच्चा

'ण्य्' सयुक्त व्यजनो मे भी

कर्मण्य	कम्मञ्ञ

(२) संस्कृत तालव्य सयुक्त व्यजनों के स्थान पर पालि मे कही-कही कठ्य सयुक्त व्यजन हो जाते है, कहीं-कही मूर्द्धन्य संयुक्त व्यजन और कही-कही दन्त्य सयुक्त व्यजन।

(अ) तालव्य के स्थान पर कंठ्य

भैषज्य — भिसक्क (भेसज्ज भी)

(आ) तालव्य के स्थान पर मूर्द्धन्य

आज्ञा — आणा

(इ) तालव्य के स्थान पर दन्त्य

उच्छिष्ठ — उत्तिट्ठ

(३) मध्यस्थित दन्त्य संयुक्त व्यंजनों का मूर्द्धन्यीकरण। यह एक महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन है। इस परिवर्तन के कारण 'र्त्', 'र्थ्', 'र्द्', 'र्ध्' क्रमशः 'ट्ट', 'ट्ठ्', 'ड्ड', 'ड्ढ' हो जाते है; 'स्थ' का 'ट्ठ' हो जाता है—

आर्त	अट्ट
कैवर्त	केवट्ट
अर्थ	अट्ठ
आर्द्र	अड्ड
वर्धते	वड्ढति
प्रस्थाय	पट्ठाय
कूटस्थ	कूटट्ठ

(४) प्राण-ध्वनि का आगमन और लोप—

आगमन, यथा

शृङ्गाटक (चौराहा)	सिंघाटक
पिप्पल	पिप्फल

लोप, यथा

लोध्र	लोद्द
बभ्रु	बब्बु (बिल्ली)

अन्त्य-व्यंजन

संस्कृत के अन्त्य-व्यंजन पालि में लुप्त हो जाते है—

भगवान्	भगवा
सम्यक्	सम्मा
विद्युत्	विज्जु

पालि का शब्द-साधन और वाक्य-विचार

पालि के ध्वनि-समूह की अपेक्षा उसका रूप-विधान संस्कृत के और भी अधिक समीप है। मिथ्या-सादृश्य के आधार पर संस्कृत रूपों का सरलीकरण पालि

रूप-विधान की एक मुख्य विशेषता है। पहले कहा जा चुका है कि एक ही प्राचीन आर्य-भाषा से सस्कृत और पालि दोनों का विकास हुआ है। संस्कृत व्याकरण का जन्म वैदिक भाषा की विभिन्नताओं को एकरूपता देने के लिये हुआ। अतः सस्कृत में ऐसे अनेक नियम व्याकरण के नियमानुसार वर्जित कर दिये गये, जो वैदिक भाषा में प्रचलित थे। पालि चूँकि लोक-भाषा थी, उसमे ये प्रयोग चले आये है। यह पालि के रूप-विचार की एक मुख्य विशेषता है। उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा।

पहले मिथ्या-सादृश्य के आधार पर रूपों के सरलीकरण को ले। पालि में संस्कृत की अपेक्षा वर्ण कम है, यह हम पहले निर्देश कर ही चुके है। संस्कृत में तीन वचनों का प्रयोग होता है, एक-वचन, द्वि-वचन और बहुवचन। पालि में केवल दो वचन है। एक वचन और अनेक वचन। वहाँ द्विवचन नही है। उसका भी काम वहाँ अनेक-वचन से ही निकाल लिया जाता है। यद्यपि कहने को पालि में भी सात विभक्तियाँ है, किन्तु उनके रूपों में बड़ी सरलता है। चतुर्थी और षष्ठी के रूपो में प्रायः कोई भेद नहीं होता। तृतीया और पंचमी के अनेक-वचन के रूप भी प्रायः समान ही होते है। पालि मे व्यंजनान्त पदों का प्रयोग भी नहीं होता। वहाँ सभी पद स्वरान्त है। सस्कृत के व्यजनान्त पद भी पालि मे स्वरान्त हो जाते है। इसी प्रकार सज्ञा और सर्वनाम के रूपो मे यही सरलीकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। क्रिया-विभाग के विषय में भी यही बात ठीक है। सस्कृत के समान यद्यपि पालि मे भी परस्मैपद (परस्म पद) और आत्मनेपद (अत्तनो-पद) ये दो पद है, किन्तु व्यवहार मे आत्मनेपद का प्रयोग कदाचित् ही कभी होता है। यहाँ तक कि कर्मवाच्य आदि प्रयोगो मे भी जहाँ सस्कृत में आत्मनेपद आवश्यक रूप से होना चाहिये, पालि में उसका प्रयोग प्रायः विकल्प से ही होता है। सस्कृत के दस गण पालि में केवल सात रह गये है। इसी प्रकार सस्कृत के दस लकारों के स्थान पर पालि में केवल आठ लकार है। लिट् लकार का प्रयोग पालि मे नहीं के बराबर होता है। लङ् और लुङ् वहाँ भूतकाल द्योतित करने के लिये है, किन्तु इनमें भी प्रायः लुङ् का ही प्रयोग पालि मे अधिकता से होता है। इस प्रकार सस्कृत की अपेक्षा सरलीकरण की प्रवृत्ति पालि मे अधिकता से पाई जाती है।

वैदिक भाषा से प्राप्त रूपों की अनेकता पालि में सुरक्षित है, जब कि संस्कृत ने उसे व्यवस्थित कर उसमें एकरूपता ला दी है। वेद की भाषा मे पुल्लिंग अकारान्त शब्दों के बहुवचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय भी लगता था। इस प्रकार 'देव'

शब्द का प्रथमा बहुवचन का रूप वहाँ 'देवासः' मिलता है। संस्कृत ने इस रूप को ग्रहण नहीं किया है। किन्तु पालि में 'देवासे', 'धम्मासे', 'बुद्धासे' जैसे प्रयोगों में वह सुरक्षित है। इसी प्रकार 'देव' शब्द का तृतीया बहुवचन का रूप वैदिक भाषा में 'देवेभिः' है। पालि में यह 'देवेभि' के रूप में सुरक्षित है। संस्कृत ने इस रूप को भी ग्रहण नहीं किया है। वैदिक भाषा में प्रायः चतुर्थी विभक्ति के लिये षष्ठी का प्रयोग और षष्ठी विभक्ति के लिये चतुर्थी का प्रयोग पाया जाता है। संस्कृत ने इसे निश्चित नियम में बाँध कर रोक दिया है। किन्तु पालि में यह व्यत्यय 'ब्राह्मणस्स धनं ददाति' जैसे चतुर्थी के लिए षष्ठी के प्रयोग में मिलता है। निश्चयतः पालि में चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों के रूप ही प्रायः समान होते है। वैदिक भाषा में 'गो' और 'पति' शब्दो के षष्ठी बहुवचन और तृतीया एक वचन के रूप क्रमशः 'गोनाम्' और 'पतिना' होते थे। पालि मे ये क्रमशः 'गोनं' या 'गुन्न' तथा 'पतिना' के रूप में सुरक्षित है। किन्तु सस्कृत ने इन्हें भी स्वीकार नही किया है। इसी प्रकार वैदिक भाषा मे नपुसक लिंग की जगह बहुधा पुल्लिग का भी प्रयोग होता था। सस्कृत मे यह प्रवृत्ति नही पाई जाती। किन्तु पालि मे बहुधा ऐसा हो जाता है। उदाहरणतः 'फल' शब्द के प्रथमा के बहुवचन में 'फला' और 'फलानि' दोनों ही रूप होते है। यही प्रवृत्ति क्रिया-रूपो मे भी दृष्टिगोचर होती है। वैदिक भाषा में आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद उतना स्पष्ट नही था। वहाँ 'इच्छति', 'इच्छते', 'युध्यति', 'युध्यते' जैसे दोनो प्रयोग दृष्टिगोचर होते है। पालि में यह प्रवृत्ति समान रूप से ही दृष्टिगोचर होती है। सस्कृत मे आत्मनपद और परस्मैपद का अधिक निश्चित विधान कर दिया गया है। 'श्रु' धातु का वैदिक भाषा में अनुज्ञा-काल का मध्यम-पुरुष का एकवचन का रूप 'श्रृणुधी' और अनुज्ञा-काल का मध्यम-पुरुष का बहुवचन का रूप 'श्रृणोत' होता था। पालि में ये क्रमशः 'सुणहि' और 'सुणोथ' के रूपो मे सुरक्षित है। किन्तु सस्कृत व्याकरण ने इन्हे भी स्वीकार नही किया है। वैदिक भाषा में 'हन्' धातु का लुङ् लकार का उत्तम-पुरुष का एकवचन का रूप 'वधी' होता था। संस्कृत ने इसे भी स्वीकार नही किया है। किन्तु पालि में यह 'वधि' के रूप में सुरक्षित है। कृदन्त के प्रयोग में भी संस्कृत और पालि में उपर्युक्त प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वेद में निमित्तार्थक अनेक प्रत्ययों का प्रयोग होता है, यथा से, सेन, असे, असेन, कसे, कसेन, अध्यै, अध्यैन, कध्यै, कध्यैन, शध्यै, शध्यैन, तवे, तवै, तवेन, तु। सस्कृत ने इनमें से केवल 'तु' प्रत्यय को ले लिया है। पालि ने उसके साथ-साथ 'तवे', 'तवै' प्रत्ययों को भी लिया है।

वैदिक 'दातवे' या 'दातवै' पालि के 'दातवे' में पूरी तरह सुरक्षित है। इसी प्रकार 'कातवे', 'विप्पहातवे', 'निधातवे' 'नेतवे', 'सोतवे' जैसे प्रयोग भी पालि में दृष्टिगोचर होते है, जो संस्कृत में नहीं मिलते। 'ल्यप्' के स्थान पर वेद मे 'त्वा' का भी प्रयोग मिलता है, जैसे 'परिधापयित्वा'। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार यह रूप अशुद्ध है। वहाँ उपसर्ग-पूर्वक धातु में अनिवार्यतः 'ल्यप्' होता है, किन्तु पालि मे वैदिक भाषा की तरह विकल्प से 'त्वा' देखा जाता है, यथा अभिवदित्वा, (अभिवन्दिय भी), उपनेत्वा (उपनीय भी), निस्सित्वा (निस्साय भी) आदि। वेद की भाषा में पूर्वकालिक अर्थ में 'त्वाय', 'त्वीन' आदि प्रत्यय लगा कर 'गत्वाय', 'इष्ट्वीन' जैसे शब्द बनते थे। पालि में 'गत्वान', 'कातून' जैसे प्रयोगों में ये सुरक्षित है, किन्तु सस्कृत में नहीं मिलते। वैदिक भाषा के क्रिया-रूपो मे 'मसि' और 'रे' प्रत्ययो का उल्लेख हम पहले कर चुके है। ये क्रमशः 'मसे' और 'रे' के रूप में पालि मे सुरक्षित है। उदाहरण क्रमशः महेमसे (महामसे) वदेमसे, लभेमसे (लभामसे), चरामसे तथा सोचरे (वे सोचते है), जायरे (वे उत्पन्न होते है), मिय्यरे (वे मरते है) आदि। वेद की भाषा में विभक्ति, वचन, वर्ण और काल के अनेक व्यत्यय पाये जाते है। पालि मे भी ये सब पाये जाते है। 'एकस्मि समयस्मिं' के लिये 'एक समयं' (विभक्ति-व्यत्यय) 'सन्ति इमस्मिं काये केसा, लोमा नखा' के लिये 'अत्थि इमस्मिं काये केसा, लोमा, नखा', (वचन-व्यत्यय); 'बुद्धेभि' के लिये 'बुद्धेहि', 'दुक्कट' के लिये 'दुक्कतं' (वर्ण-व्यत्यय); 'अनेक जाति-ससारं सन्धाविस्स' (भूतकाल के अर्थ में भविष्यत् काल—काल-व्यत्यय) जैसे व्यत्यय पालि मे वैध है। किन्तु सस्कृत व्याकरण ने इन्हें ग्रहण नही किया है।[1] इस प्रकार सस्कृत भाषा की अपेक्षा पालि ही वैदिक भाषा की अधिक सच्ची उत्तराधिकारिणी ठहरती है।

पालि-भाषा के विकास की अवस्थाएँ

ऊपर पालि के ध्वनि-समूह और रूप-विचार का जो निर्देश किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि पालि एक ऐसी मिश्रित भाषा है जिसमे अनेक बोलियों के तत्व विद्यमान है। अनेक दुहरे रूपों का होना उसके इस तथ्य को प्रमाणित करता

---

१. **विषय की अधिक सुगमता के लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत 'पालि-महाव्याकरण' पृष्ठ तेईस-उन्तीस (वस्तुकथा) पर दी हुई तालिकाएँ।**

है। पालि के विकास में चार ऐसी क्रमिक विकास वाली अवस्थाएँ उपलक्षित होती है, जिनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ है और जिनके आधार पर हम पालि के पूर्वापर रूपों को समझ सकते है और उनकी संगति लगा सकते है। पालि-भाषा के विकास की ये चार अवस्थाएँ इस प्रकार है, (१) तिपिटक में आने वाली गाथाओं की भाषा। यह भाषा अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक भाषा की सी ही अनेकरूपता इसमे मिलती है। प्राचीन आर्य भाषा अर्थात् वैदिक भाषा से कहीं-कहीं तो इस भाषा को, ध्वनि-परिवर्तन के कारण, केवल अल्प विभिन्नताएँ ही मिलती है और कहीं-कही पालि का अपना विशेष रूप -विधान भी दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार यह भाषा बुद्ध-कालीन मध्य-देश की लोक-भाषा होने के साथ-साथ प्राचीन वैदिक स्मृतियों से भी अनुविद्ध है। सुत्त-निपात की भाषा इस प्रकार की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण मानी जाती है। (२) तिपिटक के गद्य-भाग की भाषा। गाथाओ की भाषा की अपेक्षा इसमे एकरूपता अधिक है। गाथाओं की भाषा की अपेक्षा प्राचीन रूपो की कमी और नये रूपो की अभिवृद्धि इसका एक प्रधान लक्षण है। 'जातक' की भाषा इसका उदाहरण है। (३) उत्तरकालीन पालि गद्य-साहित्य की भाषा। इस भाषा के रूप के दर्शन हमे मिलिन्द-प्रश्न और अर्थकथा-साहित्य मे होते है। इस भाषा का आधार तिपिटक की गद्य-भाषा ही है। इसमे आलकारिकता और कृत्रिमता की मात्रा कुछ अधिक पाई जाती है। विशेषत. मिलिन्द-प्रश्न और बुद्धघोष की अर्थकथाओ मे हमे एक विकसित और उदात्त गद्य-शैली के दर्शन होते है। (४) उत्तरकालीन पालि-काव्य की भाषा। यह भाषा बिलकुल पूर्वकालीन साहित्य के अनुकरण पर लिखी गई है। लेखको ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कही तो प्राचीन रूपो का ही अनुकरण किया है, या कही-कही अपेक्षाकृत नवीन स्वरूपो को स्वीकार किया है। इस भाषा मे एक जीवित भाषा के लक्षण नही मिलते। सस्कृत का बढता हुआ प्रभाव भी इस युग की साहित्य-रचना का एक विशेष लक्षण है। महावस, दीपवस, दाठावस, तेलकटाहगाथा जैसे ग्रन्थो मे इस भाषा के स्वरूप के दर्शन होते है।

पालि भाषा और साहित्य के अध्ययन का महत्त्व

पालि के अध्ययन का अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्व है। आज अपनी अनेक प्रादेशिक बोलियों के, यहाँ तक कि कुछ अशों मे राष्ट्र-भाषा हिन्दी के भी, ध्वनि-समूह आदि का पूरा ज्ञान हमे नहीं हो पाया है। भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अनेक बातें

अभी अनिश्चित ही पड़ी हुई हैं। इसका कारण यही है कि मध्यकालीन आर्य-भाषाओं का, जिनमें पालि प्रथम और मुख्य है, हमारा अभी अध्ययन ही अधूरा पड़ा है।[१] अपनी भाषा के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिये हमें पालि भाषा का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना ही होगा। फिर पालि भाषा ने न केवल हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं को ही प्रभावित किया है। उसका प्रभाव सिंहल, ब्रह्म-देश, स्याम, कम्बोडिया और लाओस की भाषाओं के विकास पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा है। भारतीय विद्यार्थी के लिये अध्ययन का इससे अधिक सुखकर और क्या विषय हो सकता है कि वह इस प्रभाव को खोजे, ढूढ़े और इन देशों के साथ व्यापक भारतीय संस्कृति के समन्वित सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ करे। यही बात पालि साहित्य के विषय में भी है। उसने विश्व के एक बड़े भू-भाग को शान्ति प्रदान की है, क्योंकि वह प्रधानतः तथागत के सन्देश का वाहक है। उसका अध्ययन कर हम उस विशाल जन-समुदाय से नाता जोड़ते है, जिसके साथ हमारे सांस्कृतिक और राजनैतिक सम्बन्ध नव युग में और भी अधिक दृढ़ होंगे। इस ऊपरी उद्देश्य को छोड़ दे तो भी विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि साहित्य के अध्ययन का प्रभूत महत्व है। उसकी उदात्त प्रतिपाद्य वस्तु और गम्भीर, मनोरम शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती है। शाक्यसिंह ने जिन गुफाओं में निनाद किया है, वे साधारण नही है। यदि मनुष्यता-धर्म से ही अन्त मे ससार को मुक्ति मिलनी है, तो तथागत के सन्देश का व्यापक प्रचार होना ही चाहिये। इतिहास की दृष्टि से भी पालि साहित्य का प्रभूत महत्व है। जो सांस्कृतिक निधि हमारी इस साहित्य मे निहित है, उसका अभी पूरा महत्वांकन ही नहीं किया गया है। भारतीय इतिहास के काल-क्रम के निश्चय करने में सब से अधिक सहायता पालि साहित्य से ही मिली है। तिपिटक और अनुपिटक साहित्य में प्राचीन भारतीय इतिहास की जो अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, उसका अभी तक पूरा उपयोग नहीं

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा सन् १९४० में प्रकाशित अपने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' में लिखते हैं, "हिन्दी संयुक्त स्वरों का इतिहास प्रायः अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषाओं तक ही जाता है....अपभ्रंश तथा प्राकृत के संयुक्त स्वरों का पूर्ण विवेचन सुलभ न होने के कारण हिन्दी संयुक्त स्वरों का इतिहास भी अभी ठीक नहीं दिया जा सकता।" पृष्ठ १४२। बाद के संस्करणों में भी डा० वर्मा ने यह बात दुहराई है।

किया गया है। उसके सम्यक् अध्ययन से हम बुद्धकालीन इतिहास और भौगोलिक तथ्यों का बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। धर्म और दर्शन की दृष्टि से भी पालि का अधिक महत्व है। हमने अभी तक प्रायः संस्कृत ग्रन्थों से ही बौद्ध धर्म और दर्शन का परिचय प्राप्त किया है, जो कुछ हालतों में एकांगदर्शी और अधिकांशतः उसके मौलिक स्वरूप से बहुत दूर है। वैदिक परम्परा के उत्तरकालीन आचार्यों ने इसी को लक्ष्य कर प्रायः बौद्ध दर्शन की समालोचना की है। इस प्रकार बुद्ध-धर्म के मौलिक स्वरूप से हम प्रायः अनभिज्ञ ही रहे हैं। यही हमारी उस विचार-प्रणाली के प्रति, जो वास्तव में अपनी प्रभावशीलता के लिये विश्व में अद्वितीय है, उदासीनता का कारण है। पालि-साहित्य के प्रकाश में हम देख सकेंगे कि भगवान् गौतम बुद्ध का वास्तविक व्यक्तित्व क्या था और उन्होंने जन-समाज को क्या सिखाया था। पालि साहित्य का सब से बड़ा महत्व वास्तव में उसकी प्रेरणादायिका शक्ति ही है। यह प्रेरणा अनेक रूपों में आ सकती है। साधना के उत्साह के रूप में भी, ऐतिहासिक गवेषणा के रूप में भी और रचनात्मक साहित्य की सृष्टि के रूप में भी। साधना के अक्षर तो मौन हैं। ऐतिहासिक गवेषणा के विषय में हम काफी कह ही चुके हैं। यहाँ अन्तिम प्रेरणा के विषय में यही कहना है कि पालि साहित्य में इतनी सामग्री भरी पड़ी है कि वह अभी हिन्दी साहित्य में अनेक विधायक लेखकों और विचारकों को प्रेरणा और आधार दे सकती है। अभी हमने 'बुद्धचरित', 'सिद्धार्थ', 'यशोधरा' और 'प्रसाद' के कतिपय नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी में विशाल बौद्ध साहित्य से प्रेरणा ही क्या ग्रहण की है और विशेषतः पालि से विषय ही क्या चुने है? पालि तिपिटक और उसकी विशाल अट्ठकथाओं का क्षेत्र अभी सृजनात्मक प्रतिभा के लिये अछूता पड़ा है। निश्चय ही प्रत्येक दिशा में उपयोग के लिये यहाँ एक कभी समाप्त न होने वाली सामग्री भरी पड़ी है। यदि पालि की समुचित आराधना की जाय तो निश्चय ही वह बहुफलसाधिका हो सकती है।

दूसरा अध्याय

पालि साहित्य का विस्तार, वर्गीकरण और काल-क्रम

पालि साहित्य का उद्भव और विकास

जिस तेजस्वी व्यक्तित्व से संसार ने सब से पहले मनुष्यता सीखी; जिसकी दीप्ति से भारत के निश्चयात्मक इतिहास पर सर्व प्रथम आलोक पड़ा, उसी से पालि साहित्य का भी उदय हुआ। तथागत की सम्यक् सम्बोधि ही पालि साहित्य का आधार है। जिस दिन भगवान् ने बुद्धत्व प्राप्त किया और जिस दिन उन्होंने परिनिर्वाण में प्रवेश किया, उसके बीच उन्होंने जो कुछ, जहाँ कहीं, जिस किसी से कहा, उसी के संग्रह का प्रयत्न पालि-तिपिटक में किया गया है। तिपिटक (सं० त्रिपिटक) का अर्थ है तीन पिटक या पिटारियाँ। इन तीन पिटारियों में बुद्ध-वचन संगृहीत किये गये है, जो कालानुक्रम से आज के युग को भी प्राप्त है। ये बुद्ध-वचनों की भाजन-स्वरूप है, जिन्होंने उन्हें (बुद्ध-वचनों को) एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया है। उपर्युक्त तीन पिटकों या पिटारियों के नाम है, सुत्त-पिटक, विनय-पिटक और अभिधम्म-पिटक। भगवान् बुद्ध ने जो कुछ अपने जीवन-काल में कहा या सोचा, वह सभी तिपिटक में संगृहीत है, ऐसा दावा तिपिटक का नहीं है। कौन जानता है कि भगवान् के अन्तर्मन के कुछ उद्‌गार केवल उरुवेला की पहाड़ियों ने ही सुने, नेरंजरा की शान्त धारा ने ही धारण किये! फिर सहस्रों ने जो कुछ सुना, उन सब ने ही आ आकर तिपिटक में उसे संगृहीत करवा दिया हो, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। अतः ऐतिहासिक रूप से बुद्ध के मुख से निकले हुए अनेक ऐसे भी वचन हो सकते है, जो तिपिटक में हमें नहीं मिलते और जिन्हें अन्यत्र हम कहीं पा भी नहीं सकते। इसी प्रकार तिपिटक में जो कुछ सुरक्षित है, वह सब बिना किसी अपवाद के बुद्ध-वचन है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। 'विभज्यवादी' (विभाग कर बतलाने वाला,

बुद्ध) को समझने के लिये हमें सब प्रकार 'विभज्यवादी' ही होना पड़ेगा। हाँ, यह आश्वासन अवश्य प्राप्त है कि पालि तिपिटक में विश्वस्ततम रूप से बुद्ध-वचन अपने मौलिक रूप में सुरक्षित हैं, जैसा कि नीचे के विवरण से स्पष्ट होगा।

भगवान् बुद्ध के सभी उपदेश मौखिक थे। यद्यपि लेखन-कला का आविष्कार भारत में बुद्ध-युग के बहुत पहले ही हो चुका था, फिर भी बुद्ध-उपदेश भगवान् बुद्ध के समय में ही लेखबद्ध कर लिये गये हों, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। भगवान् बुद्ध के सभी शिष्य उन्हें स्मृति में ही रखने का प्रयत्न करते थे। इस बात के अनेक प्रमाण स्वयं तिपिटक में ही मिलते हैं। उदाहरणतः एक बार दूर से आये हुए सोण नामक भिक्षु को जब भगवान् पूछते हैं "कहो भिक्षु! तुमने धर्म को कैसे समझा है?" तो उसके उत्तर में वह सोलह अष्टक वर्गों को पूरा-पूरा स्वर के साथ पढ़ देता है। भगवान् अनुमोदन करते हुए कहते हैं "साधु भिक्षु! सोलह अष्टक वर्गों को तुमने अच्छी प्रकार याद कर लिया है, अच्छी प्रकार धारण कर लिया है। तुम्हारे कहने का प्रकार बड़ा अच्छा है, खुला है, निर्दोष है, अर्थ को साफ-साफ दिखा देने वाला है"।[1] इसी प्रकार बुद्ध-वचनों को अधिक विस्तृत रूप से धारण करने वाले भी अनेक बहुश्रुत, स्मृतिमान् भिक्षु थे। उनमें से अनेक धर्म-धर, सुत्तन्तिक (धर्म या सुत्त-पिटक को धारण करनेवाले) थे, अनेक विनय-धर (विनय-पिटक या विनय-सम्बन्धी उपदेशों को धारण करनेवाले) थे, अनेक मात्रिका-धर (मात्रिकाओं--तात्त्विक उपदेश-सम्बन्धी अनुक्रमणियों, जिनसे बाद में अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ, को धारण करने वाले) थे।[2] इनके विषय में तिपिटक में अनेक बार प्रशंसापूर्वक कहा गया है--बहुस्सुता आगतागामा धम्मधरा विनयधरा मातिकाधरा।[3] बाद के 'पंचनेकायिका', "भाणक", 'सुत्तन्तिक', 'पेटकी' जैसे शब्द

---

१. उदान, पृष्ठ ७९ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)।

२. देखिये विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।

३. बहुश्रुत, शास्त्रज्ञ, धर्म, विनय और मात्रिकाओं को धारण करने वाले विद्वान् भिक्षु। विनय-पिटक के महावग्ग २; १०, और चुल्लवग्ग १, १२ में; दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण-सुत्त (तृतीय भाणवार) में; अंगुत्तर-निकाय (विसुद्धिमग्ग ४।१९ में उद्धृत) में; तथा तिपिटक के अन्य अनेक स्थलों में।

भी इसी पूर्व परम्परा को प्रकट करते हैं। अंगुत्तर-निकाय के 'एतदग्गवग्ग' में हम भगवान् बुद्ध के उन प्रमुख भिक्षु-भिक्षुणी एवं उपासक-उपासिकाओं की एक लम्बी सूची देखते हैं, जिन्होंने साधना की विशिष्ट शाखाओं में दक्षता प्राप्त करने के अतिरिक्त भगवान् के वचनों को स्मरण करने में भी विशेषता प्राप्त कर ली थी।[1] इन्हीं व्रती साधकों के प्रति हम आज बुद्ध-वचनों के दायाद्य के लिये ऋणी हैं।

शास्ता के समीप रहते भिक्षुओं को ज्ञान और दर्शन का बड़ा सहारा था। किन्तु उनके अनुपाधि-शेष-निर्वाण धातु में प्रवेश कर जाने के बाद उन्हें चारों ओर अन्धकार ही दिखाई देने लगा। यह ठीक है कि बुद्ध के समान ही उन्हें धम्म का सहारा था। किन्तु साधारण जनता बहिर्मुखी थी। अन्तरात्मा की अपेक्षा वह बाहर ही अधिक देखती थी। फिर जिस 'धम्म' की शरण में शास्ता ने भिक्षुओं को छोड़ा था, उसका भी अस्तित्व अन्ततः उनके वचनों पर निर्भर था। उससे मात्र उन भिक्षुओं और अर्हतों का गुजारा हो सकता था, जिनको स्वयं शास्ता से सुनने का अवसर मिला था। किन्तु बाद की जनताओं के लिये क्या होगा ? जो भिक्षु भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में अपना अधिकतर समय और ध्यान बुद्ध-वचनों के स्मरण और संग्रह करने के बजाय उनके व्यावहारिक अभ्यास में ही लगाते थे, उन्हें भी अब यह चिन्ता होने लगी कि हमारे बाद इस थाती को कौन सँभालेगा, इस प्रकाश के दीपक को एक पीढ़ी से दूसरी सीढ़ी तक कौन पहुँचायेगा ? उनका इस प्रकार चिन्तित होना भावुकता पर भी आधारित नही था। स्वयं भिक्षु-संघ में इस प्रकार के लक्षण प्रकट हो रहे थे, जिनसे संयमी भिक्षुओं को दुःख होना स्वाभाविक था। अभी भगवान् के परिनिर्वाण को सात दिन भी नही हुए थे कि सुभद्र नामक बूढ़ा भिक्षु[2] कहता हुआ सुना गया था, "बस आयुष्मानो ! मत शोक करो ! मत विलाप करो ! हम उस महाश्रमण से अच्छी तरह मुक्त हो गये ! वह हमें सदा ही यह कह कर पीड़ित किया करता था 'यह तुम्हें विहित है, यह तुम्हें विहित नहीं है'। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे; जो नहीं चाहेंगे, सो

---

१. देखिये बुद्धचर्या, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४६९–७२।

२. सुभद्दो नाम वुड्ढ पब्बजितो। यह भिक्षु इसी नाम के उस परिव्राजक से भिन्न था, जिसने भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के समय प्रव्रज्या प्राप्त की थी और इस प्रकार जो उनका अन्तिम शिष्य था।

नहीं करेंगे।"[1] सुभद्र जैसे अवीतराग अनेक भिक्षु भी उस समय संघ में हो सकते थे।

इस मैल को धो डालने के लिये और शास्ता की स्मृति के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये बुद्ध के प्रमुख शिष्यों ने उनके वचनों का संगायन करना आवश्यक समझा। सुभद्र जैसे भिक्षुओं के असंयम को देखकर आर्य महाकाश्यप की मानसिक व्यथा के दर्शन हम उनके इन शब्दों में करते हैं, "आयुष्मानो! आज हमारे सामने अधर्म बढ़ रहा है, धर्म का ह्रास हो रहा है। अ-विनय बढ़ रहा है, विनय का ह्रास हो रहा है। आओ आष्युमानो! हम धम्म और विनय का संगायन करें"।[2] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक सभा की गई। यह सभा बुद्ध-परिनिर्वाण के चौथे मास में हुई। बुद्ध-परिनिर्वाण वैशाख-पूर्णिमा को हुआ था, अतः यह सभा सम्भवतः श्रावण मास में हुई।[3] आषाढ़ का मास तैयारी में लगा। राजगृह में वैभार गिरि के उत्तरी पार्श्व में स्थित सप्तपर्णी गुफा में इस सभा की कार्यवाही चली। इस सभा में ५०० भिक्षु सम्मिलित हुए, अतः बौद्ध अनुश्रुति में यह सभा 'पंचशतिका' नाम से भी विख्यात है। सभासदों में एक आनन्द भी थे। सभापतित्व का कार्य महाकाश्यप को सौंपा गया। सभा की कार्यवाही में, जैसा स्पष्ट है, बुद्ध-वचनों का संगायन और संग्रह ही मुख्य था। सभापति महाकाश्यप ने उपालि से विनय-सम्बन्धी और आनन्द से धर्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछे और उनके उत्तरों का दूसरे भिक्षुओं ने संगायन किया। उदाहरणतः महाकाश्यप ने उपालि से पूछा--"आवुस उपालि! प्रथम पाराजिक का उपदेश कहाँ दिया गया?" "भन्ते! वैशाली में"। "किस व्यक्ति के प्रसंग में?" "कलन्द के पुत्र सुदिन्न के प्रसंग में"। "किस बात को लेकर?" "मैथुन को

---

१. अलं आवुसो! मा सोचित्थ! मा परिदेवित्थ! सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन! उपद्दुता च होम। इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पतीति। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम। यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम। महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३); विनय-पिटक-चुल्लवग्ग, पंचसतिक खन्धक।

२. पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिबाहियति। अविनयो दिप्पति, विनयो पटिबाहियति। हन्द मयं आवुसो धम्मं च विनयं च संगायाम। विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।

३. देखिये महावंश (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद) पृष्ठ ११ (परिचय)।

लेकर"। इसी प्रकार आनन्द से बुद्ध-उपदेशों (सुत्तों) के विषय में प्रश्न पूछे गये, जिनके उन्होंने उत्तर दिये। इस प्रकार निश्चित धम्म और विनय का सारी सभा ने संगायन किया, महाकाश्यप के प्रस्ताव पर--धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम।

उपर्युक्त सभा का ऐतिहासिक आधार और महत्व क्या है, और उसमें जिस 'धम्म' और 'विनय' का स्वरूप निश्चित किया गया, उसका हमारे आज प्राप्त सुत्त और विनय पिटक से क्या सम्बन्ध है, ये प्रश्न पालि साहित्य के विद्यार्थी के लिये बड़े महत्व के हैं। राजगृह की इस प्रथम संगीति का वर्णन, जिसमें धम्म और विनय का संगायन किया गया, इन ग्रन्थों मे उपलब्ध होता है (१) विनय-पिटक-चुल्लवग्ग, (२) दीपवंस, (३) महावंस, (४) बुद्धघोष-कृत समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अर्थकथा) की निदान-कथा, (५) महाबोधिवंस, (६) महावस्तु और (७) तिब्बती दुल्व। इन सभी ग्रन्थों में छोटी-मोटी अनेक विभिन्नताएँ है। उदाहरणतः सभा के बुलाने के उद्देश्यों में ही कोई किसी बात पर जोर देता है और कोई किसी बात पर। 'चुल्लवग्ग' में सुभद्र वाले प्रकरण को ही प्रधानता देकर उसे सभा बुलाने का कारण दिखलाया गया है, जब कि 'दीपवस' में इस प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है। 'महावंस' में कुछ अन्य साधारण कारण भी दिये गये है।[१] हम आसानी से देख सकते है कि ये ये कोई मौलिक विभिन्नताएँ नहीं हैं। इसी प्रकार सभा में भाग लेने वाले सदस्यों की संख्या के विषय में भी विभिन्न मत हैं। ऐसा होना भी बहुत सम्भव है। हम आसानी से इतना निश्चित तथ्य तो निकाल ही सकते हैं कि यह संख्या ५००के लगभग थी। इसी प्रकार सम्मिलित सदस्यों में से धम्म और विनय के स्वरूप के निश्चित करने में किसने कितना योग दिया, इसके विषय

---

१. **"उस महास्थविर (महाकाश्यप) ने शास्ता (बुद्ध) के धर्म की चिरस्थिति की इच्छा से लोकनाथ, दशबल भगवान् के परिनिर्वाण के एक सप्ताह बाद, बूढ़े सुभद्र के दुर्भाषित वचन का, भगवान् द्वारा चीवरदान तथा अपनी समता देने का, और सद्धर्म की स्थापना के लिये किये गये भगवान् (मुनि) के अनुग्रह का स्मरण करके, सम्बुद्ध से अनुमत संगीति करने के लिये, नवाङ्ग बुद्धोपदेश को धारण करने वाले, सर्वांगयुक्त, आनन्द स्थविर के कारण पाँच सौ से एक कम महाक्षीणास्रव भिक्षु चुने।" महावंस, पृष्ठ १२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।**

में भी उपर्युक्त ग्रन्थों में विभिन्न मत हैं। 'चुल्लवग्ग' के अनुसार तो सारा काम महाकाश्यप, आनन्द और उपालि ने ही किया। किन्तु 'दीपवंस' के वर्णन के अनुसार अन्य भिक्षुओं ने भी काफी योग दिया। इन अन्य भिक्षुओं में अनिरुद्ध, वंगीश, पूर्ण, कात्यायन, कोट्ठित आदि मुख्य थे। यहाँ भी कोई मौलिक भेद दिखाई नहीं पड़ता। प्रत्यक्षतः महाकाश्यप, आनन्द और उपालि के ही प्रधान भाग लेने पर भी अन्य अनेक भिक्षुओं का भी उनके काम में पर्याप्त सहयोग हो सकता था। अतः उपर्युक्त ग्रन्थों के विवरणों में, जिनमें 'चुल्लवग्ग' का विवरण ही प्राचीनतम जान पड़ता है, कोई मौलिक विभिन्नताएं नहीं हैं। बल्कि वे एक दूसरे के पूरक हैं। उनमें से अधिकांश 'चुल्लवग्ग' के वर्णन को ही विस्तृत रूप देते हैं। उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर बौद्ध अनुश्रुति राजगृह की सभा को एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में मानती है। आधुनिक विद्यार्थी भी इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं देखता। ओल्डनबर्ग ने अवश्य इसमें सन्देह प्रकट किया था। उनका कहना था कि सुभद्र वाला प्रकरण, जिसे 'चुल्लवग्ग' में राजगृह की सभा के बुलाने का कारण बतलाया गया है, 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' (दीघ० २।३) में भी उन्हीं शब्दों में रक्खा हुआ है, किन्तु वहां इस सभा का कोई उल्लेख नहीं है। इस मौन का कारण उन्होंने यह माना है कि 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के संग्राहक या सम्पादक को इस सभा का कुछ पता नहीं था। यदि यह सभा हुई होती, तो 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के संग्राहक को भी इसका अवश्य पता होता और उस हालत में सुभद्र वाले प्रकरण के साथ-साथ उसने इस सभा का भी अवश्य उल्लेख किया होता। चूकि यह उल्लेख वहां नहीं है, इसलिये हम मान ही सकते हैं कि यह सभा हुई ही नहीं।[1] कितना भयावह और इतिहास की प्रणाली से असिद्ध है डा० ओल्डनबर्ग का यह तर्क ! किन्तु यह भी बहुत दिनों तक विद्वानों को भ्रम में डाले रहा। वास्तव में डा० ओल्डनबर्ग के तर्क का कोई आधार नहीं है। 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' का विषय भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के दृश्य का वर्णन करना है, संघ के इतिहास का निर्देश करना नहीं। संघ के इतिहास का सम्बन्ध 'विनय' से है। अतः भगवान् के परिनिर्वाण के बाद भिक्षुओं की विह्वल दशा का वर्णन करते हुए 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के संगायक या संगायकों ने सुभद्र

---

१. विनय टैक्सट्स्, जिल्द पहली, पृष्ठ २६ (भूमिका) (—सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द तेरहवीं)।

जैसे असंयमी भिक्षु के विपरीत व्यवहार का तो उल्लेख कर दिया है, किन्तु उससे आगे जाना वहाँ ठीक नहीं समझा गया। इसके विपरीत 'विनय-पिटक' में संघ-शासन की दृष्टि से इस तथ्य को लेकर संघ के इतिहास पर भी उसका प्रभाव दिखलाया गया है। यदि यह भी समाधान पर्याप्त न माना जाय, तो यह भी द्रष्टव्य है कि 'दीपवंस' में भी सुभद्र वाले प्रकरण का उल्लेख नहीं है, किन्तु वहाँ प्रथम संगीत का वर्णन उपलब्ध है। इसलिये 'दीपवंस' के लेखक को जब हम सुभद्र के प्रकरण में मौन रखते हुए भी प्रथम संगीति के विषय में अभिज्ञात देखते हैं, तो 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के विषय में ही हम ऐसा क्यों मानें कि उसका मौन इस संगीति के वास्तविक रूप से न होने का सूचक है।[1] अतः 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के मौन से हम उस प्रकार का निषेधात्मक निष्कर्ष नहीं निकाल सकते, जैसा ओल्डनबर्ग ने निकाला है, जब कि अनेक ग्रन्थों की भारी परम्परा उसके विपक्ष में है। गायगर[2] और विण्टरनित्ज़[3] जैसे विद्वानों ने भी इसी कारण राजगृह की सभा को ऐतिहासिक तथ्य माना है। विण्टरनित्ज़ ने कुछ यह अवश्य कहा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद इतने शीघ्र इस सभा का बुलाया जाना हमसे कुछ अधिक विश्वास करने की अपेक्षा रखता है।[4] इसी प्रकार मिनयेफ ने इस सभा की ऐतिहासिकता स्वीकार कर के भी यह स्वीकार करने में कुछ हिचकिचाहट की है कि बुद्ध-वचनों का संगायन भी इस सभा की कार्यवाही का एक अंग था।[5] हमारी समझ में ये दोनों ही शकाएं निर्मूल हैं। भारतीय साधना की आत्मा को यहां नहीं समझा गया। अनुकम्पक शास्ता के चले जाने पर उनके 'धम्मदायाद' भिक्षुओं के लिये इससे अधिक आवश्यक और अवश्यम्भावी कार्य क्या हो सकता था कि वे जल्दी से जल्दी एक जगह मिल कर भगवान् के वचनों की स्मृति करें। ब्राह्मण और क्षत्रिय गृहस्थों ने तो भगवान् के शरीर के प्रति

---

१. तिब्बती दुल्व की भी परिस्थिति 'दीपवंस' के समान ही है, अर्थात् वहाँ सुभद्र का प्रकरण नहीं है, किन्तु प्रथम संगीति का वर्णन है। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़' (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ४०–४१।

२. पालि लिटरेचर एण्ड लॅंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत ३।

३. इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४।

४. इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४।

५. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ४३।

अद्‌भुत् आदर प्रदर्शित किये, चक्रवर्ती के समान उसका दाह-संस्कार किया और भगवान् की अस्थियों को बांट कर उनकी पूजा की। भिक्षु क्या करते ? उनके लिये तो पूजा का अन्य ही विधान शास्ता छोड़ गये थे। उनके लिये तो एक ही उपदेश था। तथागत के अन्तिम पुरुष मत बनो। 'बुद्ध' के बाद 'धम्म' की शरण लो।[1] ऐसी अवस्था में 'धम्म' की अनुस्मृति करना उनका प्रथम और एकमात्र कर्तव्य था। यदि वे ऐसा न करते तो हम आज यही कहते कि भगवान् का भिक्षु-संघ ही उस समय नहीं था। चूंकि हम निश्चित रूप से जानते हैं कि भिक्षु-संघ उस समय था, इसलिये उससे भी अधिक निश्चित रूप से हमें यह जानना चाहिये कि उन्होंने एक जगह मिलकर 'बुद्ध' और 'धम्म' की अनुस्मृति भी अवश्य की होगी, भगवान् के वचनों का संगायन भी अवश्य किया होगा, फिर चाहे वह किसी रूप में क्यों न हो। बुद्ध-संघ की आत्मा और उसका सारा विधान इसी तथ्य की ओर निर्देश करता है, जो इतिहास के साक्ष्य से कहीं अधिक दृढ़ है, और इस विषय में तो इतिहास का साक्ष्य भी, जैसा हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं, बहुत अधिक पर्याप्त है।

राजगृह की सभा की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि धम्म और विनय के जिस रूप का बुद्ध के इन प्रथम शिष्यों ने संगायन और संकलन किया, वह कहाँ तक हमारे वर्तमान रूप में प्राप्त 'सुत्त-पिटक' और 'विनय-पिटक' में मिलता है। इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त संयत वाणी में और क्रमशः ही दिया जा सकता है, यद्यपि आचार्य बुद्धघोष ने सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के विभिन्न भागों के नाम ले ले कर यह दिखाया है कि उनका संगायन प्रथम संगीति में ही किया गया था। फिर भी आधुनिक विद्यार्थी तो उनके इस साक्ष्य को सावधानी से ही ग्रहण करेगा। प्रथम संगीति के वर्णन में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि वहाँ धम्म (सुत्त) और विनय के संगायन की ही बात कही गई है। अभिधम्म के संगायन की बात वहाँ नही है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभिधम्म-पिटक की रचना प्रथम संगीति से बाद के काल की है। किन्तु यह निष्कर्ष बौद्ध परम्परा को मान्य नहीं है। आचार्य बुद्धघोष ने प्रथम संगीति

---

१. ये अक्षरशः उद्धरण नहीं हैं। इन भावनाओं के लिये देखिये धम्मदायाद-सुत्त (मज्झिम. १।१।३); गोपक-मोग्गल्लान सुत्त (मज्झिम. ३।१।८); मखादेव-सुत्त (मज्झिम. २।४।३) एवं महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ. २।३) आदि।

के अवसर पर ही अभिधम्म के भी संगायन का उल्लेख किया है।[१] यूआन् चुआङ् को भी यही बात मान्य थी। बुद्धघोष या यूआन्-चुआङ् के साथ इस हद तक सहमत न हो सकने पर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि बुद्ध-वचनों का जो स्वरूप राजगृह की सभा में स्वीकार और संग्रह किया गया, उसी पर वर्तमान पालि तिपिटक आधारित है। इस सभा के एक महत्वपूर्ण प्रसंग का यहाँ उल्लेख कर देना और आवश्यक होगा। जिस समय यह सभा हो ही रही थी या समाप्त हो चुकी थी, पुराण नामक एक भिक्षु वहाँ विचरता हुआ आ निकला। उससे जब संगायन में भाग लेने के लिये कहा गया तो उसने कहा, "आवुस! स्थविरों ने धम्म और विनय को सुन्दर तौर से संगायन किया है। किन्तु जैसा मैंने स्वयं शास्ता के मुख से सुना है, मुख से ग्रहण किया है, मैं तो वैसा ही धारण करूँगा"।[२] पुराण की इस उक्ति में राजगृह के सभासदों के द्वारा संगायन किये हुए धम्म और विनय के प्रति अप्रामाणिकता का भाव नहीं है, जैसा कुछ विद्वानों ने भ्रमवश सोचा है। संघ के लिये यह कोई खतरे की घंटी भी नहीं थी, जैसा एक विद्वान् को भ्रम हुआ है।[३]

---

१. ततो अनन्तरं—धम्मसंगणि-विभंगञ्च, कथावत्थुञ्च पुग्गलं, धातु-यमक-पट्ठानं, अभिधम्माति वुच्चतीति। एवं संविण्णितं सुखुमञाण-गोचरं, तन्तिं संगायित्वा इदं अभिधम्मपिटकं नामाति वत्वा पञ्च-अरहन्तसतानि सज्झायमकंसु। सुमंगलविलासिनी की निदान-कथा। मिलाइये समन्तपासादिका की निदान-कथा भी। अट्ठसालिनी की निदान-कथा में भी आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि तीन पिटकों, पाँच निकायों, नव अंगों और ८४००० धर्मस्कन्धों के रूप में बुद्ध-वचनों का विभाजन इस प्रथम संगीति में ही किया गया। "एवमेतं सब्बं पि बुद्धवचनं पंचसतिकसंगीतिकाले संगायन्तेन इदं विनयपिटकं, इदं सुत्तन्तपिटकं, इदं अभिधम्मपिटकं, इमानि चतुरासीति धम्मक्खन्धसहस्सानी ति इमं पभेदं ववत्थपेत्वा व संगीतं। अटठसालिनी, पृष्ठ २३ (देवनागरी संस्करण, पूना, १९४२)।

२. विनय-पिटक—चुल्लवग्ग; देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ ५५२ भी।

३. डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है "This was a danger signal for the Church". बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ४४।

पुराण तो एक साधक पुरुष था। एकान्त-साधना का भाव उसमें अवश्य अधिक था, जिसके कारण वह अपनी उस ध्यान-भावना में, जो उसे शास्ता के प्रत्यक्ष सम्पर्क से मिली थी, किसी प्रकार का विक्षेप नहीं आने देना चाहता था। दूसरों ने बुद्ध-मुख से जो कुछ सुना है, वह सब ठीक रहे, सत्य रहे। किन्तु पुराण को तो अपना जीवन-यापन उसी से करना, जो उसकी आवश्यकता को देखते हुए स्वयं भगवान् ने उसे दिया है। इस दृष्टि से न तो पुराण की उक्ति में राजगृह की सभा में संगायन किये हुए बुद्ध-वचनों की अप्रामाणिकता की ओर संकेत है और न वह भिक्षु-संघ के लिये कोई खतरे की घंटी ही थी। इस प्रकार के स्वतन्त्र विचारों के प्रकाशन पर भिक्षु-संघ ने कभी प्रतिबन्ध नहीं लगाया। यह उसकी एक विशेषता है। अतः हम कह सकते हैं कि धर्मवादी भिक्षुओं ने धर्म का वैसा ही संगायन किया, जैसा उन्होंने स्वयं भगवान् से सुना था और जो उन्होंने संगायन किया उसके ही दर्शन हमें पालि सुत्त और विनय पिटकों में मिलते है, यद्यपि उसके साथ कुछ और भी मिल गया है।[1]

भगवान् के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद (वस्ससतपरिनिब्बुते भगवति--चुल्लवग्ग) किन्तु यूआन् चुआग् द्वारा निर्दिष्ट परम्परा के अनुसार ११० वर्ष बाद, वैशाली के वालुकाराम (वालिकाराम) में 'धम्म' और 'विनय' का, जैसा कि वह प्रथम संगीति में संगृहीत किया गया था, पुनः संगायन किया गया। यह बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी संगीति थी, जिसमें ७०० भिक्षुओं ने भाग लिया। इसीलिये यह 'सप्तशतिका' भी कहलाती है। यह सभा वास्तव में विनय-सम्बन्धी कुछ विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने के लिये बुलाई गई थी। वैशाली के भिक्षु दस बातों (दस वत्थूनि) में विनय-विपरीत आचरण करने लगे थे, जो इस प्रकार थीं। (१) सिंगिलोणकप्प (शृंगिलवण-कल्प) अर्थात् सींग में नमक भर कर ले जाना, (२) द्वंगुलकप्प (द्वयंगुल-कल्प) अर्थात् दो अंगुल छाया बिताकर दोपहर के बाद भी भोजन कर लेना, (३) गामन्तरकप्प (ग्रामान्तरकल्प) अर्थात् किसी दूसरे गांव में जाकर उसी दिन पुनः भोजन कर लेना, (४) आवासकप्प (आवास कल्प) अर्थात् एक ही सीमा के अन्दर बहुत से आवासों में उपोसथ करना, (५) अनुमतिकप्प (अनुमतिकल्प)

---

१. बुद्धघोष को भी यह मत आंशिक रूप से मान्य था। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ २२१–२२२।

अर्थात् कर्म करने के उपरान्त स्वीकृति लेना, (६) अचिण्णकप्प (आचीर्णकल्प) अर्थात् अपने आचार्य या उपाध्याय के किसी भी आचरण को अपने लिये उदाहरण बना लेना, (७) अमथितकप्प (अमथितकल्प) अर्थात् भोजन के बाद ऐसे दूध को पीना जो अभी दही नहीं बना है, परन्तु जो दूध भी नहीं रहा है, (८) जलोगी-पान अर्थात् ताड़ी पीना, (९) अदसक निसिदन (अदशक निषीदन) अर्थात् बिना मगजी का आसन प्रयोग करना, और (१०) जातरूप-रजत अर्थात् सोना-चाँदी ग्रहण करना। अनेक भिक्षुओं के मत में इन दस बातों का आचरण करना विनय-विपरीत और निषिद्ध था। भिक्षुओं के दो दल हो गए—पाचीनक (प्राचीनक) या पूर्व वाले और पावेय्यक या पाठेय्यक अर्थात् पश्चिम वाले। पूर्व वाले भिक्षु वैशाली के विनय-विपरीत आचरण करने वाले भिक्षुओं के पक्ष में थे और पश्चिम वाले उनके विपक्ष में थे। इनमें से कौन ठीक है, इसका निर्णय करने के लिये वैशाली में यह सभा हुई, जो आठ मास तक चलती रही। पालि साहित्य के विकास की दृष्टि से भी इस सभा का बड़ा महत्व है। एक बात इस सभा से यह निश्चित हो जाती है कि इस समय तक भिक्षु-संघ के पास एक ऐसा सुनिश्चित संगृहीत साहित्य अवश्य था जिसके आधार पर भिक्षु विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का निपटारा कर सकते थे, फिर चाहे वह साहित्य मौखिक परम्परा के रूप में ही भले क्यों न हो।[1] वैशाली की सभा ने वैशालिक

---

१. ऐसा ही आधार स्वयं भगवान् बुद्ध के समय में भी विद्यमान था। "भिक्षुओ ! यदि कोई भिक्षु ऐसा कहे 'मैंने इसे भगवान् के मुख से सुना है, ग्रहण किया है, यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का शासन है', तो भिक्षुओ! उस दिन उस भिक्षु के भाषण का न अभिनन्दन करना, न निन्दा करना। बल्कि.....सूत्र से तुलना करना, विनय में देखना। यदि वह सूत्र से तुलना करने पर, विनय में देखने पर, न सूत्र में उतरे, न विनय में दिखाई दे, तो विश्वास करना कि यह भगवान् का वचन नहीं है। किन्तु यदि वह सूत्र में भी उतरे, विनय में भी दिखाई दे, तो विश्वास करना कि अवश्य यह भगवान् का वचन है।" महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ. २।३); मिलाइये अंगुत्तर-निकाय, जिल्द ६, पृष्ठ ५१; जिल्द ४, पृष्ठ १८० (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)।

भिक्षुओं के दस बातों सम्बन्धी व्यवहार को विनय-विपरीत ठहराया। इससे एक महत्वपूर्ण समस्या पालि साहित्य, विशेषतः विनय-पिटक, के सम्बन्ध में उत्पन्न हो जाती है। आज जिस रूप में विनय-पिटक पाया जाता है, उसमें उन दस बातों में से, जिनके निर्णय के लिये वैशाली की सभा बुलाई गई थी, अधिकांश बातें स्पष्टतः बुद्ध-मन्तव्य के विपरीत ठहराई गई हैं।[1] इससे कुछ विद्वानों के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आज जिस रूप में विनय-पिटक हमें प्राप्त है, वह वैशाली की सभा से पूर्व का नहीं हो सकता।[2] यदि ऐसा होता तो, इन विद्वानों के मतानुसार, स्थविरों को इतना वाद-विवाद करने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि वहाँ तो स्पष्टतः उन्हें निषिद्ध बतलाया ही गया है। अतः इन विद्वानों के द्वारा ऐसा माना गया है कि पहले विनय-पिटक का रूप कुछ और रहा होगा और बाद में वैशाली की सभा के बाद उसके निर्णयों को उसमें उचित स्थानों में समाविष्ट कर दिया होगा।[3] हम यह अस्वीकार नहीं करते कि वैशाली की सभा के परिणाम-स्वरूप विनय-पिटक के स्वरूप में कुछ संशोधन या परिवर्द्धन न किया गया हो, किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि तत्वतः वैशाली की सभा से पूर्व के विनय और आज वह जिस रूप में पाया जाता है, उसमें कोई भेद है। यदि वैशालिक भिक्षुओं के व्यवहार को विनय-विपरीत बताने वाले विनय-पिटक के अंश वैशाली की सभा के पूर्व भी विद्यमान होते तो वे इन भिक्षुओं को उनके व्यवहार से किस प्रकार रोक सकते थे और किस प्रकार इस विवाद का होना या उसका निपटारा होना रुक सकता था? यह सब तो पूर्व से चले आते हुए

---

१. उदाहरणतः 'सिंगिलोणकप्प' ३८वें पाचित्तिय-सम्बन्धी नियम के विरुद्ध है, जिसके अनुसार भोजन संग्रह करना मना है। इसी प्रकार 'द्वंगुल कप्प' ३७वें पाचित्तिय के विपरीत है, जिसके अनुसार दोपहर के बाद भोजन करना मना है। 'गामन्तर कप्प' ३५वें पाचित्तिय के विपरीत है, जिसमें अतिरिक्त खाना वर्जित है। इसी प्रकार 'जलोगी-पान' पाचित्तिय ५१ से वर्जित है और सोने-चाँदी का ग्रहण करना निस्सग्गिय-पाचित्तिय सम्बन्धी १८वें नियम के विपरीत है।

२. यह निष्कर्ष डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने प्रोफेसर पुसें के अनुसरण पर निकाला है। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६२ में उनके 'बुद्धिस्ट काउंसिल्स' शीर्षक लेख का अंश।

३. देखिए बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६३–६४।

विनय-पिटक के स्पष्ट निषेध में भी सम्भव था और ऐसा ही हुआ भी और तभी इन भिक्षुओं के व्यवहार का संघ के द्वारा निषेध भी हो सका। वास्तव में बात यह है कि वैशाली की सभा से पूर्व और उसके कुछ शताब्दियों बाद तक भी 'विनय', जैसे कि अन्य बुद्ध-वचन, मौखिक अवस्था में ही रहे। अतः यदि विनय-पिटक का स्वरूप वैशाली की सभा से पहले का भी यदि आज का सा ही होता, तो भी उन दस बातों पर विवाद चल सकता था, जिन पर वैशाली की सभा में वह चला और जिनमें से बहुतों के ऊपर विनय का आज स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध है। अतः यह मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि वर्तमान विनय-पिटक वैशाली की सभा से पहले का नहीं है। हाँ, वैशाली की सभा ने एक बात पहली बार स्पष्ट कर दी है। वह यह कि जिस भिक्षु-सभा ने वैशाली में मिल कर अपने मतानुसार प्रामाणिक बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार वैशाली के वृज्जियों के अनाचार की निन्दा की, उनका ही एक मात्र संग्रह बुद्ध-वचनों का नहीं है। जिन भिक्षुओं की इस सभा में पराजय हो गई, उन्होंने अपनी अलग एक भारी सभा (महा-संगीति) की, जिसमें उन्होंने अपने मतानुसार नये बुद्ध-वचनों की सृष्टि की। इनके विषय में 'दीपवंस' में कहा गया है, "महासंगीति के भिक्षुओं ने बुद्ध-शासन को बिलकुल विपरीत कर डाला। मूल संघ में भेद उत्पन्न कर उन्होंने एक नया संघ खड़ा कर दिया। मौलिक 'धम्म' को नष्ट कर उन्होंने एक नया ही सुत्तों का संग्रह किया।"[१] आदि। इन महासंगीतिकारों ने जो कुछ भी सग्रह किया हो या उनका जो कुछ भी अंश अवशेष रहा हो, हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि बुद्ध-वचनों के पालि-संस्करण के सामने उसकी कोई प्रमाणवत्ता नहीं है। वैशाली की सभा में विनय-सम्बन्धी दस बातों के विषय में निर्णय हो जाने के बाद ७०० भिक्षुओं ने महास्थविर रेवत के सभापतित्व

---

१. **महासंगीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासनं। भिन्दित्वा मूलसंघं अञ्ञं अकंसु संघं॥ अञ्ञत्थ संगहितं सुत्तं अञ्ञत्थ अकरिंसु ते। अत्थं धम्मं च भिन्दिंसु ये निकायेसु पंचसु॥ यहीं आगे कहा गया है कि महासंगीति के इन भिक्षुओं ने परिवार, अभिधम्म, पटिसम्भिदा, निद्देस और जातकों के कुछ अंशों को स्वीकार नहीं किया—परिवारं अत्थुद्धारं अभिधम्मप्पकरणं पटिसम्भिदं च निद्देसं एकदेसं च जातकं, एत्तकं निस्सज्जेत्वान अञ्ञं अकरिंसु ते। ५।३२–३८ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)।**

में, प्रथम संगीति के समान ही, 'धम्म' का संगायन और संकलन किया। 'अकरुं धम्मसंगहं'। आचार्य बुद्धघोष के वर्णनानुसार बुद्ध-वचनों का तीन पिटकों, पाँच निकायों, नौ अंगों और ८४००० धर्मस्कन्धों में पुनः अनुसंगायन इस समय किया गया। इस संगीति की ऐतिहासिकता विद्वानों को पहली की अपेक्षा अधिक मान्य है। इस संगीत का वर्णन भी प्रायः उन सब ग्रन्थों में मिलता है जिनमें प्रथम संगीति का। इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

वैशाली की संगीति के बाद एक तीसरी संगीति सम्राट् अशोक के समय में बुद्ध-परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र के अशोकाराम में हुई। इस संगीति का वर्णन दीपवंस, महावंस और समन्तपासादिका (विनय-पिटक की बुद्धघोष-रचित अट्ठकथा) में मिलता है। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में इस संगीति का निर्देश नही किया गया है। तिब्बत और चीन के महायानी बौद्ध साहित्य में भी इस संगीति का निर्देश नही मिलता और न यूआन्-चुआंग् ने ही इसके विषय में कुछ लिखा है। अशोक के किसी अभिलेख में भी इस संगीति का स्पष्टतः कोई उल्लेख नही मिलता।[१] अतः कुछ विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता में सन्देह किया है।[२] वास्तव में बात यह है कि अशोक के समय तक बौद्ध संघ १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था और इन में से जिस सम्प्रदाय का पक्ष ग्रहण कर यह सभा बुलाई गई थी अथवा जिस सम्प्रदाय को इस सभा के बाद बुद्ध-धर्म का वास्तविक प्रतिनिधि माना गया था, वह विभज्यवादी या स्थविरवादी[३] सम्प्रदाय था। अतः यह बहुत सम्भव है

---

१. नवें शिलालेख में कुछ 'कथावत्थु' के समान शैली अवश्य दृष्टिगोचर होती है। देखिये भाण्डारकर और मजूमदार : इन्सक्रिप्शन्स ऑव अशोक, पृष्ठ ३४–३६।

२. जिनमें मुख्य मिनयेफ, कीथ, मैक्स वेलेसर, बार्थ, फ्रैंक और लेवी हैं। डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स, श्रीमती रायस डेविड्स, विंटरनित्ज़, और गायगर इस सभा को ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक मानते हैं। देखिये विंटरनित्ज़; हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ १६९-७० पद-संकेत, ५ एवं गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत २ में निर्दिष्ट साहित्य।

३. स्थविरवाद का अर्थ है स्थविरों अर्थात् वृद्ध, ज्ञानी पुरुषों और तत्त्व-दर्शियों का मत। बुद्ध के प्रथम शिष्यों के लिये 'स्थविर' शब्द का प्रयोग

कि दूसरे सम्प्रदाय वालों ने इसे स्थविरवादी या विभज्यवादी भिक्षुओं की ही अपनी सभा मानकर इसका उल्लेख सामान्य बौद्ध संगीतियों के रूप में न किया हो। अशोक के अभिलेखों का इस सम्बन्ध में मौन रखने का यह कारण हो सकता है कि अशोक ने वास्तव में इस सभा में कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं लिया था। अथवा उसके सारे श्रेय को वह उस समय के सबसे अधिक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और साधक मोग्गलिपुत्त तिस्स को देना चाहता था, जिन्होंने यह सभा बुलाई थी और जो ही इस सभा के सभापति थे। अनेक प्रान्तों के भिक्षुओं ने इस सभा में भाग लिया। इस सभा का मुख्य उद्देश्य यह था कि बौद्ध संघ में जो अनेक अ-बौद्ध लोग सम्राट् अशोक के बौद्ध

किया गया है। बुद्ध-मन्तव्य के विषय में उनका मत ही सर्वाधिक प्रामाणिक माना गया था। अतः स्थविरवाद का अर्थ 'प्रामाणिक मत' भी हो गया। स्थविरवादी भिक्षु 'विभज्यवाद' के अनुयायी थे। अतः 'विभज्यवाद' (पालि, विभज्जवाद) और स्थविरवाद (पालि, थेरवाद) दोनों एक ही वस्तु के द्योतक हैं। 'विभज्यवाद' का अर्थ है विभाग कर, विश्लेषण कर, प्रत्येक वस्तु के अच्छे अंश को अच्छा और बुरे अंश को बुरा बतलाना। इसका उल्टा एकांशवाद (पालि, एकंसवाद) है, जो सोलहो आने किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कह डालता है। भगवान् बुद्ध ने सुभ-सुत्त (मज्झिम. २।५।९) में अपने को उपर्युक्त अर्थ में विभज्यवादी कहा है। स्थविरवादी भिक्षु भी यही दृष्टिकोण रखते थे। विभज्यवाद का एक सूक्ष्म और तात्विक अर्थ भी है, जिसका उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया था। इस अर्थ के अनुसार मानसिक और भौतिक जगत् की सम्पूर्ण अवस्थाओं का स्कन्ध, आयतन और धातु आदि में विश्लेषण किया जाता है, किन्तु फिर भी उनमें 'अत्ता' (आत्मा) या स्थिर तत्त्व जैसा कोई पदार्थ नहीं मिलता। विभज्यवाद के इस सूक्ष्म अर्थ के विवेचन के लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९–२२; स्थविरवाद और विभज्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध के अधिक निरूपण के लिये देखिये गायगर; पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत १, तथा विंटरनित्ज : इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६, पद-संकेत २ में निर्दिष्ट साहित्य।

संघ सम्बन्धी दानों से आकृष्ट होकर घुस गये थे, उनका निष्कासन किया जाय और मूल बुद्ध-उपदेशों का प्रकाशन किया जाय। सभा की कार्यवाही में यही काम किया गया। साथ ही पाटलिपुत्र की इस सभा में अन्तिम रूप से बुद्ध-वचनों के स्वरूप का निश्चय किया गया और ९ महीनों के अन्दर भिक्षुओं ने तिस्स मोग्गलिपुत्त के सभापतित्व में बुद्ध-वचनों का संगायन और पारायण किया। इसी समय तिस्स मोग्गलिपुत्त ने मिथ्यावादी १७ बौद्ध सम्प्रदायों का निराकरण करते हुए 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'अभिधम्म-पिटक' में स्थान मिला।[1] जैसा पहले कहा जा चुका है, बुद्धघोष और यूआन्-चुआंग् के वर्णन के अनुसार अभिधम्म-पिटक का भी संगायन महाकाश्यप ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही किया था। किन्तु उसकी इतनी प्राचीनता अपने वर्तमान रूप में विद्वानों को मान्य नहीं है। कम से कम इस तीसरी संगीति के वर्णन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि 'कथावत्थु' की रचना महास्थविर तिस्स मोग्गलिपुत्त ने अशोक के समय में की। इतना भी निश्चित है कि सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक के स्वरूप का निश्चय अन्तिम रूप से इस संगीति के समय तक हो गया था। इस सभा के परिणाम स्वरूप एक महत्वपूर्ण निश्चय विदेशों में बुद्ध-धर्म के प्रचार करने के लिये उपदेशकों को भेजने का भी किया गया। अशोक के तेरहवें और द्वितीय शिलालेखों से यह स्पष्ट होता है कि उसने न केवल अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में ही बल्कि सीमान्त देशों में बसने वाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियों में और केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पाण्ड्य नामक दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यों में तथा सिंहल द्वीप में भी बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ धर्मोपदेशकों को भेजा था। दीपवंस,[2] महावंस,[3] और समन्तपासादिका[4] में उन भिक्षुओं की नामावली सुरक्षित है, जिन्हें भिन्न-भिन्न देशों में बुद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये भेजा गया था। किस-किस भिक्षु को किस-किस प्रदेश में भेजा गया, इसकी यह सूची इस प्रकार है—

---

१. महावंश ५।२७८ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

२. परिच्छेद ८।

३. ५।२८०; १२।१–८।

४. पृष्ठ ६३–६४ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)।

१. स्थविर माध्यन्तिक (मज्झन्तिक)	—कश्मीर और गन्धार प्रदेश को।
२. स्थविर महादेव	—महिष मंडल (महिंसक मंडल) को। (नर्मदा के दक्षिण का प्रदेश)
३. स्थविर रक्षित (रक्खित)	—वनवासि-प्रदेश को। (वर्तमान उत्तरी कनारा)
४. यूनानी भिक्षु धर्मरक्षित (योनक धम्मरक्खित)	—अपरान्तक प्रदेश को। (वर्तमान गुजरात)
५. स्थविर महाधर्मरक्षित (महाधम्मरक्खित)	—महाराष्ट्र (महारट्ठ) को।
६. स्थविर महारक्षित (महारक्खित)	—यवन-देश (योनक लोक) को। (बैक्ट्रिया)
७. स्थविर मध्यम (मज्झिम)	—हिमालय-प्रदेश (हिमवन्त) को।
८. स्थविर शोण और उत्तर (दोनों भाई)	—सुवर्णभूमि (सुवण्णभूमि) को। (बरमा)
९. महेन्द्र (महिन्द), ऋष्ट्रिय, (इट्टिय), उत्रिय (उत्तिय), शम्बल (सम्बल) और भद्रशाल (भद्दसाल), ये पाँच भिक्षु	—ताम्रपर्णी (तम्बपण्णि) को। (लंका)[1]

उपर्युक्त सूची ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक है। साँची-स्तूप में इन आचार्यों में से कुछ के नाम उत्कीर्ण हैं।[2] अजन्ता की चित्रकारी में भी एक चित्र महेन्द्र और संघमित्रा (अशोक के प्रव्रजित पुत्र और पुत्री, जो अन्य भिक्षुओं के साथ लंका में धर्म-प्रचारार्थ गये) की सिंहल-यात्रा को अमर बनाता है। फिर लंका में आज

---

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २०८ और ४६१; मिलाइये, अशोक की धर्मलिपियाँ, प्रथम भाग, पृष्ठ १६१–६२।

२. स्थविर मज्झिम को वहाँ 'हिमवान् प्रदेश का उपदेशक' ('हेमवता-चरिय') कह कर स्मरण किया गया है।

तक महेन्द्र और संघमित्रा तथा उनके साथी अन्य भिक्षुओं की स्मृति के लिये जो जीवित श्रद्धा विद्यमान है, वह केवल कल्पना पर ही आश्रित नहीं हो सकती। अशोक का धर्म-प्रचार का कार्य यहीं तक सीमित नहीं था। उसने अपने धर्म-प्रचारक उस समय के प्रसिद्ध पाँच यूनानी (यवन) राज्यों में भी भेजे। इस प्रकार सिरिया और बैक्ट्रिया के राजा अन्तियोक (एंटियोकस थियोस—ई० पू० २६१-२४६ ई० पू०), मिस्र के राजा तुरमय (टोलेमी फिलाडेल्फस—ई० पू० २८५-२४७ ई० पू०), मेसिडोनिया के राजा अन्तकिन (ऐंटिगोनस गोनटस—ई० पू० २७८-२३९ ई० पू०), सिरीन (मिश्र के पश्चिम में) के राजा मग (मेगस—ई० पू० २८५-२५८ ई० पू०) और एपिरस के राजा अलिकसुन्दर या अलिकसुदर (एलेक्ज़ेण्डर ई० पू० २७२-२५८ ई० पू०) के देशों तक अशोककालीन बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ बुद्ध का सन्देश लेकर गये।[1] इस सब विस्तृत धर्म-प्रचार के इतिहास में से हमें यहाँ लंका-सम्बन्धी प्रचार कार्य से ही अधिक सम्बन्ध है। लंका में महेन्द्र और उनके अन्य साथी बुद्ध-धर्म को ले गये। वहाँ के राजा देवानंपिय तिस्स ने भारतीय भिक्षुओं का बड़ा सत्कार किया और उनके सन्देश को स्वीकार किया। स्थविर महेन्द्र और उनके साथी लंका में उस तिपिटक को भी ले गये थे जिसके स्वरूप का अन्तिम निश्चय पाटलिपुत्र की संगीति में हो चुका था। लंका के अनुराधपुर नगर में 'महा-विहार' की स्थापना हुई और तिपिटक के अध्ययन का क्रम चलता रहा। परन्तु यह अध्ययन-क्रम अभी कुछ और शताब्दियों तक केवल मौखिक परम्परा (मुखपाठवसेन) में ही चलता रहा। बाद में लंका के राजा वट्टगामणि अभय (२९-१७ ई० पू०) के समय में प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व में एक और चौथी धर्म-संगीति हुई और जिस तिपिटक को महेन्द्र और अन्य भिक्षु अशोक और देवानंपिय तिस्स के समय में लंका ले गये थे, उसे ताड़पत्रों पर लेखबद्ध कर दिया गया।[2] तब से वह उसी रूप में चला आ रहा है। महेन्द्र के लंका-गमन और वट्टगामणि अभय के समय में चौथी धर्म-संगीति के परिणामस्वरूप तिपिटक के लेखबद्ध होने के समय के बीच में दो और धर्म-

---

१. देखिये, शिलालेख १३ तथा २।

२. दीपवंस २०।२०-२१ (ओल्डनबर्ग का संस्करण); महावंस ३३।१००-१०१ (गायगर का संस्करण); देखिये महावंश, पृष्ठ १७८–७९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

संगीतियाँ क्रमशः देवानंपिय तिस्स (२४७-२०७ ई० पू०) और दुट्ठगामणि (१०१-७७ ई० पू०) नामक लंकाधिपों के समयों मे हुई, परन्तु उनको अधिक महत्व नही दिया जाता और गिनती भी प्रायः नही की जाती। यह निश्चित है कि इन संगीतियों में महेन्द्र द्वारा प्रचारित तिपिटक के स्वरूप मे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही किया गया और वट्टगामणि अभय के समय में जिस तिपिटक को लेखबद्ध किया गया, वह वही था जिसे महेन्द्र और अन्य भिक्षु वहाँ ले गये थे।[1]

इस प्रकार बुद्ध के परिनिर्वाण-काल से लेकर प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व तक पालि साहित्य के विकास को हमने देखा। इससे आगे पालि साहित्य के उस अंश

---

१. इसके बाद पालि तिपिटक के केवल सम्पादन और पाठ-संशोधन की कहानी भर रह जाती है, जिसे बाद की संगीतियों में पूरा किया गया। इस प्रकार की दो संगीतियों का उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक होगा। एक संगीति, जिसे स्थविरवाद परम्परा की पाँचवीं संगीति माना जा सकता है, बर्मा में माण्डले में सन् १८७१ ई० में वहाँ के राजा मिण्डन के संरक्षण में हुई। इसके परिणामस्वरूप पालि तिपिटक का सम्पादन किया गया और विनय-पिटक, सुत्त-पिटक और अभिधम्म पिटक को क्रमशः १११, ४१० और २०८ संगमर्मर की पट्टियों पर बर्मी अक्षरों में लिखा गया। अभी सन् १९५४-५६ में फिर एक छठा संगायन पालि तिपिटक का रंगून (बर्मा) में हुआ जिसके परिणामस्वरूप पालि तिपिटक का एक अन्तिम रूप से संशोधित रूप बर्मी अक्षरों में छापा गया। हमारा देवनागरी तिपिटक संस्करण, जिसे भिक्षु जगदीश काश्यप ने योग्यता-पूर्वक सम्पादित किया है, बर्मा में हुए इस छट्ठ संगायन के पाठ पर ही मुख्यतः आधारित है। स्थविरवाद-परम्परा के अन्तर्गत ही कुछ अन्य धर्म-संगीतियाँ भी, विशेषतः थाई-देश (स्याम) में, उत्तरकालीन युगों में हुई। इनका अधिक साहित्यिक महत्त्व नहीं है, यद्यपि बौद्ध धर्म के वहाँ पुनरुत्थान की दृष्टि से ये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। संगीति-वंस में, जो स्याम में सन् १७८९ में लिखित एक रचना है, नौ धर्म-संगीतियों का उल्लेख है, जिनमें दो थाई-देश (स्याम) में हुईं। स्थविरवाद से बाहर हुई प्रभावशाली संगीतियों का उल्लेख करना तो यहाँ अप्रासंगिक ही होगा।

के विकास की कहानी है जो प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व तक अन्तिम रूप से सुनिश्चित और लिखित उपर्युक्त तिपिटक को आधार मान कर लिखा गया है। स्वभावतः यहाँ हम पालि-साहित्य के विस्तार और विभाजन के प्रश्न पर आते हैं।

पालि साहित्य का विस्तार—दो मोटे भागों में उसका वर्गीकरण—पालि या पिटक साहित्य एवं अनुपालि या अनुपिटक साहित्य

विषय की दृष्टि से पालि साहित्य उतना विस्तृत और पूर्ण नहीं है, जितने सस्कृतादि अन्य साहित्य। अनेक प्रकार की ज्ञान-शाखाओं पर उसमे साहित्य नहीं मिलता। ठीक बात तो यह है कि बौद्ध धर्म—स्थविरवादी बौद्ध धर्म—के अलावा उसमे ज्ञातव्य ही अल्प है। विभिन्न ज्ञान-शाखाओं की वह बहुमूल्य सम्पत्ति उसमें नही मिलती जो एक सर्वविध समृद्ध साहित्य से सम्बन्ध रखती है। फिर भी पालि साहित्य के अन्य अनेक बड़े आकर्षण है। उसके साहित्य का विकास न केवल भारत मे ही, अपितु लका, बरमा और स्याम मे भी हुआ है और स्वभावत. उसने इन सब देशों की भाषाओ और विचार-परम्परा को भी प्रभावित किया है। पालि साहित्य की रचना बुद्ध-काल से लेकर आज तक निरन्तर होती चली आ रही है। अतः उसके विकास का २५०० वर्ष का इतिहास है। कालानुक्रम और प्रवृत्तियाँ, दोनों की ही दृष्टि से पालि साहित्य को दो मोटे भागों मे विभक्त किया जा सकता है, (१) पालि या पिटक साहित्य, (२) अनुपालि या अनुपिटक साहित्य। पालि या पिटक साहित्य का विकास, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, बुद्ध-निर्वाण काल से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पू० तक है। अनुपालि या अनुपिटक साहित्य के विकास का इतिहास प्रथम शताब्दी ई० पू० से लेकर वर्तमान काल तक चला आ रहा है।

पिटक-साहित्य के ग्रन्थों का संक्षिप्त विश्लेषण और काल-क्रम

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पालि या पिटक साहित्य तीन भागों में विभक्त है, सुत्त-पिटक, विनय-पिटक और अभिधम्म-पिटक। सुत्त पिटक पाँच निकायों या शास्त्रो में विभाजित है, जिनके नाम है, दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय और खुद्दक-निकाय। विनय-पिटक अपने आप में एक परिपूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी विषय-वस्तु तीन भागों में विभक्त है, सुत्त-विभंग, खधक और परिवार। सुत्त-विभंग के दो विभाग हैं, पाराजिक और पाचित्तिय। इसी प्रकार खंधक के भी दो भाग है, महावग्ग और चुल्लवग्ग।

अभिधम्म-पिटक में सात बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं, जिनके नाम हैं धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। सुत्त-पिटक के पाँच निकायों का कुछ अधिक विश्लेषण कर देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। दीघ-निकाय में कुल ३४ सुत्त हैं, जो तीन वर्गों में विभाजित हैं। पहले सीलक्खन्ध-वग्ग में १३ सुत्त हैं, दूसरे महावग्ग में १० सुत्त हैं और तीसरे पाटिक-वग्ग या पाथिक-वग्ग में ११ सुत्त हैं। यह वर्गीकरण इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

दीघ-निकाय

(अ) सीलक्खन्ध-वग्ग

१. ब्रह्मजाल-सुत्त
२. सामञ्ञफल-सुत्त
३. अम्बट्ठ-सुत्त
४. सोणदंड -सुत्त
५. कूटदन्त-सुत्त
६. महालि-सुत्त
७. जालिय-सुत्त
८. कस्सपसीहनाद-सुत्त
९. पोट्ठपाद-सुत्त
१०. सुभ-सुत्त
११. केवड्ढ (या केवट्ट) - सुत्त
१२. लोहिच्च-सुत्त
१३. तेविज्ज-सुत्त

(आ) महावग्ग

१४. महापदान-सुत्त
१५. महानिदान-सुत्त
१६. महापरिनिब्बाण-सुत्त (महापरिनिब्बान-सुत्त भी)
१७. महासुदस्सन-सुत्त

१८. जनवसभ-सुत्त
१९. महागोविन्द-सुत्त
२०. महासमय-सुत्त
२१. सक्कपञ्ह-सुत्त
२२. महासतिपट्ठान-सुत्त
२३. पायासि-राजञ्ञ-सुत्त (पायासि-सुत्त भी)

(इ) पाटिक-वग्ग

२४. पाटिक-सुत्त (पाथिक-सुत्त भी)
२५. उदुम्बरिक-सीहनाद-सुत्त (उदुम्बरिक-सुत्त भी)
२६. चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (चक्कवत्ति-सुत्त भी)
२७. अग्गञ्ञ-सुत्त
२८. सम्पसादनीय-सुत्त (सम्पसादनिय-सुत्त भी)
२९. पासादिक-सुत्त
३०. लक्खण-सुत्त
३१. सिंगालोवाद (या सिगालोवाद)-सुत्त
३२. आटानाटिय-सुत्त
३३. संगीति-परियाय-सुत्त (संगीति-सुत्त भी)
३४. दसुत्तर-सुत्त

मज्झिम-निकाय में १५२ सुत्त हैं, जो १५ वर्गों में इस प्रकार विभाजित हैं—

मज्झिम-निकाय

१. मूल-परियाय-वग्ग

१. मूलपरियाय-सुत्त
२. सब्बासव-सुत्त
३. धम्मदायाद-सुत्त
४. भयभेरव-सुत्त
५. अनंगण-सुत्त

६. आकंखेय्य-सुत्त
७. वत्थूपम-सुत्त
८. सल्लेख-सुत्त
९. सम्मादिट्ठि-सुत्त
१०. सतिपट्ठान-सुत्त

२. सीहनाद-वग्ग

११. चूलसीहनाद-सुत्त
१२. महासीहनाद-सुत्त
१३. महादुक्खक्खन्ध-सुत्त
१४. चूलदुक्खक्खन्ध-सुत्त
१५. अनुमान-सुत्त
१६. चेतोखिल-सुत्त
१७. वनपत्थ-सुत्त
१८. मधुपिण्डिक-सुत्त
१९. द्वेधावितक्क-सुत्त
२०. वितक्कसंथान-सुत्त

३. ओपम्म-वग्ग

२१. ककचूपम-सुत्त
२२. अलगद्दूपम-सुत्त
२३. वम्मिक-सुत्त
२४. रथविनीत-सुत्त
२५. निवाप-सुत्त
२६. अरियपरियेसन-सुत्त (या पासरासि-सुत्त)
२७. चूलहत्थिपदोपम-सुत्त
२८. महाहत्थिपदोपम-सुत्त
२९. महासारोपम-सुत्त
३०. चूलसारोपम-सुत्त

४. महायमक-वग्ग

३१. चूलगोसिंग-सुत्त
३२. महागोसिंग-सुत्त
३३. महागोपालक-सुत्त
३४. चूलगोपालक-सुत्त
३५. चूलसच्चक-सुत्त
३६. महासच्चक-सुत्त
३७. चूलतण्हासंखय-सुत्त
३८. महातण्हासंखय-सुत्त
३९. महा-अस्सपुर-सुत्त
४०. चूल-अस्सपुर-सुत्त

५. चूलयमक-वग्ग

४१. सालेय्यक-सुत्त
४२. वेरञ्जक-सुत्त
४३. महावेदल्ल-सुत्त
४४. चूलवेदल्ल-सुत्त
४५. चूलधम्मसमादान-सुत्त
४६. महाधम्मसमादान-सुत्त
४७. वीमंसक-सुत्त
४८. कोसम्बिय-सुत्त
४९. ब्रह्मनिमंतनिक-सुत्त
५०. मारतज्जनिय-सुत्त

६. गहपति-वग्ग

५१. कन्दरक-सुत्त
५२. अट्ठकनागर-सुत्त
५३. सेख-सुत्त
५४. पोतलिय-सुत्त
५५. जीवक - सुत्त

५६. उपालि-सुत्त
५७. कुक्कुरवतिक-सुत्त
५८. अभयराजकुमार-सुत्त
५९. बहुवेदनीय-सुत्त
६०. अपण्णक-सुत्त

७. भिक्खु-वग्ग

६१. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्त
६२. महाराहुलोवाद-सुत्त
६३. चूलमालुंक्य-सुत्त
६४. महामालुंक्य-सुत्त
६५. भद्दालि-सुत्त
६६. लटुकिकोपम-सुत्त
६७. चातुम-सुत्त
६८. नलकपान-सुत्त
६९. गुलिस्सानि-सुत्त (गोलियानि-सुत्त—श्री नालन्दा संस्करण)
७०. कीटागिरि-सुत्त

८. परिव्वाजक-वग्ग

७१. तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त
७२. अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त
७३. महावच्छगोत्त-सुत्त
७४. दीघनख-सुत्त
७५. मागन्दिय-सुत्त
७६. सन्दक-सुत्त
७७. महासकुलुदायि-सुत्त
७८. समणमण्डिका-सुत्त
७९. चूलसकुलुदायि-सुत्त
८०. वेखनस-सुत्त (वेखनस्स-सुत्त भी)

९. राज-वग्ग

८१. घटिकार-सुत्त (या घटीकार-सुत्त)
८२. रट्ठपाल-सुत्त
८३. मखादेव-सुत्त
८४. मधुर-सुत्त
८५. बोधिराजकुमार-सुत्त
८६. अंगुलिमाल-सुत्त
८७. पियजातिक-सुत्त
८८. बाहितिक-सुत्त (बाहितिय-सुत्त भी)
८९. धम्मचेतिय-सुत्त
९०. कण्णकत्थल-सुत्त

१०. ब्राह्मण-वग्ग

९१. ब्रह्मायु-सुत्त
९२. सेल-सुत्त
९३. अस्सलायन-सुत्त
९४. घोटमुख-सुत्त
९५. चङ्की-सुत्त
९६. एसुकारी-सुत्त
९७. धानंजानि-सुत्त
९८. वासेट्ठ-सुत्त
९९. सुभ-सुत्त
१००. संगारव-सुत्त

११. देवदह-वग्ग

१०१. देवदह-सुत्त
१०२. पञ्चत्तय-सुत्त

१०३. किन्ति-सुत्त
१०४. सामगाम-सुत्त
१०५. सुनक्खत्त-सुत्त
१०६. आनेञ्जसप्पाय-सुत्त (आणञ्जसप्पाय-सुत्त या आनञ्जसप्पाय-सुत्त-भी)
१०७. गणक-मोग्गल्लान-सुत्त
१०८. गोपक-मोग्गलान-सुत्त
१०९. महापुण्णम-सुत्त
११०. चूलपुण्णम-सुत्त

१२. अनुपद-वग्ग

१११. अनुपद-सुत्त
११२. छब्बिसोधन-सुत्त
११३. सप्पुरिस-सुत्त
११४. सेवितब्ब-असेवितब्ब-सुत्त
११५. बहुधातुक-सुत्त
११६. इसिगिलि-सुत्त
११७. महाचत्तारीसक-सुत्त
११८. आनापानसति-सुत्त
११९. कायगतासति-सुत्त
१२०. संखारुप्पत्ति-सुत्त

१३. सुञ्ञता-वग्ग

१२१. चूल-सुञ्ञता-सुत्त
१२२. महा-सुञ्ञता-सुत्त
१२३. अच्छरियब्भुत-धम्म-सुत्त
१२४. बक्कुल-सुत्त
१२५. दन्तभूमि-सुत्त
१२६. भूमिज-सुत्त
१२७. अनुरुद्ध-सुत्त

१२८. उपक्किलेस-सुत्त
१२९. बाल-पंडित-सुत्त
१३०. देवदूत-सुत्त

१४. विभंग-वग्ग

१३१. भद्देकरत्त-सुत्त
१३२. आनन्द-भद्देकरत्त-सुत्त
१३३. महाकच्चान-भद्देकरत्त-सुत्त
१३४. लोमसकगिय-भद्देकरत्त-सुत्त
१३५. चूलकम्मविभंग-सुत्त
१३६. महाकम्मविभंग-सुत्त
१३७. सळायतन-विभग-सुत्त
१३८. उद्देसविभंग-सुत्त
१३९. अरण-विभंग-सुत्त
१४०. धातुविभग-सुत्त
१४१. सच्चविभंग-सुत्त
१४२. दक्खिणाविभंग-सुत्त

१५. सळायतन-वग्ग

१४३. अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्त
१४४. छन्नोवाद-सुत्त
१४५. पुण्णोवाद-सुत्त
१४६. नन्दकोवाद-सुत्त
१४७. चूल-राहुलोवाद-सुत्त
१४८. छछक्क-सुत्त
१४९. महासळायतनिक-सुत्त
१५०. नगरविन्देय्य-सुत्त
१५१. पिण्डपातपारिसुद्धि-सुत्त
१५२. इन्द्रियभावना-सुत्त

संयुत्त-निकाय में कुल ५६ संयुत्त है, जो ५ वर्गो में इस प्रकार विभाजित है।

संयुत्त-निकाय

(१) सगाथ-वग्ग, जिसमें ११ संयुत्त हैं।

१. देवता-संयुत्त
२. देवपुत्त-संयुत्त
३. कोसल-संयुत्त
४. मार-संयुत्त
५. भिक्खुणी-संयुत्त
६. ब्रह्म-संयुत्त
७. ब्राह्मण-संयुत्त
८. वंगीस-संयुत्त
९. वन-संयुत्त
१०. यक्ख-संयुत्त
११. सक्क-संयुत्त

(२) निदान-वग्ग, जिसमें १० संयुक्त हैं।

१. निदान-संयुत्त
२. अभिसमय-संयुत्त
३. धातु-संयुत्त
४. अनमतग्ग-संयुत्त
५. कस्सप-संयुत्त
६. लाभ-सक्कार-संयुत्त
७. राहुल-संयुत्त
८. लक्खण-संयुत्त
९. ओपम्म-संयुत्त
१०. भिक्खु-संयुत्त

(३) खन्ध-वग्ग, जिसमें १३ संयुत्त हैं।

१. खन्ध-संयुत्त
२. राध-संयुत्त

३. दिट्ठि-संयुत्त
४. ओक्कन्तिक-संयुत्त
५. उप्पाद-संयुत्त
६. किलेस-संयुत्त
७. सारिपुत्त-संयुत्त
८. नाग-संयुत्त
९. सुपण्ण-संयुत्त
१०. गन्धब्बकाय-संयुत्त
११. वलाह-संयुत्त
१२. वच्छगोत्त-संयुत्त
१३. झान-संयुत्त

(४) सळायतन-वग्ग, जिसमें १० संयुत्त हैं।

१. सळायतन-संयुत्त
२. वेदना-संयुत्त
३. मातुगाम-संयुत्त
४. जम्बुखादक-संयुत्त
५. सामण्डक-संयुत्त
६. मोग्गल्लान-संयुत्त
७. चित्त-संयुत्त
८. गामणि-संयुत्त
९. असंखत-संयुत्त
१०. अव्याकत-संयुत्त

(५) महावग्ग, जिसमें १२ संयुत्त हैं।

१. मग्ग-संयुत्त
२. बोज्झंग-संयुत्त
३. सतिपट्ठान-संयुत्त
४. इन्द्रिय-संयुत्त
५. सम्मप्पधान-संयुत्त

६. बल-संयुत्त
७. इद्धिपाद-सयुत्त
८. अनुरुद्ध-संयुत्त
९. झान-संयुत्त
१०. आनापाण-संयुत्त
११. सोतापत्ति-सयुत्त
१२. सच्च-संयुत्त

अंगुत्तर-निकाय का विभाजन बिलकुल संख्याबद्ध है। एक-एक, दो-दो, तीन-तीन, इस प्रकार क्रमानुसार ग्यारह तक उतनी ही उतनी संख्या से सम्बन्ध रखने वाले बुद्ध-उपदेशो का सग्रह है। इस प्रकार यह महाग्रन्थ ११ निपातों (समूहो) में विभक्त है—

१. एकक-निपात
२. दुक-निपात
३. तिक-निपात
४. चतुक्क-निपात
५. पचक-निपात
६. छक्क-निपात
७. सत्तक-निपात
८. अट्ठक-निपात
९. नवक-निपात
१०. दसक-निपात
११. एकादसक-निपात

खुद्दक-निकाय मे स्वतन्त्र १५ ग्रन्थ है, जो इस प्रकार हैं—

१. खुद्दक-पाठ
२. धम्मपद
३. उदान
४. इतिवुत्तक
५. सुत्तनिपात

६. विमान-वत्थु
७. पेत-वत्थु
८. थेर-गाथा
९. थेरी-गाथा
१०. जातक
११. निद्देस
१२ पटिसम्भिदामग्ग
१३. अपदान
१४. बुद्धवंस
१५. चरियापिटक

पालि साहित्य अपने वर्गीकरण के लिये प्रसिद्ध है। बुद्ध-वचनों के तिपिटक और उसके उपर्युक्त उपविभागों के अतिरिक्त अन्य भी विभाजन किये गये हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बुद्ध-वचनों को पाँच निकायों में बाँटा गया है। यहाँ चार निकाय तो सुत्त-पिटक के प्रथम चार निकायों के समान ही हैं, किन्तु पंचम निकाय (खुद्दक-निकाय) में स्वभावतः ही उसके पन्द्रह ग्रन्थों के अलावा विनय-पिटक और अभिधम्म-पिटक के सारे ग्रन्थ भी सम्मिलित कर लिये गये हैं।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वर्गीकरण प्रथम के समान स्वाभाविक नहीं है। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण नौ अंगों के रूप में किया गया है,[2] जिनके नाम है, सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल। सुत्त (सूत्र) का अर्थ है सामान्यतः बुद्ध-उपदेश। दीघ-निकाय, सुत्त-निपात आदि में

---

१. देखिये आगे पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक का विवेचन।

२. नौ अंगों एवं अधिकतर १२ धर्म-प्रवचनों के रूप में बुद्ध-वचनों का विभाजन महायान बौद्ध धर्म के संस्कृत-साहित्य में भी पाया जाता है। उदाहरणतः सद्धर्मपुंडरीक-सूत्र (पृष्ठ ३४, डा० नलिनाक्ष दत्त का देवनागरी संस्करण, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९५३) में "नवांगमेतन्मम शासनं च" ही कहा गया है। इसी प्रकार बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'धर्म-संग्रह' में भी 'नवांग प्रवचनानि' का उल्लेख है। देखिये महायानसूत्रसंग्रह, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३३२ (मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६१)। हरिभद्र

गद्य में रक्खे हुए भगवान् बुद्ध के उपदेश 'सुत्त' हैं। गद्य-पद्य-मिश्रित अंश (सगाथकं) गेय्य कहलाते हैं। "सब्बं पि सगाथकं सुत्तं गेय्यं वेदितब्बं।" 'वेय्याकरण' (व्याकरण, विवरण, विवेचन) वह व्याख्यापरक साहित्य है, जो अभिधम्म पिटक तथा अन्य ऐसे ही अंशों में सन्निहित है। सिर्फ पद्य में रचित अंग 'गाथा' (पालि-श्लोक) कहलाते हैं। यथा धम्मपद आदि की गाथाएँ। 'उदान' का अर्थ है बुद्ध-मुख से निकले हुए भावमय प्रीति-उद्गार या ऊर्ध्व वचन। ये उद्गार सौमनस्य की अवस्था में बुद्ध-मुख से निकली हुई ज्ञानमयिक गाथाओं के रूप में हैं। "सोमनस्सञाणमयिकगाथापटिसंयुत्ता।" 'इतिवुत्तक' का अर्थ है 'ऐसा कहा गया' या 'ऐसा तथागत ने कहा'। "वुत्तं हेतं भगवता" से आरम्भ होने वाले बुद्ध-वचन 'इतिवुत्तक' है। 'जातक' का अर्थ है। (बुद्ध के पूर्व) जन्म-सम्बन्धी (कथाएँ)। ये जातक में सगृहीत है और कुछ अन्यत्र भी तिपिटक में पाई जाती हैं। 'अब्भुत-धम्म' (अद्भुत-धर्म) वे सुत्त है जो अद्भुत वस्तुओं या योग-सम्बन्धी विभूतियों का निरूपण करते है। अंगुत्तर-निकाय के "चत्तारो मे भिक्खवे अच्छरिया अब्भुतधम्मा आनन्दे" जैसे अंश 'अब्भुतधम्म' है। 'वेदल्ल' वे उपदेश हैं जो प्रश्न और उत्तर के रूप में लिखे गये है, "जिनमें आध्यात्मिक प्रसन्नता और सन्तोष प्राप्त कर कर के प्रश्न पूछे जायँ।" "सब्बे पि वेदं च तुट्ठिं च लद्धा लद्धा पुच्छितसुत्तन्ता वेदल्लं ति वेदितब्बा।" चुल्ल-वेदल्ल-सुत्तन्त, महा-वेदल्ल-सुत्तन्त, सम्मादिट्ठि सुत्तन्त, सक्कपञ्ह-सुत्तन्त आदि इसके उदाहरण है। बुद्ध-वचनों का यह नौ प्रकार का विभाजन उनके शैली-स्वरूपों या नमूनों की दृष्टि से ही है, ग्रन्थों की दृष्टि से नहीं। इतने प्रकार के बुद्ध-उपदेश होते थे, यही इस वर्गीकरण का अभिप्राय है। अतः कहा जा सकता है

के 'आलोक' बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'अभिसमयालंकार' की टीका में बुद्ध-वचनों के बारह अंगों का उल्लेख इस प्रकार है, "सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्। इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्। उपदेशाद्भुतौ धर्मौ द्वादशांगमिदं वचः।" पृष्ठ ३५ (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बासठ, में बड़ौदा से डॉ० तुशी के सम्पादकत्व में प्रकाशित संस्करण)। चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् ने भी बौद्ध-शास्त्रों के बारह भागों का उल्लेख किया है। देखिए 'दि सूत्र ऑव हे-लेंग् (हुइ-नेंग्', पृष्ठ ३३ (वोंग् मो लम् का अनुवाद, नया संस्करण क्रिसमस हम्फ्रेज द्वारा, लुज़ाक एण्ड कं०, लन्दन, १९४४)।

कि यह केवल औपचारिक ही है और व्यावहारिक उपयोग में प्रायः नहीं आता। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण ८४००० धर्म-स्कन्धों के रूप में है। किन्तु यह भी बौद्धों की विश्लेषण-प्रियता का ही एक उदाहरण है। प्रयोग में यह भी अक्सर नहीं आता। साधारणतः हम तिपिटक और उसके उप-विभागों के रूप में ही बुद्ध-वचनों का अध्ययन करते हैं।

यह कहना कुछ आश्चर्यजनक भले ही जान पड़े, किन्तु ऐतिहासिक रूप से यह सत्य है कि बुद्ध-वचनों के उपर्युक्त चारों प्रकार के वर्गीकरणों का निश्चय तिपिटक के अन्तिम रूप से प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व में लेखबद्ध होने से बहुत पहले ही हो चुका था। तीनों पिटकों का निर्देश स्वयं तिपिटक में ही मिलता है, यह हम इस अध्याय के आरम्भ में ही कह आये हैं। अशोक के अभिलेखों ने यह बात अन्तिम रूप से प्रमाणित कर दी है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी-पूर्व से भी पहले बुद्ध-वचनों का कुछ उसी प्रकार का वर्गीकरण प्रचलित था, जैसा कि वह आज पालि तिपिटक में मिलता है। अशोक के अभिलेखों का पालि-साहित्य के विकास के सम्बन्ध में क्या साक्ष्य है, इसका विस्तृत विवेचन तो हम दसवें अध्याय में पालि के अभिलेख-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि अशोक के भाब्रू-अभिलेख में राहुलोवाद (लाघुलो-वादे) सुत्त आदि शीर्षकों से यही निश्चित होता है कि तीसरी शताब्दी ई० पू० में तिपिटक प्रायः अपने उसी वर्गीकरण और नामकरण के साथ विद्यमान था, जैसा वह आज है। कम से कम तिपिटक के प्राचीनतम अंशों (सुत्त-पिटक और विनय-पिटक) के विषय में तो ऐसा कहा ही जा सकता है। अशोक के बाद साँची और भरहुत (तीसरी या दूसरी शताब्दी ई० पू०) के स्तूपों के लेखों का साक्ष्य भी यही है। इन लेखों में 'पंचनेकायिक' (पाँच निकायों का ज्ञाता), 'भाणक' (पाठ करने वाला), 'सुत्तन्तिक' (सुत्त-पिटक का ज्ञाता), 'पेटकी' (पिटकों का ज्ञाता) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और जातक के कुछ दृश्य भी दिखाये गये हैं, जिनसे विद्वानों ने ठीक ही यह निष्कर्ष निकाला है कि बुद्ध-वचनों का तीन पिटकों और पाँच निकायों में आज का सा विभाजन इन अभिलेखों के युग से पहले ही निश्चित हो चुका था।[1] भाणकों और निकायों एवं तिपिटक के उपर्युक्त विभाजन की जो परम्परा अशोक

---

१. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १६७।

के काल से बहुत पहले से चली आ रही थी, उसके बाद भी अबाध गति से चलती रही। साँची के लेखों के अलावा मिलिन्द-प्रश्न[१] (प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व) और बाद में बुद्धघोष की अर्थकथाओं,[२] दीपवंस,[३] महावंस[४] आदि में उसके पूर्ण साक्ष्य मिलते है। बुद्ध-वचनों का नौ अंगों में विभाजन स्वयं तिपिटक को भी ज्ञात है[५] और बाद में न केवल मिलिन्द-प्रश्न,[६] अपितु बुद्धघोष की अर्थकथाओं[७] गन्धवंस,[८] दीपवंस,[९] आदि में भी उसका उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार बुद्ध-वचनों का ८४००० धर्म-स्कन्धों में विभाजन भी बहुत प्राचीन है। थेरगाथा (गाथा १०२९) में आनन्द ने कहा है कि ८४००० उपदेशों का ज्ञान उन्हें है, जिनमें से ८२००० उन्होंने बुद्ध से और २००० संघ से सीखे हैं। बुद्धघोष ने प्रथम संगीति में

---

१. तेपिटकं बुद्धवचनं, पृष्ठ १९; तेपिटका भिक्खु पंचनेकायिका पि च, चतुनेकायिका चेव, पृष्ठ २३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

२. धम्मपदट्ठकथा, जिल्द पहली, पृष्ठ १२९ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण) देखिये विण्टरनित्ज : इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७, पद-संकेत ३ भी।

३. ८।६; १२।८४; १३।७ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)।

४. १२।२९; १४।५८; १४।६३; १५।४ (गायगर का संस्करण)।

५. अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।२); अंगुत्तर-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७; १०३; १०८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)। पाराजिक पालि, पृष्ठ १० (श्री नालन्दा देवनागरी संस्करण, १९५८)।

६. नवंगजिनसासनं, पृष्ठ २२; नवंगे बुद्ध-वचने, पृष्ठ १६३; नवंगमनुमज्जन्तो, पृष्ठ ९३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

७. सुमंगलविलासिनी, जिल्द पहली, पृष्ठ २३; अट्ठसालिनी, पृष्ठ २२-२३ (देवनागरी संस्करण, पूना, १९४२)।

८. पृष्ठ ५५, ५७ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में प्रकाशित संस्करण)।

९. ४।१५ (ओल्डनबर्ग का संस्करण); देखिये महावंश, पृष्ठ १२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

ही उनका संगायन होना दिखलाया है[1] और अशोक द्वारा उनके सम्मान में ८४००० विहारों का बनवाया जाना (चतुरासीति विहारसहस्सानि कारापेसि) भी बौद्ध परम्परा में अति प्रसिद्ध है।[2] ये सभी तथ्य पालि तिपिटक के वर्गीकरण के साथ-साथ उसके काल-क्रम और प्रामाणिकता पर भी काफी प्रकाश डालते हैं।

ऊपर पालि साहित्य के उद्भव और विकास का वर्णन करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार तीन बौद्ध संगीतियाँ भारत में और बाद में तीन संगीतियाँ लंका में पालि तिपिटक के स्वरूप और पाठ के सम्बन्ध में हुई थी, जिनमें बुद्ध-वचनों का संगायन किया गया था। डा० विमलाचरण लाहा ने इन संगीतियों के अनुसार पालि तिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों के काल-क्रम को पाँच क्रमिक अवस्थाओं मे विभक्त करने का प्रयत्न किया है, जो इस प्रकार है—

प्रथम युग (४८३ ई० पू०—३८३ ई० पू०)
द्वितीय युग (३८३ ई० पू०—२६५ ई० पू०)
तृतीय युग (२६५ ई० पू०—२३० ई० पू०)
चतुर्थ युग (२३० ई० पू०—८० ई० पू०)
पंचम युग (८० ई० पू०—२० ई० पू०)[3]

इस प्रकार हम देखते है कि तिपिटक के जो प्राचीन से प्राचीन अंश हैं उनके स्वरूप का निश्चय ४८३ ई० पू० अर्थात् शास्ता के परिनिर्वाण के समय ही हो गया था, और जो अर्वाचीन से अर्वाचीन है वे भी २० ई० पू० के बाद के नहीं हैं, क्योंकि उस समय वे लेखबद्ध ही हो चुके थे, जब से वे उसी रूप में आज तक चले आ

---

१ समन्तपासादिका, जिल्द पहली, पृष्ठ २९; देखिये पीछे प्रथम संगीति का विवरण।

२. "राजा (अशोक) ने स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स से पूछा, 'बुद्ध के दिये गये उपदेश कितने हैं?' स्थविर ने उत्तर दिया, 'धर्म के चौरासी हजार स्कन्ध (विभाग) हैं।' यह सुनकर राजा ने कहा, 'मै प्रत्येक के लिये विहार बनवाकर उन सबकी पूजा करूँगा।' तदनन्तर राजा ने चौरासी हजार नगरों में.....विहार बनवाने आरम्भ किये।" महावंश ५।७६–८० (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

३. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १२–१३।

रहे हैं। इस प्रकार समष्टि रूप में तिपिटक की रचना की उपरली और निचली कोटियों का पूर्ण अनुमापन हो जाने पर भी उसके अलग-अलग ग्रन्थों के आपेक्षिक काल-क्रम का सवाल अभी रह ही जाता है। इसके लिये न केवल ऐतिहासिक विवेचन की ही किन्तु अलग-अलग ग्रन्थों की विषय-वस्तु के विवेचन की भी बड़ी आवश्यकता है, जिसे हम इस स्थल पर नहीं कर सकते। अतः जब हम आगे के अध्यायों में तिपिटक के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों या अंशों का विवेचन करेंगे तो उस समय उनके काल-क्रम का विवेचन भी हमारे अध्ययन का एक विशेष अंग होगा। हाँ, इस सम्बन्ध में जो पूर्व अध्ययन हो चुका है उसके परिणामों को यहाँ रख देना आवश्यक होगा। सब से पहले डा० रायस डेविड्स ने तिपिटक के काल-क्रम का विवेचन किया था। उन्होंने अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप पालि तिपिटक का बुद्ध-परिनिर्वाण-काल से लेकर अशोक के काल तक इन दस काल-क्रमिक अवस्थाओं में विभाजन किया था[1]—

१—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में ही तिपिटक के प्रायः सब ग्रन्थों की गाथाओं आदि में मिलते हैं।

२—वे बुद्ध वचन, जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं।

३—शील, पारायण, अट्ठकवग्ग, पातिमोक्ख।

४—दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर और संयुत्त निकाय।

५—सुत्त-निपात, थेर-गाथा, थेरी-गाथा, उदान, खुद्दक-पाठ।

६—सुत्त-विभंग, खन्धक।

७—जातक, धम्मपद।

८—निद्देस, इतिवुत्तक, पटिसम्भिदा।

९—पेतवत्थु, विमानवत्थु, अपदान, चरियापिटक, बुद्धवंस।

१०—अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ, जिनमें पुग्गलपञ्ञत्ति प्रथम और कथावत्थु अन्तिम हैं।

इस क्रम का कुछ परिवर्तन डा० विमलाचरण लाहा ने किया है। उनके मतानुसार तिपिटक के ग्रन्थों का काल-क्रम की दृष्टि से यह तारतम्य ठहरता है—

१—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में तिपिटक के प्रायः सब ग्रन्थों की गाथाओं आदि में मिलते हैं।

---

१. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १८८।

२—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं।

३—शील, पारायण, अट्ठकवग्ग, सिक्खापद।

४—दीघ-निकाय (प्रथम स्कन्ध), मज्झिम-निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय, पातिमोक्ख जिसमें १५२ नियम हैं।

५—दीघ-निकाय (द्वितीय और तृतीय स्कन्ध), थेरगाथा, थेरीगाथा, ५०० जातकों का संग्रह, सुत्त-विभंग, पटिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग।

६—महावग्ग, चुल्लवग्ग, पातिमोक्ख (२२७ नियमों का पूर्ण होना), विमान-वत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, कथावत्थु।

७—चुल्लनिद्देस, महानिद्देस, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त-निपात, धातुकथा, यमक, पट्ठान।

८—बुद्धवंस, चरियापिटक, अपदान।

९—परिवार-पाठ।

१०—खुद्दक-पाठ।[1]

तिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों या अंशों के काल-क्रम सम्बन्धी उपर्युक्त निष्कर्ष अपर्याप्त ही नहीं, स्वेच्छापूर्ण भी है। डा० रायस डेविड्स् द्वारा सुत्त-निपात जैसे प्राचीन ग्रन्थ को काल-क्रम की दृष्टि से पाँचवें स्थान पर रखना और डा० लाहा द्वारा उसे उदान और इतिवुत्तक के साथ सातवें स्थान पर रखना ही नहीं, बल्कि धातुकथा, यमक और पट्ठान जैसे आभिधम्मिक ग्रन्थों के साथ उसे वर्गबद्ध करना भारी स्वेच्छामय कार्य है। इसी प्रकार अन्य असंगतियाँ भी दिखाई जा सकती है। रायस डेविड्स् और लाहा दोनों ही विद्वानों ने भाषा-सम्बन्धी विकास को आधार मान कर, जिसका साक्ष्य कभी स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता, अपना काल-क्रम स्थापित किया है। वास्तव में तिपिटक के ग्रन्थों में पूर्वापरता स्थापित करने के लिये हमें पहले निश्चित करना होगा कि उसके कौन से अंश मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचन हैं और कौन से बाद के परिवर्तन या दोनों के मिश्रित स्वरूप। मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचनों में भी हमें बुद्ध के वर्षावासों के अनुसार उनके काल-क्रम का तारतम्य निश्चित करना पड़ेगा। यह कार्य उपर्युक्त दो विद्वानों ने नहीं किया है। केवल महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'बुद्ध-चर्या' में इस ढंग पर बुद्ध के कतिपय उपदेशों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया है।

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२।

किन्तु 'बुद्धचर्या' में सभी सुत्तों का उद्धरण शक्य न होने के कारण यह कार्य वहाँ अपर्याप्त रूप से ही हो सका है। पालि साहित्य के इतिहासकार के लिये बुद्ध-वचनों के काल-क्रम के निश्चय के लिये इससे अच्छा मार्ग-दर्शन नहीं मिल सकता। वास्तव में सद्धर्म के प्रथम संग्रहकार काल-चिन्तक थे ही नहीं। वे धर्म-चिन्तक थे। इसलिये काल-गणना के अनुसार उन्होंने सुत्तों का संग्रह नहीं किया है। न तो सुत्त-पिटक के सुत्त और न विनय-पिटक के विभिन्न भाग कालक्रमानुसार ग्रथित हैं। अभिधम्म के ग्रन्थों का तो कुछ कहना ही नहीं। मज्झिम-निकाय के गोपक-मोग्ग-ल्लान-सुत्त में हम आनन्द को भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ समय बाद गोपक-मोग्गल्लान ब्राह्मण से वार्तालाप करते देखते हैं और इसके ठीक बाद के सुत्त में (महापुण्णम-सुत्त में) हम देखते हैं कि भगवान् श्रावस्ती में मृगारमाता के प्रासाद पूर्वाराम में विहार कर रहे है। इसी प्रकार मज्झिम-निकाय के मधुर-सुत्त और घोटमुख-सुत्त बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ बाद के काल से सम्बद्ध है, परन्तु वे ऐसे सुत्तों के बीच में रक्खे हुए है जिनका सम्बन्ध बुद्ध के जीवन-काल से है। इस प्रकार के सुत्तों में हम मोटा काल-क्रम स्थापित कर सकते है, परन्तु स्वयं बुद्ध के उपदेशों का कालक्रमपरक वर्गीकरण हम उनके वर्षावासों के आधार पर ही कर सकते हैं, जिनका वर्णन अट्ठकथाओं में है। मोटे तौर पर हम इस तथ्य से भी कुछ सहायता ले सकते है कि बुद्ध के जीवन के अन्तिम आठ वर्ष अजातशत्रु के शासन में बीते और उसके पूर्व के बिम्बिसार के शासन में। इस प्रकार अंशतः हम तिपिटक के कुछ भागों या ग्रन्थों में काल-तारतम्य स्थापित कर सकते हैं। भाषा-साक्ष्य से भी कुछ सहायता ले सकते है, किन्तु अत्यन्त सावधानीपूर्वक। तिपिटक के जो अंश बुद्ध-वचन नहीं हैं, उनके काल-क्रम का निर्णय बाह्य साक्ष्य के आधार पर ही विशेषतः किया जा सकता है। उनमें वर्णित प्रसंग उनके कालक्रम पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इन सब तथ्यों का विवेचन करते हुए हमने तिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों के काल-क्रम का निश्चय करने का प्रयत्न किया है, जो आगे के अध्ययन से स्पष्ट होगा।

अनुपिटक-साहित्य का काल-विभाग

तिपिटक के कालक्रम की समस्या को मोटे रूप से समझने के बाद हमें अनुपिटक-साहित्य के भी काल-विभाग की रूपरेखा को समझ लेना आवश्यक है। वह उतनी दुरूह या विवादग्रस्त नहीं है। उसकी रेखाएँ बिलकुल स्पष्ट हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, अनुपिटक साहित्य की रचना तिपिटक के पूर्ण हो जाने के

बाद से प्रारम्भ हो कर वर्तमान काल तक चली आ रही है। इस इतने सुदीर्घ विकास में भी उसमें इतनी विभिन्नरूपता दिखाई नहीं पड़ती जितनी कि किसी भी साहित्य के सम्बन्ध में हो सकती थी। इसका कारण यह है कि इस साहित्य का केन्द्रीय बिन्दु बौद्ध धर्म—स्थविरवाद बौद्ध धर्म—का अध्ययन और विवेचन ही रहा है। फिर भी कालानुक्रम और प्रवृत्तियों के विकास की दृष्टि से इस सुदीर्घ काल के साहित्यिक इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईस्वी तक अर्थात् बुद्धघोष के आविर्भाव-काल तक चलता है।

इस युग में नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, सुत्तसंगह और मिलिन्दपञ्ह की रचना हुई, जिनमें मिलिन्दपञ्ह सब से अधिक प्रसिद्ध है। इतिहास का प्रसिद्ध ग्रन्थ दीपवंस भी इसी युग में लिखा गया। चूँकि 'बुद्धघोष' अनुपिटक-साहित्य में सब से बड़ा नाम है और बुद्धघोष ने एक युग-विधायक साहित्य की रचना की, अतः उनके काल के पहले इस दिशा में जितना काम हो चुका था उसे द्योतित करने के लिये इस युग के साहित्य को 'पूर्व-बुद्धघोष' युगीन साहित्य नाम दिया जा सकता है। अनुपिटक साहित्य के इतिहास का दूसरा युग बुद्धघोष के आविर्भाव-काल से आरम्भ होता है। बुद्धघोष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विसुद्धिमग्ग' और उनकी अर्थकथाओं के अतिरिक्त बुद्धदत्त, धम्मपाल आदि की अर्थकथाएँ भी इसी युग में लिखी गई। पालि तिपिटक पर अर्थकथाओं की रचना इस युग की प्रधान विशेषता है, जिसे प्रेरणा देने वाले आचार्य बुद्धघोष ही है। अतः इस युग का नाम 'बुद्धघोष-युग' दिया जा सकता है। इस युग की रचना ५वीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक चलती है। विशाल अर्थकथा-साहित्य के अतिरिक्त लंका का प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'महावंस' भी इसी युग में रचा गया। व्याकरण के क्षेत्र में कच्चान का व्याकरण और दर्शन एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनिरुद्ध (अनुरुद्ध) का प्रसिद्ध 'अभिधम्मत्थसंगह' भी इसी युग की रचनाएँ है। इस युग में जो अर्थकथा-साहित्य लिखा गया, उसी की टीकाएँ-अनुटीकाएँ बाद की शताब्दियों में लिखी जाती रहीं। यह बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक का सुदीर्घ युग है। प्रायः बुद्धघोष और उनके समकालीन आचार्यों के दिखाये हुए ढंग पर ही और उनके ही ग्रन्थों के उपजीवी स्वरूप साहित्य की रचना इस युग में होती रही है। अतः इस युग को 'बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग' नाम दिया जा सकता है। बारहवीं शताब्दी में राजा पराक्रमबाहु के समय में लंका में आचार्य बुद्धघोष आदि की अर्थकथाओं पर मगध-भाषा (पालि) में टीकाएँ

लिखने का आयोजन शुरू किया गया। प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनकी शिष्य-मंडली ने इस दिशा में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में बड़ा काम किया। मूल 'महावंस' का 'चूलवंस' के नाम से आगे परिवर्द्धन भी इसी युग की घटना है। १५वीं शताब्दी से बरमा में बौद्ध साहित्य के अध्ययन की बड़ी प्रगति हुई। बरमी भिक्षुओं के अध्ययन का प्रधान विषय 'अभिधम्म' रहा। इस दिशा में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दिये हैं, जिनमें 'अभिधम्मत्थ संगह' का एक लम्बा सहायक साहित्य है। व्याकरण-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गये। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ठीक वर्तमान समय तक लंका, बरमा, स्याम और भारत में ही नहीं, बल्कि कम्बोडिया और लाओस तक में अनुपिटक साहित्य की रचना होती चली आ रही है। इसका कुछ परिचय हम आठवें अध्याय में देंगे। भारत में हम अभी हाल में (सन् १९४७ में) परिनिर्वृत्त पूज्य आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी के नाम से सुपरिचित हैं। उन्होंने अनुपिटक साहित्य को दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ दिये हैं, एक 'विसुद्धिमग्गदीपिका' नामक 'विसुद्धि-मग्ग' की टीका और दूसरा 'अभिधम्मत्थसंगह' पर 'नवनीत-टीका'। इस वर्तमान काल में रचित साहित्य में भी यद्यपि बहुत सी बातों को आधुनिक ढंग से रखने का प्रयत्न किया गया है जो बहुत आवश्यक है, फिर भी आलोक और प्रामाणिक आधार तो बुद्धघोष की रचनाओं से ही लिया गया है। अतः बारहवीं शताब्दी से लेकर इस इतने अभिनव साहित्य को भी 'बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग' कहना अनुचित नहीं है।

तीसरा अध्याय

सुत्त-पिटक

पालि-तिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन है ?

पालि तिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन है, इस प्रश्न का अंशतः उत्तर पालि-भाषा के स्वरूप पर विचार करते समय (प्रथम अध्याय में) दिया जा चुका है। यदि पालि मागधी भाषा का वही स्वरूप है जिसे मध्य-देश में विचरण करते हुए भगवान् बुद्ध ने प्रयुक्त किया था, तो फिर इसमें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता कि पालि-तिपिटक बुद्ध-वचनों का सर्वाधिक प्रामाणिक रूप है। यदि आरम्भ से ही अनेक प्रान्तीय भाषाओं में बुद्ध-वचन सीखे जाते रहे हों तो भी हमारे पालि-माध्यम को प्राचीनतम होना ही चाहिये। पालि-तिपिटक का किसी दूसरी उपभाषा से अनुवाद हुआ है, लेवी के इस मत का खंडन पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार लूडर्स के उस मत का भी निराकरण किया जा चुका है जिसके अनुसार प्राचीन अर्द्धमागधी से, जिसके स्वरूप की अवतारणा स्वयं उनकी बुद्धि ने की है, पालि तिपिटक का अनुवाद हुआ है। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का यह मानना कि बुद्ध के उपदेश (जो मूलतः एक प्राच्या बोली में थे) बाद में पश्चिमी बोली में अनुवादित किये गये और उनका यह अनुवादित रूप ही पालि है,[1] लेवी और लूडर्स के मतों का ही अन्धानुसरण मात्र है, जिनका निराकरण हम पहले कर चुके है। किसने यह अनुवाद किया, कब किया, किसने करवाया, आदि प्रश्नों का उत्तर न तो लेवी, न लूडर्स और न सुनीति बाबू ने ही दिया है। न बौद्ध धर्म के इतिहास में ही इसका कोई उत्तर है। अतः पालि तिपिटक

---

१. "This western dialect into which Buddha's teachings were translated came to be known as Pāli".
दि ऑरीजिन एण्ड डिवेलपमेंट ऑव दि बंगाली लेंग्वेज, भाग प्रथम, पृष्ठ ५७ (कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२६)।

मूल बुद्ध-वचनों का एक प्राच्या बोली से पश्चिमी बोली में अनुवाद है, यह मत सर्वथा निराधार और अग्राह्य है। यह निर्विवाद है कि अशोक के समय अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व पालि-तिपिटक का भाषा और शैली की दृष्टि से वही स्वरूप था जो आज है। अशोक के अभिलेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी भाषा, उनमें निर्दिष्ट कुछ 'धम्म-पलियायों' के नाम, सब इसी तथ्य की ओर संकेत करते है कि तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व भारतीय जनता बुद्ध-वचनों के नाम से उसी संग्रह को पहचानती थी और आदरपूर्वक श्रवण और मनन करती थी, जिसे हम आज पालि-तिपिटक के नाम से पुकारते है। छन्द की दृष्टि से भी पालि-तिपिटक की प्राचीनता असंदिग्ध है। ओल्डनबर्ग ने कहा है कि पालि-तिपिटक की गाथाओं में प्रयुक्त छन्द वाल्मीकि-रामायण से अधिक प्राचीन होना चाहिये।[१] अतः भाषा और शैली के साक्ष्य के आधार पर पालि-तिपिटक बुद्ध-मुख से निःसृत वचनों का प्रामाणिकतम माध्यम ही हो सकता है।

विषय की दृष्टि से भी कोई बात उपर्युक्त साक्ष्य के विपरीत जाने वाली दिखाई नहीं पड़ती। पालि-तिपिटक में छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व के भारतीय जीवन की पूरी झलक मिलती है। गौतम बुद्ध का ऐतिहासिक व्यक्तित्व, उनका मानवीय रूप, वहाँ स्पष्टतम शब्दों में अंकित मिलता है। इस विषय में उसकी उत्तरकालीन महायान-ग्रन्थों से एक अद्भुत विशेषता है। उत्तरकालीन बौद्ध संस्कृत साहित्य में बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप पर जोर दिया गया है, जो इतिहास की दृष्टि से बाद का निर्माण ही हो सकता है। पालि-तिपिटक में मध्यदेश की ही प्रधानता है और उसी में चारिकाएँ करते हुए शास्ता को दिखाया गया है, जब कि महायानी ग्रन्थों में इसके विपरीत उनका लंका-गमन तक दिखा दिया गया है,[२] जो लोकोत्तर तथ्यों पर ही आश्रित हो सकता है। इसके अलावा

---

१. उनके मत के निर्देश के लिये देखिये विण्टरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३, पद-संकेत २; मिलाइये रायस डेविड्स और कारपेंटर द्वारा सम्पादित दीघ-निकाय, जिल्द दूसरी, प्रस्तावना, पृष्ठ ८ (पालि-टेक्सट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित); देखिये आगे सुत्त-निपात का विवेचन भी।

२. स्थविरवादी ग्रन्थ 'महावंस' में भी बुद्ध का तीन बार लंका-गमन दिखाया गया है, जो उतना ही अ-प्रामाणिक है।

पालि-तिपिटक में यथार्थवाद और विवेकवाद की प्रधानता है, जब कि महायानी साहित्य में अतिरंजनाओं और कल्पनाओं से भी बहुत काम लिया गया है। पालि में बुद्ध का मानव-रूप है। परन्तु उत्तरकालीन बौद्ध संस्कृत साहित्य में उनको एक लोकोत्तर और दैवी रूप दे दिया गया है। उदाहरणतः संयुत्त-निकाय के एक सुत्त (जरा-सुत्त) में हम बुद्ध को एक क्षीणकाय वृद्ध पुरुष के रूप में देखते हैं जो सन्ध्या समय पूर्वाराम विहार में पश्चिम की ओर पीठ किये धूप ले रहे हैं। महापरिनिब्बाण-सुत्त में हम उन्हें उदर-रोग से पीड़ित भी देखते है। एक बार बुद्ध को एक गाँव में भिक्षा भी नहीं मिली थी। बौद्ध संस्कृत साहित्य में बुद्ध का यह रूप नहीं मिलता। यहाँ बुद्ध सदा ही देव, नाग, यक्ष, गरुड़, किन्नर आदि से सत्कृत, गुरुकृत, पूजित हैं। 'अवदानशतक' में सहस्रों सूर्यों से अधिक उनके तेज को बताया गया है और कहा गया है कि चलते हुए वे एक संचरणशील रत्न-पर्वत के समान लगते है। "सूर्यसहस्रातिरेकप्रभं जंगममिव रत्नपर्वतम्।" अतः अपेक्षाकृत महत्व की दृष्टि से पालि-तिपिटक को ही बुद्ध के जीवन और उपदेशों को समझने का प्राचीनतम और प्रामाणिकतम साधन मानना पड़ता है।

इतिहास की दृष्टि से पालि-तिपिटक को ही एक मात्र सच्चा बुद्ध-वचन मानने में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि बुद्ध-धर्म के विकास की प्रथम शताब्दी में ही उसके अनेक विभाग हो गये थे। अशोक के काल तक ही कम से कम १८ सम्प्रदायों का उल्लेख है[1]। इन सभी सम्प्रदायों के अपने-अपने साहित्य थे, जिन्हें वे प्रामाणिक बुद्ध-वचन मानते थे।[2] पालि-तिपिटक इन्हीं प्राचीन सम्प्रदायों में से एक (स्थविरवाद—थेरवाद) की साहित्यिक निधि है। पालि-तिपिटक में निहित बुद्ध-वचन और उनकी अट्ठकथाएँ—इतना ही स्थविरवाद बौद्ध धर्म का साहित्यिक आधार है—"तेपिटकसंगहितं साट्ठकथं सब्बं थेरवादं ति"।[3] अन्य सम्प्रदाय वालों का बहुत-कुछ साहित्य लुप्त हो चुका है। मूल तो प्रायः किसी का भी मिलता ही नहीं। चीनी और तिब्बती अनुवादों से ही आज हमें उनकी कुछ जानकारी होती है। जिन

---

१. देखिये आगे पाँचवें अध्याय में 'कथावत्थु' का विवेचन।

२. लामा तारानाथ का कहना है कि मूल सर्वास्तिवाद का त्रिपिटक संस्कृत में था, महासंघिकों का प्राकृत में, स्थविर-सम्प्रदाय का पैशाची में और महासम्मितिय सम्प्रदाय का अपभ्रंश में।

३. समन्तपासादिका की बाहिरकथा।

सम्प्रदायों के साहित्य का इस प्रकार कुछ परिचय मिलता है, उनमें सर्वास्तिवादी (सब्बत्थिवादी) मुख्य है। यह एक प्रभावशाली सम्प्रदाय था जिसका आविर्भाव अशोक के समय से पहले ही हो चुका था। इस सम्प्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्म, तीनों पिटक मिलते है; किन्तु उनके चीनी और तिब्बती अनुवाद ही आज उपलब्ध हैं, मूल रूप में वे संस्कृत में थे, किन्तु आज उनका वह रूप उपलब्ध नहीं है। पालि-तिपिटक से इन सर्वास्तिवादी ग्रन्थों की तुलना की गई है, जिसके परिणाम-स्वरूप इन दोनों के विषय के सम्बन्ध में मूलभूत समानताएँ पाई गई है, केवल विषय-विन्यास में कहीं कुछ थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है।[1] यह बात सुत्त और विनय पिटक के सम्बन्ध में तो सर्वांश में सत्य है, किन्तु अभिधम्म-पिटक के विषय में दोनों परम्पराओं में ग्रन्थ-संख्या समान (सात) होते हुए भी उनमें से प्रत्येक की विषय-वस्तु की दूसरे की विषय वस्तु के साथ कोई विशेष समता नहीं है। इस प्रकार—

स्थविरवाद का सुत्त-पिटक	**सर्वास्तिवाद का सूत्र-पिटक**	
दीघ-निकाय (३४ सूत्र)	दीर्घागम	(३० सूत्र—प्रधानतः बुद्धयशस् (बोधियशस्) तथा चू० फा० नैन द्वारा पाँचवीं शताब्दी ई० में अनुवादित)
मज्झिम-निकाय (१५२ सूत्र)	मध्यमागम	(२२२ सूत्र—गौतम संघदेव द्वारा चौथी शताब्दी में अनुवादित)

---

१. **स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी सुत्त-पिटक के तुलनात्मक अध्ययन के लिये देखिये प्रसिद्ध जापानी विद्वान् मसाहरु अनेसाकि का "दि फोर बुद्धिस्ट आगम्स इन चाइनीज़" शीर्षक निबन्ध, ट्रांज़ैक्शन्स ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव जापान, जिल्द पैंतीसवीं (१९०८), भाग तृतीय में। केवल चीनी सर्वास्तिवादी मध्यमागम को लेकर उसके साथ पालि मज्झिम-निकाय के तुलनात्मक अध्ययन को अभी हाल में वियत-नाम के विद्वान् भिक्षु थिच् मिन्ह चाउ ने अपने शोध-प्रबन्ध का विषय बनाया है, जिस पर उन्हें बिहार विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि मिल चुकी है। अभी यह शोध-प्रबन्ध अप्रकाशित है।**

संयुत्त-निकाय (पाँच मुख्य वर्ग) संयुक्तकागम (५० अध्याय—पाँचवी शताब्दी में गुणभद्र द्वारा अनुवादित)

अंगुत्तर-निकाय (ग्यारह निपात) अंकोत्तरागम (या एकोत्तरागम (५२ अध्याय)—चौथी शताब्दी में धर्मनन्दि द्वारा अनुवादित)

खुद्दक-निकाय क्षुद्रकागम

पालि-तिपिटक में भी यद्यपि कभी-कभी दीघ-निकाय आदि के लिये दीघागम आदि शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु प्रधानतः 'निकाय' शब्द का ही प्रयोग होता है। सर्वास्तिवादियों के त्रिपिटक में 'आगम' शब्द का ही प्रयोग होता है। इसी का चीनी भाषा में 'अगोन्' हो गया है। सर्वास्तिवाद में यद्यपि प्रधानता प्रथम चार निकायों की ही है, किन्तु वहाँ पाँचवाँ निकाय भी मिलता है। उसका नाम पालि खुद्दक-निकाय के अनुरूप ही 'क्षुद्रकागम' है। पालि खुद्दक-निकाय के कितने ग्रन्थ सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में मिलते हैं, यह निम्नांकित सूची से विदित होगा।

स्थविरवादी खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ	**सर्वास्तिवादी परम्परा में प्राप्त ग्रन्थ**
१. खुद्दकपाठ	
२. धम्मपद	धर्मपदम्
३. उदान	उदानम्
४. इतिवुत्तक	
५. सुत्तनिपात	सूत्रनिपातः (विशेषतः अट्ठक और पारायण वग्ग)
६. विमानवत्थु	विमानवस्तु
७. पेतवत्थु	
८. थेरगाथा	स्थविरगाथा (खण्डित)
९. थेरीगाथा	
१०. जातक	
११. निद्देस	
१२. पटिसम्भिदामग्ग	

१३. अपदान
१४. बुद्धवंस — बुद्धवंशम्
१५. चरियापिटक

दोनों परम्पराओं के विनय-पिटक का विभाजन इस प्रकार है—

	स्थविरवादी विनय-पिटक		सर्वास्तिवादी विनय-पिटक
सुत्त-विभंग	१. पाराजिका (भिक्खु-विभग)	विनय-विभंग	पाराजिका (भिक्षु-विभंग)
	२. पाचित्तिय (भिक्खुनी विभंग		प्रायश्चित्तिकं (भिक्षुणी-विभंग)
खन्धक	३. महावग्ग	विनय-वस्तु	महावस्तु या विनय-महावस्तु
	४. चुल्लवग्ग		क्षुद्रकवस्तु या विनय-क्षुद्रक या विनय-क्षुद्रक-वस्तु
	५. परिवार-पाठ		विनय-उत्तर-ग्रन्थ

पालि अभिधम्म-पिटक के ७ ग्रन्थों के साथ सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के सात ग्रन्थों की, जहाँ तक उनके नामों का सम्बन्ध है, पर्याप्त समानता है, किन्तु विषय समान नही हैं। यथा,

स्थविरवादी अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ	सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थों के साथ उनके नामों की समानता
१. धम्मसंगणि	धर्मस्कन्धपाद
२. विभंग	विज्ञानकायपाद
३. पुग्गल पञ्ञत्ति	प्रज्ञप्तिपाद
४. धातुकथा	धातुकायपाद
५. पट्ठान	ज्ञानप्रस्थान
६. यमक	संगीतिपर्यायपाद
७. कथावत्थुपकरण	प्रकरणपाद

ऊपर स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी सम्प्रदायों के साहित्य की समानताओं का दिग्दर्शन मात्र किया गया है। पालि-तिपिटक के प्रत्येक पिटक या उसके अंशों का विवेचन करते समय आवश्यकतानुसार हम उनकी तुलना सर्वास्तिवादी

पिटक के अंशों के साथ करेंगे। अभी जो कहा जा चुका है, उससे इतना स्पष्ट है कि दोनों सम्प्रदायों के सुत्त और विनय-पिटक में काफी समानता है और जो विभिन्नतायें हैं वे प्रायः उसी प्रकार की हैं जैसी वेद की विभिन्न शाखाओं के पाठों में पाई जाती हैं। केवल अभिधम्म-पिटक की विषय-वस्तु में अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि पालि-तिपिटक के कम से कम वे अंश जो सर्वास्तिवादी त्रिपिटक से समानता रखते हैं, अर्थात् सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के अनेक महत्वपूर्ण अंश, सर्वांश में प्रामाणिक है और उनके बुद्ध-वचन होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। इसी अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि पालि-अभिधम्म-पिटक की प्रमाणवत्ता निश्चय ही सुत्त और विनय के बाद की रह जाती है, कम से कम उसके विषय में सन्देह तो दृढ़मूल हो ही जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हम पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक की समीक्षा करते समय करेंगे। सर्वास्तिवादी और स्थविरवादी परम्पराओं में जिन बातों पर मत-भेद है अथवा उनके साहित्य में जहाँ विभिन्नता है, वहाँ हमें यह सोचना पड़ेगा कि किस का साक्ष्य अधिक प्रभावशाली और मानने योग्य है। हम पहले देख चुके हैं कि स्थविरवादी तिपिटक के स्वरूप का अन्तिम निश्चय और स्थिरीकरण अशोक के काल में अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व हो चुका था और उसी समय से वह लंका में उसी रूप में सुरक्षित रहा है। कम से कम प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व (वट्टगामणि अभय का समय—मिलिन्दपञ्ह का समय भी) के बाद तो उसमें एक अक्षर का कहीं परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ ही नहीं है। इसके विपरीत सर्वास्तिवादी साहित्य की परिस्थिति बड़ी संकटग्रस्त और असमंजसमय रही है। पहले तो अशोक ने ही स्थविरवादियों के अतिरिक्त सारे बौद्ध सम्प्रदायों के अनुयायियों को मिथ्यावादी समझ कर प्रव्रज्या-हीन कर दिया था।[१] फिर शुंग राजाओं के काल में उन पर जो आपत्तियाँ ढाई गई, उनसे तो अपनी मूल परम्परा से उनका कदाचित् विच्छेद ही हो गया। सम्भवतः यही कारण है कि उनके मूल विशाल साहित्य का, जो संस्कृत में था, आज कोई पता नहीं चलता और वह केवल चीनी अनुवादों में सुरक्षित है। आज पुरातत्व का कोई भी भारतीय विद्यार्थी धार्मिक कट्टरता के परिणामस्वरूप उत्पन्न इस ज्ञान-विलुप्ति के लिए लज्जित हुए बिना नहीं रह सकता। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की साहित्य-विलुप्ति के अन्य चाहे जो कारण दिये जा सकें, वह भारतीय संस्कृति की उदारता और

---

१. देखिये महावंश ५।२६८-२७०

धर्म-सहिष्णता की एक कटु टिप्पणी भी अवश्य है। 'पुष्यमित्र'[1] नाम तक के प्रति चीनी बौद्ध साहित्य में जो गहरी अवज्ञा का भाव विद्यमान है, वह इस साहित्य-विलुप्ति से असम्बन्धित नहीं हो सकता। यहाँ कहने का तात्पर्य यही है कि अपनी मूल परम्परा से विच्छिन्न होकर ही सर्वास्तिवाद बौद्ध धर्म चीन और अन्य देशों में गया, अतः उसकी प्रामाणिकता स्थविरवाद के सामने कुछ नहीं हो सकती। सर्वास्तिवादी ग्रन्थों के चीनी और तिब्बती अनुवाद भी ईसवी सन् के कई सौ वर्ष बाद हुए, अतः इस दृष्टि से भी उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन की काफी संभावना हो सकती है। फिर बौद्ध धर्म जहाँ-जहाँ गया, वह अपनी समन्वय-भावना को भी अपने साथ लेता गया और जिन-जिन देशों में उसका प्रसार हुआ, उनके लोक-गत विश्वासों का भी उसके अन्दर समावेश होता गया। अतः इस प्रवृत्ति के कारण भी सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के साहित्य में विभिन्नताएँ आ सकती हैं, जिनके मौलिक या उत्तरकालीन परिवर्द्धित होने का निर्णय हम उनके मूल के अभाव में नहीं कर सकते। भाषा के साक्ष्य पर भी हम उसे पालि-माध्यम के साथ मिला कर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। अतः दोनों के तुलनात्मक महत्व और प्रामाण्य का अंकन अभी हम अनिश्चित रूप से ही कर सकते हैं। फिर भी जो कुछ तथ्य उपलब्ध हैं, उनसे यही विदित होता है कि सर्वास्तिवादी माध्यम की अपेक्षा स्थविरवादी माध्यम ने ही बुद्ध-वचनों की अधिक सच्ची और प्रामाणिक अनुरक्षा की है। सर्वास्तिवादियों का जो विनय या उसका एक बड़ा अंश गिलगित पाण्डुलिपियों (गिलगित मेनुस्क्रिप्ट्स) के रूप में मिला है और अन्य तिब्बती और मध्य-एशिया के स्रोतों से भी जिसकी प्राप्त हुई है, उसके अध्ययन से यही विदित होता है कि वह पालि विनय-पिटक की तुलना में बौद्ध धर्म और संघ की एक अपेक्षाकृत बाद की अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। सर्वास्तिवादियों के अतिरिक्त अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में, जिनकी उत्पत्ति अशोक के काल तक हो चुकी थी और जिनके

---

१. प्रसिद्ध शुङ्गवंशीय राजा, जिसने बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये, जिनके कारण अनेक बौद्धों को देश छोड़ कर बाहर भाग जाना पड़ा। केवल आन्ध्र, सौराष्ट्र, पंजाब, कश्मीर और काबुल में बौद्ध धर्म इस समय रह गया। चीनी बौद्ध साहित्य में बिना अभिशाप के 'पुष्यमित्र' का नाम नहीं लिया जाता। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ८२०।

साथ ही स्थविरवादियों से जीवित सम्बन्ध की कल्पना हम कर सकते हैं, हमें महत्व-पूर्ण कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी भी परम्पराएँ थीं अवश्य, किन्तु आज वे हमारे लिये प्राप्त नहीं हैं। सातवीं शताब्दी ईसवी के चीनी यात्री इ-त्सिंग् ने (जिसके यात्रा-विवरण में बौद्ध साहित्य सम्बन्धी ही नहीं, बल्कि सामान्यतः प्राचीन भारतीय साहित्य सम्बन्धी दुर्लभ सामग्री भरी पड़ी है) लिखा है कि उसके समय में बौद्ध धर्म के प्राचीन अठारह सम्प्रदाय मुख्य चार निकायों में संगठित हो गये थे, जिनकी अपनी अलग-अलग साहित्यिक परम्पराएँ थीं। ये चार मुख्य निकाय थे, (१) आर्य महासंघिक निकाय, (२) आर्य स्थविर निकाय, (३) आर्य मूलसर्वास्तिवाद निकाय, और (४) आर्य सम्मितिय निकाय। इन चारों में क्रमशः सात, तीन, चार और चार पूर्वकालीन निकाय अन्तर्भावित थे। अर्थात् कुल अठारह। इन चारों के अपने अलग-अलग त्रिपिटक थे, ऐसा इ-त्सिंग् ने लिखा है। इ-त्सिंग् के अनुसार आर्य महासंघिक निकाय के त्रिपिटक में तीन लाख श्लोक थे, अर्थात् प्रत्येक पिटक में एक-एक लाख। आर्य स्थविर निकाय के त्रिपिटक में इतने ही श्लोक थे और इतने ही थे आर्य मूलसर्वास्तिवाद के त्रिपिटक में भी। आर्य सम्मितिय निकाय के त्रिपिटक में दो लाख श्लोक थे, जिनमें से ६०,००० श्लोक केवल विनय-पिटक में थे। इन चारों निकायों का भौगोलिक विवरण भी इ-त्सिंग् ने दिया है। मगध में सामान्यतया चारों निकायों के अनुयायी पाये जाते थे, फिर भी सर्वा-स्तिवाद का बोलबाला था। लाट (गुजरात) और सिन्धु देश में सम्मितिय निकाय की बहु संख्या थी, यद्यपि अन्य निकायों के भी कुछ अनुयायी पाये जाते थे। उत्तर भारत के प्रायः सब निवासी सर्वास्तिवाद निकाय के अनुयायी थे, यद्यपि कहीं-कहीं महासंघिक निकाय के अनुयायी भी पाये जाते थे। दक्षिण में सर्वत्र स्थविर-निकाय का प्रचार था, यद्यपि कुछ अनुयायी दूसरे निकायों के भी थे। पूर्वी सीमान्त के प्रदेश में चारों निकायों के अनुयायी साथ-साथ मिलते थे।[1] आज इन निकायों के त्रिपिटकों की हमारी कोई जानकारी नहीं है। हाँ, चीनी अनुवादों में इनके क्षीण साक्ष्य अवश्य सुरक्षित हैं। इस प्रसंग में यह बात लक्ष्य करने योग्य है कि लामा तारानाथ (चौदहवीं शताब्दी) ने

---

१. जे० तकाकुसुः ए रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट रिलिजन ऐज प्रेक्टिज्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया आर्किपेलेगो, पृष्ठ ७-९ (आक्सफर्ड, १८९६)

भी उपर्युक्त चारों सम्प्रदायों का उल्लेख किया है और कहा है कि सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का त्रिपिटिक संस्कृत में था, महासंघिक का प्राकृत में, स्थविर सम्प्रदाय का पैशाची में और महासम्मितिय सम्प्रदाय का अपभ्रंश में।

द्वितीय संगीति के अवसर पर ही, जैसा हम पहले देख चुके हैं,[१] महासंगीतिक भिक्षुओं ने सुत्त और विनय के कुछ अंशों के अतिरिक्त सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक की ही प्रमाणवत्ता स्वीकार नहीं की थी। उन्होंने विनय-पिटक के परिवार और सुत्त-पिटक के पटिसम्भिदामग्ग, निद्देस और जातकों के कुछ अंशों को भी प्रामाणिक नहीं माना था। अभिधम्म-पिटक के अस्वीकरण में सर्वास्तिवादी और महासंगीतिक भिक्षु समान ही थे। अतः हमें उसके विषय में गम्भीरतापूर्वक सोचना पड़ेगा कि उसे कहाँ तक बुद्धवचन के रूप में प्रामाणिक माना जाय। यही स्थिति जातक, निद्देस और पटिसम्भिदामग्ग की भी है। इस सूची को और भी काफी बढ़ाया जा सकता है। उदाहरणतः थेरगाथा और पेतवत्थु जैसे ग्रन्थों में ऐसे आन्तरिक साक्ष्य हैं,[२] जिनके आधार पर उन अंशों को बुद्ध-परिनिर्वाण से दो या तीन शताब्दी बाद की रचना ही माना जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि पालि-तिपिटक की प्रमाणवत्ता का एकांशेन उत्तर नहीं दिया जा सकता। उसके कतिपय अंश (जैसे महापरिनिब्बाण-सुत्त, धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त आदि, आदि) अत्यन्त प्राचीन हैं और उनमें बुद्ध के प्रत्यक्ष जीवन और उपदेशों की सजीव और सर्वांश में सच्ची प्रतिमूर्ति मिलती है। कुछ शास्ता के परिनिर्वाण के ठीक बाद के हैं (जैसे मज्झिम-निकाय के गोपक-मोग्गल्लान-सुत्त, घोटमुख-सुत्त और मधुर-सुत्त तथा दीघ-निकाय का सुभ-सुत्त) और कुछ एक-दो शताब्दियों बाद की परम्पराओं को भी अंकित करते हैं, किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। सुत्त और विनय-पिटक का अधिकांश भाग तो बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन और उपदेशों तक ही सीमित है। जो अंश बाद के भी हैं, वे भी अशोक के काल तक ही अपना अन्तिम स्वरूप प्राप्त कर लेते है। भाषा और शैली एवं पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम पूर्ववर्ती और परवर्ती तत्त्वों को अलग-अलग कर सकते हैं। उदाहरणतः सुत्तों का पारस्परिक मिलान कर के हम जान सकते है कि किस मौलिक नमूने का आश्रय लेकर किस सुत्त को किस प्रकार परिवर्द्धित स्वरूप प्रदान किया गया है। यही

---

१. दूसरे अध्याय में।

२. देखिये आगे इसी अध्याय में खुद्दक-निकाय का विवेचन।

हाल विनय के नियमों का है। उनमें परिवर्द्धन हुआ है। विनय के सभी नियम शास्ता के मुख से निकले हुए नहीं हो सकते। कुछ मौलिक आधारों को लेकर शेष की सृष्टि कर ली गई है और उनको प्रामाणिकता देने के लिये बुद्ध-वचन के रूप में प्रख्यापित कर दिया गया जान पड़ता है। अन्यथा मानवीय विचार को इतनी अधिक स्वतन्त्रता देने वाले के द्वारा जीवन की छोटी से छोटी क्रियाओं में विधान प्रज्ञापन करना संगत नहीं बैठता। शिष्यों पर उनके प्रभाव को देखते हुए भी उनकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अतः वे बुद्ध-धर्म के विकास से सम्बन्धित हैं, यह हम आसानी से जान सकते हैं। बौद्ध संगीतियों के इतिहास ने भी हमें यही बताया है कि उसके स्वरूप का पूर्ण निर्धारण द्वितीय संगीति के समय ही हुआ जो बुद्ध-परिनिर्वाण से १०० वर्ष बाद हुई। अतः एक सीमित किन्तु निश्चित अर्थ में ही हम पालि-तिपिटक (विशेषतः सुत्त और विनय) को बुद्ध-वचन कह सकते है जिसे ढूँढ़ने के लिये हमें काफी समालोचना-बुद्धि और साथ ही श्रद्धा-बुद्धि की भी आवश्यकता है।

समालोचना-बुद्धि के साथ-साथ श्रद्धा-बुद्धि की आवश्यकता इसलिये है कि हम भारतीयों को पालि-साहित्य का परिचय पश्चिमी विद्वानों ने ही प्रारम्भिक रूप से कराया है और पश्चिमी विद्वानों को भारतीय ज्ञान और साहित्य को जानने की इच्छा उस समय हुई जब वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में सन्देहवाद का बोलबाला था। इसमें सन्देह नहीं कि बिना सन्देह के ज्ञान नहीं हो सकता और प्रत्येक ज्ञान के पहले सन्देह होना आवश्यक है। किन्तु सन्देह ही ज्ञान का रूप धारण कर ले, तो यह ज्ञान का अपलाप है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् इस स्थिति से शायद ही ऊपर उठ पाये हैं। उनकी प्रत्येक अभिज्ञा और जानकारी में सन्देह समाया हुआ है। पालि-स्वाध्याय के प्राथमिक युग में बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व तक के सम्बन्ध में उनमें से कई ने (उदाहरणतः फ्रैंक, सेनाँ, बार्थ आदि ने) सन्देह प्रकट किया था। तिपिटक के वर्णनों में थोड़े-बहुत विरोध पाये जाते हैं। इन विरोधों का संग्रह फ्रैंक के द्वारा किया गया है। पर उनमें से कई वास्तविक विरोध नहीं भी हैं। अस्तु, जो भी विरोध हैं, उनका कारण क्या है? जैसा पहले दिखाया जा चुका है, बुद्ध-धर्म के प्राथमिक विकास में बुद्ध-वचनों की परम्परा बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद कई शताब्दियों तक मौखिक परम्परा में चलती रही। अतः अनेक विरोध (बुद्ध-वचनों का संगायन करने वाले भिक्षुओं की) स्मृति-हानि के कारण ही हैं। उन पर अनावश्यक जोर देना बुद्ध-वचनों के संरक्षण-प्रकार से ही अपनी अनभिज्ञता

दिखाना है। एक ही उपदेश को बुद्ध या उनके किसी शिष्य के मुख से दिया हुआ दिखलाने में या भिन्न-भिन्न स्थानों में दिया हुआ दिखलाने में कोई विरोध नहीं है। यह तो ऐतिहासिक रूप से सत्य भी हो सकता था। भगवान् अपनी चारिकाओं में चतुरार्य सत्य जैसे प्रमुख उपदेशों की पुनरावृत्ति भिन्न-भिन्न स्थानों में करते ही रहे होंगे और फिर उनके शिष्य भी इसी प्रकार करते हुए विचरते होंगे, यह समझना कठिन नहीं है। भिन्न-भिन्न स्थानों के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा ही बुद्ध-वचनों का संगायन और संकलन हुआ है, अतः इसमें अस्वाभाविक क्या है ? बल्कि यह तो उनके सत्य और ऐतिहासिक रूप से प्रमाण होने का एक प्रबल साक्ष्य है। कौन सा उपदेश किस स्थान पर दिया गया, किसके प्रति दिया गया, किस अवसर पर दिया गया, इतनी छानबीन के साथ बुद्ध-वचनों को उनके उसी रूप में संरक्षित रखना भिक्षुओं की महती ऐतिहासिक बुद्धि का साक्ष्य देता है। निश्चय ही इतने अधिक ब्यौरों के साथ बुद्ध-वचनों का संरक्षण करने में कुशल भिक्षुओं ने जो दक्षता दिखाई है, वह उनके समय को देखते हुए आश्चर्यजनक है। इसके लिये हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिये। उनके द्वारा दी हुई सूचना पर सन्देह करना ही मात्र ऐतिहासिक प्रणाली नहीं होगी। कम से कम यह मानना पड़ेगा कि वे धर्मवादी थे और भगवान् बुद्ध के वचनों की रक्षा करना ही उनका प्रधान उद्देश्य था। अतः उनके द्वारा संगृहीत वचनों में मानवीय स्मरण-शक्ति की स्वाभाविक अल्पता के कारण कहीं अशुद्धि या अपूर्णता भले ही रह गई हो, किन्तु जो कुछ उन्होंने सुना था उसी का अत्यन्त सावधानी के साथ उन्होंने संगायन किया था, इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा। जो उन्होंने संगायन किया था, उसी का संगृहीत रूप आज हमें पालि तिपिटक में मिलता है, यह भी निःसन्देह ही है। सर्वांश में पालि-तिपिटक बुद्ध-वचन है, ऐसी मान्यता तो स्वयं पालि-तिपिटक की भी नहीं है। वहाँ स्पष्टतम रूप से दिखा दिया गया है कि कौन से वचन सम्यक् सम्बुद्ध के हैं, कौन से वचन उनके शिष्यों के हैं, अथवा कौन से वचन अन्य व्यक्तियों के भी हैं। हम पहले देख चुके हैं कि स्वयं आनन्द ने ८४,००० धर्म-स्कन्धों में से ८२००० बुद्ध से और २००० संघ से प्राप्त बताये हैं। "द्वासीतिं बुद्धतो गण्हि द्वे सहस्सानि भिक्खुतो।" आचार्य बुद्धघोष ने भी अट्ठसालिनी की निदान-कथा में आनन्द की इस उक्ति को उद्धृत किया है। सब सुत्त बुद्धोपदिष्ट नहीं हैं। अनेक उनके शिष्यों के हैं। बाहितिय-सुत्त का उपदेश आनन्द ने प्रसेनजित् को दिया था। मधुर-सुत्त का आयुष्मान् कात्यायन ने मथुरा के राजा अवन्तिपुत्र को। घोटमुख-सुत्त स्थविर उदयन का घोटमुख

ब्राह्मण को दिया गया उपदेश है। चूल-वेदल्ल-सुत्त में हम उपासक विशाख को भिक्षुणी धम्मदिन्ना से धार्मिक संलाप करते देखते हैं। दीघ-निकाय के सुभ-सुत्त में आनन्द का माणवक सुभ तोदेय्यपुत्त से संलाप है। महावेदल्ल-सुत्त में धर्मसेनापति सारिपुत्र और महाकोट्ठित का संलाप है। इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है। स्फुट सुत्त ही नहीं, थेर-थेरी गाथाएं, पटिसम्भिदामग्ग, निद्देस और कथावत्थु जैसे पूरे के पूरे ग्रन्थ श्रावक-भाषित हैं और उन्हें ऐसा ही पालि-परम्परा आरम्भ से मानती आई है। अतः जब हम पालि-तिपिटक को बुद्ध-वचन कहते हैं, तो उसका अर्थ यही होता है कि वहाँ बुद्धकालीन भारत के देश-काल की पृष्ठभूमि में बुद्ध के जीवन और उपदेशों का सजीव और मौलिक चित्र मिलता है और जो बुद्ध-वचन वहाँ बुद्ध-मुख से निःसृत दिखाये गये हैं, वे प्रायः वैसे ही हैं। अशोक उन्हें ऐसा ही मानता था और अशोक बुद्धिवादी व्यक्ति नहीं था, ऐसा हम नहीं कह सकते। जब बुद्ध-परिनिर्वाण की तीसरी शताब्दी में उत्पन्न होकर अशोक को बुद्ध-वचनों के निश्चित स्वरूप के विषय में पूर्ण सन्तोष हो गया था तो उसकी कई शताब्दियों बाद आने वाले हम, जब काल ने बहुत से पुरावृत्त को और भी ढँक लिया है, अशोक की सम्पत्ति के ही साझीदार क्यों न बन जायँ? यहाँ कुछ भय नहीं है। अभी तक हमने संस्कृत के आधार पर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया है। उसके तात्त्विक दर्शन के विषय में चाहे जो कुछ कहा जाय, परन्तु बुद्ध के ऐतिहासिक मानवीय व्यक्तित्व के प्रभावशाली सम्पर्क से तो हम अभी तक प्रायः वञ्चित ही रहे हैं। आज हमने महिन्द (महेन्द्र) के द्वारा सिंहल को जो दिया था, सिंहल उसका प्रतिदान करने को प्रस्तुत है। उसने बड़े प्रयत्न और गौरव से हमारे दान को सुरक्षित रक्खा है। आज उसकी थाती हमारे लिये खुली हुई है। यहाँ हम बुद्ध और उनके पाद-मूल में बैठने वाले शिष्यों के साक्षात् दर्शन कर सकते हैं, उनके उपदेश सुन सकते हैं, जिस प्रकार के देश-काल में वे विचरते थे, उसका दिग्दर्शन कर सकते हैं। बुद्ध-वचनों की स्मृतियों के साथ यद्यपि यहाँ बहुत-कुछ और भी अंकित है, और कहीं-कहीं कुछ बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद का भी है, किन्तु उस सब का उपयोग बुद्ध-वचनों के लिये ही है जो स्वयं वहाँ अपनी पूर्ण विभूति और मौलिक गौरव में उपस्थित हैं और काफी हद तक उसका अनुमोदन भी करते हैं। पालि-तिपिटक के इस गौरवमय अंश के कारण ही हम उसके सारे रूप को भी 'बुद्ध-वचन' कहते हैं, जो यद्यपि अक्षरशः सत्य नहीं, किन्तु सत्य की महिमा और अनुभूति से व्याप्त अवश्य है।

सुत्त-पिटक का विषय, शैली और महत्त्व

पालि-तिपिटक का सब से अधिक महत्वपूर्ण भाग सुत्त-पिटक ही है। बुद्ध के धम्म का याथातथ्य रूप में परिचय कराना ही सुत्त-पिटक का एक मात्र विषय है। हम जानते हैं कि बुद्ध के परिनिर्वाण तक धम्म और विनय अथवा अधिक ठीक कहें तो सामासिक 'धम्म-विनय' की ही प्रधानता थी। उसी की शरण में शास्ता ने भिक्षुओं को छोड़ा था।[१] बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद उनके शिष्यों ने बुद्ध-वचनों के नाम से जिनका संगायन किया, वह धम्म और विनय ही थे। "धम्मं च विनयं च संगायेय्याम"। अतः पालि-तिपिटक में अधिक महत्त्वपूर्ण तो धम्म और विनय ही हैं। इनमें संघ-अनुशासन की दृष्टि से विनय मुख्य है, किन्तु साहित्य और इतिहास की दृष्टि से सुत्त-पिटक का ही महत्व अधिक मानना पड़ेगा। पालि-साहित्य के कुछ विवेचकों ने विनय-पिटक को ही अपने अध्ययन में पहले स्थान दिया है।[२] यह भिक्षु-संघ की परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। आचार्य बुद्धघोष ने तिपिटक के प्रसंग में प्रायः सर्वत्र विनय का उल्लेख पहले किया है। किन्तु हम यहाँ सुत्त-पिटक के विवेचन को पहले ले रहे हैं। इसका कारण उसका साहित्यिक, ऐतिहासिक और अन्य सभी दृष्टियों से प्रभूत महत्व ही है। जिन पाश्चात्य विद्वानों ने पालि तिपिटक की प्रामाणिकता में सन्देह किया है, उनमें मिनयेफ, बार्थ, स्मिथ और कीथ के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।[३] इनमें भी मिनयेफ सब से अधिक उग्र हैं। उन्होंने दीघ और मज्झिम जैसे निकायों को भी एक-एक रचयिता की रचना बता कर उनके बुद्ध-वचनत्व और बौद्ध संगीतियों की सारी परम्परा को एक साथ ही फूंक मार कर उड़ाने की कोशिश की थी। किन्तु इतने सन्देहवाद तक यूरोपीय विद्वान् भी जाने को तैयार नहीं थे। अतः उनमें से बहुत ने मिनयेफ की गलत धारणा

---

१. "आनन्द! मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं, प्रज्ञप्त किये हैं, वही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे।" महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ०२।३)

२. गायगर, विंटरनित्ज और लाहा ने विनय-पिटक को ही पहले लिया है। पूज्य भदन्त आनन्द जी के आदेशानुसार मैंने यहाँ सुत्त-पिटक को पहले लिया है, जो साहित्यिक दृष्टि से अधिक समुचित भी है।

३. इनके ग्रन्थ-संकेतों के लिये देखिये विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १, पद-संकेत १; गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत २।

का कड़ा प्रतिवाद किया, जिसके फलस्वरूप स्वयं मिनयेफ को भी अन्त में अपना मत कुछ हद तक बदलना पड़ा। हमें इन यूरोपीय विद्वानों के मतों या उनके प्रतिवादों के संग्रह करने का यहाँ प्रलोभन नहीं है। हमें केवल यह देखना है कि अन्ततः किन कारणों के आधार पर इन्होंने पालि-तिपिटक की प्रामाणिकता में सन्देह किया था और वे कारण किस हद तक उस परिणाम पर पहुँचने में सही या गलत हैं। ये कारण अपने संगृहीत रूप में इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं, (१) अशोक के काल के बाद भी तिपिटक में संशोधन और परिवर्तन होते रहे, (२) अतः पालि-तिपिटक में प्राचीन और अर्वाचीन काल की परम्पराएँ मिल गई हैं, (३) पालि-तिपिटक के वर्णनों में अनेक विरोध हैं, जैसे संयुत्त-निकाय के चुन्द-सुत्त में भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही उनके प्रधान शिष्य सारिपुत्र का परिनिर्वाण होना दिखलाया गया है, किन्तु दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण-सुत्त में भगवान् के महापरिनिर्वाण के ठीक पहले वे (सारिपुत्र) उनके विषय में उद्‌गार करते दिखाये गये हैं। यदि पहला वर्णन ठीक है तो दूसरे अवसर पर सारिपुत्र जीवित नहीं हो सकते थे। अतः दोनों वर्णनों में स्पष्ट विरोध है। (४) एक जगह जो उपदेश बुद्ध-मुख से दिलवाया गया है, वही उपदेश दूसरी जगह उनके किसी शिष्य के मुख से दिलवा दिया गया है। अथवा एक जगह जिस उपदेश को किसी एक ग्राम, नगर या आवास में दिया गया दिखाया गया है, दूसरी जगह उसी उपदेश को किसी दूसरे ग्राम, नगर या आवास में दिया हुआ दिखा दिया गया है। इस प्रकार तिपिटक के वर्णनों में सामंजस्य का अभाव दिखाया गया है। जहाँ तक प्रथम आपत्ति का प्रश्न है,वह सर्वथा निराधार है। मुख्य रूप से तिपिटक के स्वरूप में अशोक के काल के बाद कोई परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं हुआ है, इस पर हम भाषा और इतिहास आदि के साक्ष्य से इतना जोर दे चुके हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक निरूपण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। महेन्द्र और उनके साथी भिक्षु जिस रूप में तिपिटक को लंका में ले गये, उसको उसी रूप में संरक्षित रखना वहाँ के भिक्षु-संघ ने सदा अपना कर्तव्य और गौरव माना है। यह तथ्य कितना सार्थक है कि वट्ट-गामणि अभय के समय में तिपिटक को ताड़-पत्रों पर लेखबद्ध करते समय एक सौ बार सावधानीपूर्वक लेख का निरीक्षण किया गया था। लंका के देश-काल का थोड़ा-सा भी प्रभाव तिपिटक पर उपलक्षित नहीं है, यह एक विस्मयकारी वस्तु है। यदि थोड़े-बहुत परिवर्तन कहीं हुए भी हों तो वे इतने महत्वपूर्ण कभी नहीं कहे जा सकते कि उसके प्राचीन रूप को ही ढँक लें। पालि-तिपिटक में अशोक से पहले की परम्पराओं

का तारतम्य तो हो सकता है, किन्तु उसके बाद की परम्पराओं का भी उसके अन्दर समावेश हो, यह तो पहले आक्षेप का निराकरण हो जाने के बाद ही नहीं माना जा सकता। तृतीय संगीति के समय ही हमें पालि-तिपिटक के स्वरूप को अन्तिम रूप से निश्चित और पूर्ण समझ लेना चाहिये, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। अस्तु, सुत्त-पिटक में भगवान् के उपदेश निहित हैं। 'सुत्त-पिटक' शब्द का क्या अर्थ है, यह भी हमें यहाँ समझ लेना चाहिये। सुत्त का अर्थ है सूत या धागा और पिटक का अर्थ है पिटारी[1] या परम्परा[2]। 'पिटक' शब्द के इन्हीं दो अर्थों को आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठसालिनी की निदान-कथा में स्पष्ट किया है। "पिटकं पिटकत्थविदू परियत्तिभाजनत्थतो आहु।" पिटक बुद्ध-वचनों के भाजन-स्वरूप हैं और उनकी 'परियत्ति' या 'परम्परा' को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने वाले भी। चूँकि पिटारी का प्रयोग लिखित ग्रन्थों को रखने के लिये ही हो सकता है और बुद्ध-वचन ईसवी-पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले लिखे नहीं गये थे, अतः इस समय से पहले उनके लिये 'पिटारी' शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं हो सकता था।[3] मौलिक रूप में इस अर्थ में बुद्ध-वचनों के विशिष्ट ग्रन्थों के लिये 'पिटक' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता था। पूर्व काल में लाक्षणिक अर्थ में 'पिटक' शब्द का प्रयोग परम्परा के लिये होता था। जैसे पिटारी में रख कर कोई वस्तु एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुँचाई जाती है, उसी प्रकार पहले धार्मिक सम्प्रदाय अपने विचार और सिद्धान्तों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया करते थे। मज्झिम-निकाय के चंकी-सुत्त (मज्झिम. २।५।५) तथा सन्दक-सुत्त (मज्झिम. २।३।६) में वैदिक पर-

---

१. मज्झिम-निकाय के अनुरुद्ध-सुत्त में 'पिटक' शब्द का प्रयोग पिटारी या टोकरी के अर्थ में किया गया है। "मक्खिकानं पिटकेन वा हरीयमानानं।" इसी प्रकार इसी निकाय के ककचूपम-सुत्त में इसी अर्थ में 'कुद्दालपिटकमादाय' आदि। 'व्रीहि-पिटक' (वीहि-पिटक) और 'धान्य-पिटक' (धञ्ञ-पिटक) जैसे प्रयोग भी पालि साहित्य में मिलते हैं।

२. मज्झिम-निकाय के चंकी-सुत्त तथा सन्दक-सुत्त में 'पिटक-सम्पदाय' ('पिटक-सम्प्रदाय') शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ 'परम्परा' या 'ग्रन्थ-परम्परा' ही है। इसी प्रकार अंगुत्तर-निकाय के केसपुत्तिय-सुत्त के 'मा पिटकसम्पदानेनाति' में भी यही अर्थ निहित है।

३. मिलाइये कीथ : बुद्धिस्ट फिलासफी, पृष्ठ २४, पद-संकेत २।

म्परा के लिये इसी अर्थ में 'पिटक-सम्पदाय' (पिटक-सम्प्रदाय) शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'पिटक' शब्द का अर्थ 'परम्परा' या 'ग्रन्थ-परम्परा' ही किया जा सकता है। अतः 'सुत्त-पिटक' शब्द का अर्थ, इस लाक्षणिक प्रयोग के अनुसार होगा, धागे रूपी (बुद्ध-वचनों की) परम्परा। जिस प्रकार सूत के गोले को फेंक देने पर वह खुलता हुआ चला जाता है, उसी प्रकार बुद्ध-वचन सुत्त-पिटक में प्रकाशित होते हैं। अतः उसकी 'सुत्त-पिटक' संज्ञा सार्थक ही है। संस्कृत बौद्ध धर्म की परम्परा में आचार्य असंग (चौथी शताब्दी ईसवी) ने महायान-सूत्रालंकार में 'सूचनात् सूत्रम्' के रूप में 'सूत्र' शब्द की व्युत्पत्ति की है। इस प्रकार उनके मतानुसार सूचना देने के कारण ही सूत्र 'सूत्र' कहलाते हैं। असंग की यह व्युत्पत्ति बिलकुल बुद्धघोष के समान है। अट्ठसालिनी की निदान-कथा में उन्होंने कहा है, "अत्थानं सूचनतो.....सुत्तं ति अक्खातं।" पालि 'सुत्त' का संस्कृत अनुरूप सूत्र है। वैसे 'सूक्त' भी कर सकते हैं, परन्तु संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में पालि सुत्तों के प्रतिरूपों को 'सूत्र' ही कह कर पुकारा गया है, यथा महापरिनिर्वाण-सूत्र, लंकावतार-सूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र, आदि। वैदिक साहित्य की परम्परा में 'सूत्र' शब्द से तात्पर्य ऐसे स्वल्पाक्षर कथन से होता है जिसमें से सूत के धागे की तरह महान् अर्थ की परम्परा निकलती चली जाय। इस प्रकार के सूत्र-साहित्य का उद्भावन वैदिक साहित्य के विकास के अन्तिम युग की घटना है, जब कि बढ़ते हुए विशाल वैदिक वाङमय को संक्षिप्त रूप देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। परिणामतः प्रत्येक ज्ञान-शाखा पर सूत्र-साहित्य की रचना हुई। श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र, धर्म-सूत्र, व्याकरण-सूत्र, नाट्य-सूत्र, अलंकार-सूत्र, न्याय-सूत्र, वैशेषिक-सूत्र, सांख्य-सूत्र, योग-सूत्र, मीमांसा-सूत्र, ब्रह्म-सूत्र, आदि इस विशाल सूत्र-साहित्य के कुछ उदाहरण हैं। संस्कृत का सूत्र-साहित्य विश्व-साहित्य के इतिहास में निश्चय ही एक विस्मयकारी वस्तु है। शब्द-संक्षेप किस हद तक जा सकता है, यह उसमें देखा जा सकता है। संस्कृत भाषा की अपूर्व शक्ति वहाँ दृष्टिगोचर होती है। 'सूत्र' की परिभाषा संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार की गई है। "सूत्रज्ञ पुरुष, उस स्वल्पाक्षर कथन को, जो असंदिग्ध, महत्वपूर्ण अर्थ का प्रख्यापक, विश्वजनीन उपयोग वाला और विस्तार और व्याकरण की अशुद्धि से रहित हो, सूत्र कहते हैं।"[१] पालि के 'सुत्त' इस अर्थ

---

१. स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ शब्दकल्पद्रुम।

में सूत्र कभी नहीं कहे जा सकते। वे विस्तार में काफी लम्बे हैं। कुछ तो छोटी-छोटी पुस्तकों के समान ही हैं। उनके पुनरावृत्तिमय विस्तारों को देखकर कौन उन्हें 'सूत्र' कहेगा ? पालि के सूत्रों से भी अधिक लम्बे महायानी संस्कृत साहित्य के सूत्र हैं। वहाँ जिन्हें 'सूत्र' कहा गया है, वे तो अनावश्यक विस्तार-पूर्ण सहस्रों पृष्ठों के विशालकाय ग्रन्थ है। अतः बौद्ध और वैदिक परम्परा के इस 'सूत्र' सम्बन्धी अर्थ-विभेद को हमें समझ लेना चाहिये।

सुत्त-पिटक का विषय, जैसा अभी कहा गया है, भगवान् बुद्ध के उपदेश ही हैं। साथ ही भगवान् के कुछ प्रधान शिष्यों के उपदेश भी सुत्त-पिटक में सन्निहित हैं, जिनके आधार भी स्वयं बुद्ध-वचन ही हैं। अक्सर ऐसा होता था कि भगवान् द्वारा उपदिष्ट किसी विषय को लेकर भिक्षुओं में संलाप हो उठता था। बाद में वे अपने संलाप की सूचना भगवान् को देते थे। यदि उनको कोई तथ्य स्पष्ट नहीं होता था, तो भगवान् उसे स्पष्ट करते थे। कभी-कभी उनमें से किसी महाप्रज्ञ भिक्षु के कथन का अनुमोदन कर भगवान् उसे साधुवाद देते थे। विरोधी सम्प्रदाय वालों के साथ भी भिक्षुओं के इस प्रकार के संलाप अक्सर चला करते थे। उनकी भी सूचना अक्सर भिक्षु भगवान् को देते थे। भगवान् या तो उनका अनुमोदन करते थे या उन्हें समझाते थे। कभी-कभी (भगवान् के जीवन के अन्तिम काल में) ऐसा होता था कि लम्बे समय तक उपदेश देते-देते भगवान् की पीठ पीड़ित हो उठती थी (कठिन तपस्या के कारण भगवान् को वृद्धावस्था में वातरोग हो गया था)। उस समय उपदेश के बीच में ही भगवान् सारिपुत्र, मौद्गल्यायन या आनन्द जैसे किसी शिष्य को उपदेश को पूरा कर देने का आदेश देते थे, बाद में वे इस प्रकार दिये हुए उपदेश का अनुमोदन भी कर देते थे। स्वतन्त्र रूप से भी अनेक भिक्षुओं ने एक दूसरे के प्रति या गृहस्थ शिष्यों के प्रति अनेक उपदेश दिये है। इस प्रकार बुद्ध-उपदेशों के साथ-साथ उनके शिष्यों के उपदेश भी सुत्त-पिटक में सम्मिलित हैं। भगवान् ने अपने मुख से जो-जो उपदेश दिये, अपने जीवन और अनुभवों के विषय में उन्होंने जो-जो कहा, जिन-जिन व्यक्तियों से उनका या उनके शिष्यों का सम्पर्क या संलाप हुआ, जिन-जिन प्रदेशों में उन्होंने भ्रमण किया, संक्षेप में बुद्धत्त्व-प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक के अपने ४५ वर्षों में भगवान् की जो-जो भी जीवन-चर्या रही, उसी का यथावत् चित्र हमें सुत्त-पिटक में मिलता है।

बुद्ध और उनके शिष्यों के उपदेशों के अतिरिक्त हमें आकस्मिक रूप से छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व के भारत के सामाजिक जीवन का पूरा परिचय

भी सुत्त-पिटक में मिलता है। बुद्ध के समकालीन श्रमणों, ब्राह्मणों और परिव्राजकों के जीवन और सिद्धान्तों के विवरण, गौतम बुद्ध के विषय में उनके मत और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, साधारण जनता में प्रचलित उद्योग और व्यवसाय, मनोरंजन के साधन, कला और विज्ञान, तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और राजन्यगण, ब्राह्मणों के धार्मिक सिद्धान्त, जातिवाद, वर्णवाद, यज्ञवाद, भौगोलिक परिस्थितियाँ, यथा ग्राम, निगम, नगर, जनपद आदि के विवरण और उनके निवासियों के जीवन की साधारण अवस्था, नदी, पर्वत, आदि के विवरण, साहित्य और ज्ञान की अवस्था, कृषि और वाणिज्य, सामाजिक रीतियाँ, जीवन का नैतिक स्तर, स्त्रियों, दास-दासियों और भृत्यों की अवस्था, आदि के विवरण सुत्त-पिटक में भरे पड़े हैं, जो बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन और उपदेशों के साथ-साथ तत्कालीन भारतीय सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति आदि का भी अच्छा दिग्दर्शन करते हैं।

सुत्तों के आकार के सम्बन्ध में प्रायः कोई नियम दृष्टिगोचर नहीं होता। उनमें कई बहुत छोटे भी हैं और कई बहुत बड़े भी। इसी प्रकार गद्य-मय या पद्य-मय होने का भी कोई निश्चित नियम नहीं है। कुछ बिलकुल गद्य में हैं और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित भी, कुछ थोड़े से बिलकुल पद्य में भी हैं, बीच-बीच में कहीं-कहीं गद्य के छिटके के साथ ।[१] प्रत्येक सुत्त अपने आप में पूर्ण है और वह बुद्ध-उपदेश या बुद्ध-जीवन सम्बन्धी किसी घटना का पूरा परिचय देता है। प्रायः प्रत्येक सुत्त के आरम्भ में उसकी एक ऐतिहासिक भूमिका रहती है। यह भूमिका हमें बतला देती है कि जिस उपदेश का विवरण दिया जा रहा है, वह भगवान् ने कहाँ दिया। उदाहरणतः 'एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन में विहार करते थे', 'एक समय भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे' जैसे वाक्य प्रायः प्रत्येक सुत्त के आदि में आते हैं। सुत्तों की अनेक छोटी-मोटी विशेषताएँ और भी देखी जा सकती हैं। उदाहरणतः भगवान् के उपदेश के बाद प्रायः (सदा नहीं) उपदेश सुनने वालों का इस प्रकार का कृतज्ञतापूर्ण उद्गार होता है "आश्चर्य हे गौतम! अद्भुत हे गौतम। जैसे औंधे को सीधा कर दे, ढँके को उघाड़ दे, भूले को रास्ता बतला दे, अन्धकार में तेल का प्रदीप रख दे,

---

१. जैसे दीघ-निकाय के महासमय-सुत्त, लक्खण-सुत्त, आटानाटिय-सुत्त आदि।

जिससे कि आँखवाले रूप को देखें, ऐसे ही आप गौतम ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया। यह मैं भगवान् गौतम की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, संघ की भी शरण जाता हूँ। आप गौतम आज से मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।" कहीं-कहीं सुत्तों के अन्त में भिक्षुओं की कृतज्ञता केवल इन शब्दों में भी व्यक्त कर दी जाती है "भगवान् ने यह कहा। सन्तुष्ट हो भिक्षुओं ने भगवान् के उस कथन का अनुमोदन किया।" मिलने-जुलने, विदा लेने, कृतज्ञता प्रकाशित करने, कुशल-मंगल पूछने आदि साधारण अवसरों पर जिस प्रकार का शिष्टाचार उस समय प्रचलित था, उसका वर्णन प्रायः समान शब्दों में सुत्त-पिटक में अनेक स्थलों पर किया गया है। ऐसे स्थल बार-बार आने के कारण स्वयं कंठस्थ हो जाते हैं। जब कोई भिक्षु भगवान् के दर्शनार्थ दूर से आता था, तो भगवान् उससे अक्सर पूछा करते थे, 'कहो भिक्षु ! कुशल से तो हो ? रास्ते में कोई बड़ी हैरानी-परेशानी तो नहीं हुई ? भिक्षा के लिए कष्ट तो नहीं उठाना पड़ा' ? आदि। भगवान् को जब कोई व्यक्ति निमंत्रण देने आता है, तो प्रायः यही वाक्य रहता है "भन्ते ! भिक्षु-संघ सहित आप कल के लिये मेरा भोजन स्वीकार करें"। उसके बाद "भगवान् ने मौन से स्वीकार किया।" भगवान् के भिक्षाचर्या के लिये जाने का प्रायः इन शब्दों में वर्णन रहता है 'तब भगवान् पूर्वाह्न समय चीवर पहन, भिक्षा-पात्र ले, जहाँ.....था, वहाँ गये। जाकर-भिक्षु-संघ सहित बिछे आसन पर बैठे।.....ने अपने हाथ से बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को उत्तम खाद्य-भोज्य से सन्तर्पित किया। खाकर पात्र से हाथ हटा लेने पर.....एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया। भगवान् ने उपदेश से समुत्तेजित, सम्प्रहर्षित किया। धर्म-उपदेश कर भगवान् आसन से उठकर चल दिये।" जब कोई महाप्रभावशाली व्यक्ति भगवान् के दर्शनार्थ जाता है तो "जितनी यान की भूमि थी, उतनी यान से जाकर, यान से उतर, पैदल ही जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे.....को भगवान् ने धर्म सम्बन्धी कथा से समुत्तेजित किया" आदि। इस प्रकार बुद्धकालीन भारतीय समाज के रीति-रिवाज और शिष्टाचार आदि का पूरा चित्र हमें सुत्त-पिटक में मिलता है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश करने का क्या ढंग था, यह भी सुत्तों से स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पहले भगवान् दान, शील, सदाचार-प्रशंसा, दुराचार-निन्दा आदि सम्बन्धी साधारण प्रवचन देते थे। फिर 'बुद्धों की उठाने वाली आदेशना' (बुद्धानं

सामुक्कंसिका धम्मदेसना) आरम्भ होती थी, जिसमें चार आर्य सत्यों आदि का गंभीर धर्मोपदेश होता था। दीघ-निकाय के अम्बट्ठ-सुत्त, कूटदन्त-सुत्त आदि में इसी तरह उपदेश का विधान किया गया है। भगवान् एक मनोवैज्ञानिक की तरह उपदेश करते थे। उन्हें पर-चित्त ज्ञान प्राप्त था। पहले वे देख लेते थे कि जो व्यक्ति उनके पास दर्शनार्थ आया है, वह किसान है, या सिपाही है, या राजा है या परिव्राजक है। फिर उसके परिचित जीवन से ही उपमाएँ आदि लेकर वे उसे धर्म का स्वरूप समझाते थे। परिव्राजकों या अन्य मतावलम्बी साधुओं के साथ वार्तालाप करते समय वे उनके मान्य सिद्धान्तों से ही आरम्भ करते थे और उत्तरोत्तर विचार पर उन्हें अग्रसर करते हुए अपने मन्तव्य तक लाते थे। दीघ-निकाय के सामञ्ञफल-सुत्त, सोणदंड-सुत्त पोट्ठपाद-सुत्त और तेविज्ज-सुत्त तथा मज्झिम-निकाय के वेखणस-सुत्त, सुभ-सुत्त, चंकी-सुत्त आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं। भगवान् बुद्ध के उपदेश करने के ढंग या उनकी आदेशना-विधि का बड़ा अच्छा विश्लेषण 'पेटकोपदेस' नामक ग्रन्थ में किया गया है, जो तिपिटक के संकलन के बाद किन्तु बुद्धघोष के काल से पहले, लिखा गया था। छठे अध्याय में हम उसका विवरण देते समय इस विषय का भी कुछ दिग्दर्शन करेंगे।

सुत्तों की शैली की ये विशेषताएँ और द्रष्टव्य हैं। (१) पुनरुक्तियों की अतिशयता, (२) संख्यात्मक परिगणन की प्रणाली का प्रयोग, (३) उपमाओं के प्रयोग की बहुलता, (४) संवादों का प्रयोग, (५) इतिहास और आख्यानों का उपदेशों के बीच में समावेश और (६) सुत्तों में नाटकीय क्रियात्मकता की अभिव्याप्ति। चूँकि सुत्तों का संकलन विभिन्न स्रोतों से, विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा और विभिन्न कालों में हुआ, अतः उनमें पुनरुक्तियों का होना अवश्यम्भावी है। भिक्षुओं के निरन्तर अभ्यास के लिए स्वय भगवान् का भी एक ही उपदेश को बार-बार देना, कहीं संक्षिप्त रूप से, कहीं विस्तृत रूप से, उसे दुहराना, आसानी से समझा जा सकता है। फिर अध्ययन-अध्यापन की मौखिक परम्परा के कारण इस पुनरुक्तिमय वर्णन-प्रणाली को और भी अधिक प्रश्रय मिला है। अतः सुत्तों में पुनरुक्तियों का होना एक तथ्य है और वह उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता का ही सूचक है, अप्रामाणिकता या अर्वाचीनता का नहीं। सुत्तों में इतनी पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि उनका सामान्य दिग्दर्शन सम्भव नहीं है। सुत्तों का

'पेय्यालं' अति प्रसिद्ध है।[1] पूरे वाक्यों ओर वाक्यांशों की पुनरावृत्ति केवल एक-दो शब्दों के हेर-फेर के साथ अनेक सुत्तों में पाई जाती है। सोणदंड-सुत्त का अन्तिम भाग हूबहू कूटदन्त-सुत्त में रक्खा हुआ है। चार ध्यानों का वर्णन बिल्कुल समान शब्दों में अनेक सुत्तों में रक्खा हुआ है, यथा सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ०१।२), अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ०१।३), सोणदंड-सुत्त (दीघ०१।४), कूटदन्त सुत्त (दीघ०१।५), महा-लि-सुत्त (दीघ०१।५), पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ०१।९), केवट्ट-सुत्त (दीघ०१।११), सुभ-सुत्त (दीघ०१।१२), चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (दीघ०३।३), संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ०३।१०), भयभेरव-सुत (मज्झिम०१।१।४), द्वेधावितक्क-सुत्त (मज्झिम०१।२।९), महाअस्सपुर-सुत्त (मज्झिम०१।४।९), चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम० १।३।७), देवदह-सुत्त (मज्झिम०३।१।१) वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर०), ज्ञान-संयुत्त (संयुत्त-निकाय) आदि। चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि के विषय में भी इसी प्रकार की पुनरुक्तियाँ दृष्टिगोचर होती है। संयुत्त-निकाय के सळायतन-संयुत्त में चक्षुरादि इन्द्रियों, उनके विषयों और विज्ञानों आदि को लेकर विस्तृत पुनरुक्तियाँ की गई हैं। अतः पुनरुक्तियों की अतिशयता सुत्तों की शैली की एक प्रधान विशेषता है। जिस कारण वह उत्पन्न हुई है, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। संख्यात्मक परिगणन की प्रणाली का प्रयोग भी बुद्ध-वचनों के मौखिक रूप से प्राप्त होने की परम्परा पर आधारित है। केवल स्मृति की सहायता के लिए ही भगवान् बुद्ध भी इसका प्रयोग करते थे। पूरा का पूरा अंगुत्तर-निकाय इसी संख्यात्मक प्रणाली पर संकलित किया गया है। अन्य निकायों में भी चार आर्य सत्य, पाँच नीवरण, ३२ महापुरुष-लक्षण, ६२ मिथ्या-

---

१. चूँकि पालि-तिपिटक में, विशेषतः सुत्त-पिटक में, पुनरुक्तियाँ अधिक हैं, अतः जहाँ कहीं एक पूरे वाक्य या वाक्यांश की पुनरावृत्ति हुई, तो उसे पूरा न लिख कर केवल एक-दो आरम्भ के शब्द लिख दिये जाते हैं और फिर उसके बाद लिख दिया जाता है 'पेय्यालं' जिसका अर्थ यह है कि इतने संकेत से ही पूर्वागत वाक्य को समझा जा सकता है। 'पेय्यालं' शब्द का अर्थ ही है 'पातुं अलं' अर्थात् इतने से वाक्य समझ लिया जा सकता है और यह पाठ को बचाये रखने के लिये पर्याप्त है। देखिये भिक्षु जगदीश काश्यपः पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तैंतालीस (वस्तुकथा)।

दृष्टियों आदि के संख्यात्मक निरूपण भरे पड़े हैं। सांख्य दर्शन और जैन-साहित्य (विशेषतः जैन आगम 'ठाणङ्ग') तथा महाभारत आदि में भी संख्यात्मक वर्गीकरणों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। पालि सुत्तों में इसका प्रयोग बहुलता से किया गया है, किन्तु वह अस्वाभाविक नहीं होने पाया है। पालि सुत्तों की उपमाएँ बड़ी मर्मस्पर्शी हुई हैं। जीवन के अनेक क्षेत्रों से ये उपमाएँ ली गई हैं और उनकी स्वाभाविकता और सरलता बड़ी आकर्षक है। दीघ और मज्झिम निकायों के हिन्दी-अनुवाद में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इन निकायों में आई हुई उपमाओं की सूची दी है। उनसे सुत्त-पिटक में आई हुई उपमाओं का कुछ अनुमान हो सकता है। जहाँ भी सुत्तों में कोई जटिल प्रश्न आया कि हम यह वचन देखते हैं 'ओपम्मं ते करिस्सामि, उपमाय हि इधेकच्चे पुरिसा भासितस्स अत्थं आजानन्ति'। अर्थात् "मैं तुम्हें एक उपमा कहूँगा। उपमा से भी कुछ एक मनुष्य कहे हुए अर्थ को समझ जाते हैं।" उपमाओं की प्रणाली का अनुपिटक साहित्य पर भी इतना प्रभाव पड़ा है कि हम 'मिलिन्दपञ्ह' और 'विसुद्धिमग्ग' जैसे ग्रन्थों तथा बुद्धघोष आदि की अट्ठकथाओं में भी उनका बहुल प्रयोग देखते हैं। निश्चय ही पालि साहित्य अपनी उपमाओं के लिये विशेष गौरव कर सकता है। विषय को सुगम बनाने की दृष्टि से ही भगवान् स्वयं उपमाएँ दिया करते थे। दीघ-निकाय के पोट्ठपाद-सुत्त में जनपद-कल्याणी की सुन्दर उपमा उन्होंने दी है।[1] इसी प्रकार स्वानुभव-शून्य त्रैविद्य ब्राह्मण पंडितों की पंक्ति-बद्ध अन्धों से उपमा,[2] अतिप्रश्न करने वाले की उस वाण-विद्ध व्यक्ति से उपमा जो वाण को निकलवाने का प्रयत्न न कर वाण मारने वाले के विषय में असंगत प्रश्न कर रहा है,[3] विषय-भोगों के दुष्परिणामों को दिखाने वाली उपमाएँ,[4] विमुक्ति-सुख

---

१. देखिये आगे इस सुत्त का विवरण।

२. अन्धवेणि परम्परासंसत्ता (अन्धों की लकड़ी का ताँता)—चंकी-सुत्त (मज्झिम० २।५।५)। यह उपमा मज्झिम-निकाय के सुभ-सुत्त तथा दीघ-निकाय के तेविज्ज-सुत्त में भी आई है।

३. चूलमालुंक्य-सुत्त (मज्झिम० २।२।३)।

४. पोतलिय-सुत्त (मज्झिम० २।१।४)।

को दिखानेवाली उपमाएँ,[१] आदि अनेक प्रकार की उपमाएँ भगवान् बुद्ध के मुख से निकली हैं, जो काव्य की ही वस्तु नहीं किन्तु उनके अन्तस्तल से निकली हुई अनुभव सिद्ध वाणियाँ हैं। वीणा की उपमा तो बहुत ही मार्मिक है और उसे उद्धृत करने के लोभ का संवरण नहीं किया जा सकता। सोण कोळिविस बहुत धनी बाप के बेटे थे, अत्यन्त सुकुमार, परन्तु भिक्षु होकर उन्होंने अत्यन्त कठिन साधना आरम्भ कर दी। ध्यान में नगे पैर घूमते हुए उनके पैर फट गये और उनसे खून निकलने लगा। बुद्ध उन्हें समझाते हैं, "सोण ! गृहस्थ होते समय तुम वीणा बजाने में तो चतुर थे न ?" "हाँ, भन्ते !" "तो क्या मानते हो सोण ! जब तुम्हारी वीणा के तार बहुत जोर से खिंचे होते थे, उस समय तुम्हारी वीणा स्वर वाली होती थी, काम लायक होती थी ?" "नहीं भन्ते।" "जब तुम्हारी वीणा के तार अत्यन्त ढीले होते थे, उस समय . . . . ?" "नहीं, भन्ते।" "जब तुम्हारी वीणा के तार न बहुत जोर से खिंचे होते थे, न अत्यन्त ढीले होते थे, क्या उस समय तुम्हारी वीणा स्वर वाली होती थी, काम लायक होती थी ?" "हाँ भन्ते।" "इसी प्रकार सोण ! अत्यधिक उद्योग-परायणता औद्धत्य को उत्पन्न करती है, अत्यधिक शिथिलता शारीरिक आलस्य को उत्पन्न करती है। इसलिए सोण ! उद्योग करने में समता ग्रहण करो, इन्द्रियों के सम्बन्ध में समता ग्रहण करो, और वहाँ कारण को ग्रहण करो।"[२] यही बुद्ध का वीनूपमोवाद-सुत्त (वीणा की उपमा के रूप में उपदेश) है, जिसकी याद सदा सोण कोळिविस करते रहे और जो साधकों को सदा चेताने वाला है। अनेक बार साहित्य में इसका उल्लेख हुआ है। संवादों के रूप में सुत्तों के उदाहरण के लिए दीघ-निकाय के अम्बट्ठ-सुत्त, सोणदंड-सुत्त, पोट्ठपाद-सुत्त, तेविज्ज-सुत्त आदि विशेष द्रष्टव्य है। अन्य निकायों में भी संवाद भरे पड़े है। पौराणिक आख्यान भी सुत्तों में कहीं-कहीं समाविष्ट हैं, जैसे महाविजित का आख्यान दीघ-निकाय के कूटदत्त-सुत्त में, आदि, आदि। उपनिषदों और महाभारत में भी ऐसे आख्यान पाये जाने हैं। संयुत्त-निकाय के भिक्खुनी-संयुत्त में भिक्षुणियों के आख्यान बड़े ही मार्मिक हैं। सुत्तों की एक बड़ी विशेषता उनकी नाटकीय द्रुत गति एवं क्रिया-

---

१. सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२) में।

२. विनय-पिटक (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ २०१-२०२; देखिये थेरगाथा, गाथा ६३८ (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित संस्करण) जहाँ बुद्ध द्वारा कही गई इस उपमा को सोण कोळिविस कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं।

शीलता भी है। इस दृष्टि से दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण-सुत्त और संयुत्त-निकाय के भिक्खुनी-संयुत्त विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। परिप्रश्नात्मक शैली का जैसा पूर्ण परिपाक सुत्तों में हुआ है, वैसा भारतीय साहित्य में अन्य कहीं पाना असम्भव है। बाद में उनका विकसित रूप ही 'मिलिन्दपञ्ह' में प्रस्फुटित हुआ है, जिसके संवादों को देखकर ही कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने उसके ऊपर ग्रीक प्रभाव की कल्पना कर ली है, जिसका निराकरण हम छठे अध्याय में उस सम्बन्धी विवरण पर आते समय करेंगे। दीघ-निकाय के 'पायासि-सुत्त' जैसे सुत्तों में संवादात्मक शैली का जो परिष्कृत रूप दिखाई पड़ता है,[१] उसी के आधार पर बाद में 'मिलिन्द-पञ्ह' में इस कला में पूर्णता प्राप्त की गई है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, सुत्त-पिटक बुद्ध-वचनों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग है। न केवल बुद्ध-उपदेशों को जानने के लिए ही बल्कि छठी और पाँचवीं शताब्दी ईस्वी-पूर्व के भारत के सब प्रकार के ऐतिहासिक, सामाजिक और भौगोलिक ज्ञान का वह एक अपूर्व भांडार है। इतिहास और साहित्य के विद्यार्थी के लिए भी वह उतना ही महत्वपूर्ण है जितना बौद्ध धर्म और दर्शन के विद्यार्थी के लिए। गम्भीर विचारों की दृष्टि से उसका स्थान केवल उपनिषदों के साथ है। उपनिषदों से भी उसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि उपनिषदों में जब कि विशुद्ध, निर्वैयक्तिक ज्ञान है, सुत्त-पिटक में उसके साथ-साथ जीवन भी है। उपनिषदों में बुद्ध के समान ज्ञानी की जीवन-चर्या कहाँ है? सुत्त-पिटक में निहित बुद्ध-वचनों की गम्भीरता की तुलना रायस डेविड्स ने प्लेटो के संवादों से की है।[२] प्लेटो के ज्ञान गौरव की रक्षा करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि तथागत की साधना-मयी वाणी का तो शतांश गौरव भी उसके अन्दर नहीं है। प्लेटो के संवादों में यही नहीं पता चल पाता कि कहाँ वह अपनी बात कह रहा है या कहाँ वह अपने गुरु (सुकरात) की। वस्तुतः निज मुख से वह कुछ कहता ही नहीं। पाठक अन्त तक जिज्ञासा करता रहता है और सन्देह में बना रहता है। इसके विपरीत बुद्ध केवल वही कहते हैं जो उन्होंने स्वयं जाना है, स्वयं देखा है (सामं ञातं, सामं दिट्ठं)। प्लेटो के संवाद अन्त तक अपूर्ण हैं। वह पूर्ण सुनिश्चित बात नहीं कह पाता। बुद्ध का प्रत्येक

---

१. इसके दर्शन के लिये देखिये आगे इस सुत्त का विवरण।

२. वि डायलाग्स ऑव वि बुद्ध, जिल्द पहली, पृष्ठ २०६; हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑव बुद्धिज्म, पृष्ठ ४१ (चतुर्थ भारतीय संस्करण, कलकत्ता, १९५२)।

संवाद अपने आप में पूर्ण और सुनिश्चित है। इसके अतिरिक्त बुद्ध में सन्तुलन अधिक है। उनका सब कुछ कहा हुआ 'मध्यमा प्रतिपदा' पर आधारित है। परन्तु प्लेटो अपने जीवन में ही यह निश्चित नहीं कर सका कि साधना या व्यवहार (लोक-व्यवहार, राजनीति) में से उसे कहाँ जाना चाहिए। फलतः जीवन-दृष्टि की अनिश्चितता उसके संवादों में बनी हुई है। परन्तु बुद्ध एक 'सम्यक् सम्बुद्ध' व्यक्ति की हैसियत से बोलते हैं और उनके सुननेवाले उनके भाषण का अन्तस्तल से अभिनन्दन करते हैं। उनके उपदेशों में सर्वत्र अन्विति है, जो प्लेटो के संवादों में कहीं-कहीं नहीं मिलती।[१] बुद्ध-वचन अपनी गम्भीरता में सर्वथा निरुपमेय है। जब सम्यक् सम्बुद्ध जैसा वरदान ही प्रकृति ने मानव को नहीं दिया, तो उनके जैसे वचन भी कहाँ से हों? अतः धर्म, दर्शन, साहित्य, जीवन, इतिहास, प्राचीन भूगोल आदि सभी दृष्टियों से सुत्त-पिटक का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सुत्त-पिटक जैसा पहले भी दिखाया जा चुका है, पाँच भागों में विभक्त है, (१) दीघ-निकाय, (२) मज्झिम-निकाय, (३) संयुत्त-निकाय, (४) अंगुत्तर-निकाय और (५) खुद्दक-निकाय। इनमें से प्रथम चार निकाय संग्रह-शैली की दृष्टि से समान हैं। पाँचवाँ निकाय छोटे-छोटे (जिनमें कुछ बड़े भी हैं) स्वतन्त्र ग्रन्थों का संग्रह है। विषय तो सबका बुद्ध-वचनों का प्रकाशन ही है। केवल सुत्तों के आकारों या विषय के विन्यास में कहीं कुछ अन्तर है। प्रत्येक निकाय की विषय-वस्तु का अब हम संक्षिप्त परिचय देंगे और साथ ही उनके साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्व का भी अनुमापन करना हमारे अध्ययन का एक अंग होगा।

---

१. प्लेटो के संवादों की यह कुछ विपरीत समीक्षा यद्यपि मेरे स्वतः अध्ययन से उद्भूत है, परन्तु यह सर्वथा मेरी कल्पना का विजृम्भण नहीं कही जा सकती। कुछ दूसरे मिलते-जुलते विचारों के लिये देखिये, ए० आर० वाडिआ का लेख "सोक्रेटीज, प्लेटो एण्ड एरिस्टोटल" शीर्षक, "हिस्ट्री ऑव फिलासफी : ईस्टर्न एण्ड वैस्टर्न (डा० राधाकृष्णन् के प्रधान सम्पादकत्व में सम्पादित), जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५३ (जार्ज एलिन एण्ड अनविन्, लन्दन १९५३); देखिये राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ १६-१७ भी (किताब महल, इलाहाबाद, १९४७)।

अ—दीघ-निकाय[1]

दीघ-निकाय दीघ आकार के सुत्तों का संग्रह है। आकार की दृष्टि से जो सुत्त या बुद्ध-उपदेश बड़े हैं, वे इस निकाय में संगृहीत हैं। दीघ-निकाय तीन भागों में विभक्त है (१) सीलक्खन्ध, (२) महावग्ग और (३) पाथेय या पाथिक या पाटिक-वग्ग। इनमें कुल मिलाकर ३४ सुत्त हैं, जिनमें सीलक्खन्ध में १-१३, महावग्ग में १४-२३ और पाथेय या पाटिक वग्ग (पाथिक वग्ग) में २४-३४ सुत्त हैं। जिस क्रम से इन सुत्तों का विन्यास किया गया है, वह कालक्रम के अनुसार पूर्वापरता का सूचक नहीं है। कुछ घटनाएँ या उपदेश जो कालक्रमानुसार बाद के हैं पहले रख दिये गये हैं और इसी प्रकार जिन्हें पहले होना चाहिए वे बाद में रक्खे हुए हैं। इसका कारण यही है कि कालक्रम के अनुसार सुत्तों को यहाँ विन्यस्त न कर आकार आदि की दृष्टि से किया गया है। पिटक और अनुपिटक (विशेषतः अट्ठकथा) साहित्य के साक्ष्य से महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने दीघ-निकाय के कुछ सुत्तों के कालानुक्रम का निश्चय कर उन्हें उस ढंग से अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'बुद्धचर्या' में अनूदित किया है। यह एक स्तुत्य कार्य है। पश्चिमी विद्वान् अट्ठकथाओं के साक्ष्य पर इतना अधिक विश्वास न कर केवल शैली और भाषा आदि के साक्ष्य से ही दीव-निकाय या पूरे सुत्त-पिटक के विभिन्न अंशों की पूर्वापरता निश्चित करना चाहते हैं, जो अन्त में केवल उनकी कल्पना का विलास मात्र रह जाता है। फ्रेंक नामक विद्वान् ने तो इसी आधार पर अपने विचित्र मत भी पूरे तिपिटक और

---

१. **महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा अनुवादित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३७। दीघ-निकाय के १-२३ सुत्त दो भागों में देवनागरी लिपि में प्रो० एन० के० भागवत के द्वारा सम्पादित होकर बम्बई विश्वविद्यालय से निकले थे। प्रथम भाग, सुत्त १-१३ (सन् १९४२); द्वितीय भाग, सुत्त १४-२३ (सन् १९३६)। अब पूरा दीघ-निकाय देवनागरी लिपि में आ गया है। इसके प्रधान सम्पादक हैं भिक्षु जगदीश काश्यप। यह तीन भागों में है, जिन्हें सन् १९५८ में बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल ने प्रकाशित किया है। पहली जिल्द में सीलक्खन्ध वग्ग (सुत्त १-१३) है, दूसरी में महावग्ग (सुत्त १४-२३) और तीसरी में पाथिक वग्ग (सुत्त २४-३४)।**

दीघ-निकाय के सम्बन्ध में प्रकाशित कर दिये हैं। उन्होंने दीघ-निकाय के विषय में कहा है कि यह किसी एक लेखक या साहित्यकार का काम है। चूंकि ओल्डनबर्ग,[१] रायस डेविड्स,[२] विंटरनित्ज़, गायगर[३] आदि विद्वानों[४] द्वारा उनके मत का पर्याप्त निराकरण कर दिया गया है, अतः उनके अ-महत्वपूर्ण कल्पना-विलास को, जिसे उन्होंने दीघ-निकाय की प्रामाणिकता के विरुद्ध रक्खा था, यहाँ उद्धृत और फिर से निराकृत कर, उसे अनावश्यक महत्व देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। दीघ-निकाय के सुत्त कलात्मक एकात्मकता के अनुसार विन्यस्त होने पर भी बुद्ध-वचनों के रूप में प्रामाणिक हैं। यदि उन सब का आधारभूत विचार एक ही है, तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वे किसी एक ही लेखक की कृतियाँ हैं। बुद्ध के उपदेशों के रूप में भी उनमें एकात्मता तो होनी ही चाहिये। पालि दीघ-निकाय के ३४ सुत्तों में से २७ चीनी दीर्घागम में मिलते हैं। शेष सात में से ३ मध्यमागम में मिलते हैं और ४ का पता नहीं लगा है ।[५] विषय का विन्यास यहाँ भिन्न होते हुए भी विषय-वस्तु तो प्रायः समान ही है। दूसरी शताब्दी से लेकर चौथी-पाँचवी शताब्दी तक इन सब सुत्तों का अनुवाद चीनी भाषा में हो गया था। चूंकि इसके पूर्व प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व के 'मिलिन्दपञ्ह' में भी इनमें से अनेक का नामतः उल्लेख है, अतः इनकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता । बाहरी आकार की दृष्टि से दीघ-निकाय के सब सुत्तों में समानता नहीं है। सीलक्खन्ध के सब सुत्त प्रायः गद्य में हैं, केवल कुछ पंक्तियाँ मात्र गाथाओं के रूप में हैं। महावग्ग और पाथेय या पाटिक-वग्ग में अधिकांश सुत्त गद्य-पद्य-मिश्रित हैं। पाथेय या पाटिक-वग्ग के महासमय-सुत्त और आटानाटिय सुत्त तो बिलकुल पद्य में ही हैं। सीलक्खन्ध के सूत्रों की यह प्रधान विशेषता है कि वे शील, समाधि और प्रज्ञा सम्बन्धी बुद्ध-उपदेशों का विवरण देते हैं और उनमें बुद्धकालीन भार-

---

१.२.३.४. देखिये विशेषतः विंटरनित्ज़ : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४४-४५; गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १७, पद-संकेत ४; रायस डेविड्स और ओल्डनबर्ग के ग्रन्थों के संकेत भी यहीं दोनों जगह दिये हुए हैं।

५. पूरे विवरण के लिये देखिये दीघ-निकाय (महापंडित राहुल सांकृत्यायन का हिन्दी अनुवाद) का प्राक्कथन।

तीय समाज का भी पर्याप्त शील-निरूपण मिलता है, उसके सामाजिक और धार्मिक जीवन का पूरा चित्र, आदि। यही उसके 'सीलक्खन्ध' नामकरण का भी कारण है। 'महावग्ग' के प्रत्येक सुत्त के नाम का आरम्भ 'महा' शब्द से होता है। विंटरनित्ज़ ने इस 'महा' शब्द में क्षेपकों का रहस्य निहित माना है। उनका कहना है कि पहले इस वर्ग के उपदेश संक्षिप्त आकार के रहे होंगे और बाद में उन्हें बढ़ा-कर 'महा' कर दिया गया है।[1] चूंकि स्वयं भगवान बुद्ध भी एक ही विषय पर अवसर और पात्रों के अनुसार संक्षिप्त और दीर्घ उपदेश साथ-साथ दे सकते थे और संकलन के समय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और स्रोतों से आने के कारण उन्हें वैसा ही संकलित भी कर दिया गया है, अतः एक ही विषय-सम्बन्धी दो अल्प और बड़े आकार वाले सुत्तों को देखकर बड़े आकार वाले सुत्तों को बाद के परिवर्द्धन ही नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त तथ्य के प्रकाश में हम 'महावग्ग' के सब सुत्तों को मौलिक बुद्ध-वचन ही मानने के पक्षपाती हैं। 'पाथिक' या 'पाटिक' वग्ग का यह नामकरण इसलिए है कि इस वर्ग के सुत्तों के आदि में 'पाथिक-सुत्त' या 'पाटिक-सुत्त' नामक सुत्त है। दीघ निकाय का अधिक साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के लिए पहले हम उसके सुत्तों की विषय-वस्तु का अलग-अलग संक्षिप्त निदर्शन करेंगे।

सीलक्खन्ध-वग्ग

ब्रह्म जाल-सुत्त (दीघ० १।१)

ब्रह्मजाल-सुत्त दीघ-निकाय का प्रथम और अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्र है। प्राग्बुद्धकालीन भारतीय धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति का एक अच्छा चित्र

---

१. विशेषतः 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' में इस प्रकार के उत्तरकालीन परिवर्द्धनों का विवेचन डा० विंटरनित्ज़ ने किया है। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३८-४२। परन्तु विंटरनित्ज़ का यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता। 'महा' शब्द का अर्थ हम यहाँ केवल 'महान्' ही क्यों न लें? और इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि संगीतिकारों को यही अर्थ अभिप्रेत था। 'महा मोग्गल्लान' और 'महाकात्यायन' जैसे नामों में भी यही अर्थ ध्वनित है। अतः 'महा' शब्द के आधार पर तो ऐसे सुत्त, जिनके आदि में 'महा' लगा हुआ है, मौलिक और आदरणीय ही ठहरते हैं। इस आधार पर उन्हें बाद की रचना या बढ़ाये हुए (जो अर्थ विंटरनित्ज़ ने लिया है) नहीं माना जा सकता।

यहाँ मिलता है। विशेषतः उस धार्मिक विचिकित्सा का, जो उस समय भारतीय वायुमंडल में सर्वत्र फैली हुई थी, और उसके सम्पूर्ण अतिवादों का, एक अच्छा विश्लेषण यहाँ मिलता है। ब्रह्मजाल सुत्त का अर्थ है श्रेष्ठ (ब्रह्म) जाल रूपी बुद्ध-उपदेश। बुद्ध-उपदेश को यहाँ श्रेष्ठ जाल कहा गया है। किसे पकड़ने के लिए ? फिसलकर निकल जाने वाली मछलियों रूपी मिथ्या दृष्टियों को पकड़ने के लिए। इस सुत्त के उपदेश के अन्त में आनन्द ने, जो पीछे से भगवान् को पंखा झल रहे थे, पूछा, "भन्ते ! इस उपदेश को क्या कहकर पुकारा जाय ?" "आनन्द ! तुम इस धर्म-उपदेश को 'अर्थ-जाल' भी कह सकते हो, 'धर्म-जाल' भी 'ब्रह्मजाल' भी, 'दृष्टि-जाल' भी, 'लोकोत्तर संग्राम-विजय' भी।"[1] मिथ्या-दृष्टयों को पकड़ने के लिये भगवान ने ब्रह्मजाल-सुत्त का उपदेश दिया।

जिन मिथ्या दृष्टियों का विवरण ब्रह्मजाल-सुत्त में दिया गया है, उनकी संख्या ६२ है। इनमें १८ मिथ्या धारणाएँ जीवन और जगत् के आदि सम्बन्धी हैं और ४४ अन्त सम्बन्धी। १८ मिथ्या धारणाओं को पाँच भागों में बाँटा गया है, यथा (१) शाश्वतवाद, (२) नित्यता-अनित्यतावाद, (३) सान्त-अनन्तवाद, (४) अमराविक्षेपवाद और (५) अकारणवाद। इनमें से प्रथम चार की सिद्धि में प्रत्येक में चार-चार हेतु दिये गये हैं और अन्तिम सिद्धान्त (अकारणवाद) की सिद्धि में दो। इस प्रकार १८ हेतुओं से नाना श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक प्राग्बुद्धकालीन भारत में आत्मा और लोक के आदि सम्बन्धी, (पूर्वान्त कल्पित) उपर्युक्त पाँच मतों का प्रख्यापन किया करते थे। इन्हीं को यहाँ मिथ्या दृष्टियाँ कहा गया है। आत्मा और लोक के अन्त सम्बन्धी (अपरान्त-कल्पिक) ४४ मिथ्या-धारणाएँ थीं। कुछ श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक १६ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद भी आत्मा संज्ञी (होश वाला) रहता है', कुछ ८ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद आत्मा असंज्ञी हो जाता है' (अर्थात् वह होश वाला नहीं रहता), कुछ आठ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद आत्मा न संज्ञी न असंज्ञी रहता है', कुछ ७ हेतुओं के आधार

---

१. **"को नामो अयं भन्ते धम्मपरियायोति"। "तस्माति ह त्वं आनन्द इमं धम्म-परियायं अत्थजालं ति पि नं धारेहि, धम्मजालं ति पि नं धारेहि, ब्रह्मजालं ति पि नं धारेहि, दिट्ठिजालं ति पि नं धारेहि, अनुत्तरो संगाम-विजयो ति पि नं धारेहि।"**

पर मानते थे कि 'आत्मा का पूर्ण उच्छेद ही हो जाता है।' ये उच्छेदवादी थे। कुछ ५ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि इसी जन्म में निर्वाण या मोक्ष है। इस प्रकार इन परस्पर विरोधी ४४ हेतुओं से आत्मा और लोक के अन्त सम्बन्धी सिद्धान्त कल्पित किये जाते थे। यही ४४ अपरान्तकल्पिक मिथ्या दृष्टियाँ थीं। इस प्रकार कुल मिलाकर ६२ परस्पर-विरोधिनी, मानसिक आयासों से पूर्ण, मिथ्या-दृष्टियाँ भारतीय दार्शनिक वायुमंडल में भगवान् बुद्ध के उदय से पूर्व प्रचलित थीं, जिनका निदर्शन इस सुत्त में किया गया है।

ब्रह्मजाल-सुत्त की मुख्य विषय-वस्तु उपर्युक्त ६२ मिथ्या दृष्टियों का विवरण ही है, किन्तु उसमें प्रसंगवश और भी बहुत सी बातें आ गई हैं। आरम्भ ही में हम भगवान् को भिक्षुओं के सहित राजगृह और नालन्दा के बीच के रास्ते पर जाते देखते हैं। "भगवा अन्तरा च राजगहं अन्तरा च नालन्दं अद्धान-मग्ग-पटिपन्नो होति।" वे भिक्षुओं को निन्दा और स्तुति में समान रहने का उपदेश करते हैं। उसके बाद मूल (आरंभिक), मज्झिम (मध्यम) और महा के रूप में शील की तीन भूमियों का विवरण है। यहीं प्रसंगवश उन अनेक प्रकार के उद्योगों, शिल्पों, व्यवसायों तथा मनुष्यों के रहन-सहन सम्बन्धी ढंगों का विवरण मिलता है, जिनसे विरत रहने का भिक्षुओं को उपदेश दिया गया है। उस समय के समाज के जीवन की दशा का इससे बड़ा अच्छा पता लगता है। उस समय के मनोरंजन के साधनों को लीजिये तो नृत्य, गीत, बाजे, नाटक, लीला, ताली, ताल देना, घड़े पर तबला बजाना, गीत-मंडली, लोहे की गोली का खेल, बाँस का खेल, हस्ति-युद्ध, अश्व-युद्ध, महिष-युद्ध, वृषभ-युद्ध, बकरों का युद्ध.....लाठी का खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मारपीट का खेल, सैन्य-प्रदर्शन आदि के विवरण मिलते हैं। मनुष्यों के आमोद-प्रमोद के साधनों को देखें तो दीर्घ आसन, पलंग, बड़े बड़े रोयें वाले आसन चित्रित आसन.....फूलदार बिछावन.....सिंह, व्याघ्र आदि के चित्र वाले आसन, झालरदार आसन आदि के विवरण, दर्पण, अंजन, माला, लेप, मुख-चूर्ण (पाउडर), मुख-लेपन, हाथ के आभूषण, छड़ी, तलवार, छाता, सुन्दर जूता, टोपी, मणि, चँवर आदि के विवरण पाते हैं। अनेक प्रकार की कथाएँ जैसे राजकथा, चोरकथा, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पनघट और भूत-प्रेत आदि की कथाएँ, अनेक प्रकार के फलित ज्योतिष के विधान, अनेक प्रकार के मिथ्या सामाजिक विश्वास और जीवन-निर्वाह के ढंग भी विवृत किये गये हैं। यज्ञयागादि की परम्परा कितनी विकृत हो चली थी, इसका एक संकेत अनेक प्रकार

के होमों की इस सूची में ही देखिये 'अग्नि-हवन, दर्वी-होम, तुष-होम, कण-होम, तंडुल-होम, घृत-होम, तैल-होम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिर-होम' आदि। अनेक प्रकार की विद्याओं यथा वास्तु-विद्या, क्षेत्र-विद्या, मणि-लक्षण, वस्त्र-लक्षण आदि के विवरण यहाँ दिये गये हैं। सारांश यह कि प्राग्बुद्धकालीन भारत का सारा सामाजिक और धार्मिक जीवन यहाँ चित्रित हो उठा है। दार्शनिक दृष्टि से इस सुत्त का यह महत्व है कि वह भगवान् बुद्ध के शासन के उस स्वरूप की ओर इंगित करता है जो मध्यमा-प्रतिपदा पर आधारित है और जिसमें जीवन के सत्य का साक्षात्कार (सच्छिकिरिया) ही मुख्य है, शाश्वतवाद या अशाश्वतवाद आदि के पचड़ों में पड़ना नहीं। अतः प्राग्बुद्धकालीन भारतीय विचार की विचिकित्साओं और उनकी पृष्ठभूमि में बुद्ध-शासन का सन्देश तथा प्रसंगवश तत्कालीन भारतीय समाज के उद्योग-व्यवसायों आदि के चित्रण की दृष्टि से यह सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२)

सामञ्ञफल-सुत्त (श्रामण्य-फल-सम्बन्धी बुद्ध-उपदेश) में हम पितृ-वध के पश्चात्ताप से संतप्त मगध-राज अजातशत्रु को चित्त-शान्ति प्राप्त करने के हेतु जीवक के राजगृह-स्थित आम्रवन में भगवान् के पास आता देखते हैं, जहाँ भगवान् उस समय ठहरे हुए थे। पहले वह अन्य आचार्यों के पास भी जा चुका है, किन्तु शान्ति नहीं मिली। इसी कारण यहाँ प्रसंगवश बुद्धकालीन उन छह प्रसिद्ध आचार्यों के मतों का भी निदर्शन कर दिया गया है, जिनका जानना बौद्ध धर्म के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इन छह आचार्यों के नाम थे, पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजित केस कम्बलि, प्रक्रुध कात्यायन, निगण्ठ नाटपुत्त और संजय बेलट्ठिपुत्त। पूर्ण काश्यप का मत अक्रियावाद था। उनके मत में पाप-पुण्य कुछ नहीं था। 'छुरे के समान तेज चक्र से कोई इस पृथिवी के प्राणियों के मांस का एक खलियान, मांस का एक पुंज बना दे, तो भी इसके कारण उसे पाप नहीं लगेगा'। दान, दम, संयम, तप में कोई पुण्य नहीं है, हिंसा, चोरी आदि में कोई पाप नहीं है, यही इनका मत था। मक्खलि गोसाल पूरे दैववादी थे। वे कहते थे, 'सत्वों के क्लेश का कोई हेतु नहीं है। बिना हेतु के ही सत्व क्लेश पाते हैं। सत्वों की शुद्धि का भी कोई हेतु नहीं है। बिना हेतु के ही सत्व शुद्ध होते हैं। पुरुष कुछ नहीं कर सकता। बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का कोई पराक्रम नहीं

है। सभी प्राणी अपने वश में नहीं हैं। निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोग के फेर से इधर-उधर उत्पन्न हो दुःख भोगते हैं।" अजित केस कम्बलि का मत था जड़वाद या उच्छेदवाद। वह कहता था, 'न दान है, न यज्ञ है, न होम है। न पुण्य या पाप का अच्छा-बुरा फल होता है, न यह लोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है' आदि, आदि। प्रक्रुध कात्यायन का मत था अकृततावाद। वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन, इन सब को अकृत, अनिर्मित, कूटस्थ, और अचल मानता था। 'यहाँ न हन्ता है, न घातयिता, न सुनने वाला, न सुनाने वाला, न जानने वाला, न जतलाने वाला'। निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र, भगवान् महावीर, जैन-तीर्थंकर) के मत में चार प्रकार के संयमों का विवरण दिया गया है "निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र किस प्रकार के संयमों से संयत रहते हैं? (१) निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र जल का वारण करते हैं (जिसमें जल के जीव न मारे जायँ), (२) सभी पापों का वारण करते हैं, (३) सभी पापों के वारण करने से पाप-रहित होते हैं और (४) सभी पापों के वारण करने में लगे रहते हैं।" संजय बेलट्ठिपुत्त का मत अनिश्चिततावाद था। उनका कहना था "मैं यह भी नहीं कहता, मैं वह भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता 'यह है'। मैं यह भी नहीं कहता 'यह नहीं है, मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता।' बुद्धकालीन धार्मिक वातावरण को जानने के लिये इन छह आचार्यों के मतों को जानना अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् ने अजातशत्रु को श्रमणता (श्रामण्य) या प्रव्रज्या का फल नैतिक मूल्यों के द्वारा बतलाया है। संसार के मूल्यों में उसे नहीं मापा जा सकता। पहले यहाँ भी शील का प्रारम्भिक, मध्यम और महा इन तीन भूमियों में विवरण है, फिर इन्द्रिय-संयम, स्मृति-सम्प्रजन्य, सन्तोष आदि के अभ्यास का विवरण है। अन्त में पश्चात्ताप से अभिभूत राजा कहता है "भन्ते! मैंने.....धार्मिक, धर्मराज पिता की हत्या की! भन्ते! भविष्य में सँभल कर रहने के लिये मुझ अपराधी पापी को आप क्षमा करें।" इस सुत्त में अनेक प्रकार के शिल्पस्थानों (सिप्पायतनानि) का वर्णन किया गया है जिनसे उस समय की दस्तकारी की अवस्था और व्यापारिक भूगोल पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जिन दृष्टियों से ब्रह्मजाल सुत्त का महत्व है, उन्हीं दृष्टियों से यह सुत्त भी महत्वपूर्ण है। वास्तव में कुछ हद तक यह उसका पूरक ही है।

अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ. १।३)

पौष्करसाति नामक ब्राह्मण के अम्बष्ठ (अम्बट्ठ) नामक शिष्य के साथ भगवान् बुद्ध का संवाद है। अम्बष्ठ अपने उच्च वर्ण के घमंड के कारण भगवान् के पास जाकर अशिष्टतापूर्वक बातें करता है। शाक्यों पर अनुचित आक्षेप भी करता है। जब भगवान् उसके अशिष्ट व्यवहार का उसे स्मरण दिलाते हैं, तो वह कहता है 'हे गौतम! जो मुंडक, श्रमण, इभ्य (नीच), काले, ब्रह्मा के पैर की सन्तान हैं, उनके साथ ऐसे ही कथा-संलाप किया जाता है, जैसा मेरा आप गौतम के साथ।' भगवान् उसे मिथ्या जातिवाद के अभिमान को छोड़ देने को कहते हैं। "अम्बष्ठ! जहाँ आवाह-विवाह होता है, वहीं यह कहा जाता है 'तू मेरे योग्य है', 'तू मेरे योग्य नहीं है'। वहीं यह जातिवाद, गोत्रवाद, मानवाद भी चलता है 'तू मेरे योग्य है', 'तू मेरे योग्य नहीं है।' **अम्बष्ठ! जो कोई जातिवाद में फँसे हैं, गोत्रवाद में फँसे हैं, अभिमानवाद में फँसे हैं, आवाह-विवाह में फँसे हैं, वे अनुपम विद्या और आचरण की सम्पदा से दूर हैं। अम्बष्ठ! जातिवाद के बंधन, गोत्रवाद-बन्धन, मानवाद-बन्धन और आवाह-विवाह-बन्धन छोड़कर ही अनुपम विद्या और आचरण की सम्पदा का साक्षात्कार किया जाता है।**" इस प्रकार इस सुत्त को जातिवाद के विरुद्ध भगवान् का सिंहनाद ही समझना चाहिए। इस सुत्त का एक ऐतिहासिक महत्व यह है कि यहाँ कृष्ण को एक प्राचीन ऋषि के रूप में स्मरण किया गया है। "वह कृष्ण महान् ऋषि थे। उन्होंने दक्षिण देश में जाकर ब्रह्ममन्त्र पढ़ कर, राजा इक्ष्वाकु के पास जा उसकी क्षुद्ररूपी कन्या को माँगा। तब राजा इक्ष्वाकु ने 'अरे! यह मेरी दासी का पुत्र होकर मेरी कन्या को माँगता है, कुपित हो, असन्तुष्ट हो, वाण चढ़ाया।'.....इक्ष्वाकु ने ऋषि को कन्या प्रदान की।.....वह कृष्ण महान् ऋषि थे।" शाक्यों की उत्पत्ति के विषय में भी यहाँ वर्णन किया गया है। यह सुत्त कोसल देश के इच्छानंगल ब्राह्मण-ग्राम में उपदिष्ट किया गया।

सोणदण्ड-सुत्त (दीघ० १।४)

सोणदण्ड (स्वर्णदण्ड) नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। विषय वही पूर्ववत् जातिवाद का खंडन। ब्राह्मण बनाने वाले धर्मों, अर्थात् सदाचार और ज्ञान, का आचरण करने वाला व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण है, न कि केवल ब्राह्मण-

कुल में उत्पन्न। इस सुत्त में अंग की राजधानी चम्पा का उल्लेख है। राजा बिम्बिसार द्वारा प्रदत्त चम्पा नगरी की आय का उपभोग सोणदण्ड ब्राह्मण करता था। यहीं गग्गरा पुष्करिणी के तीर पर बुद्ध का इस ब्राह्मण से संलाप हुआ।

कूटदन्त-सुत्त (दीघ० १।५)

कूटदन्त नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। बड़ी सामग्रियों वाले एवं हिंसामय यज्ञ के स्थान पर यहाँ ज्ञान-यज्ञ का आदर्श रक्खा गया है। कूटदन्त ब्राह्मण एक महायज्ञ करना चाहता था। उसने भगवान् से जाकर पूछा, "भन्ते! मैं महायज्ञ करना चाहता हूँ। मैंने सुना है आप सोलह परिष्कार-सहित त्रिविध यज्ञ-सम्पदा को जानते हैं। कृपाकर आप मुझे उसे बतावें।" भगवान् ने पूर्वकालीन महाविजित के आख्यान को कह कर उसे यह तत्व बताया है। वास्तव में महाविजित का यह आख्यान एक प्रकार का जातक-कथानक ही है। महाविजित नामक राजा ने भी प्राचीन युग में एक यज्ञ किया था। "ब्राह्मण! उस यज्ञ में गाएँ नहीं मारी गईं, बकरे-भेड़ें नहीं मारे गये, मुर्गे-सूअर नहीं मारे गये। न यज्ञ-स्तम्भ के लिये वृक्ष काटे गये, न पर-हिंसा के लिये कुश काटे गये। जो भी उसके दास और नौकर थे, उन्होंने भी दण्ड के भय से रहित होकर, जिन्होंने चाहा, किया, जिन्होंने नहीं चाहा, नहीं किया। अश्रु-मुख, रोते हुए उन्हें सेवा नहीं करनी पड़ी। जिसे चाहा उसे किया, जिसे नहीं चाहा उसे नहीं किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु और खाँड़ से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ"। इस प्रकार द्रव्य-यज्ञ में भी भगवान् सेवकों से बेगार न लेने के विशेषतः पक्षपाती हैं। किन्तु जिस यज्ञ का उन्होंने विधान किया है, वह तो इससे भी बहुत ऊपर है। वह यज्ञ है दान-यज्ञ, त्रिशरण-यज्ञ, शिक्षापद-यज्ञ, शील-यज्ञ, समाधि-यज्ञ, प्रज्ञा-यज्ञ। तथागत इसी यज्ञ के पक्षपाती हैं। मगध में खाणुमत नामक ग्राम की अम्बलट्ठिका (आम्रयष्टिका) में कूटदन्त ब्राह्मण के साथ बुद्ध का यह संलाप हुआ।

महालि-सुत्त (दीघ० १।६)

सुनक्षत्र नामक लिच्छवि-पुत्र भगवान् के शिष्यत्व को छोड़कर चला गया है। उसे आशा थी कि भगवान् के पास रहते मैं दिव्य शब्द सुनूंगा, योग की विभूतियों को प्राप्त करूँगा, आदि। जब ऐसा न हुआ तो उसने उन्हें छोड़ दिया। इसी के

बारे में प्रश्न करने के लिये महालि (ओट्ठद्ध—आधे ओठ वाला) नामक एक अन्य लिच्छवि सरदार भगवान् के पास आया है "भन्ते ! क्या सुनक्षत्र लिच्छवि-पुत्र ने विद्यमान ही दिव्य-शब्द नहीं सुने या अविद्यमान।" भगवान् उसे समझाते हैं कि ब्रह्मचर्य का उद्देश्य दिव्य शब्द सुनना या योग की विभूतियों को प्राप्त करना नहीं है, बल्कि उसका एकमात्र उद्देश्य तो सदाचार के जीवन के अभ्यास के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करना है। निर्वाण के साक्षात्कार के लिये ही ब्रह्मचर्य का ग्रहण किया जाता है और उसी के द्वारा दुःख का अन्त होता है। "यही है महालि ! अधिक उत्तम धर्म जिसके साक्षात्कार करने के लिये भिक्षु मेरे पास आकर ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं।" आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अभ्यास एवं सदाचार, समाधि और प्रज्ञा के जीवन से ही निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है, यह भी अन्त में अन्य सुत्तों की तरह उपदिष्ट किया गया है। महालि लिच्छवि के साथ बुद्ध का यह संलाप वैशाली की महावन-कूटागारशाला में हुआ। इस सुत्त के आरम्भ में जब हम महालि लिच्छवि तथा कुछ अन्य व्यक्तियों को बुद्ध से मिलने के लिये आया देखते हैं तो उन्हें बुद्ध के एक सेवक-शिष्य के द्वारा बताया जाता है कि "इस समय भगवान् ध्यान में हैं। यह समय उनसे मिलने का नहीं है।" बाद में कुछ समय बाद बुद्ध को सूचना दी जाती है और वे विहार की छाया में आकर बैठते हैं और वहीं धर्म-संलाप शुरू होता है।

जालिय-सुत्त (दीघ० १।७)

जालिय नामक परिव्राजक से भगवान् का संवाद। यह परिव्राजक भगवान् के पास आकर उनसे पूछता है "आवुस ![१] गौतम ! जीव और शरीर अलग-अलग वस्तु हैं या एक ही ?" भगवान् उसे समझाते हैं कि जीव और शरीर का भेद-अभेद कथन ही व्यर्थ है। जीवन का तत्त्व साक्षात्कार में है। अतः शील, समाधि और प्रज्ञा का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

कस्सप-सीहनाद-सुत्त (दीघ० १।८)

काश्यप (कस्सप) नामक अचेल (नग्न) साधु के साथ भगवान् का संवाद,

---

१. **'आयुष्मन्' ! जैसे कि मानो गौतम उससे छोटे हों ! संभवतः परिव्राजक की आयु भगवान् से अधिक थी और इस सुत्त का सम्बन्ध भगवान् की तरुण अवस्था से है।**

उजुञ्ञा के कण्णकत्थल नामक मृगदाव में। अचेल काश्यप ने कहीं से सुन लिया है कि भगवान् बुद्ध सब प्रकार की तपस्याओं की निन्दा करते हैं। वह अपनी शंका लेकर भगवान् के पास आता है। भगवान् उसे कहते हैं कि सब प्रकार की तपस्याओं की निन्दा करने वाला उन्हें कहना तो उनकी असत्य से निन्दा करना है। "काश्यप! मैं सब तपश्चरणों की निन्दा कैसे करूँगा?" सच्ची धर्मचर्या में भगवान् का अन्य साधु-सम्प्रदायों से कोई वैमत्य नहीं है। किन्तु सभी आचार-विचार छोड़ देना या अन्य सैकड़ों प्रकार के कायिक क्लेश देना जिनका विस्तृत विवरण इस सुत्त में है और जो उस समय की भारतीय साधना का अच्छा परिचय देते हैं, उनसे भगवान् की सहमति नहीं है। "काश्यप! जो आचार-विचार को छोड़ देता है, वह शील-सम्पत्ति, समाधि-सम्पत्ति और प्रज्ञा-सम्पत्ति की भावना नहीं कर सकता और न उनका साक्षात्कार ही कर पाता है। अतः वह श्रामण्य और ब्राह्मणत्त्व से बिलकुल दूर है। काश्यप! जब भिक्षु वैर और द्रोह से रहित होकर मैत्री-भावना करता है और चित्त-मलों के क्षय होने से निर्मल चित्त की मुक्ति और प्रज्ञा की मुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जानकर, स्वयं साक्षात्कार कर विहरता है, तो वही यथार्थतः श्रमण कहलाता है और वही ब्राह्मण भी।" वास्तव में उसी की तपस्या भी सच्ची है। शील, समाधि और प्रज्ञा का तथा अतिवाद पर आश्रित कायक्लेशमयी तपस्याओं को छोड़कर मध्यम-मार्ग रूपी आर्य अष्टांगिक मार्ग के अभ्यास का भी उपदेश यहाँ दिया गया है।

पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ० १।९)

पोट्ठपाद नामक परिव्राजक से भगवान् का संवाद, श्रावस्ती के जेतवनाराम में। आत्मा और लोक के आदि और अन्त सम्बन्धी प्रश्नों को उठाना ब्रह्मचर्य के लिये सहायक नहीं, यही यहाँ पोट्ठपाद परिव्राजक को भगवान् ने बताया है और शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना करने का उपदेश दिया है। क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनन्त, आदि प्रश्नों को भगवान् ने क्यों अव्याकृत अर्थात् अनिर्वचनीय या अकथनीय कह कर छोड़ दिया है, इसका भी समाधान करते हुए भगवान् ने कहा है, "पोट्ठपाद! न ये अर्थ-युक्त, न धर्म-युक्त, न ब्रह्मचर्य के लिये उपयुक्त, न निर्वेद के लिये, न विराग के लिये, न निरोध के लिये, न शान्ति के लिये, न ज्ञान के लिए, न संबोधि के लिये, न निर्वाण के लिये हैं, इसलिये मैंने इन्हें अव्याकृत कहा है।"

सुभ-सुत्त (दीघ० १।१०)

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद यह प्रवचन उनके उपस्थाक शिष्य आनन्द के द्वारा दिया गया। सुभ तोदेय्यपुत्त नामक माणवक को एक प्रश्न का उत्तर देते हुए आनन्द बताते हैं कि भगवान् बुद्ध शील, समाधि और प्रज्ञा इन तीन धर्म-स्कन्धों के बड़े प्रशंसक थे और इन्हें ही वे जनता को सिखाते थे। आनन्द द्वारा इन तीनों धर्मों का बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार यहाँ विवरण दिया गया है। सुभ तोदेय्यपुत्त के साथ आनन्द का यह संलाप श्रावस्ती के जेतवनाराम में हुआ।

केवट्ट-सुत्त (दीघ० १।११)

केवट्ट नामक गृहपति-पुत्र के साथ भगवान् का संवाद, नालन्दा के प्रावारिक आम्रवन में। ऋद्धियों का दिखाना भगवान् को पसन्द नहीं और उन्होंने इसे निषिद्ध कर दिया है। उनके मतानुसार सब से बड़ा चमत्कार तो उपदेश का ही चमत्कार है, आदेसना-प्रातिहार्य या अनुशासनी-प्रातिहार्य (अनुशासन रूपी चमत्कार) ! देवताओं और ब्रह्मा को भी यहाँ उस तत्त्व के विषय में, जहाँ पृथ्वी, जल, तेज और वायु का निरोध हो जाता है, अनभिज्ञ बताया गया है, जब कि बुद्ध उससे अभिज्ञ हैं। अर्हत् के मन में जब 'विज्ञान' शान्त हो जाता है, तो 'नाम-रूप' शान्त हो जाते हैं, यह विचार यहाँ है।

लोहिच्च-सुत्त (दीघ० १।१२)

लोहिच्च (लौहित्य) नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। झूठे और सच्चे शास्ताओं के विषय में भगवान् ने लोहिच्च को उपदेश दिया है। बुद्ध ने कहा है कि दूसरों को सिखाने के पहले अपने को सिखाना चाहिये और ज्ञान-प्राप्ति के अवसर सबको मिलने चाहिये। लोहिच्च ब्राह्मण कोसल देश में शालवतिका का निवासी था और वहीं उसका बुद्ध से संलाप हुआ।

तेविज्ज-सुत्त (दीघ० १।१३)

वाशिष्ठ और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मणों के साथ भगवान् का संवाद। यह संवाद कोसल देश में मनसाकट नामक ग्राम के समीप अचिरवती नदी के तीर पर एक आम्रवन में हुआ। अपरोक्ष-अनुभूति और सत्य-साक्षात्कार के बिना तीनों

वेदों का ज्ञान व्यर्थ है, यह इस सुत्त की मूल भावना है। इस सुत्त में ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण, छन्दावा ब्राह्मण, इन ग्रन्थों या परम्पराओं का उल्लेख हुआ है, जो सम्भवतः उस नाम की उपनिषदों की ओर संकेत करते हैं। अट्टक (अट्ठक भी), वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भारद्वाज, वशिष्ठ, काश्यप और भृगु, इन दस ऋषियों को यहाँ मन्त्रों का कर्ता या वेदों का रचयिता बताया गया है।[१] तीनों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा की सलोकता के मार्ग का उपदेश करते हैं, किन्तु ब्रह्मा को अपने अनुभव से, अपने साक्षात्कार से, जानते कोई नहीं। भगवान् बुद्ध एक मधुर व्यंग्यमयी उपमा करते हैं, 'वाशिष्ठ ! त्रैविद्य ब्राह्मण जिसे न जानते हैं, जिसे न देखते हैं, उसकी सलोकता के लिये मार्ग उपदेश करते हैं। जैसे कि वाशिष्ठ ! कोई पुरुष ऐसे कहे—इस जनपद की जो सुन्दरतम स्त्री (जनपद-कल्याणी) है, मैं उसको चाहता हूँ, उसकी कामना करता हूँ। उससे यदि लोग पूछें 'हे पुरुष ! जिस जनपद-कल्याणी को तू चाहता है, तू क्या जानता है कि वह क्षत्राणी है या ब्राह्मणी है या वैश्य स्त्री है या शूद्र स्त्री है ?' ऐसा पूछने पर वह 'नहीं' कहे। तब उससे पूछें 'हे पुरुष ! जिस जनपद-कल्याणी को तू चाहता है वह किस नाम वाली, किस गोत्र वाली, लम्बी, छोटी या मझोली है ? काली, श्यामा.....किस ग्राम या नगर में रहती है ?.....वाशिष्ठ ! त्रैविद्य ब्राह्मणों ने ब्रह्मा को अपनी आँखों से नहीं देखा..... उसकी सलोकता के लिये मार्ग उपदेश करते है !' उपास्य और उपासक के गुणों के अभेद की ओर भी भगवान् ने संकेत किया है। उपास्य (ब्रह्मा) अ-परिग्रही, उपासक (ब्राह्मण) परिग्रही; उपास्य अवैर-चित्त, उपासक वैर-बद्ध, उपास्य वशवर्ती, उपासक अवशवर्ती। "वाशिष्ठ ! सपरिग्रह त्रैविद्य ब्राह्मण काया छोड़, मरने के बाद, परिग्रह-रहित ब्रह्मा के साथ सलोकता को प्राप्त कर सकेंगे, यह सम्भव नहीं।" मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना के द्वारा साधक तथागत-प्रवेदित मार्ग का साक्षात्कार कर ब्रह्म-विहार में स्थित हो जाय, तो फिर "वह अपरिग्रह भिक्षु काया छोड़, मरने के बाद, अपरिग्रह ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं।" आचरण की सभ्यता को यहाँ भगवान् ने सदा के लिये स्मरणीय शब्दों में रख दिया है।

---

१. ये किन-किन मन्त्रों के द्रष्टा या रचयिता हैं, इसके लिये देखिये राहुल सांकृत्यायनः दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५२७-५२८

महावग्ग

महापदान-सुत्त (दीघ. २।१)

भगवान् के पूर्ववर्ती छह बुद्धों, यथा विपस्सी (विपश्यी), सिखी (शिखी), वेस्सभू (विश्वभू), भद्रकल्प, ककुसन्ध (क्रकुच्छन्द) और कोणागमन की जीवनियों का वर्णन। गौतम बुद्ध की जीवनी के आधार पर ही ये गढ़ लिये गये हैं, जिनमें ऐतिहासिक तत्त्व कुछ नहीं। श्रावस्ती में जेतवनाराम की करेरि-कुटिका में यह सुत्त उपदिष्ट।

महानिदान-सुत्त (दीघ. २।२)

प्रतीत्यसमुत्पाद का इस सुत्त में विस्तृततम विवरण है। सुत्त के प्रारम्भ में आनन्द यह कहते दिखाई पड़ते हैं "आश्चर्य है भन्ते! अद्भुत है भन्ते! कितना गम्भीर है और गम्भीर सा दीखता भी है यह प्रतीत्यसमुत्पाद, किन्तु मुझे यह साफ-साफ दिखाई पड़ता है"। भगवान् उन्हें समझाते है "ऐसा मत कहो आनन्द! यह प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर सा दिखाई भी देता है। आनन्द! इस धर्म के न जानने से ही यह प्रजा उलझे सूत सी, गाँठें पड़ी रस्सी सी, मूंज-वल्वज सी, अपाय, दुर्गति और पतन को प्राप्त होती है और संसार से पार नहीं हो सकती।" इसके बाद प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तृत विवरण है, उसके विभिन्न १२ अंगों की व्याख्या के साथ। दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण सुत्त, कुरुओं के कम्मासदम्म नामक कस्बे में उपदिष्ट।

महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ. २।३)

महापरिनिब्बाण-सुत्त दीघ-निकाय का सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सुत्त है। यहाँ हम भगवान् के अन्तिम जीवन का बड़ा मार्मिक और सच्चा चित्र पाते हैं। इस सुत्त में प्रधानतः इतनी घटनाओं की सूचना हमें मिलती है: (१) वज्जियों के विरुद्ध अजातशत्रु के अभियान का इरादा, (२) बुद्ध की अन्तिम यात्रा, (३) अम्बपाली गणिका का भोजन, (४) भगवान् को कड़ी बीमारी, (५) चुन्द का दिया अन्तिम भोजन (६) जीवन का अन्तिम समय, (७) स्त्रियों के प्रति भिक्षुओं के कर्त्तव्य, (८) चक्रवर्ती की दाह-क्रिया, (९) सुभद्र की प्रव्रज्या, (१०) अन्तिम उपदेश, (११) भगवान् का परिनिर्वाण, (१२) दाह-क्रिया, (१३) स्तूप-निर्माण।

इन सब घटनाओं का संक्षिप्त निदर्शन भी यहाँ नहीं किया जा सकता। केवल एक-दो प्रसंग लेखबद्ध किये जा सकते हैं। परिनिर्वाण से पूर्व आनन्द ने भगवान् से पूछा, "भन्ते! तथागत के शरीर को हम कैसे करेंगे?" भगवान् ने उत्तर दिया, "आनन्द! तथागत की शरीर-पूजा से तुम बेपर्वाह रहो। तुम तो आनन्द! सच्चे पदार्थ के लिये ही प्रयत्न करना, सच्चे पदार्थ के लिये ही उद्योग करना। सच्चे अर्थ के लिये ही अप्रमादी, उद्योगी, आत्मसंयमी हो विहरना।" आनन्द ने पूछा, "भन्ते! स्त्रियों के साथ हम कैसा बर्ताव करेंगे?" "अ-दर्शन, आनन्द!" वास्तव में बुद्ध के अन्तिम जीवन से परिचित होने के लिये और उनके सेवक-शिष्य आनन्द के साथ उनकी इस समय की चारिकाओं के लिये इस सुत्त का पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। महापरिनिर्वाण प्राप्त करने से पूर्व भगवान् ने भिक्षुओं को आश्वसित किया "आनन्द! शायद तुम को ऐसा हो—हमारे शास्ता चले गये, अब हमारे शास्ता नहीं हैं। आनन्द! ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय तुम्हें उपदेश किये हैं, वे ही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे।" "यो वो आनन्द मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो, सो वो मम-च्चयेन सत्था।" अनुकम्पक शास्ता ने अंतिम बार भिक्षुओं को सबोधित किया, "हन्त! भिक्षुओ! अब तुम्हें कहता हूँ--सभी संस्कार (कृत वस्तुएँ) व्ययधर्मा (नाशवान्) हैं, अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को) सम्पादन करो"—"वयधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथ"—यही तथागत का अंतिम वचन था। राजगृह से लेकर कुसिनारा तक की बुद्ध-यात्रा का वर्णन, जहाँ-जहाँ भगवान् रुके उनके पूर्ण विवरण के साथ, हमें यहाँ मिलता है। इस प्रकार अम्बलट्ठिका, नालन्दा, पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नादिका, वैशाली, भंडगाम, हत्थिगाम, और पावा आदि स्थानों का वर्णन आया है। वैशाली गणतन्त्र के सात गुणों की प्रशंसा भी भगवान् ने इस सुत्त में की है।

महासुदस्सन-सुत्त (दीघ. २।४)

भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में महासुदर्शन नामक चक्रवर्ती राजा थे। उसी समय की उनकी जीवनी का विस्तृत विवरण है। 'महासुदस्सन जातक' के कथानक से यहाँ समानता और असमानता दोनों ही हैं।

जनवसभ-सुत्त (दीघ. २।५)

बिम्बिसार मरने के बाद जनवसभ नामक यक्ष के रूप में स्वर्ग-लोक में उत्पन्न हुआ। उसने इस सुत्त में अपने गुरु से बुद्ध-धर्म की प्रशंसा की है। देवेन्द्र शक्र और सनत्कुमार ब्रह्मा[1] भी इस सुत्त में बुद्ध-धर्म की प्रशंसा करते दिखाये गये हैं। इस सुत्त में काशी, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेति (चेदि), कुरु, पंचाल, मच्छ (मत्स्य) और शूरसेन जनपदों का उल्लेख है।

महागोविन्द-सुत्त (दीघ. २।६)

भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में महागोविन्द नामक ब्राह्मण थे। उसी का यहाँ प्रधानतः वर्णन है। अतः इस अंश को एक जातक ही समझना चाहिये। वैसे इस सुत्त में भी पूर्व सुत्त (जनवसभ-सुत्त) की तरह देवराज इन्द्र और सनत्कुमार ब्रह्मा द्वारा बुद्ध-धर्म की प्रशंसा करवाई गई है। बुद्धकालीन भारत के राजनैतिक भूगोल का वर्णन इस सुत्त की एक प्रधान विशेषता है। यहाँ बताया गया है कि अत्यन्त प्राचीन काल में राजा रेणु के ब्राह्मण मंत्री महागोविन्द ने सम्पूर्ण जम्बुद्वीप (भारत) को सात भागों में बाँटा और उनकी अलग-अलग राजधानियाँ स्थापित कर दीं। सात राज्यों के नाम हैं, कलिंग, अस्सक (अश्मक), अवन्ती, सोवीर (सौवीर), विदेह, अंग और काशी। इनकी राजधानियाँ बताई गई हैं क्रमशः दन्तपुर, पोतन, माहिष्मती (माहिस्सति), रोरुक, मिथिला, चम्पा और वाराणसी।

महासमय-सुत्त (दीघ. २।७)

इस सुत्त में बुद्ध के दर्शनार्थ देवताओं का आगमन दिखाया गया है।

सक्कपञ्ह-सुत्त (दीघ. २।८)

शक्र (इन्द्र) द्वारा छह प्रश्नों का पूछा जाना। उसके द्वारा बुद्ध-धर्म की प्रशंसा।

---

१. सनत्कुमार (सनंकुमार) ब्रह्मा मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों में भी आये हैं। "सतत कुमार" इन ब्रह्मा के रूप में रायस डेविड्स् ने यूरोपीय कथा-साहित्य के गेलेहेड (Galahad) से समता देखी है। छान्दोग्य-उपनिषद् और महाभारत के सनत्कुमार से तो उनकी समता असन्दिग्ध ही है।

महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ. २।९)

इस सुत्त में चार स्मृति-प्रस्थानों यथा कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना का विशद विवरण दिया गया है। ये चार स्मृति-प्रस्थान 'सत्वों की विशुद्धि के लिये, शोक के निवारण के लिये, दुःख और दौर्मनस्य का अतिक्रमण करने के लिये, सत्य की प्राप्ति के लिये और निर्वाण की प्राप्ति और साक्षात्कार के लिये एकायन (अकेले) मार्ग है' ऐसा भगवान् ने यहाँ कहा है। इस सुत्त का उपदेश कुरु जनपद के कम्मासदम्म नामक कस्बे में दिया गया। दार्शनिक तथा साधनात्मक दृष्टि से इस सुत्त का बड़ा महत्त्व है। यह सुत्त दो भागों में मज्झिम-निकाय के दो सुत्तों में भी आया है, सतिपट्ठान-सुत्त और सच्चविभंग-सुत्त के रूप में।

पायासि-राजञ्ञ-सुत्त (दीघ. २।१०)

पायासि राजन्य के साथ भगवान् बुद्ध के शिष्य कुमार काश्यप के संवाद का वर्णन है। पायासि राजन्य परलोक में विश्वास नहीं करता। वह यह मानता है कि मरने के साथ जीवन उच्छिन्न हो जाता है। उसका तर्क स्पष्ट है। (१) मरे हुओं को किसी ने लौट कर आते नहीं देखा। (२) धर्मात्मा आस्तिकों को भी मरने की इच्छा नहीं होती। (३) जीव के निकल जाने पर मृत शरीर का न तो वजन ही कम होता है और न जीव को कहीं से निकलते जाते देखा जाता है। भौतिकवादी पायासि का कुमार काश्यप ने समाधान करने का प्रयत्न किया है। पायासि के मतानुसार "यह भी नहीं है, परलोक भी नहीं है। जीव मरने के बाद फिर नहीं पैदा होते और अच्छे-बुरे कर्मों का कोई फल भी नहीं होता।" इस मत के अनुसार ब्रह्मचर्य का अभ्यास ही व्यर्थ है। बुद्ध का मन्तव्य अनात्मवाद होते हुए भी पायासि के भौतिकवाद से तो फिर भी ठीक विपरीत है। कुमार काश्यप और पायासि राजन्य का यह संलाप सेतव्या के शिंशपा-वन में हुआ।

पाथिक-वग्ग

पाथिक-सुत्त (दीघ. ३।१)

सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र के बौद्ध धर्म-त्याग की बात फिर इस सुत्त में आई है। वह इसलिये रुष्ट होकर भिक्षु-संघ को छोड़ कर चला गया था कि भगवान् ने उसे

ऋद्धिबल नहीं दिखाया। "सुनक्खत्त ! क्या मैंने तुझसे कभी कहा था--सुनक्खत्त ! आ ! मेरे धर्म को स्वीकार कर। मैं तुझे अलौकिक ऋद्धिबल दिखाऊँगा ?" "नहीं भन्ते !" "मूर्ख ! यह तेरा ही अपराध है।" ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का भी इस सुत्त में खंडन किया गया है।

उदुम्बरिक-सीहनाद-सुत्त (दीघ. ३।२)

उदुम्बरिका नामक परिव्राजकाराम में भगवान् ने यह सिंहनाद किया, अतः इसका यह नाम है। यह सिंहनाद भगवान् ने न्यग्रोध नामक परिव्राजक के प्रति किया। यहाँ भगवान् ने झूठी और सच्ची तपस्याओं के सम्बन्ध में उपदेश दिया है और बुद्ध-धर्म की साधना से इसी जन्म में शान्ति की प्राप्ति को दिखाया है।

चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (दीघ. ३।३)

स्वावलम्बन, व्रत-पालन एवं चार स्मृति-प्रस्थानों के अभ्यास का उपदेश। भिक्षुओं के कर्त्तव्यों सम्बन्धी उपदेश भी।

अग्गञ्ञ-सुत्त (दीघ. ३।४)

इस सुत्त में वर्ण-व्यवस्था का खंडन किया गया है। जन्म की अपेक्षा यहाँ कर्म को ही प्रधान माना गया है। मनुष्य और उसके समाज के विकास का भी वर्णन है। वैशाली के पूर्वाराम में यह उपदेश वाशिष्ठ और भारद्वाज नामक ब्राह्मणों को दिया गया।

सम्पसादनिय-सुत्त (दीघ. ३।५)

नालन्दा के प्रावारिक आम्रवन में सारिपुत्र ने कहा कि परम ज्ञान में बुद्ध के समान आज तक कोई नहीं हुआ। परन्तु बुद्ध अत्यन्त विनम्र और निरहंकार हैं। सारिपुत्र द्वारा बुद्ध में संप्रसाद (श्रद्धा) प्रकट करने के कारण 'सम्पसादनिय' नाम।

पासादिक-सुत्त (दीघ. ३।६)

निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (तीर्थंकर भगवान् महावीर) की पावा में हुई मृत्यु की इस

सुत्त में सूचना है। बुद्ध के उपदिष्ट धर्म, अव्याकृत और व्याकृत बातें, पूर्वान्त और अपरान्त दर्शन, चार स्मृति-प्रस्थान आदि विषय जो पूर्व के सुत्तों में आ चुके हैं, यहाँ फिर विवृत किये गये हैं। साथ ही यहाँ यह भी बताया गया है कि बुद्ध-धर्म चित्त की शुद्धि के लिये है और यही उसका प्रमुख उद्देश्य और उपयोग है। प्रसाद-कारी उपदेश !

लक्खण-सुत्त (दीघ. ३।७)

इस सुत्त में ३२ महापुरुष-लक्षणों[1] का विवरण है। साथ ही किस-किस कर्म-विपाक से किस-किस शुभ लक्षण की प्राप्ति होती है, यह भी दिखाया गया है। इस प्रकार नैतिक उद्देश्य स्पष्ट है। श्रावस्ती के जेतवनाराम में यह सुत्त उपदिष्ट किया गया।

सिगालोवाद-सुत्त (दीघ. ३।८)

सिगाल (श्रृगाल) नामक गृहपति-पुत्र को भगवान् द्वारा पूरे गृहस्थ-धर्म का उपदेश। चार पाप के स्थान, छह सम्पत्ति-नाश के कारण, मित्र और अमित्र की पहचान तथा छह दिशाओं की पूजा करने का बौद्ध विधान, आदि बातों का विवरण है। आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि गृहस्थ-सम्बन्धी कर्तव्यों में कोई ऐसा नहीं है जो यहाँ छोड़ दिया गया हो। यह सुत्त बौद्ध धर्म में गृहस्थ धर्म के स्वरूप और महत्व को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अशोक ने इस सुत्त की भावना को अपने अभिलेखों में बार-बार ग्रहण किया है। इस सुत्त का उपदेश राजगृह के वेणुवन कलन्दक निवाप में दिया गया।

---

१. ऐसा लगता है कि महापुरुष के बत्तीस लक्षणों सम्बन्धी धारणा बुद्ध-पूर्व काल से प्रचलित थी। कई ब्राह्मणों को हम बुद्ध की परीक्षा के लिये उनमें ३२ महापुरुष-लक्षणों को ढूंढ़ते देखते हैं और बुद्ध की प्रशंसा के प्रसंग में भी वे उनके ३२ महापुरुष-लक्षणों का उल्लेख करते हैं। अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ. १।३) तथा ब्रह्मायु-सुत्त (मज्झिम. २।५।१) में ब्राह्मण कहते दिखाये गये हैं, "हमारे मंत्रों में ३२ महापुरुष-लक्षण आये हैं।" यह ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी के आदि-काव्य 'पृथ्वीराजरासो' में पृथ्वीराज के बाल्यकाल का वर्णन करते हुए उसके महापुरुष-सम्बन्धी 'बतिस लखिन' का उल्लेख किया गया है।

आटानाटिय-सुत्त (दीघ. ३।९)

बौद्ध रक्षा-मन्त्र। सात बुद्धों को नमस्कार आदि और इस प्रकार भूत-यक्षों से रक्षा करने का उपाय। यह सुत्त बुद्ध की शिक्षाओं से मेल नहीं खाता। यह बाद का परिवर्द्धन ही जान पड़ता है, जैसा अनेक विद्वानों का विचार है।

संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ. ३।१०)

एक संख्या से लेकर दस संख्या तक के वर्गीकरणों में बुद्ध-मन्तव्यों की सूची। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने यह उपदेश भगवान् की सन्निधि में दिया। पावा में मल्लों के हाल में बने संस्थागार में, बहुत रात बीत जाने पर।

दसुत्तर-सुत्त (दीघ. ३।११)

एक से लेकर दस संख्या तक के (दशोत्तर) धर्मों में कौन-कौन से उपकारक, भावनीय, परिज्ञेय, प्रहातव्य, हानभागीय (पतनकारक), विशेषभागीय, दुष्प्रतिवेध्य, उत्पादनीय, अभिज्ञेय, या साक्षात्करणीय हैं, इसका विवरण। धर्म-सेनापति सारिपुत्र द्वारा उपदिष्ट, चम्पा में गग्गरा पोक्खरणी (गर्गरा पुष्करिणी) के तीर पर, भगवान् की सन्निधि में।

आ—मज्झिम-निकाय[1]

मज्झिम-निकाय में मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह है। इसलिये इसका

---

१. केवल मज्झिम-पण्णासक अर्थात् सुत्त ५१-१०० पहले देवनागरी लिपि में दो भागों में बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किये गये थे, (१९३७-३८), भाग प्रथम, सुत्त ५१-७०; भाग द्वितीय, सुत्त ७१-१०० (डा० भागवत द्वारा संपादित)। अब भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान सम्पादकत्व में मज्झिम-निकाय का पूरा देवनागरी संस्करण तीन जिल्दों में निकला है, जिसे बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल ने सन् १९५८ में प्रकाशित किया है। पहली जिल्द में मूल पण्णासक है, अर्थात् सुत्त १-५०, दूसरी में मज्झिम-पण्णासक, अर्थात् सुत्त ५१-१०० और तीसरी में उपरिपण्णासक, अर्थात् सुत्त १०१-१५२। हिन्दी में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसे अनुवादित किया है। यह अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा सन् १९३३ में प्रकाशित किया गया है।

यह नाम पड़ा है। सुत्त-पिटक में इस निकाय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस निकाय को 'बुद्धवचनामृत' कहा है, जो इसमें निहित बुद्ध-वचनों की सर्वविध महत्ता को देखते हुए बिलकुल ठीक ही है। फ्रेंक जैसे सन्देहवादी विद्वान् को भी मज्झिम-निकाय की मौलिक सुगन्ध के सामने नत-मस्तक होना पड़ा है और उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि मज्झिम-निकाय में हम निश्चय ही धर्म-स्वामी के कुछ महत्वपूर्ण उद्‌गार पाते हैं। जर्मन विद्वान् डा० ढालके ने मुख्यतः इसी एक ग्रन्थ के आधार पर अपने गम्भीर बौद्ध धर्म सम्बन्धी निबन्धों की रचना की है। मज्झिम-निकाय का वर्गीकरण १५ वर्गों में है, जिनमें कुल मिला कर १५२ सुत्त हैं। हम इस वर्गीकरण की रूपरेखा पहले दिखा चुके हैं। अतः यहाँ अति संक्षिप्त रूप में केवल मज्झिम-निकाय के सुत्तों के विषय की ओर इंगित मात्र करेंगे।

(१) मूल-परियाय-वग्ग

१. मूल-परियाय-सुत्त—बुद्ध के सम्पूर्ण धर्म का मूल नामक उपदेश—न मैं, न मेरा, न मेरा आत्मा—अनात्मवाद-अनासक्तिवाद। यह उल्लेखनीय है कि श्रोता भिक्षुओं ने इस उपदेश का अभिनन्दन नहीं किया। अधिक दूरूह होने के कारण वे इसे समझ नहीं सके। अट्‌ठकथा में उल्लेख है कि बुद्ध ने इस पर उन्हें 'मूल परियाय जातक' का उपदेश दिया।

२. सब्बासव-सुत्त—"भिक्षुओ! सारे चित्त-मलों के संवर (रोक) नामक उपदेश को मैं तुम्हें देता हूँ, ध्यान से सुनो।"

३. धम्मदायाद-सुत्त—"भिक्षुओ! तुम मेरे धर्म के वारिस बनो, धनादि भोगों (आमिष) के दायाद नहीं। भिक्षुओ! तुम पर मेरी अनुकम्पा है।"

४. भयभेरव-सुत्त—वन-खंड और सूनी कुटियों में रहने वाले अशुद्ध कायिक कर्म संयुक्त भिक्षुओं को कभी-कभी भय हो उठता है। इसे कैसे दूर किया जाय, इसका जानुस्सोणि नामक ब्राह्मण को भगवान् का उपदेश है, स्वकीय पूर्व अनुभव के आधार पर। "ब्राह्मण! शायद तेरे मन में ऐसा हो—आज भी श्रमण गौतम अ-वीतराग, अ-वीत-द्वेष, अ-वीत-मोह है, इसीलिये अरण्य, वन-खंड तथा सूनी कुटिया का सेवन करता है'! ब्राह्मण! मैं दो बातों के लिये आज भी अरण्य सेवन करता हूँ। (१) इसी शरीर में अपने सुख-विहार के विचार से, (२) आगे आने वाली जनता पर

अनुकम्पा करने के लिये, ताकि मेरा अनुगमन कर वह भी सुफल की भागी हो।"

५. अनंगण-सुत्त—राग, द्वेष और मोह से रहित (अनंगण) और उनसे युक्त व्यक्तियों के चार प्रकार—सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और अन्य भिक्षुओं के धार्मिक संलाप।

६. आकंखेय्य-सुत्त—"भिक्षुओ! शील-सम्पन्न होकर विहरो, प्रातिमोक्ष रूपी संयम से संयमित होकर विहरो.....ध्यान और विपश्यना से युक्त हो सूने घरों की शरण लो"।

७. वत्थ-सुत्त—मैले वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। किन्तु साफ वस्त्र पर चढ़ जाता है। चित्त के निर्मल होने पर सुगति भी अनिवार्य है। वह नदियों के स्नानादि से प्राप्त नहीं होती। 'ब्राह्मण! तू यदि झूठ नहीं बोलता, प्राणियों को नहीं मारता, बिना दिया लेता नहीं, तो गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय भी तेरे लिये गया है।"

८. सल्लेख-सुत्त—तप-विहार का उपदेश।

९. सम्मादिट्ठि-सुत्त—सम्यक् दृष्टि पर धर्मसेनापति सारिपुत्र का प्रवचन।

१०. सतिपट्ठान-सुत्त—चार स्मृति-प्रस्थानों का उपदेश। यही विषय दीघ-निकाय के महासतिपट्ठान-सुत्त का भी है। केवल कुछ अंश वहाँ अधिक है।

(२) सीहनाद-वग्ग

११. चूल-सीहनाद-सुत्त—चार बातों में बौद्ध भिक्षुओं की अन्य धर्मावलम्बियों-से विशेषता।

१२. महा-सीहनाद-सुत्त—सुनक्खत्त लिच्छविपुत्त यह कह कर भिक्षु-संघ को छोड़कर चला गया है "श्रमण गौतम के पास आर्य ज्ञान-दर्शन की परा-काष्ठता नहीं है, उत्तर-मनुष्य धर्म नहीं है। वह केवल अपने ही चिन्तन से सोचे, अपनी प्रतिभा से जाने, तर्क से प्राप्त, धर्म का उपदेश करते हैं।" इसी प्रसंग को लेकर भगवान् बुद्ध और धर्मसेनापति सारिपुत्र में संलाप। तथागत के दस बल तथा चार वैशारद्यों का वर्णन। इसी प्रसंग में भगवान् ने अपनी पूर्व तपस्याओं का वर्णन भी किया है, "सारिपुत्र! यह मेरा रुक्षा-चार था। पपड़ी पड़े अनेक वर्ष के मैल को शरीर में संचित किये रहता

था...भीषण वन-खंड में प्रवेश कर विहरता था—मुर्दे की हड्डियों का सिरहाना बना श्मशान में शयन करता था—सारिपुत्र ! जब मैं पेट के चमड़े को पकड़ता तो पीठ के काँटे को ही पकड़ लेता था, पीठ के काँटे को पकड़ते समय पेट के चमड़े को ही पकड़ लेता था—इस दुष्कर तपस्या से भी मैं उत्तर मनुष्य-धर्म नहीं पा सका.....आज सारिपुत्र ! मेरी आयु अस्सी को पहुँच गई है.....सारिपुत्र! अशन, पान, शयन को छोड़, मल-मूत्र-त्याग के समय को छोड़, तथागत की धर्म-देशना सदा अखंड ही चलती रहेगी।" बुद्ध-जीवनी की दृष्टि से यह सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

१३. महादुक्खक्खन्ध-सुत्त—दुःख, उसका हेतु और निरोध।

१४. चूलदुक्खक्खन्ध-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही विषय।

१५. अनुमान-सुत्त—महामौद्गल्यायन का प्रवचन। सावधानी-पूर्वक आत्म-प्रत्यवेक्षण करते हुए सदाचारी जीवन बिताने का उपदेश। आचार्य बुद्धघोष ने अपनी व्याख्या में कहा है कि 'पोराणों' को यह सुत्त 'भिक्खु पातिमोक्ख' के नाम से विदित था और कहा है कि प्रत्येक भिक्षु को दिन में तीन बार आत्म-प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

१६. चेतोखिल-सुत्त—चित्त के पाँच काँटों का भगवान् के द्वारा वर्णन।

१७. वनपत्थ-सुत्त—वनप्रस्थ या ग्राम, या निगम, या नगर, कहीं भी रहते हुए स्मृति की साधना करनी चाहिये।

१८. मधुपिंडिक-सुत्त—भगवान् के द्वारा धर्म की रूपरेखा का वर्णन। महाकच्चान (महाकात्यायन) द्वारा उसकी विस्तार से व्याख्या। मधुपिण्ड (लड्डू) के समान मधुर उपदेश !

१९. द्वेधावितक्क-सुत्त—भगवान् द्वारा अपने पूर्व अनुभवों का वर्णन। चित्तमलों का शमन, ध्यान, आर्य अष्टांगिक मार्ग, अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन।

२०. वितक्क-सण्ठान-सुत्त—वितर्कों को वश में करने का उपाय।

(३) ओपम्म-वग्ग

२१. ककचूपम-सुत्त—आरे (ककच) से चीरे जाने पर भी जो चित्त को बिना दूषित किये शान्त न रह सके, वह बुद्ध का शिष्य नहीं है।

२२. अलगद्दूपम-सुत्त—धर्म के विषय में मिथ्या धारणायें रखना सर्प (अलगद्द) को पूंछ से पकड़ना है।

२३. वम्मिक-सुत्त—नर-देह की असारता एवं निर्वाण-प्राप्ति की बाधाएँ। कुछ पहेलीमय शब्दों की बुद्ध के मन्तव्य के अनुसार व्याख्या।

२४. रथविनीत-सुत्त—ब्रह्मचर्य के उद्देश्य और विशुद्धियाँ।

२५. निवाप-सुत्त—मार के जालों से कैसे बचें?

२६. अरियपरियेसन-सुत्त (या पासरासि-सुत्त)—बुद्ध के द्वारा अपने महाभिनिष्क्रमण एवं अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन। धर्म-चक्र-प्रवर्तन का भी वर्णन। बुद्ध की आर्य-पर्येषणा। इस सुत्त में ऐन्द्रिय विषयों को पाश कहा गया है। इसलिये अट्ठकथा में इसका नाम 'पासरासि-सुत्त' दिया गया है। श्री नालन्दा संस्करण में यही स्वीकृत पाठ।

२७. चूलहत्थिपदोपम-सुत्त—सत्य-प्राप्त मुनि के आश्चर्य!

२८. महाहत्थिपदोपम-सुत्त—उपादान-स्कन्धों से विमुक्ति, प्रतीत्यसमुत्पाद। सभी कुशल धर्म चार आर्य सत्यों में निहित हैं।

२९. महासारोपम-सुत्त—देवदत्त के संघ को छोड़ जाने के बाद भगवान् का भिक्षु-जीवन के उद्देश्यों पर उपदेश।

३०. चूलसारोपम-सुत्त—पूर्वोक्त के समान ही। इस सुत्त में छह तैर्थिकों या तत्कालीन अन्य मतावलम्बी आचार्यों का भी वर्णन है।

(४) महायमक-वग्ग

३१. चूलगोसिंग-सुत्त—अनुरुद्ध, किंबिल और नन्दिय की प्रव्रज्या एवं सिद्धि-प्राप्ति।

३२. महा-गोसिंग-सुत्त—गोसिंग शालवन किस प्रकार के भिक्षु से सुशोभित होगा?

३३. महा-गोपालक-सुत्त—भिक्षु के लिये आवश्यक ग्यारह बातें।

३४. चूल-गोपालक-सुत्त—अच्छे और बुरे शास्ताओं के अनुयायियों की दशा।

३५. चूल-सच्चक-सुत्त—सच्चक नामक आजीवक को पञ्चस्कन्ध और अनात्मवाद का उपदेश।

३६. महा-सच्चक-सुत्त—भगवान् बुद्ध का अभिसंबोधि और समाधि पर प्रवचन। काया की साधना के ऊपर मन की साधना की स्थापना।

३७. चूल-तण्हासंखय-सुत्त—तृष्णा का क्षय कैसे हो?

३८. महा-तण्हासंखय-सुत्त—अनात्मवाद का तृष्णा-क्षय के रूप में उपदेश। धर्म में भी अनासक्ति आवश्यक।

३९. महा-अस्सपुर-सुत्त—
४०. चूल-अस्सपुर-सुत्त— } भिक्षुओं के कर्तव्यों का वर्णन।

(५) चूल-यमक-वग्ग

४१. सालेय्यक-सुत्त—कुछ प्राणी क्यों सुगति और कुछ क्यों दुर्गति प्राप्त करते हैं ?
४२. वेरंजक-सुत्त—उपर्युक्त के समान विषय। वेरंजा के ब्राह्मणों को उपदिष्ट।
४३. महा-वेदल्ल-सुत्त—संज्ञा, शील, समाधि, प्रज्ञा, आयु, उष्मा और विज्ञान पर धर्मसेनापति सारिपुत्र का प्रवचन।
४४. चूल-वेदल्ल-सुत्त—आर्य अष्टांगिक मार्ग, संज्ञावेदयित-निरोध, स्पर्श, वेदना तथा अनुशयों पर भिक्षुणी धम्मदिन्ना का प्रवचन।
४५. चूल-धम्मसमादान-सुत्त—धर्मानुयायियों के चार प्रकार।
४६. महा-धम्मसमादान-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
४७. वीमंसक-सुत्त—ठीक विमर्श कैसे हो ?
४८. कोसम्बिय-सुत्त—कौशाम्बी के भिक्षुओं को मेल-जोल के लिये उपयोगी छह बातों का उपदेश।
४९. ब्रह्मनिमन्तनिक-सुत्त—ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता मानना ठीक नहीं।
५०. मार-तज्जनिय-सुत्त—महामौद्गल्यायन का मार को तर्जन।

(६) गहपति-वग्ग

५१. कन्दरक-सुत्त—आत्म-निर्यातन के विरुद्ध प्रवचन !
५२. अट्ठक-नागर-सुत्त—ग्यारह अमृत-द्वार (ध्यान)। आनन्द निर्वाण-मार्ग पर स्थित।
५३. सेख-सुत्त—शैक्ष्य जनों के कर्त्तव्यों पर आनन्द का प्रवचन।
५४. पोतलिय-सुत्त—आर्य-मार्ग क्या है ? सच्चा संन्यास क्या है ? पोतलिय नामक गृहपति के साथ बुद्ध का संलाप।
५५. जीवक-सुत्त—मांस-भक्षण पर बुद्ध-मत। जीवक के साथ बुद्ध का संलाप।
५६. उपालि-सुत्त—दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ और बाद में उपालि गृहपति के साथ भगवान् का संवाद। निगण्ठ नाटपुत्त के चातुर्याम-संवर का उल्लेख है। "निगण्ठो नाटपुत्तो चातुयामसंवरसंवुतो।"
५७. कुक्कुरवतिक-सुत्त—निरर्थक व्रत। कर्म पर भी प्रवचन।

५८. अभयराजकुमार-सुत्त—उपकारी अप्रिय सत्य को भी बोलना कर्त्तव्य है। राजगृह के वेणुवन में इस सुत्त का उपदेश भगवान् ने अभय राजकुमार को दिया।

५९. बहुवेदनिय-सुत्त—वेदनाओं का वर्गीकरण।

६०. अपण्णक-सुत्त—द्विविधा-रहित (अपर्णक) धर्म का उपदेश।

(७) भिक्खु-वग्ग

६१. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्त—"राहुल! तुझे सीखना चाहिये कि मैं प्रत्यवेक्षण कर काय-कर्म, वचन-कर्म, मन-कर्म का परिशोधन करूँगा।" अम्बलट्ठिका (वेणुवन के किनारे वास-स्थान) में राहुल के प्रति भगवान् का उपदेश! इस सुत्त के आरम्भ में बुद्ध ने एक लोटे में थोड़ा सा जल लिया और उसे धरती पर गिराकर राहुल से प्रश्नोत्तर करते हुए उसे समझाया कि जिन्हें जानबूझ कर झूठ बोलने में लज्जा नही, उनका श्रमणपन डाली गई बूँद के समान थोड़ा है, खाली लोटे के समान रिक्त और तुच्छ है। अशोक ने इस सूत्र पर मनन करने की प्रेरणा अपने प्रसिद्ध भाब्रू-अभिलेख में दी है।

६२. महाराहुलोवाद-सुत्त—राहुल को प्रधानतः आनापान सति (प्राणायाम के साथ स्मृति) के अभ्यास का उपदेश। "राहुल! तू पृथ्वी-समान ध्यान की भावना कर।.....जैसे राहुल! पृथ्वी में शुचि वस्तु भी फेंकते हैं, अशुचि वस्तु भी फेंकते हैं.....उससे पृथ्वी दुःखी नहीं होती, ग्लानि नहीं करती, घृणा नहीं करती। इसी प्रकार राहुल! पृथ्वी-समान भावना करते तेरे चित्त को अच्छे लगने वाले स्पर्श न चिपटेंगे।.....राहुल! तू मैत्री-भावना का अभ्यास कर। जो द्वेष है, उससे छूट जायेगा। राहुल! करुणा-भावना का अभ्यास कर। जो तेरी पर-पीड़ा-करण इच्छा है, वह हट जायगी। राहुल! उपेक्षा-भावना का अभ्यास कर! जो तेरी प्रतिहिंसा है, वह हट जायगी। राहुल! अशुभ-भावना का अभ्यास कर। जो तेरा राग है, वह हट जायगा"।

६३. चूल-मालुक्य-सुत्त—लोक शाश्वत है या अशाश्वत, आदि दस प्रश्न मालुंक्यपुत्त ने भगवान् से किये। भगवान् ने उन्हें अव्याकत (अव्याकृत-अकथनीय) करार दे दिया, क्योंकि इनका उत्तर या कथन सार्थक नहीं, ब्रह्मचर्य-उपयोगी नहीं और न यह वैराग्य, निरोध, शान्ति, उत्तम, परम, ज्ञान एवं निर्वाण के लिये ही आवश्यक है।

६४. महा-मालुंक्य-सुत्त—पाँच संयोजनों (सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शील-व्रत-परामर्श, काम-राग, व्यापाद) के प्रहाण का मार्ग।

६५. भद्दालि-सुत्त—भद्दालि नामक भिक्षु को आचार-मार्ग का उपदेश।

६६. लटुकिकोपम-सुत्त—स्थविर उदायी को भगवान् का धर्मोपदेश। "उदायी! कोई-कोई मूर्ख पुरुष मेरे 'यह छोड़ो' कहने पर ऐसा कहते हैं "क्या इस छोटी बात के लिये, तुच्छ बात के लिये, यह श्रमण जिद कर रहा है" और वे उसे नहीं छोड़ते। किन्तु जो भिक्षु सीखने वाले होते है, उन्हें यह होता है 'यह बलवान् बन्धन है, दृढ़ बन्धन है, स्थिर बन्धन है, स्थूल कलिंगर (पशुओं के गले में बाँधने का काष्ठ) है। जैसे उदायी! पोय-लता के बन्धन से बँधी लटुकिका (गौरैय्या) पक्षी वहीं वध, बन्धन या मरण की प्रतीक्षा करती है। उदायी! जो आदमी यह कहे 'चूँकि यह लटुकिका पक्षी पोय-लता के बन्धन से बँधा है, वह वहीं वध, बन्धन या मरण की प्रतीक्षा कर रहा है, किन्तु उसका वह निर्बल बन्धन है, सड़ा बन्धन है, कमजोर बन्धन है'। क्या उदायी! ऐसा कहते वह ठीक कह रहा है?" "नहीं भन्ते! वह लटुकिका पक्षी जिस पोय-लता के बन्धन से बँधा है, वह उसके लिये बलवान् बन्धन है, स्थूल कलिंगर (पशु के गले में बाँधने का काष्ठ) है"।

६७. चातुम-सुत्त—चातुमा के भिक्षुओं को आचार-तत्त्व का उपदेश।

६८. नलकपान-सुत्त—नलकपान के पलास-वन में भगवान् का भिक्षु अनुरुद्ध से धर्म-संलाप।

६९. गुलिस्सानि-सुत्त—गुलिस्स्सानि नामक आरण्यक भिक्षु को लक्ष्य कर धर्म-सेनापति सारिपुत्र का भिक्षुओं को सद्व्यवहार पर उपदेश।

७०. कीटागिरि-सुत्त—भिक्षु-नियमों सम्बन्धी उपदेश, विशेषत: दिन में एक बार भोजन करने के प्रसंग को लेकर। कीटागिरि (काशी राज्य में) के दो भिक्षु इसके विपरीत आचरण करते थे।

(८) परिब्बाजक-वग्ग

७१. तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त—भगवान् बुद्ध त्रैविद्य हैं।

७२. अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त—अग्गिवच्छगोत्त नामक परिव्राजक को भगवान् की शिष्यत्व-प्राप्ति।

७३. महावच्छगोत्त-सुत्त—उपासकों और भिक्षुओं के कर्तव्य।

७४. दीघनख-सुत्त—दीघनख परिव्राजक से भगवान् का संलाप। 'वेदना-परिग्गह-सुत्त' नाम से भी ज्ञात।

७५. मागन्दिय-सुत्त—मागन्दिय नामक परिव्राजक को कामनाओं के त्याग का उपदेश।

७६. सन्दक-सुत्त—सन्दक नामक परिव्राजक को आनन्द का उपदेश।

७७. महासकुलुदायि-सुत्त—सकुलुदायि परिव्राजक को उपदेश। बुद्ध का वास्तविक महत्व किस बात में है?

७८. समणमंडिका-सुत्त—शुद्ध आचरण पर भगवान् बुद्ध का उपदेश।

७९. चूल-सकुलुदायि-सुत्त—निगण्ठ नाटपुत्त और उनके मत का निर्देश है।

८०. वेखनस-सुत्त (वेखनस्स-सुत्त)—वेखनस (या वेखनस्स) नामक परिव्राजक के साथ बुद्ध का संलाप, पूर्णता पर।

(९) राज-वग्ग

८१. घटिकार-सुत्त (या घटीकार-सुत्त)—भगवान् बुद्ध के द्वारा अपने एक पूर्व-जन्म के विवरण-प्रसंग में काश्यप बुद्ध के परम सेवक वेहलिंग-निवासी घटिकार (घटीकार) नामक कुम्हार के गुणों का वर्णन।

८२. रट्ठपाल-सुत्त—राष्ट्रपाल की प्रव्रज्या का विवरण। कुरुदेश की राजधानी थुल्लकोट्ठित का उल्लेख है। राष्ट्रपाल यहीं के निवासी थे।

८३. मखादेव-सुत्त—बुद्ध के एक पूर्व जन्म की कथा, जब कि मिथिला का राजा मखादेव था। निमि और उसके पुत्र कराल जनक (कलार जनक) का भी मिथिला (विदेह) के राजाओं के रूप में वर्णन।

८४. मधुर-सुत्त—चारों वर्णों की समता का उपदेश आयुष्मान् महाकात्यायन द्वारा। बुद्ध-निर्वाण के बाद आयुष्मान् महाकात्यायन का मथुरा के राजा अवन्तिपुत्र से मथुरा के गुन्दावन में संवाद। एक मधुर-सुत्त (या मधुरा-सुत्त) अंगुत्तर-निकाय में भी है, जिसमें बुद्ध द्वारा मथुरा (मधुरा) के पाँच दोषों का वर्णन है।

८५. बोधिराजकुमार-सुत्त—भगवान् बुद्ध की जीवनी, स्वयं उनके शब्दों में, गृहत्याग से लेकर बुद्धत्व-प्राप्ति तक।

८६. अंगुलिमाल-सुत्त—डाकू अंगुलिमाल का जीवन-परिवर्तन।

८७. पियजातिक-सुत्त—सम्पूर्ण दुःख प्रम से उत्पन्न होने वाले हैं।

८८. बाहितिक-सुत्त—शुभ और अशुभ आचरण। बुद्ध अशुभ आचरण नहीं

कर सकते। आनन्द का प्रसेनजित् को उपदेश। इस सुत्त में प्रसेनजित् आनन्द को बाहित राष्ट्र में बना वस्त्र भेंट करते हैं।

८९. धम्मचेतिय-सुत्त—प्रसेनजित् कोसलराज बुद्ध से मिलने शाक्यों के निगम मेदलुम्प में आया। बुद्ध और धर्म के प्रति गहरी निष्ठा प्रकट की। बाद में राजा के चले जाने पर बुद्ध ने उसके शब्दों को 'धर्म-चैत्य' ('धम्म-चेतिय') कहा और भिक्षुओं से उनको धारण करने को कहा।

९०. कण्णकत्थल-सुत्त—कण्णकत्थल मृगदाव में प्रसेनजित् की बुद्ध से मुलाकात। क्या बुद्ध सर्वज्ञ हैं?

(१०) ब्राह्मण-वग्ग

९१. ब्रह्मायु-सुत्त—मिथिला के १२० वर्षीय ब्राह्मण ब्रह्मायु ने पहले अपने शिष्य उत्तर को बुद्ध की पहचान करने के लिये भेजा। बाद में वह स्वयं उनसे मिला। ३२ महापुरुष-लक्षण बुद्ध में ढूँढ़े। तथागत के ईर्यापथ का विवरण। ब्राह्मण, वेदगू आदि शब्दों की बुद्धमतानुसार व्याख्या।

९२. सेल-सुत्त—सेल ब्राह्मण की प्रव्रज्या।

९३. अस्सलायन-सुत्त—आश्वलायन के जातिवाद का निराकरण। श्रावस्ती-निवासी इस आश्वलायन ब्राह्मण को विद्वानों ने प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन से मिलाया है।

९४. घोटमुख-सुत्त—आयुष्मान् उदयन (उदेन) का धर्मोपदेश, घोटमुख ब्राह्मण को, बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद। आत्म-पीड़ा की निन्दा।

९५. चंकी-सुत्त—चंकी ब्राह्मण के साथ बुद्ध का संलाप। सत्य की रक्षा और प्राप्ति के उपाय।

९६. एसुकारी-सुत्त—एसुकारी ब्राह्मण के साथ बुद्ध का संलाप। जातिवाद की निंदा।

९७. धानंजानि-सुत्त—धर्मसेनापति सारिपुत्र का धानंजानि ब्राह्मण को उपदेश—गृहस्थ-बन्धन अशुभ कर्म करने का बहाना नहीं है और परिस्थितियों के नाम पर अशुभ कर्मों के फल से नहीं बचा जा सकता। ब्रह्मा की सहव्यता का मार्ग।

९८. वासेट्ठ-सुत्त—वास्तविक ब्राह्मण कौन? जातिवाद पर बुद्ध की देशना, वासेट्ठ और भारद्वाज नामक ब्राह्मणों को, जिनमें से एक कर्म और दूसरा जन्म से ब्राह्मणत्व को मानता था।

९९. सुभ-सुत्त—सुभ तोदेय्यपुत्त नामक ब्राह्मण विद्यार्थी बुद्ध से मिलने आया।

गार्हस्थ्य और संन्यास के आपेक्षिक महत्व पर प्रश्न पूछा। बुद्ध ने इस सम्बन्ध में अपने को विभज्यवादी (विभज्जवादो) बताया। चार ब्रह्म-विहारों के रूप में बुद्ध ने उसे ब्रह्मा की सहव्यता का मार्ग भी सिखाया।

१००. संगारव-सुत्त—ब्राह्मण विद्यार्थी संगारव का बुद्ध से संलाप। बुद्ध-जीवनी का विवरण। बुद्ध द्वारा देवताओं के अस्तित्व की स्वीकृति।

(११) देवदह-वग्ग

१०१. देवदह-सुत्त—शाक्यों के निगम देवदह में बुद्ध द्वारा भिक्षुओं को उपदेश। निगठों के मत का विवरण।

१०२. पञ्चत्तय-सुत्त—आत्मवाद आदि नाना मतवादों का खंडन।

१०३. किन्ति-सुत्त—"भिक्षुओ! तुम्हें मेरे विषय में क्या होता है—क्या (किं ति) श्रमण गौतम चीवर के लिये धर्म उपदेश करते है, आदि? भिक्षुओं को एकता का उपदेश।

१०४. सामगाम-सुत्त—शाक्यों के निगम सामगाम में बुद्ध का आनन्द के साथ संलाप। बुद्ध के मूल उपदेश। संघ में शान्ति सम्बन्धी उपदेश। इस सुत्त में निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र-जैन तीर्थकर भगवान् महावीर) की मृत्यु की सूचना आनन्द ने बुद्ध को दी है।

१०५. सुनक्खत्त-सुत्त—सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र को बुद्ध द्वारा ध्यान और चित्त-संयम पर प्रवचन।

१०६. आनेञ्जसप्पाय-सुत्त—सच्ची ध्रुवता (आनेञ्जसप्पाय) क्या है?

१०७. गणकमोग्गल्लान-सुत्त—आचरण की शिक्षा का क्रमिक विकास। गणक मोग्गल्लान ब्राह्मण को बुद्ध ने बतलाया कि उनके धर्म-विनय में क्रमिक शिक्षा और क्रमिक साधना का विधान है। उसमें 'अनुपुब्बसिक्खा' और 'अनुपुब्बकिरिया' विद्यमान है।

१०८. गोपकमोग्गल्लान-सुत्त—बुद्ध के बाद धर्म ही भिक्षुओं का एकमात्र प्रतिशरण। गोपक मोग्गल्लान ब्राह्मण के साथ आनन्द का संलाप, बुद्ध-परिनिर्वाण के कुछ समय बाद। इस सुत्त से हमें यह सूचना मिलती है कि राजा प्रद्योत के भय से मगधराज अजातशत्रु नगर सुरक्षित करवा रहा था।

१०९. महापुण्णम-सुत्त—पञ्चस्कन्ध एवं अनात्मवाद सम्बन्धी उपदेश।

११०. चूलपुण्णम-सुत्त—अच्छे और बुरे मनुष्य।

(१२) अनुपद-वग्ग

१११. अनुपद-सुत्त—भगवान् बुद्ध द्वारा सारिपुत्र के शील, समाधि और प्रज्ञा आदि की प्रशंसा।
११२. छब्बिसोधन-सुत्त—अर्हत् की पहचान क्या है?
११३. सप्पुरिस-सुत्त—सत्पुरुष और असत्पुरुष की पहचान।
११४. सेवितब्ब-असेवितब्ब-सुत्त—क्या सेवनीय और क्या असेवनीय है?
११५. बहुधातुक-सुत्त—धातुओं का निरूपण।
११६. इसिगिलि-सुत्त—प्रत्येक-बुद्ध-सम्बन्धी उपदेश।
११७. महाचत्तारीसक-सुत्त—सम्यक् समाधि सम्बन्धी प्रवचन।
११८. आनापानसति-सुत्त—श्वास के आने-जाने के साथ स्मृति का अभ्यास और ध्यान सम्बन्धी बुद्ध-प्रवचन।
११९. कायगतासति-सुत्त—काये कायानुपश्यना क्या है?
१२०. संखारुप्पत्ति-सुत्त—संस्कारों की उत्पत्ति कैसे?

(१३) सुञ्ञता-वग्ग

१२१. चूल-सुञ्ञता-सुत्त—चित्त की शून्यता का योग।
१२२. महासुञ्ञता-सुत्त—उपर्युक्त का विस्तृत विवरण।
१२३. अच्छरियब्भुतधम्म-सुत्त—आश्चर्य-पुरुष भगवान् बुद्ध का जन्म कहाँ व कैसे?
१२४. बक्कुल-सुत्त—स्थविर बक्कुल की एकान्त साधनामयी जीवन-चर्या।
१२५. दन्तभूमि-सुत्त—संयम का उपदेश।
१२६. भूमिज-सुत्त—कौन सा ब्रह्मचर्य सफल है?
१२७. अनुरुद्ध-सुत्त—भिक्षु अनिरुद्ध (अनुरुद्ध) द्वारा अ-प्रमाणा चेतो-विमुक्ति पर उपदेश।
१२८. उपक्किलेस-सुत्त—कलह रोकने के उपाय। योग-साधन।
१२९. बाल-पंडित सुत्त—जीवन के बाद फल?
१३०. देवदत्त-सुत्त—यम का भय?

(१४) विभंग-वग्ग

१३१. भद्देकरत्त-सुत्त—भूत और भविष्यत् की चिन्ता छोड़ वर्तमान में कर्म करना ही सर्वोत्तम मंगल है।

१३२. आनन्द-भद्देकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
१३३. महाकच्चान-भद्देकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त का ही अधिक विस्तृत वर्णन।
१३४. लोमसकंगिय-भद्देकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
१३५. चूल-कम्मविभंग-सुत्त—संसार में असमानता क्यों? कर्म-फल।
१३६. महाकम्मविभंग-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
१३७. सळायतन-सुत्त—छह आयतनों एवं चार स्मृति-प्रस्थानों का वर्णन।
१३८. उद्देस-विभंग-सुत्त—इन्द्रिय-संयम, ध्यान और अपरिग्रह का उपदेश।
१३९. अरण-विभंग-सुत्त—शान्ति का रहस्य?
१४०. धातु-विभंग-सुत्त—छह धातुओं (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चित्त) का निरूपण।
१४१. सच्चविभंग-सुत्त—चार आर्य सत्यों का विवरण।
१४२. दक्खिणा-विभंग-सुत्त—संघ को दिया हुआ दान व्यक्ति को दिये हुये दान से बढ़ कर है।

(१५) सळायतन-वग्ग

१४३. अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्त—अनाथपिंडिक की बीमारी और मृत्यु का वर्णन। अन्तिम समय में धर्मसेनापति सारिपुत्र का उसको उपदेश।
१४४. छन्नोवाद-सुत्त—छन्न की आत्महत्या।
१४५. पुण्णोवाद-सुत्त—स्थविर पूर्ण की सहिष्णुता।
१४६. नन्दकोवाद-सुत्त—अनात्मवाद एवं सात बोध्यंगों का वर्णन।
१४७. चूलराहुलोवाद-सुत्त—अनात्मवाद-सम्बन्धी उपदेश। राहुल को अर्हत्त्व की प्राप्ति।
१४८. छछक्क-सुत्त—अनात्मवाद का विस्तृत विवेचन।
१४९. महासळायतनिक-सुत्त—तृष्णा और दुःख का निरूपण।
१५०. नगरविन्देय्य-सुत्त—आदरणीय श्रमण-ब्राह्मण कौन हैं?
१५१. पिंडपात-पारिसुद्धि-सुत्त—भिक्षा की शुद्धि कैसे? स्मृति-प्रस्थान आदि की भावना का उपदेश।
१५२. इन्द्रिय-भावना-सुत्त—इन्द्रिय-संयम कैसे हो?

दीघ-निकाय के समान मज्झिम-निकाय में भी छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व के भारतीय समाज की सामान्य अवस्था का अच्छा पता चलता है।

उसके अनेक वर्णनों में तत्कालीन भौगोलिक और ऐतिहासिक तथ्यों की महत्वपूर्ण सूचना मिलती है। मज्झिम-निकाय में वर्णित भगवान् के उपदेश जिन-जिन प्रदेशों, नगरों, निगमों (कस्बों), ग्रामों या वन-प्रदेशों में हुए, उनकी एक सूची बनाई जाय तो उस समय की भौगोलिक परिस्थितियों को समझने में हमारी बड़ी सहायक होगी। अंग, मगध, विदेह, सूनापरान्त (सुनापरन्त), योन-कम्बोज, भग्ग, काशी, कुरु, कोसल जैसे प्रदेश, वैशाली, चम्पा, पाटलिपुत्र, कपिलवस्तु, राजगृह, नालन्दा, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी जैसे नगर, शाक्यों के मेदलुम्प, कोलियों के हलिद्दवसन, कुरुओं के थुल्लकोट्ठित आदि कस्बे तथा दण्डकारण्य, कलिंगारण्य जैसे वन-प्रदेश, जो बुद्ध-चरणों की रज से पावन हुए थे, हमारे लिये एक गौरवमयी स्मृति का सन्देश देते हैं। कोसल-प्रदेश के दो मुख्य नगरों श्रावस्ती और साकेत के बीच डाक (रथ-विनीत) का सम्बन्ध था, यह हम रथविनीत-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।४) से जानते हैं। बुद्धकालीन भारत का पूरा धार्मिक वातावरण मज्झिम-निकाय में उपस्थित है। ब्राह्मणों के जीवन, कर्मकांड और सिद्धान्त, उनके मन्त्रकर्ता ऋषि, वाद-परम्परा और पौरोहित्य, सभी का मूर्तिमान् चित्र हमें यहाँ मिलता है। इस दृष्टि से पूरा ब्राह्मण-वग्ग अर्थात् ९१वें सुत्त से लेकर १०० वें सुत्त तक का भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ब्रह्मायु, शैल, आश्वलायन, घोटमुख, चंकी, एसुकारी, धानंजानि, वासेट्ठ, भारद्वाज, सुभ, संगारव, मागन्दिय, आदि तत्कालीन ब्राह्मण-दार्शनिकों का पूरा व्यक्तित्व, उनके मत और बुद्ध-धर्म के साथ उनके सम्बन्ध का पूरा चित्र हमें इन सुत्तों में मिल जाता है। इसी प्रकार तत्कालीन परिव्राजकों का चित्र हमें अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त जैसे सुत्तों में मिल जाता है। दीघनख, सन्दक, सकुलादायि, वेखनस आदि परिव्राजकों के साथ भगवान् के संवाद जो मज्झिम-निकाय में दिये हुए हैं, अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। तत्कालीन छह प्रसिद्ध आचार्यों (पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केस कम्बलि आदि) तथा अन्य सम्प्रदायों के मतों को जानने की दृष्टि से अपण्णक-सुत्त, तेविज्ज-वच्छगोत्त-सुत्त तथा महावच्छगोत्त-सुत्त आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कन्दरक-सुत्त, उपालि-सुत्त तथा अभयराजकुमार सुत्त में निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (निगण्ठ नाटपुत्त, नातपुत्त या नाथपुत्त—भगवान् महावीर) के मत के संबंध में भी कुछ सूचना मिलती है। तत्कालीन साधकों में जो नाना प्रकार की पीड़ाजनक तपश्चर्यायें प्रचलित थीं और जिनका अभ्यास गौतम ने भी अपने ज्ञान की खोज में किया था, महासीहनाद-सुत्त, कुक्कुर-

वतिक-सुत्त, बोधि-राजकुमार-सुत्त और कन्दरक-सुत्त में वर्णित हैं। पासरासि-सुत्त (अरियपरियेसन-सुत्त), बोधि-राजकुमार-सुत्त और महासच्चक-सुत्त में भगवान् बुद्ध की आत्म-कथा है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मायु-सुत्त में उनके ईर्यापथ का वर्णन है जो उनकी दैनिक चर्या तथा साधारण शारीरिक चाल-ढाल को समझने के लिये बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार महाराहुलोवाद-सुत्त, महा-वच्छगोत्त-सुत्त तथा महासकुलुदायि-सुत्त में सघ के नियम और जीवन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री है। कन्दरक-सुत्त और धानजानि-सुत्त भी इस दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है। पियजातिक-सुत्त, धम्मचेतिय-सुत्त, तथा कण्णकत्थल-सुत्त में तत्कालीन राजाओं का कुछ विवरण है। मागन्दिय-सुत्त में तत्कालीन आयुर्वेद की अवस्था का कुछ परिचय मिलता हे। यहाँ ऊर्ध्व विरेचन, अधो विरेचन आदि का वर्णन है। बाहितिय-सुत्त (बाहितिक-सुत्त भी) मे बाहित देश मे बने महीन कपडे का उल्लेख है और उपालि-सुत्त में रँगने की कला का निर्देश आया है। साराश यह कि मज्झिम-निकाय में तत्कालीन समाज, धर्म, कला-कोशल आदि का एक अच्छा चित्र हमें मिलता है।

इ—संयुत्त-निकाय[1]

संयुत्त-निकाय (संयुक्त-निकाय) छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संग्रह है। इसीलिये इसका यह नाम पड़ा है।[2] विशेषतः संयुत्त-निकाय में छोटे

---

१. लियोन फियर द्वारा पाँच जिल्दों में रोमन-लिपि में सम्पादित एवं पालि-टैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन, १८८४-९८, द्वारा प्रकाशित। अमरसिंह का सिंहली संस्करण, वलीतारा, १८१८, प्रसिद्ध है। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान संपादकत्व में सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा सन् १९५९ में चार जिल्दों में प्रकाशित। इस निकाय का हिन्दी-अनुवाद भिक्षु जगदीश काश्यप और भिक्षु धर्मरक्षित ने दो जिल्दों में किया है, जिसे महाबोधि सभा, सारनाथ, ने सन् १९५४ में प्रकाशित किया है।

२. दीघ और मज्झिम शब्दों की पृष्ठभूमि में तो 'संयुत्त' (संयुक्त, मिश्रित) शब्द का यही अर्थ हो सकता है। आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में दीघ और मज्झिम निकायों को क्रमशः दीर्घ और मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह बताते हुए संयुत्त-निकाय के सम्बन्ध में कहा है,

आकार के सुत्त ही अधिक हैं। संयुत्त-निकाय के सुत्तों की कुल संख्या परम्परागत मान्यता के अनुसार ७७६२ है। "सत्तमुत्तसहस्स-सत्तसतद्वासट्ठिमुत्तसगहो सयुत्त-निकायो।"[१] प्रायः प्रत्येक सुत्त सक्षिप्त गद्यात्मक बुद्ध-प्रवचन के रूप में है। बुद्ध-कालीन भारतीय ग्रामीण जीवन का इस निकाय में बड़ा सुदर चित्र मिलता है। साथ में काव्यात्मक अंश भी हैं और लोक-आख्यान भी कहीं-कहीं समाविष्ट हैं। यक्ष, यक्षिणी, देवता और गन्धर्वो का इस निकाय में कुछ अधिक निर्देश मिलता है। किन्तु इससे पृष्ठभूमि की स्वाभाविकता में कोई अन्तर नहीं आने पाया। भगवान् बुद्ध के स्वभाव और जीवन की विशेषताएँ, उनकी गम्भीरता, प्राणि-मात्र के प्रति उनकी करुणा, इसी कारण मनुष्य-समाज के अज्ञानों पर उनके मृदुल व्यंग्य, उनकी विनम्रता, मानवीयता, सभी इस निकाय में उसी प्रकार प्रस्फुटित होती है जैसे कि पूर्व के दो निकायों में। शैली की दृष्टि से भी इस निकाय की दीघ और मज्झिम की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। पुनरुक्तियाँ वहाँ दोनो निकायों की सी हैं। 'सळायतन वग्ग' इसका एक अच्छा उदाहरण है। यद्यपि संयुत्त-निकाय का अधिकांश भाग गद्य में है, किन्तु प्रथम वर्ग 'सगाथ वग्ग' (गाथा-युक्त वर्ग) में बड़ी सुन्दर, भावात्मक गाथाएँ भी मिलती है। मार-संयुत्त और भिक्खुनी-संयुत्त, आख्यानात्मक काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण है। गद्य और पद्य दोनों में ही यह आख्यान-साहित्य संयुत्त-निकाय में मिलता है। 'भिक्खुनी-संयुत्त' जैसे आख्यानों में नाटकीय तत्त्व भी अपनी विशेषता लिये हुए है, जो इन रचनाओं को एक विशेष गति और क्रियाशीलता प्रदान करता है।

"एसो संयुत्त-संगहो।" अट्ठसालिनी, पृष्ठ २२ (देवनागरी संस्करण, पूना, १९४२)। गायगर ने 'संयुत्त' शब्द की सार्थकता को इस निकाय में विषय-वार सुत्तों के संयुक्त या पुंजबद्ध करने के कारण माना है। देखिए उनका 'पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज', पृष्ठ १८। मिलाइये भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित संयुत्त-निकाय-पालि के प्रथम भाग में लिखा हुआ उनका 'आमुख', पृष्ठ ४ भी।

१. अट्ठसालिनी, पृष्ठ १६, देखिए वहीं, पृष्ठ २२ भी (देवनागरी संस्करण, पूना, १९४२)। परन्तु इतनी संख्या कहीं मिलती नहीं। भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित देवनागरी संस्करण में २९४१ सुत्त हैं। गायगर ने संयुत्त-निकाय में कुल मिलाकर २८८९ सुत्त माने हैं। देखिए उनका 'पालि

जैसा पहले दिखाया जा चुका है, संयुत्त-निकाय पाँच वर्गों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः ११, १०, १३, १० और १२ अर्थात् कुल मिला कर ५६ संयुत्त हैं।[१] यह विभाजन पूर्णतया विषय की दृष्टि से नहीं है। जैसा विंटरनित्ज़ ने कहा है, संयुत्त-निकाय के वर्गीकरण में तीन सिद्धान्तों का अनुवर्तन किया गया मालूम होता है। (१) बुद्ध-धर्म के किसी मुख्य पहलू का विवेचन करने वाले सुत्तों को एक संयुक्त में वर्गीकृत कर दिया गया है, जैसे बोज्झङ्ग-संयुत्त, आदि। (२) मनुष्य, देवता या यक्ष आदि के निर्देश के आधार पर उनका अलग-अलग वर्गों में विभाजन कर दिया गया है, जैसे देवता-संयुत्त, आदि। (३) वक्ता या उपदेष्टा के रूप में जो प्रधान व्यक्ति अनेक सुत्तों में दृष्टिगोचर होता है, उस सम्बन्धी उपदेशों को एक संयुत्त में सम्मिलित कर दिया गया है, जैसे सारिपुत्त-संयुत्त आदि।[२] वर्ग-वार इन सुत्तों की विषय-वस्तु का यहाँ कुछ संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक होगा।

लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ १८। भिक्षु जगदीश काश्यप और धर्मरक्षित त्रिपिटकाचार्य ने संयुत्त-निकाय का जो हिन्दी अनुवाद किया है, उसमें गणना करने पर मालूम होता है कि २४३१ सुत्त अनुवादित हैं, प्रथम भाग में १०६६ और द्वितीय भाग में १३६५।

१. भिक्षु जगदीश काश्यप और भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी में अनुवादित संयुत्त-निकाय (दो भाग) में ५४ संयुत्तों के ही शीर्षक दिये गये हैं और संयुत्त-सूची में भी ५४ ही संयुत्त दिखाये गये हैं। निदान-संयुत्त और सळायतन-संयुत्त उल्लिखित होने से रह गये हैं। प्रथम को यहाँ अभिसमय-संयुत्त में ही सम्मिलित कर दिया गया है और दूसरे को वेदना-संयुत्त में। यह आश्चर्य है कि त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने अपनी ओर से लिखते हुए भी संयुत्त-निकाय के संयुत्तों की संख्या ५४ ही बताई है। देखिये संयुत्त-निकाय (हिन्दी अनुवाद) के प्रथम भाग के आरम्भ में उनके द्वारा लिखा हुआ प्राक्कथन, पृष्ठ १। पता नहीं उन्होंने किस आधार पर ऐसा लिखा है? सामान्यतः संयुत्त-निकाय के संयुत्तों की संख्या ५६ ही मानी जाती है। श्री नालन्दा संस्करण में इतनी ही है। रायस डेविड्स, विण्टरनित्ज़, गायगर, लाहा, मललसेकर, सब इतनी ही मानते हैं।

२. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५६; मिलाइये गायगर: पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ १८।

१. सगाथ-वग्ग[1]

१. देवता-संयुत्त—देवताओं ने भगवान् से कुछ प्रश्न पूछे हैं, जिनका उन्होंने उत्तर दिया है। काम-वासना, पुनर्जन्म, मिथ्या मतवाद और अविद्याश्रित इच्छाओं का किस प्रकार भगवान् ने दमन किया है, यह यहाँ बताया गया है। पाप और आसक्ति से मुक्ति पाने का मार्ग भी भगवान् ने यहाँ बताया है।

२. देवदत्त-संयुत्त—देव-पुत्रों के कुछ प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने दिया है। उन्होंने कहा है कि सुख-प्राप्ति का एक मात्र उपाय क्रोध-त्याग और सत्संगति ही है।

३. कोसल-संयुत्त—यह सम्पूर्ण संयुत्त कोसलराज प्रसेनजित् (पसेनदि) के विषय में है। प्रसेनजित् पहले बावरि नामक ब्राह्मण का शिष्य था। बाद में वह बुद्ध-धर्म में गृहस्थ-शिष्य (उपासक) के रूप में प्रविष्ट हो गया। मगधराज अजातशत्रु (अजातसत्तु) और प्रसेनजित् के बीच युद्ध होने का भी उल्लेख इस संयुत्त में मिलता है। यह युद्ध काशी-प्रदेश के ऊपर हुआ। प्राथमिक विजय अजातशत्रु की हुई, किन्तु बाद में वह पराजित किया गया और प्रसेनजित् उसे बन्दी बनाकर कोसल ले गया। वहाँ उसने अपनी पुत्री वज्रा (वजिरा) का उसके साथ पाणि-ग्रहण कर काशी-प्रदेश उसे भेंट-स्वरूप प्रदान किया।

४. मार-संयुत्त—बुद्ध और उनके शिष्यों की मार-विजय का वर्णन है। बुद्धत्त्व-प्राप्ति के बाद भी मार ने बुद्ध को ब्रह्मचर्य के जीवन से विचलित करने के लिये प्रभूत प्रयत्न किया। ढेले बरसाये, पत्थर फेंके, अनेक प्रकार के भय दिखलाये, यहाँ तक कि 'पंचशाल' नामक गाँव के गृहस्थों को कहा कि इस महाश्रमण को भोजन मत दो। एक दिन भगवान् को भिक्षा भी नहीं मिली। धुला-धुलाया रीता पात्र लेकर लौट आये। किन्तु मार के ये सब प्रयत्न

---

१. अर्थात् गाथा-युक्त वर्ग। इसमें संगृहीत कुछ सुत्त पूरे गाथाओं में हैं, कुछ में गद्य-भाग भी सम्मिलित हैं। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ लंकावतार-सूत्र में, जो एक गद्य-पद्य-मिश्रित रचना है, एक 'सगाथकम्' है। यह इस ग्रन्थ के अन्तिम (दसवें) परिच्छेद के रूप में है और इसमें केवल ८८४ गाथाएँ हैं। संयुत्त-निकाय के सगाथ-वग्ग के समान लंकावतार-सूत्र के इस 'सगाथकम्' का भी विषय गहन रूप से दार्शनिक है, यद्यपि दोनों जगह दार्शनिक विषयों के स्वरूप और शैली में विभिन्नता है।

विफल हुए और वह बुद्ध और उनके शिष्यों को ब्रह्मचर्य के जीवन से विचलित नहीं कर सका।

५. भिक्खुनी-संयुत्त—दस भिक्षुणियों के सुन्दर काव्य-मय आख्यान हैं। किस प्रकार गौतमी, उत्पलवर्णा (उप्पलवण्णा), वज्रा (वजिरा) आदि भिक्षुणियाँ बुद्ध-मार्ग का अनुगमन करती हुई मार पर विजय प्राप्त करती हैं, इसी का सुन्दर काव्य-मय वर्णन है।

६. ब्रह्मा-संयुत्त—बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद बुद्ध को उपदेश करने की इच्छा नहीं हुई। तृष्णा-विनाश का यह स्वाभाविक परिणाम था। विमुक्ति-सुख का अनुभव करते हुए सप्ताहों तक समाधि में बैठे रहे। ब्रह्मा को चिन्ता हुई, इस प्रकार तो लोक नष्ट हो जायगा। जाकर भगवान् से प्रार्थना की—भन्ते! लोक के हित के लिये धर्मोपदेश करें। भगवान् ने कहा कि जनता काम-वासनाओं में लिप्त है। वह उनके गम्भीर उपदेश को नहीं समझेगी। ब्रह्मा ने भगवान् से अनुनय की कि संसार में कुछ अल्प-मल प्राणी भी है और उनको भगवान् के उपदेश से अवश्य लाभ होगा। तथागत ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसके बाद भगवान् ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने के लिये वाराणसी की ओर प्रस्थान किया।

७. ब्राह्मण-संयुत्त—एक भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण की प्रव्रज्या का वर्णन है। अपनी पत्नी के मुख से बुद्ध-प्रशंसा सुन कर वह भगवान् बुद्ध के दर्शन के लिये गया। वहाँ उनके उपदेश से प्रभावित होकर उसने त्रिशरण (बुद्ध, धम्म और संघ की शरण) ली और प्रव्रजित हो गया।

८. वंगीस-संयुत्त—वंगीश नामक भिक्षु की काम-वासना पर विजय-प्राप्ति का वर्णन है। एक बार विहार में आई हुई कुछ सुन्दर, आभूषित स्त्रियों को देखकर उनके मन में काम उत्पन्न हो गया। काम-दुष्परिणाम का पर्यवेक्षण कर किस प्रकार इस भिक्षु ने काम-वासना से विमुक्ति पाई, इसका सुन्दर भावना-मय वर्णन है।

९. वन-संयुत्त—किस प्रकार वन-देवता भी पथ-भ्रष्ट भिक्षुओं को सम्यक् मार्ग पर लगा देते है, इसका कुछ भिक्षुओं के उदाहरणों के साथ वर्णन है।

१०. यक्ख-संयुत्त—इन्द्रकूट और गृध्रकूट पर्वतों पर विचरते हुए भगवान् से कुछ यक्षों ने प्रश्न पूछे है, जिनका उन्होंने उत्तर दिया है। अनेक प्रश्नों में एक यह भी है, "भन्ते! बताइये कहाँ से काम-वासना, द्वेष, असन्तोष, भय आदि उत्पन्न होते हैं?" भगवान् कहते है, "हे यक्ष! कहता हूँ। ध्यान से सुन।

जो आत्मा और उसकी उत्पत्ति को जानते हैं, वे इस दुस्तर भव-बाढ़ को तर जाते हैं, वे फिर इस संसार में जन्म प्राप्त नहीं करते।" इसी प्रकार वैर से कौन मुक्त है, इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते है, "जिसका चित्त दिन-रात वैर-साधन में लगा है, वह वैर से मुक्त नहीं होता। किन्तु जो सब प्राणियों के प्रति अहिंसा और मैत्री-भावना का आचरण करता है, वह वैर से विमुक्त हो जाता है।" इसी संयुत्त में एक यक्षिणी को अपने प्रिय पुत्र को यह कह कर कर चुप करते हुए हम देखते हैं "चुप हो जा प्रियंकर! प्रिय वत्स चुप हो जा! देख यह भिक्षु कुछ कह रहा है। मुझे इसके वचन सुन लेने दे। यह मेरे लिये हितकर होगा।" इसी प्रकार एक और यक्षिणी कहती है "चुप हो जा उत्तरा! पुनर्वसु! शोर बन्द कर दे! देख, मुझे इन शास्ता के वचन सुन लेने दे।" यक्ष और यक्षिणियों के रूप में यहाँ उस प्रभाव को ही अंकित किया गया है जो न केवल बुद्ध बल्कि तत्कालीन भिक्षु-भिक्षुणियों के भी पवित्र जीवन ने साधारण जनता के हृदय पर डाला था। साधारण गृहिणियाँ भी उनके वचन को सुनने के लिये कितना उत्सुक रहती थीं और उसे अपने लिये कितना कल्याणकारी मानती थीं, यह इस सुत्त में द्रष्टव्य है। इसी संयुत्त के अन्त में एक यक्ष आकर भगवान् से कहता है, "भिक्षु! मैं तुम्हें एक प्रश्न पूछता हूँ। तू इसका उत्तर दे। यदि न दे सका तो मैं तेरी खोपड़ी को फोड़ दूँगा या तुझे पकड़ कर गंगा में फेक दूँगा।" भगवान् कहते हैं, "मेरी खोपड़ी को तोड़ने वाला या मुझे पकड़ कर गंगा में फेंकने वाला इस संसार में कोई नहीं है। हाँ, तू इच्छानुसार प्रश्न पूछ सकता है।" यक्ष भगवान् के उत्तरों से सन्तुष्ट हो जाता है और अन्त में बुद्ध, धम्म और संघ की शरण में जाता है। इतना ही नहीं, वह कृतज्ञतापूर्वक कहता है, "अब मैं गाँव से गाँव, कस्बे (निगम) से कस्बे और नगर से नगर जाकर बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म का जनताओं के कल्याण के लिये प्रचार करूँगा।" यक्ष और बुद्ध के उपर्युक्त संवाद की तुलना विंटरनित्ज़ ने महाभारत (वन-पर्व) के यक्ष और युधिष्ठिर के संवाद से की है।[1] किन्तु दोनों

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५८। विस्तृत उद्धरणों के लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित संयुत्त-निकाय-पालि के प्रथम भाग के आरम्भ में उनके द्वारा लिखा हुआ 'आमुख' पृष्ठ १७-२०। भागवत और गीता से भी उद्धरण देते हुए यहाँ सगाथ-वग्ग के कुछ अन्य अंशों को मिलाया गया है।

में बहुत अन्तर है। महाभारत में आरम्भ से लेकर अन्त तक युधिष्ठिर यक्ष की कृपा से भिक्षुक हैं और अपने उत्तरों द्वारा उसे प्रसन्न कर के ही वे अपनी विमुक्ति प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत यहाँ यक्ष पहले ही बुद्ध पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में असफल हो जाता है। बुद्ध-गौरव से पराजित होकर ही वह प्रश्न पूछता है और अन्त में तो वह उनका अंजलिबद्ध शिष्य ही हो जाता है।

११. सक्क-संयुत्त—देवराज शक्र की बुद्ध द्वारा प्रशंसा है। ऋग्वेद का वज्रधारी इन्द्र बौद्ध प्रभाव में आकर क्षमाशील बन गया है। वह वैसा असंयमी भी नहीं रहा। भगवान् की इस प्रशंसा में इन्द्र की क्षमाशीलता और उसकी संयम-परायणता का ही विशेष वर्णन किया है। अपने इन्हीं गुणों के कारण उसने ३३ देवताओं के ऊपर आधिपत्य प्राप्त किया है। इसी प्रसंग में देवासुर-संग्राम का भी इस संयुत्त में वर्णन आया है।

२. निदान-वग्ग

१. निदान-संयुत्त—प्रतीत्य समुत्पाद का विशद वर्णन है। किस प्रकार अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से सळायतन, सळायतन से स्पर्श और इस प्रकार क्रमशः वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख आदि की उत्पत्ति होती है और किस प्रकार इनका क्रमशः निरोध होता है, इसी का उपदेश यहाँ भगवान् ने भिक्षुओं को दिया है। विषय-निरूपण प्रायः महानिदान-सुत्त (दीघ.२।२) के समान ही है।

२. अभिसमय-संयुत्त—अणुमात्र भी चित्त-मलिनता रहते निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः भिक्षु को उत्तरोत्तर अनवरत अध्यवसाय करते हुए अ-प्रहीण चित्त-मलों को नष्ट करना चाहिये और सदाचरण की वृद्धि करनी चाहिये।

३. धातु-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन, आदि इन्द्रियों, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म उनके विषयों एवं चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान एवं मनोविज्ञान उनके विज्ञानों, इस प्रकार इन अठारह धातुओं का यहाँ विवरण दिया गया है।

४. अनमतग्ग-संयुत्त—"भिक्षुओ! इस संसार का आदि पूर्णतः अज्ञात (अनमतग्ग) है। तृष्णा और अविद्या से संचालित, भटकते-फिरते प्राणियों के आरम्भ (पूर्व कोटि) का पता नही चलता।" यही इस संयुत्त की मूल भावना है।

इस संयुत्त का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि स्थविर महेन्द्र ने इसका उपदेश लंका पहुँचने पर वहाँ के निवासियों को दिया। तृतीय संगीति के बाद स्थविर रक्षित ने इस संयुत्त का उपदेश वनवास प्रदेश में दिया।

५. कस्सप-संयुत्त—भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप की सन्तोष-वृत्ति की प्रशंसा की है। महाकाश्यप यथा-प्राप्त भोजन, यथा-प्राप्त वस्त्र, यथा-प्राप्त शयनासन (निवास-स्थान) और यथा-प्राप्त पथ्य-औषध आदि की सामग्री से सन्तुष्ट हो जाने वाले हैं। भगवान् ने दूसरे भिक्षुओं को भी ऐसा ही होने का उपदेश दिया है।

६. लाभ-सक्कार-संयुत्त—लाभ और सत्कार से विरत रहने का भिक्षुओं को भगवान् के द्वारा उपदेश दिया गया है। उन्होंने कहा है कि लाभ और सत्कार को चाहने वाले भिक्षु का पतन हो जाता है और उसकी वही गति होती है जो अंकुश को निगलने वाली मछली की।

७. राहुल-संयुत्त—राहुल को संयम का उपदेश। शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध, सभी अनित्य और दुःख-रूप हैं। उनमें 'मैं' या 'मेरा' की भावना करने से दुःख ही हो सकता है। उनमें से किसी के विषय में 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है' ऐसी भावना करना उपयुक्त नहीं। आचार्य बुद्धघोष का कहना है कि राहुल के संघ-प्रवेश से लेकर उनकी अर्हत्त्व-प्राप्ति तक के समय में ये उपदेश बुद्ध ने उन्हें दिये। इस संयुत्त के अन्तिम दो सुत्त, अनुसय-सुत्त और अपगत-सुत्त, अलग से 'पठम राहुल-सुत्त' और 'दुतिय राहुल-सुत्त' नाम से आगे खन्ध-संयुत्त में भी आते हैं। इन दोनों में राहुल ने भगवान् से पूछा है कि क्या जान लेने पर इस जीवन के अहंकार-ममकार छूट जाते हैं। बुद्ध ने कहा है कि सब वस्तुओं को उनके यथाभूत रूप में देखना चाहिए और पंचस्कन्धों में कहीं भी 'मैं' या 'मेरा' नहीं है, ऐसा मानसिक अभ्यास करना चाहिए। यही सम्यक् विपश्यना (विदर्शना) है। आचार्य बुद्धघोष ने इन दोनों सुत्तों को 'राहुलोवाद-विपस्सना' कहा है। इस संयुत्त के सुत्तों के अतिरिक्त राहुल को दिया गया एक अन्य उपदेश भी संयुत्त-निकाय के सळायतन-संयुत्त में संगृहीत है जो भी राहुल-सुत्त (या राहुलोवाद सुत्त—श्री नालन्दा पाठ) के नाम से ही प्रसिद्ध है। यहाँ बुद्ध राहुल को अन्धवन में ले जाते हैं और उन्हें सिखाते हैं कि चक्षु, रूप, चक्षु-विज्ञान, चक्षु-संस्पर्श, चक्षु-वेदना, इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया, मन, इनके विज्ञान, संस्पर्श और वेदनाएँ सब अनित्य, दुःख और अनात्म है। इसे सुनकर ही राहुल को अर्हत्व की प्राप्ति

हो जाती है। यही सुत्त मज्झिम-निकाय में चूल-राहुलोवाद-सुत्तन्त के नाम से भी आया है।

८. लक्खण-संयुत्त—एक दिन धर्मसेनापति सारिपुत्र और एक अन्य भिक्षु जिसका नाम लक्खण (लक्षण) था, साथ-साथ भिक्षा-चर्या को जा रहे थे। अचानक सारिपुत्र को हँसी आ गई। भिक्षा से लौट आने के बाद लक्षण ने उनकी इस हँसी का कारण पूछा। धर्मसेनापति ने भगवान् बुद्ध और अन्य भिक्षुओं की उपस्थिति में उसका कारण बताया।

९. ओपम्म-संयुत्त--भगवान् ने भिक्षुओं को सचेत और जागरूक रहने का उपदेश दिया है। यहाँ उन्होंने उपमा (ओपम्म) की है। जिस प्रकार यदि लिच्छवि गणतन्त्र के लोग सतत जागरूक और सचेत नहीं रहेंगे, तो अजातशत्रु (मगधराज) उन्हें दबा लेगा, पराजित कर देगा, इसी प्रकार यदि भिक्षु अपने आचरण में थोड़ा सा भी प्रमाद करेंगे, तो उन्हें मार अपने फन्दे में दबा लेगा।

१०. भिक्खु-संयुत्त--महामोग्गल्लान (महामौद्गल्यायन) का भिक्षुओं को 'आर्य-मौन' पर उपदेश। उन्होंने बताया है कि 'आर्य-मौन' का वास्तविक आचरण द्वितीय ध्यान की अवस्था में होता है। भगवान् बुद्ध नन्द और तिष्य (तिस्स) नामक भिक्षुओं को भिक्षु-नियमों का पूरा पालन करने को कहते है।

३. खन्ध-वग्ग

१. खन्ध-संयुत्त--पञ्चस्कन्धों का वर्णन है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य, परिवर्तन-शील और दुःख-रूप है। इनमें 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है' या 'यह मेरा आत्मा है' इस प्रकार की भावना साधक को नहीं करनी चाहिये। बल्कि इनके उदय (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये और इनमें मन को आसक्त नहीं करना चाहिये। पञ्चस्कन्धों की अनित्यता और दुःखमयता का चिन्तन करने से काम-वासना रह ही नहीं सकती, और पुनर्जन्म, अविद्या, आत्माभिनिवेश, सभी नष्ट हो जाते हैं।

२. राध-संयुत्त—स्थविर राध ने भगवान् से मार, तृष्णा, अनित्यता आदि पर प्रश्न पूछे है। भगवान् के उत्तर बड़े मार्मिक हैं।

३. दिट्ठि-संयुत्त—मिथ्या मतवादों की उत्पत्ति का कारण भगवान् ने बताया है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में 'मैं' या 'मेरा' की भावना करना, इस प्रकार के चिन्तनों में लगे रहना जैसे कि क्या यह लोक शाश्वत है या

अशाश्वत है, सान्त है या अनन्त है, क्या जीव और शरीर दो अलग-अलग हैं या एक हैं, आदि, इस प्रकार के विचारों की आसक्ति ही मिथ्या मतवादों का कारण है।

४. ओक्कन्तिक-संयुत्त––चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, शरीर और मन, ये सभी अनित्य, परिवर्तनशील और दुःख रूप हैं, इनमें 'आत्मा' (अत्ता) की उपलब्धि नहीं होती, इस प्रकार जिसकी स्मृति सदा उपस्थित रहती है, वही धर्म-मार्ग में विचरण करने वाला भिक्षु है।

५. उप्पाद-संयुत्त––चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन का उत्पन्न होना ही जन्म, जरा, मरण, दुःख और शोक का उत्पन्न होना है––बुद्ध-उपदेश।

६. किलेस-संयुत्त––क्लेश या चित्त-मलों का विवरण है। चक्षु और दृश्य पदार्थ में, श्रोत्र और शब्द में, घ्राण और गन्ध में, जिह्वा और रस में, काय और स्पृष्टव्य में, मन और धर्मो (पदार्थो) में इच्छा और आसक्ति का होना ही चित्त का मल है।

७. सारिपुत्त-संयुत्त––आनन्द ने धर्मसेनापति सारिपुत्र से पूछा है कि उन्होंने अपनी इन्द्रियों को किस प्रकार शमित किया है? धर्मसेनापति ने उत्तर-स्वरूप कहा है "एकान्त-वास (प्रविवेक) से उत्पन्न, सुख और सौमनस्य से युक्त, प्रथम ध्यान मे स्थित रह कर, विषयों से दूर रह कर, 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है' इस प्रकार के विचारों को त्याग कर, मैंने अपनी इन्द्रियों को शमित किया है।"

८. नाग-संयुत्त––नागों की चार प्रकार की उत्पत्तियाँ हैं, जैसे कि अंडे से उत्पत्ति, माँ के पेट से उत्पत्ति, स्वेद से उत्पत्ति, माता-पिता से उत्पत्ति।

९. सुपण्ण-संयुत्त––सुपर्ण नामक पक्षियों की भी चार प्रकार की उत्पत्तियाँ हैं, अंडे से उत्पत्ति, माँ के पेट से उत्पत्ति, स्वेद से उत्पत्ति, बिना माता-पिता के उत्पत्ति।

१०. गन्धब्ब-काय-संयुत्त––गन्धर्व जाति के देवताओं का वर्णन है।

११. वलाह-संयुत्त––'वलाहक कायिक' अर्थात् बादल रूपी काया वाले देवताओं का वर्णन है।

१२. वच्छगोत्त-संयुत्त––वच्छगोत्त नामक परिव्राजक की मिथ्या-धारणाओं का भगवान् के द्वारा निवारण। क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत है, सान्त है या अनन्त है, जीव और शरीर एक ही हैं या अलग-अलग हैं, आदि मिथ्या धारणाओं का कारण भगवान् ने पंच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) के वास्तविक

स्वरूप (अनित्य, दुःख, अनात्म) का अज्ञान ही बताया है। वच्छगोत्त परिव्राजक का भगवान् से संवाद मज्झिम-निकाय के तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त (१।३।१) में भी हुआ है।

१३. ज्ञान (या समाधि) संयुत्त--ध्यान या समाधि का विवरण है। भगवान् ने कहा है कि जो पुरुष ध्यान और उसकी प्राप्ति की रक्षा करने में कुशल है, वही सर्वोत्तम ध्यानी है।

४. सळायतन-वग्ग

१. सळायतन-संयुत्त--चक्षु और रूप, श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, काया और स्पर्श, मन और धर्म, सभी अनित्य, दुःख और अनात्म हैं। इन सब में, 'मैं' और 'मेरा' की भावना करना उपयुक्त नहीं। इनमें जब आसक्ति को मनुष्य नष्ट कर देता है, तो वह बन्धन से छूट जाता है। उच्चतम संयम भी यही है। इस संयुत्त में भगवान् का यह सप्रहर्षक उपदेश बार-बार आता है, "भिक्षुओ ! आँख तुम्हारी नहीं है। रूप तुम्हारा नही है। चक्षु-विज्ञान, चक्षु-संस्पर्श, चक्षु-वेदना, तुम्हारी नही है। श्रोत्र...घ्राण...जिह्वा...काया...मन...तुम्हारे नहीं हैं, इन्हें छोड़ो, इनके छोड़ने से तुम्हारा हित, सुख होगा।" "न-तुम्हाकं-सुत्त"--अद्भुत ज्ञानमय उपदेश !

२. वेदना-संयुत्त--सुखा, दुःखा और न-सुखा-न-दुःखा, ये तीन वेदनाएँ हैं। इनमें सुख की वेदना को दुःख के रूप में देखना चाहिये, दुःख की वेदना को शूल के रूप में देखना चाहिये और न-सुख-न-दुःख की वेदना को अनित्य के रूप में देखना चाहिये। वेदनाओं को छोड़ देने वाला अनासक्त भिक्षु ही 'सम्यक् दृष्टि'-सम्पन्न कहलाता है।

३. मातुगाम-संयुत्त--स्त्रियों-सम्बन्धी बुद्ध-प्रवचन है। भगवान् ने स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक दुःखभागिनी माना है। अतः ब्रह्मचर्य-जीवन की उनके लिये उतनी ही अधिक आवश्यकता भी है। स्त्रियों को पाँच विशेष कष्ट उठाने पड़ते है--बाल्य-काल में माता-पिता का घर छोड़ना पड़ता है, उसे छोड़ कर दूसरे (पति) के घर जाना पड़ता है, गर्भ धारण करना पड़ता है, प्रसव करना पड़ता है, पुरुष की सेवा करनी पड़ती है। संसार में रूप, धन, चरित्र और परिश्रमी स्वभाव वाली एवं सन्तान प्रसविनी स्त्री का आदर होता है। यदि स्त्री पतिव्रता, विनीत, लज्जाशील और ज्ञानवती हो तो वह मरने के बाद सद्गति प्राप्त करती है। दुराचारिणी, मूर्खा और निर्लज्जा होने पर वह मरने के बाद दुर्गतियों में पड़ती है।

४. जम्बुखादक-संयुत्त—जम्बुखादक नामक परिव्राजक के प्रति धर्मसेनापति सारिपुत्र का बुद्ध-धर्म पर उपदेश है। निर्वाण और अर्हत्त्व का अर्थ सारिपुत्र ने राग, द्वेष और मोह से विमुक्ति कहा है। इसे प्राप्त करने का उपाय आर्य अष्टांगिक मार्ग ही है। जिसने राग-द्वेष को छोड़ दिया, वही मनुष्य सुखी है। आस्रवों (चित्त-मलों) से विमुक्ति पाने का आर्य अष्टांगिक मार्ग से अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

५. सामंडक-संयुत्त—सामंडक नामक परिव्राजक के प्रति सारिपुत्र का 'निब्बाण' (निर्वाण) पर उपदेश है। विषय-वस्तु उपर्युक्त संयुत्त के समान ही है।

६. मोग्गल्लान-संयुत्त—महामोग्गल्लान (महामौद्गल्यायन) द्वारा भिक्षुओं को चार ध्यानों का उपदेश है। दीघ और मज्झिम निकायों के इस सम्बन्धी वर्णन से यहाँ कोई विशेषता नहीं है। बिलकुल उन्हीं शब्दों में यहाँ भी चार ध्यानों का विवरण दिया गया है। अरूपावचर भूमि के आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिचन्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक ध्यान-अवस्थाओं का भी यहाँ वर्णन किया गया है।

७. चित्त-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, काय और मन रूपी इन्द्रियाँ बन्धन की कारण नहीं हैं। रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श और मानसिक धर्म भी बन्धन के कारण नहीं हैं। बन्धन की कारण तो वह वासना है, तृष्णा है, जो चक्षु और रूप के संयोग से उत्पन्न होती है, श्रोत्र और शब्द के संयोग से पैदा होती है, घ्राण और गन्ध के संयोग से पैदा होती है, काय और स्पर्श के संयोग से पैदा होती है, मन और धर्मों के संयोग से पैदा होती है। अतः इस वासना या तृष्णा का निरोध ही बन्धन-विमुक्ति का कारण है।

८. गामणि-संयुत्त—भोगवाद और तपश्चरण की अतियों को छोड़कर मध्यम मार्ग पर चलने का उपदेश गामणि को दिया गया है। क्रोध को छोड़कर क्षमाशील होने का भी यहाँ उपदेश दिया गया है।

९. असंखत-संयुत्त—निर्वाण असंस्कृत अर्थात् अकृत है। राग, द्वेष और मोह का सम्पूर्ण निरोध ही 'निर्वाण' कहा जाता है, कायिक-मानसिक जागरूकता (स्मृति-सम्प्रजन्य), चित्त-शान्ति (शमथ), आन्तरिक ज्ञान-दर्शन (विपश्यना), चार स्मृति-प्रस्थान और आर्य अष्टांगिक मार्ग, यही उसकी प्राप्ति के सर्वोत्तम साधन हैं।

१०. अव्याकत-संयुत्त—कोशलराज प्रसेनजित् ने क्षेमा (खेमा) नाम की भिक्षुणी से पूछा है "क्या मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं या नहीं रहते? या रहते

भी हैं और नहीं भी रहते ?" क्षेमा ने इसके उत्तर-स्वरूप केवल यह कहा है कि तथागत ने इसे अ-व्याकृत कर दिया है अर्थात् उन्होंने इसे ब्रह्मचर्य के लिये आवश्यक न समझकर अकथनीय कर दिया है। साथ में वह यह भी कहती है कि तथागत का ज्ञान गम्भीर समुद्र के समान है, जिसकी थाह नहीं ली जा सकती। जब अनिरुद्ध, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे बुद्ध के अन्य शिष्यों से यह प्रश्न पूछा जाता है, तो वे भी उसका उसी प्रकार उत्तर देते हैं जैसे क्षेमा भिक्षुणी ने दिया है। दीघ और मज्झिम निकायों के 'दस अव्याकृत' (अकथनीय) धर्मों के समान यहाँ भी बुद्ध-मन्तव्य विमल जल के समान स्वच्छ दिखलाई पड़ता है। पासादिक-सुत्त (दीघ. ३।६) और चूलमालुक्य-सुत्त (मज्झिम. २।२।३) के समान ही इस संयुत्त की विषय-वस्तु है।

५. महावग्ग

१. मग्ग-संयुत्त—आर्य अष्टांगिक मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि) का पूरे विवरण के साथ वर्णन किया गया है।

२. बोज्झंग-संयुत्त—परम ज्ञान (बोधि) के सात अंगों यथा स्मृति, धर्म-गवेषणा (धम्मविचय) वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि (चित्त-प्रसाद), समाधि और उपेक्षा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

३. सतिपट्ठान-संयुत्त—काया में कायानुपश्यी होना, वेदनाओं में वेदना-नुपश्यी होना, चित्त में चित्तानुपश्यी होना और धर्मों (पदार्थों) में धर्मानुपश्यी होना, इन चार स्मृति-प्रस्थानों (सतिपट्ठान) का यहाँ दीघ[1] और मज्झिम[2] निकायों के समान शब्दों में विस्तृत वर्णन किया गया है।

४. इन्द्रिय-संयुत्त—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा, इन पाँच इन्द्रियो अथवा ज्ञान-शक्तियों का वर्णन है।

५. सम्मप्पधान-संयुत्त—जो चित्त-मल अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनकी उत्पत्ति को रोकना, जो चित्त-मल उत्पन्न हो चुके हैं उनको नष्ट करना, जो शुभ कर्म अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं उनको उत्पन्न करना, जो उत्पन्न हो चुके हैं उनको बढ़ाना, इन चार सम्यक्-प्रधानों या शुभ प्रयत्नों का यहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है।

---

१. देखिये महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ. २।९)

२. सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०)

६. बल-संयुत्त—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा, इन पाँच बलों का वर्णन है।

७. इद्धिपाद-संयुत्त—इच्छा-शक्ति (छन्द), वीर्य, चित्त और मीमांसा (वीमंसा), इन चार ऋद्धिपादों या योग-सम्बन्धी विभूतियों का वर्णन है।

८. अनुरुद्ध-संयुत्त—शरीर, वेदना, मन और मानसिक धर्म, इन सब पर अद्भुत संयम प्राप्त कर किस प्रकार स्थविर अनिरुद्ध ने योग की विभूतियों को प्राप्त किया है, इसका वर्णन है।

९. ज्ञान-संयुत्त—ध्यान की चार अवस्थाओं का वर्णन है। वर्णन की भाषा बिलकुल वही है जो प्रथम दो निकायों में। किस प्रकार शील और सदाचार में प्रतिष्ठित होकर, एकान्त-वास का सेवन कर, साधक क्रमशः ध्यान की प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओं को प्राप्त करता है, इसका तिपिटक में प्रायः समान शब्दों में अनेक बार वर्णन किया गया है।[१] संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि प्रथम ध्यान की अवस्था में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता रहते हैं। द्वितीय ध्यान की अवस्था में वितर्क और विचार का प्रहाण हो जाता है और केवल समाधि से उत्पन्न प्रीति और सुख रहते हैं। तृतीय ध्यान की अवस्था में प्रीति और सुख से भी उपेक्षा हो जाती है और साधक उपेक्षा और स्मृति के साथ ध्यान करने लगता है। चतुर्थ ध्यान में चूँकि सुख-दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य पहले से ही अस्त हुए रहते हैं, अतः साधक न दुःख और न सुख वाले तथा स्मृति और उपेक्षा से शुद्ध, इस ध्यान को प्राप्त करता है।

१०. आनापान-संयुत्त—भगवान् ने या श्वास-प्रश्वास के आने-जाने के साथ स्मृति की भावना करने का उपदेश दिया है और उसे मार्ग-प्राप्ति का सहायक माना है।[२]

---

१. मिलाइये आनापान-सति-सुत्त (मज्झिम. ३।२।८)

२. आनापान-सति के विवरण के लिये मिलाइये विशेषतः भयभेरव-सुत्त (मज्झिम. १।१।४); द्वेधा-वितक्क-सुत्त (मज्झिम. १।२।९); महाअस्सपुर-सुत्त (मज्झिम. १।४।९); चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम. १।३।७); सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ. १।२); अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ. १।३); सोणदंड-सुत्त (दीघ. १।४); कूटदन्त-सुत्त (दीघ. १।५); महालि-सुत्त (दीघ. १।६); पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ. १।९); केवट्ट-सुत्त (दीघ. १।११); सुभ-सुत्त (दीघ. १।१०); चक्कवत्तिसीहनाद-सुत्त (दीघ. ३।३); संगीतिपरियाय-सुत्त (दीघ. ३।१०) आदि, आदि।

११. सोतापत्ति-संयुत्त—स्रोतापत्ति अवस्था अर्थात् धर्म रूपी नदी की धारा में पड़ना, इसका वर्णन किया गया है। बुद्ध-धर्म और संघ में जिसकी श्रद्धा और निष्ठा है, वह सांसारिक लाभों की चिन्ता नहीं करता। वह इच्छा और द्वेष को छोड़कर फिर इस लोक में नहीं आता।

१२. सच्च-संयुत्त—चार आर्य सत्यों का वर्णन है। दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद्, इन चार आर्य सत्यों का उपदेश बुद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा है। प्रायः समान शब्दों में इन सम्बन्धी उपदेश का वर्णन तिपिटक में अनेक बार आया है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण में यद्यपि वर्गों और संयुक्तों के क्रम से उनकी विषय-वस्तु का संक्षिप्त दिग्दर्शन करा दिया गया है, किन्तु उनके असंख्य सुत्तों की वह सामग्री अभी बाकी ही बच रहती है जो उन्होंने बुद्ध, उनके जीवन, उनके उपदेश, इसी प्रकार बुद्ध-शिष्यों के जीवन और उपदेश, तत्कालीन अन्य धर्मोपदेष्टाओं और धार्मिक विचारों के साथ बुद्ध और उनके धम्म का सम्बन्ध, तत्कालीन ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थिति, एवं इसी प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में दी है। इन सम्बन्धी स्मृतियों का कुछ संक्षिप्त दिग्दर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा। संयुत्त-निकाय के 'धम्म-चक्क-पवत्तन-सुत्त' में (जो विनय-पिटक—महावग्ग के इस सम्बन्धी वर्णन की पुनरुक्ति ही है) हम बुद्ध को वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव (वर्तमान सारनाथ) में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश करते देखते है। काम-वासनाओं में काम-लिप्त होना और काय-क्लेश में लगना, इन दो अतियों के त्याग एवं आर्य अष्टांगिक मार्ग रूपी मध्यम-मार्ग के आचरण तथा चार आर्य सत्यों का उपदेश देते यहाँ हम प्रथम वार भगवान् को देखते है। सळायतन-संयुत्त में (यहाँ भी विनय-पिटक-महावग्ग के समान ही) हम तथागत को भिक्षुओं को इस प्रकार सम्बोधित करते हुए देखते हैं "भिक्षुओ! जितने भी मानुष और दिव्य पाश हैं, मैं उन सब से मुक्त हूँ। तुम भी दिव्य और मानुष पाशों से मुक्त होओ! भिक्षुओ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये, विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ! भिक्षुओ! आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी, अन्त में कल्याणकारी धर्म का उसके पूरे शब्दों और अर्थों के साथ उपदेश करते हुए सम्पूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। संसार में अल्प दोष वाले प्राणी भी हैं। धर्म के न श्रवण करने से उनकी

हानि होगी। सुनने से वे धर्म के जानने वाले होंगे। भिक्षुओ ! मैं भी जहाँ उरुवेला और सेनानी गाँव हैं, वहाँ धर्म-देशना के लिये जाऊँगा।" सतिपट्ठान-संयुत्त के जरा-सुत्त में भगवान् की वृद्धावस्था का सजीव चित्र है। भगवान् अपराह्न में ध्यान से उठ कर धूप में बैठे हैं। आनन्द भगवान् को देखकर कहते हैं "आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते ! भगवान् के चमड़े का रंग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात (उज्ज्वल) नहीं है। अंग भी शिथिल हो गये हैं। पूरी काया में झुर्रियाँ पड़ी हुई हैं। शरीर आगे की ओर झुका है। आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों में भी विपरिणाम दिखाई पड़ता है।" "आनन्द ! यह ऐसा ही होता है ! यौवन में जरा-धर्म है, आरोग्य में व्याधि-धर्म है। जीवन में मरण-धर्म है।" हम भगवान् और उनके उपस्थाक शिष्य के विमल मनुष्य-रूप को यहाँ देखते हैं। इसी निकाय के सकलिक-सुत्त में हम सूचना पाते हैं कि भगवान् का पैर पत्थर के टुकड़े से विक्षत हो गया है और वे स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ उसको सहन कर रहे है। इसी प्रकार सक्क-संयुत्त में अनाथपिंडिक की दीक्षा एवं जेतवन-दान का वर्णन है। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में भी यही वर्णन आया है। संयुत्त-निकाय के भिक्खु-संयुत्त में हम सूचना पाते है कि कौशाम्बिक भिक्षुओं के दुर्व्यवहार के कारण भगवान् पात्र-चीवर ले बिना किसी भिक्षु को कहे अकेले ही पारिलेय्यक (पालिलेय्यक) नामक स्थान में एकान्त-वास के लिये चले गये हैं। संयुत्त-निकाय के 'उदायि-सुत्त' में हम भगवान् और स्थविर उदायी का संवाद देखते है, जो शास्ता और शिष्य के सम्बन्ध के अलावा बुद्ध-धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। "भन्ते ! पहले गृहस्थ होते समय मुझे धर्म से बहुत लाभ न मिला था। किन्तु भन्ते ! आज मैंने धर्म को जान लिया। मुझे वह मार्ग मिल गया !" "साधु उदायी ! तुझे वह मार्ग मिल गया। जैसे-जैसे तू इसकी भावना करेगा, वृद्धि करेगा, यह तुझे वैसे ही भाव को ले जायगा जिससे कि तू जानेगा "आवागमन का क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो चुका, करना था सो कर लिया, अब कुछ करने को बाकी नहीं है।" भगवान् का अपने शिष्य भिक्षुओं के साथ कैसा अनुकम्पामय सम्बन्ध था, इसका एक और उदाहरण इसी निकाय में देखिये। मग्ग-संयुत्त के चुन्द-सुत्त में हम चुन्द समणुद्देस को भगवान् के पास धर्मसेनापति के परिनिर्वाण का सन्देश लाते देखते हैं। इसे सुनते ही आनन्द की क्या हालत होती है, यह उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिए "आयुष्मान् सारिपुत्र परिनिर्वृत्त हो गये, यह सुन कर मेरा शरीर ढीला पड़ गया है, मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं, बात भी नहीं सूझ पड़ती !" भगवान् सचेत करते हैं

"क्यों आनन्द ! क्या मैंने पहले ही नहीं कह दिया है कि सभी प्रियों से जुदाई होती है। इसलिये आनन्द ! आत्मदीप, आत्म-शरण, अ-परालम्बी होकर विहरो ! धम्मदीप, धम्म-शरण, अपरालम्बी होकर विहरो।" इसी संयुत्त के उक्काचेल-सुत्त में सारिपुत्र के परिनिर्वाण के थोड़े दिन बाद ही भगवान् को अपने द्वितीय प्रधान शिष्य महामौद्गल्यायन के भी परिनिर्वाण की सूचना मिलती है। सभी शिष्य अपने शास्ता के सहित स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ इस दुःख को सहते हैं। एक दिन भगवान् गंगा की रेती में उक्काचेल नामक स्थान पर विहर रहे हैं। भिक्षु-परिषद् को विज्ञापित करने के लिये बैठते हैं, किन्तु सर्व प्रथम ध्यान आता है अपने सद्यः परिनिर्वृत्त शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन का। बुद्ध का मानवीय रूप फूट पड़ता है "भिक्षुओ ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बिना मुझे यह परिषद् शून्य सी जान पड़ती है। जिस दिशा में सारिपुत्र-मौद्गल्यायन विहरते थे, वह दिशा किसी और की न चाहने वाली होती थी।" इतना ही कह पाते हैं कि भगवान् का मानवीय रूप उनके बुद्ध-रूप में परिवर्तित हो जाता है और "भिक्षुओ ! आश्चर्य है तथागत को ! अद्भुत है तथागत को ! इस प्रकार के शिष्यों की जोड़ी के परिनिर्वृत्त हो जाने पर भी तथागत को शोक-परिदेव नहीं है। भिक्षुओ ! जैसे महान् वृक्ष के खड़े रहते भी उसकी सारवाली शाखाएँ टूट जायें, उसी प्रकार भिक्षुओ ! तथागत को भिक्षु-संघ के रहने भी सार वाले सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन का परिनिर्वाण है। सो वह भिक्षुओ ! कहाँ से मिले ! जो कुछ उत्पन्न होने वाला है, सब नष्ट होने वाला है। इसलिये भिक्षुओ ! आत्मदीप, आत्म-शरण, अनन्यशरण होकर विहरो, धर्म-दीप, धर्म-शरण, अनन्यशरण होकर विहरो।" शास्ता का मानवीय रूप और साथ-साथ उनका बुद्धत्व यहाँ स्पष्टतम रूप में दिखाई पड़ता है। बुद्ध-धर्म की साधना इसी जन्म की साक्षात् अनुभूति के लिये है, यह तथ्य इस निकाय के संवहुल-सुत्त से भली प्रकार हृदङ्गम किया जा सकता है। एक ब्राह्मण आकर भिक्षुओं से कहता है "आप लोग वर्तमान को छोड़कर कालान्तर की ओर दौड़ रहे हैं। इस से तो यही अच्छा हो कि आप मानुष कामों का भोग करें।" भिक्षु उत्तर देते हैं "ब्राह्मण ! हम वर्तमान को छोड़कर कालान्तर की चीज के पीछे नहीं दौड़ रहे। बल्कि कालान्तर की चीज को छोड़कर ब्राह्मण ! हम वर्तमान के पीछे दौड़ रहे हैं। ब्राह्मण ! भगवान् ने कामों को बहुत दुःख वाले, बहुत प्रयास वाले, बहुत दुष्परिणाम वाले, कालिक (कालान्तर) कहा

है। किन्तु यह धर्म तो सांदृष्टिक (वर्तमान में फल देने वाला), अ-कालिक, यहीं साक्षात्कार किया जाने वाला, सत्य की तह तक पहुँचाने वाला और प्रत्येक शरीर में अनुभव करने योग्य है।" अत्त-दीप-सुत्त में हम आत्म-निर्भर होने का उपदेश पाते हैं, जिसकी पुनरावृत्ति भगवान् ने अनेक स्थलों पर की है और जो उनके धर्म के स्वरूप को समझने के लिये अति आवश्यक है। भगवान् सब को प्रव्रज्या का ही उपदेश नहीं देते थे। बल्कि गृहस्थाश्रम में रह कर भी वे प्रमाद-रहित जीवन की सम्भावना मानते थे। ऐसा ही उन्होंने राजों (मकान बनाने वाले मजदूरों) से इसी निकाय के थपति-सुत्त (या थपतयो-सुत्त) में कहा भी है, "स्थपतियो'! गृहवास बाधापूर्ण है, मल का मार्ग है। प्रव्रज्या खुली जगह है। किन्तु स्थपतियो! तुम्हारे लिये अप्रमाद से रहना ही उपयुक्त है।" ऐसा मालूम पड़ता है कि भगवान् के इस अप्रमाद-उपदेश को स्मरण करके ही अशोक अपनी प्रजाओं को इतनी पुनरावृत्ति के साथ अ-प्रमाद का जीवन बिताने को कहता है।[1] संयुत्त-निकाय में बुद्धकालीन भारत में प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों और उनके प्रधान आचार्यों एवं बुद्ध और उनके धर्म के साथ उनके सम्बन्धों पर भी प्रकाश डालने वाले काफी वर्णन हैं। इस प्रकार संयुत्त-निकाय के खन्ध-संयुत्त में हम उस काल के छह प्रसिद्ध आचार्यों यथा पूर्ण काश्यप, मक्खली (मस्करी) गोशाल, संजय बेलट्ठिपुत्त, प्रक्रुध-कात्यायन[2] आदि का वर्णन पाते हैं। इसी प्रकार मोग्गल्लान-संयुत्त के असिबन्धकपुत्त-सुत्त और निगंठ-सुत्त से हमें बुद्ध-धर्म और तत्कालीन जैन धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में पर्याप्त सूचना मिलती है। नाना-तित्थिय-सुत्त तथा पाटलि-सुत्त में भी तत्कालीन अन्य मतों का वर्णन मिलता है। तत्कालीन याज्ञिक ब्राह्मणों के यज्ञवाद और बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद में क्या ऐतिहासिक सम्बन्ध है, और किस प्रकार एक के सामने दूसरे को झुकना पड़ा, यह देखने के लिये संयुत्त-निकाय का सुन्दरिक-भारद्वाज सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कोसल-देश में सुन्दरिका नदी पर भारद्वाज नामक ब्राह्मण हवन कर रहा है। भगवान् भी उधर चारिका करते हुए निकल पड़ते हैं। वह उन्हें देख कर यज्ञ से बचा हुआ अन्न

---

१. देखिये आगे दसवें अध्याय में अशोक के अभिलेखों का विवरण।

२. सुत्त-पिटक के प्रक्रुध कात्यायन (पकुध कच्चायन) को डा० हेमचन्द्र राय-चौधरी ने प्रश्न-उपनिषद् के कबन्धी कात्यायन से मिलाया है। देखिये उनका पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ ३४ (छठा संस्करण, १९५३)।

देना चाहता है, किन्तु पहले पूछता है "आप कौन जाति हैं?" भगवान् का ज्ञान उभाड़ पाता है "जाति मत पूछ। आचरण पूछ। काठ से आग पैदा होती है। नीच कुल का पुरुष भी धृतिमान्, ज्ञानी, पाप-रहित मुनि हो सकता है। जो सत्य का आचरण करने वाला, जितेन्द्रिय और ज्ञान के अन्त को पहुँचा हुआ है और जिसने ब्रह्मचर्य-वास समाप्त कर लिया है, वह यज्ञ में उपनीत ही है और वह काल से दक्षिणा देने योग्य है। जो उसे देता है, वह दक्षिणाग्नि में ही हवन करता है।" भारद्वाज को ऐसे उदारातिशय वचन सुन कर श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह कहता है, "निश्चय ही यह मेरा यज्ञ सुहुत है जो ऐसे ज्ञान को प्राप्त (वेदगू) पुरुष को मैंने देखा। तुम्हारे जैसे को न देखने से ही दूसरे जन हव्य-शेष खाते हैं। हे गौतम! आप भोजन करें। आप ब्राह्मण हैं।" भारद्वाज ब्राह्मण की यह बुद्ध-प्रशंसा दिखलाती है कि यज्ञवादी होते हुए भी ब्राह्मण ज्ञान और सदाचार की प्रतिष्ठा को समझते थे और उसे देखकर उसके सामने नतमस्तक होना भी जानते थे। भारद्वाज ब्राह्मण का बुद्ध को ब्राह्मण तक मानने को उद्यत हो जाना और उनकी प्रशंसा करना उसकी उदारता का सूचक है। कुछ भी हो, यज्ञ को ही सर्वस्व मानने वाले ब्राह्मणों को भी बुद्ध के ज्ञान-यज्ञ का लोहा अवश्य मानना पड़ा। भारद्वाज को उद्‌बोधित करते हुए भगवान् उससे कहते है, 'ब्राह्मण! लकड़ी जला कर शुद्धि मत मानो। यह तो बाहरी चीज है। पंडित लोग उससे शुद्धि नहीं बतलाते जो बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण! मैं दारु-दाह छोड़ भीतर की ज्योति जलाता हूँ। नित्य आग वाला, नित्य एकान्त-चित्त वाला हो, मैं ब्रह्मचर्य-पालन करता हूँ। ब्राह्मण! यह तेरा अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुँवा है, मिथ्या-भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण! शील तीर्थ वाला, सन्त जनों से प्रशंसित, निर्मल धर्म रूपी सरोवर है। इसी में वेद को जानने वाले (वेदगू) पुरुष नहाकर बिना भीगे गात्र के पार उतरते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति, सत्य, धर्म, संयम और ब्रह्मचर्य पर आश्रित है। तू ऐसे हवन किये हुओं को नमस्कार कर। मैं उनको पुरुषों को संयमी बनाने के लिये सारथी-स्वरूप कहता हूँ।" इस प्रकार इस निकाय में हमें बुद्ध-जीवन, बुद्ध और उनके शिष्य, एवं बुद्ध-धर्म और तत्कालीन अन्य धार्मिक साधनाओं के साथ उसके सम्बन्ध आदि के विषय में प्रभूत जानकारी मिलती है।

ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी इस निकाय में प्रथम दो

निकायों की तरह काफी परिचय मिलता है। जहाँ तक राजनैतिक इतिहास का सम्बन्ध है, इस निकाय में कोसलराज प्रसेनजित् का वर्णन आया है और मगध-राज अजातशत्रु के साथ उसके युद्ध, अजातशत्रु की पराजय और बाद में प्रसेनजित् की पुत्री वज्रा (वजिरा) का उससे विवाह और भेंट-स्वरूप काशी-प्रदेश की प्राप्ति, इन घटनाओं का विवरण पहले किया ही जा चुका है। कौशाम्बी-नरेश उदयन (उदेन) का भी यहीं वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त लिच्छवि, कोलिय आदि क्षत्रिय राजाओं के जहाँ-तहाँ वर्णन भरे पड़े हैं। भौगोलिक दृष्टि से राजगृह में वेळुवन, सुंसुमारगिरि में भेसकलावन, वैशाली में महावन, साकेत में कण्टकीवन और अंजन-वन, कौशाम्बी में सिसपावन, काशी में अम्बाटक वन, आदि वनों; नेरंजरा, गंगा, यमुना, अचिरवती, सरयू (सरभू), मही, सुतनु, सुन्दरिका, सप्पिणी (सर्पिणी) आदि नदियों; हिमवन्त, मगध में गृध्रकूट और अवन्ती में कुररघर आदि पर्वतों; न्यग्रोधाराम (कपिलवस्तु), कुक्कुटाराम (पाटलिपुत्र) आदि आरामों, नालक (मगध), शाला (कोसल), एकशाला (कोसल), इच्छानंगल (कोसल), वेळुद्वार (कोसल), अन्धकविन्द (मगध), पंचशाल (मगध), सेनानी गाम (मगध), कोटिगाम (वज्जि जनपद) और उक्काचेल (वज्जि जनपद) जैसे गाँवों; मगध, कोसल, तज्जि, काशी जैसे प्रदेशों; कपिलवस्तु, साकेत, राजगृह, चम्पा जैसे नगरों और आपण (अंगुत्तराप), उरुवेलकप्प (मल्ल जनपद) और उत्तर (कोलिय) जैसे अनेक कस्बों (निगमों) के वर्णन भरे पड़े है, जो तत्कालीन भारतीय प्रदेशों और उनके निवासियों के जीवन-सम्बन्धी काफी महत्त्वपूर्ण ज्ञान को हमें प्रदान करते हैं।

ई—अंगुत्तर-निकाय[1]

अंगुत्तर-निकाय सुत्त-पिटक का चौथा बड़ा भाग है। बुद्ध-धर्म के जिस स्वरूप का ज्ञान हमें प्रथम तीन निकायों में मिलता है, वही अंगुत्तर-निकाय का

---

१. मॉरिस तथा हार्डी द्वारा पाँच जिल्दों में रोमन लिपि में सम्पादित, पालि-टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८८५-१९००। छठी जिल्द मे मेबिल हण्ट ने अनुक्रमणियाँ दी हैं। सिंहली लिपि में देवमित्त का संस्करण, कोलम्बो, १८९३, प्रसिद्ध है। बरमी और अन्य सिंहली संस्करण भी उपलब्ध हैं। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान संपादकत्व में सम्पादित

भी विषय है। केवल अंगुत्तर-निकाय की शैली में कुछ भिन्नता है। संख्याबद्ध शैली इस निकाय की सब से बड़ी विशेषता है। जैसा पहले दिखाया जा चुका है, सम्पूर्ण निकाय ग्यारह निपातों में विभक्त है, यथा एक-निपात या एकक-निपात, दुक-निपात, तिक-निपात, चतुक्क-निपात, पञ्चक-निपात, छक्क-निपात, सत्तक-निपात, अट्ठक-निपात, नवक-निपात, दसक-निपात तथा एकादसक-निपात। प्रत्येक निपात वर्गों में विभक्त है। ग्यारह निपातों की वर्ग-संख्या क्रमशः इस प्रकार है (१) २१ वर्ग, (२) १६ वर्ग, (३) १६ वर्ग, (४) २६ वर्ग, (५) २६ वर्ग, (६) १२ वर्ग, (७) ९ वर्ग, (८) ९ वर्ग, (९) ९ वर्ग, (१०) २२ वर्ग और (११) ३ वर्ग। इस प्रकार ग्यारह निपात कुल १६९ वर्गों में विभक्त हैं। प्रत्येक वर्ग में अनेक सुत्त हैं, जिनकी कम से कम संख्या ७ और अधिक से अधिक २६२ है। कुल मिलाकर अंगुत्तर-निकाय में २३०८ सुत्त हैं। परन्तु परम्परागत रूप से यह संख्या ९५५७ मानी जाती है। अट्ठसालिनी की निदान-कथा में आचार्य बुद्धघोष ने कहा है "नवसुत्तसहस्स-पंचसत-सत्तपण्णाससुत्तसंगहो अंगुत्तर-निकायो।" आकार में अंगुत्तर-निकाय के सूत्र प्रायः संयुत्त-निकाय के सुत्तों के समान ही छोटे है और उन्हीं के समान उनका विषय भी कोई बुद्ध-प्रवचन या किसीके साथ हुआ बुद्ध-संवाद है। "एकं समयं" की भूमिका भी पूर्व के निकायों के समान है। अंगुत्तर-निकाय के प्रत्येक निपात में ऐसी संख्याओं से सम्बद्ध उपदेशों का संग्रह किया गया है, जिनकी समता उक्त निपात की संख्या से है। इस प्रकार एकक-निपात में केवल उन उपदेशों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध संख्या एक से है। इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यह संख्या एकादसक-निपात तक पहुँच जाती है, जिसमें भगवान् बुद्धदेव के उन उपदेशों का संग्रह है जिनके विषय का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार संख्या ग्यारह से है। यही कारण इस निकाय के अंगुत्तर-निकाय (अंकोत्तर-निकाय) नामकरण का भी है। 'मिलिन्दपञ्ह' में इसी निकाय का नाम 'एकुत्तर-निकाय'—एकोत्तर-निकाय) भी कहा गया है।[1] उसका भी यही

एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा चार जिल्दों में सन् १९६० में प्रकाशित। अंगुत्तर-निकाय के प्रथम तीन निपातों का हिन्दी अनुवाद भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने किया है, जिसे महाबोधि सभा, कलकत्ता, ने सन् १९५७ में प्रकाशित किया है।

१. पृष्ठ ३५४ (बम्बई विश्वविद्यालय का देवनागरी संस्करण)

अर्थ है। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के संस्कृत-त्रिपिटक में भी यह निकाय 'एकोत्त-रागम' के नाम से ही प्रसिद्ध था, यह उसके चीनी अनुवाद से विदित होता है। अंगुत्तर-निकाय की संख्या-बद्ध शैली उसके लिये कोई नई नहीं है। थोड़ी-बहुत यह प्रत्येक निकाय में पाई जाती है। अतः उसके आधार पर इस संग्रह को प्रथम तीन निकायों की अपेक्षा काल-क्रम में बाद का ठहराना ठीक नहीं माना जा सकता। वास्तव में तो प्रत्येक निकाय में ही, बल्कि कहीं-कहीं प्रत्येक सुत्त में ही, पूर्व और उत्तरकालीन परम्पराओं के साक्ष्य साथ-साथ दिखाई पड़ते हैं। यही बात अंगुत्तर-निकाय में भी है। अतः गणनात्मक शैली की बहुलता होने के कारण ही अंगुत्तर-निकाय को बाद का संग्रह नहीं माना जा सकता। जैसा अभी कहा गया, गणनात्मक प्रणाली थोड़ी-बहुत मात्रा में प्रत्येक निकाय में पाई जाती है। दीघ-निकाय के संगीति-परियाय-सुत्त और दसुत्तर-सुत्त एवं खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ (कुमारपञ्ह), थेरगाथा, थेरीगाथा, इतिवुत्तक आदि में वस्तु-विन्यास संख्यात्मक वर्गीकरण की शैली के आधार पर ही किया गया है। बाद में चल कर अभिधम्म-पिटक में तो यह प्रणाली पूरे सात महाग्रंथों का ही आधार बन जाती है। चूँकि अंगुत्तर-निकाय की अभिधम्म-पिटक से इस विषय में सब से अधिक समानता है, बल्कि उसके ग्यारह निपातों से अभिधम्म-पिटक के एक ग्रन्थ (पुग्गल-पञ्ञत्ति) की तो सारी विषय-वस्तु ही निकाली जा सकती है, अंगुत्तर-निकाय के इस प्रकार वर्गीकृत बुद्ध-वचनों को उत्तरकालीन संग्रह नहीं माना जा सकता। जैसा हम पहले भी दिखा चुके हैं, बुद्ध-वचनों का संरक्षण, उस युग में, सुनने वालों की स्मृति में ही किया जाने के कारण, उसकी सहा-यतार्थ संख्यात्मक संविधान की आवश्यकता पड़ती थी। इसलिये कभी-कभी स्वयं शास्ता भी अपने उपदेशों में इस प्रकार के तत्त्व का सम्मिश्रण कर देते थे। यह हम अंगुत्तर-निकाय के एकक-निपात के 'कजंगला-सुत्त' में अच्छी प्रकार देख सकते हैं। कुछ उपासक कजंगला नामक भिक्षुणी के पास जाकर पूछते हैं, "अय्या! भगवान् ने यह कहा है 'महा प्रश्नों में एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर; दो प्रश्न, दो उद्देश, दो उत्तर.....दस प्रश्न, दस उद्देश, दस उत्तर! भगवान् के इस संक्षिप्त कथन का उत्तर किस प्रकार समझना चाहिये?" कजंगला भिक्षुणी ने कहा, "एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर! यह जो भगवान् ने कहा, वह इस कारण कहा। आवुसो! एक वस्तु में भिक्षु भली प्रकार निर्वेद को प्राप्त हो, भली प्रकार विराग को प्राप्त हो, भली प्रकार विरक्त हो, अच्छी

प्रकार अन्तर्दर्शी हो, इसी जन्म में दुःख का अन्त करने वाला हो। किस एक धर्म में ? 'सभी सत्व आहार पर निर्भर है'। आवुसो ! भगवान् ने जो यह कहा 'एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर ! वह इसी कारण कहा !" इसी प्रकार उत्तरोत्तर क्रम से बढ़ती हुई कजंगला भिक्षुणी दस प्रश्न, दस उद्देश, दस उत्तर (व्याकरण) तक की व्याख्या करती है। गणनात्मक विधान होते हुए भी स्वयं उपदेश की गम्भीरता में कोई अन्तर यहाँ नहीं आता। यही बात विस्तार से हम अंगुत्तर-निकाय में भी देखते है। चार आर्य सत्य, आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग, सात बोध्यङ्ग, चार सम्यक् प्रधान, पाँच इन्द्रिय आदि सभी मौलिक बुद्ध-उपदेश इसी संख्यात्मक तत्त्व की सूचना देते हैं। अंगुत्तर-निकाय में केवल इसे उनके वर्ग-बद्ध स्वरूप में प्रस्तुत करने का आधार मान लिया गया है। अतः निश्चित है कि इसके अनेक सुत्त या अंश जो पिछले निकायों में अनेक प्रसंगों में आ चुके हैं, यहाँ संख्यात्मक प्रणाली को पूर्णता देने के लिये फिर रख दिये गये हैं।[1] उदाहरणतः चार आर्य सत्यों और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग सम्बन्धी उपदेश विनय-पिटक के महावग्ग तथा संयुत्त-निकाय के 'धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त' में स्वभावतः वाराणसी में दिये हुए उपदेश के रूप में अंकित हैं, किन्तु अंगुत्तर-निकाय में चार आर्य सत्यों सम्बन्धी उपदेश चतुक्क-निपात और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग सम्बन्धी उपदेश अट्ठक-निपात में संगृहीत है। अतः यह बहुत सम्भव है कि कुछ स्थलों में अंगुत्तर-निकाय के सुत्त दीघ और मज्झिम निकायों के परिवर्तित, विभक्त अथवा संक्षिप्त स्वरूप ही हों। किन्तु अधिकतर स्थलों में वे मौलिक ही है और उनकी उपयुक्तता उनके संख्यात्मक स्वरूप में वहाँ असदिग्ध भी है। अगुत्तर-निकाय में सुत्त-निपात का पारायण-वग्ग उद्धृत है, इस आधार पर उसे एक बाद का सकलन मानना उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार के पारस्परिक उद्धरण प्रथम तीन निकायों में भी मिलते हैं। अंगुत्तर-निकाय, जैसा हम अभी देखेंगे, बुद्ध और उनके धम्म और विनय के सबंध में कुछ ऐसी भी सूचना देता है जो प्राचीन भी है और साथ ही साथ अन्य निकायों में भी नही मिलती। पुनरुक्तियाँ और सख्यात्मक विवरण विशेषतः पाश्चात्य विद्वानों को बड़े अरुचिकर प्रतीत हुए हैं, अतः उन्होने अंगुत्तर-निकाय के वास्तविक मूल्यांकन करने में बड़ी कृपणता दिखाई है। साहित्यिक और

---

१. इनकी सूची के लिये देखिये पालि टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ८ (भूमिका)

ऐतिहासिक दृष्टियों से अंगुत्तर-निकाय का स्थान दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों के साथ ही है और उसमें भी, केवल कुछ कृत्रिम वर्गीकरण में, बुद्ध के जीवन और उपदेशों की वही साक्षात् सम्पर्क से प्राप्त स्मृतियाँ उपलब्ध होती हैं, जैसी प्रथम तीन निकायों में। यह हम उसकी विषय-वस्तु के विवरण से अभी देखेंगे।

अंगुत्तर-निकाय की विषय-वस्तु का चाहे जितना विस्तृत विवरण दिया जाय, वह उसकी वास्तविक विभूति को नहीं दिखा सकता। इसका कारण यह है कि केवल संख्यात्मक सूचियों का संकलन ही अंगुत्तर-निकाय नहीं है। अंगुत्तर-निकाय को केवल संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ. ३।१०) या दसुत्तर-सुत्त (दीघ. ३।११) का ही विस्तृत रूप समझ लेना एक भारी भ्रम होगा। इसमें सन्देह नहीं कि अंगुत्तर-निकाय के एक से लेकर ग्यारह निपातों की विषय-वस्तु का स्वरूप वहाँ किसी न किसी प्रकार उनके अनुरूप संख्या से सम्बन्धित है, जैसे कि

१. एकक-निपात—एक धर्म क्या है? इस प्रकार के प्रश्नोत्तर के अनेक रूप।

२. दुक-निपात—दो त्याज्य वस्तुएँ, दो प्रकार के ज्ञानी पुरुष, दो प्रकार के बल, दो प्रकार की परिषदें, दो प्रकार की इच्छाएँ, आदि, आदि।

३. तिक-निपात—तीन प्रकार के दुष्कृत्य (कायिक, वाचिक, मानसिक) तीन प्रकार की वेदनाएँ (सुखा, दुःखा, न-सुखा-न-दुःखा), आदि, आदि।

४. चतुक्क-निपात—चार आर्यसत्य, चार ज्ञान, चार श्रामण्य-फल, चार समाधि, चार योग, चार आहार, आदि, आदि।

५. पञ्चक-निपात—पाँच अङ्गों वाली समाधि, पाँच उपादान-स्कन्ध, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच निस्सरणीय धातु, पाँच धर्मस्कन्ध, पाँच विमुक्ति-आयतन आदि, आदि।

६. छक्क-निपात—छह अनुस्मृति-स्थान, छह आध्यात्मिक आयतन, छह अभिज्ञेय, आदि, आदि।

७. सत्तक-निपात—सात सम्बोध्यङ्ग, सात अनुशय, सात सद्धर्म, सात संज्ञाएँ, सात सत्पुरुष-धर्म, आदि, आदि।

८. अट्ठक-निपात—आर्य अष्टाङ्गिक-मार्ग, आठ आरब्ध वस्तु, आठ अभिभू-आयतन, आठ विमोक्ष, आदि, आदि।

९. नवक-निपात—नव तृष्णामूलक, नव सत्वावास, आदि, आदि।

१०. दसक-निपात—दस तथागत-बल, दस आर्य-वास, आदि, आदि।

११. एकादसक-निपात—निर्वाण-प्राप्ति के ग्यारह उपाय, आदि, आदि।

किन्तु इस उपर्युक्त सूची मात्र से अंगुत्तर-निकाय के विषय या उसके महत्त्व को नहीं समझा जा सकता। उसके लिये हमें उद्धरणों से उसके विषय की मूल बुद्ध-वचनों के रूप में प्रामाणिकता और बुद्धकालीन इतिहास के लिये उसके महत्त्व को हृदयङ्गम करना होगा। पहले एकक-निपात को ही लीजिये। धम्म-विनय की दृष्टि से ही अंगुत्तर-निकाय के प्रथम निपात में उद्धृत इस बुद्ध-वचन को देखिये, "नाहं भिक्खवे! अञ्ञं एक धम्मंपि समनुपस्सामि यो एवं महतो अनत्थाय संवत्तति, यदिदं भिक्खवे पापमित्तता। पापमित्तता भिक्खवे महतो अनत्थाय संवत्तति।" इसका अर्थ है "भिक्षुओ! मैं किसी भी दूसरी चीज को नहीं देखता जो इतनी अधिक अनर्थकर हो, जितनी पाप-मित्रता। भिक्षुओ! पाप-मित्रता बहुत अनर्थकारी है।" जो दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों में निहित बुद्ध-वचनों की आत्मा और बाह्याभिव्यक्ति से परिचित हैं, वे यहाँ उनकी अपेक्षा कुछ विभिन्नता नहीं देख सकते। अतः केवल इसीलिये कि संगीतिकारों ने कुछ बुद्ध-वचनों को संख्याबद्ध वर्गीकरण में बाँधकर रख दिया है, उनकी मौलिकता या महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता। अंगुत्तर-निकाय की सब सामग्री अन्य निकायों से भी ली हुई नहीं है, बल्कि उसमें बहुत सी ऐसी भी सूचना है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। इसका भी एक उदाहरण एकक-निपात के ही 'एतदग्गवग्ग' के उस महत्त्वपूर्ण विवरण में पाते हैं, जिसमें बताया गया है कि भगवान् बुद्ध के किस-किस भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, या उपासिका, ने साधना के किस-किस विभाग में दक्षता या विशेषता प्राप्त की थी। एतदग्गवग्ग के इस अंश को, उसके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण, यहाँ पूर्णतः उद्धृत करना ही उपयुक्त होगा, "ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन में विहार करते थे।.....भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया, (१) भिक्षुओ! मेरे रक्तज्ञ (अनुरक्त) भिक्षु श्रावकों में यह आज्ञा-कौण्डिन्य अग्र (श्रेष्ठ) है। (२) महाप्रज्ञों में यह सारिपुत्र अग्र है। (३) ऋद्धि-

मानों में यह महामौद्गल्यायन अग्र है। (४) धुतवादियों (अवधूत-व्रतों का अभ्यास करने वालों) में यह महाकाश्यप अग्र है। (५) दिव्यचक्षुकों में यह अनिरुद्ध अग्र है। (६) उच्च-कुलीनों में यह भद्दिय कालिगोधा-पुत्र अग्र है। (७) मंजु स्वर से धर्म उपदेश करने वालों में यह लकुण्टक-भद्दिय अग्र है। (८) सिंहनाद करने वालों में यह पिंडोल भारद्वाज अग्र है। (९) धर्म-उपदेश करने वालों में यह पूर्ण मैत्रायणीपुत्र अग्र है। (१०) संक्षिप्त धर्मोपदेश को विस्तृत रूप से समझाने वालों में यह महाकात्यायन अग्र है। (११) मनोमय काय (चित्तविवट्ट) निर्माण करने वालों में यह चुल्ल पंथक अग्र है। (१२) संज्ञा-विवर्त-चतुरों में यह महापंथक अग्र है। (१३) अरण्य-विहारियों में यह सुभूति अग्र है; दान-पात्रों में भी यह सुभूति अग्र है। (१४) आरण्यकों में यह रेवत खदिरवनिय अग्र है। (१५) ध्यानियों में यह कंखा-रेवत अग्र है। (१६) आरब्ध-वीर्यों में यह सोण कोळिवीस (शोण कोटिविंश) अग्र है। (१७) सुवक्ताओं में यह सोण कुटिकण्ण अग्र है। (१८) लाभ पाने वालों में यह सीवली अग्र है। (१९) श्रद्धावानों में यह वक्कलि अग्र है। (२०) शिक्षा-कामों (भिक्षु-नियम के पाबन्दों में) यह राहुल अग्र है। (२१) श्रद्धा से प्रव्रजितों में यह राष्ट्रपाल अग्र है। (२२) प्रथम शलाका ग्रहण करने वालों में यह कुंडधान अग्र है। (२३) प्रतिभा वालों में यह वंगीश अग्र है। (२४) समन्त प्रासादिकों (सब ओर से प्रसन्नों) में यह उपसेन वंगन्तपुत्त अग्र है। (२५) शयनासन-प्रज्ञापकों (गृह-प्रबन्धकों) में यह दब्ब मल्लपुत्त अग्र है। (२६) देवताओं के प्रियों में यह पिलिन्द वात्स्य-पुत्र अग्र है। (२७) शिप्राभिज्ञों (क्षिप्र अभिज्ञा प्राप्त करने वालों) में यह बाहिय दारुचीरिय अग्र है। (२८) चित्र कथिकों (विचित्र वक्ताओं) में यह कुमार काश्यप अग्र है। (२९) प्रति-संवित्-प्राप्तों में यह महाकोट्ठित (महाकोष्ठित) अग्र है। (३०) बहुश्रुतों में, गतिमानों में, स्थितिमानों में, यह आनन्द अग्र है। (३१) महापरिषद् वालों में यह उरुवेल-काश्यप अग्र है। (३२) कुल-प्रासादकों (कुलों को प्रसन्न करने वालों) में यह काल-उदायी अग्र है। (३३) अल्पाबाधों (निरोगों) में यह बक्कुल अग्र है। (३४) पूर्व-जन्म स्मरण करने वालों में यह शोभित अग्र है। (३५) विनय-धरों में यह उपालि अग्र है। (३६) भिक्षुणियों के उपदेशकों में यह नन्दक अग्र है। (३७) जितेन्द्रियों में यह नन्द अग्र है। (३८) भिक्षुओं के उपदेशकों में यह महाकप्पिन अग्र है। (३९) तेज-धातु-कुशलों में

यह स्वागत अग्र है। (४०) प्रतिभाशालियों में यह राध अग्र है। (४१) रुक्ष चीवरधारियों में यह मोघराज अग्र है। (४२) भिक्षुओ ! मेरी रक्तज्ञ भिक्षुणी-श्राविकाओं में महाप्रजावती गौतमी अग्र है। (४३) महाप्राज्ञाओं में खेमा अग्र है। (४४) ऋद्धिमतियों में उत्पलवर्णा अग्र है। (४५) विनय धारण करने वालियों में पटाचारा अग्र है। (४६) धर्मकथिकाओं में धम्मदिन्ना अग्र है। (४७) ध्यानियों में नन्दा अग्र है। (४८) आरब्धवीर्यायों में सोणा अग्र है। (४९) क्षिप्राभिज्ञाओं में भद्रा कुंडलकेशा अग्र है। (५०) पूर्व जन्म की अनुस्मृति करने वालियों में भद्रा कापिलायिनी अग्र है। (५१) महा-अभिज्ञा-प्राप्तों में भद्रा कात्यायनी। (५२) रुक्ष चीवरधारिणियों में कृशा गौतमी। (५३) श्रद्धा-युक्त भिक्षुणियों में शृगाल-माता। (५५-५६) भिक्षुओ ! मेरे उपासक श्रावकों में प्रथम शरण आने वालों में तपस्सु और भल्लिक वणिक् अग्र हैं। (५७) दायकों में अनाथ-पिंडिक सुदत्त गृहपति अग्र है। (५८) धर्मकथिकों (धर्मोपदेष्टाओं) में मच्छिकाषण्डवासी चित्र गृहपति अग्र है। (५९) चार संग्रह-वस्तुओं से परिषद् को मिलाकर रखने वालों में हस्तक आल-वक अग्र है। (६०) उत्तम दायकों में महानाम शाक्य अग्र है। (६१) प्रिय-दायकों में वैशाली का निवासी उग्र गृहपति अग्र है। (६२) संघ-सेवकों में उद्गत (उग्गत) गृहपति अग्र है। (६३) अत्यन्त प्रसन्नों में शूर अम्बष्ठ अग्र है। (६४) व्यक्तिगत प्रसन्नों में जीवक कौमारभृत्य अग्र है। (६५) विश्वासकों में नकुल-पिता गृहपति अग्र है। (६६) भिक्षुओ ! मेरी उपासिका श्राविकाओं में प्रथम शरण आने वालियों में सेनानी दुहिता सुजाता अग्र है। (६७) दायिकाओं में विशाखा मृगारमाता अग्र है। (६८) बहुश्रुताओं में खुज्जुत्तरा (कुब्जा उत्तरा) अग्र है। (६९) मैत्री विहार प्राप्त करने वालियों में सामावती (श्यामावती) अग्र है। (७०) ध्यानियों में उत्तरा नन्द-माता अग्र है। (७१) प्रणीत दायिकाओं में सुप्रवासा कोलिय-दुहिता अग्र है। (७२) रोगी की सेवा करने वालियों में सुप्रिया उपासिका अग्र है। (७३) अतीव प्रसन्नों में कात्यायनी अग्र है। (७४) विश्वासिकाओं में नकुल-माता गृहपत्नी अग्र है। (७५) अनुश्रव-प्रसन्नों में कुररघर में ब्याही काली उपासिका अग्र है। भगवान् बुद्धदेव के प्रधान शिष्य-शिष्याओं का यह विवरण, जिसमें उनके भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका सभी कोटि के पुरुष और स्त्री साधक-साधिकाओं के नाम हैं, बुद्ध-धर्म और संघ के इतिहास की दृष्टि

से कितना महत्त्वपूर्ण है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। धर्म, साहित्य और इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस प्रकार की प्रभूत सामग्री अंगुत्तर-निकाय में भरी पड़ी है। दुक-निपात के इस सुन्दर भाव-पूर्ण बुद्ध-वचन को लीजिये, "द्वे मे भिक्खवे असनिया फळन्तिया न सन्तसन्ति। कतमे द्वे? भिक्खू च खीणासवो, सीहो च मिगराजा। इमे खो भिक्खवे द्वे असनिया फळन्तिया न सन्तसन्तीति।" अर्थात् "भिक्षुओ! बिजली कड़कने पर दो ही प्राणी नहीं चौक पड़ते है। कौन से दो? क्षीणास्रव भिक्षु और मृगराज सिंह। भिक्षुओ! यही दो बिजली कड़कने पर नहीं चौंक पड़ते।"[1] इस प्रकार के अर्थ-गर्भित उपदेश जिनकी मौलिकता और स्वाभाविकता में उनका संख्याबद्ध विन्यास कोई क्षति नहीं पहुँचाता, अंगुत्तर-निकाय में भरे पड़े हैं। तिक-निपात के भरंडु-सुत्त में हम भगवान् को, बुद्धत्त्व-प्राप्ति के बाद अपने पन्द्रहवें वर्षा-वास में, कपिलवस्तु में विचरते देखते है। महानाम शाक्य उनका सत्कार करता है। भगवान् नगर से बाहर भरंडु-कालाम नामक अपने पूर्व के सब्रह्मचारी के आश्रम में एक रात भर ठहरते हैं। रात के बीतने पर महानाम शाक्य फिर उनकी सेवा में उपस्थित होता है। भगवान् उसे उपदेश देते हैं, "महानाम! लोक में तीन प्रकार के शास्ता विद्यमान हैं। कौन से तीन? (१) यहाँ एक शास्ता महानाम! कामों के त्याग का उपदेश करते हैं, किन्तु रूपों और वेदनाओं के त्याग को प्रज्ञापित नहीं करते। (२) कामों और रूपों के त्याग का उपदेश करते हैं, किन्तु वेदनाओं के त्याग को प्रज्ञापित नहीं करते। (३) कामों के त्याग को भी, रूपों के त्याग को भी और वेदनाओं के त्याग को भी प्रज्ञापित करते है। महानाम! लोक में यही तीन प्रकार के शास्ता हैं।" अंगुत्तर-निकाय के तिक-निपात के केसपुत्तिय-सुत्त में हम बुद्ध के बुद्धिवादी दृष्टिकोण को स्पष्टतः देखते हैं। कोसल-प्रदेश में चारिका करते करते हुए भगवान् केसपुत्त नामक निगम (कस्बे) में, जो कालाम नामक क्षत्रियों का निवास-स्थान था, पहुँचते है।

---

१. **"क्षीणास्रव भिक्षु नहीं चौंक पड़ता है, क्योंकि उसका 'अहंभाव' बिलकुल निरुद्ध हुआ रहता है। मृगराज सिंह नहीं चौंक पड़ता है, क्योंकि उसका 'अहंभाव' अत्यन्त प्रबल होता है; चौंकने के बदले वह और गरज उठता है कि कौन दूसरा उसकी बराबरी करने आ रहा है।" भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ चवालीस (वस्तुकथा) में।**

कालाम क्षत्रिय भगवान् को हाथ जोड़-जोड़ कर एक ओर चुपचाप बैठ जाते हैं। वे भगवान् से विनम्रता के साथ पूछते है, "भन्ते ! कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण केसपुत्त में आते हैं। वे अपने ही मत की प्रशसा करते हैं, दूसरे के मत की निन्दा करते हैं, उसे छुड़वाते हैं। भन्ते ! दूसरे भी कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण केसपुत्त में आते हैं और वे भी वैसा ही करते है।. तब भन्ते ! हमको संशय अवश्य होता है, कौन इन आप श्रमण-ब्राह्मणों मे सच कहता है, कौन झूठ ?" कालामों का प्रश्न ऐसा है जो दुनिया के धार्मिक इतिहास में हर युग में और हर व्यक्ति के हृदय में आता है। अतः कालामों के प्रश्न का महत्त्व सब काल के मनुष्य के लिये समान रूप से है। भगवान् ने जो उत्तर दिया है, वह उससे भी अधिक विश्व-जनीन महत्ता लिये हुए है। भगवान् कहते हैं, "कालामो ! तुम्हारा संशय ठीक है। संशय-योग्य स्थान में ही तुम्हें संशय उत्पन्न हुआ है। आओ कालामो ! मत तुम अनुश्रव से विश्वास करो, मत परम्परा से विश्वास करो। 'यह ऐसा ही है' इस से भी तुम मत विश्वास करो। कालामो ! मान्य शास्त्र की अनुकूलता (पिटक-सम्प्रदाय) से भी तुम विश्वास मत करो। मत तर्क से, मत न्याय-हेतु से, मत वक्ता के आकार के विचार से, मत अपने चिर-धारित विचार के होने से, मत वक्ता के भव्य रूप होने से, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' इस भावना से, कालामो ! मत इन सब कारणों से तुम विश्वास करो ! बल्कि कालामो ! जब तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म अकुशल हैं, ये धर्म सदोष हैं, ये धर्म विज्ञ-निन्दित हैं, ये ग्रहण करने पर अहित, दुःख के लिये होंगे, तो कालामो ! तुम उन्हें छोड़ देना।.....इसी प्रकार कालामो ! जब तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म कुशल हैं, ये धर्म निर्दोष है, ये धर्म विज्ञ-प्रशसित हैं, ये ग्रहण कर लेने पर सुख और कल्याण के लिये होंगे, तो कालामो ! तुम उन्हें प्राप्त कर विहरना।" इस प्रकार पात्रता की उपयुक्त भूमि तैयार कर बाद में तथागत कालामों को विज्ञापित करते हैं, "तो क्या मानते हो कालामो ! पुरुष के भीतर उत्पन्न हुआ लोभ (राग) हित के लिये है या अहित के लिये ?" 'अहित के लिये, भन्ते !" "पुरुष के भीतर उत्पन्न हुआ द्वेष.....हित के लिये या अहित के लिये ?" "अहित के लिये, भन्ते !" "मोह ?" "अहित के लिये भन्ते !" "तो क्या मानते हो कालामो ! ये धर्म (राग, द्वेष, मोह) सदोष हैं या निर्दोष? "सदोष, भन्ते !" "प्राप्त करने पर अहित के लिये, दुःख के लिये हैं या नहीं ?" "ग्रहण करने पर भन्ते ! अहित के लिये हैं, ऐसा हमें लगता है।" बुद्ध की उठाने

वाली आदेशना आरम्भ होती है "तो कालामो ! तुम इन्हें छोड़ दो।" इसी प्रकार अ-लोभ, अद्वेष, अमोह को हित, सुख का कारण समझा कर भगवान् कालामों को उन्हें ग्रहण करने की प्रेरणा करते हैं। किसी भी विश्वास को मानने या न मानने की अपेक्षा के बिना ही स्वयं सदाचार का जीवन सम्पूर्ण आश्व'सनों से किस प्रकार आश्वस्त है, इसे समझाते हुए भगवान् कहते हैं, "कालामो ! जो आर्य श्रावक अ-वैर-चित्त, अ-व्यापन्न-चित्त, अ-संक्लिष्ट-चित्त (विशुद्धि-चित्त) है, उसको इसी जन्म में चार आश्वासन (आश्वासन) मिले रहते हैं, (१) यदि परलोक है, यदि सुकृत-दुष्कृत कर्मो का फल है, तो निश्चय ही मैं काया छोड़, मरने के बाद, सुगति, स्वर्ग-लोक में उत्पन्न होऊँगा, यह उसे प्रथम आश्वास प्राप्त रहता है। (२) यदि परलोक नहीं है, यदि सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल नहीं है, तो इसी जन्म में, इसी समय, अ-वैर-चित्त, अ-व्यापन्न-चित्त, अ-संक्लिष्ट-चित्त, अपने को रखता हूँ, यह उसको द्वितीय आश्वास प्राप्त रहता है। (३) यदि किसी काम को करते पाप किया जाये, तो भी किसी का बुरा नहीं चाहता, बिना किये फिर पाप-कर्म मुझे क्यों दुःख पहुँचायेगा। यह उसे तीसरा आश्वास प्राप्त रहता है। (४) याद करते हुए पाप न किया जाय, तो इस समय मैं दोनों से ही मुक्त अपने को देखता हूँ। यह उसे चौथा आश्वास प्राप्त हुआ रहता है।" यह उपदेश न केवल बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद और विचार-स्वातन्त्र का, बल्कि भगवान् की उपदेश-प्रणाली का भी अच्छा सूचक है। अंगुत्तर-निकाय की एक बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ भिक्षु-धर्म (भिक्खु-विनय) के साथ-साथ गृहस्थ-धर्म (गिहि-विनय) का भी उपदेश दिया गया है। चतुक्क-निपात के पठम-संवास-सुत्त में भगवान् मथुरा और वेरंजा के बीच के रास्ते में गृहस्थों को विज्ञापित करते दिखाई पड़ते हैं, "गृहपतियो ! चार प्रकार के संवास होते हैं। कौन से चार ? (१) शव शव के साथ संवास करता है (२) शव देवी के साथ संवास करता है (३) देव शव के साथ संवास करता है (४) देव देवी के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! शव शव के साथ संवास करता है ? यहाँ गृहपतियो ! पति हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, नशाबाज, दुःशील, पाप-धर्मा, कंजूसी की गन्दगी से लिप्त चित्त वाला, श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाला हो, इस प्रकार गृह में वास करता हो और उसकी भार्या भी उसी के समान हिंसक, चोर, दुराचारिणी.....श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाली हो। उस समय गृहपतियो ! शव शव के साथ संवास करता है।

कैसे गृहपतियो ! शव देवी के साथ संवास करता है ? गृहपतियो ! पति हिंसक, चोर, दुराचारी.....श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाला हो, किन्तु उसकी भार्या अ-हिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारिणी, सच्ची, नशा-विरत, सुशीला, कल्याण-धर्म-युक्त, मल-मात्सर्य-रहित, श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन न कहने वाली हो, तो गृहपतियो ! शव देवी के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! देव शव के साथ संवास करता है ? गृहपतियो ! पति हो अहिंसारत, चोरी-रहित, सदाचारी.....उसकी भार्या हो हिंसा-रत चोर, दुराचारिणी.... गृहपतियो ! देव शव के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! देव देवी के साथ संवास करता है ? गृहपतियो ! पति अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारी .....उसकी भार्या भी अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारिणी..... गृहपतियो ! देव देवी के साथ संवास करता है।" इसी प्रकार सत्तक-निपात में वर्णन है कि एक बार भगवान् बुद्ध अनाथपिण्डिक के घर पर भिक्षा करने जाते हैं और वहाँ देखते हैं कि उसके घर के अन्दर बड़ा शोरगुल हो रहा है। पूछने पर अनाथपिण्डिक बताता है कि उसके घर में एक बड़ी कलहप्रिय पुत्र-वधू आ गई है, जो किसी की बात नहीं सुनती और निरन्तर झगड़ा करती रहती है। बुद्ध के सामने बुलाई जाती है। बुद्ध उसे 'सुजाता' कहकर पुकारते है, "आ सुजाता !" वह पानी-पानी हो जाती है। बाद में बुद्ध उसे बताते है कि सात प्रकार की पत्नियाँ होती हैं (१) हत्यारी के समान, (२) चोर के समान, (३) स्वामिनी के समान, (४) माता के समान, (५) बहिन के समान, (६) मित्र के समान और (७) दासी के समान। 'सुजाता' बुद्ध को वचन देती है कि वह आगे दासी के समान बनकर रहेगी। इसी प्रकार एकादसक-निपात के महानाम-सुत्त (पठम और दुतिय) में हम भगवान् को महानाम शाक्य के प्रति, जो गृहस्थ था, बुद्ध, धर्म, सघ आदि की अनु-स्मृति करने का उपदेश देते हुए देखते है "महानाम ! तुम चलते भी भावना करो, खड़े भी, बैठे भी, कर्मान्तिक (खेती आदि) का अधिष्ठान (प्रबध) करते भी, पुत्रों से घिरी शय्या पर भी।" बुद्ध ने गृहस्थ, भिक्षु, सब के लिये अ-प्रमाद या सतत पुरुषार्थ पर कितना अधिक जोर दिया, यह हमने दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों के विवरण में देखा है। अंगुत्तर-निकाय के चतुक्क-निपात के पधान-सुत्त में भी हम भगवान् को भिक्षुओं के प्रति यही उपदेश करते देखते हैं। श्रावस्ती में अनाथपिडिक के जेतवन-आराम में कुछ नये प्रविष्ट भिक्षु सूर्योदय तक खर्राटे ले सो रहे हैं। भगवान् भिक्षुओं को विज्ञापित करते हैं,

'भिक्षुओ ! सूर्योदय तक खर्राटे मारकर सोते हो। तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या तुमने देखा या सुना है मूर्धाभिषिक्त (अभिषेक-प्राप्त) क्षत्रिय राजा को इच्छानुसार शयन-सुख, स्पर्श-सुख, आलस्य-सुख के साथ विहार करते और जीवन-पर्यन्त राज्य करते या देश का भला होते ?" "नहीं भन्ते !" "साधु भिक्षुओ ! मैंने भी नहीं देखा। तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या तुमने देखा है या सुना है, शयन-सुख, स्पर्श-सुख, आलस्य-सुख से युक्त, इन्द्रियों के द्वारों को सुरक्षित न रखने वाले, भोजन की मात्रा को न जानने वाले, जागरण में अ-तत्पर, कुशल धर्मों की भावना न करने वाले, रात के पहले और पिछले पहर में जगकर बोधि-पक्षीय धर्मों की भावना न करने वाले, किसी भी श्रमण या ब्राह्मण को चित्त-मलों के क्षय से प्राप्त निर्मल चित्त की विमुक्ति या प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म में स्वयं साक्षात्कार कर, स्वयं जान कर, स्वयं प्राप्त कर विहरते!" "नहीं भन्ते !" !""साधु भिक्षुओ ! मैंने भी नहीं देखा। तो भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये—इन्द्रिय-द्वार को सुरक्षित रखूँगा। भोजन की मात्रा को जानने वाला, कुशल धर्मों की भावना करने वाला, रात के पहले और पिछले पहरो में बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने वाला, इस प्रकार मैं साधना में लग्न रह कर विहरूँगा। भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिये।"

अंगुत्तर-निकाय के अट्ठक-निपात के गोतमी-सुत्त में महा-पजापती गोतमी (महाप्रजावती गौतमी) की प्रव्रज्या का बिलकुल उन्ही शब्दों में वर्णन है, जैसा विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में। कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में भगवान् के विहार करते समय महाप्रजावती गौतमी भगवान् के पास जाकर उनसे प्रार्थना करती है, "भन्ते! अच्छा हो, यदि मातृग्राम (मातृ-समूह—स्त्रियाँ) भी तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में प्रव्रज्या पावें।" भगवान् ने उत्तर दिया, "गौतमी ! मत तुझे यह रुचे कि स्त्रियाँ तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में प्रव्रज्या पावें।" महापजापती दुःखी, दुर्मना, अश्रुमुखी होकर चली गई। बाद में वह वैशाली में भगवान् के पास पहुँची। वहाँ आनन्द ने स्त्री-जाति की ओर से बोलते हुए भगवान् से निवेदन किया, "भन्ते ! महापजापती गोतमी फूले पैरों, धूल भरे शरीर से, दुःखी, दुर्मना, अश्रुमुखी रोती हुई द्वार-कोष्ठक के बाहर खड़ी है। भन्ते ! स्त्रियों को प्रव्रज्या की आज्ञा मिले।" "आनन्द ! मत तुझे यह रुचे।" आनन्द ने तथागत-प्रवेदित धर्म की मूल आत्मा को लेकर ही कहा, "भन्ते ! क्या तथागत-प्रवेदित धर्म में घर से बेघर प्रव्रजित हो, स्त्रियाँ स्रोत-आपत्ति-फल, सकृदागामि-फल, अनागामि-

फल, अर्हत्त्व-फल को साक्षात् कर सकती हैं?" भगवान् को कहते देर न लगी, "साक्षात् कर सकती हैं, आनन्द!" बस पजापती गोतमी और आनन्द की इच्छा को पूरी होते देर न लगी। भगवान् ने आठ गुरु-धम्मों (जिनके कारण ही इस प्रसंग को यहाँ अंगुत्तर-निकाय के इस निपात में स्थान मिला है) के पालन करने की शर्त लेकर महापजापती को प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा दे दी। उसी समय से अन्य भी स्त्रियाँ भिक्षुणियाँ हुईं और बाद में एक अलग भिक्षुणी-संघ ही बन गया। किन्तु स्त्रियों को प्रव्रज्या की अनुमति देते समय भगवान् ने चेतावनी भी दी, जिसे बुद्ध-धर्म के बाद के इतिहास ने सम्भवतः सच्चा भी प्रमाणित कर दिया है, "आनन्द! यदि तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं, तो यह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष ठहरता। किन्तु चूँकि आनन्द! स्त्रियाँ प्रव्रजित हुई, अब सद्धर्म चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म अब पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।.....आनन्द! जैसे आदमी पानी की रोक-थाम के लिये, बड़े तालाब को रोकने के लिये, मेंड़ बाँधे, उसी प्रकार आनन्द। मैंने रोक-थाम के लिये भिक्षुणियों को जीवन-भर अनुल्लंघनीय आठ गुरु-धर्मों में प्रतिष्ठापित किया।" इसी प्रसंग में यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि आनन्द किस प्रकार स्त्री-जाति के समर्थन में अपने युग से बहुत आगे थे, इसकी भी सूचना हमें इस निकाय में मिलती है। स्त्रियों को प्रव्रज्या दिलाने में उन्होंने महापजापती गोतमी की किस कुशलता के साथ सहायता की, यह हम अभी देख ही चुके हैं। एक बार हम उन्हें (चतुक्क-निपात में) भगवान् से यह तक पूछते देखते हैं, "भन्ते! क्या कारण है कि स्त्रियाँ परिषदों में स्थान नहीं पातीं, स्वतन्त्र उद्योग नहीं करतीं, स्वावलम्बन का जीवन नहीं बितातीं?" हम जानते हैं कि आनन्द को अपने इन सब विचारों के कारण ही प्रथम संगीति में क्षमा-याचना करनी पड़ी। मनुष्यता के नाते आज आनन्द इसीलिये हमारे लिये अधिक प्रिय बन गये हैं, उस समय के लोगों ने चाहे जो सोचा हो। अंगुत्तर-निकाय में इस प्रकार बुद्ध के शिष्यों के स्वभाव और जीवन पर प्रकाश डालने वाली प्रभूत सामग्री मिलती है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद पजापती गोतमी इसी निकाय के अट्ठक-निपात के संखित्त-सुत्त में भगवान् से पूछती है, "भन्ते! अच्छा हो यदि भगवान् संक्षेप से मुझे धर्म का उपदेश करें, ताकि मैं उसे सुन कर, प्रमाद-रहित हो, आत्म-संयम कर जीवन में विचरूँ।" भगवान् का उत्तर बुद्ध-धर्म के उदार मन्तव्य को समझने के लिये इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसको उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। "गोतमी!

जिन बातों को तू जाने कि ये बातें सराग के लिये हैं, विराग के लिये नहीं, संयोग के लिये हैं, वियोग के लिये नहीं, संग्रह के लिये हैं, असंग्रह के लिये नहीं, इच्छाओं को बढ़ाने के लिये हैं, घटाने के लिये नहीं, असन्तोष के लिये हैं, सन्तोष के लिये नहीं, भीड़ के लिये हैं, एकान्त के लिये नहीं, अनुद्योगिता के लिये हैं, उद्योगिता के लिये नहीं, कठिनाई के लिये हैं, सुगमता के लिये नहीं, तो तू गोतमी ! सोलहो आने जानना कि वह न धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है। किन्तु गोतमी ! जिन बातों को तू जाने कि ये विराग के लिये हैं, सराग के लिये नहीं.....इच्छाओं के घटाने के लिये हैं, बढ़ाने के लिये नहीं.....सुगमता के लिये हैं, कठिनाई के लिये नहीं, तो गोतमी ! तू सोलहो आने जानना कि वही धर्म है, वही विनय है, वही शास्ता का शासन है।"

सत्तक-निपात में भगवान् बुद्ध का ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी गम्भीर उपदेश है जो अपनी सूक्ष्मता और मार्मिकता में अद्वितीय है। उसे यहाँ उद्धृत करना उपयोगी सिद्ध होगा। "ब्राह्मण ! यहाँ कोई एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता, किन्तु वह स्त्री के द्वारा (स्नान-चूर्ण आदि) उबटन किये जाने, मले जाने, स्नान कराये जाने और मालिश किये जाने को स्वीकार करता है। वह उसमें रस लेता है, उसकी इच्छा करता है, उसमें प्रसन्नता अनुभव करता है। ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का टूटना है, छिद्रयुक्त होना है, चितकबरा होना है, धब्बेदार होना है। ब्राह्मण ! इस पुरुष के लिये कहा जायगा कि वह मैथुन (स्त्री-सहवास) से युक्त होकर ही मलिन ब्रह्मचर्य का सेवन कर रहा है। वह मनुष्य जन्म से, जरा से, मरण से नहीं छूटता.....नहीं छूटता दुःख से भी—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता और न स्त्री के द्वारा अपने उबटन आदि किये जाने को ही स्वीकार करता है, किन्तु वह स्त्री के साथ हँसी-मजाक करता है, क्रीड़ा करता है, खेलता है, वह उसमें रस लेता है,..... दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता, उसके द्वारा उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नहीं करता, उसके साथ हँसी मजाक भी नहीं करता, किन्तु वह स्त्री को आँख गड़ाकर देखता है, नजर भर कर देखता है, वह उसमें रस लेता है.....दुःख से नहीं छूटता—

मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न प्रत्यक्ष स्त्री के साथ सहवास करता, न उससे उबटन आदि लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसे आँख गड़ाकर देखता, किन्तु वह दीवार या चहारदीवारी की ओट से छिपकर स्त्री के शब्दों को सुनता है, जब कि वह हँस रही हो, या बात कर रही हो, या गा रही हो, या रो रही हो, वह उसमें रस लेता है.....दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको नजर भर कर देखता है जब कि वह गा रही हो या रो रही हो, किन्तु वह अपने उन हँसी-मजाकों, सम्भाषणों और क्रीड़ाओं को स्मरण करता है जो उसने पहले स्त्री के साथ की थीं, वह उनमें रस लेता है.....दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको आँख गड़ा कर देखता, न उसके साथ किये हुए अपने पुराने हँसी-मजाकों, सम्भाषणों और क्रीड़ाओं आदि को ही स्मरण करता है, किन्तु वह किसी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को पूरी तरह पाँच प्रकार के (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सम्बन्धी) विषयों से समर्पित, संयुक्त हो, विलास करते देखता है, वह उसमें रस लेता है.....दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और न वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको आँख गड़ाकर देखता, न उसके साथ किये हुये अपने पुराने हँसी-मजाकों को स्मरण करता, न किसी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को कामासक्त होकर सुख-विहार करते देख कर प्रसन्न होता, किन्तु वह किसी देव-योनि में जन्म लेने की अभिलाषा से ब्रह्मचर्य का आचरण करता है और सोचता है कि इस प्रकार के शील, तप, व्रत, या ब्रह्मचर्य में मैं देव हो जाऊँगा या देवों में कोई विशेष देव, वह इसमें रस लेता है, इसकी इच्छा करता है, इसमें प्रसन्नता अनुभव करता है। ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का खंडित हो जाना है, टूट जाना है, छिद्र-युक्त हो जाना है, चितकबरा हो जाना है, धब्बेदार हो जाना है। इसीलिये कहा जाता है कि इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का आचरण

करने वाला पुरुष मलिन मैथुन के संयोग से युक्त ब्रह्मचर्य का ही आचरण करता है और वह जन्म से, जरा से, मरण से नहीं छूटता, नहीं छूटता दुःख से—मैं कहता हूँ।" साधना के इतिहास में इससे गम्भीर प्रवचन ब्रह्मचर्य पर नहीं दिया गया।

तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये कितनी महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक सामग्री हमें अंगुत्तर-निकाय में मिलती है, इसका कुछ दिग्दर्शन किया जा चुका है। तत्कालीन इतिहास की झलक भी उसमें कितनी मिलती है, यह अब हमें देखना है। सिंह सेनापति (लिच्छवि सरदार) बुद्ध-युग का एक आकर्षक व्यक्ति है।[१] अट्ठक-निपात के सीह-सुत्त में हम सिंह सेनापति को भगवान् से भेंट करते हुए देखते हैं। सिंह पहले निगण्ठों (निर्ग्रन्थों-जैन साधुओं) का शिष्य रहा है। वह अपनी कुछ आपत्तियों को लेकर भगवान् बुद्ध के पास आता है। वह उन्हें पूछता है कि वे कहाँ तक अक्रियावादी, उच्छेदवादी हैं या नहीं। भगवान् एक-एक कर उसको बतला देते है कि किन-किन अर्थों में उनको ऐसा (अक्रियावादी, उच्छेदवादी आदि) कहा भी जा सकता है। सिंह सेनापति संतुष्ट होकर उपासक बनना चाहता है। भगवान् उसे कहते हैं "सिंह ! सोच-समझ कर करो। तुम्हारे जैसे सम्भ्रान्त मनुष्यों का सोच-समझ कर निश्चय करना ही अच्छा है।" सिंह सेनापति जब अपनी दृढ़ श्रद्धा दिखाता है, तो भगवान् उसे उपासक के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु चूँकि वह पहले निर्ग्रन्थों का शिष्य रहा है और वे उससे दान पाते रहे हैं, इसलिये उदार शास्ता सिंह को यह भी आदेश देना नही भूलते, "सिंह ! तुम्हारा कुल दीर्घ-काल से निगंठों के लिये प्याऊ की तरह रहा है। उनके आने पर उन्हें पहले की ही तरह तुम्हारे घर से दान मिलता रहना चाहिये।" बुद्ध के विरुद्ध किस प्रकार मिथ्या प्रचार किया जाता था, इसका विवरण हम इसी निपात के वेरंज-सुत्त में पाते हैं। वेरंज नामक (वेरजा-निवासी) ब्राह्मण भगवान् के पास जाकर कहता है, "हे गोतम ! मैंने सुना है कि आप गोतम अ-रस रूप हैं...आप गोतम निर्भोग है.....आप गोतम अक्रियावादी हैं...आप गोतम उच्छेदवादी है...आप गोतम जुगुप्सु (घृणा करने वाले) हैं...आप गोतम वैनयिक (हटाने वाले) है...आप गोतम तपस्वी हैं...आप गोतम अपगर्भ हैं। भगवान् उसे बताते है कि उन्हें किस-किस अर्थ में ऐसा कहा भी जा सकता है।" उदाहरणतः "ब्राह्मण ! मैं काया के दुराचार, वाणी के दुराचार, मन के दुराचार

---

१. देखिये महापंडित राहुल सांकृत्यायन का 'सिंह सेनापति' शीर्षक उपन्यास।

को अक्रिया कहता हूँ। अनेक प्रकार के पाप कर्मों को मैं अ-क्रिया कहता हूँ। यही कारण है ब्राह्मण ! जिससे 'श्रमण गोतम अक्रियावादी है।' ऐसा कहा जा सकता है।...ब्राह्मण ! मैं राग, द्वेष, मोह के उच्छेद का उपदेश करता हूँ। अनेक प्रकार के पाप-कर्मों का उच्छेद कहता हूँ। 'श्रमण गोतम उच्छेदवादी है' ऐसा कहा जा सकता है।...ब्राह्मण ! जिसका भविष्य का गर्भ-शयन, आवागमन नष्ट हो गया, जड़मूल से चला गया, उसको मैं अपगर्भ कहता हूँ। ब्राह्मण ! तथागत का गर्भशयन, आवागमन, नष्ट हो गया, जड़-मूल से चला गया। 'श्रमण गोतम अपगर्भ है', ऐसा कहा जा सकता है", आदि, आदि। यहीं भगवान् अपनी जीवनी का भी कुछ वर्णन करने लगते हैं, "ब्राह्मण ! इस अविद्या में पड़ी, अविद्या रूपी अंडे से जकड़ी प्रजा में, मैं अकेला ही अविद्या रूपी अंडे को फोड़ कर, अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जानने वाला हूँ। मैं ही ब्राह्मण ! लोक में ज्येष्ठ हूँ, अग्र हूँ। मैंने न दबने वाला वीर्यारम्भ किया था, विस्मरण-रहित स्मृति मेरे सम्मुख थी, अचल और शान्त मेरा शरीर था, एकाग्र समाहित चित्त था।...ब्राह्मण ! उस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर, आत्म-संयम-युक्त होकर विहरते हुए, मुझे रात के पहले याम में, पहली विद्या प्राप्त हुई, अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण ! अंडे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह पहली फूट हुई। फिर ब्राह्मण ! रात के बीच के याम में द्वितीय विद्या उत्पन्न हुई...रात के पिछले याम में तृतीय विद्या उत्पन्न हुई। अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई। तम गया, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण ! अंडे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह तीसरी फूट हुई।"

कोसलराज प्रसेनजित् बुद्ध का श्रद्धावान् उपासक था, यह हम संयुत्त-निकाय में देख चुके हैं। मज्झिम-निकाय (बाहितिक-सुत्त) में हमने प्रसेन-जित् और आनन्द का संवाद भी देखा है। अंगुत्तर-निकाय के कोसल-सुत्त में हम उसे बुद्ध के प्रति अतीव श्रद्धा और प्रेम प्रदर्शित करते हुए देखते हैं। श्रावस्ती में भगवान् के दर्शनार्थ वह जाता है। जेतवन-आराम के द्वार पर ही वह भिक्षुओं से भगवान् के दर्शन-विषयक अपनी इच्छा प्रकट करता है। "महाराज ! यह द्वार-बन्द कोठरी है, चुपके से धीरे-धीरे वहाँ जाकर बरामदे में प्रवेश कर, खाँस कर जंजीर को खटखटा देना। भगवान् तुम्हारे लिये द्वार खोल देंगे।" भगवान् ने द्वार खोल दिया। "विहार में प्रविष्ट हो प्रसेनजित् भगवान् के पैरों में गिर कर, भगवान् के पैरों को मुख से चूमता था, हाथ से पैरों को दबाता था और

अपना नाम सुनाता था 'भन्ते! मैं राजा प्रसेनजित् कोसल हूँ।" महाराज! तुम किस बात को देखकर इस शरीर में इतनी मैत्री का उपहार दिखाते हो?" "भन्ते! कृतज्ञता, कृतवेदिता को देखते हुए मैं भगवान् की इस प्रकार की परम सेवा करता हूँ, मैत्री उपहार दिखाता हूँ। भन्ते! भगवान् बहुत जनों के हित, बहुत जनों के सुख के लिये हैं"। अंगुत्तर-निकाय में हम देखते हैं कि मगधराज अजातशत्रु वज्जियों के गण-तन्त्र के विरुद्ध अभियान करना चाहता है। भगवान् जिस समय राजगृह में गृध्रकूट-पर्वत (गिज्झकूट पब्बत) पर विहर रहे थे, उसने अपने मन्त्री वर्षकार (वस्सकार) नामक ब्राह्मण को उनसे इस सम्बन्ध में पूछने के लिये भेजा था। सोलह महाजनपदों का इस निकाय में प्रथम बार उल्लेख है। इन सोलह महाजनपदों के नाम हैं, अंग, मगध, काशी, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेति, वंस, कुरु, पंचाल, मच्छ (मत्स्य), सूरसेन (शूरसेन), अस्सक, (अश्मक), अवन्ती, गन्धार और कम्बोज।[1] ये सभी नाम उन प्रदेशों के निवासियों (जनों) के सूचक हैं, इसीलिये बहुवचन में आये हैं 'अंगानं, मगधानं' आदि। गणतन्त्र-प्रणाली की यह मुख्य विशेषता थी। भौगोलिक दृष्टि से भी इस निकाय के अनेक वर्णन बड़े महत्त्व के है। उदाहरणतः यहाँ गंगा, यमुना, अचिरवती, सरभू (सरयू) और मही, इन पाँच बड़ी नदियों का वर्णन है। इसी प्रकार भंडगाम (वज्जि-प्रदेश), इच्छानंगल (कोसल), वेनागपुर (कोसल), नलकपान (कोसल) और वेरजा (पंचाल) आदि ग्रामों, केसपुत्त (कालाम नामक क्षत्रियों का कस्बा), कुसिनारा (मल्ल-प्रदेश में), पंकधा (कोसल), कम्मासदम्म (कुरु-प्रदेश) आदि कस्बों और श्रावस्ती, कौशाम्बी, मधुरा (और उसका गुन्दावन), पाटलिपुत्र, वरणा (कद्दम दह के तीर पर), राजगृह और कपिलवस्तु आदि अनेक नगरों के

---

१. मूल पालि इस प्रकार है, "..... अंगानं, मगधानं, कासीनं, कोसलानं, वज्जीनं, मल्लानं, चेतीनं (चेतियानं), वंसानं, कुरूनं, पञ्चालानं, मच्छानं, सूरसेनानं, अस्सकानं, अवन्तीनं, गन्धारानं, कम्बोजानं।" (अट्ठक-निपात) देखिये अंगुत्तरनिकायपालि, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ३४९, ३५०, ३५३, ३५७ (श्री नालन्दा संस्करण)। यहाँ 'वंसानं' की जगह 'वंगानं' स्वीकृत पाठ है, जो किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता। वंग का उल्लेख जनपद या महाजनपद के रूप में अन्यत्र चार निकायों में कहीं नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से वह बाद की सूची का सूचक है। अतः 'वंसानं' ही पाठ उचित लगता है।

वर्णन हैं, जो बुद्धकालीन भारत के वातावरण को आज भी हमारे लिये सजीव बनाते हैं।

उ—खुद्दक-निकाय

खुद्दक-निकाय के स्वरूप की अनिश्चितता

खुद्दक-निकाय सुत्त-पिटक का पाँचवाँ मुख्य भाग है। पहले चार निकायों की सी एकरूपता यहाँ नहीं मिलती। खुद्दक-निकाय छोटे- छोटे (खुद्दक) स्वतन्त्र ग्रन्थों का संग्रह (निकाय) है। सभी ग्रन्थ छोटे भी नहीं हैं। कुछ तो (जैसे जातक आदि) काफी बड़े भी हैं। भाषा-शैली में भी समानता नहीं है। कुछ विशुद्ध पद्यात्मक और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ हैं। काव्य, आख्यान, गीत, यही खुद्दक-निकाय के विषय हैं। निश्चयतः खुद्दक-निकाय के विषय और शैली की सब से बड़ी विशेषता उसकी विविधरूपता ही है। जैसा अंशतः दूसरे अध्याय में दिखाया जा चुका है, वर्गीकरण के भेद से खुद्दक-निकाय की ग्रन्थ-संख्या में भी पर्याप्त भेद पाया जाता है।

सुत्त-पिटक के अङ्ग के रूप में

सामान्यतः खुद्दक-निकाय सुत्त-पिटक का एक अंग है। इस रूप में खुद्दक-निकाय में पन्द्रह ग्रन्थ सम्मिलित हैं, जिनकी गणना नीचे लिखे क्रम से आचार्य बुद्धघोष ने की है[1]—

१ खुद्दक-पाठ
२ धम्मपद
३ उदान
४ इतिवुत्तक
५ सुत्त-निपात
६ विमानवत्थु
७ पेतवत्थु
८ थेरगाथा
९ थेरीगाथा
१० जातक
११ निद्देस
१२ पटिसम्भिदामग्ग
१३ अपदान
१४ बुद्धवंस
१५ चरियापिटक

---

१. सुमंगलविलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ १७ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण); अट्ठसालिनी, पृष्ठ १६ (देवनागरी संस्करण)।

निद्देस के दो भाग चुल्लनिद्देस और महानिद्देस हैं। उनको दो स्वतंत्र ग्रन्थ मान कर गिनने से उपर्युक्त ग्रन्थ-संख्या १६ हो जाती है। किन्तु स्थविरवादी बौद्ध परम्परा १५ ही ग्रन्थ मानती है। आचार्य बुद्धघोष अट्ठसालिनी की निदान-कथा में कहते हैं "पण्णरसप्पभेदो खुद्दक-निकायो।" आचार्य बद्धघोष ने हमें सूचना दी है कि प्रथम सगीति के अवसर पर मज्झिम-निकाय का संगायन करने वाले (मज्झिम भाणक) भिक्षु उपर्युक्त १५ ग्रन्थों को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत खुद्दक-निकाय में सम्मिलित मानते थे।[1]

खुद्दक-निकाय अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत भी

किन्तु एक दूसरी परम्परा उसी समय से खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत मानने के विपक्ष में थी। यह दीघ-निकाय का संगायन करने वाले (दीघ-भाणक) भिक्षुओं की परम्परा थी। ये भिक्षु खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत न मान कर उसे अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत मानते थे। ग्रन्थ-संख्या के विषय में भी मतभेद था। इन्हें खुद्दक-निकाय के सिर्फ निम्न-लिखित ११ ग्रन्थ, जिन्हें वे खुद्दक-ग्रन्थ कहते थे, मान्य थे। आचार्य बुद्धघोष ने इन ग्रन्थों की सूची इस प्रकार दी है[2]—

१. जातक
२. निद्देस
३. पटिसम्भिदामग्ग
४. सुत्त-निपात
५. धम्मपद
६. उदान
७. इतिवुत्तक
८. विमानवत्थु
९. पेतवत्थु
१०. थेरगाथा
११. थेरीगाथा

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि चरियापिटक, अपदान, बुद्धवंस और खुद्दक-पाठ, ये चार ग्रन्थ खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों के रूप में दीघ-भाणक भिक्षुओं को

---

१. मज्झिमभाणका पन.....सब्बंपि तं खुद्दक-गन्थं सुतन्तपिटके परियापण्णं ति वदन्ति। सुमंगलविलासिनी की निदानकथा।

२. ततो परं जातकं.....थेर-थेरी गाथाति इमं तन्ति संगायित्वा 'खुद्दक-न्थो' नाम अयं ति च वत्वा अभिधम्मपिटकस्मिं येव संगहं आरोपयिंसूति दीघभाणका वदन्ति। सुमंगलविलासिनी की निदान-कथा।

मान्य नहीं थे। वास्तव में खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत न मानना दीघ-भाणक भिक्षुओं का इतना साहसिक कृत्य नहीं था जितना वह हमें आज लगता है। प्रथम संगीति के अवसर पर ही हम आर्य महाकाश्यप को आनन्द से पूछते हुए देखते हैं 'सुत्त-पिटक में चार संगीतियाँ (संग्रह) हैं। इनमें से पहले किसका संगायन करना होगा ?'"[1] इससे स्पष्ट है कि पहले सुत्त-पिटक को चार भागों में ही विभाजित करने की प्रणाली थी। बाद में स्वतन्त्र ग्रन्थों का एक अलग संग्रह कर दिया गया, जिसकी न तो ग्रन्थ-संख्या का ही ठीक निश्चय हो सका और न जिसे निश्चयपूर्वक सुत्त-पिटक या अभिधम्म-पिटक में ही रक्खा जा सका। खुद्दक-निकाय के अनिश्चित स्वरूप का यही कारण है। चीनी आगमों से भी यही बात विदित होती है, यह हम इसी अध्याय के आरम्भ में देख चुके हैं।

अभिधम्म-पिटक खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत भी

किन्तु इस अनिश्चितता का यहीं अन्त नहीं है। समग्र बुद्ध-वचनों का जब पाँच निकायों में वर्गीकरण किया जाता है, तो वहाँ भी खुद्दक-निकाय पाँचवाँ भाग है। किन्तु वहाँ इसका विषय-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों को छोड़कर बाकी सभी बुद्ध-वचन, जिनमें पूरे विनय और अभिधम्म पिटक भी सम्मिलित हैं, वहाँ खुद्दक-निकाय के ही अन्तर्गत समझे जाते हैं। खुद्दक-निकाय के इस विस्तृत विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में 'सुमंगल-विलासिनी' की निदान-कथा में कहा गया है "क्या है खुद्दक-निकाय ? सम्पूर्ण विनय-पिटक, सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक, खुद्दक-पाठ आदि १५ ग्रन्थ, सारांश यह कि चार निकायों को छोड़कर बाकी सभी बुद्ध-वचन खुद्दक-निकाय हैं।[2]" निकाय की दृष्टि से यहाँ अभिधम्म पिटक को खुद्दक निकाय में ही सम्मिलित

---

१. सुत्तन्त-पिटके चतस्सो संगीतियो, तासु पठमं कतरं संगीतिन्ति। सुमंगल-विलासिनी की निदान-कथा।

२. कतमो खुद्दक-निकायो ? सकलं विनय-पिटकं, अभिधम्म-पिटकं, खुद्दक-पाठादयो च पुब्बे निदस्सितपंचदसभेदा, ठपेत्वा चत्तारो निकाये अवसेसं बुद्ध-वचनं ति। सुमंगलविलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ २३ (पालि—टै० सो०); मिलाइये अट्ठसालिनी, पृष्ठ २२ (देवनागरी संस्करण); गन्धवंस, पृष्ठ ५७ (जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी, १८८६)

कर दिया गया है, केवल पिटक के रूप में उसकी स्वतन्त्र सत्ता अवश्य स्वीकार की गई है।[१]

इसका अभिप्राय

उपर्युक्त वर्गीकरणों को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि उनमें खुद्दक-निकाय और अभिधम्म-पिटक को एक दूसरे में मिला दिया गया है। इसका अभिप्राय क्या है? ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य बड़े महत्व का है। 'अभिधम्म' धम्म का, सुत्त-पिटक का, विस्तृत, विशेष विवेचन है। 'अभिधम्म' में 'अभि' शब्द यही रहस्य लिये बैठा है, यह हम आगे देखेंगे। प्रथम चार निकायों के अतिरिक्त जो कुछ भी बुद्ध-वचन हैं, वे इस विस्तृत अर्थ में सभी अभिधम्म हैं, 'अतिरिक्त' धम्म है। खुद्दक-निकाय के ग्रंथ इसी प्रकार के अतिरिक्त धम्म हैं। अतः उन्हें 'अभिधम्म' के साथ उपर्युक्त अर्थ में मिला दिया गया है। इस तथ्य से खुद्दक-निकाय के ग्रंथों के संकलन-काल पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

सिंहल, बरमा और स्याम में खुद्दक-निकाय की ग्रन्थ-संख्या के विषय में विभिन्न मत

सिंहलदेशीय परम्परा खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत १५ ग्रन्थों को (जो निद्देस को दो ग्रन्थ मान कर १६ हो जाते हैं) मानती है। बरमा में इनके अतिरिक्त चार अन्य ग्रन्थ भी खुद्दक-निकाय में सम्मिलित माने जाते हैं। इनके नाम हैं, मिलिन्द-पञ्ह, सुत्त-संगह, पेटकोपदेस और नेत्ति या नेत्ति-पकरण।[२] सिंहली परम्परा इन्हें खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करती। १८९४ ई० में प्रकाशित तिपिटक के स्यामी संस्करण में ये आठ ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं—विमान-वत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, अपदान, बुद्धवंस और चरियापिटक। विंटरनित्ज़ ने कहा है कि यह बात आकस्मिक नहीं हो सकती।[३] इससे उनका

---

१. अयं अभिधम्मो पिटकतो अभिधम्मपिटकं, निकायतो खुद्दक-निकायो। अट्ठसालिनी की निदान-कथा।

२. मेबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४-५

३. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७७ पद-संकेत ३

तात्पर्य यह है कि स्याम में ये ग्रन्थ बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक नहीं माने जाते। कम से कम उनका अल्प महत्व तो निश्चित ही है।

खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का काल-क्रम

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि खुद्दक-निकाय पहले चार निकायों के बाद का संकलन है। बुद्ध-वचन के रूप में उसका महत्त्व भी उनके बाद ही मानना चाहिये। चीनी आगमों में तो उसे एक प्रकार से स्वतन्त्र निकाय का स्थान ही नहीं मिला। केवल कुछ स्फुट ग्रन्थों के पाये जाने के कारण ही वहाँ 'क्षुद्र-कागम' के अस्तित्व का अनुमान कर लिया गया है।[१] ये ग्रन्थ भी वहाँ कभी-कभी अन्य निकायों में ही सम्मिलित कर दिये जाते हैं।[२] अतः स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी दोनों ही परम्पराओं में प्रथम चार निकायों की प्रधानता, पालि-तिपिटक में उसके स्वरूप की बहुत-कुछ अनिश्चितता, सर्वास्तिवादी त्रिपिटक में उसके स्वतन्त्र रूप की अ-प्राप्ति अथवा आंशिक प्राप्ति, एवं सब से बढ़ कर स्थविरवादी परम्परा में भी उसके कुछ ग्रन्थों को बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक न मानने की ओर प्रवृत्ति, ये सब तथ्य इसी बात के सूचक हैं कि खुद्दक-निकाय प्रथम चार निकायों के बाद का संकलन है। विचारों के विकास की दृष्टि से भी इसी निष्कर्ष पर आना पड़ता है। प्रथम चार निकायों में विवेकवाद की प्रधानता है। खुद्दक-निकाय में काव्यात्मक तत्त्व का आधार लेकर भावुकता भी काफी प्रधानता लिये हुए है। स्थविरवादी परम्परा बुद्ध-वचनों की गम्भीरता को काव्योचित भावनाओं और कल्पनाओं में खो देना पसन्द नहीं करती थी। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में बुद्ध-उपदेशों को गीतों की तरह गाना स्पष्ट रूप से निषिद्ध किया गया है और उसे अपराध बतलाया गया है। गम्भीर शून्यता और अनात्म के दर्शन पर प्रतिष्ठित बुद्ध-वचनों को भावात्मक कविताओं में गाना

---

१. देखिये पहले इसी अध्याय में 'पालि तिपिटिक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन हैं'? इसका विवेचन।

२. देखिये ट्रांजैक्शन्स ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव जापान, जिल्द ३५, भाग ३, पृष्ठ ९ में प्रो० एम० अनेसाकि का लेख, विंटरनित्ज़, : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७७, पद-संकेत २ में उद्धृत।

स्थविरवादी परम्परा संघ के लिये एक आने वाली विपत्ति समझती थी।[१] खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों में इसी विपत्ति के दर्शन हुए हैं, विंटरनित्ज का यह समझना[२] यद्यपि ठीक नहीं माना जा सकता, किन्तु यह उसके अपेक्षाकृत उत्तरकालीन होने का सूचक तो है ही। खुद्दक-निकाय का अधिकांश स्वरूप काव्यात्मक होते हुए भी उसकी मूल भावना सर्वांश में बौद्ध है। बल्कि उसकी गाथाओं में अनेक तो पिटक-संकलन के प्राचीनतम युग की सूचक भी हैं। उनके सर्वांश में बुद्ध-वचन होने का दावा तो स्वयं खुद्दक-निकाय में भी नहीं किया गया, क्योंकि थेर-थेरी गाथाओं जैसी रचनाओं को वहाँ स्पष्टतः भिक्षु-भिक्षुणियों की कृतियाँ कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि तत्कालीन लोक-साहित्य और भावनाओं का प्रभाव खुद्दक-निकाय के कुछ ग्रन्थों (विशेषतः विमान-वत्थु, पेतवत्थु, जातक, चरियापिटक आदि) में अधिक परिलक्षित होता है, जो उनकी आपेक्षिक अर्वाचीनता का सूचक अवश्य है, किन्तु साहित्य और इतिहास के विद्यार्थी के लिये इसी दृष्टि से उसका महत्व भी बढ़ गया है। पालि के सर्वोत्तम काव्य-उद्गार खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों में ही सन्निहित हैं और उनका प्रणयन मानवीय तत्त्वों के आधार पर निश्चय ही चार निकायों के बाद हुआ है, यद्यपि उनमें से अनेक अत्यन्त प्राचीन युग के भी हैं, यह भी उतना ही सुनिश्चित तथ्य है। इसका एक स्पष्टतम प्रमाण तो यही है कि 'पंचनेकायिक' भिक्षुओं की परम्परा विनय-पिटक—चुल्लवग्ग से आरम्भ होकर, भरहुत और साँची के स्तूपों (तृतीय शताब्दी या कम से कम २५० वर्ष ईसवी-पूर्व) में अंकित होती हुई,[३] अविच्छिन्न रूप से 'मिलिन्दपञ्ह'[४] (प्रथम शताब्दी ई० पू०) तक दृष्टिगोचर होती है। 'पंचम' निकाय के अस्तित्व के बिना यह असम्भव है। अतः यह निश्चित है कि प्रथम संगीति के समय से ही, जब कि दीघ-भाणक और, मज्झिम-भाणक भिक्षुओं में खुद्दक-निकाय के विषय में मतभेद प्रारम्भ हुआ, खुद्दक-निकाय का संकलन होने लगा था, किन्तु प्रथम चार निकायों से इसका

---

१. देखिये ओपम्म-संयुत्त (संयुत्त-निकाय) एवं अंगुत्तर-निकाय के पंचक-निपात में अनागत-भय-सूत्र।

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ ७७

३. देखिये रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६९

४. पृष्ठ २३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

अन्तर केवल इतना था कि जब कि उनका स्वरूप उसी समय स्थिर हो गया था, खुद्दक-निकाय में तृतीय संगीति तक परिवर्द्धन होते गये। अतः प्रथम और तृतीय संगीतियाँ उसके प्रणयन या संकलन काल की क्रमशः उपरली और निचली काल-सीमाएँ हैं।

इस सामान्य कथन के बाद अब हमें खुद्दक-निकाय के १५ ग्रन्थों की पूर्वापरता पर विचार करना है। बाह्य साक्ष्य के आधार पर हम किन ग्रन्थों को कम या अधिक प्रामाणिक मान सकते हैं, इसका दिग्दर्शन करने के लिये हमें उन परम्पराओं को देखना है, जो खुद्दक-निकाय की प्रामाणिकता के विषय में पालि साहित्य के इतिहास में चल पड़ी हैं। उन्हें इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

(१) प्रथम संगीति के अवसर पर दीघ-भाणक भिक्षुओं ने जिन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना—(१) बुद्धवंस, (२) चरियापिटक, (३) अपदान।

(२) द्वितीय संगीति के अवसर पर महासंगीतिक भिक्षुओं ने जिन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना—(१) पटिसम्भिदामग्ग, (२) निद्देस, (३) जातक के कुछ अंश।

(३) स्यामी परम्परा जिन्हें बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक नहीं समझती—(१) विमानवत्थु, (२) पेतवत्थु, (३) थेरगाथा, (४) थेरीगाथा, (५) जातक (६) अपदान, (७) बुद्धवंस, (८) चरियापिटक।

जिन ग्रन्थों को दीघ-भाणक भिक्षुओं ने प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया, वे सभी स्यामी परम्परा द्वारा बहिष्कृत ग्रंथों की सूची में भी सम्मिलित हैं। महा-संगीतिक भिक्षुओं ने जातक के कुछ अंशों को भी प्रामाणिक नहीं समझा था और स्यामी परम्परा भी इसमें उनके समान ही है। पटिसम्भिदामग्ग और निद्देस को महासंगीतिक भिक्षुओं ने अवश्य प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया, जब कि स्यामी परम्परा में उन्हें प्रामाणिक मान लिया गया है। यदि हम सम्पूर्ण उपर्युक्त बहि-ष्कृत ग्रन्थों को मिलाकर गिनें तो अप्रामाणिक ग्रन्थों की यह सूची इस प्रकार होगी (१) विमानवत्थु, (२) पेतवत्थु, (३) थेरगाथा (४) थेरीगाथा, (५) जातक (६) बुद्धवंस, (७) अपदान, (८) चरियापिटक, (९) पटिसम्भिदामग्ग और (१०) निद्देस। खुद्दक-निकाय के १५ ग्रन्थों में से इन्हें निकाल दें तो बाकी ये बच रहते हैं (१) खुद्दक-पाठ (२) धम्मपद (३) सुत्त-निपात (४) उदान और (५) इतिवुत्तक। अतः बाह्य साक्ष्य के आधार पर उपर्युक्त पाँच ग्रन्थ ही अन्य

१० की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक बुद्ध-वचन ठहरते हैं। खुद्दक-पाठ को छोड़ कर शेष चार ग्रन्थ चीनी अनुवादों में भी उपलब्ध हैं।

आन्तरिक साक्ष्य भी इसी निष्कर्ष का अधिकतर समर्थन करता है। भाषा और विषय दोनों की दृष्टि से धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान और इतिवुत्तक प्राचीनतम युग के सूचक हैं। इनकी विषय-वस्तु का जो विवेचन आगे किया जायगा, उससे यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। खुद्दक-पाठ अवश्य बाद का संकलन जान पड़ता है। उसमें कुछ सामग्री सुत्त-निपात से ली गई है और कुछ तिपिटक के अन्य अंशों से। शरण-त्रय और शरीर के ३२ अंगों के विवरण, जो इस संकलन में हैं, चार निकायों में प्राप्त विवरणों से कुछ अधिक विकसित अवस्था के सूचक हैं।[1] अतः खुद्दक-पाठ का स्थान भी काल-क्रम की दृष्टि से शेष १० ग्रन्थों के साथ है। इन सब ग्रन्थों के संकलन की निश्चित तिथि के सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें जो अधिक उत्तरकालीन हैं, वे भी अशोक के काल से बाद के नहीं है। धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान और इतिवुत्तक के बाद काल-क्रम की दृष्टि से जातक और थेर-थेरी गाथाओं का स्थान कहा जा सकता है। 'जातक' में बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाएँ हैं। मूल जातक में ऐसी केवल ५०० कहानियाँ या उनसे सम्बद्ध गाथाएँ थीं। चुल्ल-निद्देस में ५०० जातक-कहानियों का ही निर्देश हुआ है।[2] फा-ह्यान ने भी सिंहल में ५०० जातक-कहानियों के चित्र अंकित देखे थे।[3] बाद में जातक-कहानियों की संख्या बढ़कर ५४७ हो गई।

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३५; वास्तव में शरण-त्रय के सम्बन्ध में तो ऐसा कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि 'बुद्धं सरणं गच्छामि' आदि के बाद वहाँ केवल 'दुतियम्पि' (दूसरी बार भी) 'ततियम्पि' (तीसरी बार भी) अधिक है। हाँ, शरीर के ३२ अंगों के कथन में 'मत्थके मत्थलुंगं ति' (मस्तक का गूदा) पद अवश्य अधिक है। प्रथम चार निकायों में केवल ३१ अंगों का ही वर्णन है।

२. देखिये आगे 'जातक' का विवेचन।

३. रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट किंगडम्स, आक्सफर्ड १८८६, पृष्ठ १०६ (जे० लेगी का अनुवाद); गाइल्स : दि ट्रेविल्स ऑव फा-ह्यान, पृष्ठ ७१ (रटलेज एण्ड केगन पाल, द्वितीय आवृत्ति, १९५६)

मूल जातक की प्राचीनता इस बात से प्रकट होती है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी-पूर्व के साँची और भरहुत के स्तूपों में उसकी अनेक कहानियों के दृश्य अंकित किये गये हैं।[1] अतः जातकों का काल उससे काफी पहले का होना चाहिये। थेर और थेरी गाथाओं में बुद्ध-कालीन भिक्षुओं और भिक्षुणियों की गाथाएँ हैं। केवल थेरगाथा की कुछ गाथाएँ अशोक के समय के भिक्षुओं की बताई जाती हैं।[2] अतः सम्भव है कि थेरगाथा ने भी अपना अन्तिम स्वरूप अशोक के काल में ही प्राप्त किया हो और तृतीय संगीति के अवसर पर उसका संगायन हुआ हो। जातकों के बोधिसत्व-आदर्श पर ही आधारित बुद्धवंस और चरिया-पिटक हैं। बुद्धवंस में गौतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन है, जब कि प्रथम चार निकायों (विशेषतः महापदानसुत्त—दीघ० २।१) में केवल ६ पूर्ववर्ती बुद्धों का ही वर्णन मिलता है। चरियापिटक में बोधिसत्वों की जीवन-चर्या का वर्णन मिलता है। यहीं पर सर्व प्रथम दस पारमिताओं में से सात का भी वर्णन मिलता है। जातक की कहानियों से इन सब की बड़ी समानता है। बल्कि कहना चाहिए कि एक प्रकार से चरियापिटक ३५ पद्य-बद्ध जातकों का संग्रह ही है, जिनमें से ३४ चर्याएँ वर्तमान 'जातक' में मिलती है और एक महागोविन्द-सुत्त पर आधारित है। जिस प्रकार बुद्धवंस और चरियापिटक जातक के उत्तरवर्ती हैं, उसी प्रकार निद्देस भी जातक के बाद का संकलन है। जैसा अभी कहा जा चुका है, चुल्ल-निद्दे में जातक का निर्देश मिलता है। निद्देस (जिसमें चुल्ल-निद्देस और

---

१. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २०९; हल्श : जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१२, पृष्ठ ४०६; इस सम्बन्धी अधिक साहित्य के परिचय के लिये देखिये विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६, पद-संकेत ३; पृष्ठ ११३, पद-संकेत ३

२. गाथाएँ १६९-७० अशोक के कनिष्ठ भ्राता वीतसोक की रचनाएँ हैं। मिलाइये "इमस्मिं बुद्धुप्पादे अट्ठारस वस्साधिकानं द्विन्नं वस्स सतानं मत्थके धम्मासोकरञ्ञो कणिट्ठ भाता हुत्वा निब्बत्ति। तस्स वीतसोकोति नामं अहोसि।" (वीतसोकथेरस्स गाथावण्णना।) इसी प्रकार गाथाएँ ५३८-५४६ भी अशोक के अनुज तिस्स कुमार की रचनाएँ हैं, जो अपनी एकान्त वृत्ति के कारण 'एकविहारिय' भी कहलाते थे। देखिये आगे 'थेरगाथा' का विवेचन भी।

महानिद्देस दोनों सम्मिलित हैं) सुत्त-निपात से भी बाद का संकलन है। एक प्रकार से निद्देस सुत्त-निपात के कुछ अंशों की व्याख्या ही है। चुल्ल-निद्देस खग्गविसाण-सुत्त और पारायण-वग्ग की व्याख्या है, जब कि महानिद्देस में अट्ठक-वग्ग की व्याख्या की गई है। अतः निद्देस सुत्त-निपात के बाद की रचना ही मानी जा सकती है। डा० लाहा का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि निद्देस सुत्त-निपात से पहले की रचना होनी चाहिये। इसके लिये उन्होंने दो कारण दिये है, (१) महानिद्देस में सुत्त-निपात के अट्ठक-वग्ग की व्याख्या उस युग की सूचक है जब कि अट्ठकवग्ग एक अलग वर्ग की अवस्था में था, (२) सुत्त-निपात के पारायण-वग्ग के आरम्भ में ५६ गाथाओं की एक प्रस्तावना (वत्थुगाथा) है, जो चुल्ल-निद्देस की व्याख्या में नहीं मिलती, अर्थात् जिसकी व्याख्या वहाँ नहीं की गई है। यदि चुल्ल-निद्देस सुत्त-निपात के बाद का संकलन होता तो इस प्रस्तावना की भी व्याख्या वहाँ अवश्य होती।[1] डा० लाहा ने जो कारण दिये है. वे निषेधात्मक ढंग के हैं। निद्देस के रचयिता या संकलनकर्ता को सुत्त-निपात के सम्पूर्ण अंशों की जानकारी होते हुए भी वह उसके कुछ अंशों को ही व्याख्या के लिये चुन सकता था। इसी प्रकार प्रस्तावना की भी व्याख्या करना या न करना उसकी इच्छा पर निर्भर था। सब से बड़ी बात तो यह है कि निद्देस में सुत्त-निपात की कतिपय गाथाओं की व्याख्या की गई है, अतः वह उसके बाद की ही रचना हो सकती है। जिस प्रकार बुद्धवंस, चरियापिटक और निद्देस जातक के बाद की रचनाएँ हैं, उसी प्रकार थेर-थेरी-गाथाओं के बाद अपदान का भी प्रणयन निश्चित है। अपदान के दो भाग हैं, थेर-अपदान और थेरी-अपदान। इन दोनों भागों में क्रमशः भिक्षु और भिक्षुणियों के पूर्व-जन्म की कथायें हैं। इस प्रकार यह पूरा ग्रन्थ थेर और थेरी गाथाओं का पूरक ही कहा जा सकता है। अपदान निश्चयतः अशोककालीन रचना है। इसका कारण यह है कि उसमें कथावत्थु का निर्देश हुआ है, जो निश्चयतः तृतीय संगीति के समय लिखी गई थी। विमानवत्थु और पेतवत्थु भी उत्तरकालीन रचनाएँ हैं। इनमें क्रमश. देव-लोकों और प्रेतों के वर्णन हैं, जो स्थविरवादी बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप से बहुत दूर हैं। विमानवत्थु में तो सेरिस्सक की कथा के प्रसंग में एक ऐसी घटना का भी वर्णन है, जो उसी के वर्णन के अनुसार पायासि

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३८

राजन्य के १०० साल बाद हुई।[१] पायासि की मृत्यु भगवान् बुद्ध से कुछ साल बाद हुई थी, अतः जिस घटना का विमानवत्थु में वर्णन है, वह बुद्ध-निर्वाण के सौ से कुछ अधिक साल बाद ही हुई होगी। इस प्रकार विमानवत्थु की रचना तृतीय संगीति के कुछ पहले की ही अधिक से अधिक हो सकती है। इसी प्रकार पेतवत्थु भी अशोककालीन रचना है। उसमें 'मौर्यों के राजा' का निर्देश हुआ है,[२] जिसका अभिप्राय 'अट्ठकथा' के अनुसार धम्मासोक से है।[३] 'पटिसम्भिदा-मग्ग' की रचना अभिधम्म-पिटक की शैली में हुई है, अतः वह भी इस युग की रचना है। इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन के आधार पर खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का काल-क्रम तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, जिसे इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

१. धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान, इतिवुत्तक।

२. जातक, थेरगाथा, थेरीगाथा।

३. बुद्धवंस, चरियापिटक, निद्देस, अपदान, पटिसम्भिदामग्ग, विमानवत्थु, पेतवत्थु, खुद्दक-पाठ।

प्रत्येक श्रेणी के ग्रन्थों में भी कौन किस से पहले या पीछे का है, इसका सम्यक् निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके लिये उतने स्पष्ट बाह्य और आन्तरिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। निश्चित तिथियों के अभाव में इस प्रकार के निर्णय का कोई अधिक महत्त्व भी नहीं हो सकता। अब हम खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

---

१. मानुस्सकं वस्ससतं अतीतं यदग्गे कायम्हि इधूपपन्नो। पृष्ठ ८१ (पालि-टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण) (पृष्ठ ७८ भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित देवनागरी संस्करण)।

२. राजा पिंगलको नाम सुरट्ठानं अधिपति अहु मोरियानं उपट्ठानं गन्त्वा सुरट्ठं पुनरागमा। पेतवत्थु, पृष्ठ ५१ (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित देवनागरी संस्करण)

३. मोरियानं ति मोरियराजूनं धम्मासोकं सन्धाय वदति। पृष्ठ ९८ (पालि-टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

खुद्दक-पाठ[1]

खुद्दक-पाठ छोटे-छोटे नौ पाठों या सुत्तों का संग्रह है। ये सभी पाठ विशेषतः सुत्त-पिटक और विनय-पिटक से संगृहीत हैं। पहले चार पाठ पिछले पाँच की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त हैं। इनका संकलन प्रारम्भिक विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये अथवा बौद्ध गृहस्थों के दैनिक पाठ के लिये किया गया है। अतः सिंहल में खुद्दक-पाठ का बड़ा आदर है। खुद्दक-पाठ के नौ पाठों या सुत्तों के नाम और विषय इस प्रकार हैं—

१. सरणत्तयं (तीन शरण)—मैं बुद्ध की, धम्म की, संघ की, शरण जाता हूँ। दूसरी बार भी—तीसरी बार भी—मैं बुद्ध की, धम्म की, संघ की, शरण जाता हूँ।

२. दस सिक्खापदं—(दस शिक्षापद या सदाचार-सम्बन्धी नियम) (१) जीवहिंसा, (२) चोरी, (३) व्यभिचार, (४) असत्य-भाषण, (५) मद्य-पान, (६) असमय-भोजन, (७) नृत्य-गीत, (८) माला-गन्ध-विलेपन, (९) ऊँची और बड़ी शय्या, (१०) सोने और चाँदी का ग्रहण, इन दस बातों से विरत रहने का व्रत लेता हूँ।

३. द्वत्तिंसाकारं (शरीर के ३२ अंग)—शरीर के ये ३२ (गन्दगियों से भरे) अंग हैं, जैसे कि केश, रोम, नख, दाँत आदि।

४. कुमारपञ्हं (कुमार विद्यार्थियों के लिये प्रश्न)

एक क्या है?	सभी प्राणी आहार पर स्थित हैं।
दो क्या है?	नाम और रूप।
तीन क्या हैं?	तीन वेदनाएँ।
चार क्या हैं?	चार आर्य-सत्य।
पाँच क्या हैं?	पाँच उपादान-स्कन्ध।

---

१. राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन एवं जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित तथा भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित (बुद्धाब्द २४८१, १९३७ ई०) देवनागरी संस्करण उपलब्ध है। भिक्षु धर्मरत्न एम० ए० का मूल-पालि-सहित हिन्दी अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथ (१९४५) ने प्रकाशित किया है। श्री नालन्दा देवनागरी संस्करण में खुद्दक-निकाय-पालि, जिल्द पहली, में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित।

छह क्या हैं ?	छह आन्तरिक आयतन।
सात क्या हैं ?	बोधि के सात अंग।
आठ क्या हैं ?	आर्य अष्टांगिक मार्ग।
नौ क्या हैं ?	प्राणियों के नौ आवास।
दस क्या हैं ?	दस बातें, जिनसे युक्त होने पर मनुष्य अर्हत बनता है।

५. मंगल-सुत्त (मंगल-सूत्र)—प्राणी नाना प्रकार के मंगल-कार्य करते हैं। किन्तु सर्वोत्तम मंगल क्या है ?

"माता-पिता की सेवा, पत्नी और पुत्रों का भरण-पोषण
शान्ति से अपना काम करना—यही सर्वोत्तम मंगल है।
"दान देना, धर्म का जीवन, जाति-बन्धुओं की सहायता करना,
कर्म निर्दोष रखना—यही सर्वोत्तम मंगल है।
"पाप और मद्य-पान से अलग रहना, संयमी जीवन,
धर्म के कार्यों में आलस्य न करना—यही सर्वोत्तम मंगल है !
"गुरुजनों का आदर, विनम्रता, सन्तोष-वृत्ति, कृतज्ञता,
समय पर धर्म को श्रवण करना—यही सर्वोत्तम मंगल है !
"क्षमा, ब्रह्मचर्य, ज्ञानी भिक्षुओं का दर्शन,
समय पर धर्म का साक्षात्कार—यही सर्वोत्तम मंगल है !
"तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य, चार आर्य सत्यों का दर्शन,
अन्त में निर्वाण का साक्षात्कार—यही सर्वोत्तम मंगल है !"

६. रतन-सुत्त (रत्न-सूत्र)—१७ गाथाओं में बुद्ध, धम्म और संघ, इन तीन रत्नों की महिमा वर्णन की गई है और उसी से लोक-कल्याण की कामना की गई है। आरम्भ की दो और अन्त की तीन गाथाएँ तो बड़ी ही मार्मिक हैं। बौद्ध परम्परा इन्हें मौलिक गाथाएँ मानती हैं। बुद्ध, धर्म और संघ की महिमा का वर्णन करते हुए प्रत्येक के विषय में कहा गया है 'इदं पि बुद्धे रतनं पणीतं' (यह बुद्ध रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है), 'इदं पि धम्मे रतनं पणीतं' (यह धम्म रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है) और 'इदंपि संघे रतनं पणीतं' (यह संघ रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है)। इस सत्य रूपी वाणी से लोक-कल्याण की कामना करते हुए कहा गया है—'एतेन सच्चेन सुवत्थि होतु' (इस सत्य से लोक का कल्याण हो) सुन्दर गीति-काव्य !

७. तिरोकुड्ड-सुत्त—मृत आत्माएँ अपने छोड़े हुए घरों के दरवाजों पर और उनकी देहलियों पर आकर खड़ी हो जाती हैं। वे अपने सम्बन्धियों से भोजन और पान की इच्छा रखती हैं। प्रेतों के लोक में खेती और वाणिज्य नहीं होते। उन्हें जो कुछ इस लोक से मिलता है, उसी पर वे गुजारा करते हैं। सद्गृहस्थ प्रेतों के कल्याण की कामना से भोजन और जल का दान करते हैं। सुप्रतिष्ठित भिक्षु-संघ को जो कुछ दान किया जाता है, वह प्रेतों के चिर सुख और कल्याण के लिये होता है। यह सुत्त भारतीय समाज में प्रचलित श्राद्ध-विधान और पितर-पूजा का बौद्ध संस्करण ही है। दार्शनिक सिद्धान्त भिन्न रखते हुए भी बौद्ध जनता किस प्रकार भारतीय समाज में प्रचलित व्यवहारों और सामान्य विश्वासों से अपने को विमुक्त नहीं कर सकी, यह सुत्त इसका एक अच्छा उदाहरण है। इस सुत्त की कुछ गाथाओं का पाठ आज भी सिंहल और स्याम देशों में मुर्दों को जलाते समय किया जाता है।

८. निधिकंड-सुत्त (निधि-सम्बन्धी सूत्र)—सर्वोत्तम निधि क्या है? दान, शील, संयम, इन्द्रिय-विजय, संक्षेप में पुण्य कर्मों का करना ही सर्वोत्तम निधि है। अन्य सब निधियाँ तो नष्ट हो जाने वाली हैं, किन्तु किया हुआ शुभ कर्म कभी नष्ट नहीं होता। यही वह निधि है जो मनुष्य के पीछे जाने वाली है—यो निधि अनुगामिको।

९. मेत्त-सुत्त (मैत्री-सूत्र)—ऊपर, नीचे, चारों ओर, लोक को मित्रता की भावना से भर दो। किसी का दुःख-चिन्तन मत करो। भावना करो कि सभी प्राणी सुखी हों—सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता। ब्रह्मविहार भी तो यही है—ब्रह्ममेतं विहारं इधामाहु!

खुद्दक-पाठ के उपर्युक्त ९ सुत्तों में से मंगल-सुत्त, रतन-सुत्त, और मेत्त-सुत्त सुत्त-निपात में भी हैं। सुत्त-निपात में मंगल-सुत्त का नाम महामंगल-सुत्त अवश्य है। इसी प्रकार तिरोकुड्ड-सुत्त पेतवत्थु में भी है। तीन शरण और दस शिक्षापदों के विवरण विनय-पिटक के आधार पर संकलित हैं। कुमारपञ्ह-सुत्त को भी विनय-पिटक या दीघ-निकाय के संगीति-परियाय और दसुत्तर जैसे सुत्तों अथवा अंगुत्तर-निकाय के विशाल तत्सम्बन्धी भांडार में से संकलित कर लिया गया है। 'कायगता सति' के रूप में शरीर के ३२ आकारों का वर्णन दीघ और मज्झिम-निकायों के क्रमशः महासतिपट्ठान और सतिपट्ठान सुत्तों के वर्णनों की अनुलिपि है। केवल अन्तर इतना है कि वहाँ ३१ अंगों का वर्णन है, जब कि यहाँ

एक और (मत्थके मत्थलुंगं—माथे का गूदा) बढ़ा दिया गया है। कायगता-सति (शरीर-सम्बन्धी स्मृति) का विधान बौद्ध योग में प्रारम्भ से ही है। दीघ और मज्झिम निकायों के उपर्युक्त सुत्तों के अतिरिक्त संयुत्त-निकाय के कस्सप-सुत्त में भी भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप को 'कायगता सति' का ध्यान करने का उपदेश दिया है। धम्मपद २१।१० में भिक्षुओं को 'कायगतासतिपरायण' होने को कहा गया है। 'उदान' में भगवान् बुद्ध के योग्य शिष्य महामौद्गल्यायन और महाकात्यायन को काय-गता-सति की भावना करते दिखलाया गया है।[१] 'विसुद्धि-मग्ग' (पाँचवीं शताब्दी) में इस सम्बन्धी ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है।[२]

खुद्दक-पाठ के समान, किन्तु आकार में उससे बड़ा, एक और संग्रह पालि साहित्य में प्रसिद्ध है। इसका नाम 'परित्त' या 'महापरित्त' है। 'परित्त' शब्द का अर्थ है 'परित्राण' या 'रक्षा'। भिक्षुओं और गृहस्थों की रक्षा के उद्देश्य से सुत्त-पिटक से लगभग ३० सुत्तों का संग्रह कर लिया गया है, जिनका पाठ बौद्धों के विश्वास के अनुसार, रोग, दुर्भिक्ष आदि उपद्रवों को शान्त करने वाला और सामान्यतः मंगलकारी होता है। लंका और बरमा में परित्त-पाठ की प्रथा प्राचीन काल से प्रचलित है।[३] इन देशों के कई राजाओं ने परित्त-पाठ करवाया। श्रीमती मेबिल बोड ने हमें बतलाया है कि बरमा में तो इसके समान लोक-प्रिय पुस्तक ही पालि साहित्य की दूसरी नहीं है।[४] 'परित्त' में विशेषतः निम्नलिखित सुत्त सम्मिलित माने जाते हैं—

१. दसधम्म-सुत्त
२. महामंगल-सुत्त
३. करणीय-मेत्त-सुत्त
४. चुन्द-सुत्त

---

१. क्रमशः पृष्ठ ३८ एवं १०५ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)
२. विसुद्धिमग्ग ८।४२-१४४; देखिये ११।४८-८१ भी (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)
३. लंका में यह 'पिरित' कहलाता है। लंका में परित्त-पाठ की सांगोपांग विधि के विवरण के लिये देखिये त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित का "परित्त-पाठ और लंका" शीर्षक लेख "धर्मदूत" फर्वरी-मार्च १९४८, पृष्ठ १६३-६७ में।
४. दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३-४

५. मेत्त-सुत्त
६. मेत्तानिसंस-सुत्त
७. मोरपरित्त-सुत्त
८. चन्दन-सुत्त
९. सुरिय-सुत्त
१०. धजग्ग-सुत्त
११. महाकस्सपत्थेर-बोज्झंग-सुत्त
१२. महामोग्गल्लानत्थेर-बोज्झंग-सुत्त
१३. महाचन्दत्थेर-बोज्झंग-सुत्त
१४. गिरिमानन्द-सुत्त
१५. इसिगिलि-सुत्त
१६. धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त
१७. आलवक-सुत्त
१८. कसिभारद्वाज-सुत्त
१९. पराभव-सुत्त
२०. वसल-सुत्त
२१. सच्चविभंग-सुत्त
२२. आटानाटिय-सुत्त

इनके अतिरिक्त परित्त-पाठ में 'अनुलोम-पटिलाम-पटिच्चसमुप्पादसुत्त' आदि कुछ अन्य सूत्रों का भी पाठ किया जाता है। परित्त-पाठ की प्रथा बुद्ध-काल में भी प्रचलित थी, ऐसा बौद्धों का विश्वास है। कहा जाता है कि एक बार लिच्छवियों के नगर वैशाली में दुर्भिक्ष पड़ा था। भगवान् के आदेशानुसार उन्होंने परित्त-पाठ किया था, जिसके परिणामस्वरूप वर्षा हुई थी। परित्त-पाठ से बीमारी की शान्ति हुई, इसके उदाहरण पालि साहित्य में काफी मिलते हैं। दीघलम्बिक ग्राम के किसी ब्राह्मण का पुत्र परित्त-पाठ से रोग-विमुक्त हो गया। इसी प्रकार आर्य महाकाश्यप की बीमारी के समय बोज्झंग-सुत्त का पाठ किया गया और महाकाश्यप उसी समय रोग-मुक्त हो गये। गिरिमानन्द नामक भिक्षुकी रोग-शान्ति के लिये विधान बतलाते हुए भगवान् ने स्वयं आनन्द से एक बार कहा, था "आनन्द! यदि तुम गिरिमानन्द भिक्षु के पास जाकर 'दस-संज्ञाओं' (अनित्य-संज्ञा, अशुभ-संज्ञा, अनात्म-संज्ञा, निरोध-संज्ञा, आदि) का पाठ करो, तो इसके लिये कारण है कि

उसे सुनकर उसका रोग शान्त हो जायगा।"[१] 'मिलिन्द-प्रश्न' में 'परित्त' को भगवान् बुद्ध का ही उपदेश बतलाया गया है और वहाँ इन सात परित्तों के नाम गिनाये गये हैं, यथा रतन-सुत्त, मेत्त-सुत्त, खन्ध-परित्त, मोरपरित्त, धजग्ग-परित्त, आटानाटिय-परित्त और अंगुलिमाल-परित्त।[२] अतः परित्त-पाठ का महत्व स्थविरवादी परम्परा में सुप्रतिष्ठित है, इसमें सन्देह नहीं।

परित्त के संकलन का ठीक काल निश्चय नहीं किया जा सकता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह काफी बाद का है। हाँ, मिलिन्द-पञ्ह में निर्दिष्ट सात परित्तों को तो उसकी रचना के पूर्व संकलित होना ही चाहिये। परित्त का सर्वप्रथम उल्लेख हमें विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में मिलता है, जहाँ कहा गया है कि एक बार एक भिक्षु को सर्प के द्वारा काट लिये जाने के कारण उसकी मृत्यु हो जाने पर भगवान् बुद्ध ने रक्षा के तौर पर खन्ध-परित्त का पाठ करने की अनुमति दी। कुछ भी हो, स्थविरवाद परम्परा के पूर्वतम स्वरूप में भूत-प्रेत आदि की बातें अथवा उनसे बचने के लिये जादू के से प्रयोग बिलकुल नहीं है। ये सब बातें सामान्य अंध-विश्वासों के आधार पर उसमें प्रवेश कर गई। इस दृष्टि से दीघ-निकाय के आटानाटिय-सुत्त जैसे अंश भी उत्तरकालीन ही कहे जा सकते हैं। भगवान् बुद्ध ने योग की विभूतियों के भी प्रदर्शन की निन्दा ही की।[३] फिर जादू के प्रयोगों की तो बात ही क्या? प्रतीत्य समुत्पाद के आधार पर सृष्टि के व्यापारों की व्याख्या करने वाला मन्त्रों के जप से बीमारी या विपत्ति से विमुक्ति दिलाने नहीं आया था। जहाँ तक 'परित्त' के सुत्तों का सम्बन्ध है, वे अपने आप में नैतिक भावना से ओतप्रोत हैं। उनके अन्दर स्वयं कोई ऐसी वस्तु नहीं जो

---

१. सचे खो त्वं आनन्द! गिरिमानन्दस्स भिक्खुनो उपसंकमित्वा दस सञ्ञा भासेय्यासि, ठानं खो पनेतं विज्जति यं गिरिमानन्दस्स भिक्खुनो दससञ्ञा सुत्वा सो आबाधो ठानसो पटिप्पस्सम्भेय्य। गिरिमानन्द-सुत्त।

२. परित्ता च भगवता उदिट्ठाति....। मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ १५३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

३. विनय-पिटक—चुल्लवग्ग में विभूति-प्रदर्शन को 'दुष्कृत' अपराध बतलाया गया है; मिलाइये, धम्मपदट्ठकथा ४।२, बुद्धचर्या, पृष्ठ ८२-८३ में अनुवादित। देखिये केवट्ट-सुत्त (दीघ. १।११); सम्पसादनिय-सुत्त (दीघ. ३।५); महालि-सुत्त (दीघ. १।६)।

उस उदात्त गम्भीरता से रहित हो जो सामान्यतः बौद्ध साहित्य की विशेषता है। उनका पाठ निश्चय ही मन को ऊँची आध्यात्मिक अवस्था में ले जाने वाला है। अतः उनका संगायन करना प्रत्येक अवस्था में मंगल का मूल ही हो सकता है। बीमारी की अवस्था में वह मानसोपचार का अंग भी हो सकता है, कुछ-कुछ उसी प्रकार जैसे राम नाम के स्मरण को गांधी जी ने प्राकृतिक चिकित्सा का एक अंग बना दिया। यदि परित्त-पाठ में अन्ध-विश्वास है, तो उसी हद तक जितना गांधीजी की उपर्युक्त उपचार-विधि में। फिर हम इसे अन्ध-विश्वास भी क्यों कहें? जिससे मन ऊँची अवस्था में जा सकता है, उससे शरीर पर भी स्वस्थ प्रभाव क्यों न पड़ेगा? इस दृष्टि से परित्त-पाठ का उपदेश स्वयं बुद्ध भगवान् का भी दिया हुआ हो सकता है। हाँ, वहाँ कर्मकांड अवश्य नहीं है। भगवान् ने सर्प को अपनी मैत्री-भावना से भर देने, आपूरित कर देने, का आदेश दिया।[1] सर्प के भय से बचने का यही एक 'मन्त्र' है। अशेष जीव-जगत् के साथ मैत्री स्थापित कर इस 'मन्त्र' की सत्यता देखी जा सकती है। 'परित्त' में संगृहीत सुत्तों की भावनाएँ बड़ी मंगलमय और उदात्त हैं। उनमें चित्त को डुबो देने पर शरीर और मन प्रसन्नता से न भर जायँ, यह असम्भव है। प्रसन्नता (चित्त-प्रसाद) ही तो स्वास्थ्य और मंगलों की जननी है। भिक्षु-गण परित्त-पाठ के अन्त में ठीक ही संगायन करते हैं—सब्बीतियो विवज्जन्तु सब्बरोगो विनस्सतु। मा ते भवत्वन्तरायो सुखी दीघायुको भव। तेरी सारी आपदाएँ दूर हों, सब रोग नष्ट हो जायँ, तुझ विघ्न न हो, तू सुखी और दीर्घायु हो।

धम्मपद[2]

बौद्ध साहित्य का सम्भवतः सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। एक प्रकार

---

१. मेत्तेन चित्तेन फरितुं (मित्रतापूर्ण चित्त से भर देने के लिये—विनय-पिटक)। साधारण अर्थ में इसे मन्त्र कहना तो बुद्धि का उपहास ही होगा। यह तो एक गम्भीर नैतिक उपदेश है। अधिकतर बुद्ध-वचनों का यही हाल है, फिर चाहे उनका उपयोग उत्तरकालीन बौद्ध जनता किसी प्रकार करने लगी हो।

२. धम्मपद के अनेक संस्करण और अनुवाद हिन्दी-भाषा में उपलब्ध हैं। महा-पंडित राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कौसल्यायन के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित धम्मपद का देवनागरी संस्करण खुद्दकनिकाय-पालि की प्रथम जिल्द में है।

इसे बौद्धों की गीता ही कहना चाहिये। सिंहल में बिना धम्मपद का पारायण किये किसी भिक्षु की उपसम्पदा नहीं होती। बर्मा, स्याम, कम्बोडिया और लाओस में भी धम्मपद का कण्ठस्थ होना प्रायः प्रत्येक भिक्षु के लिये आवश्यक माना जाता है। बुद्ध-उपदेशों का धम्मपद से अच्छा संग्रह पालिसाहित्य में नहीं है। इसकी नैतिक दृष्टि जितनी गम्भीर है, उतनी ही वह प्रसादगुणपूर्ण भी है।

'धम्मपद' शब्द का अर्थ है धर्म-सम्बन्धी पद या शब्द। 'पद' शब्द का अर्थ वाक्य, या गाथा की पंक्ति भी होता है। अतः 'धम्मपद' का अर्थ धर्म-सम्बन्धी वाक्य या गाथा भी है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म-सम्बन्धी शब्दों, वाक्यों या गाथाओं को भिक्षु उनके जीवन-काल में ही कण्ठस्थ करने लगे थे। दूसरे अध्याय के आरम्भ में हम देख चुके हैं कि सुत्त-निपात के अट्ठक-वग्ग को बुद्ध के एक शिष्य ने उनके सामने सस्वर सुनाया था। इसी प्रकार दूसरे बुद्ध-वचन भी भिक्षुओं के द्वारा कण्ठस्थ किये जाते थे और उनका किसी न किसी रूप में संकलन भी उस समय विद्यमान था। 'धम्मपद' ऐसा ही एक संकलन है। स्वयं 'धम्मपद' की दो गाथाओं में धर्मपदों के अर्थ में 'धम्मपद' शब्द का प्रयोग मिलता है। यह उसकी प्राचीनता का सूचक है। ये दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं :

"कौन इस पृथ्वी तथा देवताओं के सहित यम-लोक को जीतेगा? कौन कुशल पुरुष के समान इस सुन्दररूप से उपदिष्ट 'धम्मपद' को चुनेगा?
"शैक्ष्य पुरुष इस पृथ्वी तथा देवताओं के सहित यम-लोक को जीतेगा।
शैक्ष्य पुरुष पुष्प के समान इस सुन्दर रूप से उपदिष्ट 'धम्मपद' को चुनेगा।"[१]

संयुत्त-निकाय में भी 'धम्मपद' शब्द का प्रयोग धर्म-पदों के रूप में हुआ है और उससे यह और भी अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि बुद्ध के काल में ही उनके द्वारा उपदिष्ट गाथाओं का एक संकलन धर्म-पदों के रूप में विद्यमान था और भिक्षु उन्हें कण्ठस्थ करके अपने उपदेशों में प्रयुक्त करते थे। इस निकाय के पियंकर-सुत्त में कहा गया है कि एक बार भिक्षु अनुरुद्ध (अनिरुद्ध) श्रावस्ती के जेतवनाराम में प्रातःकाल कुछ 'धर्मपदों' का पाठ कर रहे थे और उन्हें सुनने की आतुरता में एक स्त्री अपने शोर करते हुए पुत्र को चुप करती हुई कहती है, "मेरे प्रियंकर! चुप हो जा। शोर मत कर। देख, यह भिक्षु धर्मपदों को पढ़ रहा है। यदि हम धर्मपदों को जानेंगे तो हमारा कल्याण होगा।" इसी प्रकार

---

१. धम्मपद, पुप्फवग्गो।

संयुत्त-निकाय के ही सज्झाय-सुत्त में एक भिक्षु का उल्लेख आया है जो पहले 'धर्मपदों' को पढ़ा करता था, परन्तु अधिक विकसित आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त कर लेने पर अब उसने उनका पाठ करना छोड़ दिया है। यह पूछे जाने पर कि "भिक्षु ! अब आप धर्मपदों का पाठ क्यों नहीं करते ?" वह कहता है, "पहले जब तक मुझे वैराग्य नहीं हुआ था, मैं धर्मपदों को पढ़ा करता था, परन्तु अब.....।" अंगुत्तर-निकाय से भी हमें ज्ञात होता है कि एक बार भगवान् बुद्ध ने सप्पिनी या सप्पिनिका (वर्तमान पंचान, बिहार में) नदी के तीर पर स्थित एक परिव्राजक-काराम में वहाँ के परिव्राजकों के समक्ष चार धर्मपदों का उपदेश दिया था। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि धर्म के—बुद्ध-उपदेशों के—'पदों' या गाथाओं को भिक्षु बुद्ध के जीवन-काल में कण्ठस्थ करते थे। आज जो 'धम्मपद' हमें मिलता है, वह उन्हीं गाथाओं का मूल या कुछ परिवर्तित-परिवर्द्धित संकलन है। 'धम्मपद' की कई गाथाओं के उद्धरण 'निद्देस' और 'कथावत्थु' में दिये गये है और ईसवी सन् के आसपास की रचना 'मिलिन्दपञ्हो' में "भासितं पेतं भगवता देवातिदेवेन धम्मपदे" ("उन देवातिदेव भगवान् (बुद्ध) ने 'धम्मपद' में ऐसा कहा है") ऐसा कहते हुए दो विभिन्न स्थलों पर 'धम्मपद' की दो गाथाओं (३२वीं और ३२७वीं) को उद्धृत किया गया है।[१] इस प्रकार बुद्ध-वचन के रूप में धम्मपद की प्रतिष्ठा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है।

धम्मपद में कुल मिलाकर ४२३ गाथाएँ हैं, जो २६ वर्गों में बँटी हुई हैं। प्रत्येक वर्ग में गाथाओं की संख्या इस प्रकार है—

वर्ग	गाथाओं की संख्या
१. यमकवग्ग	२०
२. अप्पमादवग्ग	१२
३. चित्तवग्ग	११
४. पुप्फवग्ग	१६
५. बालवग्ग	१६
६. पंडितवग्ग	१४
७. अरहन्तवग्ग	१०

---

१. मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ ३७२, ३९९ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

८. सहस्सवग्ग	१६
९. पापवग्ग	१३
१०. दंडवग्ग	१७
११. जरावग्ग	११
१२. अत्तवग्ग	१०
१३. लोकवग्ग	१२
१४. बुद्धवग्ग	१८
१५. सुखवग्ग	१२
१६. पियवग्ग	१२
१७. कोधवग्ग	१४
१८. मलवग्ग	२१
१९. धम्मट्ठवग्ग	१७
२०. मग्गवग्ग	१७
२१. पकिण्णकवग्ग	१६
२२. निरयवग्ग	१४
२३. नागवग्ग	१४
२४. तण्हावग्ग	२६
२५. भिक्खुवग्ग	२३
२६. ब्राह्मणवग्ग	४१
	४२३

'यमकवग्ग' (वर्ग १) में अधिकतर ऐसे उपदेशों का संग्रह है, जिनमें दो, दो बातें जोड़े के रूप में आती हैं। "'मुझे गाली दी'; 'मुझे मारा'; 'मुझे हरा दिया', 'मुझे लूट लिया,' ऐसा जो मन में बाँधते हैं, उनका वैर कभी शान्त नहीं होता।"[१] अहिंसा का यह सनातन सन्देश भी कितना मार्मिक है "यहाँ वैर से वैर कभी शान्त नही होता। अवैर से ही वैर शान्त होता है, यही सनातन धर्म है।"[२] बड़ी-बड़ी संहिताओं का भाषण करने वाले किन्तु उनके अनुसार

---

१. १।४

२. १।५

आचरण न करने वाले व्यक्ति को 'धम्मपद' में उस ग्वाले के समान कहा गया है जिसका काम केवल दूसरों की गायों को गिनना है।[१] बौद्ध चिन्तकों ने शारीरिक संयम की मूल को सदा मन के अन्दर देखा था, इसीलिए धम्मपद की प्रथम गाथा मन की महिमा का वर्णन करती हुई कहती है, "मन ही सब धर्मों (कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों) का अग्रगामी है, मन ही उनका प्रधान है। सभी धर्म मनोमय हैं।" आत्म-संयम, वास्तविक श्रामण्य और सत्संकल्प के स्वरूप और महत्व के वर्णन इस वर्ग के अन्य विषय हैं। 'अप्पमाद-वग्ग' में प्रमाद की निन्दा और अ-प्रमाद की प्रशंसा की गई है। अप्रमाद के द्वारा ही अनुपम योग-क्षेम रूपी निर्वाण को प्राप्त किया जाता है।[२] अप्रमाद के कारण ही इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ बना है।[३] अप्रमाद में रत भिक्षु को ही यहाँ 'निर्वाण के समीप' (निब्बाणस्सेव सन्तिके) कहा गया है।[४] 'चित्तवग्ग' (वर्ग ३) में चित्त-संयम का वर्णन है। 'जितनी भलाई न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बन्धु, उससे अधिक भलाई ठीक मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है।" 'पुप्फवग्ग (वर्ग ४) में पुष्प को आलम्बन मान कर नैतिक उपदेश दिया गया है। सदाचार रूपी गन्ध की प्रशंसा करते हुए कहा गया है, "तगर और चन्दन की जो यह गन्ध फैलती है, वह अल्पमात्र है। किन्तु यह जो सदाचारियों की गन्ध है, वह देवताओं में फैलती है।" 'बालवग्ग' (वर्ग ५) में मूर्खों के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि उनके लिये संसार (आवागमन) लम्बा है। इसी वर्ग में सांसारिक उन्नति और परमार्थ के मार्ग की विभिन्नता बतलाते हुए कहा गया है "लाभ की उपनिषद् दूसरी है और निर्वाण को ले जाने वाली दूसरी, इसे जानकर बुद्ध का अनुयायी भिक्षु सत्करा का अभिनन्दन नही करता, बल्कि एकान्तचर्या को बढ़ाता है।" "पंडितवग्ग" (वर्ग ६) में वास्तविक पंडित पुरुषों के लक्षण बतलाये गये हैं। "जो अपने लिये या दूसरों के लिये पुत्र, धन और राज्य नहीं चाहते, न अधर्म से अपनी उन्नति चाहते है, वही सदाचारी पुरुष, प्रज्ञावान् और धार्मिक है।" अरहन्त वग्ग (वर्ग

---

१. १।१९
२. २।३
३. २।१०
४. २।१२

७) में बड़ी सुन्दर काव्य-मय भाषा में अर्हतों के लक्षण कहे गये हैं। "जिसका मार्ग-गमन समाप्त हो चुका है, जो शोक-रहित तथा सर्वथा मुक्त है, जिसकी सभी ग्रन्थियाँ क्षीण हो गई हैं, उसके लिये सन्ताप नही है।" "सचेत हो वह उद्योग करते हैं। गृह-सुख में रमण नहीं करते। हंस जैसे क्षुद्र जलाशय को छोड़ कर चले जाते हैं, वैसे ही अर्हत् गृह को छोड़ चले जाते हैं।" "जो वस्तुओं का संचय नही करते, जिनका भोजन नियत है, शून्यता-स्वरूप तथा कारण-रहित मोक्ष जिनको दिखाई पड़ता है, उनकी गति आकाश में पक्षियों की भाँति अज्ञेय है।" "गाँव में या जंगल में, नीचे या ऊँचे स्थल में, जहाँ कही अर्हत् लोग विहार करते हैं, वही रमणीय भूमि है।" सहस्सवग्ग (वर्ग ८) की मूल भावना यह है कि सहस्रों गाथाओं के सुनने से एक शब्द का सुनना अच्छा है, यदि उससे शान्ति मिले। सिद्धान्त के मन भर से अभ्यास का कण भर अच्छा है। सहस्रों यज्ञों से सदाचारी जीवन श्रेष्ठ है। पापवग्ग (वर्ग ९) में पाप न करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि "न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर—संसार में कोई स्थान नही है जहाँ रह कर, पाप कर्मो के फल से प्राणी बच सके।" दंडवग्ग (वर्ग १०) में कहा गया है कि "जो सारे प्राणियों के प्रति दंडत्यागी है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।" 'जरावग्ग' (वर्ग ११) में वृद्धावस्था के दुःखों का दर्शन है। इसी वर्ग में संसार की अनित्यता की याद दिलाते हुए यह मार्मिक उपदेश दिया गया है, "जब नित्य ही आग जल रही हो तो क्या हँसी है, क्या आनन्द मनाना है! अन्धकार से घिरे हुए तुम दीपक को क्यों नही ढूंढ़ते हो?" इसी वर्ग में भगवान् के वे उद्गार भी सन्निहित है, जो उन्होंने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के अनन्तर ही किये थे, "अनेक जन्मों तक बिना रुके हुए मै संसार में दौड़ता रहा। इस (काया-रूपी) कोठरी को बनाने वाले (गृहकारक) को खोजते-खोजते पुनः पुनः मुझे दुःख-मय जन्मों में गिरना पड़ा। आज हे गृहकारक! मैंने तुझे पहचान लिया। अब फिर तू घर नही बना सकेगा। तेरी सारी कड़ियाँ भग्न कर दी गई। गृह का शिखर भी निर्बल हो गया। संस्कार-रहित चित्त से आज तृष्णा का क्षय हो गया।" अत्तवग्ग (वर्ग १२) में आत्मोन्नति का मार्ग दिखाया गया है। इसी वर्ग की प्रसिद्ध गाथा है "पुरुष आप ही अपना स्वामी है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है? अपने को भली प्रकार दमन कर लेने पर वह दुर्लभ स्वामी को पाता है।" लोक-वग्ग (वर्ग १३) में लोक सम्बन्धी उपदेश हैं। बुद्ध-वग्ग (वर्ग १४) में भगवान बुद्ध के उपदेशों

का यह सर्वोत्तम सार दिया हुआ है—"सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यही बुद्धों का शासन है। निन्दा न करना, घात न करना, भिक्षु-नियमों द्वारा अपने को सुरक्षित रखना, परिमाण जानकर भोजन करना, एकान्त में सोना-बैठना, चित्त को योग में लगाना—यही बुद्धों का शासन है।" "सुख-वग्ग" (वर्ग १५) में उस सुख की महिमा गाई गई है, जो धन-सम्पत्ति के संयोग से रहित और केवल सदाचारी और अकिंचनता-मय एवं मैत्रीपूर्ण जीवन से ही लभ्य है। भिक्षु कहते हैं, "वैर-बद्ध प्राणियों के बीच अवैरी होकर विहरते हुए अहो! हम कितने सुखी हैं। वैर-बद्ध मानवों में हम अवैरी होकर विहरते हैं! भयभीत प्राणियों के बीच में अभय होकर विहरते हुए अहो! हम कितने सुखी हैं! भयभीत मानवों में हम अभय होकर विहरते हैं। आसक्ति-युक्त प्राणियों के बीच में अनासक्त होकर विहरते हुए अहो! हम कितने सुखी हैं! आसक्ति-युक्त मानवों में हम अनासक्त होकर विहरते हैं।" "पियवग्ग" (वर्ग १६) में यह कहा गया है कि जिसके जितने अधिक प्रिय हैं, उसको उतने ही अधिक दुःख हैं। "प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है। प्रेम से मुक्त को कोई शोक नहीं, फिर भय कहाँ से?" "कोधवग्ग" (वर्ग १७) की मुख्य भावना है "अक्रोध से क्रोध को जीतो, असाधु को साधुता से जीतो, कृपण को दान से जीतो, झूठ बोलने वाले को सत्य से जीतो।" "मलवग्ग" (वर्ग १८) में भगवान् ने कहा है कि अविद्या ही सब से बड़ा मल है। "भिक्षुओ! इस मल को त्याग कर निर्मल बनो।" "धम्मट्ठवग्ग" (वर्ग १९) में वास्तविक धर्मात्मा पुरुष के लक्षण बतलाये गये हैं। "बहुत बोलने से धर्मात्मा नहीं होता। जो थोड़ा भी सुन कर शरीर से धर्म का आचरण करता है और जो धर्म में असावधानी नहीं करता, वही वास्तव में धर्मधर है।" इसी प्रकार "मौन होने से मुनि नहीं होता। वह तो मूढ़ और अविद्वान् भी हो सकता है। जो पापों का परित्याग करता है, वही मुनि है। चूंकि वह दोनों लोकों का मनन करता है, इसीलिये वह मुनि कहलाता है।" इसी वर्ग में भगवान् का यह उत्साहकारी मार्मिक उपदेश भी है, "भिक्षुओ! जब तक चित्त-मलों का विनाश न कर दो, चैन मत लो"—भिक्खू! विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं। "मग्गवग्ग" (वर्ग २०) में निर्वाण-गामी मार्ग का वर्णन है। सभी संस्कारों को अनित्य, दुःख और अनात्म समझते हुए मनुष्य को चाहिये कि "वाणी की रक्षा करने वाला और मन से संयमी रहे तथा काया से पाप न करे। इन तीनों कर्म-

पथों की शुद्धि करे और ऋषि (बुद्ध) के बताये धर्म का सेवन करे।" 'पकिण्णक-वग्ग' (वर्ग २१) में अहिंसा और शरीर के दुःखदोषानुचिन्तन आदि का वर्णन है। "निरय-वग्ग" (वर्ग २२) में बतलाया गया है कि कैसे पुरुष नरक-गामी होते हैं। "नाग-वग्ग" (वर्ग २३) में नाग (हाथी) के समान अडिग रहने का उपदेश दिया गया है। "जैसे युद्ध में हाथी धनुष से गिरे वाण को सहन करता है, वैसे ही मै वाक्यों को सहन करूँगा। संसार में तो दुःशील आदमी ही अधिक हैं।" "तण्हा वग्ग" (वर्ग २४) में तृष्णा को समूल खोद डालने का उपदेश है। अपने पास दर्शनार्थ आये हुए आदमियों को सम्बोधित करते हुए भगवान् कहते हैं, "इसलिए तुम्हें कहता हूँ, जितने यहाँ आये हो, तुम्हारा सब का मंगल हो। जैसे खस के लिए लोग उषीर को खोदते हैं, वैसे ही तुम तृष्णा की जड़ को खोदो।" "भिक्खु वग्ग" (वर्ग २५) में भिक्षुओं के लिए लोमहर्षक उपदेश हैं। "हे भिक्षु! इस नाव को उलीचो। उलीचने पर यह तुम्हारे लिए हल्की हो जायगी। राग और द्वेष को छेदन कर फिर तुम निर्वाण को प्राप्त कर लोगे।" पुनः "हे भिक्षु! ध्यान में लगो। मत असावधानी करो। मत तुम्हारा चित्त भोगों के चक्कर में पड़े। प्रमत्त हो कर मत लोहे के गोले को निगलो। 'हाय दुःख!' कह कर दग्ध होते हुए मत तुम्हें पीछे क्रन्दन करना पड़े।" "भिक्षुओ! जैसे जूही कुम्हलाये हुए फूलों को छोड़ देती है, वैसे ही तुम राग और द्वेष को छोड़ दो।" "ब्राह्मण-वग्ग" (वर्ग २६) में ब्राह्मणो के लक्षण गिनाये गए हैं। २६।१३-४१ गाथाएँ तो बडी ही काव्य-मय हैं। भगवान् की दृष्टि में वास्तविक ब्राह्मण कौन है, इस पर कुछ गाथाएं देखिए—

"माता और योनि से उत्पन्न होने से मैं किसी को ब्राह्मण नही कहता।
वह तो 'भोवादी' ('भो' 'भो' कहने वाला, जैसा' ब्राह्मण उस समय एक दूसरे को सम्बोधन करते समय करते थे) है और संग्रही है। मैं तो ब्राह्मण उसे कहता हूँ, जो अपरिग्रही और लेने की इच्छा न रखने वाला है।

"जो बिना दूषित चित्त किये गाली, वध और बन्धन को सहन करता है, क्षमा बल ही जिसकी सेना का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"कमल के पत्ते पर जल और आरे के नोक पर सरसों की भाँति जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जो विरोधियों के बीच विरोध-रहित रहता है, जो दंडधारियो के बीच दंड-रहित रहता है, संग्रह करने वालों में जो संग्रह-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जिसने यहाँ पुण्य और पाप दोनों की आसक्ति को छोड़ दिया, जो शोक-रहित, निर्मल और शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जिसके आगे, पीछे और मध्य में कुछ नही है, जो सर्वत्र परिग्रह-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" आदि।

ऊपर धम्मपद की विषय-वस्तु के स्वरूप का जो परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि उसमें नीति के वे सभी आदर्श संगृहीत है, जो भारतीय संस्कृति और समाज की सामान्य सम्पत्ति है।[1] धम्मपद की आधी से अधिक गाथाएँ तिपिटक के अन्य भागों में भी मिलती है। धम्मपद के पालि संस्करण के अतिरिक्त कुछ अन्य संस्करण भी मिलते हैं। उनका भी उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक होगा। इस प्रकार के मुख्यतः चार संस्करण उपलब्ध है। सर्वप्रथम प्राकृत धम्मपद है। खोतन में खंडित खरोष्ठी लिपि में यह प्राप्त हुआ है। यह बिलकुल अपूर्ण अवस्था में है और यह नहीं कहा जा सकता कि इसका मौलिक स्वरूप क्या था। इस ग्रन्थ का सम्पादन पहले फ्रेंच विद्वान् ई० सेनाँ ने किया था। बाद में इसका सम्पादन डा० वेणीमाधव बड़ुआ और सुरेन्द्रनाथ मित्र ने किया है।[2] प्रस्तुत ग्रन्थ में १२ अध्याय हैं, जिनकी अनुरूपता पालि-धम्मपद के साथ इस प्रकार है[3]—

प्राकृत धम्मपद		पालि धम्मपद
वर्ग-क्रम	वर्ग-नाम और गाथाओं की संख्या	इनके अनुरूप क्रम, नाम और गाथाओं की संख्या जो पालि धम्मपद में पाई जाती है
१	मग-वग ३०	२० मग्ग-वग्ग १७
२	अप्रमाद-वग २५	२ अप्पमाद-वग्ग १२

---

१. डा० विमलाचरण लाहा ने 'हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर' जिल्द पहली, पृष्ठ २००-२१४ के अनेक पद-संकेतों में उपनिषद्, महाभारत, गीता, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों से उद्धरण देकर धम्मपद की गाथाओं से उनकी समानता दिखाई है। इस विषय का अधिक तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है।

२. कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस, १९२१ ई०।

३. देखिये बड़ुआ और मित्र : प्राकृत धम्मपद, पृष्ठ ८ (भूमिका)

३	चित-वग ५ (अपूर्ण)	३ चित्त-वग्ग ११
४	पुष-वग १५	४ पुप्फ-वग्ग १६
५	सहस-वग १७	८ सहस्स-वग्ग १६
६	पनित-वग या धमठ-वग १०	६ पंडित-वग्ग १४
		१९ धम्मट्ठ-वग्ग १७
७	बाल-वग ७ (अपूर्ण)	५ बाल-वग्ग १६
८	जरा-वग २५	११ जरा-वग्ग ११
९	सुह-वग २०	१५ सुख-वग्ग १२
१०	तष-वग ७ (अपूर्ण)	२४ तण्हा-वग्ग २६
११	भिखु-वग ४०	२५ भिक्खु-वग्ग २३
१२	ब्राह्मण-वग ५०	२६ ब्राह्मण-वग्ग ४१

चूंकि प्राकृत धम्मपद की अभी कोई पूर्ण प्रति नहीं मिल सकी है, अतः दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँचा जा सकता। जिन वर्गों के नामों में समानता है, उनके भी क्रमों और गाथाओं की संख्या के सम्बन्ध में काफी असमानता है। अधिकतर पालि धम्मपद की अपेक्षा प्राकृत-धम्मपद के वर्गों में ही गाथाएँ अधिक हैं। इस गाथा-वृद्धि का कारण यही जान पड़ता है कि चूँकि धम्मपद की गाथाओं का संग्रह पूरे सुत्त-पिटक के ग्रन्थों से ही किया गया है, अतः उनके चुनने में विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में विभिन्नता आ गई है।[1] अन्य संस्करणों के बारे में भी यही बात है। एक बड़ी विशेषता प्राकृत धम्मपद की भाषा के सम्बन्ध में यह है कि उसकी आश्चर्यजनक समानता अशोक के शाह-बाज़गढ़ी और मनसेहरा के अभिलेखों से है। इससे यही विदित होता है कि प्राकृत-

---

१. गाथा-वृद्धि के उदाहरणों और उनके कारणों के अधिक विस्तृत विवेचन के लिये देखिये बड़ुआ और मित्र : प्राकृत धम्मपद, पृष्ठ ३१ (भूमिका)

धम्मपद उत्तर-पश्चिम भारत या मध्य-एशिया की बोलचाल की भाषा में लिखा गया था। उसमें कुछ संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। धम्मपद का दूसरा संस्करण, जिसका भी स्वरूप अभी अनिश्चित ही है, उसका गाथा संस्कृत या मिश्रित संस्कृत में लिखा हुआ रूप है। इसका साक्ष्य हमें 'महावस्तु' से मिलता है, जो स्वयं गाथा-सस्कृत में लिखी हुई रचना है और जिसने 'धर्मपद' का एक अंश मानते हुए 'सहस्र वर्ग' (धर्मपदेषु सहस्रवर्गः) नामक २४ गाथाओं के समूह को उद्धृत किया है।[1] 'सहस्सवग्ग' नामक धम्मपद का भी आठवां 'वग्ग' है, यह हम पहले देख चुके हैं। किन्तु वहाँ केवल १६ गाथाएँ हैं। 'महावस्तु' में उद्धृत 'सहस्रवर्ग' के अतिरिक्त गाथा संस्कृत में लिखे धर्मपद के पूरे स्वरूप के बारे में हमें कुछ अधिक ज्ञान नही है। धम्मपद के 'चुह-खि-उ-थिङ' नामक चीनी अनुवाद से जो २२३ ई० में किया गया था, यह अवश्य ज्ञात होता है कि उसका मूल प्राकृत धम्मपद था, किन्तु उसके भी आज अनुपलब्ध होने के कारण प्राकृत-धम्मपद के वास्तविक स्वरूप की समस्या उलझी ही रह जाती है। धम्मपद का तीसरा रूप विशुद्ध सस्कृत में है, जो अपने खडित रूप में तुर्फान में पाया गया है। इस ग्रन्थ में ३३ अध्याय हैं, अर्थात् पालि धम्मपद से ७ अधिक। इसी संस्करण का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी मिलता है, जो ८१७-८४२ ईसवी में किया गया था। रॉकहिल ने इसका अनुवाद 'उदान वर्ग' शीर्षक से किया है और उसे संस्कृत धर्मपद का प्रतिरूप माना है। धम्मपद का चौथा रूप फ-ख्यू-किङ नामक चीनी अनुवाद में पाया जाता है। यह अनुवाद मूल संस्कृत धर्मपद से २२३ ई० में किया गया। मूल आज अनुपलब्ध है। अतः पालि धम्मपद से उसकी तुलना तो नहीं की जा सकती, किन्तु चीनी अनुवाद के आधार पर कुछ ज्ञातव्य बातें अवश्य जानी जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि चीनी अनुवाद मात्र अनुवाद ही नहीं है। उसे या तो एक अर्थ-कथा ही कहा जा सकता है, या यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसमें वास्तविक धर्मपद का काफी परिवर्द्धन किया गया है। इस चीनी अनुवाद में पालि धम्मपद के २६ वर्गों या अध्यायों की जगह ३९ तो अध्याय हैं और ४२३ गाथाओं की जगह ७५२ गाथाएँ हैं। इनका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है—

---

१. तेषां भगवान् जटिलानां धर्मपदेषु सहस्रवगं भासति 'सहस्रमपि वाचानां अनर्थपदसंहितानां, एकार्थवती श्रेया यं श्रुत्वा उपशाम्यति'।

चीनी धम्मपद (फ-ख्यू-किङ)		पालि धम्मपद
१. अनित्यता	(२१)	अनुपलब्ध
२. ज्ञान-दर्शन	(२९)	
३. श्रावक	(१९)	
४. श्रद्धा	(१८)	
५. कर्तव्य-पालन	(१६)	
६. विचार	(१२)	
७. मैत्री-भावना	(१९)	
८. संलाप	(१२)	
९. यमक-वग्ग	(२२)	१. यमक-वग्ग (२०)
१०. अप्रमाद-वग्ग	(२०)	२. अप्पमाद-वग्ग (१२)
११. चित्त-वग्ग	(१२)	३. चित्त-वग्ग (११)
१२. पुप्फ-वग्ग	(१७)	४. पुप्फ-वग्ग (१६)
१३. बाल-वग्ग	(२१)	५. बाल-वग्ग (१६)
१४. पंडित-वग्ग	(१७)	६. पंडित-वग्ग (१४)
१५. अरहन्त-वग्ग	(१०)	७. अरहन्त-वग्ग (१०)
१६. सहस्र-वग्ग	(१६)	८. सहस्स-वग्ग (१६)
१७. पाप-वग्ग	(२२)	९. पाप-वग्ग (१३)
१८. दंड-वग्ग	(१४)	१०. दंड-वग्ग (१७)
१९. जरा-वग्ग	(१४)	११. जरा-वग्ग (११)
२०. अत्त-वग्ग	(१४)	१२. अत्त-वग्ग (१०)
२१. लोक-वग्ग	(१४)	१३. लोक-वग्ग (१३)
२२. बुद्ध-वग्ग	(२१)	१४. बुद्ध-वग्ग (१८)
२३. सुख-वग्ग	(१४)	१५. सुख-वग्ग (१२)
२४. पिय-वग्ग	(१२)	१६. पिय-वग्ग (१२)
२५. क्रोध-वग्ग	(२६)	१७. कोध-वग्ग (१४)
२६. मल-वग्ग	(१९)	१८. मल-वग्ग (२१)
२७. धम्मट्ठ-वग्ग	(१७)	१९. धम्मट्ठ-वग्ग (१७)
२८. मग्ग-वग्ग	(२८)	२०. मग्ग-वग्ग (१७)
२९. पकिण्ण-वग्ग	(१४)	२१. पकिण्ण-वग्ग (१६)

३०.	निरय-वग्ग	(१६)	२२. निरय-वग्ग	(१४)
३१.	नाग-वग्ग	(१८)	२३. नाग-वग्ग	(१४)
३२.	तण्हा-वग्ग	(३२)	२४. तण्हा-वग्ग	(२६)
३३.	सेवा	(२०)	—	
३४.	भिक्खु-वग्ग	(३२)	२५. भिक्खु-वग्ग	(२३)
३५.	ब्राह्मण-वग्ग	(४०)	२६. ब्राह्मण-वग्ग	(४१)
३६.	निर्वाण	(३६)	—	
३७.	जन्म और मृत्यु	(१८)	—	
३८.	धर्म-लाभ	(१९)	—	
३९.	महामंगल	(१९)	—	

ऊपर चीनी अनुवाद के वर्गों के नाम जहाँ उनकी पालि धम्मपद के साथ समता है, पालि में सुविधा के विचार से दे दिये गए हैं। चीनी अनुवादों में तो उनके स्वभावतः चीनी भाषा में ही शीर्षक हैं। ऊपर की तुलना से स्पष्ट है कि पालि धम्मपद की गाथाओं की संख्या को चीनी अनुवाद में बढ़ा दिया गया है। वास्तव में ऊपर जितने संस्करणों का विवरण दिया गया है, उनमें यही घटा-बढ़ी की गई है। वास्तव में सब का मूलाधार तो पालि धम्मपद ही है, जिसकी गाथाओं को अक्सर बढ़ा कर और कहीं-कहीं घटा कर भी भिन्न-भिन्न बौद्ध सम्प्रदायों ने अपने अलग-अलग संग्रह बना लिए जिनके कुछ उदाहरण हम धम्मपद के ऊपर निर्दिष्ट स्वरूपों में देख चुके हैं। अब हम बुद्ध-वचनों के एक दूसरे संग्रह पर आते हैं।

उदान[१]

'उदान' भगवान् बुद्ध के मुख से समय-समय पर निकले हुए प्रीति-वाक्यों का

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा देवनागरी लिपि में सम्पादित, तथा उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित, सारनाथ १९३७ ई०। भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया है, महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा प्रकाशित, बुद्धाब्द, २४८२। श्री नालन्दा देवनागरी संस्करण में खुद्दक-निकाय पालि, जिल्द पहली, में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित।

एक संग्रह है। "भावातिरेक से कभी-कभी सन्तों के मुख से जो प्रीति-वाक्य निकला करते हैं, उन्हें 'उदान' कहते हैं।" "उदान" में भगवान् बुद्ध के ऐसे गम्भीर और उनकी समाधि-अवस्था के सूचक शब्द संगृहीत हैं, जो उन्होंने विशेष अवसरों पर उच्चरित किये। उनका सौमनस्य और ज्ञान इन वचनों में भरा पड़ा है। भगवान् द्वारा उच्चरित वचन अधिकतर गाथाओं के रूप में हैं और जिन अवसरों पर वे उच्चरित किये गये, उनका वर्णन गद्य में है। गद्य-भाग निश्चयतः संगीतिकारों की रचना है, जिसे उन्होंने बुद्ध-जीवन के प्रत्यक्ष सम्पर्क से ग्रथित किया है। उसकी प्रामाणिकता के विषय में यही कहा जा सकता है कि विनय-पिटक के चुल्लवग्ग और महावग्ग में तथा महापरिनिब्बाण-सुत्त जैसे सुत्त-पिटक के अंशों में बुद्ध-जीवन का जो चित्र उपस्थित किया गया है, उसकी वह अनुरूपता में ही है। गद्य-भाग के अन्त में आने वाले 'उदानों' में तो वास्तविक बुद्ध-वचन होने की सुगन्ध आती ही है। उनमें जैसे शास्ता ने अपने आपको अनुप्राणित कर दिया है, अपनी प्राण-ध्वनि ही फूंक दी है, ऐसा मालूम होता है। वास्तव में 'उदान' का अर्थ भी यही है। 'उदान' की सब से बड़ी विशेषता है बौद्ध जीवन-दर्शन का उसके अन्दर स्पष्टतम प्रस्फुटित स्वरूप। बुद्ध-जीवन के अनेक प्रसंगों के अतिरिक्त चित्त की परम शान्ति, निर्वाण, पुनर्जन्म, कर्म और आचार-तत्व सम्बन्धी गम्भीर उपदेश 'उदान' में निहित हैं।

'उदान' में ८ वर्ग (वग्ग) है और प्रत्येक वर्ग में प्रायः दस सुत्त हैं। केवल सातवें वर्ग में ९ सुत्त हैं। ८ वर्गों के नाम इस प्रकार हैं: (१) बोधि-वर्ग (बोधि-वग्ग), (२) मुचलिन्द-वर्ग (मुचलिन्द-वग्ग), (३) नन्द-वर्ग (नन्द-वग्ग), (४) मेघिय-वर्ग (मेघिय-वग्ग), (५) शोण-स्थविर-संबंधी वर्ग (सोणत्थेरस्स वग्ग), (६) जात्यन्ध-वर्ग (जच्चन्ध-वग्ग), (७) चूल-वर्ग (चूल-वग्ग), और (८) पाटलिग्राम-वर्ग (पाटलिगामिय-वग्गो)। प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक सूत्र में भगवान् का गाथा-बद्ध उदान है। शैली सरल है और सब जगह प्रायः एक सी ही है। उदाहरण के लिए पाँचवें वर्ग के इस सातवें सुत्त को उद्धृत किया जाता है—"ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन-आराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् के पास ही आयुष्मान् कांक्षारेवत आसन लगाये, अपने शरीर को सीधा किए, कांक्षाओं से शुद्ध हो गये अपने चित्त का अनुभव करते बैठे थे। भगवान् ने पास ही में आयुष्मान् कांक्षारेवत को आसन लगाये, अपने

शरीर को सीधा किये, कांक्षाओं से शुद्ध हो गए अपने चित्त का अनुभव करते देखा। इसे जान, उस समय भगवान् के मुँह से उदान के ये शब्द निकल पड़े—

"लोक में या परलोक में, अपनी या परायी,
(संसार-सम्बन्धी) जितनी कांक्षाएँ हैं,
ध्यानी उन सभी को छोड़ देते हैं,
तपस्वी ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं।"

सब सुत्तों की यही शैली है। पहले कहानी या पृष्ठभूमि आती है, फिर बुद्ध का भावातिरेकमय वचन। कहीं-कहीं कहानी अपनी प्रभावशीलता और मौलिकता भी लिये हुए है, जैसे ३।२ में नन्द की कहानी, या २।८ में सुप्रवासा की कथा। कहीं-कहीं, जैसा विंटरनित्ज़ ने दिखाया है, उदानों के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए संगीतिकारों ने कथाओं को अपनी तरफ से गढ़ा भी है, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली है। विंटरनित्ज़ के इस कथन से सर्वांश में सहमत होना अशक्य है। उदाहरणतः ८।९ में आयुष्मान् दब्ब, जो एक महान् साधक और भगवान् बुद्ध के शिष्य थे, की निर्वाण-प्राप्ति के अवसर पर भगवान् ने यह उदान किया, "शरीर को छोड़ दिया, संज्ञा निरुद्ध हो गई, सारी वेदनाओं को भी बिलकुल जला दिया। संस्कार शान्त हो गए, विज्ञान अस्त हो गया।" विंटरनित्ज़ का कहना है कि ऐसे गम्भीर प्रवचन के लिए उपर्युक्त अवसर ठीक नहीं था। कम ही लोग डा० विंटरनित्ज़ के इस मत से सहमत हो सकते हैं। जिन-जिन अवसरों पर या जिस-जिस पृष्ठभूमि में बुद्ध के उद्गारों का 'उदान' में निकलना दिखलाया गया है, उन्हें हम ऐतिहासिक रुप से अधिकतर ठीक ही मानने के पक्षपाती हैं। अब हम प्रत्येक वर्ग की विषय-वस्तु का संक्षिप्त निर्देश करेंगे।

"बोधि-वर्ग" (वर्ग १) में भगवान् बुद्ध की सम्बोधि-प्राप्ति के बाद के कुछ सप्ताहों के जीवन का वर्णन है। उस समय भगवान् विमुक्ति-सुख का अनुभव करते हुए विहर रहे थे। इसी समय उन्होंने अनुलोम और प्रतिलोम प्रतीत्य-समुत्पाद का चिन्तन किया था। कुछ ब्राह्मणों को देख कर उन्होंने वास्तविक ब्राह्मण पर उद्गार किये। स्नान और होम में रत कुछ व्यक्तियों को देख कर भगवान् ने यह उद्गार भी किया, "स्नान तो सभी लोग करते हैं, किन्तु पानी से कोई शुद्ध नहीं होता। जिसमें सत्य है और धर्म है, वही शुद्ध है, वही ब्राह्मण है।"

"मुचलिन्द वर्ग" (वर्ग २) में भी भगवान् की सम्बोधि-प्राप्ति के कुछ सप्ताहों बाद तक की जीवनी का वर्णन है, किन्तु यहां कुछ अलौकिकता से अधिक काम लिया गया है। मुचलिन्द नामक सर्पराज समाधिस्थ भगवान् बुद्ध के शरीर की वर्षा से रक्षा करने के लिये जो उस समय होने लगी थी, उनके शरीर को सात बार लपेट कर उनके ऊपर अपना फन फैला कर खड़ा हो गया, ताकि भगवान् को वर्षा का कष्ट न होने पावे। जिन घटनाओं का प्रथम और इस दूसरे वर्ग में वर्णन है, उनमें काल-क्रम का कोई तारतम्य नहीं है, क्योंकि प्रथम वर्ग के कुछ सूत्र भगवान् की सम्बोधि-प्राप्ति के बाद की अवस्था का वर्णन करते हैं और उसके बाद ही कुछ सूत्र सूचना देते है "एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन आराम में विहार करते थे"। (१।५; १।८; १।१०)। इसी प्रकार दूसरे वर्ग में भी प्रथम सूत्र में तो भगवान् उरुवेला में नैरंजना नदी के तीर पर ही विहार करते हैं, किन्तु दूसरे सूत्र में वे श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन आराम में विहार कर रहे हैं। बुद्धत्व के तीसरे वर्ष जेतवन-आराम का दान किया गया था। अतः ये घटनायें काफी बाद की है। इसी प्रकार भगवान् अन्य स्थानों में भी विहार करते दिखाये गए है, जैसे मृगारमाता के पूर्वाराम प्रासाद में (२।९) या कुंडिया नगर के कुंडधान वन में (२।८)। दूसरे वर्ग में हम भिक्षुओं को इस निरर्थक बात पर विवाद करते हुए पाते है कि "मगधराज बिम्बिसार और कोसलराज प्रसेनजित् में कौन अधिक धनी, सम्पत्तिशाली या अधिक सेनाओं वाला है।" भगवान् इसे सुन कर उन्हें कहते हैं, "भिक्षुओ! तुम श्रद्धापूर्वक घर से बेघर होकर प्रव्रजित हुए हो। तुम कुल-पुत्रों के लिए यह अनुचित है कि तुम ऐसी चर्चा में पड़ो। भिक्षुओ! इकट्ठे होकर तुम्हें दो ही काम करने चाहिए, या तो धार्मिक कथा या उत्तम मौन भाव।" इसी वर्ग में सुप्रवासा की कथा है। यह स्त्री गर्भ की असह्य पीड़ा में पड़ी थी। प्रसव न होता था। उसने सुन रक्खा था कि भगवान् दुःखों के प्रहाण के लिये धर्मोपदेश करते हैं। पति से कहा—भगवान् के चरणों में मेरा शिर से प्रणाम कहना, उनका कुशल-मंगल पूछना और मेरी दशा से अवगत कराना। उसके पति ने ऐसा किया। भगवान् ने अनुकम्पा-पूर्वक आशीर्वाद देते हुए कहा, "कोलिय पुत्री सुप्रवासा सुखी हो जाय, चंगी हो जाय, बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव करे।" पति घर लौटा तो सुप्रवासा को सुखी और चंगी पाया, जिसने बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव कर दिया था। सारा घर सन्तोष और प्रमोद से भर गया। कृतज्ञता से भर कर सुप्रवासा ने एक सप्ताह

भर तक बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को भोजन के लिये आमन्त्रित किया। भगवान् शिष्यों सहित उपस्थित हुए। सात दिन बीत जाने पर भगवान् ने सुप्रवासा से कहा, "सुप्रवासे! ऐसा ही एक और भी पुत्र लेना चाहती है?" सुप्रवासा ने प्रमोद में भर कर कहा "भगवन्! मैं ऐसे सात पुत्रों को लेना चाहूँगी।" भगवान् के मुँह से उस समय उदान के ये शब्द निकल पड़े, "बुरे को अच्छे के रूप में, अप्रिय को प्रिय के रूप में, दुःख को सुख के रूप में, प्रमत्त लोग समझा करते हैं।" बुद्ध के जीवन-दर्शन को समझने के लिये यह कहानी एक अच्छा उदाहरण है। विंटरनित्ज़ ने कहा है कि यह कहानी यह भी दिखाती है कि बुद्ध-काल में ही बुद्ध-भक्ति के द्वारा लोग अपने कल्याण की कामना करने लगे थे। महात्माओं के वचनों और आशीर्वादों में मंगल-प्रसविनी शक्ति होती है, ऐसा विश्वास भारतीय जनता में प्रायः सदा से ही रहा है। अतः इसमें कोई विशेषता दिखाई नहीं पड़ती। विशेषता उस बात में है जो भगवान् ने बाद में सुप्रवासा की सात पुत्रों वाली कामना को सुनकर कही। यह बात बुद्ध के मुख से ही निकल सकती थी। बुद्ध, जिसने अपने एकमात्र पुत्र का जन्म होते समय उसे अपने उदीयमान विचार-चन्द्र को ग्रसने के लिये राहु समझ कर 'राहुल' नाम दिया, "राहु पैदा हुआ, बन्धन पैदा हुआ।" या तो "प्रजया किं करिष्यामः" (हम सन्तान से क्या करेंगे) कहने वाले उपनिषदों के ऋषि या सम्यक् सम्बुद्ध ही इतना ऊँचा और निवृत्तिपरायण दृष्टिकोण ले सकते थे। १।८ में वर्णित आर्य संगाम जी की कथा और २।७ में प्रेम को छोड़ देने का उपदेश, ऐसे ही निवृत्ति-परायण उपदेश हैं। नन्दवर्ग (वर्ग ३) में विशेषतः भगवान् बुद्ध के मौसेरे भाई नन्द की कथा है। किस प्रकार यह विलासी युवक भगवान् के उपदेश से विरक्त बन गया, यही इसमें वर्णन किया गया है। यहाँ भी निवृत्ति का आदर्श ही सामने रक्खा गया है। नन्द पहले भगवान् की जमानत पर अप्सराओं के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करता है। किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करते-करते उसकी अप्सराओं सम्बन्धी इच्छा प्रहीण हो जाती है। भगवान् कहते हैं, "नन्द! जिस समय तुम्हारी सांसारिक आसक्ति से मुक्ति हो गई, उसी समय मैं जमानत से छूट गया।" कुछ अन्य कथाएँ और उद्गार भी इस वर्ग में सम्मिलित हैं। ३।५ में महामौद्गल्यायन की कायगतासति-भावना का वर्णन है। ३।१० में भगवान् ने कहा है कि अनासक्ति ही मुक्ति-मार्ग है। मेघिय-वर्ग (वर्ग ४) में मेघिय नामक भिक्षु की कथा है। यह भिक्षु भगवान् की सेवा में नियत था। एक दिन एक रमणीय आम्र-वन देख कर इसने वहाँ जाकर योग-

साधन करने की भगवान् से अनुमति माँगी। भगवान् ने कहा, "मेघिय ! ठहरो, अभी मैं अकेला हूँ, किसी दूसरे भिक्षु को आ जाने दो।" मेघिय ने भगवान् के आदेश को न माना और ध्यान करने चला गया। किन्तु वहाँ जाकर जैसे ही ध्यान के लिये बैठा, उसके मन में पाप-वितर्क उठने लगे। शाम को फिर भगवान् के पास लौटकर आया। भगवान् ने उसे ध्यान-सम्बन्धी उपदेश दिया। इसी वर्ग में भिक्षुओं पर व्यभिचार के मिथ्यारोप का वर्णन है (४।८)। इस अवस्था में भी वे शान्त रहते हैं और बाद में उनकी निष्पापता सिद्ध हो जाती है। भगवान् का एक ग्वाले ने मक्खन और खीर से आतिथ्य किया, इसका भी वर्णन इस वर्ग में आता है (४।३)। आदमियों की भीड़ से तंग आकर भगवान् को पालिलेय्यक के रक्षितवन में एकान्त-वास करते भी इस वर्ग में हम देखते हैं (४।५)। भव-तृष्णा मिट जाने से ही मुक्ति होती है, इस अर्थ का एक उदान भी भगवान् ने यहीं किया है (४।१०)। पाँचवें वर्ग (शोण स्थविर-सम्बन्धी वर्ग) में शोण नामक भिक्षु के संघ-प्रवेश, अर्हत्त्व-प्राप्ति आदि का वर्णन है। इसी वर्ग में कोसलराज प्रसेनजित् का बुद्ध के दर्शनार्थ जेतवन-आराम में जाना (५।२) तथा सुप्रबुद्ध नामक कोढ़ी की उपासक (गृहस्थ-शिष्य) के रूप में दीक्षा (५।३) का भी वर्णन है। छठे वर्ग (जात्यन्ध-वर्ग) में जात्यन्ध पुरुषों को हाथी दिखाये जाने की कथा है। इस कथा का प्रवचन भगवान् ने श्रावस्ती के जेतवन-आराम में दिया। अनेक अन्धे हाथी को देखते हैं, किन्तु उसके पूरे स्वरूप को कोई नहीं देख पाता। जो जिस अंग को देखता है, वह उसका वैसा ही स्वरूप बताता है। "भिक्षुओ ! जिन जात्यन्धों ने हाथी के सिर को पकड़ा था, उन्होंने कहा, 'हाथी ऐसा है जैसे कोई बड़ा घड़ा।' जिन्होंने उसके कान को पकड़ा था, उन्होंने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई सूप'। जिन्होंने उसके दाँत को पकड़ा था, उन्होंने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई खूंटा'। जिन्होंने उसके शरीर को पकड़ा था, उन्होंने कहा, 'हाथी ऐसा है जैसे कोई कोठी' आदि। इस प्रकार अन्धे आपस में लड़ने-भिड़ने लगे और कहने लगे हाथी ऐसा है, वैसा है, वैसा नहीं, ऐसा नहीं। यही हालत मिथ्यावादों में फंसे हुए लोगों की है। कोई कहते हैं 'लोक शाश्वत है, यही सत्य है, दूसरा बिलकुल झूठ'। कोई कहते हैं 'लोक अशाश्वत है, यही सत्य है, दूसरा बिलकुल झूठ,' आदि। कितने श्रमण और ब्राह्मण इसी में जूझे रहते हैं। (धर्म के केवल) एक अंग को देख कर वे आपस में विवाद करते हैं।" उपर्युक्त दृष्टांत बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। संस्कृत में भी 'अन्धगज-न्याय'

प्रसिद्ध है। जैन साहित्य में भी यह सिद्धांत विदित है। मानवीय बुद्धि की अल्पता और सर्व-धर्म-समन्वय की दृष्टि से यह दृष्टांत इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भी इसका उद्धरण अपने 'अखरावट' में दिया है—"सुनि हाथी कर नाँव अंधन टोआ धायकै। जो देखा जेहि ठाँव मुहमद सो तैसेहि कहा।" विश्व का धार्मिक साहित्य इस बहुमूल्य दृष्टांत के लिये अपने मूल रूप में बौद्ध साहित्य का ही ऋणी है, इसमें बिलकुल भी सन्देह नहीं। सातवें वर्ग (चूलवर्ग) में अनेक स्फुट बातों का वर्णन है, यथा लकुंटक भद्दिय नामक भिक्षु (लकुंटक—बौना) को सारिपुत्र का उपदेश (७।२) और उसकी समाधि-प्राप्ति (७।५), महाकात्यायन की कायगता-सति की भावना (७।७) तथा कौशाम्बी के राजा उदयन के अन्तःपुर में अग्निकांड की सूचना, जिसमें रानी श्यामावती (सामावती) के साथ ५०० स्त्रियाँ जल मरीं (७।९)। आठवें वर्ग (पाटलि-ग्राम-वर्ग) में निर्वाण-सम्बन्धी गम्भीर प्रवचन है। केवल एक को यहाँ उद्धृत किया जाता है, "भिक्षुओ! वह एक आयतन है, जहाँ न पृथ्वी है, न जल है, न तेज है, न वायु है, न आकाशानन्त्यायतन, न विज्ञानानन्त्यायतन, न आकिञ्चन्यायतन, न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है। वहाँ न तो यह लोक है, न परलोक है, न चन्द्रमा है, न सूर्य है। न तो मैं उसे 'अगति' कहता हूँ और न 'गति'। न मैं उसे स्थिति और न च्युति कहता हूँ। मैं उसे उत्पत्ति भी नही मानता। वह न तो कहीं ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है। यही दुःखों का अन्त है"। (८।१)। आयुष्मान् दब्ब के निर्वाण पर भगवान् ने जो उद्गार किया, उसे हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं। बौद्ध निर्वाण के स्वरूप को समझने के लिये 'उदान' का आठवाँ वर्ग भूरि-भूरि पढ़ने और मनन करने योग्य है। भगवान् के चुन्द सोनार के यहाँ अन्तिम भोजन करने का भी इस वर्ग में वर्णन है, जो महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३) के समान ही है।

इतिवुत्तक[१]

'इतिवुत्तक' खुद्दक-निकाय का चौथा ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ गद्य और पद्य

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा देवनागरी लिपि में सम्पादित। उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित, १९३७ ई०। इस ग्रन्थ का अनुवाद भिक्षु धर्मरक्षित त्रिपिटकाचार्य ने किया है। महा-

दोनों में है। 'इतिवुत्तक' का अर्थ है 'ऐसा कहा गया' या 'ऐसा तथागत ने कहा'। 'इतिवुत्तक' में भगवान् बुद्ध के ११२ प्रवचनों का संग्रह है। ये सभी प्रवचन अत्यन्त लघु आकार के और नैतिक विषयों पर हैं। 'इतिवुत्तक' का प्रायः प्रत्येक सूत्र इन शब्दों के साथ आरम्भ होता है—"भगवान् (बुद्ध) ने यह कहा, पूर्ण पुरुष (अर्हत्) ने यह कहा, ऐसा मैंने सुना।" केवल ८१-८८, ९१-९८, और १००-१०१ संख्याओं के सूत्र इसके अपवाद हैं। बुद्ध-वचनों के उद्धरण की यह विशिष्ट शैली ही इस संग्रह के "इतिवुत्तक" (ऐसा बुद्ध ने कहा) नामकरण का आधार है।

'इतिवुत्तक' के विषय-संकलन और शैली की अपनी विशेषताएँ हैं। 'इतिवुत्तक' के ११२ सुत्त चार बड़े-बड़े वर्गों या निपातों में विभक्त है। पहले निपात में उन उपदेशों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध संख्या एक से है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे निपातों में उन उपदेशों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध क्रमशः दो, तीन और चार संख्याओं से है। इसीलिये इनके नाम भी क्रमशः एकक-निपात, दुक-निपात, तिक-निपात और चतुक्क-निपात हैं। पहले निपात में २७ सूत्र हैं, दूसरे में २२, तीसरे में ५० और चौथे में १३। इस प्रकार सूत्रों की कुल संख्या मिलाकर ११२ है। विषय-संकलन की यह शैली आज कृत्रिम जान पड़ती है, किन्तु अध्ययन-अध्यापन के उस युग में जब सारा काम मौखिक रूप से (मुखपाठवसेन) ही चलता था, गणनात्मक संकलन और वर्गीकरण की यह पद्धति स्मृति के लिये बड़ी सहायक सिद्ध होती थी। फलतः बौद्धों और जैनों का अधिकांश प्राचीन साहित्य इसी शैली में लिखा गया है। संस्कृत के सूत्र-साहित्य का भी उद्भावन इसी आवश्यकता के कारण हुआ। 'इतिवुत्तक' की संख्याबद्ध शैली का ही विकसित रूप हमें अंगुत्तर-निकाय और बाद में अभिधम्म-पिटक में मिलता है। 'इतिवुत्तक' के विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस गणनात्मक विधान ने उसके विषय-स्वरूप की स्वाभाविकता में कोई बाधा नहीं पहुँचाई है। उसका अलंकार-विहीन सौन्दर्य हमें बुद्ध-वचनों को उनके उस नैसर्गिक रूप में, जिसमें वे उच्चरित किये गये थे, ठीक प्रकार देखने में सहायता देता है।

बोधि सभा, सारनाथ, १९५६ ई०। श्री नालन्दा देवनागरी संस्करण में खुद्दक-निकाय-पालि की प्रथम जिल्द में खुद्दक-पाठ आदि ग्रन्थों के साथ सम्पादित।

'इतिवुत्तक' की एक बड़ी विशेषता उसके अन्दर गद्य और पद्य दोनों का होना है। प्रत्येक सूत्र के आदि में पहले "ऐसा भगवान् ने कहा, ऐसा पूर्ण पुरुष (अर्हत्) ने कहा, ऐसा मैंने सुना" आता है। फिर गद्य में बुद्ध-वचन का उद्धरण होता है। फिर उसके वाद "भगवान् ने यह कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है" इस प्रस्तावना के साथ कोई गाथा या गाथाएँ आती है, जिनका या तो बिल-कुल वही अभिप्राय होता है जो गद्य-भाग का अथवा जो उसकी पूरक-स्वरूप होती हैं। शब्दों में भी वहुत थोड़ा ही हेर-फेर होता है, अक्सर गद्य-भाग को गाथा-बद्ध कर के रख दिया जाता है। इस गाथा-भाग को भी बुद्ध-वचन की सी प्रामाणिकता देने के लिये उसका उपसंहार करते हुए अन्त में लिख दिया जाता है, "यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना।" इस प्रकार गद्य-भाग और गाथा-भाग दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। 'इतिवुत्तक' के प्रत्येक सूत्र की यही शैली है। इसका दिग्दर्शन कराने के लिये एक पूरे सूत्र को उद्धृत कर देना आवश्यक होगा। एकक-निपात के इस तीसरे सूत्र को लीजिये—"ऐसा मैंने सुना—

भगवान् ने यह कहा, पूर्ण पुरुष (अर्हत्) ने यह कहा, "भिक्षुओ! एक वस्तु को छोड़ो। मैं तुम्हारा जामिन होता हूँ, तुम्हें फिर आवागमन में पड़ना नहीं होगा। किस एक वस्तु को? भिक्षुओ! मोह ही एक वस्तु को छोड़ो। मैं तुम्हारा जामिन होता हूँ तुम्हें फिर आवागमन में पड़ना नहीं होगा।"

भगवान् ने यह कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है—

जिस मोह के कारण मूढ़ बन कर प्राणी बुरी गतियों में पड़ते है, उसी मोह को विपश्यना-ज्ञान (अन्तर्ज्ञान)-सम्पन्न मनुष्य सम्यक् रूप से जानकर छोड़ देते हैं; छोड़ कर, वे इस लोक में फिर नहीं आते।

यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना।

विद्वानों में इस बारे में कुछ मतभेद है कि 'इतिवुत्तक' के गद्य और पद्य भाग में कौन अधिक प्राचीन या प्रामाणिक है। किन्तु उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि संकलनकर्ता ने भी गद्य-भाग में रक्खे हुए अंश को ही बुद्ध-वचन के रूप में उद्धृत किया है और फिर उसकी व्याख्या-स्वरूप गाथा-भाग को जोड़ दिया है, जिसकी प्रशंसा मात्र करने के लिये ही उसके अन्त में यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना, जोड़ दिया है। वास्तव में, जैसा संकलनकर्ता ने स्वयं कहा है, गाथा-भाग वास्तविक बुद्ध-वचन का, जो गद्य में है, अर्थ (अत्थो) ही है। मूल-बुद्ध-वचन के साथ इस प्रकार उसकी अर्थ-कथा देने की प्रवृत्ति तिपिटक के कुछ अन्य

अंशों में भी देखी जाती है। 'इतिवुत्तक' में इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया गया जान पड़ता है। अतः 'इतिवुत्तक' के गाथा-भाग का उसके गद्य-भाग से उसी प्रकार का सम्बन्ध है, जैसा 'उदान' के गद्य-भाग का उसके गाथा-भाग के साथ। 'उदान' में गाथा-भाग मुख्य प्रामाणिक बुद्ध-वचन है। उसकी पृष्ठभूमि के रूप में ही वहाँ के गद्य-भाग का उपयोग है। कुछ-कुछ इसी प्रकार 'इतिवुत्तक' में गद्य-भाग मुख्य प्रामाणिक बुद्ध-वचन है, जिसकी व्याख्या स्वरूप ही गाथा-भाग की अवतारणा की गई है। अतः 'इतिवुत्तक' के पद्य-भाग की अपेक्षा उसके गद्य-भाग की ही प्रमाणवत्ता और प्राचीनता हमें अधिक मान्य होगी। शैली की दृष्टि से भी यही निष्कर्ष ठीक जान पड़ता है। 'इतिवुत्तक' का गद्य सरल, स्वाभाविक और आलंकारिक कृत्रिमताओं से रहित है। अतः उसको मूल बुद्ध-वचन मानना अधिक युक्ति-युक्त जान पड़ता है। निःसन्देह यह भाग शास्ता के मुख से ही निकला हुआ है। एक-एक शब्द यहाँ 'धम्म-मेघ' (धर्म रूपी मेघ-बुद्ध) की वर्षा से अभी तक आर्द्र है। ए० जे० एडमंड्स के इस कथन से हम अक्षरशः सहमत हैं कि "यदि 'इतिवुत्तक' बुद्ध-वचन न हो तो और कुछ भी बुद्ध-वचन नहीं है।" हमें 'इतिवुत्तक' को इसी गौरव-दृष्टि से देखना है। परम्परागत मान्यता है कि इसमें उन सुत्तों का संकलन है जिन्हें खुज्जुत्तरा ने बुद्ध-मुख से कौशाम्बी में सुना था।

'इतिवुत्तक' के पहले निपात में, जैसा पहले कहा जा चुका है, उन सुत्तों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध एक संख्या वाली वस्तुओं से है। इसी निपात में से एक पूरे सुत्त का उद्धरण पहले दिया भी जा चुका है। इसी प्रकार राग, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या आदि पर भी सूत्र हैं। यह निपात तीन वर्गों में विभक्त है, जिनमें से प्रत्येक में क्रमशः १०, १० और ७ सूत्र हैं। इस निपात का मेत्तभाव-सुत्त तो भाषा और भाव की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर है। भगवान् कहते हैं, "भिक्षुओ! पुनर्जन्म के आधारभूत सब पुण्य कर्म मिलकर भी उस मैत्री भावना के, जो चित्त की विमुक्ति है, सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं होते। भिक्षुओ! मैत्री भावना ही सब पुण्यकारी कर्मों से अधिक चमकती है, प्रभासित होती है, क्योंकि वह चित्त की विमुक्ति ही है! भिक्षुओ! जैसे तारागणों का सारा प्रकाश मिलकर भी एक चन्द्रमा के प्रकाश के सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं होता .....जैसे वर्षा के अन्त में शरद् ऋतु में जब आकाश साफ और मेघों से रहित होता है तो सूर्य वहाँ आरोहण कर अन्धकार-समूह को विच्छिन्न कर चमकता

है.....जैसे भिक्षुओ! रात के पिछले पहर में, प्रत्यूष काल के समय, शुक्र-तारा चमकता है....भिक्षुओ! मैत्री भावना भी सब पुण्यकारी कर्मों के ऊपर चमकती है, प्रभासित होती है, क्योंकि वह चित्त की विमुक्ति ही है

सुत्त-निपात[1]

सुत्त-निपात भी खुद्दक-निकाय का धम्मपद के समान ही अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, यद्यपि हिन्दी में वह अभी इतना लोक-प्रिय नहीं हुआ जितना धम्मपद। फिर भी मौलिक बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ-रत्न का अत्यन्त ऊँचा स्थान है। अशोक ने भाब्रू-शिलालेख में जिन सात बुद्धोपदेशों के नाम दिये हैं, उनमें से तीन, कुछ विद्वानों के अनुसार, अकेले सुत्त-निपात में हैं, यथा मोनेय्यसूते=नालक-सुत्त; मुनि-गाथा=मुनि-सुत्त, एवं उपतिसपसने=सारिपुत्त-सुत्त। सुत्त-निपात की भाषा वैदिक भाषा के बहुत अधिक समीप है। वैदिक भाषा की विविधरूपता और उसके अनेक प्रकार के व्यत्ययों का विवरण हम पहले दे चुके हैं।[2]

---

१. नागरी लिपि में डा० बापट द्वारा सम्पादित, पूना १९२४। पर यह संस्करण आजकल अप्राप्य है। सन् १९३७ (बुद्धाब्द २४८१) में खुद्दक-निकाय के अन्य दस ग्रन्थों के साथ-साथ सुत्त-निपात का भी नागरी लिपि में सम्पादन महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप ने किया है। बर्मी बिहार, सारनाथ (बनारस) द्वारा प्रकाशित। पर यह संस्करण भी अब नहीं मिलता। सुत्त-निपात के पाँच वर्गों में से प्रथम वर्ग (उरग वर्ग) का हिन्दी-अनुवाद भिक्षु धर्मरत्न ने किया है। साथ में मूल पालि भी दी है। प्रकाशक भिक्षु महानाम, मूलगन्धकुटी विहार, सारनाथ (बनारस), बुद्धाब्द २४८८ (१९४४ ई०)। अब उनके द्वारा किया हुआ पूरे सुत्त-निपात का हिन्दी अनुवाद (मूल-सहित) प्रकाशित हो गया है। महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५१ ई०। सुत्त-निपात का भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान सम्पादकत्व में प्रकाशित संस्करण श्री नालन्दा से सन् १९५९ में खुद्दक-निकाय पालि की प्रथम जिल्द में निकला है। बंगला में पूरे सुत्त-निपात का अनुवाद भिक्षु शीलभद्र ने किया है, जो कलकत्ता से सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ है।

२. देखिये प्रथम परिच्छेद में पालि और वैदिक भाषा की तुलना।

जिन अनेक प्रयोगों को बाद में चल कर संस्कृत ने छोड़ दिया, सुत्त-निपात में हमें ज्यों के त्यों मिलते हैं। संस्कृत और पालि का विकास समकालिक है, पर चूंकि पालि विशेषतः जन-भाषा थी, अतः उसने ऋग्वेद की भाषा के उन अनेक प्रादेशिक प्रयोगों को ले लिया है जो वहाँ विद्यमान हैं। अतः उसकी भाषा में पर्याप्त प्राचीनता है। अनेक गाथाओं में हमें इस प्रकार वैदिक भाषा के प्रभाव के लक्षण मिलते हैं। उदाहरणतः समूहतासे (गाथा १४), पच्चयासे (१५), चरामसे, भवामसे (३२), आतुमान, सुवानि, सुवाना (२०१), अवीवदाता (७८४), उपासकासे (३७६), पण्डितासे (८७५), धम्मासे (१०३८), ब्राह्मणासे (१०७९) जैसे प्राचीन वैदिक प्रयोग हमें सुत्तनिपात की भाषा में, विशेषतः उसकी गाथाओं की भाषा में, मिलते हैं। इसी प्रकार 'जनेत्वा' के स्थान पर 'जनेत्व' (६९५) और कुप्पटिच्चस्सन्ति (७८४) जैसे प्रयोग भी बिलकुल ऋग्वेद की भाषा के प्रयोग हैं। सुत्त-निपात की गाथाओं के छन्द भी प्रायः वैदिक हैं। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, और जगती छन्दों की वहाँ अधिकता है और वैदिक छन्दों के समान गण का बन्धन भी नहीं है।[1] भाषा के समान विचार के साक्ष्य से भी सुत्त-निपात की प्राचीनता सिद्ध है। वैदिक युग के देव-यजनवाद का पूरा चित्र हमें यहाँ मिलता है। उसका वर्णन इतना सजीव है कि वह प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही लिखा हुआ हो सकता है। भाषा और विचारों में सभी जगह एक निसर्गगत स्वाभाविकता और सरलता मिलती है जो बौद्धधर्म के विकास के प्रथम स्तर का पर्याप्त रूप से परिचय देती है। प्रभावशीलता भी इसीलिए अत्यन्त उच्च कोटि की है। बुद्ध-धर्म के नैतिक रूप का सुन्दर चित्र हमें सुत्त-निपात में मिलता है। उरग-सुत्त में निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग को बताते हुए कहा गया है:

यो उप्पतितं विनेति कोधं, विसतं सप्पविसं व ओसधेहि।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं॥

जो भिक्षु चढ़े क्रोध को, सर्प-विष को औषध की तरह, शान्त कर देता है, वह इस पार (इस जन्म की आसक्ति) और उस पार (परलोक की आसक्ति) को

---

१. देखिये सुत्त-निपात (भिक्षु धर्मरत्न-कृत हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग) की वस्तुकथा में भिक्षु जगदीश काश्यप का 'सुत्त-निपात की प्राचीनता' सम्बन्धी विवेचन, पृष्ठ ३-५

छोड़ता है, साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को। 'साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को'-कैसी सुन्दर उपमा है!

धनिय-सुत्त में गृहस्थ-सुख और ध्यान-सुख की तुलना की गई है, जिसके उद्धरण का मोह संवरण नहीं किया जा सकता। धनिय गोप पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि से समृद्ध है। वह एक सुखी गृहस्थ किसान है। वर्षा-काल में वह उद्‌गार कर रहा है:—

भात मेरा पक चुका है। दूध दुह लिया गया है। मही (गंडक) नदी के तीर पर स्वजनों के साथ वास करता हूँ। कुटी छा ली है। आग सुलगा ली है। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

मक्खी-मच्छर यहाँ पर नहीं हैं। कछार में उगी घास को गौवें चरती हैं। पानी भी पड़े तो वे उसे सह लें। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

. . . . . .

मेरी ग्वालिन आज्ञाकारी और अचंचला है। वह चिरकाल की प्रिय संगिनी है। उसके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

. . . . . .

मैं आप अपनी ही मजदूरी करता हूँ। मेरी सन्तान अनुकूल और नीरोग हैं। उनके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

. . . . . .

मेरे तरुण बैल और बछड़े हैं। गाभिन गायें हैं और तरुण गायें भी, और सब के बीच वृषभराज भी हैं। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

. . . . . .

खूंटे मजबूत गड़े है, मूंज के पगहे नये और अच्छी तरह बटे हैं, बैल भी उन्हें नहीं तोड़ सकते। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।[१]

पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी-पूर्व के मगध-कोसल के किसान के सुखी जीवन का कैसा सुन्दर चित्रण है, उसकी आशा-आकांक्षाओं का कैसा सुन्दर निरूपण है!

---

१. भिक्षु धर्मरत्न का अनुवाद, प्रथम भाग, पृष्ठ ७-१० (कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ)

ग्रामीण जीवन का यह चित्र, उसके सुख का यह आदर्श, आज भी उतना ही सत्य है जितना बुद्ध-काल में।

वेद की एक प्रार्थना में राष्ट्र की विभूति का चित्र खींचा गया है।[1] पर उसके रंग इतने गहरे नहीं हैं, उसकी रेखाएँ इतनी स्पष्ट नहीं है, जितनी सुत्तनिपात के यथार्थ वर्णन की। इतना होते हुए भी सुखी कृषक के जीवन का वर्णन सुत्त-निपात में केवल एक पृष्ठभूमि के रूप में है, वह स्वयं अपना लक्ष्य नहीं है। उसका वर्णन यहाँ उससे बड़े एक अन्य सुख की केवल अभिव्यक्ति के रूप में किया गया है। उस सुख का उपभोग भगवान् बुद्ध कर रहे हैं। उनके उद्‌गारों को कृषक के उद्‌गारों से पंक्तिशः मिलाइये। मही नदी के तट पर खुले आकाश के नीचे बैठे हुए भगवान् उमड़ते हुए बादलों को देख कर प्रसन्न उद्‌गार कर रहे हैं :—

मैं क्रोध और राग से रहित हूँ। एक रात के लिए मही नदी के तीर पर ठहरा हूँ। मेरी कुटी खुली, बिना छाई हुई, है। अग्नि (राग-अग्नि, द्वेषाग्नि, मोहाग्नि) बुझ चुकी है। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

. . . . . .

मैंने एक अच्छी तरणी बना ली है। भव-सागर को तैर कर पार चला आया। अब तरणी की आवश्यकता नहीं रही। हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

. . . . . .

मेरा मन वशीभूत और विमुक्त है, चिर काल से परिभावित और दान्त है। मुझ में कोई पाप नहीं। हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

. . . . . .

मैं किसी का चाकर नहीं। स्वच्छन्द सारे संसार में विचरण करता हूँ। मुझे चाकरी से मतलब नहीं। हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

. . . . . .

---

१. "आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्.....दोग्ध्री..धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा.....निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्"। यजुर्वेद २२।२२

मेरे न तरुण बैल हैं और न बछड़े। न गाभिन गायें हैं और न तरुण गायें और सब के बीच वृषभराज भी नहीं। हे देव! चाहो तो खूब बरसो![1]

. . . . . .

सांसारिक सुख और ध्यान-सुख को आमने-सामने रख कर कितनी सुन्दर तुलना है! सांसारिक मनुष्य कहता है 'उपधी हि नरस्स नन्दना न हि सो नन्दति यो निरूपधि' अर्थात् विषय-भोग ही मनुष्य के आनन्द के कारण हैं। जिन्हें विषय-भोग नहीं, उन्हें आनन्द भी नहीं। पर राग-विमुक्त महात्मा कहता है "उपधी हि नरस्स सोचना न हि सो सोचति यो निरूपधि"। अर्थात् विषय-भोग ही मनुष्य की चिन्ता के कारण हैं। जो विषय-रहित है, वह चिन्तित भी नहीं। दोनों आदर्शों का इससे अधिक सुन्दर निरूपण, इस नाटकीय गति और संवाद-शैली के साथ, सम्भवतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में नहीं मिल सकता। बौद्ध धर्म के आचार-तत्त्व के रूप को समझने के लिए भी यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार 'खग्गविसाण-सुत्त' में एकान्तवास का सुन्दर उपदेश दिया गया है। 'एको चरे खग्गविसाणकप्पो' (अकेला बिचरे गैंडे की तरह) से अन्त होने वाली इन गाथाओं का सौन्दर्य भी अपना है!

सुत्त-निपात के कई सुत्तों में शास्त्रीय विवाद से अलग रह कर विशुद्धि की साधना करने का उपदेश दिया गया है और मत-वादों की संकीर्णता की निन्दा कर पूर्ण सत्य की अगमता का निर्देश किया गया है। विशेषतः पसूर-सुत्त इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पसूर एक परिव्राजक था। अट्ठकथा में कहा गया है कि वह अपने हाथ में एक जामुन के पेड़ की डाली रखता था और जहाँ कहीं जाता था उसे धरती में गाड़ कर लोगों को ललकारता था कि जो कोई उससे शास्त्रार्थ करना चाहे, उस लकड़ी को उखाड़ ले। उसी को बुद्ध ने उपदेश दिया है कि शास्त्रार्थ से कोई शुद्ध नहीं होता।

कसि-भारद्वाज सुत्त में हम ५०० हल लेकर जुताई के काम में लगे हुए कृषि-भारद्वाज नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् के प्रसिद्ध काव्यात्मक संवाद को देखते हैं। भिक्षा के लिए मौन खड़े हुए भगवान् को देख कर कृषि-भारद्वाज कहता है,

---

१. भिक्षु धर्मरत्न का अनुवाद, पृष्ठ ७-१० (कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ) भगवान् के इन उद्गारों के साथ मिलाइये 'थेरगाथा' में प्राप्त भिक्षुओं के इसी प्रकार के उद्गार भी (आगे 'थेरगाथा' के विवेचन में)

विस्तार-भय से ऐसा नहीं किया जा सकता। वास्तव में सुत्त-निपात में सभी कुछ इतना महत्त्वपूर्ण, सभी कुछ इतना आकर्षक है कि कुछ समझ में नहीं आता कि उसकी सुन्दरता का क्या नमूना सामने रक्खा जाय। वह सब का सब बौद्ध-साहित्य में जो कुछ भी अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, उसका नमूना है। फिर भी पाँचवें वर्ग (पारायण-वग्ग—जिसमें परायण—जीवन के परम उद्देश्य—का वर्णन है) में बुद्ध के समकालिक गोदावरी-तटवासी प्रसिद्ध वेदज्ञ ब्राह्मण बावरि के १६ शिष्यों के भगवान् बुद्ध के साथ जो उदात्त-गम्भीर संलाप हुए, उनका कुछ दिग्दर्शन तो आवश्यक ही है। यहाँ हम देखेंगे कि वैदिक परम्परा के सच्चे साधकों ने भी बुद्ध को कितनी जल्दी पहचान लिया था और उन्हें अपने हृदय में कितना ऊँचा स्थान दिया था।

अजित-माणव-पुच्छा

(अजित) "लोक किससे ढँका है? किससे प्रकाशित नहीं होता? किसे इसका अभिलेपन कहते हो? क्या इसका महाभय है?"

(भगवान्) "अविद्या से लोक ढँका है, प्रमाद से प्रकाशित नहीं होता। तृष्णा को अभिलेपन कहता हूँ। जन्मादि दुःख इसके महा-भय हैं।"

(अजित) "चारों ओर सोते बह रहे हैं। सोतों का क्या निवारण है? सोतों का ढँकना बतलाओ, किससे ये सोते ढाँके जा सकते हैं?"

(भगवान्) "जितने लोक में सोते हैं, स्मृति उनका निवारण है। सोतों की रोक प्रज्ञा है, प्रज्ञा से ये रोके जा सकते हैं।"

(अजित) "हे मार्ष! प्रज्ञा और स्मृति नाम-रूप ही हैं। यह पूछता हूँ, बतलाओ कहाँ यह नाम-रूप निरुद्ध होता है?"

(भगवान्) "अजित! जो तूने यह प्रश्न पूछा, उसे तुझे बतलाता हूँ, जहाँ पर कि सारा नाम-रूप निरुद्ध होता है। विज्ञान के निरोध से यह निरुद्ध हो जाता है।"

पुण्णक-माणव-पुच्छा

(पुण्णक) "हे तृष्णा-रहित मूल-दर्शी! मैं आपके पास प्रश्न के सहित आया हूँ.....जिन ऋषियों ने यज्ञ कल्पित किये, क्या वे यज्ञ-पथ

में अ-प्रमादी थे? हे मार्ष! क्या वे जन्म-जरा को पार हुए? हे भगवान्! तुम्हें यह पूछता हूँ, मुझे बताओ।"

(भगवान्) "वे जो हवन करते हैं, लाभ के लिए ही कामों को जपते हैं। वे यज्ञ के योग से, भव के राग से, रक्त हो, जन्म-जरा को पार नहीं हुए, ऐसा मैं कहता हूँ।"

(पुण्णक) "हे मार्ष! यदि योग के योग (आसक्ति) से यज्ञों द्वारा जन्म-जरा को पार नही हुए, तो हे मार्ष! फिर लोक में कौन देव-मनुष्य जन्म-जरा को पार हुए, तुम्हें हे भगवन्! मैं पूछता हूँ। मुझे बतलाओ?"

(भगवान्) "लोक में वार-पार को जान कर, जिसको लोक में कहीं भी तृष्णा नहीं, जो शान्त, धूम-रहित, रागादि-विरत और आशा-रहित है, वह जन्म-जरा को पार हो गया—मैं कहता हूँ।"

मेत्तगू-माणव-पुच्छा

(मेत्तगू) "हे भगवान्! मैं तुम्हें पूछता हूँ, मुझे यह बतलाओ, तुम्हें मैं ज्ञानी (वेदगू-वेदज्ञ) और भावितात्मा समझता हूँ। जो भी लोक में अनेक प्रकार के दुःख हैं, वे कहाँ से आये हैं?"

(भगवान्) "दुःख की इस उत्पत्ति को पूछते हो। प्रज्ञानुसार मैं उसे तुम्हें कहता हूँ। तृष्णा के कारण ही लोक में अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं।"

धोतक-माणव-पुच्छा

(धोतक) "हे भगवान्! तुम्हें यह पूछता हूँ, महर्षे! तुम्हारा वचन सुनना चाहता हूँ। तुम्हारे निर्घोष को सुन कर मैं अपने निर्वाण को सीखूँगा।"

(भगवान्) "तो तत्पर हो.....स्मृतिमान् हो, यहाँ से वचन सुन तुम अपने निर्वाण को सीखो।"

(धोतक) "मैं तुम्हें देव-मनुष्य-लोक में निर्लोभ होकर विहरने वाला ब्राह्मण देखता हूँ। हे समन्तचक्षु! (चारों ओर आँखों वाले)

तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ। हे शक्र! मुझे वाद-विवाद से छुड़ाओ।"

(भगवान्) "हे धोतक! लोक में मैं किसी वाद-विवाद-परायण (कथंकथी) को छुड़ाने नहीं जाऊँगा। इस प्रकार श्रेष्ठ धर्म को जान कर तुम इस ओघ (भव-सागर) को तर जाओगे।"

(धोतक) "हे ब्रह्म! करुणा कर विवेक-धर्म को मुझे उपदेश करो, जिसके अनुसार मैं यहीं शान्त और विमुक्त हो कर विचरूँ।"

(भगवान्) "धोतक! इसी शरीर में प्रत्यक्ष धर्म को बतलाता हूँ, जिसे जान कर, स्मरण कर, आचरण कर, तू लोक में अशांति से तर जायगा।"

कप्प-माणव-पुच्छा

(कप्प) "बड़ी भयानक बाढ़ में सरोवर के बीच में खड़े, मुझे तुम द्वीप (शरण-स्थान) बतलाओ, जिससे यह संसार फिर न हो।"

(भगवान्) "हे कप्प! तुझे द्वीप बतलाता हूँ। अकिंचनता ही सर्वोत्तम द्वीप है। इसे मैं जरा-मृत्यु के विनाश रूपी निर्वाण कहता हूँ।"[१] आदि, आदि।

बावरि ब्राह्मण के उपर्युक्त १६ शिष्य गोदावरी के तट के समीप से चलकर क्रमशः माहिष्मती, उज्जेनी, गोनद्ध, विदिशा, वनसह्वय, कौशाम्बी, साकेत, श्रावस्ती, सेतव्या, कपिलवस्तु, पावा, भोगनगर और वैशाली होते हुए राजगृह आये थे। अतः उनकी यात्रा के इस वर्णन से, जो सुत्त-निपात के पारायण-वग्ग में है, बुद्धकालीन मार्गों के सम्बन्ध में हमें महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। सुत्त-निपात का पारायण-वग्ग वस्तुतः अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसका मध्य-एशिया की उइगर और तुखारी भाषाओं में अनुवाद हुआ, जिनकी हस्तलिखित प्रतियाँ मध्य-एशिया में मिली हैं। अट्ठक-वग्ग का, जो भी उसके समान ही महत्त्वपूर्ण है, चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। हम दूसरे अध्याय में देख ही चुके है कि बुद्ध के जीवन-काल में यह वग्ग कई भिक्षुओं को कण्ठस्थ था और एक ने उसे बुद्ध के सामने सस्वर सुनाया भी था। सुत्त-निपात के खग्गविसाण-सुत्त

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा बुद्धचर्या, पृष्ठ ३७३-३८४ में अनुवादित।

और पब्बज्जा-सुत्त महावस्तु में भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार पधान-सुत्त ललित-विस्तर में भी मिलता है और अंशतः महावस्तु में भी।

विमानवत्थु[1] और पेतवत्थु[2]

विमानवत्थु (विमानवस्तु) का अर्थ है विमानों या देव-आवासों की कथाएँ। इसी प्रकार पेतवत्थु का अर्थ है प्रेतों की कथाएँ। विमानवत्थु और पेतवत्थु में क्रमशः देवताओं और प्रेतों की कहानियों के द्वारा कर्म-फल के सिद्धान्त का प्राकृत-जनोपयोगी दिग्दर्शन कराया गया है। देवता प्रकाश-रूप हैं। वे सुन्दर आवासों में रहते हैं। स्वर्ग-लोक नाना प्रकार के आमोद-प्रमोदों से पूरित है। इसके विपरीत प्रेत-योनि दुःखमय है। प्रेतों को नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं। इस जन्म में जो नाना प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं, उन्हीं के परिणामस्वरूप मृत्यु के उपरान्त क्रमशः देवताओं या प्रेतों की गतियाँ प्राप्त होती हैं, यह दिखाने के लिए ही विमानवत्थु और पेतवत्थु की रचना की गई है, इस प्रकार बौद्ध नैतिक-वाद ने यहाँ पौराणिक परिधान ग्रहण कर लिया है। ऐसा लगता है कि नैतिक प्रयोजन के लिए बौद्धों ने स्वर्ग-नरक मय प्राचीन पौराणिकवाद को स्वीकार कर लिया है। किन्तु स्वर्ग का लक्ष्य उन्होंने गृहस्थ-जनों के लिए ही रक्खा है। भिक्षु का पद इससे बहुत अधिक ऊँचा है। वह तो निर्वाण का अभिलाषी है। स्वर्ग-लोक भी उसके लिए एक बन्धन है, कामनाओं की तृप्ति का ही एक साधन है। वह तो कामनाओं से ऊपर उठ कर, मनुष्य और देवता सब का ही अनुशासक है। अतः यह ठीक ही है कि किसी भी भिक्षु को शुभ कर्म के परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते 'विमानवत्थु' में नहीं दिखाया गया। केवल सद्गृहस्थ ही शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते हैं और वहाँ नाना प्रकार के रमण, क्रीड़ा दिव्य माल्य-धारण आदि का उपभोग करते हैं। 'विमानवत्थु' में ८५ देव-आवासों

१-२. देवनागरी लिपि में महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित, बुद्धाब्द २४८१ (१९३७ ई०)। अब भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित और बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा प्रकाशित श्री नालंदा संस्करण में खुद्दक निकाय पालि, जिल्द दूसरी, में ये दोनों ग्रन्थ थेरी-थेरी गाथाओं के साथ निहित हैं।

(विमानों) का वर्णन है, जिन्हें सात वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग का नाम 'पीठ वग्ग' है। इसमें १७ देव-निवासों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार शेष ६ वर्गों में, जिनके नाम क्रमशः 'चित्तलता-वग्ग', 'पारिच्छत्तक-वग्ग', 'मञ्जेट्ठ-वग्ग', 'महारथ-वग्ग', 'पायासि-वग्ग' और 'सुनिक्खित्त-वग्ग' हैं, क्रमशः ११, १०, १२, १४, १० और ११ देव-निवासों का वर्णन किया गया है। केवल नाम और थोड़े से आमोद-प्रमोदों को छोड़ कर प्रायः प्रत्येक देव-आवास के वर्णन की शैली और मूल भावना एक ही है। कोई देवता किसी आवास-विशेष में आमोद-प्रमोद करता हुआ दिखाई पड़ता है। उसे देख कर कोई भिक्षु (मोग्गल्लान) उससे पूछता है "हे देवते! तू सुन्दर वर्ण से युक्त है। अपने शुभ वर्ण से तू शुक्र-तारा के समान सारी दिशाओं को आलोकित कर रहा है। मनुष्यों को प्रिय लगने वाले सारे भोग तुझे प्राप्त हैं। हे महानुभाव देवते! मैं तुझसे पूछता हूँ—मनुष्य होते हुए तूने क्या पुण्य किया था जिसके फलस्वरूप तुझे ये सब भोग मिले—"पुच्छामि तं देवि महानुभावे मनुस्सभूता किमकासि पुञ्ञं.....यस्स कम्म-स्सिदं फलं।" देवता प्रसन्न होकर अपने मनुष्य रूप में किए हुए पुण्यादि का वर्णन करता है—"महानुभाव भिक्षु! सुन, मैं तुझे अपने मनुष्य-रूप में किए हुए पुण्य को बतलाता हूँ। प्राणि-हिंसा से विरत, मृषावाद से विरत, संयत, सदा शील से संवृत हो कर मैं चक्षुष्मान्, यशस्वी, गौतम का उपासक था..... इसी कारण मेरा यह शुभ वर्ण है। इसी कारण मैं दिशाओं को आलोकित कर रहा हूँ।" सब वर्णनों की प्रायः यही बानगी है। बौद्ध धर्म में जन-साधारण के लिए जिस नीति-विधान का आदर्श रक्खा गया है, उसी का दिग्दर्शन ये करते हैं। अधिक काव्यमय नवीनता इनमें न होते हुए भी वे केवल उन नैतिक गुणों को, जिन्हें बौद्ध धर्म में सद्गृहस्थों के लिए साधारणतः आदरणीय माना गया है, बार-बार हमारी स्मृति में अंकित करने का प्रयत्न करते हैं। आज इससे अधिक विमान-वत्थु के वर्णनों का महत्व हमारे लिये नहीं माना जा सकता। उनकी पौराणिक पृष्ठभूमि तो निश्चय ही बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास की सूचक है, अतः उसे बुद्ध-शासन का उतना आवश्यक अंग मानने की गलती नहीं करनी चाहिए। काव्यात्मक गुण भी उनके अन्दर अधिक नहीं है। 'पेतवत्थु' में ५० प्रेतों की कहानियाँ हैं, जिन्हें ४ भागों में विभक्त किया गया है, यथा (१) पेतवत्थु, (२) उरग पेतवत्थु, (३) उब्बरी पेतवत्थु और (४) धातु-विवण्ण पेतवत्थु। 'पेतवत्थु' में प्रेतों की कहानियों के द्वारा यह दिखाया गया है कि किस-किस दुष्कर्म

के कारण परलोक में क्या-क्या दुःख भोगने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए एक प्रेत की कथा देखिए। भिक्षु नारद किसी प्रेत से पूछते हैं—"तेरी सम्पूर्ण काया शुभ्र है। तू सारी दिशाओं को अपने कान्त वर्ण से आलोकित भी कर रहा है। किन्तु तेरा मुख शूकर का है। तूने पूर्व जन्म में क्या कर्म किया था ?"[१] प्रेत उत्तर देता है, "नारद ! मैं काया से संयत था, किन्तु वाणी से असंयत था। इसीलिये नारद ! मेरा यह ऐसी अवस्था है जिसे तू देखता है। हे नारद ! जैसा तुमने स्वयं देखा है, मैं भी तुम्हें कहता हूँ—मुख से पाप न करना, ताकि तुम्हें भी कहीं शूकर के समान मुख वाला न होना पड़े।"[२] इस प्रकार शुभ कर्म का परिणाम मरने के बाद शुभ और अशुभ कर्म का अशुभ होता है, इसी नैतिक सत्य को क्रमशः 'विमानवत्थु' और 'पेतवत्थु' में दिखलाया गया है।

कुछ प्रासंगिक भौगोलिक और ऐतिहासिक महत्त्व की बातें भी विमानवत्थु और पेतवत्थु में आई हैं। उदाहरणतः विमानवत्थु में 'सेरिस्सक-विमान' के वर्णन से पता चलता है कि प्राचीन काल में अंग-मगध देशों के व्यापारी सिन्धु-सौवीर तक व्यापार के लिए जाते थे।

थेरगाथा[३] और थेरीगाथा[४]

थेरगाथा और थेरीगाथा खुद्दक-निकाय के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन दो

---

१. कायो ते सब्बसोवण्णो सब्बा ओभासते दिसा। मुखं ते सूकरास्स एव किं कम्मं अकरी पुरे।

२. कायेन सञ्ञतो आसि वाचायासि असञ्ञतो। तेन मे तादिसो वण्णो यथा पस्ससि नारद।
तं त्याहं नारद ब्रूमि सायं दिट्ठं इदं तया। मा कासि मुखसा पापं मा खो सूकर-मुखो अहू ति। पेतवत्थु (खेत्तूपमा पेतवत्थु)

३.४. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप ने इन दोनों ग्रन्थों का सम्पादन देवनागरी लिपि में किया है, जिसे भिक्षु उत्तम ने बुद्धाब्द २४८१ (१९३७ ई०) में प्रकाशित किया है। थेरगाथा के विवेचन में मैंने उद्धरण इसी संस्करण से दिये हैं। प्रोफेसर भागवत ने भी थेरगाथा का सम्पादन नागरी लिपि में किया है, जिसे बम्बई विश्वविद्यालय ने सन् १९३७ में प्रका-

ग्रन्थों में क्रमशः बुद्धकालीन भिक्षु और भिक्षुणियों के पद्य-बुद्ध जीवन-संस्मरण हैं।[1] थेरगाथा में २६४ ('द्वे सता सट्ठि चत्तारो च') भिक्षुओं के उद्‌गार हैं, जब कि थेरी-गाथा में ७३[2] भिक्षुणियों के। थेरगाथा में १२७९ गाथाएँ (पालि श्लोक) हैं, जो २१ निपातों (वर्गों) में विभक्त है। थेरीगाथा में ५२२ गाथाएँ हैं, जो १६ निपातों में विभक्त हैं। वास्तव में थेरगाथा से थेरीगाथा अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, क्योंकि यहाँ भिक्षुणियों की आत्मीयता और यथार्थवादिता अधिक स्पष्ट झलकती है। थेरगाथा में अन्तर्जगत् के अनुभवों की बहुलता है, जबकि थेरीगाथा में वैयक्तिक ध्वनि प्रधान है। थेरगाथा में सुरम्य प्राकृतिक वर्णनों की अधिकता है। भिक्षुओं के ध्यान के प्रसंग में ये वर्णन वहाँ स्वभावतः आ गए हैं। किन्तु भिक्षुणियों ने अपने जीवन की वास्तविक परिस्थितियों पर ही अधिक पर्यवेक्षण किया है। दोनों के ही उद्‌गारों में जीवन के करुण पक्ष के अनुभव की अधिक अभिव्यक्ति है। फिर भी वहाँ निराशा नहीं है। बुद्ध-शासन का अवलम्बन पा कर दोनों ने ही उस गम्भीर और शान्त सुख का स्पर्श किया है, जो जीवन की विषमताओं और कटुताओं को घोल डालता है और उन पर मनुष्य की विजय का सूचक बनता है। किसी-किसी भिक्षु के शब्दों

शित किया है। थेरीगाथा के विवेचन में मैंने उद्धरण इस संस्करण से दिये हैं। थेरगाथा का हिन्दी अनुवाद भिक्षु धर्मरत्न ने किया है, जिसे महाबोधि सभा ने सन् १९५५ (बुद्धाब्द २४९९) में प्रकाशित किया है। भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित होकर श्री नालन्दा संस्करण में खुद्दक-निकाय-पालि, जिल्द दूसरी, में थेर-थेरी गाथाएँ, विमानवत्थु और पेतवत्थु के साथ हैं। सन् १९५९ में प्रकाशित 'थेरीगाथा' का अनुवाद (परमत्थदीपनी के आधार पर भिक्षुणियों की जीवनियों के सहित) लेखक ने किया है, जो सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, द्वारा सन् १९५० में प्रकाशित हो चुका है।

१. केवल थेरगाथा की गाथाएँ १६९-७० तथा ५३८-५४६ अपवाद हैं। अट्ठकथा के अनुसार ये क्रमशः अशोक के अनुज वीतसोक और तिस्स कुमार की रचनाएँ हैं।

२. कुछ गाथाएँ एक से अधिक भिक्षुणियों की सम्मिलित रचनाएँ बताई गई हैं। यदि उन भिक्षुणियों की अलग-अलग गिनती करें, तो यह संख्या लगभग १०० हो जायगी।

में नारी के प्रति विरक्त भाव भी है। इसी प्रकार किसी-किसी भिक्षुणी ने पुरुष के द्वारा उस पर किये गए अत्याचार का भी दुःखपूर्वक स्मरण किया है। मानव-जीवन की ये सामान्य विषमताएँ हैं। इनसे हमें किसी विशेष सिद्धान्त को यहाँ निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अब हम थेर और थेरी गाथाओं से कुछ उद्धरण दे कर उनकी विषय-वस्तु की विशेषताओं को स्पष्ट करेंगे। स्थविर माणव अपने अनुभव का वर्णन करते हुए कहते हैं—मैंने वृद्ध, दुःखी, व्याधि से मारे हुए, समाप्त आयु-संस्कार वाले, पुरुष को इन आँखों से देखा। बस इन (दुःखों) से निष्क्रमण पाने के लिए मैंने सारे मनोरम भोगों को छोड़ कर प्रव्रज्या ले ली।"[१] स्थविर वीतसोक (वीतशोक) का अनुभव भी मार्मिक है, "मेरे बाल बनाने के लिये नाई मेरे पास आया। उसके हाथ से दर्पण लेकर मैं अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण करने लगा। काया की तुच्छता को मैंने देखा। मेरा अन्धकार वहीं विदीर्ण हो गया! अहंकार के सारे वस्त्र फाड़ डाले गये। सारे आवरणों से मैं अब विमुक्त हो गया! अब मेरे लिए पुनर्जन्म होना नहीं है।"[२] एक विषयी पुरुष बुद्ध-शासन को सुन कर किस प्रकार प्रव्रजित हो गया है, यह स्थविर नन्द के शब्दों में सुनिये, "बुरे चिन्तन में लगा हुआ मैं पहले इस काया के शृंगार-साधन में लगा रहता था। मैं उद्धत था, चपल था, एवं काम-वासना से बुरी तरह व्यथित था। सौभाग्यवश आदित्य-बन्धु भगवान् बुद्ध ने, जो मेरे जैसों का उपाय करने में कुशल हैं, अपने उपदेश से मुझे सत्पथ पर लगा दिया। अब संसार से मेरा चित्त अनासक्त हो चुका है।"[३] स्थविर सिरिमा (श्रीमान्) का गम्भीर अनासक्त भाव देखिये, "चित्त समाधि-मग्न नहीं है और दूसरे इसकी प्रशंसा करते हैं। यदि चित्त समाधि-मग्न नहीं है, तो दूसरों की प्रशंसा व्यर्थ ही है। चित्त अच्छी प्रकार समाधि-मग्न है और

---

१. जिण्णञ्च दिस्वा दुक्खितञ्च ब्याधितं मतञ्च दिस्वा गतमायुसंखयं। ततो अहं निक्खमितून पब्बजिं पहाय कामानि मनोरमानि॥ गाथा ७३

२. केसे मे ओलिखिस्सन्ति कप्पको उपसंकमि। ततो आदासं आदाय सरीरं पच्चवेक्खिसं। तुच्छो कायो अदिसित्थ, अन्धकारे तमो व्यगा। सब्बे चोला समुच्छिन्ना नत्थि दानि पुनब्भवो' ति"॥ गाथाएँ १६९-१७०

३. अयोनिसो मनसीकारा मण्डनं अनुयुञ्जिसं। उद्धतो चपलो चासिं कामरागेन अट्ठितो। उपायकुसलेनाहं बुद्धेनादिच्चबन्धुना। योनिसो पटिपज्जित्वा भवे चित्तं उदब्बहिन्ति॥ गाथाएँ १५७-१५८

दूसरे इनकी निन्दा करते हैं। यदि चित्त अच्छी प्रकार समाधि-मग्न है, तो दूसरे की निन्दा व्यर्थ ही है।"[१]

वस्तुतः 'थेरगाथा' की दो बड़ी विशेषताएँ हैं, भिक्षुओं के आन्तरिक अनुभव का वर्णन और उनका प्रकृति-दर्शन। भिक्षुओं ने संस्कारों की अनित्यता को देख कर सांसारिक जीवन से वैराग्य लिया है। चित्त की शान्ति ही उसके लिए सबसे बड़ा सुख है। जीवन के प्रति न उनमें उत्सुकता है और न विषादमय दृष्टिकोण। वे केवल शान्त और गम्भीर हैं। अनासक्ति उनके जीवन का मुख्य लक्षण है। जिन्होंने विषयों को वमन के समान छोड़ दिया है, सुख-दुःख जिनके लिए अर्थहीन हो गए हैं, शीत और उष्ण जिनके लिए समान हैं, ऐसे साधकों की मानसिक दशाओं का वर्णन ही हमें 'थेरगाथा' में मिलता है। भिक्षु-जीवन के आदर्श को धर्मसेनापति सारिपुत्र ने सदा के लिए स्मरणीय शब्दों में व्यक्त करते हुए अपने विषय में कहा है:—

नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं।
कालञ्च पटिकंखामि सम्पजानो पटिस्सतो॥
नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं।
कालञ्च पटिकंखामि निब्बिसं भतको यथा॥[२]

"न मुझे मरने की इच्छा है, न जीने की अभिलाषा। ज्ञानपूर्वक सावधान हो मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। न मुझे मरने की इच्छा है, न जीने की अभिलाषा। काम करने के बाद अपनी मजूरी पाने की प्रतीक्षा करने वाले दास के समान मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

---

१. परे च नं पसंसन्ति अत्ता चे असमाहितो। मोघं परे पसंसन्ति अत्ता हि असमाहितो॥
परे च नं गरहन्ति अत्ता चे सुसमाहितो। मोघं परे गरहन्ति अत्ता हि सुसमाहितो॥ गाथाएँ १५९-१६०

२. गाथाएँ १००२-१००३; स्थविर संकिच्च ने भी इन भावों की पुनरावृत्ति की है, गाथाएँ ६०६-६०७ और अंशतः स्थविर निसभ ने भी, गाथा १९६; मिलिन्दप्रश्न में भी इन गाथाओं को उद्धृत किया गया है। देखिये मिलिन्द प्रश्न, पृष्ठ ५५ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

धर्मसेनापति सारिपुत्र के परिनिर्वाण पर महामोग्गल्लान स्थविर ने संस्कारों की अनित्यता पर जो भाव प्रकट किये हैं, वे भगवान् के उन महाशिष्य के हृदय के अन्तस्तल तक हमें ले जाते हैं। 'अनिच्चा वत संखारा' का उद्गार करते हुए महा-मोग्गल्लान स्थविर कहते हैं—

तदासियं भिसनकं तदासि लोमहसनं।
अनेकाकारसम्पन्ने सारिपुत्तम्हि निब्बुते॥[1]

यह भीषण हुआ, यह रोमांचकारी हुआ। अनेक ध्यान-समापत्तियों से सम्पन्न सारिपुत्र परिनिर्वृत्त हो गये!

भिक्षुओं ने स्त्री के कामिनी-रूप पर विजय प्राप्त की है। उसके प्रलोभनों में वे नहीं आ सकते, ऐसा उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कहा है।[2] एक अलंकृता, सुवसना, मालाधारिणी, चन्दन लेप किये हुए नर्तकी को महापथ के बीच में नृत्य-गान करते हुए भिक्षु (नागसमाल) ने देखा है। उसी समय उसने वासना के दुष्परिणाम पर चिन्तन किया है, अशुभ-भावना की है, और इस प्रकार अपने चित्त को विमुक्त किया है।[3] स्त्री के रूपादि की आसक्ति को भिक्षुओं ने सब दुःख का कारण माना

---

१. गाथाएँ ११५८-११५९।

२. सचे पि एत्तका भिय्यो आगमिस्सन्ति इत्थियो।
नेव मं ब्याधियिस्सन्ति धम्मे स्वम्हि पतिट्ठितो॥गाथा, १२११

३. अलंकता सुवसना मालिनी चन्दनुस्सदा।
मज्झे महापथे नारी तुरिये नच्चति नट्टकी॥गाथा, २६७
.....
ततो मे मनसीकारो.....ततो चित्तं विमुच्चि मे॥२६९-७०; मिलाइये गाथाएँ ४५९-४६५ भी जहाँ 'पैरों में महावर लगाये हुए' (अल-त्तककता पादा) सुवसना, अलंकृता, स्मित करती हुई वेश्या ने भिक्षु के सामने गृहस्थ-जीवन में प्रवेश का प्रस्ताव रक्खा है 'अहं वित्तं ददामि ते' (मैं तुझे धन देती हूँ) यह कहते हुए, पर भिक्षु ने उसे मृत्यु का पाश समझ कर अशुभ की भावना की है और सत्य का साक्षात्कार किया है। 'काम-वासना में दुष्परिणाम देख कर मैंने चित्तमल-रहित अवस्था को प्राप्त कर लिया" (कामेस्वादीनवं.....पत्तो मे आसवक्खयो—गाथा ४५८); मिलाइये

है।[१] श्मशान में स्त्री के सड़ते हुए शरीर को कृमि आदि से खाये जाते हुए देख कर स्थविर कुल्ल ने उसके अनित्य और अशुभ रूप की भावना की है और सत्य का दर्शन किया है।[२] स्त्री की काया के ही नहीं, भिक्षुओं ने अपनी काया के भी अशुभ, तुच्छ रूप का दर्शन ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिए किया है।[३] एक भिक्षु (जेन्त) ने हमें बताया है कि भिक्षु होने से पहले वह एक राज-पुरोहित का पुत्र था और जाति-मद, भोग और ऐश्वर्य के मद से मतवाला रहता था, किन्तु अब उसका सब मान, मद और अस्मिमान छूट चुका है और वह प्रसन्न और शान्त है।[४] इसी प्रकार एक अन्य भिक्षु (भद्दिय) ने हमें बताया है कि पहले राजा होते समय किस प्रकार उसके हाथी की ग्रीवाओं में सूक्ष्म वस्त्र लटकते थे, पर वही आज परिग्रह-रहित सुख से ध्यान करता है। उच्च मंडलाकार दृढ़ अट्टालिकाओं और कोठों में वह पहले हाथ में खड्ग धारण किये सिपाहियों और पहरेदारों द्वारा रक्षित होते हुए भी त्रासपूर्वक सोता था, पर आज वही बिना किसी त्रास के, सम्पूर्ण भयों से विमुक्त होकर, वन में प्रवेश कर ध्यान करता है।[५] एक दूसरे भिक्षु (सुनीत) ने हमें बताया है कि वह

"अंकेन पुत्तमादाय भरिया मं उपागमि.....ततो मे मनसीकारो..... ततो चित्तं विमुच्चि मे", आदि गाथाएँ २९९-३०१ भी

१. इत्थिरूपे इत्थिरसे फोट्ठब्बे पि च इत्थिया। इत्थिगन्धेसु सारतो विविधं विन्दते दुखं॥ गाथा ७३८। यह स्थविर पारापरिय ने कहा है।

२. अपविद्धं सुसानस्मिं खज्जन्ति किमिहो फुटं। ३९३
आतुरं असुचिं पूतिं पस्स कुल्ल समुस्सयं। गाथा ३९४, मिलाइये 'धिरत्थु पूरे दुग्गन्धे...' आदि, गाथा २७९ तथा गाथा ११५० भी।

३. स्थविर कुल्ल ने कहा है, 'धम्मादासं गहेत्वान ञाणदस्सनपत्तिया। पच्चवेक्खिं इमं कायं तुच्छं सन्तरबाहिरं।" गाथा ३९५। इसका अर्थ है "धर्म रूपी दर्पण लेकर मैंने ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिये इस तुच्छ शरीर पर मनन किया, जैसा कि यह अन्दर और बाहर है।"

४. जाति मदेन मत्तोहं भोगेस्सरियेन च।.....मानं मदञ्च छड्डेत्वा विप्पसन्नेन चेतसा। अस्मिमानो समुच्छिन्नो सब्बे मानविधा हता॥४२३-४२८

५. या तं मे हत्थिगीवाय सुखुमा वत्था पधारिता।
सोज्ज भद्दो ञायति अनुपदानो.....

पहले नीच कुल में उत्पन्न हुआ था। दरिद्र था और भोजन भी नहीं पाता था। उसका कर्म हीन था। वह मैले और कूड़े करकट को फेंकने वाला था। भंगी था। अपने मन को नीचा कर के वह अनेक मनुष्यों की वन्दना करता था। एक दिन भिक्षु-सघ के साथ मगध के उत्तम नगर (राजगृह) में प्रवेश करते हुए भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को उसने देखा। वह उस समय सड़क साफ कर रहा था। झाड़ू को छोड़कर भगवान् की वन्दना करने चला। पुरुषोत्तम (बुद्ध) उस पर कृपा करके स्वयं उसके लिए खड़े हो गए। सुनीत ने वन्दना की और प्रव्रज्या याचना की। सर्वलोकानुकम्पक कारुणिक शास्ता ने उससे कहा "आ भिक्षु!" यही उसकी उपसम्पदा हुई। आज भिक्षु की यह हालत है कि इन्द्र और ब्रह्मा भी आकर अञ्जलि बाँध कर उसको प्रणाम करते हैं।[1] भिक्षुओं के आन्तरिक जीवन का एक अनूठा चित्र हमें स्थविर तालपुट के आत्मोद्गार में मिलता है। इस भिक्षु ने अपने चित्त को सम्बोधन कर कुछ महनीय उद्गार किए हैं, जिनकी तुलना समर्थ रामदास के 'मनाचे श्लोक' और गोस्वामी तुलसीदास के 'विनय-पत्रिका' के अपने मन को सम्बोधित अनेक पदों से अच्छी प्रकार की जा सकती है। वैसे तो तालपुट स्थविर द्वारा उच्चरित सभी

उच्चे मण्डलिपाकारे वल्लहट्टालकोट्ठके।
रक्खितो खग्गहत्थेहि उत्तसं विहरिं पुरे॥
सोज्ज भद्दो अनुत्रासी पहीनभयभेरवो।
झायति वनमोगह्य....." ८४२-८६४

१. नीचे कुलम्हि जातोहं दलिद्दो अप्पभोजनो।
हीनं कम्मं ममं आसि अहोसिं पुप्फछड्डको॥६२०

.....

नीचं मनं करित्वान वन्दिस्सं बहुकं जनं।६२१
अथ अद्दसासिं सम्बुद्धं भिक्खुसंघपुरक्खतं पविसन्तं महावीरं मगधानं पुरुत्तमं॥६२२
निक्खपित्वान व्याभंगि वन्दितुं उपसंकमिं।
ममेव अनुकम्पाय अट्ठासि पुरिसुत्तमो॥६२३
ततो कारुणिको सत्था सब्बलोकानुकम्पको। एहि भिक्खूति मं आह सा मे आसुपसम्पदा॥६२५
.....इन्द्रो ब्रह्मा च आगन्त्वा मं नमस्सिंसु पञ्जलि॥६२८

गाथाएँ (१०९१-११४५) उद्धरणीय हैं, परन्तु यहाँ स्थानाभाव से केवल कुछ का उद्धरण ही उपयुक्त होगा। स्थविर तालपुट अपने मन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं, "हे चित्त! जैसे फल की इच्छा करने वाला मनुष्य वृक्ष को लगाकर फिर उसकी जड़ को ही तोड़ने की इच्छा करे, उसी प्रकार हे चित्त! मुझको चल और अनित्य इस संसार में लगाकर तू वैसा ही करता है![1] .....हे चित्त! सर्वत्र ही तो मैंने तेरे वचन को किया है, अनेक पूर्व जन्मों में भी मैंने तुझे कभी कुपित नहीं किया। तू मेरे ही अन्दर से उत्पन्न है, इसलिए कृतज्ञतावश हे चित्त! मैंने तेरे लिए चिरकाल तक दुःख में संसरण किया है![2] हे चित्त! तू ही ब्राह्मण बनाता है और तू ही क्षत्रिय राजर्षि। हे चित्त! तेरे ही कारण वैश्य और शूद्र बनते हैं और देवत्व भी पाते हैं तेरे ही कारण! हे चित्त! तेरे ही कारण असुर बनते हैं, नरक-योनियाँ भी तेरे ही कारण हैं। हे चित्त! पशु-पक्षी की योनियाँ और पितरों की योनियों में भी तू ही डालता है।[3] धिक्! धिक्! रे चित्त! अब तू आगे क्या करना चाहता है। अब तू मुझे अपना वशवर्ती बना न सकेगा।"[4] यही भिक्षु आगे कामना करता है:—

कदा नु हं दुब्बचनेन वुत्तो ततो निमित्तं विमनो न हेस्सं।
अथो पसटठो पि ततो निमित्तं तुट्ठो न हेस्सं तदिदं कदा मे॥[5]

---

१. रोपेत्वा रुक्खानि यथा फलेसी मूले तरुं छेत्तु तमेव इच्छसि।
तथूपमं चित्त इदं करोसि यं मं अनिच्चम्हि चले नियुञ्जसि॥११२१

२. सब्बत्थ ते चित्त वचो कतं मया बहूसु जातिसु न मे सि कोपितो। अञ्ञत्र-सम्भवो कतञ्ञुताय ते दुक्खे चिरं संसरितं तया कते॥११२६

३. तवेव हेतू असुरा भवामसे, त्वं मूलकं नेरयिका भवामसे। अथो तिरच्छान गतापि एकदा पेतत्तनं वापि तवेव वाहसा॥११२८
त्वञ्ञेव नो चित्त करोसि ब्राह्मणो त्वं खत्तिया वापि राजविसी करोसि।
वेस्सा च सुद्दा च भवाम एकदा, देवत्तनं वापि तवेव वाहसा॥११२७

४. धी धी परं किं मम चित्त काहसि न ते अलं चित्त वसानुवत्तको।११३४;
मिलाइये.....नाहं अलं तुय्ह वसे निवत्तितुं॥११३२

५. गाथा ११००; मिलाइये तुलसीदास "कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।.... परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो। बिगतमान, सम सीतल मन....." विनय-पत्रिका।

अर्थात्—कब मैं अपने लिए प्रयुक्त दुर्वचनों को सुनकर उनके कारण दुःखी और उदासीन नहीं हूँगा, और इसी प्रकार अपनी प्रशंसा किये जाने पर उसके कारण प्रसन्न भी नहीं हूँगा—क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे? आदि, आदि।

अपने पुत्र भिक्षु को बुद्ध के साथ देखकर एक पिता भिक्षु (भारद्वाज) उसका अभिनन्दन करता है:—

जैसे पर्वत-गुफा में दो सिंह एक दूसरे को देखकर नाद करें, उसी प्रकार दोनों ज्ञानी एक दूसरे का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं—मार को सेना-सहित जीत कर हम दोनों वीरों ने संग्राम विजय किया है।[1]

अपने प्रव्रजित पुत्र (सानु) को देखकर माता विलाप करती है। पुत्र उसे समझाता हुआ कहता है—माता! मृत पुत्र के लिए माता रो सकती है, अथवा उस पुत्र के लिए भी जो जीवित होते हुए भी उसे दिखाई नहीं देता। माता! मैं तो जीवित हूँ और तू मुझे सामने देख भी रही है। फिर माता! मेरे लिए तू रोदन क्यों करे?

मतं वा अम्म रोदन्ति वो वा जीवं न दिस्सति।
जीवन्तं मं अम्म दिस्सन्ती कस्मा मं अम्म रोदसि॥[2]

पर्वत-गुफाओं में ध्यान करते हुए अनेक भिक्षुओं के चित्र हमें 'थेरगाथा' में मिलते हैं। पांशुकूल धारी (गुदड़ी धारी) भिक्षु पर्वत-गुफा में सिंह के समान सुशोभित है—'सोभति पंसुकूलेन सीहो व गिरिगब्भरे'।[3] इसी प्रकार भिक्षु की अचल, ध्यानस्थ अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है: जिस प्रकार सुदृढ़ पर्वत निश्चल और सुप्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार जिस भिक्षु का मोह नष्ट हो चुका है, वह अचल पर्वत के समान कम्पित नहीं होता।

यथापि पब्बतो सेलो अचलो सुपतिट्ठितो।
एवं मोहक्खया भिक्खु पब्बतो' व न वेधति॥[4]

---

१. नन्दन्ति एवं सप्पञ्ञा सीहा व गिरिगब्भरे।
वीरा विजितसंगामा जेत्वा मारं सवाहनं॥गाथा १७७

२. गाथा ४४

३. गाथा १०८१

४. गाथा १०००

इस प्रकार भिक्षु-जीवन के बाह्य और आन्तरिक रूप के अनेक चित्र हमें 'थेरगाथा' में मिलते हैं। उनके आन्तरिक अनुभवों और ध्यानी जीवन का पूरा परिचय हमें यहाँ मिलता है।

भिक्षुओं ने अपनी साधना में प्रकृति का कितना सहयोग लिया था, इसका भी पूरा दर्शन हमें 'थेरगाथा' में मिलता है। 'थेरगाथा' में इस प्रकार वन्य और पार्वत्य दृश्यों के तथा वर्षा और शरद् आदि ऋतुओं के जितने सुन्दर, संश्लिष्ट चित्र प्रसंगवश आ गये हैं, वे उसकी एक विभूति बन गये हैं। 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णन की तुलना भारतीय साहित्य में केवल वाल्मीकि के इस विषय-सम्बन्धी वर्णनों से की जा सकती है, बल्कि उससे भी अतीत यहाँ कुछ है। उसकी उदात्तता, सरलता और सूक्ष्म निरीक्षण सब अद्वितीय हैं। विण्टरनित्ज ने 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णनों को 'भारतीय गीति-काव्य के सच्चे रत्न' कहा है।[१] प्रस्तुत लेखक ने 'पालि साहित्य में प्रकृति-वर्णन' शीर्षक लेख में पालि साहित्य, विशेषतः 'थेरगाथा', में प्राप्त प्रकृति-वर्णन का विस्तृत विवेचन करते हुए भारतीय काव्य-साहित्य में उसके स्थान को निर्धारित किया है।[२] अतः यहाँ केवल संक्षेप से ही कुछ कहना उपयुक्त होगा।

भिक्षुओं का जीवन प्रकृति से गहरे रूप से सम्बद्ध था। गिरि-गुहा, नदी-तट, वन-प्रस्थ, पुआल-पुंज अथवा किसी छाई हुई या बिना छाई हुई ही[३] कुटिया में ध्यान करते हुए भिक्षुओं को वर्षा, शीत आदि ऋतुओं के परिवर्तन का और पृथ्वी और आकाश के अनेक रंगों और रूपों के परिवर्तन का साक्षात् अनुभव होता था। प्रकृति के अनेक रूपों की प्रतिक्रिया उनके चित्त पर कैसी होती है, इसके अनेक चित्र वे 'थेरगाथा' में हमारे लिए छोड़ गये हैं। उनमें से कुछ का अवलोकन करना यहाँ आवश्यक होगा।

मूसलाधार वर्षा हो रही है। ध्यानस्थ भिक्षु अपनी कुटिया में बैठा है। हाँ, उसकी कुटिया छाई हुई है। भिक्षु उद्गार करता है:

---

१. "The Real Gems of Indian Lyric Poetry" इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०६

२. देखिये लेखक की पुस्तक "बोधि-वृक्ष की छाया में", पृष्ठ ८६-१०४ (सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९६२ ई०)

३. वर्षा होनेवाली है। भगवान् मही (गंडक) नदी के तट पर खुली कुटिया (विवटा कुटि) में बैठे हैं। देखिये सुत्त-निपात, गाथा १९ (धनिय-सुत्त)

बरसो देव ! यथासुख बरसो !
मेरी कुटिया छाई हुई है।
वह शान्त और सुखकारी है।
मेरा चित्त समाधि में दृढ़तापूर्वक लीन है।
(कामासक्ति से) विमुक्त हो चुका है।
निर्वाण के लिए उद्योग चल रहा है।
बरसो हे देव ! यथा सुख बरसो।[१]

एक दूसरे भिक्षु ने इसी अनुभव को इनसे भी अधिक सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है।

सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !
मेरी कुटिया छाई हुई है !
वह शान्त और सुखकारी है !
उसमें शान्त-चित्त, ध्यानस्थ मैं बैठा हूँ।
बरसो हे देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो !

.....

सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !
मेरी कुटिया छाई हुई है !
वह शान्त और सुखकारी है !
उसमें शान्त-चित्त मैं ध्यान कर रहा हूँ !
वीत-राग ! वीत-द्वेष ! वीत-मोह !
बरसो हे देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो ![२]

---

१. छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथासुखं।
चित्तं मे सुसमाहितं विमुत्तं आतापी विहरामि वस्स देवा' ति। गाथा १.

२. वस्सति देवो यथा सुगीतं, छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता।
तस्सं विहरामि वूपसन्तो, अथ चे पत्थयसि पवस्स देव॥
वस्सति देवो यथा सुगीतं, छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता।
वीतरागो.....वीतदोसो...वीतमोहो...अथ चे
पत्थयसि पवस्स देवा' ति॥ गाथाएँ ३२५-३२९

वस्सति देवो यथा सुगीतं' (सुन्दर गीत के समान देव बरसता है!) कैसी सुन्दर उपमा है! प्राकृतिक सौन्दर्य का कैसा मनोज्ञ प्रत्यक्षीकरण है! झड़ी लगाकर बरसते हुए बादल के समान सुन्दर गीत की वर्षा के सौन्दर्य को भी देखने की क्षमता वीतराग भिक्षु में है। पर ध्यान का सुख तो इससे भी बड़ा है :

पञ्चङ्गिकेन तुरियेन न रति होति तादिसी।
यथा एकग्गचित्तस्स सम्मा धम्मं विपस्सतो॥[1]

"पञ्चविध तूर्यध्वनि (संगीत) से भी वैसा आनन्द प्राप्त नहीं होता, जैसा एकाग्र चित्त पुरुष का धर्म के सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होता है"। अतः ध्यान का सुख ही भिक्षु के लिए सब से बड़ा सुख है और प्राकृतिक सौन्दर्य उसके लिए इसी ध्यान का उद्दीपन बनता है।

वर्षाकाल है। सुन्दर नीली ग्रीवा वाले, कलँगीधारी मोर अपने सुन्दर मुखों से बोल रहे हैं। कितनी मधुर है उनकी कूजन! विस्तृत पृथ्वी चारों ओर हरियाली से भरी हुई है। सारी सृष्टि जल से व्याप्त है। आकाश में जल-पूरित कृष्ण मेघ छाये हुए हैं। ध्यान के लिए यह उपयुक्त अवसर है। भिक्षु को प्रसन्नता है कि उसका ध्यान अत्यन्त सुचारु रूप से चल रहा है। बुद्ध-शासन के अभ्यास में वह सुन्दर रूप से अप्रमादी है। यदि प्रकृति में उल्लास और उत्साह है, तो भिक्षु का मन भी सुन्दर है। उसे भी उत्साह होता है अत्यन्त पवित्र, कुशल, दुर्दर्श, उत्तम, अच्युत पद (निर्वाण) का साक्षात्कार करने के लिए। वर्षाकालीन सौन्दर्य के बीच ध्यानस्थ भिक्षु के इस पराक्रम को देखिये :

नन्दन्ति मोरा सुसिखा सुपेखुणा सुनीलगीवा सुमुखा सुगज्जिनो।
सुसद्दला चापि महा मही अयं सुब्यापितम्बु सुवलाहकं नभं॥
सुकल्लरूपो सुमनस्स झायितं सुनिक्खमो साधु सुबुद्धसासने।
सुसुक्कसुक्कं निपुणं सुबुद्धसं फुसाहितं उत्तममच्चुतपदं॥[2]

छत के नीचे बैठे हुए, मित्र परिजनादि से घिरे हुए, सांसारिक मनुष्य के समान वर्षा का सौन्दर्य केवल दूर से अवलोकन करने की वस्तु भिक्षु के लिए नहीं थी।

---

१. गाथा ३९८, मिलाइये गाथा १०७१ भी।
२. गाथाएँ २११-२१२

उसके लिए वर्षा अपने सम्पूर्ण आकर्षण और भय के साथ ही आती थी। उसके रौद्र रूप का भी वह उसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करता था जैसे उसके मधुर गीत के समान स्रवित होने का। अकेला ध्यानस्थ भिक्षु भयंकर गुफा में बैठा है। बादल बरस रहा है और आकाश में गड़गड़ा रहा है। भयंकर मूसलाधार वर्षा और आकाश में निरन्तर बिजली की गड़गड़ाहट ! पर भिक्षु को भय कहाँ ? निर्भयता उसका स्वभाव है, उसकी 'धम्मता' है। अतः उसे न भय है, न स्तम्भ है और न रोमांच ! स्थविर सम्बुल कच्चान के अनुभव को उनके शब्दों में ही सुनिये :

देवो च वस्सति देवो च गळगळायति
एकको चाहं भेरवे बिले विहरामि।
तस्स मय्हं एककस्स भेरवे बिले विहरतो
नत्थि भयं वा छम्भितत्तं वा लोमहंसो वा॥
धम्मता ममेसा यस्स मे एककस्स
भेरवे बिले विहरतो नत्थि भयं वा
छम्भितत्तं वा लोमहंसो वा॥[1]

भिक्षुओं की वृत्ति वर्षाकालीन प्राकृतिक सौन्दर्य और विशेषतः ध्यान के लिए उसकी उपयुक्तता पर बहुत रमी है। सुन्दर ग्रीवा वाले मोरों का बोलना और एक दूसरे को बुलाना भिक्षुओं के लिए ध्यान का निमंत्रण है। शीत वायु में कलित विहार करते हुए मोर भिक्षु को ध्यान के लिए उद्बोधन करते हैं :

नीला सुगीवा मोरा कारंडियं अभिनदन्ति।
ते सीतवातकलिता सुत्तं झायं निबोधेन्ति॥[2]

"नीले रंग के, सुन्दर ग्रीवा और शिखा वाले मोर करवीय वन में गाते हैं। शीतल वायु में प्रफुल्लित होकर मधुर गीत गाने वाले ये मोर सोये हुए भिक्षु को

---

१. गाथाएँ १८९-१९०; निर्भयता विहार के लिए देखिये स्थविर न्यग्रोध का उद्गार भी "नाहं भयस्स भायामि सत्था नो अमतस्स कोविदो। यत्थ भयं नावतिट्ठति तेन मग्गेन वजन्ति भिक्खवो॥ गाथा २१

२. गाथा २२

ध्यान के लिये जगाते हैं।" इसी प्रकार सप्पक स्थविर का भी वर्षाकालीन सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त कर अजकर्णी नदी (रापती की एक सहायक नदी) के समीप ध्यान करने का संकल्प कितना उदात्त है :

जब स्वच्छ पांडुर पंख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत होकर अपनी खोहों की खोज करते हुए उड़ते हैं। उस समय यह अजकर्णी नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है !

जब स्वच्छ पांडुर पंख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत होकर अपनी खोहों की खोज करते हुए उड़ते हैं,

और उनकी खोहें वर्षा के अन्धकार से ढँकी हुई हैं ! उस समय यह अजकर्णी नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है !

इस नदी के दोनों ओर जामुन के पेड़ हैं, यहाँ मेरा मन कैसे न रमेगा ? महामार्ग के पीछे, नदी के किनारे पर, अन्य अनेक निर्झरिणियाँ सुशोभित हैं। साँपों के भय से विमुक्त मेंढक मृदुल नाद कर रहे हैं।

आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है।

यह नदी कितनी सुरम्य, शिव और क्षेमकारी है।[1]

'नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो' ('आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है') इस उद्‌गार में भिक्षु ने प्रकृति-प्रेम की उस पूरी निष्ठा को रख दिया है, जो आज तक विश्व-साहित्य में कहीं भी व्यक्त हो सकी है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच एकान्त ध्यान करते हुए जो आनन्द प्राप्त होता है,

---

१. यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं॥
यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
परियेसतिलेन मलेन वस्सिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं॥
कम्नु तत्थ न रमेन्ति जम्बुयो उभतो तहिं, सोभेन्ति आपगा
कूलं महालेनस्स पच्छतो॥
तामतमदसं घसुप्पहीना भेका मन्दवती पनावयन्ति
नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो,
खेमा अजकरणी सिवा सुरम्माति॥गाथाएँ. ३०७-३१०

उससे अधिक आनन्द और कुछ नहीं है, ऐसा साक्ष्य देते हुए एक स्थविर साधक (भूत) ने प्रभावशाली शब्दों में कहा है :

जब आकाश में मेघों की दुन्दुभी बजती है और पक्षियों के मार्गों में चारों ओर धाराकुल बादल चक्कर लगाते हैं;

उस समय भिक्षु पहाड़ पर जाकर ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।

जब नदी-तट के वृक्ष नाना रंग-बिरंगे पुष्पों से भरे हैं, उस समय...

किनारे पर बैठ कर सुन्दर मन वाला भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।

जब एकान्त वन में, अर्द्ध रात्रि में, बादल गड़गड़ा रहे हैं और हाथी चिंघाड़ रहे हैं,

उस समय पर्वत पर बैठा हुआ भिक्षु ध्यान करता है--इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है![1]

इसी परमानन्द को प्राप्त करने के लिए एक भिक्षु गिरिव्रज जाने को इच्छुक है।

अहो! कब मैं बुद्ध द्वारा प्रशंसित वन को जाऊँगा!
.....
योगियों के लिये प्रसन्नताकारी, मत्त कुंजरों से सेवित,
रमणीय, उस वन में मैं कब प्रवेश करूँगा!
उस सुपुष्पित शीत वन (राजगृह के समीप श्मशान-वन)
में, गिरि और कन्दराओं में,
अपने गात्र को सिंचित कर कब मैं अकेला चंक्रमण करूँगा।

---

१. यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि धाराकुला विहंगपथे समन्ततो।
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥
यदा नदीनं कुसुमाकुलानं विचित्तवानेय्यवटंसकानं।
तीरे निसिन्नो सुमनो व झायति ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥
यदा निसीथे रहितम्हि कानने वेवे गळन्तम्हि नदन्ति वाठिनो।
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥
गाथाएँ ५२२-५२४

अकेला, बिना साथी के, उस रमणीय महावन में,
एकान्त, शीतल, पुष्पों से आच्छादित पर्वत पर,
विमुक्ति-सुख से सुखी मैं गिरिव्रज में कब विचरण करूँगा ![1]

एक दूसरे स्थविर (तालपुट) की भी इस इच्छा को देखिए :

कब मैं अकेला, बिना किसी साथी के, (गिरिव्रज के) पर्वत-कन्दराओं में ध्यान करता हुआ विचरूंगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?[2]

कब मैं एकान्त वन में विदर्शना भावना का अभ्यास करता हुआ निर्भय विचरूँगा। क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयँगे ?[3]

कब मैं वन के उन मार्गों पर जिन पर ऋषि (बुद्ध) चले, चलूंगा और वर्षा काल के मेघ नये जल की वृष्टि चीवर पहने हुए मुझ पर करेंगे ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?[4]

कब मैं वन और गिरि-गुहाओं में कलँगीधारी मयूर पक्षियों की मधुर ध्वनि को सुनकर अमृत की प्राप्ति के लिए जागरूक होकर ध्यान करूँगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?[5]

फिर अपने मन को सम्बोधन कर भिक्षु कहता है :

---

१. हन्द एको गमिस्सामि अरञ्ञं बुद्धवण्णितं। गाथा ५३८
योगिपीतिकरं रम्मं मत्तकुञ्जरसेवितं।५३९
सुपुप्फिते सीतवने सीतले गिरिकन्दरे।
गत्तानि परिसिञ्चित्वा चंकमिस्सामि एकको॥५४०
एकाकियो अदुतियो रमणीये महावने।५४१
विने कुसुमसञ्छन्ने पब्भारे नून सीतले।
विमुत्तिसुखेन सुखितो रमिस्सामि गिरिब्बजे॥५४५

२. कदा नु हं पब्बतकन्दरासु एकाकियो अदुतियो विहस्सं।.....तं मे इदं तं नु कदा भविस्सति॥१०९१

३. विपस्समानो वीतभयो विहस्सं एको वने तं नु कदा भविस्सति॥१०९३

४. कदा नु मं पावुसकालमेघो नवेन तोयेन सचीवरं मे। इसिप्पयातम्हि पथे वजन्तं ओवस्सते तं नु कदा भविस्सति॥११०२

५. कदा मयूरस्स सिखण्डिनो वने द्विजस्स सुत्वा गिरिगब्भरे रुतं। पच्चुट्ठहित्वा अमतस्स पट्टिया संचिन्तये तं नु कदा भविस्सति॥११०३॥

हे चित्त ! उस गिरिव्रज में अनेक विचित्र और रंग-बिरंगे पंखधारी पक्षी हैं। सुन्दर नीली ग्रीवा वाले, सुन्दर शिखा वाले, सुन्दर चौंच वाले, सुन्दर पंखों वाले, मोर हैं। मेघ के मंजुल घोष को सुनकर उसका अभिनन्दन करते हुए वे नित्य ही मंजुल ध्वनि करते हैं। हे चित्त ! जब तू ध्यानी होकर वहाँ विचरेगा, तो ये तुझे कितने प्रीतिकर होंगे ![१]

नये वर्षाजल से सिक्त कानन में, किसी गुहा-गृह में ध्यान लगाते हुए[२]...मयूर और क्रौंच के रव से पूरित उस वन में, तेंदुओं और व्याघ्रों के सामने बसते हुए,[३] हे चित्त ! तुझ ध्यानी को ये कितने प्रीतिकर होंगे।[४]

एक दूसरे ध्यानी भिक्षु (महाकाश्यप) को भी पर्वत कितने प्रिय हैं !

करेरि-वृक्षों की पंक्तियों से आपूर्ण, मनोरम भूमिभाग वाले,
कुंजरों से अभिरुद्ध, रमणीय—ये पर्वत मुझे प्रिय हैं !
नीले आकाश (या बादल) के समान वर्ण वाले, सुन्दर, शीतल जल
से परिपूर्ण, पवित्रताकारी...
हाथियों के शब्दों से परिपूर्ण—ये पर्वत मुझे प्रिय हैं !
मुझ ध्यानेच्छु, आत्मसंयमी, स्मृतिमान् भिक्षु के लिये पर्याप्त,
जिनकी रमणीय तलहटियों में अभी वर्षा होकर चुकी है,
ऋषियों से सेवित, मोरों के शब्दों से सदा निनादित,
ये पर्वत मुझे प्रिय हैं।
जहाँ स्वच्छ जल है, विस्तृत शिलाएँ हैं,
जो लंगूरों और मृगों से भरे हैं,
जहाँ शैवाल से आच्छादित जलाशय हैं,
ये पर्वत मुझे प्रिय हैं !

---

१. सुनीलगीवा सुसिखा सुपेखुणा सुचित्तपत्तच्छदना विहंगमा।
सुमञ्जुघोसत्थनिताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं ॥११३६
२. नवाम्बुना पावुससित्तकानने तहिं गुहागेहगतो रमिस्ससि।११३५
३. मयूरकोञ्चाभिरुदम्हि कानने दीपीहि ब्यग्घेहि पुरक्खतो वसं ॥१११३
४. ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं।११३६

अनेक पक्षि-समूहों से आकीर्ण—ये पर्वत मुझे प्रिय हैं।[1]

शीतकाल का पूरा आनन्द लेते हुए भी ध्यानी भिक्षुओं को हम 'थेरगाथा' में देखते हैं। चर्म-रोग से पीड़ित एक भिक्षु से जब भगवान् पूछते हैं कि :

हेमन्त की भयंकर शीतल रातें आ रही हैं,
हे भिक्षु ! तुम कैसे करोगे ?
तो वह उन्हें उत्तर देता है :

मैंने सुना है मगध-निवासी लोग शस्यों की पूर्णता से सम्पन्न हैं। उनका जीवन सुखी है। मैं भी उनके समान सुख अनुभव करता हूँ।

शीत की वे रातें मैं इस पुआल-पुंज में लेटकर बिताऊँगा।[2]

इसी प्रकार काल-उदायी ने 'चारों ओर मनोरम द्रुम फूले हुए हैं' (दुमानि फुल्लानि मनोरमानि—गाथा ५२८) आदि रूप से वसन्त ऋतु का वर्णन कर[3] 'कालो इतो पक्कमनाय वीर' ('हे वीर! यह यात्रा करने का समय है'), ऐसा

---

१. करेरिमालावितता भूमिभागा मनोरमा। कुञ्जराभिरुद्धा ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६२
नीलब्भवण्णा रुचिरा वारिसीता सुचिन्धरा।१०६३
वारणाभिरुदा ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६४
अलं झायितुकामस्स पहितत्तस्स मे सतो। १०६६
अभिवुट्ठा रम्मतला नगा इसिभि सेविता।
अब्भुन्नदिता सिखीहि ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६५
अच्छोदिका पुथुसिला गोनङ्गुलमिगायुता।
अम्बुसेवालसञ्छन्ना ते सेला रमयन्ति मं ॥१०७०
मिलाइये गाथा ६०१ भी, जो बिलकुल यही है और स्थविर संकिच्च के द्वारा उच्चरित की गई है।
नानाविजगणाकिण्णा ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६९

२. छविपापक चित्त भद्दक.....हेमन्तिक सीतकालरत्तियो भिक्खु त्वं सि कथं करिस्ससि ॥ सम्पन्नसस्सा मगधा केवला इति मे सुतं। पलालच्छन्नको सेय्यं यथञ्ञे सुखजीविनो ॥२०७-२०८

३. वसन्त ऋतु के सुन्दर वर्णन के लिए देखिये थेरीगाथा, गाथाएँ ३७१-३७२ भी।

बुद्ध से कह कर उनसे कपिलवस्तु चलने की प्रार्थना की थी, वह सब बुद्ध और उनके शिष्यों के प्रकृति-प्रेम का परिचायक ही है।

भगवान् ने मध्य रात्रि में उठ कर बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने का आदेश दिया है। भिक्षु की रात्रि ध्यान करने के लिये है। एक भिक्षु का कहना है :

न ताव सुपितं होति रत्ति नक्खत्तमालिनी।
पटिजग्गितुमेवेसा रत्ति होति विजानता॥[1]

यह ताराओं से भरी रात सोने के लिए नहीं है। ज्ञानी के लिए यह रात जाग कर ध्यान करने के लिए है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशेषतः वन्य और पार्वत्य प्रकृति के अनेक सुन्दर संश्लिष्ट चित्र हमें 'थेरगाथा' में मिलते हैं। वेस्सन्तर जातक (संख्या ५४७) में भी हमें हिमालय और उसके वनों के ऐसे अनेक चित्र मिलते हैं। महर्षि वाल्मीकि को छोड़कर ऐसे संश्लिष्ट वर्णन किसी प्राचीन या अर्वाचीन भारतीय कवि ने नहीं किये हैं। जितना शम और विराग इन प्राकृतिक वर्णनों में 'थेरगाथा' में मिलता है, उतना अन्य किसी काव्य में नहीं मिलता। विश्व-साहित्य में प्रकृति का वर्णन अधिकतर कवियों ने राग के उद्दीपन की दृष्टि से ही किया है। वाल्मीकि के समान उदात्त वर्णन करने वाले कवि बहुत कम हैं। हिन्दी के कवियों ने प्रायः संस्कृत के उत्तर-कालीन कवियों का अनुसरण कर प्रकृति को शृंगार रस के उद्दीपन के रूप में ही चित्रित किया है। आधुनिक कवि और साधकों को वाल्मीकि की ओर देखने के साथ-साथ रागशमनकारी 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णनों की ओर भी देखना चाहिये।

'थेरीगाथा', जैसा अभी कहा गया, ५२२ पालि श्लोकों (गाथाओं) का संग्रह है, जिसमें ७३ (या सामूहिक रूप से रचना करने वाली भिक्षुणियों की अलग-अलग गिनती कर लगभग १००) बौद्ध भिक्षुणियों के उद्गार सन्निहित हैं। अत्यन्त संगीतात्मक भाषा में, आत्माभिव्यञ्जनात्मक गीतिकाव्य की शैली के आधार पर अपने जीवनानुभवों को व्यक्त करते हुए यहाँ बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन-काव्य को गाया है। नैतिक सच्चाई, भावनाओं की गहनता और सब से बढ़कर एक

---

१. गाथा १९३

२. मिलाइये, "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" गीता २।६९

अपराजित वैयक्तिक ध्वनि, इन गीतों की मुख्य विशेषताएँ हैं। निर्वाण की परम शान्ति से भिक्षुणियों के उद्‌गारों का एक-एक शब्द उच्छ्वसित है। यहाँ संगीत भी है और जीवन का सच्चा दर्शन भी। निर्वाण की परम शान्ति का वर्णन करते हुए भिक्षुणियाँ कभी थकती नहीं। जीवन की विषमताओं पर वे अपनी विजय का ही गीत गाती हैं। "अहो! मैं कितनी सुखी हूँ!" यही उनके उद्‌गारों की प्रतिनिधि ध्वनि है। बार-बार उनका यही प्रसन्न उद्‌गार होता है "सीतिभूतम्हि निब्बुता" अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर मैं परम शान्त हो गई, निर्वाण की परम शान्ति का मैंने साक्षात्कार कर लिया। भिक्षुणियों की गाथाओं में निराशावाद का निराकरण है, साधनालब्ध इन्द्रियातीत सुख का साक्ष्य है और नैतिक ध्येयवाद की प्रतिष्ठा है। बुद्ध-शासन की भावना से ओतप्रोत हैं, यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं। बुद्ध की शरण लेने के बाद एक नये जीवन—जीवन के एक नये रूपान्तर—की सर्वत्र सूचना भिक्षुणियों के उद्‌गारों में हमें मिलती है। 'थेरीगाथा' की भावना-शैली से परिचित होने के लिये महापजापती गोतमी (महाप्रजावती गौतमी) की भगवान् बुद्ध के प्रति यह श्रद्धाञ्जलि देखिये—

हे बुद्ध! हे वीर! हे सर्वोत्तम प्राणी! तुम्हें नमस्कार!
जिसने मुझे और अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से उबारा।
मेरे सब दुःख दूर हो गये, मुझे पता चल गया कि दुःख कैसे आते हैं, उनके मूल कारण तृष्णा को मैंने अपने अन्दर सुखा डाला है।
आज मैंने दुःखनिरोध-गामी आर्य अष्टांगिक मार्ग को स्पर्श किया है, उस में विचरण किया है।
माता, पुत्र, पिता, भाई, स्वामिनी, मैं पूर्व जन्मों में अनेक बार बनती रही! यथार्थ रूप में वस्तुओं को न जानती हुई मैं लगातार संसार में घूमती रही! मुझे वह कभी नहीं मिला, जिसकी मुझे आवश्यकता थी। अब मैंने इस जन्म में उन भगवान् (बुद्ध) के दर्शन किये, मुझे अनुभव हुआ—यह मेरा अन्तिम शरीर है!
मेरा आवागमन क्षीण हो गया, अब मेरा फिर जन्म होना नहीं है।

. . . . . .

अहो! बहुतों के हित के लिये ही महामाया ने गौतम को जना!
जिसने व्याधि और मरण से पीड़ित जन-समूह के दुःख-पुंज को काट दिया!

एक अन्य भिक्षुणी (चन्दा) अपने पूर्व के दुःख-मय जीवन का प्रत्यवेक्षण करती हुई कहती है—

विधवा और निःसन्तान—मैं पहले बड़ी मुसीबत में पड़ी थी,
मित्र-साथी मेरे कोई नहीं थे, जाति-बन्धु मेरे कोई नहीं थे !
भोजन और वस्त्र भी मैं नहीं पाती थी !
लकड़ी और भिक्षापात्र लेकर घर से घर भिक्षा माँगती फिरती थी,
गर्मी और सर्दी से व्याकुल हुई, मैं सात वर्ष तक इसी प्रकार घूमती रही,
एक दिन एक भिक्षुणी के दर्शन मुझे हुए,
उसने आदरपूर्वक भोजन और जल देकर मुझे अनुगृहीत किया,
फिर मैंने उसके पास जाकर प्रार्थना की—
मैं प्रव्रज्या लूंगी।
उस दयामयी पटाचारा ने मुझे अनुकम्पापूर्वक प्रव्रज्या दी।
फिर मुझे धर्मोपदेश देकर उसने मुझे परमार्थ में लगाया।
उसके उपदेश को सुनने के बाद मैंने उसके अनुशासन को पूरा किया।
अहो ! अमोघ था देवी का उपदेश !

मैं आज तीनों विद्याओं को जानने वाली हूँ, सम्पूर्ण चित्त-मलों से रहित हूँ ! पटाचारा भिक्षुणी की शिष्या तीस भिक्षुणियाँ किस प्रकार उसके प्रति अपनी कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करती हैं, यह उनके उद्‌गारों में देखिये—

"लोग मुसलों से अन्न कूट-कूट कर वित्तार्जन करते और अपने स्त्री-पुत्रादि का पालन करते हैं।

तो फिर तुम भी बुद्ध-शासन को पूरा क्यों नहीं करतीं,
जिसे कर के पछताना नहीं होता !
अभी शीघ्र पैर धोकर एकान्त में ध्यान के लिये बैठ जाओ,
चित्त की समाधि से युक्त होकर बुद्ध-शासन को पूरा करो।"

पटाचारा के शासन के इन इन शब्दों को सुनकर हम सब पैर धोकर एकान्त में ध्यान के लिये बैठ गईं।

चित्त की समाधि से युक्त होकर हमने बुद्ध-शासन को पूरा किया ?

रात्रि के प्रथम याम में हमने पूर्व-जन्मों का स्मरण किया !

रात्रि के मध्यम याम में हम ने दिव्य चक्षुओं को विशोधित किया ! रात्रि के अन्तिम याम में अन्धकार-पुंज को विनष्ट कर दिया !

भिक्षुणी अम्बपाली ने अपनी वृद्धावस्था में अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण कर जा उद्‌गार किये हैं, वे तो पालि-काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण ही हैं। अम्बपाली अपने जीर्ण शरीर को देख कर कहती है—

काले, भौंरे के रंग के समान, जिनके अग्र भाग घुंघराले हैं, ऐसे किसी समय मेरे बाल थे;

वही आज जरावस्था में जीर्ण सन या वल्कल वस्त्र के समान हो गये हैं, सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

पुष्पों से गुँथा हुआ मेरा केशपाश कभी सुगन्ध से भरी मंजूषा की भाँति महकता था,

उसी में से आज जरावस्था के कारण खरहे के रोओं की-सी दुर्गन्ध आती है—सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

. . . . . .

नव यौवन की अवस्था में वह मेरी सुकोमल, उन्नत और समरूप नासिका थी;

वही आज जरावस्था में सूखी और पिचकी सी हो गई है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

अच्छी प्रकार पालिश किये हुए, चिकने शंख के समान, किसी समय मेरी सुन्दर ग्रीवा थी;

वही आज जरावस्था में भग्न और विनमित है—सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते। आदि।

प्रायः सभी भिक्षुणियों के उद्‌गारों में काव्यगत विशेषताएँ भरी पड़ी हैं, जिनका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता। निश्चय ही भिक्षुणियों के उद्‌गारों की मार्मिकता और उनकी शान्त, गम्भीर ध्वनि भारतीय साहित्य में अद्वितीय है और पालि-काव्य की तो वह अमूल्य सम्पत्ति ही है। जिन ७३ (या अलग-अलग गिनती करने पर लगभग १००) भिक्षुणियों के उद्‌गार 'थेरीगाथा' में सन्निहित हैं, वे सभी बुद्धकालीन हैं। बल्कि यों कहना चाहिये, वे सभी भगवान् बुद्ध की शिष्याएँ हैं। नारी जाति के प्रति भगवान् की कितनी अनुकम्पा थी, यह इसी से समझा जा सकता है कि उनमें से अनेक अपने को 'बुद्ध की हृदय से उत्पन्न कन्या' (ओरसा धीता बुद्धस्स) कह कर अभिनन्दित करती थीं।[1] वे मानती थीं कि 'जब चित्त

---

१. देखिये गाथाएँ ४६ एवं ३३६।

सुसमाहित है, तो स्त्री-भाव इसमें हमारा क्या करेगा, (इत्थिभावो नो किं कयिरा चित्तम्हि सुसमाहिते (गाथा ६१)। फलतः निर्वाण-प्राप्ति में उनका अधिकार था और उसे प्राप्त भी उन्होंने किया था, जिसके साक्ष्य-स्वरूप उन्होंने अपने उद्‌गार भी किये हैं। महाराज शुद्धोदन की मृत्यु के उपरान्त भगवान् बुद्ध ने अपनी विमाता महापजापती गोतमी को भिक्षुणी होने की अनुमति दे दी थी। उसके साथ पाँच सौ अन्य शाक्य-महिलाएँ भी प्रव्रजित हुई थीं। कालान्तर में भिक्षुणियों का एक अलग संघ ही बन गया था और नाना कुलों और नाना जीवन की अवस्थाओं से प्रव्रजित होकर उन्होंने शाक्य-मुनि के पाद-मूल में बैठकर साधना का मार्ग स्वीकार किया था। इन्हीं में से कुछ भिक्षुणियाँ अपने जीवनानुभवों को हमारे लिये छोड़ गई हैं, जो 'थेरीगाथा' के रूप में आज हमें उपलब्ध हैं। किस उद्देश्य से, किन कारणों से, किस सामाजिक परिस्थिति में, प्रत्येक भिक्षुणी ने बुद्ध, धम्म और संघ की शरण ली थी, इसका विस्तृत विवरण तो 'थेरीगाथा' की अर्थकथा 'परमत्थदीपनी' में उपलब्ध है, जो पाँचवीं शताब्दी ईसवी की रचना है। इसी के आधार पर यहाँ संक्षेप में यह दिखाया जा सकता है कि किन नाना कारणों से इन भिक्षुणियों ने घर को छोड़कर प्रव्रज्या ली। इनमें से कुछ, जैसे मुक्ता (२) और पूर्णा (३) अपनी ज्ञान-सम्पत्ति की पूर्णता के कारण प्रव्रजित हुई। कुछ ने घर के काम-काज और दोषों से ऊब कर प्रव्रज्या ली, जैसे मुक्ता (११), गुप्ता (५६), और शुभा (७०)। धम्म-दिन्ना (१२) ने पति की विरक्ति के कारण प्रव्रज्या ली। धम्मा (१७), मैत्रिका (२४), दन्तिका (३२), सिंहा (४०), सुजाता (५३), पूर्णिका (६५), रोहिणी (६७), शुभा (७१), चित्रा (२३), शुक्ला (३४), अम्बपाली (६६), अनोपमा (५४) तथा सोमा (३६) ने शास्ता में श्रद्धा के कारण प्रव्रज्या ली। प्रिय जनों की मृत्यु और उनके विरह के कारण प्रव्रज्या लेने वाली भिक्षुणियों में श्यामा (२८), उर्विरी (३३), किसा गोतमी (६३), वासेट्ठी (५१), सुन्दरी नन्दा (४१), चन्दा (४९), पटाचारा (४७), तथा महापजापती गोतमी (५५) हैं। पुत्रों की अकृतज्ञता शोणा (४५), की प्रव्रज्या का कारण हुई। भद्रा कुंडलकेशा (४६) और ऋषिदासी (७२) ने अकृतज्ञ, धूर्त पतियों के कारण प्रव्रज्या ली। पति का अनुसरण कर भद्रा कापिलायिनी (३७) और चापा (६८) प्रव्रजित हुईं। इसी प्रकार भाई (सारिपुत्र) का अनुसरण कर चाला, (५९) उपचाला (६०) और शिशूपचाला (६१) प्रव्रजित हो गईं। बुद्ध-शिष्य को अपने रूप-सौन्दर्य से

पराजित न कर सकने पर विमला (३९) प्रव्रजित हो गई। जहाँ तक इन भिक्षुणियों के वंश या सामाजिक कुल-शील आदि का सम्बन्ध है, ये प्रायः सभी परिस्थितियों की थीं। उदाहरणतः खेमा, सुमना, शैला और सुमेधा कोसल, मगध और आलवी के राजवंशों की महिलाएँ थीं। महापजापती गोतमी, तिष्या, अभिरूपा नन्दा, सुन्दरी नन्दा, जेन्ती, सिंहा, अन्यतरा तिष्या, धीरा, मित्रा, भद्रा, उपशमा और अन्यतरा स्थविरी, शाक्य और लिच्छवि आदि सामन्तों की लड़कियाँ थीं। मैत्रिका, अन्यतरा उत्तमा, चाला, उपचाला, शिशूपचाला, रोहिणी, सुन्दरी, शुभा (७१), भद्रा कापिलायिनी, मुक्ता, नन्दा, सकुला, चन्दा, गुप्ता, दन्तिका और सोमा ब्राह्मण-वंश की थीं। गृहपति और वैश्य (सेठ) वर्ग की महिलाओं में पूर्णा, चित्रा, श्यामा, उर्विरी, शुक्ला, धम्मदिन्ना, उत्तमा, भद्रा कुंडलकेशा, पटाचारा, सुजाता और अनोपमा थीं। अड्ढकासी, अभय-माता, विमला और अम्बपाली जैसी गणिकाएँ थीं। इसी प्रकार शुभा (७०) सुनार की पुत्री और चापा एक बहेलिये की लड़की थी। पूर्णिका एक दासी की पुत्री थी। सारांश यह कि अनेक कुल-शीलों से स्त्रियों ने बुद्ध-शासन में दीक्षा ग्रहण की थी। 'थेरीगाथा' में सन्निहित इनके उद्गारों और उनमें प्रतिध्वनित इनकी पूर्व जीवन-चर्याओं से पाँचवीं-छठीं शताब्दी ईस्वी पूर्व के भारतीय समाज में नारी के स्थान पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। परन्तु 'थेरीगाथा' का मुख्य आकर्षण तो उसकी काव्य और साधना की भूमि ही है, जिसके विषय में पीछे काफी कहा जा चुका है।

हम देखते हैं कि प्रकृति-वर्णन की ओर जितनी प्रवृत्ति भिक्षुओं की है, उतनी भिक्षुणियों की नहीं। 'थेरीगाथा' में केवल शुभा भिक्षुणी की गाथाओं में वसन्त का वर्णन है। वह अत्यन्त सुन्दर, संश्लिष्ट और सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित है। पर उसका लक्ष्य वहाँ केवल पृष्टभूमि को तैयार कर देना है। शुभा भिक्षुणी अपनी आँख को अश्रुजल-सिंचित जल बुद्बुद मात्र कहती है। बाद में निर्विकार भाव से उसे निकाल कर कामी पुरुष को दे देती है। इसके प्रभाव में तीव्रता लाने के लिये ही यहाँ पृष्ठभूमि के रूप में वसन्त का वर्णन किया गया है। वसन्त की शोभा काव्य का सत्य है, आँख का वर्णन विज्ञान का सत्य है। इन दो सत्यों को इतने सुन्दर ढंग से आमने-सामने रख कर काव्य में कभी वर्णन नहीं किया गया। भिक्षुणियों की प्रवृत्ति अपने आन्तरिक अनुभव के वर्णन के साथ-साथ अपने पूर्व आश्रम के जीवन की अवस्थाओं के वर्णन की ओर ही अधिक है। भिक्षुओं में तो सुनीत और जयन्त पुरोहित-पुत्र आदि कुछ-एक भिक्षुओं ने ही हमें अपने पूर्व जीवन से

परिचित कराया है। बाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक अनुभव के प्रकाशन पर ही उनका ध्यान अधिक है, और उस अनुभव में इतना साम्य है कि कहीं-कहीं न केवल भिक्षुओं के उद्‌गारों की भाषा ही समान है, बल्कि वे कई जगह विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रतिनिधि न होकर एक वर्ग (भिक्षु-वर्ग) के ही प्रतिनिधि जैसे हो गये हैं। इसके विपरीत भिक्षुणियों के उद्‌गारों में व्यक्तिगत विशिष्टता की पूरी ध्वनि विद्यमान है। उन्होंने अपने पारिवारिक और सामाजिक जीवन के विषय में हमें बहुत कुछ बतलाया है। अपने पूर्व जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, विषमताओं और कटुताओं आदि के बारे में भी उन्होंने बहुत कुछ कहा है। इस प्रकार अपने गृहस्थ-जीवन के झंझटों की ओर संकेत मुक्ता, गुप्ता और शुभा भिक्षुणियों ने किया है। उब्बिरी, किसा गोतमी और वाशिष्ठी भिक्षुणियों के वचनों में उनके सन्तान-वियोग की पूरी झलक है। सुन्दरी नन्दा और चन्द्रा ने पति आदि सम्बन्धियों की मृत्यु से प्रव्रज्या प्राप्त की, इसकी सूचना है। पटाचारा के शब्दों में उसके करुण जीवन की सारी गाथा छिपी हुई पड़ी है। भिक्षुणियों की अनेक गाथाएँ (११; २५-२६; ३५-३८; ६१; ७२-८१; ९९-१०१; १०७-१११; १५७-५८, आदि, आदि,) 'अहं' से ही आरम्भ होती हैं और उनकी आन्तरिक ध्वनि भी अपनी विशिष्टता लिए हुए है।

जहाँ तक विचार और काव्यगत सौन्दर्य का सम्बन्ध है, थेरगाथा और थेरी-गाथा में अनेक समानताएँ हैं। जिस प्रकार भिक्षुओं ने अशुभ की भावना की है, उसी प्रकार भिक्षुणियों ने भी। "आज मेरी भव-रज्जु कट गई!", "मेरे हृदय में बिंधा तीर निकल गया", "तृष्णा की लौ सदा के लिए बुझ गई!" "मैं सब मलों से विमुक्त हूँ", "अब मैं सर्वथा शान्त हूँ, निष्पाप हूँ" आदि भिक्षुणियों के उद्‌गार अपना गम्भीर और शान्त प्रभाव लिये हुए हैं और मानव-मन को पवित्रता की उच्च भूमि में ले जाने हैं। पटाचारा का यह उपदेश-वाक्य "बुद्ध-शासन को पूरा करो, जिसे करके पछताना नहीं होता। अभी शीघ्र पैर धोकर एकान्त (ध्यान) में बैठ जाओ" कितना प्रेरणादायक है! भिक्षुणियों को जीवित विश्वास था कि वे निर्वाण का साक्षात्कार कर सकती हैं। स्त्री-भाव की अशक्तता दिखाई जाने पर एक भिक्षुणी (सोमा) आत्मविश्वास-पूर्वक कह उठती है "जब चित्त अच्छी प्रकार समाधि में स्थित है, जीवन नित्य ज्ञान में विद्यमान है, अन्तर्ज्ञानपूर्वक धर्म का सम्यक् दर्शन कर लिया गया है, तो स्त्री-भाव इसमें हमारा क्या करेगा?" 'थेरीगाथा' में नाटकीय तत्त्व की कमी नहीं है और अनेक महत्त्वपूर्ण संवाद हैं।

रोहिणी और उसके पिता का संवाद (२७१-२९०); सुन्दरी, उसकी माता और सारथी का संवाद (३१२-३३७); चापा और उसके पति का संवाद (२९१-३११); शैला और मार का संवाद, (५७-५९); चाला और मार का संवाद (१८२-१८८); शिशूपचाला और मार का संवाद (१९६-२०३); उत्पलवर्णा और मार का संवाद (२२४-२३५); वड्ढमाता और उसके पुत्र का संवाद (२०४-२१२) आदि नाटकीय गति से परिपूर्ण हैं। पनिहारिन के रूप में पूर्णा (पूर्णिका) ने अपने पूर्व जीवन का जो परिचय दिया है, वह अपनी करुणा लिए हुए है। अम्बपाली की गाथाओं में अनित्यता का चित्रण गीतिकाव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ हुआ है। सुन्दरी की गाथाओं (३१२-३३७) और शुभा की गाथाओं (३६६-३९९) को विण्टरनित्ज़ ने सुन्दर आख्यान-गीति कहा है। वास्तव में अम्बपाली से लेकर सुमेधा तक की अन्तिम सात भिक्षुणियों के उदगार गीति-काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण ही हैं। यूरोपीय विद्वानों के द्वारा चापा और सुन्दरी की गाथाएँ 'प्राचीनतम' भारतीय आख्यान-काव्य मानी गई हैं।[१]

थेर और थेरीगाथाएँ क्रमशः उन भिक्षु और भिक्षुणियों की रचनाएँ हैं, जिनके नामों से वे सम्बन्धित हैं। जर्मन विद्वान् के. ई. न्यूमन ने (जिन्होंने 'थेरीगाथा' का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद किया) उन पर एक मनुष्य के मन की छाप देखी है।[२] बौद्धधर्म की प्रभाव-समष्टि के कारण, जो स्वभावतः ही इन साधक और साधिकाओं के अनुभव-सिद्ध वचनों में होनी चाहिए, न्यूमन को यह भ्रम हो गया है। विण्टरनित्ज़ ने न्यूमन के मत से सहमति तो नहीं दिखाई, पर कुछ भिक्षुओं की रचनाओं में भिक्षुणियों की रचनाएँ और इसी प्रकार कुछ भिक्षुणियों की रचनाओं में भिक्षुओं की रचनाएँ सम्मिलित हो गई हैं, ऐसा उन्होंने माना है।[३] वस्तुतः बात यह है कि गाथाओं का संकलन विषय-क्रम से न होकर गाथाओं की संख्या के क्रम से है, जो कृत्रिम है। फिर संकलन में भी कहीं कुछ कमियाँ रह ही

---

१. देखिये 'साम्स ऑव दि सिस्टर्स' (श्रीमती रायस डेविड्स् द्वारा किया गया 'थेरी-गाथा' का अंग्रेज़ी अनुवाद), पृष्ठ इक्कीस-बाईस (भूमिका) (लन्दन, पुनर्मुद्रित, १९४८)। विण्टरनित्ज़: इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०८-१०९।

२. देखिये विण्टरनित्ज़, इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पष्ठ १०२, पद-संकेत १।

३. इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०१।

गई हैं। स्थविरिणियों के साथ पुरुषों के संवाद भी 'थेरीगाथा' में कहीं-कहीं पाये जाते ही हैं। दोनों की कथा भी कहीं-कहीं मिलती दिखाई देती है। उदाहरणार्थ थेरीगाथा (२०४-२१२) में वड्ढ की माता उसे ज्ञान-मार्ग पर लगाती है और वह उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है तथा थेरगाथा (३३५-३३९) में भी वह उसे धन्यवाद देता है। जिस प्रकार तीन टेढ़ी वस्तुओं (हँसिया, हल और कुदाल) से मुक्ति पाकर भिक्षु प्रसन्न है,[1] उसी प्रकार ओखल से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से मुक्ति पाकर भिक्षुणी प्रसन्न है।[2] इसी प्रकार के वर्णनों से विण्टरनित्ज़ को गाथाओं के सम्मिलित होने का भ्रम हो गया है। गाथाओं के संकलन में भले ही कहीं कोई प्रमाद हो, पर थेर और थेरीगाथाओं को मूलतः उन भिक्षु और भिक्षुणियों की रचनाएँ ही माना जा सकता है, जिनके नामों से वे सम्बन्धित हैं। संयुत्त-निकाय के भिक्खुनी-संयुत्त में इन दस भिक्षुणियों के उद्‌गार सन्निहित हैं, यथा आलविका, सोमा, किसा गोतमी, विजया, उत्पलवर्णा, चाला, उपचाला, शिशूपचाला, शैला और वज्रा। इसी प्रकार थेरी-अपदान में भी कई भिक्षुणियों की गाथाएँ प्रात हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध सन्त महिलाओं की ये परमार्थ-संज्ञित वाणियाँ भारतीय गीति-काव्य, विशेषतः आध्यात्मिक गीति-काव्य, की अतुलनीय सम्पत्ति हैं, और जयदेव, चण्डीदास और मीराँ, यहाँ तक कि ऋग्वेद की गीति-परक ऋचाओं से भी, अपना विशेष मानवीय सौन्दर्य और पीड़ा की गहनता और विविधता लिये हुए हैं। भारतीय साहित्य में इन ज्ञानमय वाणियों का स्थान सब काल के लिये अक्षुण्ण है।

जातक[3]

जातक खुद्दक-निकाय का दसवाँ प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जातक को वस्तुतः ग्रन्थ न कह कर ग्रन्थ-समूह ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। जैसा हम आगे देखेंगे,

---

१. सुमुत्तिको...तीहि खुज्जेहि...असितासु मया नंगलासु मया खुद्दकुद्दालासु मया। गाथा ४३ (थेरगाथा)

२. सुमुत्ता साधु मुत्तम्हि तीहि खुज्जेहि मुत्तिया। उदुक्खलेन मुसलेन पतिना खुज्जकेन च। गाथा ११ (थेरीगाथा)

३. भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने जातक का हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, से वह छह भागों में पूरा प्रकाशित हो चुका है।

उसका कोई-कोई कथानक पूरे ग्रन्थ के रूप में है और कहीं-कहीं उसकी कहानियों का रूप संक्षिप्त महाकाव्य का सा है। 'जातक' शब्द का अर्थ है 'जात' अर्थात् जन्म-सम्बन्धी। 'जातक' भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्म सम्बन्धी कथाएँ हैं। बुद्धत्व प्राप्त कर लेने की अवस्था से पूर्व भगवान् बुद्ध 'बोधिसत्व' कहलाते हैं। वे उस समय बुद्धत्व के लिए उम्मेदवार होते हैं, और दान, शील, मैत्री, सत्य आदि दस पारमिताओं अथवा परिपूर्णताओं का अभ्यास करते हैं। भूत-दया के लिए वे अपने प्राणों का अनेक बार बलिदान करते हैं। इस प्रकार वे बुद्धत्व की योग्यता का सम्पादन करते हैं। 'बोधिसत्व' शब्द का अर्थ ही है बोधि के लिए उद्योगशील प्राणी (सत्व)। बोधि के लिए है सत्व (सार) जिसका, ऐसा अर्थ भी कुछ विद्वानों

ईशानचन्द्र घोष का बँगला अनुवाद प्रसिद्ध है। अँग्रेजी में कॉवल के सम्पादकत्व में ६ जिल्दों में जातक का अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। सातवीं जिल्द में अनुक्रमणी है। कॉवल के अतिरिक्त चामर्स आदि अन्य चार विद्वानों ने इस अनुवाद-कार्य में भाग लिया है। जातक का यह सम्पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद केम्ब्रिज से १८९५-१९१३ में प्रकाशित हुआ था। अब इसकी पुनरावृत्ति भी सन् १९५७ में लुज़ाक एण्ड कं० द्वारा हो चुकी है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने जातक के कुछ अंशों का अनुवाद भी किया है। इनमें टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स का 'बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़', जो सन् १८८० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था, अति प्रसिद्ध है। इसमें जातक-संख्या १-४० अनुवादित हैं। सम्पूर्ण जातक का जर्मन अनुवाद भी हो चुका है (लीपज़िग, १९०८)। फॉसबाल का रोमन लिपि में जातक का संस्करण एक महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक कार्य है। यह ६ जिल्दों में है और सातवीं जिल्द में अनुक्रमणी है (लन्दन, १८७७-१८९७)। सिआमी राज वंश की श्रद्धालु रानियों के द्वारा सन् १९२५ में १० जिल्दों में जातक का सिआमी लिपि में सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया जा चुका है। सिंहली लिपि में साइमन हेवावितरणे बिक्वैस्ट सीरीज़ में सन् १९५४ में मूल गाथा मात्र संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार देवनागरी संस्करण, जो भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान सम्पादकत्व में खुद्दकनिकाय पालि, जिल्द तीसरी, के दो भागों के रूप में श्री नालन्दा से निकला है, मूल गाथा मात्र जातक है। जातक पालि, पठमो

ने किया है।[1] पालि सुत्तों में हम अनेक बार पढ़ते हैं, "सम्बोधि प्राप्त होने से पहले, बुद्ध न होने के समय, जब मैं बोधिसत्व ही था"[2] आदि। अतः बोधिसत्व से स्पष्ट तात्पर्य ज्ञान, सत्य, दया आदि का अभ्यास करने वाले उस साधक से है, जिसका आगे चलकर बुद्ध होना निश्चित है। भगवान् बुद्ध भी न केवल अपने अन्तिम जन्म में बुद्धत्व-प्राप्ति की अवस्था से पूर्व बोधिसत्व रहे थे, बल्कि अपने अनेक पूर्व जन्मों में भी बोधिसत्व की चर्या का उन्होंने पालन किया था। 'जातक' की कथाएँ भगवान् बुद्ध के इन विभिन्न पूर्व-जन्मों से, जब कि वे 'बोधिसत्व' रहे थे, सम्बन्धित हैं। अधिकतर कहानियों में वे प्रधान पात्र के रूप में चित्रित हैं। कहानी

भागो, १९५९; जातक पालि, दुतियो भागो, १९५९। 'जातक' के अनेक बरमी संस्करण भी उपलब्ध हैं। अंग्रेजी में तथा अन्य अनेक यूरोपीय भाषाओं में तो 'जातक' पर प्रभूत विवेचनात्मक साहित्य भी लिखा गया है। इसके कतिपय परिचय के लिए देखिये, विण्टरनित्ज़: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११६, पद-संकेत ३, तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड ईथिक्स, जिल्द सातवीं, पृष्ठ ४९१-४९४ में उन्हीं का जातक सम्बन्धी विवरण; रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १८९; गायगर: पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ३०, पद-संकेत २ एवं ३; लाहा : पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २७६-७७। बाद में प्रकाशित जिस साहित्य का यहाँ उल्लेख नहीं हो सका है, उसमें से केवल तीन रचनाओं का मैं यहाँ उल्लेख करूँगा, बी० सी० सेन का "स्टडीज़ इन दि बुद्धिस्ट जातकस्" शीर्षक निबन्ध, कलकत्ता विश्वविद्यालय के जर्नल ऑव दि डिपार्टमेण्ट ऑव लैटर्स, १९३०, में प्रकाशित। रतिलाल मेहता: प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, बम्बई १९३९। गोकुलदास दे : सिगनिफिकेन्स एण्ड इम्पोरटेंस ऑव जातकस्, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५१। इधर हिन्दी में भी एक पुस्तक "जातककालीन भारतीय संस्कृति" शीर्षक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, से सन् १९५८ निकली है, जिसके लेखक हैं श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'। यह प्रकृत पालि अध्ययन का परिचय नहीं देती।

१. विण्टरनित्ज़—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११३, पद-संकेत २।

२. भय-भेरव सुत्त (मज्झिम. १।१।४)।

के वे स्वयं नायक हैं। कहीं-कहीं उनका स्थान एक साधारण पात्र के रूप में गौण है और कहीं-कहीं वे एक दर्शक के रूप में भी चित्रित किये गए हैं। प्रायः प्रत्येक कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है, "एक समय राजा ब्रह्मदत्त के वाराणसी में राज्य करते समय (अतीते बाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते) बोधिसत्व कुरंग मृग की योनि में उत्पन्न हुए"[१], अथवा ".....सिन्धु पार के घोड़ों के कुल में उत्पन्न हुए"[२], अथवा ".....बोधिसत्व उसके (ब्रह्मदत्त के) अमात्य थे।"[३] अथवा ".....बोधिसत्व गोह की योनि में उत्पन्न हुए"[४] आदि, आदि।

जातक की कहानियों में से कुछ का नामकरण तो जातक में आई हुई गाथा के पहले शब्दों से हुआ है, यथा अपण्णक जातक; किसी का प्रधान पात्र के अनुसार, यथा बक जातक; किसी का वर्णित विषय के अनुसार यथा वण्णुपथ जातक, किसी का उन जन्मों के अनुसार जो बोधिसत्व ने ग्रहण किये, यथा निग्रोध मिग जातक, मच्छ जातक, आदि।

जातकों की निश्चित संख्या कितनी है, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। लंका, बरमा, और सिआम में प्रचलित परम्परा के अनुसार जातक ५५० हैं। समन्तपासादिका की निदान-कथा में भी जातकों की संख्या इतनी ही बताई गई है। "पण्णासाधिकानि पञ्चसतानि जातकंति वेदितब्बं।" अट्ठसालिनी की निदान-कथा में भी "पण्णासाधिकानि पञ्चजातकसतानि" है। यह संख्या मोटे तौर पर ही निश्चित की गई जान पड़ती है। जातक के वर्तमान रूप में ५४७ जातक-कहानियाँ पाई जाती हैं। पर यह संख्या भी केवल ऊपरी है। कई कहानियाँ अल्प रूपान्तर के साथ दो जगह भी पाई जाती हैं या एक दूसरे में समाविष्ट भी कर दी गई हैं, और इसी प्रकार कई जातक-कथाएँ सुत्त-पिटक, विनय-पिटक तथा अन्य पालि ग्रन्थों में तो पाई जाती हैं, किन्तु 'जातक' के वर्तमान रूप में संगृहीत नहीं हैं। अतः जातकों की संख्या में काफी कमी की भी और वृद्धि की भी सम्भावना है। उदाहरणतः, मुनिक जातक (३०) और सालूक जातक (२८६) की कथावस्तु एक ही सी है, किन्तु केवल भिन्न-भिन्न नामों से वह दो जगह आई है।

---

१. कुरुंगमिग जातक (२१)
२. भोजाजानीय जातक (२३)
३. अभिण्ह जातक (२७)
४. गोध जातक (३२५)

इसके विपरीत 'मुनिक जातक' नाम के दो जातक होते हुए भी उनकी कथा भिन्न-भिन्न है। यही हालत 'मच्छ जातक' नाम से दो जातक-कहानियों की है। कहीं-कहीं दो स्वतन्त्र जातकों को मिला कर एक तीसरे जातक का निर्माण कर दिया गया है। उदाहरण के लिए पञ्चपंडित जातक (५०८) और दकरक्खस जातक (५१७) ये दोनों जातक महा उम्मग्ग जातक (५४६) में अन्तर्भावित हैं। जो कथाएँ जातक-कथा के रूप में अन्यत्र पाई जाती हैं, किन्तु 'जातक' में संगृहीत नही हैं, उनका भी कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। मज्झिम-निकाय का घटिकार-सुत्त या घटीकार-सुत्त (२।४।१) एक ऐसी ही जातक-कहानी है, जो 'जातक' में नहीं मिलती। इसी प्रकार दीघ-निकाय का महागोविन्द-सुत्त (२।६) जो स्वयं 'जातक' की निदान-कथा में भी 'महागोविन्द-जातक' के नाम से निर्दिष्ट हुआ है, 'जातक' के अन्दर नहीं पाया जाता। इसी प्रकार धम्मपदट्ठकथा और मिलिन्द-पञ्ह में भी कुछ ऐसी जातक-कथाएँ उद्धृत की गई हैं, जो 'जातक' में संगृहीत नहीं हैं।[1] अतः कुछ जातक निश्चित रूप से कितने हैं, इसका ठीक निर्णय नहीं हो सकता। जब हम जातकों की संख्या के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो 'जातक' से हमारा तात्पर्य एक विशेष शीर्षक वाली कहानी से होता है, जिसमें बोधिसत्व के जीवन-सम्बन्धी किसी घटना का वर्णन हो, फिर चाहे उस एक 'जातक' में कितनी ही अवान्तर कथाएँ क्यों न गूँथ दी गई हों। यदि कुल कहानियाँ गिनी जायँ तो 'जातक' में करीब तीन हजार कहानियाँ पाई जाती हैं।[2] वास्तव में जातकों का संकलन सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के आधार पर किया गया है। सुत्त-पिटक में अनेक ऐसी कथाएँ हैं जिनका उपयोग वहाँ उपदेश देने के लिए किया गया है। किन्तु बोधिसत्व का उल्लेख उनमें नहीं है। यह काम बाद में करके प्रत्येक कहानी को जातक का रूप दे दिया गया है। तित्तिर जातक (३७) और दीघित कोसल जातक (३७१) का निर्माण इसी प्रकार विनय-पिटक के क्रमशः चुल्लवग्ग और महावग्ग से किया गया है। मणिकंठ जातक (२५३) भी विनय-पिटक पर ही आधारित है। इसी प्रकार दीघ-निकाय के कूटदन्त-सुत्त (१।५) और महासुदस्सन-सुत्त (२।४) तथा मज्झिम-निकाय के मखादेव-सुत्त (२।४।३) भी पूरे अर्थों में जातक हैं। कम से कम १३ जातकों की खोज विद्वानों ने सुत्त-पिटक और विनय-

---

१. विण्टरनित्ज—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११५, पद-संकेत ४।
२. देखिये जातक (हिन्दी अनुवाद, प्रथम खंड) पृष्ठ २१ (वस्तुकथा)

पिटक में की है।[1] यद्यपि राज-कथा, चोर-कथा, एवं इसी प्रकार की भय, युद्ध, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पनघट, भूत-प्रेत आदि सम्बन्धी कथाओं को 'तिरश्चीन' (व्यर्थ की, अधम) कथाएँ कह कर भिक्षु-संघ में हेयता की दृष्टि से देखा जाता था,[2] फिर भी उपदेश के लिए कथाओं का उपयोग भिक्षु लोग कुछ-न-कुछ मात्रा में करते ही थे। स्वयं भगवान् ने भी उपमाओं और दृष्टान्तों के द्वारा धर्म का उपदेश दिया है। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र के द्वितीय परिवर्त (उपायकौशल्य-परिवर्त) में भी कहा गया है कि बुद्ध अनेक दृष्टान्तों से (दृष्टान्तशतेहि) तथा जातक (पूर्वजन्म सम्बन्धी कथाओं) के द्वारा सब प्राणियों के कल्याणार्थ उपदेश करते हैं। बुद्ध के अलावा अन्य भारतीय सन्त भी, उपनिषदों के काल से लेकर रामकृष्ण परमहंस के समय तक, आख्यायिकाओं और दृष्टान्तों के सहारे धर्मोपदेश करते रहे हैं। इसी प्रवृत्ति के आधार पर जातक-कथाओं का विकास हुआ है। जन-समाज में प्रचलित कथाओं को भी कहीं-कहीं ले लिया गया है, किन्तु उन्हें एक नया नैतिक रूप दे दिया गया है, जो बौद्ध धर्म की एक विशेषता है। अतः सभी जातक-कथाओं पर बौद्ध धर्म की पूरी छाप है। पूर्व परम्परा से चले आते हुए लोक-आख्यानों का आधार उनमें हो सकता है, पर उनका सम्पूर्ण ढाँचा बौद्ध धर्म के नैतिक आदर्श के अनुकूल है। हम पहले देख चुके हैं कि बुद्ध-वचनों का नौ अंगों में विभाजन, जिनमें जातक की संख्या सातवीं है, अत्यन्त प्राचीन है।[3] अतः जातक-कथाएँ सर्वांश में पालि साहित्य के महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग हैं। उनकी संख्या के विषय में अनिश्चितता विशेषतः उनके समय-समय पर सुत्त-पिटक और विनय-पिटक तथा अन्य स्रोतों से संकलन के कारण और स्वयं पालि पिटक के नाना वर्गीकरणों और उनके परस्पर संमिश्रण के कारण उत्पन्न हुई है। चुल्ल-निद्देस में हमें केवल ५०० जातकों का (पञ्च जातकसतानि) का उल्लेख मिलता है।[4] चीनी यात्री फा-ह्यान ने पाँचवीं शताब्दी

---

१. विण्टरनित्ज—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११५, पद-संकेत २।

२. ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ० १।१), सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२), विनय-पिटक—महावग्ग, आदि, आदि।

३. देखिये पीछे दूसरे अध्याय में पालि साहित्य के वर्गीकरण का विवेचन।

४. पृष्ठ ८० (स्टीड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९१८)

ईसवी में ५०० जातकों के चित्र लंका में अंकित हुए देखे थे।[1] द्वितीय-तृतीय शताब्दी ईस्वी-पूर्व के भरहुत और साँची के स्तूपों में जातकों के चित्र अंकित मिले हैं, जिनमें से कम से कम २७ या २९ जातकों के चित्रों की पहचान रायस डेविड्स ने की थी।[2] तब से कुछ अन्य जातक-कहानियों की पहचान भी इन स्तूपों की पाषाण-वेष्टनियों पर की जा चुकी है। ये सब तथ्य 'जातक' की प्राचीनता और उसके विकास के सूचक हैं।

स्थविरवादी पालि साहित्य के समान संस्कृत बौद्धधर्म के ग्रन्थों में भी जातक-कथाएँ पाई जाती हैं। पालि के नवांग बुद्ध-वचन की तरह यहाँ द्वादशांग धर्म-प्रवचन माने गये हैं (जिनका उल्लेख हम द्वितीय अध्याय में कर चुके हैं)। इन दोनों ही जगह जातक एक अंग या धर्म-प्रवचन के भाग के रूप में विद्यमान है। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'जातकमाला' में, जो आर्यशूर की रचना बताई जाती है, ३४ जातक-कथाएँ मिलती हैं। आर्यशूर को लामा तारनाथ ने अश्वघोष का ही दूसरा नाम बताया है, परन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। सम्भवतः वे चतुर्थ शताब्दी ईसवी के कवि थे। लोकोत्तरवादियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महावस्तु' में, जो २०० ई० पूर्व से ४०० ई० तक के बीच के काल में लिखी गई, करीब ८० जातक-कथाएँ मिलती हैं। इनमें से कुछ पालि जातक के समान हैं और कुछ ऐसी भी हैं जो पालि जातक में नहीं पाई जातीं।

रायस डेविड्स् का कथन है कि जातक का संकलन और प्रणयन मध्य-देश में प्राचीन जन-कथाओं के आधार पर हुआ।[3] विण्टरनित्ज़ ने भी प्रायः इसी मत का प्रतिपादन किया है।[4] अधिकांश जातक बुद्धकालीन हैं। साँची और भरहुत के स्तूपों की पाषाण-वेष्टनियों पर उनके दृश्यों का अंकित होना उनके पूर्व-अशोक-कालीन होने का पर्याप्त साक्ष्य देता है। 'जातक' के काल और कर्तृत्व के सम्बन्ध में अधिक प्रकाश उसके साहित्यिक रूप और विशेषताओं के विवेचन से पड़ेगा।

---

१. लेगी : रिकार्ड ऑव बुद्धिस्ट किंग्डम्स, पृष्ठ १०६ (आक्सफर्ड, १८८६); गाइल्स: वि ट्रेविल्स ऑव फा-ह्यान, पृष्ठ ७१ (रटलेज एण्ड केगन पाल, लन्दन, द्वितीय आवृत्ति, १९५६)

२. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २०९।

३. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १७२; २०७-२०८।

४. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११३-११४; १२१-१२३।

प्रत्येक जातक-कथा पाँच भागों में विभक्त है, (१) पच्चुप्पन्नवत्थु, (२) अतीतवत्थु, (३) गाथा (४), वेय्याकरण या अत्थवण्णना और (५) समोधान। पच्चुप्पनवत्थु का अर्थ है वर्तमान काल की घटना या कथा। बुद्ध के जीवन-काल में जो घटना घटी, वह पच्चुप्पन्नवत्थु है। उस घटना ने भगवान् को किसी पूर्व जन्म के वृत्त को कहने का अवसर दिया। यह पूर्व जन्म का वृत्त ही अतीतवत्थु है। प्रत्येक जातक का कथा की दृष्टि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग यह अतीतवत्थु ही है। इसी के अनुकूल पच्चुप्पन्नवत्थु कहीं-कहीं गढ़ ली गई प्रतीत होती है। अतीतवत्थु के बाद एक या अनेक गाथाएँ आती हैं। इनका सम्बन्ध वैसे तो अतीतवत्थु से ही होता है, किन्तु कहीं-कहीं पच्चुप्पन्नवत्थु से भी। गाथाएँ जातक के प्राचीनतम अंश हैं। वास्तव में गाथाएँ ही जातक हैं। पच्चुप्पन्नवत्थु आदि पाँच भागों से समन्वित जातक तो वास्तव में 'जातकट्ठवण्णना' या जातक की अर्थकथा है। गाथाओं के बाद प्रत्येक जातक में वेय्याकरण या अत्थवण्णना आती है। इसमें गाथाओं की व्याख्या और उनका शब्दार्थ होता है। सबसे अन्त में समोधान (समवधान) आता है, जिसमें अतीतवत्थु के पात्रों का बुद्ध के जीवन-काल के पात्रों के साथ सम्बन्ध मिलाया जाता है, यथा "उस समय अटारी पर से शिकार खेलने वाला शिकारी अब का देवदत्त था। और कुरुंग मृग तो मैं था ही"[१] आदि, आदि।

हम देख चुके हैं कि जातक में बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएँ संगृहीत हैं जब कि उन्होंने बोधिसत्व के रूप में विभिन्न पारमिताएँ पूरी कीं और बुद्धत्त्व के लिए योग्यता सम्पादित की। सुत्त-पिटक के प्रथम चार निकायों में अक्सर बुद्ध के ऐतिहासिक रूप की ही प्रतिष्ठा है। बाद में जातक में (तथा बुद्धवंस और चरिया-पिटक में) हम उनके ऐतिहासिक जीवन को पूर्व की कथाओं से सम्बद्ध कर दिया पाते हैं। यह काम कब किया गया, यह निश्चित रूप से बताना कठिन है। जातक-ट्ठकथा की निदान-कथा में बुद्ध-जीवन के तीन निदान बताये गये हैं, दूरे निदान, अविदूरे निदान और सन्तिके निदान। दूरे निदान में अत्यन्त दूर अतीत की बुद्ध-जीवन की कथा है। ऐसा माना जाता है कि अत्यन्त सुदूर अतीत में बुद्ध सुमेध तपस्वी बनकर उत्पन्न हुए थे। उस समय उन्होंने दीपकर बुद्ध में बड़ी निष्ठा दिखाई, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने उन्हें आगे चलकर बुद्ध होने का आशीर्वाद दिया। अनेक जन्मों तक विभिन्न शरीर धारण करते हुए सुमेध तपस्वी की साधना

---

१. कुरुंगमिग जातक (२१)

चलती रही। अन्त में वेस्सन्तर राजा के रूप में शरीर त्याग कर वे तुषित लोक में गये। सुमेध तपस्वी के रूप से लेकर तुषित लोक में जाने तक की बुद्ध की यह साधना-कथा 'दूरे निदान' के अन्तर्गत है। ५४७ जातक-कथाएँ--अपण्णक जातक से लेकर वेस्सन्तर जातक तक--बुद्ध-जीवनी के इस 'दूरे निदान' से ही सम्बन्धित हैं। इन कथाओं से यहाँ तात्पर्य है इनमें वर्णित अतीतवत्थु। इनका सम्बन्ध बुद्ध की जीवन-कथा के दूरे निदान से है अर्थात् ये बहुत दूर अतीत की कथाएँ हैं। लुम्बिनी-वन में जन्म लेने के समय से लेकर बोधि-प्राप्ति तक की कथा 'अविदूरे निदान' से सम्बन्धित है, अर्थात् वह इतने दूर अतीत की नहीं है। बोधि-प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक की बुद्ध-जीवनी 'सन्तिके निदान' के अन्तर्गत है। अर्थात् वह समीप की है। जातक की पच्चुप्पन्न-वत्थु में इसके कुछ अंश प्रस्तावना रूप में आते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, जातक की कहानियों में (अतीतवत्थु में) बुद्ध-जीवनी के दूरे निदान के अन्दर समाविष्ट उनके पूर्व जन्मों की कहानियाँ आती हैं। ऐतिहासिक बुद्ध के जीवन की किसी घटना का उल्लेख कर इन दूरे निदान की कथाओं के कहने के लिये अवकाश निकाल लिया गया है, जो हो वास्तव में जातक का निर्माण करती हैं।

प्रत्येक जातक के पाँच अंगों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जातक गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ हैं। गाथा (पद्य) भाग जातक का प्राचीनतम भाग माना जाता है। तिपिटक के अन्तर्भूत इस गाथा-भाग को ही मानना अधिक उपयुक्त होगा। शेष सब अट्ठकथा है। परन्तु जातक-कथाओं की प्रकृति ऐसी है कि मूल को व्याख्या से अलग कर देने पर कुछ भी समझ में नहीं आ सकता। केवल गाथाएँ कहानी का निर्माण नहीं करतीं। उनके ऊपर जब वर्तमान और अतीत की घटनाओं का ढाँचा चढ़ाया जाता है, तभी कथावस्तु का निर्माण होता है। अतः पूरे जातक में उपर्युक्त पाँच अवयवों का होना आवश्यक है, जिसमें गाथा-भाग को छोड़कर शेष सब उसकी व्याख्या है, बाद का जोड़ा हुआ है। फिर भी सुविधा के लिए, और ऐतिहासिक दृष्टि से गलत ढंग पर, हम उस सबको 'जातक' कह देते हैं। वास्तव में ५४७ जातक-कथाओं के संग्रह को, जो उपर्युक्त पाँच अंगों से समन्वित है, हमें 'जातक' न कहकर 'जातकट्ठवण्णना' (जातक के अर्थ की व्याख्या) या 'जातकट्ठकथा' ही कहना चाहिए। फॉसबाल और कॉवल ने जिसका क्रमशः रोमन लिपि में और अँग्रेजी में सम्पादन और अनुवाद किया है, या हिन्दी में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'जातक' शीर्षक से ६ भागों में अनुवाद किया है, वह

वास्तव में 'जातक' न होकर जातक की व्याख्या है। जैसा अभी कहा गया, जातक तो मूल रूप में केवल गाथाएँ हैं, शेष भाग उसकी व्याख्या है।

तो फिर गाथा और जातक के शेष भाग का काल-क्रम आदि की दृष्टि से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, यह प्रश्न सामने आता है। अट्ठकथा में गाथा-भाग को 'अभिसम्बुद्ध गाथा' या भगवान् बुद्ध द्वारा भाषित गाथाएँ कहा गया है। वे बुद्ध-वचन हैं। अतः वे तिपिटक के अंगभूत थीं और उनको वहाँ से संकलित कर उनके ऊपर कथाओं का ढाँचा प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण 'जातक' ग्रन्थ की विषय-वस्तु का जिस आधार पर वर्गीकरण हुआ है, उससे भी यही स्पष्ट है कि गाथा-भाग, या जिसे विण्टरनित्ज़ आदि विद्वानों ने 'गाथा-जातक' कहा है,[1] वही उसका मूलाधार है। 'जातक' ग्रन्थ का वर्गीकरण विषय-वस्तु के आधार पर न होकर गाथाओं की संख्या के आधार पर हुआ है। थेर-थेरी गाथाओं के समान वह भी निपातों में विभक्त है। 'जातक' में २२ निपात हैं। पहले निपात में १५० ऐसी कथाएँ हैं, जिनमें एक ही एक गाथा पाई जाती है। दूसरे निपात में भी १५० जातक-कथाएँ हैं, किन्तु यहाँ प्रत्येक कथा में दो-दो गाथाएँ पाई जाती हैं। इसी प्रकार तीसरे और चौथे निपात में पचास-पचास कथाएँ हैं और गाथाओं की संख्या क्रमशः तीन-तीन और चार-चार है। आगे भी तेरहवें निपात तक प्रायः यही क्रम चलता है। चौदहवें निपात का नाम 'पकिण्णक निपात' है। इस निपात में गाथाओं की संख्या नियमानुसार १४ न हो कर विविध है। इसीलिए इसका नाम 'पकिण्णक' (प्रकीर्णक) रख दिया गया है। इस निपात में कुछ कथाओं में १० गाथाएँ भी पाई जाती हैं और कुछ में ४७ तक भी। आगे के निपातों में गाथाओं की संख्या निरन्तर बढ़ती गई है। पन्द्रहवें निपात का शीर्षक है 'वीस निपात', सोलहवें का 'तिंस निपात', सत्रहवें का 'चत्तालीस निपात', अठारहवें का 'पण्णास निपात', उन्नीसवें का 'सट्ठि निपात', बीसवें का 'सत्तति निपात' और इक्कीसवें का 'असीति निपात'। बाईसवें निपात में केवल दस (५३८-५४७) जातक-कथाएँ हैं, किन्तु प्रत्येक में गाथाओं की संख्या सौ से भी ऊपर है। अन्तिम जातक (वेस्सन्तर जातक) में तो गाथाओं की संख्या सात सौ से भी ऊपर है। इस सब से यह निष्कर्ष आसानी से निकल सकता है कि जातक-कथाओं की आधार गाथाएँ ही हैं। स्वयं अनेक जातक-कथाओं के 'वेय्याकरण' भाग में 'पालि' और 'अट्ठकथा' के बीच

---

१. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११८-११९।

भेद दिखाया गया है, जैसे कि पालि सुत्तों की अन्य अनेक अट्ठकथाओं तथा 'विसुद्धि-मग्गो' आदि ग्रन्थों में भी।[1] जहाँ तक 'जातक' के वेय्याकरण भाग से सम्बन्ध है, वहाँ 'पालि' का अर्थ तिपिटक-गत गाथा ही हो सकता है। भाषा के साक्ष्य से भी गाथा-भाग अधिक प्राचीनता का द्योतक है, अपेक्षाकृत गद्य भाग के। फिर भी, जैसा विण्टरनित्ज़ ने कहा है, जातक की सम्पूर्ण गाथाओं को तिपिटक का मूल अंश नहीं माना जा सकता। उनमें भी पूर्वापर भेद है। स्वयं 'जातक' के वर्गीकरण से ही यह स्पष्ट है। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, चौदहवें निपात (पकिण्णक निपात) में प्रत्येक जातक-कथा की गाथाओं की संख्या नियमानुसार १४ न होकर कहीं-कहीं बहुत अधिक है। इसी प्रकार बीसवें निपात (सत्तति निपात) में उसकी दो जातक-कथाओं की गाथाओं की संख्या सत्तर-सत्तर न हो कर क्रमशः ९२ और ९३ हैं। इस सब से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जातक की गाथाओं अथवा 'गाथा-जातक' की मूल संख्या निपात के शीर्षक की संख्या के अनुकूल ही रही होगी, और बाद में उसका संवर्द्धन किया गया है।[2] अतः कुछ गाथाएँ अधिक प्राचीन हैं और कुछ अपेक्षाकृत कम प्राचीन। इसी प्रकार गद्य-भाग भी कुछ अत्यन्त प्राचीनता के लक्षण लिए हुए है और कुछ अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। किसी-किसी जातक में गद्य और गाथा-भाग में साम्य भी नहीं दिखाई पड़ता और कहीं-कहीं शैली में भी बड़ी विभिन्नता है। इस सब से जातक के संकलनात्मक रूप और उसके भाषा-रूप की विविधता पर प्रकाश पड़ता है, जिसमें कई रचयिताओं या संकलनकर्ताओं और कई शताब्दियों का योग रहा है।

जातक की गाथाओं की प्राचीनता तो निर्विवाद है ही, उसका अधिकांश गद्य-भाग भी अत्यन्त प्राचीन है। भरहुत और साँची के स्तूपों की पाषाण-वेष्टनियों पर जो चित्र अंकित हैं, वे 'जातक' के गद्य-भाग से ही सम्बन्धित हैं। अतः 'जातक' का अधिकांश गद्य-भाग जो प्राचीन है, तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसवी-पूर्व में इतना लोकप्रिय तो होना ही चाहिए कि उसे शिल्प-कला का आधार बनाया जा सके। अतः सामान्यतः हम 'जातक' को बुद्धकालीन भारतीय समाज और संस्कृति का प्रतीक मान सकते हैं। हाँ, उसमें कुछ लक्षण और अवस्थाओं के चित्रण प्राग्-बुद्ध-कालीन भारत के भी हैं। और कुछ बुद्ध के काल के बाद के भी। जहाँ तक गाथाओं

---

१. देखिए पहले अध्याय में 'पालि-शब्दार्थ-निर्णय' सम्बन्धी विवेचन।

२. विण्टरनित्ज़ः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११९ ।

की व्याख्या और उनके शब्दार्थ का सम्बन्ध है, वह सम्भवतः जातक का सब से अधिक अर्वाचीन अंश है। इस अंश के लेखक आचार्य बुद्धघोष माने जाते हैं। 'गन्धवंस' के अनुसार आचार्य बुद्धघोष ने ही 'जातकट्ठवण्णना' की रचना की।[1] किन्तु यह सन्दिग्ध है। भाषा-शैली की भिन्नता दिखाते हुए और कुछ अन्य निषेधात्मक कारण देते हुए डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स् ने बुद्धघोष को 'जातकट्ठवण्णना' का रचयिता या संकलनकर्ता नहीं माना है।[2] स्वयं जातकट्ठकथा के उपोद्घात में लेखक ने अपना परिचय देते हुए कहा है "...शान्तचित्त पंडित बुद्धमित्त और महिंशासक वंश में उत्पन्न, शास्त्रज्ञ, शुद्धबुद्धि भिक्षु बुद्धदेव के कहने से...व्याख्या करूँगा।"[3] महिंशासक सम्प्रदाय महाविहार की परम्परा से भिन्न एक बौद्ध सम्प्रदाय था। बुद्धघोष ने जितनी अट्ठकथाएँ लिखी हैं, शुद्ध महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधारित (महाविहारवासीनं देसनानयनिस्सितं— विसुद्धिमग्गो) हैं। अतः जातकट्ठकथा के लेखक को आचार्य बुद्धघोष से मिलाना ठीक नहीं। सम्भवतः यह कोई अन्य सिंहली भिक्षु थे, जिनका काल पाँचवीं शताब्दी ईसवी माना जा सकता है। जातक-कथाएँ, जैसा पहले कहा जा चुका है, भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मों से सम्बन्धित हैं। बोधिसत्व की चर्याओं का उनमें वर्णन है। अतः वे सभी प्रायः उपदेशात्मक हैं। परन्तु उनका साहित्यिक रूप भी निखरा हुआ है। उपदेशात्मक होते हुए भी वे पूरे अर्थों में कलात्मक हैं। कुछ जातक-कथाओं का सारांश देकर यहाँ उनकी विषय-वस्तु के रूप को स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा। 'जातक' के आदि में निदान-कथा (उपोद्घात) है, जिसमें भगवान् बुद्ध के पहले २४ बुद्धों के विवरण के साथ-साथ भगवान् गौतम बुद्ध की जीवनी जेतवन-विहार के दान की स्वीकृति तक दी गई है। अब कुछ जातकों की कथा-का दिग्दर्शन करें। अपण्णक जातक (१) व्यापार के लिए जाते हुए दो बनजारों की कथा है। एक दैत्यों के हाथ मारा गया, दूसरा बुद्धिमान् होने के कारण अपने पाँच सौ

---

१. पृष्ठ ५९ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)

२. बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़, पृष्ठ ५९-६० (भूमिका, श्रीमती रायस डेविड्स् द्वारा सम्पादित संस्करण)

३. जातक, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १-२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद) देखिये, वहीं पृष्ठ २३ (वस्तुकथा) भी।

साथियों सहित सकुशल घर लौट आया। कण्डिन जातक (कण्डि जातक भी) (१३)—कामुकता के कारण एक मृग शिकारी के हाथों मारा गया। मखादेव जातक (९)—सिर के सफेद बाल देख कर राजा सिंहासन छोड़ कर वन चला गया। सम्मोदमान जातक (३३)—एकमत बटेरों का चिड़ीमार कुछ न बिगाड़ सका, परन्तु जब उनमें फूट पड़ गई तो सभी चिड़ीमार के जाल में फँस गये। तित्तिर जातक (३७)—बन्दर, हाथी और तित्तिर ने आपस में विचार कर निश्चय किया कि जो ज्येष्ठ हो उसका आदर करना चाहिए। बक जातक (३८)—बगुले ने मछलियों को धोखा दे दे कर एक-एक को ले जाकर मार खाया। अन्त में वह एक केकड़े के हाथ से मारा गया। कण्ह जातक (२९)—एक बैल ने अपनी बुढ़िया माँ को, जिसने उसे पाला था, मजदूरी से कमा कर एक हजार कार्षापण ला कर दिये। वेळुक जातक (४३)—तपस्वी ने साँप के बच्चे को पाला, जिसने उसे डस कर मार डाला। रोहिणी जातक (४५)—रोहिणी नामक दासी ने अपनी माता के सिर की मक्खियाँ हटाने के लिये जाकर माता को मार डाला। वानरिन्द जातक (५७)—मगरमच्छ अपनी स्त्री के कहने से वानर का हृदय चाहता था। वानर अपनी चतुरता से बच निकला। कुद्दाल जातक (७०)—कुद्दाल पंडित कुद्दाल के मोह में पड़कर छह बार गृहस्थ और प्रव्रजित हुआ। सीलवनागराज जातक (७२)—वन में रास्ता भूले हुए एक आदमी की हाथी ने जान बचाई। खरस्सर जातक (७९)—गाँव का मुखिया चोरों से मिल कर गाँव लुटवाता था। नामसिद्धि जातक (९७)—'पापक' नामक विद्यार्थी एक अच्छे नाम की तलाश में बहुत घूमा। अन्त में यह समझ कर कि नाम केवल बुलाने के लिए होता है, वह लौट आया। अकालरावी जातक (११९)—असमय शोर मचाने वाला मुर्गा विद्यार्थियों द्वारा मार डाला गया। बिळारवत जातक (१२८)—गीदड़ धर्म का ढोंग कर चूहों को खाता था। गोध-जातक (१४१)—गोह की गिरगिट के साथ मित्रता उसके कुल-विनाश का कारण हुई। विरोचन जातक (१४३)—गीदड़ ने शेर की नकल करके पराक्रम दिखाना चाहा। हाथी ने उसे पाँव से रौंद कर उस पर लीद कर दी। गुण जातक (१५७)—दलदल में फँसे सिंह को सियार ने बाहर निकाला। मक्कट जातक (१७३)—बन्दर तपस्वी का वेश बना कर आया। आदिच्चुपट्ठान जातक (१७५)—बन्दर ने सूर्य की पूजा करने का ढोंग बनाया। कच्छप जातक (१७८)—जन्मभूमि के मोह के कारण कछुए की जान गई। गिरिदत्त जातक (१८४)—शिक्षक के लँगड़ा होने के कारण घोड़ा लँगड़ा कर चलने लगा।

सीहचम्म जातक (१८९)—सिंह की खाल पहन कर गधा खेत चरता रहा। किन्तु बोलने पर मारा गया। महापिंगल जातक (२४०)—राजा मर गया, फिर भी द्वारपाल को भय था कि अत्याचारी राजा यमराज के पास से कहीं लौट न आवे। आरामदूसक जातक (४६ तथा २६८)—बन्दरों ने पौधों को उखाड़ कर उनकी जड़ें नाप-नाप कर पानी सींचा। कुटिदूसक जातक (३२१)—बन्दर ने बये के सदुपदेश को सुन कर उसका घोंसला नोंच डाला। बावेरु जातक (३३९)—बावेरु राष्ट्र में कौआ सौ कार्षापण में और मोर एक हजार कार्षापण में बिका। वानर जातक (३४२)—मगरमच्छनी ने बन्दर का हृदय-मांस खाना चाहा। सन्धिभेद जातक (३४९)—गीदड़ ने चुगली कर सिंह और बैल को परस्पर लड़वा दिया, आदि आदि।[1]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि जातक-कथाओं का रूप लोक-साहित्य का है। उसमें पशु-पक्षियों आदि की कथाएँ भी हैं और मनुष्यों की भी। जातकों के कथानक विविध प्रकार के हैं। विण्टरनित्ज़ ने मुख्यतः सात भागों में उनका वर्गीकरण किया है।[2] (१) व्यावहारिक नीति-सम्बन्धी कथाएँ। (२) पशुओं की कथाएँ। (३) हास्य और विनोद से पूर्ण कथाएँ। (४) रोमांचकारी लम्बी कथाएँ या उपन्यास। (५) नैतिक वर्णन। (६) कथन मात्र और (७) धार्मिक कथाएँ। वर्णन की शैलियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। विण्टरनित्ज़ ने इनका वर्गीकरण पाँच भागों में इस प्रकार किया है[3]—(१) गद्यात्मक वर्णन (२) आख्यान, जिसके दो रूप हैं (अ) संवादात्मक और (आ) वर्णन और संवादों का सम्मिश्रित रूप। (३) अपेक्षाकृत लम्बे विवरण, जिनका आदि गद्य से होता है, किन्तु बाद में जिनमें गाथाएँ भी पाई जाती हैं। (४) किसी विषय पर कथित वचनों का संग्रह और (५) महाकाव्य या खंडकाव्य के रूप में वर्णन। वानरिन्द जातक (५७), विळारवत जातक (१२८), सीहचम्म जातक (१८९), सुंसुमार जातक (२०८) और सन्धिभेद जातक (३४९) आदि जातक-कथाए पशु-कथाएँ हैं। ये कथाएँ अत्यधिक

---

१. इस दिग्दर्शन के लिए मैं भदन्त आनन्द कौसल्यायन के जातक-अनुवाद के तीनों खंडों की विषय-सूची के लिए कृतज्ञ हूँ। वहीं से यह सामग्री संकलित की गई है।

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२५।

३. वहीं पृष्ठ १२४।

महत्वपूर्ण हैं। विशेषत: इन्हीं कथाओं का गमन विदेशों में हुआ है। व्यंग्य का पुट भी यहाँ अपने काव्यात्मक रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्राय: पशुओं की तुलना में मनुष्यों को हीन दिखाया गया है। एक विशेष बात यह है कि व्यंग्य किसी व्यक्ति पर न कर सम्पूर्ण जाति पर किया गया है। एक बन्दर कुछ दिनों के लिए मनुष्यों के बीच आकर रहा। बाद में अपने साथियों के पास जाता है। साथी पूछते हैं :

"आप मनुष्यों के समाज में रहे हैं। उनका बर्ताव जानते हैं। हमें भी कहें। हम उसे सुनना चाहते हैं।"

"मनुष्यों की करनी मुझ से मत पूछो।"

"कहें, हम सुनना चाहते हैं।"

बन्दर ने कहना शुरू किया,

"हिरण्य मेरा! सोना मेरा! यही रात-दिन वे चिल्लाते हैं। घर में दो जने रहते हैं। एक को मूंछ नहीं होती। उसके लम्बे केश होते हैं, वेणी होती है और कानों में छेद होते हैं। उसे बहुत धन से खरीदा जाता है। वह सब जनों को कष्ट देता है।"

बन्दर कह ही रहा था कि उसके साथियों ने कान बन्द कर लिए "मत कहें, मत कहें"।[1] इस प्रकार के मधुर और अनूठे व्यंग्य के अनेकों चित्र 'जातक' में मिलेंगे। विशेषत: मनुष्य के अहंकार के मिथ्यापन के सम्बन्ध में मर्मस्पर्शी व्यंग्य महापिंगल जातक (२४०) में, ब्राह्मणों की लोभ-वृत्ति के सम्बन्ध में सिगाल जातक (११३) में, एक अति बुद्धिमान् तपस्वी के सम्बन्ध में अवारिय जातक (३७६) में हैं। सब्बदाठ नामक शृगाल सम्बन्धी हास्य और विनोद भी बड़ा मधुर है (सब्बदाठ जातक, २४१) और इसी प्रकार मक्खी हटाने के प्रयत्न में दासी का मूसल से अपनी माता को मार देना (रोहिणी जातक, ४५) और बन्दरों का पौधों को उखाड़ कर पानी देना भी (आरामदूसक जातक, ४६ तथा २६८) मधुर विनोद से भरे हुए हैं। इसी प्रकार रोमांच के रूप में महा-उम्मग्ग जातक (५४६) आदि; नाटकीय आख्यान के रूप में छद्दन्त जातक (५१४) आदि, एक ही विषय पर कहे हुए कथनों के संकलन के रूप में कुणाल

---

१. गरहित-जातक (२१९) भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद, जातक (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ ३६२-६३।

जातक (५३६) आदि, संक्षिप्त नाटक के रूप में उम्मदन्ती जातक (५२७) आदि, नीति-परक कथाओं के रूप में गुण जातक (१५७) आदि, पूरे महाकाव्य के रूप में वेस्सन्तर जातक (५४७) आदि, एवं ऐतिहासिक संवादों के रूप में संकिच्च जातक (५३०) और महानारदकस्सप जातक (५४४) आदि। अनेक प्रकार के वर्णनात्मक आख्यान 'जातक' में भरे पड़े हैं, जिनकी साहित्यिक विशेषताओं का उल्लेख यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप से भी नहीं किया जा सकता।

बुद्धकालीन भारत के समाज, धर्म, राजनीति, भूगोल, लौकिक विश्वास, आर्थिक एवं व्यापारिक अवस्था एवं सर्वविध जीवन की पूरी सामग्री हमें 'जातक' में मिलती है। 'जातक' केवल लोक-कथाओं का प्राचीनतम संग्रह भर नहीं है। बौद्ध साहित्य में तो उसका स्थान सर्वमान्य है ही। स्थविरवाद के समान महायान में भी उसकी प्रभूत महत्ता है, यद्यपि उसके रूप के सम्बन्ध में कुछ थोड़ा-बहुत परिवर्तन है। बौद्ध साहित्य के समान समग्र भारतीय साहित्य में और इतना ही नहीं, समग्र विश्व-साहित्य में 'जातक' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार भारतीय सभ्यता के एक युग का ही वह निदर्शक नहीं है, बल्कि उसके प्रसार की एक अद्‌भुत गाथा भी 'जातक' में समाई हुई है। विशेषतः भारतीय इतिहास में 'जातक' के स्थान को कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं ले सकता। बुद्धकालीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवन को जानने के लिए 'जातक' एक उत्तम साधन है। चूंकि उसकी सूचना प्रासंगिक रूप से ही दी गई है, इसलिए वह और भी अधिक प्रामाणिक है और महत्त्वपूर्ण भी। 'जातक' के आधार पर यहाँ बुद्धकालीन भारत का संक्षिप्ततम विवरण भी नहीं दिया जा सकता। जातक की निदान-कथा में हम तत्कालीन भारतीय भूगोल-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचना पाते हैं। वहाँ कहा गया है कि जम्बुद्वीप (भारत) का विस्तार दस हजार योजन है। मध्य-देश की सीमाओं का उल्लेख वहाँ इस प्रकार किया गया है, "मध्य-देश की पूर्व दिशा में कजंगला नामक कस्बा है, उसके बाद बड़े शाल (के वन) हैं और, फिर आगे सीमान्त (प्रत्यन्त) देश। पूर्व-दक्षिण में सललवती नामक नदी है उसके आगे सीमान्त देश। दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश। पश्चिम दिशा में थूण नामक ब्राह्मण ग्राम है, उसके बाद सीमान्त देश। उत्तर दिशा में उशीरध्वज नामक पर्वत है, उसके बाद सीमान्त देश।"[१]

---

१. जातक (प्रथम खण्ड) पृष्ठ ६४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

यह वर्णन यहाँ विनय-पिटक से लिया गया है और बुद्ध-कालीन मध्यदेश की सीमाओं का प्रामाणिक परिचायक माना जाता है। जातक के इसी भाग में नेरंजरा, अनोमा आदि नदियों, पाण्डव पर्वत, वैभारगिरि, गयासीस आदि पर्वतों, उरुवेला, कपिलवस्तु, वाराणसी, राजगृह, लुम्बिनी, वैशाली, श्रावस्ती आदि नगरों और स्थानों, एवं उत्कल देश (उड़ीसा) का तथा यष्टिवन (लट्ठि वन) आदि वनों का उल्लेख मिलता है। सम्पूर्ण जातक में इस सम्बन्धी जितनी सामग्री भरी पड़ी है, उसका ठीक अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। सम्पूर्ण कोसल और मगध का तो उसके ग्रामों, नगरों, नदियों और पर्वतों के सहित वह पूरा वर्णन उपस्थित करता है। सोलह महाजनपदों (जिनका नामोल्लेख अंगुत्तर-निकाय में मिलता है) का विस्तृत विवरण हमें असम्पदान जातक में मिलता है। महासुतसोम जातक (५३७) में कुरु-देश का विस्तार ३०० योजन बताया गया है। "तियोजनसते कुरुरट्ठे"। इसी प्रकार धूमकारि जातक (४१३) तथा दस ब्राह्मण जातक (४९५) में कहा गया है कि युधिष्ठिर (युधिट्ठिल) गोत्र के राजा का उस समय वहाँ राज्य था। कुरु-देश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ का विस्तार सात योजन महासुतसोम जातक (५३७) तथा विधुर पण्डित जातक (५४५) में दिया गया है। धनंजय, कोरव्य[२] और सुतसोम आदि कुरु-राजाओं के नाम कुरुधम्म जातक (२७६), धूमकारि जातक (४१३), सम्भव जातक (५१५) और विधुर-पंडित जातक (५४५) में आते हैं। उत्तर पंचाल के लिए कुरु और पंचाल वंशों में झगड़ा चलता रहा, इसकी सूचना हम चम्पेय्य जातक (५०६) तथा अन्य अनेक जातकों में पाते हैं। कभी वह कुरु-राष्ट्र में सम्मिलित हो जाता था (सोमनस्स जातक, ५०५) और कभी कम्पिल्ल राष्ट्र में भी, जिसका साक्ष्य ब्रह्मदत्त जातक (३२३), जयद्दिस जातक (५१३) और गण्डतिन्दु जातक (५२०) में विद्यमान है।[३] पंचाल-राज दुर्मुख निमि का समकालिक था, इसकी सूचना हमें कुम्भकार जातक में मिलती है। अस्सक (अश्मक) राष्ट्र की राजधानी पोतन या पोतलि का उल्लेख हमें चुल्लकालिंग जातक (३०१) में मिलता है। मिथिला का विस्तार

---

२. कहीं-कहीं कोरव्य कुरु-देश के एक राजा का नाम दिया गया है और कहीं-कहीं वह धनंजय नामक कुरुराजा का विशेषण भी है, अर्थात् कुरु देश के राजा के अर्थ में इसका सामान्य प्रयोग भी किया गया है।

३. मिलाइये कुम्भकार जातक (४०८) भी।

सुरुचि जातक (४८९) और गन्धार जातक (४०६) में सात योजन बताया गया है। महाजनक जातक (५३९) में मिथिला का बड़ा सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है, जिसकी तुलना महाभारत ३. २०६. ६-९ से की जा सकती है। सागल नगर का वर्णन कालिंगबोधि जातक (४७९) और कुस जातक (५३१) में है। काशी राज्य के विस्तार का वर्णन धजविदेह जातक (३९१) में है। उसकी राजधानी वाराणसी के केतुमती, सुरुन्धन, सुदस्सन, ब्रह्मवड्ढन, पुप्फवती, रम्मनगर और मोलिनी आदि नाम थे, ऐसा साक्ष्य अनेक जातकों में मिलता है। तण्डुलनालि जातक (५) में वाराणसी के प्राकार का वर्णन है। तेलपत्त जातक (९६) और सुसीम जातक (१६३) में वाराणसी से तक्षशिला की दूरी २००० योजन बताई गई है। कुम्भकार जातक (४०८) में गन्धार के राजा नग्गजि या नग्नजित् का वर्णन है। कुस जातक (५३१) में मल्लराष्ट्र और उसकी राजधानी कुसावती या कुसिनारा का वर्णन है। चम्पेय्य जातक (५०६) में अंग और मगध के संघर्ष का वर्णन है। इसी प्रकार रुक्खधम्म जातक और फन्दन जातक में शाक्य और कोलियों के रोहिणी नदी के पानी को लेकर झगड़े का वर्णन है। वत्स राज्य और उसके अधीन भग्ग-राज्य की सूचना घोनसाख जातक (३५३) में मिलती है। इन्द्रिय जातक में सुरट्ठ, अवन्ती, दक्षिणापथ, दंडकवन, कुम्भवति नगर आदि का वर्णन है। सरभंग जातक में सुरट्ठ देश का वर्णन है। सालित्तक जातक और कुरुधम्म जातक से हमें पता चलता है कि अचिरवती नदी श्रावस्ती में होकर बहती थी। सरभंग जातक में गोदावरी नदी का भी उल्लेख है और उसे कविट्ठ वन के समीप बताया गया है। गन्धार जातक में कस्मीर-गन्धार का उल्लेख है। कण्ह जातक में संकस्स (संकाश्य) का उल्लेख है। चम्पेय्य जातक से हमें सूचना मिलती है कि चम्पा नदी अंग और मगध जनपदों की सीमा पर होकर बहती थी। गंगमाल जातक में गन्धमादन पर्वत का उल्लेख है। बिम्बिसार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचना जातकों में भरी पड़ी है। महाकोसल की राजकुमारी कोसलादेवी के साथ उसके विवाह का वर्णन और काशी गाँव की प्राप्ति का उल्लेख हरितमात जातक (२३९) और वड्ढकिसूकर जातक (२८३) में है। मगध और कोसल के संघर्षों का और अन्त में उनकी एकता का उल्लेख वड्ढकिसूकर जातक, कुम्मासपिंड जातक, तच्छसूकर जातक और भद्दसाल जातक आदि अनेक जातकों में है। इस प्रकार बुद्धकालीन राजाओं, राज्यों, प्रदेशों, जातियों, ग्रामों, नगरों, नदियों, पर्वतों आदि का पूरा विवरण हमें जातकों में मिलता है। तिलमुट्ठि जातक (२५२) में हमें तक्षशिला

विश्वविद्यालय का एक उत्तम चित्र मिलता है। संखपाल जातक (५२४) और दरीमुख जातक (३७८) में मगध के राजकुमारों के तक्षशिला में शिक्षार्थ जाने का उल्लेख है। तक्षशिला में शिक्षा के विधान, पाठ्य-क्रम, अध्ययन-विषय, उनके व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष, निवास, भोजन, नियन्त्रण आदि के विषय में पूरी जानकारी हमें जातकों में मिलती है। वाराणसी, राजगृह, मिथिला, उज्जेनी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, तक्षशिला आदि प्रसिद्ध नगरों को मिलाने वाले मार्गों का तथा स्थानीय व्यापार का पूरा विवरण हमें जातकों में मिलता है। काशी से चेदि जाने वाली सड़क का उल्लेख वेदब्भ जातक (४८) में है। क्या-क्या पेशे उस समय लोगों में प्रचलित थे, कला और दस्तकारी की क्या अवस्था थी तथा व्यवसाय किस प्रकार होता था, इसके अनेक चित्र हमें जातकों में मिलते हैं। बावेरु जातक (३३९) और सुसन्धि जातक (३६०) से हमें पता लगता है कि भारतीय व्यापार विदेशों से भी होता था और भारतीय व्यापारी सुवर्ण-भूमि (बरमा से मलाया तक का प्रदेश) तक व्यापार के लिए जाते थे। भरुकच्छ उस समय एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। सुसन्धि जातक में हमें इसका उल्लेख मिलता है। जल के मार्गों का भी जातकों में स्पष्ट उल्लेख है। लौकिक विश्वासों आदि के बारे में देवधम्म जातक (६) और नळपान जातक (२०) आदि में; समाज में स्त्रियों के स्थान के सम्बन्ध में अण्डभूत जातक (६२) आदि में; दासों आदि की अवस्था के सम्बन्ध में कटाहक जातक (१२५) आदि में, सुरापान आदि के सम्बन्ध में सुरापान जातक (८१) आदि में; यज्ञ में जीव-हिंसा के सम्बन्ध में दुम्मेध जातक (५०) आदि में; व्यापारिक संघों और डाकुओं के भय आदि के सम्बन्ध में खुरप्प जातक (२६५) और तत्कालीन शिल्पकला आदि के विषय में महाउम्मग्ग जातक (५४६) आदि में प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है, जिसका यहाँ विवरण देना अत्यन्त कठिन है। जिस समाज का जातक में चित्रण है, उसमें वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी। ब्राह्मणों का समाज में उच्च स्थान था। ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दो वर्ण उच्च माने जाते थे। दासों की प्रथा प्रचलित थी, उनके साथ दुर्व्यवहार के भी उदाहरण मिलते हैं। दास क्रीत भी होते थे और पितृक्रमागत भी। विशेष अवस्थाओं में दास मुक्त भी कर दिये जाते थे। चमार, भंगी, शिकारी आदि नीच कुल माने जाते थे। बुद्ध-काल में जाति पेशे की सूचक नहीं थी। जातक-कहानियों से पता चलता है कि किसी भी समय एक पेशे को छोड़ कर कोई व्यक्ति दूसरा पेशा कर सकता था और इसमें उसकी जाति बाधक नहीं होती थी। विवाह-सम्बन्ध प्रायः समान जातियों और कुलों

('समजातिक कुल') में अच्छे माने जाते थे। उत्सवों में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी सम्मिलित होती थीं। अनेक प्रकार के उत्सव बुद्ध-काल में होते रहते थे और उनमें मांस-मछली के भोजन के साथ-साथ सुरापान भी चलता था। स्त्रियों के सदाचार को अक्सर जातक की कहानियों में संशय की दृष्टि से देखा गया है। कहा गया कि सत्य का होना उनमें सुदुर्लभ ही है। "सच्चं तेसं सुदुल्लभं"। परन्तु भार्या के रूप में स्त्री की प्रशंसा की गई है और उसे परम सखा बताया गया है। "भरिया नाम परमा सखा"। शिल्पों का समाज में आदर था। वेश्याओं के प्रभूत वर्णन जातक में मिलते हैं। यह प्रथा विद्यमान थी। इसी प्रकार द्यूत का व्यसन भी प्रचलित था। विधुर पंडित जातक में हम धनंजय कोरव्य को जुआ खेलते देखते हैं। शासन में रिश्वत चलती थी। कणवेर जातक में हम एक कोतवाल को रिश्वत लेते देखते हैं। शकुनों में और फलित ज्योतिष में लोगों का विश्वास था। छींक आने को अपशकुन मानते थे और जब कोई छींकता था तो उससे लोग कहते थे 'जियो' या 'चिरंजीव होओ।' 'सत्य-क्रिया' ('सच्च किरिया') में लोगों का विश्वास था। मूगपक्ख जातक में हम देखते हैं कि काशिराज की रानी ने सत्य-क्रिया के बल से सन्तान प्राप्त की। इसी प्रकार बट्टक जातक में कहा है कि एक बटेर के बच्चे ने अपने सत्य-क्रिया बल से वृक्ष में लगी आग को बुझा दिया। वयः प्राप्त कुमारिकाओं को अपना वर खोजने की स्वतंत्रता थी, ऐसा अम्ब जातक से पता चलता है। संकिच्च जातक में पत्नी को 'धनक्कीता' कहा गया है। इससे पता चलता है कि कुछ विशेष अवस्थाओं में पति को कन्या के पिता को धन भी देना पड़ता था। उदय जातक से भी ऐसा ही मालूम पड़ता है। जहाँ तक धार्मिक अवस्था का सम्बन्ध है, एक प्रकार का लोक-धर्म प्रचलित था। लोग यक्षों, वृक्षों, नागों, गरुड़ों और नदियों की पूजा करते थे। एक स्त्री को, जो अपने पति से बिछुड़ गई है, हम भागीरथी गंगा की स्तुति करते और उसकी शरण जाते देखते हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं कि एक प्रकार का भागवत-धर्म लोगों में प्रचलित था। गोकुल-दास दे ने इस बात को दिखाने का बड़ा आयास किया है कि धर्म का जो स्वरूप जातककालीन समाज में हम देखते हैं, उसमें भागवत धर्म के तत्त्व विद्यमान हैं।[१] ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना बिलकुल असंगत है। कहाँ ईसा के कई शताब्दियों

---

१. देखिये उनकी 'सिगनिफिकेन्स एण्ड इम्पोरटेंस ऑव दि जातकस्', पृष्ठ १५६-१७८।

(कम से कम छह शताब्दी) बाद की भागवत और कहाँ ईसा के कम से कम पाँच-छह शताब्दियों पूर्व का जातककालीन समाज! अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि एक प्रकार का लोक-धर्म जातककालीन समाज में प्रचलित था, जिसमें साधारण जन-समाज के विश्वास और उसकी विभिन्न लौकिक और आध्यात्मिक आवश्यकताएँ सम-तल पर प्रतिबिम्बित थीं। अर्थात्, पूजा, वन्दना, दान, देवताओं की शरणागति आदि की भावनाएँ प्रधान थीं। अधिक विवेचन न कर हम यहाँ यही कहना चाहते हैं कि जातक वस्तुतः प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन सम्बन्धी सूचनाओं का अगाध भाण्डार ही है और उसका समग्रतया अध्ययन पालि साहित्य के इतिहास-लेखक के लिए सम्भव नहीं है। यह अनेक महाग्रन्थों का विषय है।

यही बात वास्तव में जातक के भारतीय साहित्य और विदेशी साहित्य पर प्रभाव की भी है। पहले हम बौद्ध साहित्य और कला में उसके स्थान और महत्त्व को लें। जैसा पहले कहा जा चुका है, बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदायों में 'जातक' का महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। महायान और हीनयान को वह एक प्रकार से जोड़ने वाली कड़ी है, क्योंकि महायान का बोधिसत्व-आदर्श यहाँ अपने बीज-रूप में विद्यमान है। हम पहले देख चुके हैं कि दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व के साँची और भरहुत के स्तूपों में जातक के अनेक दृश्य अंकित हैं। 'मिलिन्दपञ्हो' में अनेक जातक-कथाओं को उद्धृत किया गया है। अमरावती स्तूप (द्वितीय शताब्दी ईसवी) में उसके चित्र अंकित हैं। पाँचवी शताब्दी में लंका में उसके ५०० दृश्य अंकित किये जा चुके थे। अजन्ता की चित्रकारी में भी महिस जातक (२७८) अंकित है ही। बोध-गया में भी उसके अनेक चित्र अंकित हैं। इतना ही नहीं, जावा के बोरोबदूर स्तूप (९वीं शताब्दी ईसवी) में, बरमा के पगान नगर में स्थित पेगोडाओं (१३वीं शताब्दी ईसवी) में और सिआम के सुखोदय नामक प्राचीन नगर (१४वीं शताब्दी) में जातक के अनेक दृश्य चित्रित मिले हैं। अतः जातक का महत्त्व भारत में ही नहीं, भारत के बाहर भी, स्थविरवाद बौद्ध धर्म में ही नहीं, बौद्ध धर्म के अन्य अनेक रूपों में भी, प्रतिष्ठित है।

अब भारतीय साहित्य में जातकों के महत्त्व और स्थान को लें। यदि काल-क्रम की दृष्टि से देखें तो वैदिक साहित्य की शुनःशेप की कथा, यम-यमी संवाद, पुरुरवा-उर्वशी संवाद आदि कथानक ही बुद्ध-पूर्व काल के हो सकते हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदों की आख्यायिकाएँ भी बुद्ध-पूर्व काल की

मानी जा सकती हैं, और इसी प्रकार ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण के कुछ आख्यान भी। पर इनका भी जातकों से और सामान्यतः पालि साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम देख चुके हैं कि तेविज्ज-सुत्त (दीघ० १।१३) में अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अङ्गिरा, भारद्वाज, वशिष्ठ, काश्यप और भृगु, इन दस मन्त्र-कर्ता ऋषियों के नामों के साथ-साथ ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण और छन्दावा ब्राह्मण का भी उल्लेख हुआ है।[१] इसी प्रकार हम यह भी देख चुके हैं कि मज्झिम-निकाय के अस्सलायन-सुत्तन्त (२।५।३) के आश्व-लायन ब्राह्मण को प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन से मिलाया गया है। मज्झिम-निकाय के आश्वलायन श्रावस्ती-निवासी हैं और वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत (तिण्णं वेदानं पारगू सनिघण्डु-केटुभानं) हैं, इसी प्रकार प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन भी वेद-वेदाङ्ग के महापंडित हैं और कौसल्य (कोसल-निवासी) हैं।[२] जातकों में भी वैदिक साहित्य के साथ निकट सम्पर्क के हम अनेक लक्षण पाते हैं। उद्दालक जातक (४८७) में उद्दालक के तक्षशिला जाने और वहाँ एक लोकविश्रुत आचार्य की सूचना पाने का उल्लेख है। इसी प्रकार सेतुकेतु जातक (३७७) में उद्दालक के पुत्र श्वेतुकेतु का कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला जाने का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण (११.४.१-१) में उद्दालक को हम उत्तरापथ में भ्रमण करते हुए देखते हैं। अतः इससे यह निष्कर्ष निकालना असंगत नहीं है कि जातकों के उद्दालक और श्वेतुकेतु ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों के इन नामों के व्यक्तियों से भिन्न नहीं हैं।[३] जर्मन विद्वान् लूडर्स ने सेतकेतु जातक (३७७) में आने वाली गाथाओं को 'वैदिक आख्यान और महाकाव्य-युगीन काव्य को मिलाने वाली कड़ी' कहा है,[४] जो समुचित ही है। इसी प्रकार

---

१. देखिये पीछे दीघ-निकाय की विषय-वस्तु का विवेचन।

२. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इंडिया, पृष्ठ ३३-३४ (छठा संस्करण, कलकत्ता, १९५३)

३. हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इंडिया, पृष्ठ ६१-६२ (छठा संस्करण, कलकत्ता, १९५३); विण्टरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२३।

४. "connecting link between the vedic epic आख्यान and the epic poetry" विण्टरनित्ज़-कृत इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२३, पद-संकेत २ में उद्धृत।

सिंहली विद्वान् मललसेकर का यह कहना ठीक जान पड़ता है कि जातक का सम्बन्ध भारतीय साहित्य की उस आख्यान-विधा से है, जिससे उत्तरकालीन महाकाव्यों का विकास हुआ है।[१] रामायण और महाभारत के साथ जातक की तुलना करते समय हमें एक बात का बड़ा ध्यान रखना चाहिए। वह यह है कि इन दोनों ग्रन्थों के सभी अंश बुद्ध-पूर्व युग के नहीं हैं। रामायण के वर्तमान रूप में २४००० श्लोक पाये जाते हैं। जनश्रुति भी है और स्वयं रामायण में कहा भी गया है 'चतुर्विंश सहस्राणि श्लोकानाम् उक्तवान् ऋषिः' (१.४.२)। किन्तु बौद्ध महाविभाषा-शास्त्र (कात्यायनीपुत्र के ज्ञानप्रस्थान शास्त्र की व्याख्या) से सिद्ध है कि द्वितीय शताब्दी ईसवी में भी रामायण में केवल १२००० श्लोक थे।[२] रामायण २-१०९-३४ में 'बुद्ध तथागत' का उल्लेख आया है।[३] इसी प्रकार शक, यवन आदि के साथ संघर्ष (शकान् यवनमिश्रितान्-१-५४-२१) का वर्णन है। किष्किन्ध्या-काण्ड (४.४३-११-१२) में सुग्रीव के द्वारा कुरु, मद्र और हिमालय के बीच में यवनों और शकों के देश और नगरों को स्थित बताया गया है। इससे सिद्ध है कि जिस समय ये अंश लिखे गये थे, ग्रीक और सिथियन लोग पंजाब के कुछ प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा चुके थे। अतः रामायण के काफी अंश महाराज बिम्बिसार या बुद्ध के काल के बाद लिखे गये।[४] महाभारत में इसी प्रकार एडूकों (बौद्ध मन्दिरों) का स्पष्ट उल्लेख है।[५] बौद्ध विशेषण चातुर्महाराजिक भी वहाँ आया है (१२-३३९-४०)। रोमक (रोमन) लोगों का भी वर्णन (२-५१-१७) है। इसी प्रकार सिथियन और ग्रीक आदि लोगों का भी (३-१८८-३५)। आदि पर्व (१-६७-१३-१४ में महाराज अशोक को 'महासुर' कहा गया है और 'महावीर्योऽपराजितः' के रूप में उसकी प्रशंसा

---

१. वि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ ११७।

२. हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इंडिया, पृष्ठ ३ (छठा संस्करण, १९५३)

३. उद्धरण के लिये देखिये जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २४ (वस्तुकथा) पद-संकेत ३ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

४. हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३-४ (छठा संस्करण, १९५३)।

५. देखिये वहीं, पृष्ठ ४।

की गई है। शान्ति-पर्व में विष्णुगुप्त कौटिल्य (द्वितीय शताब्दी ईसवी-पूर्व) के शिष्य कामन्दक का भी अर्थविद्या के आचार्य के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध है कि महाभारत के वर्तमान रूप का काफी अंश बुद्ध, अशोक और कौटिल्य विष्णुगुप्त के बाद के युग का है।[1] जातक की अनेक गाथाओं और रामायण के श्लोकों में अद्‌भुत समानता है।[2] दसरथ जातक (४६१) और देवधम्म जातक (६) में हमें प्रायः राम-कथा की पूरी रूपरेखा मिलती है। जयद्दिस जातक (५१३) में राम का दण्डकारण्य जाना दिखाया गया है। इसी प्रकार साम जातक (५४०) की सदृशता रामायण २. ६३-२५ से है और विण्टरनित्ज़ के मत में जातक का वर्णन अधिक सरल और प्रारम्भिक है।[3] वेस्सन्तर जातक (५४७) के प्रकृति-वर्णन का साम्य इसी प्रकार वाल्मीकि के प्रकृति-वर्णन से है और इस जातक की कथा के साथ राम की कथा में भी काफी सदृशता है।[4] महाभारत के साथ जातक की तुलना अनेक विद्वानों ने की है। उनके निष्कर्षों को यहाँ संक्षिप्ततम रूप में भी रखना वास्तव में बड़ा कठिन है। सबसे बड़ी बात यह है कि महाजनक जातक (५३९) के जनक उपनिषदों और महाभारत के ही ब्रह्मज्ञानी जनक हैं।[5] इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। मिथिला के प्रासादों को जलते देखकर जनक ने कहा था 'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन' (महाभारत १२-१७; १८-१९; २१९-५०)। ठीक उनका यही कथन हमें महाजनक जातक (५३९) में भी मिलता है तथा कुम्भकार जातक

---

१. अधिक प्रमाणों के लिए देखिये, वहीं, पृष्ठ ४-५।

२. कुछ उद्धरणों के लिए देखिये जातक (प्रथम खण्ड) पृष्ठ २५ पद-संकेत १ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४७, पद-संकेत ४।

४. विंटरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५२।

५. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २६, विण्टरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४६; मिलाइये हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ५६-५७ (छठा संस्करण, १९५३), जहाँ उन्होंने दोनों जनकों को अभिन्न मानने में कुछ कठिनाई मानते हुए भी यह स्वीकार किया है कि महाजनक जातक में आया जनक का उद्‌गार "सचमुच हमें महान् दार्शनिक राजा की याद दिलाता है।"

(४०८) और सोणक जातक (५२९) में भी। अतः दोनों व्यक्ति एक हैं, इसमें तनिक भी सन्देह का अवकाश नहीं। इसी प्रकार ऋष्यशृङ्ग (पालि इसिसिङ्ग) की पूरी कथा नळिनिका जातक (५२६) में है। युधिष्ठिर (युधिट्ठिल) और विदुर (विधूर) का संवाद दस ब्राह्मण जातक (४९५) में है। कुणाल जातक (५३६) में कृष्ण और द्रौपदी की कथा है। इसी प्रकार घट जातक (३५५) में कृष्ण द्वारा कंस-वध और द्वारका बसाने का पूरा वर्णन है। महाकण्ह जातक (४६९), निमि जातक (५४१) और महानारदकस्सप जातक (५४४) में राजा उशीनर और उसके पुत्र शिवि का वर्णन है। सिवि जातक (४९९) में भी राजा शिवि की दान-पारमिता का वर्णन है, अपनी आँखों को दे देने के रूप में। अतः कहानी मूलतः बौद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। महाभारत में १०० ब्रह्मदत्तों का उल्लेख है (२.८.२३)[1]। सम्भवतः ब्रह्मदत्त किसी एक राजा का नाम न होकर राजाओं का सामान्य विशेषण था, जिसे १०० राजाओं ने धारण किया। दुम्मेध जातक (५०) में भी राजा और उसके कुमार दोनों का नाम ब्रह्मदत्त बताया गया है। इसी प्रकार गंगमाल जातक (४२१) में कहा गया है कि ब्रह्मदत्त कुल का नाम है। सुसीम जातक (४११), कुम्मासपिंड जातक (४१५), अट्ठान, जातक (४२५), लोमसकस्सप जातक (४३३) आदि जातकों की भी यही स्थिति है। अतः जातकों में आये हुए ब्रह्मदत्त केवल 'एक समय' के पर्याय नहीं हैं, ऐसा कहा जा सकता है। उनमें कुछ न कुछ ऐतिहासिकता भी अवश्य है। रामायण और महाभारत के अतिरिक्त पतंजलि के महाभाष्य में भी जातक-गाथाएँ उल्लिखित हैं[2], प्राचीन जन साहित्य में भी[3] और बाद के कथा-साहित्य पर भी उसका प्रभाव उपलक्षित है। प्रथम शताब्दी ईसवी में गणाढ्य ने पैशाची प्राकृत में अपनी 'वड्डकहा' ('बृहत्कथा') लिखी, जो आज अप्राप्त है। अतः इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु सोमदेव ने, जो स्वयं बौद्ध थे, ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में अपना 'कथासरित्सागर' बृहत्कथा के आधार पर ही लिखा और उसमें अनेक कहानियाँ जातक के समान हैं। पंचतन्त्र की अनेक कहानियों के मूल स्रोत भी जातक में दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार 'हितोपदेश' में भी अनेक

---

१. मिलाइये "शतं वै ब्रह्मदत्तानाम्" (मत्स्य पुराण)

२. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, पृष्ठ १७

३. विण्टरनित्स : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४५, पद-संकेत २

कहानियाँ जातक-कथाओं पर आधारित दिखाई जा सकती हैं। इस सबके विस्तृत विवेचन में जाना यहाँ असम्भव है। इसी सम्बन्ध में यह कहना भी आवश्यक है कि भारतीय लोक-साहित्य में भी अनेक जातक-कहानियों को अदृश्य रूप से खोजा जा सकता है। ऐसी कहानियाँ भारत के प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित हैं। उदाहरणतः "सीख वाकूँ दीजिए, जाकूँ सीख सुहाइ। सीख न दीजै बानरा, बया कौ घर जाइ।" के रूप में बन्दर और बया की कहानी भारत के सब प्रदेशों में विदित है। परन्तु कम ही लोग जानते हैं कि यह कुटिदूसक जातक (३२१) की कहानी है। इसी प्रकार कई अनेक कहानियों को मनोरंजकपूर्ण ढंग से खोजा जा सकता है।

'जातक' ने विदेशी साहित्य को भी किस प्रकार प्रभावित किया है और किस प्रकार उसके माध्यम से बुद्ध-वचनों का गमन दूरस्थ देशों में, यूरोप तक, हुआ है, इसकी कथा भी बड़ी अद्‌भुत है। जिस प्रकार जातक-कथाएँ समुद्र-मार्ग से लंका, बरमा, सिआम, जावा, सुमात्रा, हिन्द-चीन आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को गई और वहाँ स्थापत्य-कला आदि में चित्रित की गईं, उसी प्रकार स्थल-मार्ग से हिन्दुकुश और हिमालय को पार कर पच्छिमी देशों तक उनके पहुँचने की यात्रा भी बड़ी लम्बी और मनोहर है। पिछले पचास-साठ वर्षों की ऐतिहासिक गवेषणाओं से यह पर्याप्त रूप से सिद्ध हो चुका है कि बुद्ध-पूर्व काल में भी विदेशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्पर्क थे। बावेरु जातक (३३९) और सुसन्धि जातक (३६०) में हम इन सम्बन्धों की पर्याप्त झलक देख ही चुके हैं। द्वितीय शताब्दी ईसवी से ही अलसन्द (अलेक्ज़ेन्ड्रिया) जिसे अलक्षेन्द्र (अलेक्ज़ेण्डर) ने बसाया था, पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों का मिलन-केन्द्र हो गया था। वस्तुतः पश्चिम में भारतीय साहित्य और विशेषतः जातक-कहानियों की पहुँच अरब और फिर उनके बाद ग्रीक लोगों के माध्यम से हुई। पञ्चतन्त्र में अनेक जातक-कहानियाँ विद्यमान हैं, यह तथ्य सर्वविदित है। छठी शताब्दी ईसवी में पंचतन्त्र का अनुवाद पहलवी भाषा में किया गया। आठवीं शताब्दी में 'कलेला दमना' शीर्षक से उसका अनुवाद अरबी में किया गया। 'कलेला दमना' शब्द 'कर्कट' और 'दमनक' के अरबी रूपान्तर हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में पंचतंत्र के अरबी अनुवाद का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ, फिर धीरे-धीरे सभी यूरोपीय भाषाओं में उसका रूपान्तर हो गया। यह हमने पंचतन्त्र के माध्यम से जातक-कथाओं के प्रसार की बात कही है। वास्तव में सीधे रूप से भी

जातक ने विदेशी साहित्य को प्रभावित किया है और उसकी कथा भी अत्यन्त प्राचीन है।

ग्रीक साहित्य में ईसप की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। फ्रेंच, जर्मन और अंग्रेज विद्वानों की खोज से सिद्ध है कि ईसप एक ग्रीक थे, यद्यपि उनके काल के विषय में अभी पूर्ण निश्चय नहीं हो पाया है। ईसप की कहानियों का यूरोपीय साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है और विद्वानों के द्वारा यह दिखा दिया गया है कि ईसप की अधिकांश कहानियों का आधार जातक है।[1] सीहचम्म जातक (१८९) की कथा तो अति प्रसिद्ध ही है, जो ईसप की कहानियों में भी पाई जाती है। सिंह की खाल ओढ़े हुए गधा इन दोनों जगह ही दिखाई पड़ता है। डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स् का तो मत है कि शेक्सपियर ने अपने नाटक 'किंग जोन्ह' में इस कथा की ओर संकेत किया है, अंक २, दृश्य १ तथा अंक ३, दृश्य १ में (बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़, भूमिका, पृष्ठ ६; श्रीमती रायस डेविड्स् द्वारा सम्पादित संस्करण)। इसी प्रकार अलिफलैला की कहानियों से भी जातक की समानताएं हैं। समुग्ग जातक (४३६) का तो सीधा सम्बन्ध अलिफलैला की एक कहानी से दिखाया ही गया है।[2] कृतज्ञ पशु और अकृतज्ञ मनुष्यों की कहानियाँ जो सच्चंकिर जातक (७३), तक्कारिय जातक (४८१) और महाकपि जातक (५१६) में मिलती हैं, यूरोप की अनेक भाषाओं के कथा-साहित्य में बिखरी पड़ी है। इसी प्रकार अकृतज्ञ पत्नी की कहानी भी है, जो चूलपदुम जातक (१९३) में आई है, प्रायः सारे यूरोप के कथा-साहित्य में व्याप्त है।[3] कच्छप जातक (२१५) की कहानी ग्रीक, लेटिन, अरबी, फारसी और अनेक यूरोपीय भाषाओं के साहित्य में पाई जाती है, ऐसा रायस डेविड्स् ने हमें बताया है। इसी प्रकार जम्बुखादक जातक (२९४)

---

१. टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़, पृष्ठ ३२-३३ (भूमिका, श्रीमती रायस डेविड्स् द्वारा सम्पादित संस्करण, जार्ज रटलेज एण्ड संस, लन्दन)।

२. देखिये डा० हेमचन्द्र रायचौधरी का "बुद्धिज्म इन वैस्टर्न एशिया" शीर्षक लेख, डा० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित "बुद्धिस्टिक स्टडीज़" में, पृष्ठ ६३९-६४०।

३. देखिये 'एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स' जिल्द सातवीं, में 'जातक' का विवरण।

की कहानी है। पनीर के टुकड़े को लेकर गीदड़ और कौए की कहानी के रूप में यह यूरोप भर के बालकों को विदित है। महोसध जातक, दधिवाहन जातक और राजोवाद जातक की कहानियाँ भी इसी प्रकार यूरोपीय साहित्य में थोड़े-बहुत रूपान्तर से पाई जाती हैं। अन्य अनेक कहानियों की भी तुलना विद्वानों ने की है।[1] आठवीं शताब्दी में अरबों ने यूरोप पर आक्रमण किया। स्पेन और इटली आदि को उन्होंने रौंद डाला। उन्हीं के साथ जातक कहानियाँ भी इन देशों में गईं और उन्होंने धीरे-धीरे सारे यूरोपीय साहित्य को प्रभावित किया। फ्रांस के मध्यकालीन साहित्य में पशु-पक्षी सम्बन्धी कहानियों की अधिकता है। फ्रेंच विद्वानों ने उन पर 'जातक' के प्रभाव को स्वीकार किया है। बायबिल और विशेषत: सन्त जोन्ह के सुसमाचार की अनेक कहानियों और उपमाओं की तुलना पालि तपिटक और विशेषत: 'जातक' के इस सम्बन्धी विवरणों से विद्वानों ने की है। ईसाई धर्म पर बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यह अब प्राय: निर्विवाद माना जाने लगा है। इस प्रभाव में अन्य अनेक तत्त्वों के अतिरिक्त 'जातक' का भी काफी सहयोग रहा है। ईसाई सन्त प्लेसीडस की तुलना निग्रोधमिग जातक (१२) की कथा से की गई है, यद्यपि विण्टरनित्ज़ ने उसमें अधिक साम्य नहीं पाया है।[2] पर सब से अधिक साम्य तो मध्य-युग की रचना 'बरलाम एण्ड जोसफत' या ('जोसफत एण्ड-बरलाम') का जातक के 'बोधिसत्व' से है। इस रचना में, जो मूलत: छठी या सातवीं शताब्दी ईसवी में पहलवी में लिखी गई थी, भगवान् बुद्ध की जीवनी एक ईसाई सन्त के परिधान में वर्णित की गई है। बाद में इस रचना के अनुवाद अरब, सीरिया, इटली और यूरोप की अन्य भाषाओं में हुए। ग्रीक भाषा में इस रचना का अनुवाद आठवीं शताब्दी में अरब के खलीफा अल मंसूर के समकालिक एक ईसाई सन्त ने, जिसका नाम 'दमिश्क का सन्त जोन्ह' (सेण्ट जोन्ह आव दमस्कस —(६७६-७४९ ई०) था, किया। ग्रीक से इस रचना का लैटिन में अनुवाद हुआ और फिर यूरोप की अन्य भाषाओं में। करीब ८० संस्करण इस रचना के यूरोप, अफ्रीका और पश्चिमी एशिया की भाषाओं में हुए हैं। इस रचना में जोसफत बोधिसत्व के रूप में हैं और बरलाम उनके गुरु हैं। बुद्ध के जन्म की कथा, वृद्ध,

---

१. मिलाइये विण्टरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १३०, पद-संकेत २, आदि, आदि।

२. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५०, पद-संकेत २

रोगी, मृत और प्रव्रजित को उनके द्वारा देखना और संन्यास लेना, ये सब तथ्य 'बुद्ध-चरित' की शैली में यहाँ वर्णित हैं। बुद्ध के जन्म पर की गई भविष्यवाणी का भी वर्णन है और पिता के द्वारा पुत्र को महल के अन्दर रखने का भी, ताकि वह संसार का दुःख न देख सके। 'जोसफत' शब्द अरबी 'युदस्तफ' का रूपान्तर है, जो स्वयं संस्कृत 'बोधिसत्व' का अरबी अनुवाद है। बोधिसत्व शब्द पहले बोसत बना और फिर जोसफत या जोसफ। ईसाई धर्म में सन्त जोसफत को (जिनका न केवल नाम, बल्कि पूरा जीवन बोधिसत्व-बुद्ध का जीवन है) ईसाई सन्त के रूप में स्वीकार किया गया है। पोप सिक्सटस पंचम (१५८५-९०) ने अपने २७ दिसम्बर सन् १५८५ के आदेश में जोसफत और बरलाम को ईसाई सन्तों के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार ईसाई परिधान में मध्यकालीन यूरोप बोधिसत्त्व-बुद्ध को पूजता रहा। मध्ययुगीन ईसाई यूरोप पर बौद्ध धर्म के प्रभाव का यह प्रतीक है। यह एक बड़ी अद्‌भुत किन्तु ऐतिहासिक रूप से सत्य बात है।[१] डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स ने तो शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस' में 'तीन डिबियों' तथा 'आध सेर मांस' के वर्णन में तथा 'ऐज़ यू लाइक इट' में 'बहुमूल्य रत्नों' के विवरण में जातक के प्रभाव को ढूंढ़ निकाला है, एवं स्लेवोनिक जाति के साहित्य में तथा प्रायः सभी पूर्वी यूरोप के साहित्य में 'जातक' के प्रभाव की विद्यमानता दिखाई है।[२] भिक्षु शीलभद्र ने पर्याप्त उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि निमि

---

१. देखिये टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स् : बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़ पृष्ठ ३८-३९ (भूमिका, श्रीमती रायस डेविड्स् द्वारा सम्पादित संस्करण)। सन्त जोसफत और बरलाम की कहानी तथा बौद्धधर्म के साथ इसके सम्बन्ध पर वैसे तो प्रभूत साहित्य है, परन्तु अभी हाल में इस विषय पर एक बहुत सुन्दर पुस्तक निकली है, "दि विज़डम ऑव बलहवार : ए क्रिश्चियन लीजेण्ड ऑव दि बुद्ध", लेखक डेविड मार्शल लेंग; प्रकाशक जार्ज एलिन एण्ड अनविन, लन्दन, १९५७।

२. Thus for instance the Three Caskets and the Pound of Flesh in the Merchant of Venice and the Precious Jewels which in 'As You Like It' the venomous toad wears in his head, are derived from the Buddhist tales. In a similar way, it has been shown that tales current among the

जातक (५४१) ही चौदहवीं शताब्दी के इटालियन कवि दाँते की प्रसिद्ध रचना (Divina Comedia) का आधार है।[1] जर्मन विद्वान् बेनफे ने 'जातक' को विश्व के कथा-साहित्य का उद्गम कहा है, जो तथ्यों के प्रकाश में अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार भारतीय साहित्य और संस्कृति के साथ विश्व के साहित्य और सभ्यता के इतिहास में 'जातक' के स्थान और महत्व के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन के बाद अब हम खुद्दक-निकाय के अन्य ग्रन्थों पर आते हैं।

निद्देस

निद्देस के दो भाग हैं, महानिद्देस और चुल्ल निद्देस। महानिद्देस सुत्त-निपात के अट्ठक-वग्ग की व्याख्या है। इसी प्रकार चुल्लनिद्देस एक प्रकार से सुत्त-निपात के ही खग्गविसाण-सुत्त और पारायण-वग्ग (वत्थुगाथा को छोड़कर) की व्याख्या है। इस प्रकार पूरा निद्देस सुत्त-निपात के एक भाग की ही अट्ठकथा है। परम्परा से यह धर्मसेनापति सारिपुत्र की रचना बताई जाती है। 'महानिद्देस' में हमें उन स्थानों, देशों और बन्दरगाहों की सूची मिलती है जिनके साथ भारत का व्यापार पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी-पूर्व होता था। समुद्र, नदी और स्थल के कौन-कौन से मार्ग थे, इसका भी पूरा विवरण हमें यहाँ मिलता है। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से भी निद्देस की कुछ सूचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणतः यहाँ विभिन्न धर्म-साधनाओं के विवरण-प्रसंग में 'वासुदेववत्तिका' (वासुदेव (कृष्ण?) के उपासकों) और 'बलदेव

Hungarians and the numerous peoples of the Slavonic race have been derived from the Buddhist sources, through translations made for Huns, who penetrated in the time of Genghis Khan into the East of Europe." **बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, पृष्ठ ३९-४० (भूमिका) (श्रीमती रायस डेविड्स् द्वारा सम्पादित संस्करण, जार्ज रटलेज एण्ड संस, लन्दन)।**

१. **देखिये उनका** "Influence of the Buddhist Jatakas on European Literature" **शीर्षक लेख, महाबोधि, जनवरी १९५०, पृष्ठ १०-१६; मिलाइये दि बुद्धिस्ट, जनवरी, १९४८, पृष्ठ ११८-१२० (कोलम्बो, सिंहल) भी।**

वत्तिका' (बलदेव के उपासकों) का उल्लेख है। निद्देस का देवनागरी लिपि में सम्पादन भिक्षु जगदीश काश्यप ने खुद्दक-निकाय पालि, जिल्द चौथी, भाग १ व २ में किया है। प्रथम भाग में महा निद्देस है, द्वितीय में चुल्ल निद्देस। (१९५९–६०)।

पटिसम्भिदामग्ग[1]

इस ग्रन्थ का विषय अर्हत् के प्रतिसंवित् सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में तीन मुख्य भाग हैं, जिनमें से प्रत्येक में १० परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ का सम्बन्ध शैली और विषय दोनों की दृष्टि से अभिधम्म-पिटक से अधिक है। इसका कुछ विवरण हम आगे अभिधम्म-पिटक का विवेचन करते समय देंगे।

अपदान[2]

अपदान (सं० अवदान) खुद्दक-निकाय के उत्तरकालीन ग्रन्थों में से है। इसमें ५४७ बौद्ध भिक्षुओं और ४० भिक्षुणियों के पूर्व जन्मों के महान् कृत्यों का वर्णन है। जातक के समान इसकी भी कहानी के दो भाग होते हैं, एक अतीत जन्म-सम्बन्धी और दूसरा वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) जीवन-सम्बन्धी। अपदान दो भागों में विभक्त है, थेर-अपदान और थेरी-अपदान। थेर-अपदान में ५५ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में १० अपदान हैं (चौंतीसवें वर्ग में केवल ७ अपदान हैं)। थेरी-अपदान में ४ वर्ग हैं, जिनमें भी प्रत्येक में १० अपदान हैं। साहित्य या इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कोई विशेष महत्व नहीं है। हाँ, लोक-धर्म के रूप में बौद्धधर्म का एक चित्र यहाँ अवश्य मिलता है। इसी ग्रन्थ की शैली पर संस्कृत बौद्ध साहित्य का अवदान-साहित्य अधिकांशतः विकसित हुआ है, यह भी इसका एक महत्त्व कहा जा सकता है। 'अपदान' में 'चीन-रट्ठ' (चीन राष्ट्र) का उल्लेख है।

१.-२. भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित देवनागरी संस्करण, बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा प्रकाशित। पटिसम्भिदामग्ग, खुद्दकनिकाय पालि, जिल्द पाँचवीं में (१९६० ई०); अपदान, जिल्द छठी तथा सातवीं में (१९५९ ई०) सम्पादित।

बुद्धवंस[1]

बुद्धवंस २८ परिच्छेदों का एक पद्यात्मक ग्रन्थ है, जिसमें गौतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ अन्य बुद्धों की जीवनियों का विवरण है। पच्चीसवें बुद्ध—गौतम बुद्ध—के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में २५ गाथाएँ हैं, जिनका उच्चारण, अट्ठ-कथा के अनुसार, स्वयं भगवान् बुद्ध ने बोधि-प्राप्ति के बाद कपिलवस्तु में आने पर किया था। परन्त यह बात सम्भव नहीं जान पड़ती। कुछ भी हो, गौतम बुद्ध के जीवनी सम्बन्धी अंश को छोड़कर शेष तो प्रायः पौराणिक ढंग का ही है, अतः उसका महत्त्व भी केवल उसी दिशा में समझना चाहिए। एक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व की बात जो हमें 'बुद्धवंस' में मिलती है, यह है कि यहाँ सुमेध बोधिसत्व कोणागमन बुद्ध और उनके शिष्यों को 'चीन पट्ट' भेंट करते हैं। "पटुन्नं चीनपट्टं च कोयेय्यं कम्बलं पि च।" इससे यह प्रकट होता है कि बुद्धवंस की रचना के समय चीन के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध इतने विकसित थे कि वहाँ का वस्त्र यहाँ आता था और समादृत होता था। चीन का 'चीन' नाम वहाँ के 'छिन्' राजवंश के कारण पड़ा, जिसका समय २५६ ई० पूर्व—२०६ ई० पूर्व है। अतः इससे यह भी सिद्ध है कि बुद्धवंस का रचना-काल तृतीय शताब्दी ई० पूर्व से काफी बाद का ही है।

चरियापिटक[2]

चरियापिटक में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की चर्याओं का वर्णन है, जिसमें

१-२. इनके देवनागरी संस्करण भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं, जिन्हें महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप ने सम्पादित किया है। चरियापिटक का देवनागरी लिपि में सम्पादन डा० विमलाचरण लाहा ने भी किया है, जिसे मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, ने सन् १९२४ में प्रकाशित किया था। इसी का संशोधित संस्करण भाण्डारकर ओरियण्टल सीरीज़, जिल्द चार, (१९४९) में छपा है। भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित इन दोनों ग्रन्थों के देवनागरी संस्करण नवीनतम हैं। ये खुद्दकनिकाय पालि, जिल्द सातवीं में हैं। (१९५९ ई०)। त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने चरियापिटक का सम्पादन किया है, हिन्दी अनुवाद-सहित, जिसे मास्टर खेलाड़ीलाल

यह दिखाया गया है कि किस प्रकार भगवान् ने नाना पारमिताओं को पूरा किया था। दस पारमिताओं में से यहाँ केवल सात का उल्लेख है, यथा दान, शील, नैष्कर्म्य, अधिष्ठान, सत्य, मैत्री और उपेक्षा। प्रज्ञा, वीर्य और क्षान्ति का वर्णन नहीं है। सम्पूर्ण ग्रन्थ सात परिच्छेदों में है, जिनमें इन सात पारमिताओं के आधार पर कुल मिलाकर ३५ जीवन-चर्याओं का वर्णन है। प्रत्येक जीवन-चर्या का वर्णन एक जातक-कथा सा लगता है, जिसे गाथात्मक रूप दे दिया गया है। नाम-साम्य भी दोनों में पूरा है। उदाहरण के लिए 'अकित्ति-चरियं' 'अकित्ति-जातक' का रूपान्तर मात्र है। इसी प्रकार 'संख-चरियं' 'संखपालजातक' के, 'कुरुधम्म चरियं' 'कुरुधम्म जातक' के तथा इसी प्रकार शेष चर्याएँ प्रायः उसी नाम के जातक के पद्यात्मक रूपान्तर मात्र हैं। जातक से अत्यन्त सम्बन्धित होते हुए भी चरियापिटक का कलात्मक रूप उस कोटि तक नहीं पहुँच पाया है। वैसे कई मनोहर गाथाएँ भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ती हैं।

'चरियापिटक' की प्रत्येक 'चर्या' की तुलना किस जातक से है, यह निम्न-लिखित तालिका से स्पष्ट होगा।

१. दान-पारमिता

१. अकित्ति चरियं—अकित्ति जातक (४८०)
२. संख चरियं—संखपाल जातक (५२४)
३. कुरुधम्म चरियं—कुरुधम्म जातक (२७६)
४. महासुदस्सन चरियं—महासुदस्सन जातक (९५)
५. महागोविन्द चरियं—यह कथा जातक में नहीं पाई जाती, परन्तु महा-गोविन्द-सुत्त (दीघ-निकाय) में है।

एण्ड संस, वाराणसी, ने सन् १९५४ में प्रकाशित किया है। डी० एल० बड़ुआ ने चरियापिटक की धम्मपाल-रचित अट्ठकथा का सम्पादन किया है, जिसे पालि टैक्स्ट सोसायटी लन्दन, ने प्रकाशित किया है। इस संस्करण में बड़ुआ महोदय ने अट्ठसालिनी, जातकट्ठकथा और धम्मपदट्ठकथा के उद्धरणों का आधार लेकर चरियापिटक के पाठ का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। उनका मत है कि वीर्य, प्रज्ञा और क्षान्ति सम्बन्धी पारमिताओं के निदर्शनार्थ भी कथाएँ चरियापिटक में थीं।

६. निमिराज चरियं—निमि जातक (५४१)
७. चन्दकुमार चरियं—खंडहाल जातक (५४२)
८. सिविराज चरियं—सिवि जातक (४९९)
९. वेस्सन्तर चरियं—वेस्सन्तर जातक (५४७)
१०. ससपंडित चरियं—सस जातक या ससपण्डित जातक (३१६)

२. सील-पारमिता

११. सीलवनाग चरियं—सीलवनाग जातक (७२)
१२. भूरिदत्त चरियं—भूरिदत्त जातक (५४३)
१३. चम्पेय्य नाग चरियं—चम्पेय्य जातक (५०६)
१४. चूलबोधि चरियं—चुल्लबोधि जातक (४४३)
१५. महिंसराज चरियं—महिस जातक (२७८)
१६. रुरुराज चरियं—रुरुमिग जातक या रुरुमिगराज जातक (४८२)
१७. मातंग चरियं—मातंग जातक (४९७)
१८. धम्माधम्मदेवपुत्त चरियं—धम्म जातक (४५७)
१९. जयद्दिस चरियं—जयद्दिस जातक (५१३)
२०. संखपाल चरियं—संखपाल जातक (५२४)

३. नेक्खम्म-पारमिता

२१. युधञ्जय चरियं—युवञ्जय जातक (या युधंजय या युद्धंजय जातक) (४६०)
२२. सोमनस्स चरियं—सोमनस्स जातक (५०५)
२३. अयोघर चरियं—अयोघर जातक (५१०)
२४. भीस चरियं—भिस जातक (४८८)
२५. सोणपण्डित चरियं—सोणनन्द जातक (५३२)

४. अधिट्ठान-पारमिता

२६. तेमिय चरियं—तेमिय जातक (या मूगपक्ख जातक) (५३८)

५. सच्च-पारमिता

२७. कपिराज चरियं—कपि जातक (२५०)
२८. सच्चसव्हय चरियं—सच्चंकिर जातक (७३)
२९. वट्टपोतक चरियं—वट्ट जातक (३५)
३०. मच्छराज चरियं—मच्छ जातक (३४)
३१. कण्हदीपायन चरियं—कण्हदीपायन जातक (४४४)
३२. सुतसोम चरियं—महासुतसोम जातक (५३७)

६. मैत्री-पारमिता

३३. सुवण्णसाम चरियं—साम जातक या सुवण्णसाम जातक (५४०)
३४. एकराज चरियं—एकराज जातक (३०३)

७. उपेक्खा पारमिता

३५. महालोमहंस चरियं—लोमहंस जातक (९४)

●

चौथा अध्याय

विनय-पिटक

तिपिटक में विनय-पिटक[1] का स्थान

विनय-पिटक बौद्ध संघ का संविधान है। अतः धार्मिक दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है। बुद्ध-धर्म का प्रथम तीन शताब्दियों का इतिहास विनय-पिटक संबंधी विवादों और मतभेदों का ही इतिहास है। शास्ता के महापरिनिर्वाण के बाद ही 'क्षुद्रानुक्षुद्र' विनय-सम्बन्धी नियमों को लेकर भिक्षु-संघ में विवाद उठ खड़ा हुआ था, जिसका प्रथम संघ-भेदक परिणाम वैशाली की संगीति में दृष्टिगोचर

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित, महाबोधि सभा, सारनाथ १९३५। रोमन लिपि में एच० ओल्डनबर्ग ने पाँच जिल्दों में विनय-पिटकं का सम्पादन किया था, लन्दन, १८७९-१८८३। आर० डी० बड़ेकर ने विनय-पिटक के 'पातिमोक्ख' अंश का नागरी लिपि में सम्पादन किया है (भाण्डारकर ओरियण्टल सीरीज़, १९३९)। बम्बई विश्वविद्यालय ने विनय-पिटक के केवल महावग्ग का देवनागरी लिपि में प्रकाशन किया है, जिसे प्रो० एन० के० भागवत ने सम्पादित किया है। प्रथम भाग, खन्धक १-५ (सन् १९४४ ई०) तथा द्वितीय भाग, खन्धक ६-१० (सन् १९५२ ई०)। सन् १९५६-५८ में भिक्षु जगदीश काश्यप जी ने पाँच जिल्दों में सम्पूर्ण विनय-पिटक का देवनागरी लिपि में सम्पादन किया है, जिसे बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल ने प्रकाशित किया है। पाँच जिल्दों में विषय का विभाजन इस प्रकार है—पहली जिल्द, महावग्ग पालि (१९५६ ई०); दूसरी जिल्द, चुल्लवग्ग पालि (१९५६ ई०); तीसरी जिल्द, पाराजिक पालि (१९५८ ई०); चौथी जिल्द, पाचित्तिय पालि (१९५८ ई०); पाँचवीं जिल्द, परिवार पालि (१९५८ ई०)।

हुआ और बाद में तृतीय संगीति तक आते-आते वह अष्टादश निकायों के रूप में पूर्णतः स्फुटित हो गया। यह बात नहीं है कि इसके अन्य कारण न रहे हों, किन्तु विनय-विपरीत आचरण एक प्रमुख कारण था। यही कारण है कि स्थविरवाद बौद्ध धर्म की परम्परा ने 'विनय-पिटक' को अपनी धर्म-साधना में सदा एक अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया है। बुद्ध के जीवन-काल में ही उनके विद्रोही शिष्य देवदत्त ने विनय-सम्बन्धी नियमों में कुछ अधिक कड़ाई की माँग की थी। उसने उस स्वतंत्रता के विरुद्ध ही, जो तथागत ने अपने शिष्यों को दी थी, विद्रोह किया था। इसी प्रकार कौशाम्बिक भिक्षुओं के दुर्व्यवहार के कारण भगवान् को खिन्न होकर एक बार भिक्षु-संघ को कुछ काल के लिए छोड़ कर एकान्त-वास के लिए जाना पड़ा था। इन सब बातों से स्पष्ट था कि भगवान् ने जिस धम्म का उपदेश दिया था, उसका साक्षात्कार बिना जीवन की पवित्रता के असम्भव था। उस पवित्रता के सम्पादन के लिए जिस साधन-मार्ग की आवश्यकता थी, उसका वास्तविक उपदेश तो उनके 'धम्म' में ही दे दिया गया था, किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघों की स्थापना के बाद, उनमें कुछ असंयमी और अ-वैराग्यवान् व्यक्तियों के भी स्वाभाविक रूप से प्रविष्ट हो जाने के कारण, उनकी व्यवस्था को कुछ बाह्य नियमों में भी बाँधने की आवश्यकता थी। यही कारण है कि हम विनय-पिटक में नाना प्रकार के नियमों का प्रज्ञापन बुद्ध-मुख से हुआ देखते हैं, जिनके प्रज्ञापन करने की उनके अपने उस प्राथमिक उपदेश-काल में, जब तपस्सु और भल्लिक जैसे उपासक केवल बुद्ध और धम्म की शरण जाते थे (संघ की स्थापना ही उस समय नहीं हुई थी, अतः स्वभावतः पारिभाषिक अर्थों में विनय-सम्बन्धी नियमों की भी नहीं) कोई आवश्यकता ही नहीं थी।[1] परन्तु जब विनय-नियम प्रज्ञप्त भी किये गये और संघ स्थापित भी किया गया, तब भी संघ में काफी समय तक पूर्ण विशुद्धि रही। बुद्ध-धर्म की साधना का यह वह युग था, जब बुद्ध कह सकते थे—

"यं मया सावकानं सिक्खापदं पञ्ञत्तं, तं मम सावका जीवितहेतु पि नातिक्कमन्ति।" (अंगुत्तर-निकाय) अर्थात् **"जिन शिक्षापदों (सदाचार-नियमों) को मैंने अपने शिष्यों के लिये प्रज्ञप्त किया है, उनका वे अपने प्राणों के लिये भी कभी उल्लंघन नहीं करते।"**

---

१. यद्यपि विनय-पिटक के वर्णनानुसार यह काल बहुत कम दिन रहा, किन्तु इसकी सी पवित्रता तो बहुत दिन रही।

यदि कभी किसी ने थोड़ा प्रमाद किया तो बुद्ध केवल थोड़ा चेता देते थे और उतने से काम निकल आता था। भिक्षु-संघ की इस अवस्था के सम्बन्ध में स्वयं भगवान् बुद्ध मज्झिम-निकाय के ककचूपम-सुत्त में कहते हैं, "उन भिक्षुओं को याद दिला देना भर ही मेरा काम था। उन भिक्षुओं को मुझे अनुशासन करने की आवश्यकता नहीं थी।" उस समय शिक्षा-पद थे, किन्तु वे धर्म में ही अन्तर्हित थे। बोधि-पक्षीय धर्मों की भावना और तदनुकूल आचरण स्वयं अपने आप में चित्त और काया की विशुद्धि के लिए एक अद्वितीय मार्ग था। चार आर्य-सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि सभी उस साधना के अंग थे। चार स्मृति-प्रस्थानों के विषय में तो स्वयं भगवान् ने कहा है "भिक्षुओ! प्राणियों की विशुद्धि के लिए....निर्वाण के साक्षात्कार के लिए, यही एकायन मार्ग हैं।" कहने का तात्पर्य यही है कि जब भगवान् बुद्ध ने आरम्भ से ही सभी पाप-कर्मों को न करने, सभी कुशल कर्मों को सम्पादित करने और चित्त को संयमित कर उसे शुद्ध रखने का आदेश देते हुए अपने धम्म को प्रकाशित किया, तो 'विनय' उसमें स्वयं अपने आप सम्मिलित था। अंगुत्तर-निकाय के तिक-निपात के एक सुत्त में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि सम्पूर्ण शिक्षापद शील, समाधि (चित्त) और प्रज्ञा के अभ्यास में ही निहित हैं। इतना ही क्यों, चूल पन्थक को दिये गये उनके ध्यान-विषय "रजोहरणं" ("रज दूर हो जाय") में तो सम्पूर्ण विनय-पिटक ही आ जाता है, ऐसा भी कहा जा सकता है। लौकिक सफलता और महत्व-प्राप्ति के लिए भी जब संयम, या जिसे आज अनुशासन कहा जाता है, इतना आवश्यक है, तो ब्रह्मचर्य के उस महत् उदेश्य के लिए, जिसकी महत्ता सभी लौकिक और पारलौकिक उद्देश्यों को अतिक्रमण करती है, कितना आवश्यक था, इसका सर्वोत्तम दर्शन हमें बुद्ध-उपदेशों में ही होता है। स्वभावतः शास्ता के धम्म और विनय दोनों एक चीज हैं, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। उनके सामासिक स्वरूप 'धम्म-विनय' का भी यही रहस्य है।

जब कि बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार धम्म और विनय का एक-सा ही महत्त्व है, 'विनय-पिटक' के नियम शास्ता के शासन के बाहरी रूप मात्र हैं। उनका मानसिक आधार निश्चित होते हुए भी स्वयं उनका प्रज्ञापन उस अवस्था का सूचक है जब संघ में प्रविष्ट कुछ अ-संयमी भिक्षु तथागत-प्रवेदित धर्म के विरुद्ध आचरण करने लगे थे। जब तक यह बात नहीं हुई, तथागत को नियम-विधान की आवश्यकता नहीं हुई। धर्मसेनापति के साथ भगवान् के इस संलाप से यह बात स्पष्ट होगी। धर्मसेनापति सारिपुत्र एक बार भगवान् से प्रार्थना करते हैं, "भन्ते!

भगवान् शिष्यों के लिए शिक्षा-पद का विधान करें, प्रातिमोक्ष का उपदेश करें, जिससे कि यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी हो।" भगवान् कहते हैं, "सारिपुत्र! ठहरो, तथागत काल जानेंगे। सारिपुत्र! शास्ता तब तक श्रावकों (शिष्यों) के लिए शिक्षा-पद का विधान नहीं करते, प्रातिमोक्ष का उपदेश नहीं करते, जब तक कि संघ में कोई चित्त-मल वाले धर्म (पदार्थ) उत्पन्न नहीं होते। सारिपुत्र! जब यहाँ संघ में कोई चित्त-मल को प्रकट करने वाले धर्म पैदा हो जाते हैं, तो उन्हीं का निवारण करने के लिए, उन्हीं के प्रतिघात के लिए, शास्ता श्रावकों को शिक्षा-पद का विधान करते हैं, प्रातिमोक्ष का उपदेश करते हैं..... (अभी तो) सारिपुत्र! संघ मल-रहित, दुष्परिणाम-रहित, कालिमा-रहित, शुद्ध सार में स्थित है। इन पाँच सौ भिक्षुओं में जो सब से पिछड़ा भिक्षु है, वह भी स्रोत-आपत्ति फल को प्राप्त, दुर्गति से रहित और स्थिर संबोधि-परायण है।"[१] अतः निश्चित है कि विनय-सम्बन्धी नियमों का उपदेश जैसे कि वे विनय-पिटक में निहित हैं, भगवान् के द्वारा 'धम्म' के बाद दिया गया जब कि अधिक मल-ग्रस्त व्यक्ति उसके आधार पर अपना सुधार नहीं कर सके। बुद्ध ने विनय-पिटक के नियम बाद में बनाये, यह थेरगाथा में स्थविर सरभंग के एक कथन से भी विदित होता है। यह भिक्षु पहले अपने हाथ से सरकंडों को तोड़ता था, परन्तु बुद्ध द्वारा भिक्षुओं को नियम प्रज्ञप्त करने के बाद उसने ऐसा करना छोड़ दिया। वह कहता है, "अपने हाथों से सरकंडे तोड़कर मैं कुटी बना कर रहता था, इसलिये व्यवहार में मेरा नाम सरभंग पड़ा। आज मुझे हाथ से सरकंडे नहीं तोड़ने चाहिये, क्योंकि यशस्वी गौतम ने हमारे लिये नियम बनाये हैं।"[२]

एक बार शिक्षापदों और प्रातिमोक्ष-सम्बन्धी नियमों का प्रज्ञापन करने के बाद संघ की स्थिति के लिए वह अत्यन्त आवश्यक हो गया। किन्तु शास्ता यह जानते थे कि एक बार आन्तरिक संयम से च्युत हो जाने के बाद उसे बाहरी नियमों के बन्धन में बाँध कर नहीं रक्खा जा सकता था। भिक्षुणी-संघ की स्थापना के समय भिक्षुणियों के लिए जीवन-पर्यन्त पालनीय आठ गुरु धर्मों (बड़ी शर्तों) का विधान करते समय ही शास्ता को यह प्रतिभान हो गया था कि यह बाहरी रोक-थाम अधिक दिन तक चल नहीं सकती। "आनन्द! जैसे आदमी पानी को रोकने

---

१. विनय-पिटक, पाराजिका १

२. थेर-गाथा (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ १३८

के लिए, बड़े तालाब की रोक-थाम के लिए, मेंड़ बाँधे, उसी प्रकार आनन्द! मैंने रोक-थाम के लिए, भिक्षुणियों को जीवन भर अनुल्लंघनीय आठ गुरु धर्मों को स्थापित किया।" फलतः "आनन्द! अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।" विचार-स्वातन्त्र्य की महत्त्वानुभूति पर आश्रित बुद्ध-मन्तव्य कभी मनुष्य को बाहरी नियमों के बन्धन में बाँधने वाला नहीं हो सकता था। जो कुछ भी नियम उन्होंने आवश्यकतावश प्रज्ञप्त किये थे, उनमें से अनेक ऐसे भी हो सकते थे जो उसी युग, स्थान और परिस्थिति के लिये अनुकूल हों और जिनका सार्वकालिक या सार्वजनीन महत्त्व प्रतिष्ठापित करना उसी बुद्धिहीनता, संकुचित वृत्ति और सच्चे उद्देश्य को छोड़ कर बाहरी रूप की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति का सूचक हो, जो धर्म-साधनाओं के इतिहास में अक्सर देखी जाती है, इसकी भी पूरी अनुभूति भगवान् बुद्ध को थी, यह हम परिनिर्वृत्त होने से पहले उनके इस आदेश में देखते हैं "इच्छा होने पर संघ मेरे बाद क्षुद्रानुक्षुद्र (छोटे-मोटे) शिक्षापदों को छोड़ दे।" संघ बाहरी बन्धन अनुभव न करे, इसीलिए उन्होंने अपने बाद किसी व्यक्ति को जान-बूझ कर उसका नेता तक नहीं चुना।[1] एकमात्र 'धम्म-विनय' रूपी नेता के शरण में ही उन्होंने भिक्षु-संघ को छोड़ा। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया, "भिक्षुओ! मैंने बेड़े की भाँति निस्तरण के लिए तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नहीं। धर्म को बेड़े के समान उपदिष्ट जान कर तुम धर्म को भी छोड़ दो, अधर्म की तो बात ही क्या?"[2] यही बात विधि-निषेध-परक विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में भी कही जा सकती है। चेतना (चित्त) को ही कम्म (कर्म) कहने वाले[3] शास्ता का यह बाहरी नियम-विधान अन्तिम मन्तव्य नहीं हो सकता था, यह ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। किन्तु निर्बल, मल-ग्रस्त मानवता के लिए और क्या किया जाय? बाहरी नियम-विधानों से काम नहीं चलता, वे अपूर्ण ठहरते हैं, किन्तु उनके प्रज्ञापन किये बिना काम भी नहीं चलता। जब सम्यक् सम्बुद्ध ने मनुष्यों का शास्ता बनना स्वीकार कर लिया, उनके बीच

---

१. देखिये विशेषतः महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ. २।३); गोपक-मोग्गल्लान-सुत्त (मज्झिम. ३।१।८)

२. अलगद्दूपम-सुत्त (मज्झिम. १।३।२)

३. चेतनाहं भिक्खवे कम्मं वदामि। चेतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा। अंगुत्तर-निकाय।

रहना-सहना, घूमना-फिरना स्वीकार कर लिया, संघ को धारण करना स्वीकार कर लिया[1], मनुष्यों को विशुद्धि रूपी निर्वाण के मार्ग पर लगाना स्वीकार कर लिया, तो उनकी चित्त-स्थिति के लिए अनुकूल नियम-विधान भी वे क्यों नहीं करते? उनके शिष्यों में जो प्रधान थे, वे स्वतः ही भगवान् के 'धम्म' के अनुसार आचरण करते थे। अतः उन्हें अलग से विनय-सम्बन्धी नियमों का उपदेश करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु 'बहुजनों' में अधिकांश तो मल-ग्रस्त प्राणी ही थे। उन्हीं के पतन को देख कर भगवान् ने बाहरी नियमों का विधान किया, जिन्हें हम आज विनय-पिटक में देखते हैं। इनमें से बहुत कुछ बाहरी होते हुए भी अधिकांश मानसिक भित्ति पर ही आश्रित हैं, जो बुद्ध-मन्तव्य की सब से बड़ी विशेषता है। संयुत्त-निकाय के भिक्खु-संयुत्त में किस प्रकार भगवान् बुद्ध ने नन्द और तिस्स तथा अन्य भिक्षुओं को विनय-सम्बन्धी नियमों को कड़ाई के साथ पालन करने का आदेश दिया है, यह हम पहले देख चुके हैं। अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध ने विनय सम्बन्धी नियमों को पूरी तरह पालन करने का भिक्षुओं को उपदेश दिया है। जब तक भगवान् जीवित रहे, तब तक उनके व्यक्तित्व और साक्षात् सम्पर्क से मनुष्यों को प्रेरणा मिलती थी। किन्तु उनके परिनिर्वाण के बाद तो विनय-सम्बन्धी नियम ही संघ की एकता और मौलिक पवित्रता के एक मात्र मापदंड रह गए। उसके बाद बौद्ध संघ में विनय-पिटक का जो महान् आदर और गौरव प्रतिष्ठापित हुआ, वह उसकी संकीर्णता या साम्प्र-

---

१. केवल व्यावहारिक अर्थ में। वास्तव में तो संघ की पूरी व्यवस्था करते हुए भी भगवान् सदा निर्लिप्त ही रहे। जब आनन्द उनसे अन्तिम समय पर भिक्षु-संघ के लिए कुछ कहने के लिए प्रार्थना करते हैं, तो भगवान् कहते हैं, "आनन्द! जिसको ऐसा हो कि मैं भिक्षु-संघ को धारण करता हूँ.....वह जरूर आनन्द! भिक्षु-संघ के लिए कुछ कहे। आनन्द! तथागत को ऐसा नहीं है।" एक और स्थान पर भगवान् अपनी निर्लेपता का साक्ष्य देते हैं, "मागन्दिय! धर्मों का अन्वेषण कर मुझे 'मैं यह कहता हूँ' यह धारणा नहीं हुई।" बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ लंकावतार-सूत्र में तो बुद्ध कहते हैं, "इन उनंचास वर्षों में मैंने धर्म पर एक शब्द भी भाषित नहीं किया है।" इसी को महायान ने तथागत की 'अनाभोग-चर्या' कहा है। महायान इस दिशा में इतना आगे बढ़ गया है कि उसने कह दिया है "अवचनं बुद्धवचनमिति।"

दायिकता का द्योतक नहीं था। वह भिक्षुओं की उस व्यग्रता का द्योतक था जिसके साथ वे 'छिले शंख की तरह निर्मल' (शंखलिखित) शाक्य-मुनि के शासन को उसकी मौलिक पवित्रता में रखना और देखना चाहते थे। उनका वह प्रयत्न बेकार नहीं गया है, यह हम आज भी देख सकते हैं। वैशाली की संगीति के अवसर पर ही धर्मवादी भिक्षुओं ने किस प्रकार भगवान् के मौलिक उद्देश्यों की रक्षा की, यह हम उसके विवरण में (द्वितीय अध्याय में) देख चुके हैं। लंका, बरमा और स्याम के भिक्षु-संघों के इतिहास में किस प्रकार विहार-सीमा और पारुपण (चीवर को दोनों कन्धे ढँक कर पहनना), एकंसिक (चीवर को इस प्रकार पहनना, जिससे एक कन्धा, दाहिना कन्धा खुला रहे) आदि अल्प महत्व के विनय-सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर भी उत्तरकालीन युग में जो वाद-विवाद होते रहे हैं, वे न केवल उन देशों में बुद्ध-धर्म के जीवित स्वरूप में विद्यमान होने के प्रमाण हैं, बल्कि उसे उसी मौलिक, अक्षुण्ण पवित्रता के साथ रखने की व्यग्रता के भी अविवाद लक्षण हैं। अतः स्थविरवादी बौद्ध धर्म के क्षेत्र में विनय-पिटक की जो प्रतिष्ठा प्रारम्भिक युग से अब तक रही है, वह एक जीवित ऐतिहासिक तथ्य है और ऊपर के तथ्यों को देखते हुए वह सार्थक भी है।

बौद्ध संघ में विनय-पिटक का सदा से कितना आदर रहा है और उसके उत्तरकालीन इतिहास के निर्माण में उसका कितना बड़ा हाथ रहा है, यह ऊपर के विवरण से स्पष्ट है। वास्तव में भिक्षु-संघ ने अत्यन्त प्राचीन काल से उसे सुत्त-पिटक से भी अधिक ऊँचा स्थान दिया है, क्योंकि उसे ही उन्होंने बुद्ध-शासन की आयु माना है। उनका विश्वास रहा है कि जब तक विनय-पिटक अपने मौलिक, विशुद्ध रूप में रहेगी तभी तक बुद्ध-शासन भी जीवित रहेगा और विनय-सम्बन्धी नियमों के अभ्यास के लुप्त हो जाने पर बुद्ध-शासन भी लुप्त हो जायगा। विशेषतः सिंहल और स्याम के भिक्षु-संघ में अभी तक यह विश्वास दृढ़ है और वे विनय, सुत्त, अभिधम्म, यह क्रम महत्त्व की दृष्टि से तिपिटक का करते हैं। विनय-सम्बन्धी मामलों में बरमी भिक्षु-संघ पर सिंहली प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी से ही रहा है[1]। दोनों देशों में बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल (चौथी-पाँचवीं शताब्दी के प्रसिद्ध

---

१. सिंहली विनय-पिटक सम्बन्धी ग्रन्थों के आधार पर ही बरमा में इस सम्बन्धी साहित्य की रचना हुई है। देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५

पालि अट्ठकथाकार) के काल से लेकर ठीक आधुनिक काल तक विनय-पिटक पर विपुल व्याख्यापरक साहित्य की रचना हुई है, जो इन देशों में उसकी जीवित परम्परा की सूचक है। न केवल स्थविरवाद बौद्ध धर्म की परम्परा में ही बल्कि अन्य बौद्ध सम्प्रदायों में भी विनय की महिमा सुरक्षित है, फिर चाहे उनके विनय-पिटक का स्वरूप स्थविरवादी बौद्धों के विनय-पिटक से भले ही कुछ थोड़ा विभिन्न हो। चीन और जापान में 'रिश्शू' नामक बौद्ध सम्प्रदाय है, जिसका शाब्दिक अर्थ ही है 'विनय-सम्प्रदाय'। यह सम्प्रदाय 'धम्मगुत्तिक' विनय को ही अपना मुख्य आधार मानता है। इस प्रकार विनय की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण बौद्ध सम्प्रदायों में समान रूप से पायी जाती है।

ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से भी विनय-पिटक का बड़ा महत्त्व है। पिटक-साहित्य के कालानुक्रम के विवेचन में हम देख चुके हैं कि विनय-पिटक के अनेक अंश तिपिटक के प्राचीनतम अंशों में से हैं। न केवल बुद्ध की जीवनी, बल्कि उनके द्वारा संघ की स्थापना, उनके जीवन-काल में संघ का विकास, उसके नियम, उसका शासन, एवं बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद १०० साल तक का उसका प्रामाणिकतम इतिहास, यह सब हमें विनय-पिटक से ही मिलता है। प्रथम दो बौद्ध संगीतियों के विषय में किस प्रकार विनय-पिटक का विवरण प्राचीनतम और प्रामाणिकतम है, यह हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं। इसके अलावा बुद्ध के शिष्यों का परिचय, छठी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व के भारत का सामाजिक विवरण, विशेषतः बुद्धकालीन संघ और तत्सम्बन्धी विवरण, इस सबके लिये विनय-पिटक के समान अन्य कोई प्रामाणिक साधन हमारे पास नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से यद्यपि विनय-पिटक का महत्त्व उतना नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि उसका अधिकांश भाग नियमों का प्रज्ञापक है जो अत्यन्त नीरस ही हो सकता है। फिर भी 'धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त' आदि गम्भीर बुद्ध-प्रवचन भी यहाँ रक्खे हुए हैं, जो उसके ऐतिहासिक अंश के समान ही उसे महत्ता प्रदान करते हैं।

विनय-पिटक का विषय और उसका संकलन-काल

भिक्षु और भिक्षुणी संघ ही विनय-पिटक के एक मात्र विषय हैं, ऐसा कहा जा सकता है। वह बौद्ध संघ का संविधान और एक मात्र आधार है। बौद्ध संघ की व्यवस्था, भिक्षु और भिक्षुणियों के नित्य-नैमित्तिक कृत्य, उपसम्पदा-नियम, देसना-नियम, वर्षावास के नियम, भोजन, वस्त्र, पथ्य-औषधादि सम्बन्धी नियम,

संघ के संचालन सम्बन्धी नियम, संघ-भेद होने पर संघ-सामग्री (संघ की एकता) सम्पादित करने के नियम, आदि नियम-समूह विनय-पिटक में विवृत किये गये हैं। इन सभी नियमों का प्रज्ञापन भगवान् बुद्ध के द्वारा ही हुआ है, ऐसी बौद्ध संघ की सामान्यतः मान्यता है। विनय-पिटक का संकलन, जैसा हम ने प्रथम संगीति के विवरण में देखा है, धम्म या सुत्त-पिटक के साथ-साथ प्रथम संगीति के अवसर पर ही हुआ। उसके प्रारम्भ में ही हम आर्य महाकाश्यप को कहते देखते हैं 'धम्मं च विनयं च सगायेय्याम" अर्थात् "हम धम्म और विनय का संगायन करें"। अतः सुत्त और विनय के संकलन-काल में कुछ ऐसा पूर्वापर भाव स्थापित नहीं किया जा सकता, जैसा अक्सर पच्छिमी विद्वानों ने किया है। कुछ पच्छिमी विद्वानों (कर्न, पुसें, आदि) ने विनय-पिटक को सुत्त-पिटक से पूर्व का संकलन माना है, कुछ (फ्रैंक आदि) ने उसके बाद का भी। किन्तु ये दोनों ही मत निराधार हैं, सुत्त और विनय में अनेक उपदेश समान हैं, विनय-सम्बन्धी अनेक उपदेश सुत्त-पिटक में भी मिलते हैं, और सुत्त-पिटक के अनेक बुद्ध-धर्म और बुद्ध-जीवन सम्बन्धी प्रकरण विनय-पिटक में मिलते हैं। दोनों की शैली प्राचीनता की सूचक है। अतः उन दोनों को समकालीन मानना ही अधिक युक्तिसंगत है। वैशाली की संगीति के अवसर पर विनय-सम्बन्धी कुछ विवादों का निर्णय हुआ था, अतः उसके आधार पर सम्भव है इस पिटक के रूप में कुछ परिवर्तन कर दिया गया हो। चूंकि इस संगीति का इस पिटक में विवरण भी है, अतः उसी समय इसके रूप का अन्तिम स्थिरीकरण हो गया था, यही इसके संकलन के काल के विषय में हमें जानना चाहिये।

बौद्ध परम्परा विनय-सम्बन्धी सब नियमों का प्रज्ञापन बुद्ध-मुख से ही हुआ मानती है। आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी) ने समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के आरम्भ में भिक्षुओं की उस अप्रतिहत परम्परा का उल्लेख किया है जिसने बुद्ध-काल से लेकर उनके समय तक विनय-पिटक का उपदेश दिया। बुद्ध-काल में विनय-धरों में उपालि स्थविर प्रधान थे, यह हम अंगुत्तर-निकाय के एतदग्गवग्ग से जानते हैं। प्रथम संगीति के अवसर पर उन्होंने ही विनय का संगायन किया, यह विनय-पिटक की सूचना है। अतः विनय-धरों की परम्परा स्थविर उपालि से ही प्रारम्भ होती है। बुद्ध-शिष्य उपालि से लेकर अशोक के समकालिक मोग्गलिपुत्त तिस्स तक विनयधरों की इस परम्परा का उल्लेख 'परिवार' में है और आचार्य बुद्धघोष ने भी

उसका उल्लेख समन्तपासादिका की निदान-कथा में इस प्रकार किया है—(१) उपालि, (२) दासक, (३) सोणक, (४) सिग्गव, और (५) मोग्गलिपुत्त तिस्स। "श्री जम्बुद्वीप में तृतीय संगीति तक इस अटूट परम्परा से विनय आया।.....ततीय संगीति से आगे इसे लंका द्वीप में महेन्द्र आदि स्थविर लाये। महेन्द्र से आरम्भ कर उनके शिष्यों की परम्परा (६) महिन्द, इट्ठिय, उत्तिय, संबल और भद्दसाल, (७) अरिट्ठ (८) आर्य तिष्यदत्त, (९) काल सुमन, (१०) दीर्घ स्थविर, (११) दीघ सुमन, (१२) काल सुमन, (१३) नाग स्थविर, (१४) बुद्धरक्षित, (१५) तिष्य स्थविर, (१६) देव स्थविर, (१७) सुमन, (१८) चूलनाग, (१९) धर्मपालित, (२०) रोहण, (२१) क्षेम, (२२) उपतिष्य, (२३) फुस्सदेव, (२४) सुमन, (२५) पुप्फ, (२६) महाशिव (महासीव), (२७) उपालि, (२८) महानाग, (२९) अभय, (३०) तिष्य स्थविर, (३१) पुप्फ (फुस्स भी), (३२) चूल अभय, (३३) तिष्य स्थविर, (३४) चूलदेव, (३५) शिव स्थविर,.....इन महाप्रज्ञ, विनयज्ञ, मार्ग-कोविदों ने ताम्रपर्णी (लंका) द्वीप में विनय-पिटक को प्रकाशित किया।[1]" जिस प्रकार किसी कालेज की दीवाल में लगे हुए प्रस्तरपट पर उसके प्रिंसिपलों के खुदे हुए नामों की सूची में कोई सन्देह नही करता, उसी प्रकार हमें स्थविरवाद-परम्परा के विनय-धरों की इस सूची को भी प्रामाणिक मानना चाहिए।

विनय-पिटक के भेद

पालि संस्करण के अतिरिक्त विनय-पिटक के छह और संस्करण चीनी अनुवादों में मिलते हैं। इनके नाम हैं (१) जूजु-रित्सु, प्राचीन सर्वास्तिवादियों का विनय, (२) शिबुन्-रित्सु, धम्मगुत्तिक या धर्मगुप्तिक सम्प्रदाय का विनय, (३) मकसोगि-रित्सु, महासंघिक सम्प्रदाय का विनय (४) कोन्-पोन्-सेत्सु-इस्से-उबु, नवीन या उत्तरकालीन सर्वास्तिवादियों का विनय (५) गोबुन-रित्सु या महिंसासक-विनय और (६) विनय (सामान्य)। विनय-पिटक के इन छह चीनी संस्करणों में आपस में बहुत कम भेद हैं। मौलिक रूप से वे सब समान हैं। जिन सम्प्रदायों से वे सम्बन्धित हैं, उनका उद्भावन अशोक के काल से पहले ही हो चुका था। वे सब

---

१. देखिये परिवार-पालि, पृष्ठ ५-६। मोग्गलिपुत्त तिस्स तक की परम्परा के लिए देखिये आगे नवें अध्याय में 'महावंस' सम्बन्धी विवरण भी।

स्थविरवाद बौद्ध धर्म की ही शाखा थे और विनय-सम्बन्धी कुछ छोटे-मोटे मत-भेदों के कारण ही उनसे अलग हो गये थे। 'कथावत्थु' में इन सब के सिद्धान्तों का वर्णन आया है। पाँचवें अध्याय में हम इन सब के सिद्धान्तों का विवरण देंगे। यहाँ अलग से परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अलावा अन्य १७ बौद्ध सम्प्रदायों के, जो तृतीय संगीति तक उत्पन्न हो चुके थे, साहित्य के विषय में हमें अभी कोई महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। केवल सर्वास्तिवादियों का कुछ साहित्य मिला है, जिसका कुछ विवरण हमने सुत्त-पिटक के विवेचन के आरम्भ में दिया है और उनके अभिधर्म-साहित्य का स्थविरवादियों के साथ तुलनात्मक विवेचन हम पाँचवें अध्याय में करेंगे। 'गिलगित पाण्डुलिपियों' ('गिलगित मेनुस्क्रिप्ट्स्') के प्रकाशन से मूल सर्वास्तिवाद के विनय-पिटक से उसके मूल संस्कृत रूप में हमारा परिचय हुआ है। यह प्रसन्नता की बात है कि विनय के क्षेत्र में न केवल सर्वास्तिवादियों का ही बल्कि उनसे अतिरिक्त अन्य पाँच प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों का भी साहित्य मिलता है, जो सब उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के विकास की दृष्टि से हीनयानी ही थे। न केवल विनय-पिटक ही बल्कि उसकी पाँच व्याख्याएँ भी चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं। उनके नाम हैं (१) बिनि-मो-रोन् या विनय-माता-वण्णना, (२) मोतो-रोग-रोग् या मातिका अथवा मातिका-वण्णना, (३) जेन्-केन्-रोन् (पासादिका-वण्णना), (४) सब्बत-रोन् (सब्बत्थि-वण्णना), (५) म्यो-र्‌यो-रोन् या पाकटवण्णना। चीनी भाषा में 'रोन्' 'विभाषा' या 'वण्णना' (वर्णन, व्याख्या) को कहते हैं। 'जेन्-केन्-रोन्' बुद्धघोष-कृत 'समन्तपासादिका' (विनय-पिटक की अट्ठकथा) का चीनी अनुवाद है। पहले यह 'धम्मगुत्तिक' सम्प्रदाय के विनय 'शिबुन्-रित्सु' की व्याख्या समझी जाती थी। किन्तु जापानी विद्वान् नगई ने इस भ्रम का निवारण कर दिया है[1]। चीनी और जापानी बौद्ध धर्म की दृष्टि से 'धम्मगुत्तिक' (धर्मगुप्तिक) सम्प्रदाय का विनय-पिटक शिबुन्-रित्सु ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। वहाँ के रिश्शू सम्प्रदाय (विनय-सम्प्रदाय) का यही आधार-भूत ग्रन्थ है। पालि विनय-पिटक के साथ चीनी विनय-पिटक की तुलना के प्रसंग में इसी संस्करण को लिया जा सकता है और बाकी छोटे-मोटे विभेदों को, जो बहुत अल्प हैं, अलग से दिखाया जा सकता

---

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ३६८ में नगई के 'बुद्धिस्ट विनय डिसिप्लिन' शीर्षक लेख का अंश।

है। यहाँ हमें तुलना केवल 'शिक्षापदों' या विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में करनी है, जो ही विनय-पिटक के आधार-भूत विषय हैं, चाहे उनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय या संस्करण से हो।

पालि विनय-पिटक के शिक्षापदों की संख्या २२७ है, जिनकी गणना इस प्रकार है—

१. पाराजिका	४
२. संघादिसेसा	१३
३. अनियता धम्मा	२
४. निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा	३०
५. पाचित्तिया धम्मा	९२
६. पटिदेसनिया धम्मा	४
७. सेखिया धम्मा	७५
८. अधिकरणसमथा धम्मा	७
	२२७

चीनी विनय-पिटक के प्रायः सभी संस्करणों में (महासंघिक विनय को छोड़कर, जिसमें २१८ शिक्षापद हैं) शिक्षापदों की यह संख्या २५० है। 'शिबुन्-रित्सु' के अनुसार यह गणना इस प्रकार है—[1]

१. पाराजिका	४
२. संघावशेष (संघादिसेसा)	१३
३. अनियत	२
४. निःसर्गिक पातयन्तिक (निस्सग्गिया पाचित्तिया)	३०
५. पातयन्तिक (पाचित्तिय)	९०
६. प्रतिदेशनीय (पटिदेसनिया)	४
७. शैक्ष्य (सेखिया)	१००
८. अधिकरण-शमथ	७
	२५०

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ३६९ (नगई का विनय-पिटक सम्बन्धी लेख)

विनय-पिटक के चीनी-संस्करणों के अलावा एक तिब्बती संस्करण (सो-सोर्-थर्-पा) भी मिलता है।[1] यह मूल सर्वास्तिवादियों के प्रातिमोक्ष का तिब्बती अनुवाद है। इसके अनुसार शिक्षापदों की संख्या इस प्रकार है—

१. पाराजिका	४
२. संघावशेष	१३
३. अनियत	२
४. निःसर्गिक पातयन्तिक	३०
५. पातयन्तिक	९२
६. प्रतिदेशनीय	४
७. शैक्ष्य	१०६
८. अधिकरण-शमथ	७
	२५८

---

१. इसके अलावा महापंडित राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से विनय-सूत्र, विनय-सूत्र-टीका, प्रातिमोक्ष-सूत्र, प्रातिमोक्षसूत्र-टीका, श्रामणेर-टीका, भिक्षु-प्रकीर्णक तथा उपसम्पदाज्ञप्ति, आदि अनेक विनय-सम्बन्धी ग्रन्थों की फोटो प्रतियाँ लाये हैं, जिनके सम्पादन के बाद इस विषय-सम्बन्धी अध्ययन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। अभी इनमें से अधिकांश अप्रकाशित हैं और बिहार रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना के संग्रहालय भवन में सुरक्षित हैं। मूल सर्वास्तिवाद के विनय-पिटक का एक काफी बड़ा अंश अभी 'गिलगित मेनुस्क्रिप्ट्स' के रूप में कई भागों में डा० नलिनाक्ष दत्त के सम्पादकत्व में छप चुका है। इस सर्वास्तिवादी विनय की पालि विनय से कई भिन्नताएँ और कुछ समानताएँ भी हैं। इसके विस्तृत विवेचन के लिये देखिये अनुकूल चन्द्र बनर्जी : सर्वास्तिवाद लिटरेचर, पृष्ठ २८-५०, ७९-२४६ (कलकत्ता, १९५७); मूल सर्वास्तिवाद तथा स्थविरवाद के अलावा अन्य छह बौद्ध सम्प्रदायों के विनय-पिटक के अन्तर्गत प्रातिमोक्ष (पातिमोक्ख) के विस्तृत तुलनात्मक विवेचन के लिये देखिये डब्ल्यू० पचोव का 'ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑव दि प्रातिमोक्ष' शीर्षक शोध-प्रबन्ध, जिसे दि साइनो-इण्डियन कल्चरल सोसायटी, शान्तिनिकेतन ने सन् १९५५ में प्रकाशित किया है। इस

उपर्युक्त सूचियों से स्पष्ट है कि पालि-विनय-पिटक में शिक्षापदों की संख्या २२७ और चीनी और तिब्बती संस्करणों में वह क्रमशः २५० और २५८ है। जहाँ तक पालि और तिब्बती संस्करणों की तुलना का सवाल है, उनके प्रत्येक नियम की संख्या में समानता है। केवल शैक्ष्य-सम्बन्धी नियमों में असमानता है। पालि संस्करण में वे ७५ हैं जब कि तिब्बती संस्करण में १०६। इसी कारण तिब्बती संस्करण के नियमों की कुल संख्या भी ३१ बढ़ गई है। पालि और चीनी संस्करणों में केवल 'पाचित्तिया धम्मा' (पातयन्तिक) और 'सेखिया धम्मा' (शैक्ष्य) इन दो नियमों की गणना में अन्तर है। पालि संस्करण में इनकी संख्या क्रमशः ९२ और ७५ है जब कि चीनी 'शिबुन्-रित्सु' में वह इसी क्रम से ९० और १०० है। 'पाचित्तिय' धर्मों सम्बन्धी मत-भेद कुछ महत्त्वपूर्ण भी हो सकता है, किन्तु 'सेखिय' धर्मों सम्बन्धी मत-भेद बिलकुल महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'सेखिय धम्म' बाह्य शिष्टाचार सम्बन्धी छोटे-मोटे नियम हैं, जो बुद्धोक्त 'क्षुद्रानुक्षुद्र' की कोटि में आसानी से आ जाते हैं। अतः उनके विषय में मतभेद होना भिक्षु-संघ के इतिहास में प्रथम संगीति के समय से ही देखा जाता है। स्वयं विभिन्न चीनी सम्प्रदायों के विनय-पिटकों में भी इसके विषय में समानता नहीं है। पालि विनय-पिटक के ७५ 'सेखिय' धर्मों के स्थान पर 'शिबुन्-रित्सु' में तो उनकी संख्या १०० है ही, नवीन सर्वास्तिवादी विनय के अनुसार उनकी संख्या १०३ है। तिब्बती मूल सर्वास्तिवादियों के अनुसार तो वह १०६ है ही, जैसा हम देख चुके हैं। इस प्रकार कुछ छोटे-मोटे विभेद हैं। 'महाव्युत्पत्ति' (महायानी ग्रन्थ) ने इन शैक्ष्य धर्मों को 'असंख्य' ('संबहुलाः शैक्ष्यधर्माः') बताकर इस सम्बन्धी भेद का बड़ा ही अच्छा समाधान कर दिया है। पालि और चीनी विनय-पिटकों के शिक्षापदों की तुलना के परिणामस्वरूप एक समस्या सामने आती है जिसका उल्लेख और आंशिक समाधान करना यहाँ आवश्यक है। पालि-विनय-पिटक

शोध-प्रबन्ध में प्रातिमोक्ष के चीनी, तिब्बती, संस्कृत और पालि संस्करणों के आधार पर विवेचन है। न केवल मूल सर्वास्तिवाद बल्कि अन्य कई बौद्ध सम्प्रदायों तथा जैन और हिन्दू साधुओं के लिये उनके शास्त्रों में निर्दिष्ट विधानों या विनय-नियमों पर पालि विनय के प्रकाश में संक्षिप्त तुलनात्मक विचार भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने द्वारा सम्पादित महावग्ग पालि और चुल्लवग्ग पालि की भूमिकाओं में किया है।

में, जैसा हमने अभी देखा है, शिक्षापदों की संख्या २२७ है। किन्तु अंगुत्तर-निकाय के तिक निपात में चार जगह उनकी संख्या १५० या (उससे) 'अधिक' कही गई है।[१] 'मिलिन्दपञ्ह' में भी १५० या उससे अधिक शिक्षापदों का उल्लेख है।[२] यह क्यों और कैसे ? क्या यहाँ १५० से 'अधिक' में 'अधिक' ('साधिकं') शब्द का तात्पर्य २२७—१५०=७७ से है ? यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि २२७ से इतना नीचे लाकर उसका इस प्रकार उल्लेख किया जाता। अतः एक दूसरा समाधान है। 'दियड्ढसिक्खापदसतं' का अर्थ २५० भी हो सकता है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने मिलिन्द-प्रश्न के अपने हिन्दी अनुवाद में इसी प्रकार अनुवाद किया है।[३] पचोव ने भी इस अर्थ की सम्भावना दिखाई है।[४] पचोव ने यह भी दिखाया है कि चीनी संयुक्तागम में पालि अंगुत्तर-निकाय के समान प्रसंग में शिक्षापदों की संख्या २५० ही बताई गई है।[५] धर्म गुप्तिक (शिबुन् रित्सु) सम्प्रदाय के विनय-पिटक में भी २५० शिक्षापद ही थे, यह हम ऊपर देख चुके हैं। तब क्या धर्मगुप्तिक विनय की परम्परा अज्ञात रूप से अंगुत्तर-निकाय और मिलिन्द-प्रश्न में समाई पड़ी है ? सचमुच यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या है और यह दिखलाती है कि विभिन्न बौद्ध सम्प्रदाय किस प्रकार विनय-पिटक के क्षेत्र में एक दूसरे में समाये हुए हैं, परम्पराएँ किस प्रकार एक दूसरे में मिली पड़ी हैं !

---

१. देखिये अंगुत्तर-निकाय, प्रथम भाग, पृष्ठ २३७, २३८, २३९, २४१ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)। देखिये विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २३, पद-संकेत ५; अंगुत्तर-निकाय में वास्तव में शब्द हैं 'साधिकं दियड्ढसिक्खापदसतं'। (यहाँ 'दियड्ढसिक्खा-पदसतं' का अर्थ अंग्रेजो अनुवादकों और भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने १५० ही लिया है। इसी अर्थ को मानकर पचोव ने विवेचन किया है। देखिये उनकी 'ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑव दि प्रातिमोक्ष' पृष्ठ ८-९।

२. मूल शब्द बिलकुल अंगुत्तर-निकाय के समान ही हैं। देखिये, पृष्ठ २६७ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

३. पृष्ठ २९७ और ३३५ (द्वितीय संस्करण)

४. ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑव दि प्रातिमोक्ष, पृष्ठ ८, पद-संकेत २३ (भूमिका)

५. वहीं, पृष्ठ ८ (भूमिका)

विनय-पिटक के नियम

पालि विनय-पिटक के अनुसार अब हम उसके ऊपर निर्दिष्ट २२७ शिक्षा-पदों या विनय-सम्बन्धी नियमों का वर्णन करेंगे।

चार पाराजिका धम्मा

'पाराजिक धम्म' का अर्थ है वे वस्तुएँ जो भिक्षु को पराजय दिलाती हैं, अर्थात् जिस उद्देश्य के लिये उसने घर से बेघर होकर प्रव्रज्या ली है, उसमें उसे सफल नहीं होने देतीं। इस प्रकार की वस्तुएँ चार हैं, (१) स्त्री-मैथुन, (२) चोरी या न दी हुई वस्तु को लेना, (३) मृत्यु या आत्म-हत्या की प्रशंसा करना, ताकि कोई दूसरा आदमी आत्म-हत्या करने के लिये उद्यत हो जाय और (४) लाभ या सत्कार की इच्छा से अपने अन्दर ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति दिखाना जब कि वास्तव में ऐसी प्राप्ति नहीं हुई है। ये चार वस्तुएँ भिक्षु को उसके श्रामण्य के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होने देतीं। वे उसे पराजित कर डालती हैं। इसीलिये वे 'पाराजिक धम्म' कहलाती हैं। इनमें से किसी एक का भी अपराधी होने पर भिक्षु बुद्ध का शिष्य नहीं रहता। वह अपने उद्देश्य से पतित हो जाता है। वह संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उसके लिये किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। जैसे पीली पड़ी हुई पत्ती पेड़ से झड़कर गिर पड़ती है, उसी प्रकार यह भिक्षु श्रामण्य के सर्वथा अयोग्य समझा जाता है और नियमानुसार संघ से उसका निष्कासन कर दिया जाता है।

तेरह संघादिसेसा धम्मा

चार पाराजिक धम्मों का दण्ड तो, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, संघ से निष्कासन है। 'संघादिसेस' धम्म इन पाराजिक धम्मों से कुछ कम गम्भीर अपराध माने जाते हैं। इनका नाम 'संघादिसेस' इसलिये है कि इनके दंड-स्वरूप अपराधी भिक्षु को छह दिन के लिये अस्थायी रूप से संघ को छोड़ देना पड़ता है और प्रायश्चित्त-स्वरूप वह अकेला रह कर तपस्या (मानत्त) करता है। बाद में शुद्ध होकर वह संघ में प्रवेश करता है। 'संघादिसेस' कोटि में आने वाले तेरह अपराध हैं, जो इस प्रकार हैं (१) जान बूझकर वीर्य-नाश करना। अज्ञात रूप से स्वप्न-दोष में वीर्य-स्खलन हो जाना इसके अन्तर्गत अपराध नहीं माना जाता। (२) काम-वासना से स्त्री-स्पर्श। (३) काम-वासना से स्त्री से वार्तालाप।

(४) अपनी प्रशंसा द्वारा किसी स्त्री को अपनी ओर बुरे उद्देश्य से आकर्षित करना। (५) विवाह सम्बन्ध निश्चित करवाना या प्रेमियों का संगम करवाना। (६) बिना संघ की अनुमति लिये अपने लिये विहार बनवाने लग जाना। (७) बिना संघ की अनुमति के निश्चित मात्रा से बड़े नाप के विहार बनवाने लग जाना, जिनके चारों ओर खुली जगह भी न हो। (८) क्रोध के कारण निराधार ही किसी भिक्षु को 'पाराजिक धम्म' का अपराधी ठहराना। (९) पाराजिक अपराध से मिलते-जुलते किसी अन्य अपराध को पाराजिक अपराध बतलाकर किसी साथी भिक्षु को उसका अपराधी ठहराना। (१०) बारबार चेतावनी दिये जाने पर भी संघ में फूट डालने का प्रयत्न करना। (११) फूट डालने वालों की सहायता करना (१२) बिना किसी गृहस्थ की अनुमति के उसके घर के भीतर घुस जाना। (१३) बारबार चेतावनी दिये जाने पर भी संघ या साथी भिक्षुओं के आदेश को न सुनना।

दो अनियता धम्मा

'अनियत' का अर्थ है अनिश्चित। जिन अपराधों का स्वरूप अनिश्चित हो और साक्ष्य प्राप्त होने पर ही जिन्हें एक विशेष श्रेणी के अपराधों में रक्खा जा सके, तत्सम्बन्धी नियमों को 'अनियता धम्मा' कहते हैं। इनका सम्बन्ध दो प्रकार के अपराधों से है। (१) यदि कोई भिक्षु किसी एकान्त स्थान पर बैठा हुआ स्त्री से बातें कर रहा है और कोई श्रद्धावती उपासिका आकर उसे 'पाराजिक', 'संघादिसेस' या 'पाचित्तिय' (प्रायश्चित्तिक—जिसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़े) अपराध का दोषी ठहराती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है, तो वह उसी अपराध के अनुसार दंड का भागी है। (२) यदि वह एकान्त स्थान में न बैठ कर किसी खुली हुई जगह में बैठ कर ही स्त्री से सम्भाषण कर रहा है। किन्तु उसके शब्दों में कुछ अनौचित्य है और कोई श्रद्धावती उपासिका उसी प्रकार आकर उसे 'पाराजिक', 'संघादिसेस' या 'पाचित्तिय' अपराध का दोषी ठहराती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है, तो वह उसी अपराध के अनुसार दंड का भागी है।

तीस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा

'निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा' वे अपराध हैं जिनके लिये स्वीकरण के साथ-साथ प्रायश्चित करना पड़ता है और जिस वस्तु के सम्बन्ध में अपराध किया

जाता है, वह वस्तु भी भिक्षु से छीन ली जाती है। इस श्रेणी के अपराधों में प्रायः सभी वस्त्र-संबंधी और केवल दो भिक्षा-पात्र सम्बन्धी हैं। वस्त्र सम्बन्धी तृष्णा भिक्षु को किन-किन रूपों में आ सकती है, इसी को देखकर इन नियमों का विधान किया गया है। उदाहरणतः यदि कोई भिक्षु अपने पास अतिरिक्त वस्त्र रखता है, या किसी गृहस्थ से बेठीक समय पर वस्त्र माँगता है, या अपनी इच्छानुसार किसी अच्छे वस्त्र को प्राप्त करने के लिये अपने किसी उपासक गृहस्थ को इशारा देता है, या रेशम या मुलायम ऊन के गद्दों आदि को काम में लेता है, तो वह इस अपराध के अन्तर्गत अपराधी होता है। इसी प्रकार अतिरिक्त भिक्षा-पात्र रखने पर या बिना आवश्यक कारण उसे किसी दूसरे से बदल लेने पर वह इस अपराध के अन्तर्गत अपराधी होता है। इन वस्त्र और भिक्षा-पात्र सम्बन्धी नियमों का उद्देश्य, जिनके सब के ब्योरेवार विवरण देने की हमें आवश्यकता नहीं, केवल यही है कि भिक्षु इन वस्तुओं के प्रयोग में संयत और सावधान रहें, वे अल्पेच्छ हों और यथा-प्राप्त सामग्री से ही अपना गुजारा कर लें। व्यक्ति के ऊपर संघ की प्रतिष्ठा भी इन नियमों के द्वारा की गई है। जो वस्तु संघ को दान दी गई है, उसे कोई एक भिक्षु व्यक्तिगत रूप से अपनी बनाकर नहीं रख सकता। ऐसा करने पर वह अपराधी ठहरता है, उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है और वह वस्तु संघ को लौटा देनी पड़ती है।

९२ पाचित्तिया धम्मा

९२ अपराधों की एक सूची ऐसी है जिन्हें करने पर प्रायश्चित्त करने के बाद अपराध-मुक्त कर दिया जाता है। चीनी विनय-पिटक शिबुन्-रित्सु (धम्मगुत्तिक सम्प्रदाय का विनय-पिटक) में इस श्रेणी के केवल ९० अपराधों का उल्लेख है। इन सब अपराधों का विवरण यहाँ अनावश्यक होगा। संघ-शासन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी पालि साहित्य के इतिहास में तो इनका संक्षिप्त निर्देश ही हो सकता है। अधिकतर नियम ऐसे हैं जो उस समय के देश-काल आदि से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु ऐसे भी कम नहीं हैं जिनका उपयोग सब काल और सब देश के लिये है। भिक्षु के लिये एक बार भोजन करना, भिक्षुणी को उपदेश देते समय सावधान और जागरूक रहना, भिक्षु-पद के गौरव की रक्षा करना, आदि बातें ऐसी हैं जिनका उल्लंघन करने पर भिक्षुओं को प्रायश्चित्त कर आगे के लिये संयम-रक्षा का संकल्प लेना पड़ता था। झूठ बोलना, गाली देना,

चुगली करना, नशीली चीजों का प्रयोग करना, आदि अपराधों के करने पर भी प्रायश्चित्त करने के बाद आगे के लिये वैसा न करने के लिये कृत-संकल्प होना पड़ता था।

चार पटिदेसनिया धम्मा

'पटिदेसनिया धम्मा' का अर्थ है वे वस्तुएँ जिनके लिये प्रतिदेशना (क्षमा-याचना) आवश्यक हो। किसी अज्ञात भिक्षुणी द्वारा भोजन-प्राप्ति, भोजन के समय किसी भिक्षुणी को भिक्षुओं के प्रति आदेश देती हुई देखकर भी उसे न रोकना, बिना पूर्व निमंत्रण के अपने स्थान पर किसी गृहस्थ के हाथ से भोजन ग्रहण करना तथा उपद्रव-ग्रस्त वन में किसी गृहस्थ को वहीं बुलवा कर उसके हाथ से भोजन की प्राप्ति, इन चार अपराधों के लिये क्षमा-याचना करनी पड़ती है।

७५ सेखिया धम्मा

'सेखिया धम्मा' या शैक्ष्य धर्म वे हैं जिनका सम्बन्ध बाहरी शिष्टाचार, वस्त्र पहनने के ढंग और भोजन आदि करने के नियमों से है। भिक्षु को किस प्रकार ठीक वस्त्र पहनकर भिक्षा-चर्या के लिये जाना चाहिये, किस प्रकार शरीर और वस्त्रों के उचित समेटन और फैलाव के साथ उसे बरतना चाहिये, किस प्रकार उसे शान्त रहना चाहिये, जोर से हँसना आदि नहीं चाहिये, इन्हीं सब बातों का विस्तृत विवरण किया गया है और इनके तोड़ने पर फिर शिक्षा का विधान किया गया है। इन नियमों में से अधिकतर तत्कालीन शिष्टाचार से सम्बन्ध रखते है, जो बौद्ध देशों में आज तक भी कुछ हद तक जीवित अवस्था में है।

सात अधिकरणसमथा धम्मा

संघ में विवाद होने पर उसकी शान्ति के उपाय के रूप में सात नियमों का विधान किया गया है। वे सात नियम हैं (१) संमुख-विनय, (२) स्मृति-विनय, (३) अ-मूढ़ विनय, (४) प्रतिज्ञात करण, (५) यद्भूयसिक, (६) तत्पापीयसिक और (७) तिणवत्थारक। चूँकि संघ-शासन तथा तत्कालीन गणतन्त्रीय शासन-व्यवस्था की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, अतः इनका संक्षिप्त विवरण अपेक्षित होगा। भगवान् के मुख से ही सुनिये—"आनन्द! संमुख विनय (सम्मुखाविनय) कैसे होता है? आनन्द! भिक्षु विवाद करते हैं, 'यह धर्म है या

अधर्म; विनय या अविनय'? आनन्द! उन सभी भिक्षुओं को एक जगह एकत्र होना चाहिये। एकत्र होकर धर्म रूपी रस्सी का ज्ञान से परीक्षण करना चाहिये। जैसे वह शान्त हो उसी प्रकार उस झगड़े (अधिकरण) को शान्त करना चाहिये। इस प्रकार आनन्द! संमुख-विनय होता है। इस प्रकार संमुख विनय से भी किन्हीं किन्हीं झगड़ों (अधिकरणों) का शमन होता है।

"आनन्द! यद्भूयसिक (बहुमत) कैसे होता है? आनन्द! यदि भिक्षु अपने झगड़े को उसी आवास (निवास-स्थान) में शान्त न कर सकें तो आनन्द! उन सभी भिक्षुओं को, जिस आवास में अधिक भिक्षु हैं, वहाँ जाना चाहिये। वहाँ सब को एक जगह एकत्र होना चाहिये, एकत्र होकर धर्म रूपी रस्सी का समनुमार्जन (परीक्षण) करना चाहिये। इस प्रकार भी कुछ झगड़ों का शमन हो जाता है।

"आनन्द! स्मृति-विनय कैसे होता है? यहाँ आनन्द! भिक्षु भिक्षु पर पाराजिक या पाराजिक समान दोष का आरोप लगाता है, स्मरण करो आवुस! तुम पाराजिक या पाराजिक-समान बड़े दोष के अपराधी हुए, किंतु वह दूसरा भिक्षु उत्तर में कहता है, 'आवुस! मुझे याद नहीं कि मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हूँ, दोष से दोषी हूँ'। उस भिक्षु को आनन्द! स्मृति-विनय देना चाहिये। इस स्मृति विनय से भी किन्हीं-किन्हीं झगड़ों का निबटारा होता है।

"आनन्द! अमूढ़-विनय कैसे होता है?..."आवुस! पागल हो गया था, मुझे मति-भ्रम हो गया था, उन्मत्त हो मैंने बहुत सा श्रमण-विरुद्ध आचरण किया, भाषण किया, मुझे वह स्मरण नहीं होता। मूढ़ हो, मैंने वह किया। उस भिक्षु को आनन्द! अ-मूढ़-विनय देना चाहिये।

"आनन्द! प्रतिज्ञात करण (स्वीकरण) कैसे होता है? आनन्द!...भिक्षु दूसरों के द्वारा आरोप करने या न करने पर भी अपने दोष को स्मरण करता है, खोलता है, स्पष्ट करता है। उस भिक्षु को अपने से वृद्धतर भिक्षु के पास जाकर चीवर को एक (बायें) कन्धे पर करके, पाद-वन्दना कर हाथ जोड़कर ऐसा कहना चाहिये, 'भन्ते! मैं इस नाम की आपत्ति (दोष) से आपन्न हूँ, उसकी मैं प्रतिदेशना (निवेदन) करता हूँ'। तब वह दूसरा भिक्षु ऐसा कहे "देखते हो उस दोष को?" "देखता हूँ" "आगे से इन्द्रिय-रक्षा करना", "रक्षा करूँगा"। आनन्द! इस प्रकार प्रतिज्ञात-करण होता है।

"आनन्द! तत्पापीयसिका (तस्स पापियसिका) कैसे होती है? यहाँ आनन्द! किसी भिक्षु पर कोई दूसरा भिक्षु पाराजिक या पाराजिक-समान भारी अपराध

का दोष लगाता है। वह उसे सुनकर कहता है, 'आवुस ! मुझे स्मरण नहीं कि मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुआ हूँ'। फिर दोष लगाने वाला भिक्षु कहता है, 'आयुष्मन् ! अच्छी तरह बूझो। क्या तुम्हें स्मरण है कि तुम ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुए थे !' 'आवुस ! स्मरण नहीं करता कि ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुआ। स्मरण करता हूँ आवुस ! इस प्रकार की छोटी आपत्ति से आपन्न हुआ'। 'आयुष्मन् ! अच्छी तरह बूझो।' 'आवुस ! मैं इस प्रकार की छोटी आपत्ति से आपन्न हुआ, यह मैं बिना पूछे ही स्वीकार करता हूँ, तो क्या मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हो पूछने पर भी स्वीकार न करूँगा'। अधिक जोर देने पर वह स्वीकार कर ले 'आवुस ! स्मरण करता हूँ ऐसी भारी आपत्ति (दोष) से आपन्न हुआ। सहसा प्रमाद से मैंने यह कह दिया कि स्मरण नहीं करता'। इस प्रकार आनन्द ! तत्पापीयसिका (उससे भी और कड़ी आपत्ति) होती है।

"आनन्द ! तिण्ण वत्थारक कैसे होता है ? आनन्द ! आपस में कलह करते हुए भिक्षु बहुत से श्रमण-विरुद्ध आचरण करते और भाषण करते हैं। उन सभी भिक्षुओं को एकत्र होना चाहिए। एकत्र हो कर एक पक्ष वालों में से किसी चतुर भिक्षु को आसन से उठ कर चीवर को एक कन्धे पर कर हाथ जोड़ संघ को विज्ञापित करना चाहिए "भन्ते ! संघ सुने। कलह करते हुए हमने बहुत से श्रमण-विरुद्ध आचरण किए हैं। यदि संघ उचित समझे तो जो इन आयुष्मानों का दोष है और जो मेरा दोष है, इन आयुष्मानों के लिए भी और अपने लिए भी तिणवत्थारक (घाँस से ढाँकना जैसा) बयान करूँ, लेकिन बड़े दोष गृहस्थ-सम्बन्धी को छोड़ कर। तब दूसरे पक्ष वालों में से चतुर भिक्षु को आसन से उठ कर ऐसा ही करना चाहिए। इस प्रकार आनन्द ! तिणवत्थारक (तृण से ढाँकने जैसा) होता है"।[1]

भिक्षुओं के समान भिक्षुणिओं के लिए भी अनेक आचरण-सम्बन्धी नियमों का विधान था। आठ गुरु-धर्म तो भगवान् ने प्रथम वार ही भिक्षुणी-संघ के लिए स्थापित कर दिये गए थे, जो इस प्रकार हैं—

---

१. सामगाम-सुत्त (मज्झिम. ३।१।४;) महापंडित राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद); इनके विस्तृत विवरण के लिये देखिये विनय-पिटक के चुल्लवग्ग का समथक्खन्धक भी।

(१) सौ वर्ष की उपसम्पदा पाई हुई भिक्षुणी को भी उसी दिन के सम्पन्न भिक्षु के लिए अभिवादन, प्रत्युत्थान, अंजलि जोड़ना, सामीची कर्म करना चाहिए।

(२) जहाँ भिक्षु न हों, ऐसे स्थान में वर्षावास नहीं करना चाहिए।

(३) प्रति आधे मास भिक्षुणी को भिक्षु-संघ से पर्येषण करना चाहिए।

(४) वर्षा-वास कर चुकने पर भिक्षुणी को दोनों संघों में देखे, सुने, जाने तीनों स्थानों से प्रवारणा करनी चाहिए।

(५) जिस भिक्षुणी ने गुरु-धर्मों को स्वीकार कर लिया है, उसे दोनों संघों को मानना चाहिए।

(६) किसी प्रकार की भिक्षुणी भिक्षु को गाली आदि न दे।

(७) भिक्षुणिओं का भिक्षुओं को कुछ भी कहने का रास्ता बन्द है। भिक्षुणी को भिक्षु से बात नहीं करनी चाहिए।

(८) भिक्षुओं का भिक्षुणिओं को कहने का रास्ता खुला है। अर्थात् भिक्षुओं को उन्हें उपदेश करने का अधिकार है।

उपर्युक्त प्रधान नियमों के अलावा भिक्षुणियों के दैनिक जीवन के लिए अनेक साधारण नियम भी थे। उनमें कुछ भिक्षुओं के समान भी थे, जैसे झूठ, चुगली आदि से विरति। कुछ विशिष्ट रूप से उनके लिए ही थे, जैसे एकान्त या अँधेरे स्थान में किसी से सम्भाषण न करना, रात्रि में अकेली कहीं न जाना, सड़क पर भी किसी से अलग बात नहीं करना, किसी भी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र से न मिलना-जुलना, जीविका के लिए कोई शिल्प न सीखना न सिखाना, अंग-लेप आदि न लगाना, आदि। भिक्षुणियों पर भी पाराजिका आदि दोष उसी प्रकार लागू थे, जैसे भिक्षुओं पर। हाँ, प्रव्रज्या प्राप्त करने से पहले के दोषों के लिए वे दंड की भागिनी नहीं होती थीं। एक बार एक व्यभिचारिणी स्त्री संघ में प्रवेश पा गयी थी। संघ-प्रवेश के बाद वह उसके लिए दंडित नहीं की गई।

ऊपर भिक्षु-भिक्षुणियों सम्बन्धी नियमों और उनके उल्लंघन करने पर प्राप्त दण्ड-विधान का कुछ दिग्दर्शन किया गया है। वास्तव में विनय-पिटक के नियमों और उनके उल्लंघन से उत्पन्न दोषों की इतनी लम्बी सूची है कि उसका संक्षेप नहीं दिया जा सकता। किन्तु विनय-पिटक में नियमों के अलावा और भी बहुत कुछ है। उसकी विषय-वस्तु के क्रम में ये नियम और अन्य बातें कहाँ-कहाँ आती हैं,

वह तत्सम्बन्धी विश्लेषण से स्पष्ट होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है, पालि विनय-पिटक निम्नलिखित भागों में विभक्त है—

१. सुत्त-विभंग
   (अ) पाराजिक
   (आ) पाचित्तिय
२. खन्धक
   (अ) महावग्ग
   (आ) चुल्लवग्ग
३. परिवार

सुत्त-विभंग

सुत्त-विभंग का वर्गीकरण दोषमय है। सुत्त-विभंग के दो भागों 'पाराजिक' और 'पाचित्तिय' में वैसे इनके शीर्षकों के अनुसार क्रमशः उन अपराधों का उल्लेख होना चाहिये था, जिनका दंड क्रमानुसार संघ से निष्कासन या किसी प्रकार का प्रायश्चित्त है। कुल अपराध संख्या में २२७ हैं, और जैसा हम अभी दिखा चुके हैं, इन सम्बन्धी नियम आठ वर्गीकरणों में विभक्त हैं, यथा (१) चार पाराजिक, (२) १३ संघादिसेस, (३) दो अनियता धम्म, (४) तीस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्म, (५) ९२ पाचित्तिय धम्म, (६) चार पटिदेसनिय धम्म, (७) ७५ सेखिय धम्म, तथा (८) सात अधिकरणसमथ धम्म। इनका विश्लेषण हम पहले कर चुके हैं। सुत्त-विभंग में इन्हीं नियमों का विश्लेषण है। साथ में इन नियमों का विधान किस प्रकार किया गया, इसका पूरा इतिहास भी दिया गया है। परन्तु वर्गीकरण दोषमय है। अपराधों के विचार से वर्गीकरण करने पर 'सुत्त-विभंग' के दो विभाग किये गये हैं: (१) पाराजिक और (२) पाचित्तिय, किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघों को उद्देश्य कर उनका वर्गीकरण है (१) महाविभंग या भिक्षु-विभंग (भिक्खु विभंग) और (२) भिक्षुणी-विभंग (भिक्खुणी विभंग)। परन्तु इन दोनों ही दृष्टियों से देखने पर सुत्त-विभंग की विषय-वस्तु संगत दिखाई नहीं पड़ती, जैसी कि वह ग्रन्थ रूप में है। 'पाराजिक' में वैसे नाम के अनुसार केवल चार पाराजिकों का वर्णन होना चाहिये था, परन्तु उतना ही न होकर यहाँ चार पाराजिकों के अतिरिक्त १३ संघादिसेसों, २ अनियत धर्मों और ३० निस्सग्गिय पाचित्तिय धर्मों का भी विवरण है। अतः ये सब नियम अधिक हैं। यदि 'भिक्खु-

विभंग' के रूप में इसे समझना चाहें तब भी असंगति है। भिक्खु-विभंग में पूरे २२७ नियमों का विवरण आना चाहिये था, परन्तु कहाँ तो केवल ४+१३+२+३०=४९ ही हैं। इसी प्रकार सुत्त-विभंग के दूसरे भाग पाचित्तिय या भिक्खुनी-विभंग पर आइये। वास्तविक विषय-वस्तु के अनुसार, जैसी कि वह ग्रन्थ रूप में मिलती है, इसमें पहले तो भिक्षुओं के ९२ पाचित्तिय, ४ पाटिदेसनिय, ७५ सेखिय और ७ अधिकरण समथ नियमों का विवरण है (अर्थात् भिक्षुओं के शेष नियमों का) और बाद में भिक्षुणियों के पाराजिक, संघादिसेस.....अधिकरण समथ नियमों का। अतः यहाँ भी शीर्षक और विषय-वस्तु में संगति नहीं है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने 'पाराजिक पालि' और 'पाचित्तिय पालि' की अपनी भूमिकाओं में इन असंगतियों को अच्छी प्रकार दिखाया है। भिक्षु और भिक्षुणी-सम्बन्धी नियमों के इतिहास को छोड़ कर केवल नियमों का संग्रह मात्र 'पातिमोक्ख' के नाम से प्रसिद्ध है। भिक्षु और भिक्षुणी संघों के अनुसार पातिमोक्ख के भी दो भेद हैं, यथा (१) भिक्खु-पातिमोक्ख और (२) भिक्खुनी-पातिमोक्ख, जो क्रमशः महाविभंग (भिक्खु-विभंग) और भिक्खुनी-विभंग के ही संक्षिप्त रूप हैं। यदि हम चाहें तो सुत्त-विभंग को 'पातिमोक्ख' का विस्तृत रूप या व्याख्या कह सकते हैं, या 'पातिमोक्ख' को 'सुत्त-विभंग' का उपयोग के योग्य संक्षिप्तीकरण। परन्तु ऐतिहासिक रूप से सुत्त-विभंग को पातिमोक्ख पर आधारित और उसका विस्तृत रूप मानना ही समीचीन है। पातिमोक्ख प्राचीनतर है। भिक्षु-संघ में उपोसथ (उपवसथ-उपवास-व्रत) नाम का एक संस्कार होता था। प्रत्येक मास की अमावस्या (चतुर्दशी) और पूर्णिमा को जितने भिक्षु एक गाँव या खेत के पास विहरते थे, सब एक जगह एकत्र हो जाते थे और उन सब की उपस्थिति में 'पातिमोक्ख' या 'पाटिमोक्ख' (प्रातिमोक्ष) का पाठ होता था। 'पातिमोक्ख' में, जैसा हम अभी कह चुके हैं, पाराजिक, पाचित्तिय आदि के वर्गीकरण में विभक्त २२७ अपराधों एवं तत्सम्बन्धी नियमों का विवरण है। 'पातिमोक्ख' का पाठ करते समय जैसे-जैसे अपराधों के प्रत्येक वर्गीकरण का पाठ किया जाता था, उस सभा में सम्मिलित प्रत्येक भिक्षु से यह आशा की जाती थी कि वह उठ कर यदि उसने वह अपराध किया है तो उसका स्वीकरण कर ले, ताकि भविष्य के लिए संयम हो सके। उपवासादि रखने और पाप-प्रायश्चित्त करने की यह प्रथा प्राग्बुद्धकालीन भारत में अन्य सम्प्रदायों में भी प्रचलित थी। किन्तु बुद्ध ने उसे एक विशेष नैतिक अर्थ से अनुप्राणित कर दिया। पाप

को उघाड़ देने से वह छूट जाता है। चित्त-शुद्धि के लिए अपने पापों को खोल देना चाहिए। गुप्त रखने से वे और भी चिपटते हैं। पाप-स्वीकरण, क्षमा-याचना और आगे के लिए कृतसंकल्पता, यही प्रातिमोक्ष-विधान के प्रधान लक्ष्य थे। चूंकि ऐसा करने के बाद प्रत्येक अपराधी भिक्षु एक प्रकार अपने-अपने अपराध के बोझ को उठा फेंकता था, उससे विमुक्ति पा जाता था, इसलिए 'पातिमोक्ख' का अर्थ प्रत्येक का अलग-अलग पाप-भार को फेंक देना, पाप से मुक्त हो जाना, पाप से मोक्ष पा जाना, हो सकता है। चूंकि प्रत्येक भिक्षु अलग-अलग अपने मुख से अपने पाप का स्वीकरण कर पाप-विमुक्त होता था, अतः 'प्रातिमोक्ष' के 'प्राति' शब्द में यह 'प्रति' का भाव लेकर हम कह सकते हैं कि 'प्रातिमोक्ष' का अर्थ है प्रत्येक की अलग-अलग मुक्ति। विनय-पिटक के चीनी और तिब्बती भाषाओं में जो अनुवाद हुए, उनमें 'प्रातिमोक्ष' का यही अर्थ लिया गया है। चूंकि पालि 'पातिमोक्ख' का संस्कृत प्रतिरूप 'प्रातिमोक्ष' ही सर्वास्तिवादी आदि प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों ने किया है, अतः पालि 'पातिमोक्ख' का भी अर्थ प्रत्येक का अलग-अलग पाप-मुक्त हो जाना अशुद्ध नहीं हो सकता। आधुनिक विद्वान् अधिकतर इसी अर्थ को लेते हैं। किन्तु आचार्य बुद्धघोष ने 'प्रति मुख' अर्थात् प्रत्येक भिक्षु के द्वारा अपने-अपने मुख से पाप-स्वीकरण, इस अर्थ पर जोर दिया है। यह 'पातिमोक्ख' में होता ही है। बुद्धघोष की 'पातिमोक्ख' की निरुक्ति और सर्वास्तिवादी आदि सम्प्रदायों में 'प्रातिमोक्ष' के रूप में उसका अर्थ ग्रहण, इन दोनों में कोई असंगति नहीं है। बल्कि वे दोनों ही उसके क्रिया और फल के क्रमशः सूचक हैं, अतः वे एक दूसरे के पूरक भी हैं। भगवान् ने प्रातिमोक्ष-सम्बन्धी उपदेश सुत्तों में भी अनेक बार दिया है। "भिक्षु शीलवान् होता है, प्रातिमोक्ष के संवर (संयम) से संवृत होता है, आचार-गोचर से सम्पन्न होता है, शिक्षापदों को ग्रहण कर अभ्यास करता है।"[१] स्वयं विनय-पिटक के महावग्ग में 'पातिमोक्ख' की प्रशंसा में कहा गया है, "पातिमोक्खं ति आदिमेतं मुखमेतं पामुखमेतं कुसलानं धम्मानं तेन वुच्चति पातिमोक्खं ति।"[२] अर्थात् प्रातिमोक्ष कुशल धर्मों का आदि है, मुख है, प्रमुख है,

---

१. गोपक-मोग्गल्लान-सुत्त (मज्झिम. ३।१।८); मिलाइये "भिक्षुओ! शीलसम्पन्न होकर विहरो, प्रातिमोक्ष-संवर से संवृत (रक्षित) होकर विहरो, शिक्षापदों को ग्रहण कर उनका अभ्यास करो।" आकंखेय्य-सुत्त (मज्झिम. १।१।६)

२. महावग्गपालि, पृष्ठ १०६ (भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित संस्करण)

इसलिये वह प्रातिमोक्ष कहलाता है।" एक प्राचीन टीका में भी कहा गया है, "यो तं पाटिरक्खति तं मोक्खेति मोचेति अपायकादिदुक्खेहि तस्मा पाटिमोक्खं ति वुच्चति।"[१] अर्थात् "जो प्रातिमोक्ष (के नियमों) की रक्षा करता है, उसे यह दुर्गति आदि दुःखों से मोक्ष दिखलाता है, मुक्त करता है, इसलिये यह प्रातिमोक्ष कहलाता है।" इस प्रकार प्रातिमोक्ष का रूप स्पष्ट हो जाता है।

खन्धक

विनय-पिटक का दूसरा भाग खन्धक भी दो भागों में विभक्त है, महावग्ग और चुल्लवग्ग। सुत्त-विभंग जब कि अधिकांशतः निषेधात्मक है, महावग्ग उस का विधानात्मक स्वरूप है। संघ के अन्दर जिस प्रकार का जीवन बिताना चाहिए, उसका यहाँ निर्देश किया गया है। महावग्ग में प्रथम दस खन्धक हैं। सम्बोधि-प्राप्ति से लेकर प्रथम संघ की स्थापना तक का यहाँ पूरा इतिहास भी दिया गया है। यह भाग 'महावग्ग' का बड़ा महत्वपूर्ण है। पहले खन्धक (विभाग, अध्याय) में भगवान् बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद सात सप्ताहों तक उनके भिन्न-भिन्न वृक्षों के नीचे ध्यान-सुख में बिताने एवं तदनन्तर वाराणसी में धर्म चक्र-प्रवर्तन के लिये जाने का वर्णन है। उरुवेला से लेकर वाराणसी तक की उनकी इस यात्रा का वर्णन है। इसी प्रसंग में मार्ग के बीच में तपस्सु और भल्लिक नामक वणिकों को भगवान् उपासक बनाते हैं और वे बुद्ध और धम्म की शरण में जाते हैं। उपक नामक आजीवक भी भगवान् को मार्ग में मिलता है। उसके साथ हुए उनके संलाप का विवरण है। वाराणसी में धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने के बाद भगवान् आज्ञा कौण्डिन्य, भद्दिय, वप्प, अस्सजि और महानाम, इन पंचवर्गीय भिक्षुओं को जो उनके साथ पहले उरुवेला में रहे थे, बुद्ध-मत में प्रव्रजित करते हैं। इसके बाद यश के संन्यास का वर्णन है। उसके बाद काश्यप-बन्धुओं (जटिल काश्यप, उरवेल काश्यप-नदी काश्यप) की प्रव्रज्या का वर्णन है। महाराज बिंबिसार के उपासकत्व का भी वर्णन है। "भन्ते! मेरी पाँच अभिलाषाएँ थीं—मैं राज्य-अभिषिक्त होता—मेरे राज्य में सम्यक् सम्बुद्ध आते—मैं उनकी सेवा करता—वे भगवान् मुझे धर्म-उपदेश करते—उन भगवान् को मैं जानता। भन्ते! ये मेरी पाँचों इच्छाएँ आज पूरी हो गईं। इसलिए भन्ते! मैं भगवान् की शरण लेता

---

१. देखिये पचोव : ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑव दि प्रातिमोक्ष, पृष्ठ ४

हूँ, धर्म की और भिक्षु-संघ की भी।" इसी समय उसने भिक्षु-संघ को वेणु-वन दान भी किया। सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप, नन्द और राहुल के संन्यास के वर्णन, सभी क्रमानुसार दिये गये हैं, जो भिक्षु-संघ के बुद्धकालीन विकास को जानने के लिए तथा इन प्रथम शिष्यों की जीवन-साधना से परिचित होने के लिए बड़े आवश्यक हैं।[1] उपसम्पदा की विधि, प्रातिमोक्ष और उपसम्पदा सम्बन्धी विस्तृत नियम, वर्षावास के नियम, प्रवारणा के नियम, चीवरों के रँगने की विधि आदि सभी विषयों पर विस्तृत विधान हैं। महावग्ग के दसवें खन्धक में कौशाम्बी के भिक्षुओं के झगड़े का वर्णन है। इसी खन्धक के अन्त में भगवान् उपालि को संघ की एकता (संघ सामग्गी) पर उपदेश देते हैं। इससे आगे चुल्लवग्ग है। अपराधी भिक्षुओं के विरुद्ध सात प्रकार की कार्यवाहियाँ करने के प्रसंग में यहाँ उस समय के न्याय और दण्ड-विधान सम्बन्धी अनेक प्रक्रियायों के वर्णन हैं जो उस समय की न्याय-विधि को जानने के लिये बड़े आवश्यक हैं। भिक्षु के लिये दैनिक जीवन में कौन सी चीजें विहित हैं, कौन सी अ-विहित, उसे विहार में या बाहर किस प्रकार चलना-फिरना चाहिये या वार्तालाप करना चाहिये, आदि विषयों पर सूक्ष्म निर्देश हैं। चुल्लवग्ग में ही अनाथपिंडिक की दीक्षा और जेतवन-दान का वर्णन है और महापजापती गोतमी की प्रव्रज्या का वर्णन भी। यहीं से भिक्षुणी-संघ का आरम्भ होता है। चुल्लवग्ग के अन्त में प्रथम दो बौद्ध संगीतियों के विवरण हैं। वास्तव में न केवल भिक्षु-संघ के इतिहास की दृष्टि से ही, बल्कि छठी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय समाज की अवस्था को जानने के लिए भी महावग्ग और चुल्लवग्ग के साथ-साथ पाराजिक और पाचित्तिय में पर्याप्त सामग्री भरी हुई है। उदाहरणतः सिर्फ दो-एक चित्र देखिये। महावग्ग में राजगृह और अन्धकविन्द के बीच सड़क पर हम एक व्यापारी को गुड़ से भरी पाँच सौ गाड़ियों के साथ जाते देखते हैं। पाराजिक में व्यापारियों का एक काफिला एक जनपद या राष्ट्र से दूसरे जनपद या राष्ट्र में प्रवेश करने पर चुंगी (सुंक-शुल्क) चुका रहा है। पाचित्तिय में ऊपर छत से एक स्त्री ने नीचे गली में जाते हुए एक रास्तागीर पर कूड़ा डाल दिया है। उसे दूसरे रास्तागीरों द्वारा बताया जाता है कि यह तो एक शुभ शकुन है। सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने वाली अनेक प्रकार की सामग्री यहाँ मिलती है, और बिलकुल प्रासंगिक और सहज रूप में।

---

१. अनुरुद्ध, आनन्द और उपालि की प्रव्रज्या के वर्णन चुल्लवग्ग में हैं।

जीवक कौमारभृत्य का विवरण जो महावग्ग में आता है और इसी वग्ग में भिक्षुओं के लिये जो भैषज्य-विधान किया गया है, उससे तत्कालीन आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान और उसके अभ्यास का अच्छा परिचय मिलता है। बिम्बिसार आदि के विवरण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और वैशाली आदि के विवरण उस समय की सामान्य सभ्यता और मनुष्यों के रहन-सहन के ढंग का अच्छा परिचय देते हैं। निश्चय ही इस दृष्टि से विनय-पिटक का और विशेषतः महावग्ग और चुल्लवग्ग का बड़ा महत्त्व है। यहीं पर सुत्त-विभंग की विषय-वस्तु के पूरक-स्वरूप भिक्षु और भिक्षुणी संघों के आन्तरिक जीवन एवं कार्य-संचालन का भी अच्छा चित्र दिया गया है। भिक्षु-संघ में प्रवेश के नियम, उपोसथ के नियम, वर्षावास के नियम, उसके अन्त पर 'पवारणा' सम्बन्धी नियम, संघ में फूट पड़ने पर उसमें एकता लाने के उपाय, भिक्षुओं के जीवन की छोटी से छोटी बातों पर भी सूक्ष्मतापूर्वक विचार, उनके कपड़े और जूते पहनने तक के ढंग, सवारी में बैठने सम्बन्धी नियम, निवास-स्थान और उसकी सफाई, मरम्मत आदि सम्बन्धी नियम, किसी भी विषय को यहाँ छोड़ा नहीं गया है। चुल्लवग्ग के दसवें खन्धक में केवल भिक्षुणी-जीवन सम्बन्धी नियमों और ज्ञातव्य बातों का ही विवरण है। 'खन्धक' से ही संलग्न 'कम्म वाचा' (सं० कर्म-वाक्य) के भी विवरण हैं जो संघ-सम्बन्धी विभिन्न कृत्यों और विशेषतः संघ-प्रवेश के समय कार्य-प्रणाली के सूचक हैं। 'खन्धक' में आये हुए नियमों के समान यहाँ विभिन्न कर्मों (कम्म) के लिए प्रयुक्त शब्दों (वाचा) का विधान किया गया है।

'परिवार' या 'परिवार-पाठ' विनय-पिटक का अन्तिम भाग है। जैसा विंटर-नित्ज़ ने कहा है, 'परिवार' का विनय-पिटक से वही सम्बन्ध है, जो वेद की अनुक्रमणी और परिशिष्टों का वेद के साथ।[1] 'परिवार' सम्भवतः बाद का भी संकलन है। वह प्रश्नोत्तर के रूप में है। विनय-पिटक की विषय-वस्तु की इसे एक प्रकार से 'मातिका' या विषय-सूची ही समझना चाहिए। 'परिवार' में १९ परिच्छेद हैं,[2] जिनमें अभिधम्म की शैली पर विनय-पिटक के विषय की ही पुनरावृत्ति की गई है। विषय की दृष्टि से कोई नई बात यहाँ नहीं कही गई है, परन्तु विनय के विषय को समझाने के लिये इस ग्रन्थ का उद्योग है। कौन सा शिक्षापद भगवान्

---

१. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३३

२. भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित परिवार पालि में इक्कीस परिच्छेद हैं।

ने कहाँ किसको, किस प्रसंग में दिया, संघ के झगड़े कितने प्रकार के होते हैं, उपोसथ का आदि क्या है, मध्य क्या है, अन्त क्या है, किन दस बातों का विचार कर तथागत ने शिक्षापदों को प्रज्ञप्त किया, इस प्रकार की समस्याएँ इस ग्रन्थ में उठाई गई हैं और उनके उत्तर दिये गये हैं जिनमें प्रायः सम्पूर्ण विनय-पिटक की विषय-वस्तु ही आ जाती है और दुहरा ली जाती है। यह ग्रन्थ गद्य और गाथाओं, दोनों में है। 'परिवार' की अन्तिम गाथाओं में कहा गया है "पुब्बाचरियमग्गंच पुच्छित्वा व तम्हि तम्हि। दीप नाम महापञ्ञो सुतधरो विचक्खणो। इमं वित्थारसंखेपं सज्झामग्गेन मज्झिमे। चिन्तयित्वा लिखापेसि सिस्सकानं सुखावहं॥"[१] इससे निश्चित है कि विनय-सम्बन्धी शिक्षा के इस ग्रन्थ को 'दीप' नामक महामति भिक्षु ने सिंहल में लेखबद्ध करवाया। इसके आधार पर अधिकतर विद्वान् दीप को ही परिवार-पाठ का रचयिता या संकलन-कर्ता मानते हैं। यह परिवार-पाठ के वर्तमान रूप के सम्बन्ध में ठीक हो सकता है, परन्तु अधिकतर ठीक बात यही लगती है कि परिवार-पाठ प्रथम संगीति के समय से ही परम्परागत रूप से प्राप्त था और दीप ने उसे केवल "शिष्यों के सुख के लिये लिखवाया"। "लिखापेसि सिस्सकानं सुखावहं।" आचार्य बुद्धघोष ने सुमंगलविलासिनी में बताया है कि प्रथम संगीति के अवसर पर ही जब विनय-पिटक का संगायन किया गया तो उसमें 'सोळस-परिवार' भी सम्मिलित था। 'सोळस-परिवार' से तात्पर्य परिवार के १६ परिच्छेदों से ही हो सकता है। परन्तु ये सोलह परिच्छेद कौन से थे, यह बताना आज कठिन है। आज परिवार के रोमन संस्करण में १९ और देवनागरी संस्करण में २१ परिच्छेद हैं। ये दोनों परिवर्द्धित हैं और बाद के हैं। इस रूप में परिवार के रचना-काल का ठीक निश्चय करना कठिन है, परन्तु इसकी शैली को देखते हुए इतना कहा जा सकता है कि अभिधम्म के काफी बाद और उसकी मातिकाओं की शैली के आधार पर इसकी रचना एक उत्तर काल में हुई।

भिक्षु जगदीश काश्यप ने परिवार पालि की अपनी भूमिका में दो बातों की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। पहली बात तो यह कि इसमें धर्म के लिपिबद्ध

---

१. विनय-पिटकं, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ २२६ (रोमन संस्करण)। भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित परिवार पालि में मैं इन गाथाओं को नहीं ढूँढ़ सका हूँ। परिवार पालि की अपनी भूमिका में भी उन्होंने दीप का कहीं उल्लेख नहीं किया है। 'अनुक्कमणिका' में भी यह शब्द नहीं है।

किये जाने का उल्लेख है। इसके प्रथम और द्वितीय परिच्छेदों के आरम्भ में आया है "सज्झायमग्गलिखिता वारा।" दूसरी बात यह है कि महेन्द्र द्वारा लंका में विनय की परम्परा स्थापित कर दिये जाने के बाद २९ सिंहली भिक्षुओं के नाम भी यहाँ प्रथम परिच्छेद में दिये गये हैं, जिन्होंने ताम्रपर्णी द्वीप में विनय-पिटक का प्रकाश किया। 'विनयं दीपे पकासेसुं पिटकं तम्बपण्णिया।" इससे यह निश्चित है कि परिवार-पाठ की रचना अपने वर्तमान रूप में लंका में काफी बाद में चलकर हुई।

इस प्रकार हमने संघ की अनुस्मृति की। जिस प्रकार धम्म की अनुस्मृति में हमने सुत्तों का सहारा लिया, उसी प्रकार भिक्षु-संघ की स्मृति करने में विनय-पिटक ने हमारी सहायता की। बुद्ध की अनुस्मृति तो दोनों जगह समान ही रही। साथ-साथ हमने तत्कालीन लोक-समाज को भी देखा, बुद्ध के देश और काल को भी देखा। इतिहास-लेखक तो इसी पर सर्वाधिक जोर देते हैं, किन्तु हमने तो प्रासंगिक वश ही सही, पर बुद्ध, धम्म और संघ की अनुस्मृति भी अवश्य की। निश्चय ही महापुरुष (बुद्ध) का जितना बड़ा दान विश्व को 'धम्म' का था, उससे कम बड़ा दान संघ का भी नहीं था। बुद्धकालीन भिक्षु-संघ साक्षात् साधना का निवास-स्थान था। उसकी वह पवित्रता की द्युति ही थी जो उसकी महिमा के इतने विशाल भूखंड पर विस्तार का कारण हुई। भिक्षु-संघ के विषय में जो यह कहा गया है कि वह आहुनेय्य (निमंत्रण करने योग्य) था, पाहुणेय्य (पाहुना बनाने योग्य) था, दान देने योग्य था, अञ्जलि जोड़ने योग्य था, एवं लोक के लिए पुण्य बोने का अद्वितीय क्षेत्र था, वह उसकी पवित्रता और संयम-प्रियता को देखते हुए बिलकुल ठीक ही था। भगवान् का श्रावक-संघ 'आमिस-दायाद' नहीं था और न वह किसी लौकिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यवस्थित किया गया था, यह इसी से प्रकट होता है कि आनन्द और महाकाश्यप जैसे ज्ञानी और साधक भिक्षुओं के रहते हुए भी शास्ता ने किसी को अपने बाद संघ का संचालक नहीं बनाया। धर्म और विनय के संचालन में ही उन्होंने उसे छोड़ा। भगवान् का कोई पीटर या अली नहीं बना। कारण, यहाँ वैसा कुछ था ही नहीं जिसका किसी व्यक्ति को उत्तराधिकार सौंपा जा सके। इतनी निर्वैयक्तिकता और आत्म-विलुप्ति विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं देखी गई।

विनय-पिटक के नियमों में आधारभूत विश्वजनीन तत्व कितना है अथवा कितना वह देश और काल की विशिष्ट परिस्थितियों से उद्भूत है, यह एक बड़ा

महत्वपूर्ण प्रश्न है। नगई ने अपने संक्षिप्त विनय-सम्बन्धी निबन्ध[१] में इस प्रश्न को उठाया है और सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तित स्वरूपों का विवेचन करते-करते वे उस हद तक पहुँच गए हैं, जहाँ तक स्थविरवादी बौद्ध परम्परा तो उनके साथ जा ही नहीं सकती, धर्म और साधना का कोई भी भारतीय विद्यार्थी भी जहाँ तक जाना पसन्द नहीं करेगा। उदाहरणतः स्त्री-संलाप आदि अनेक बातों के साथ-साथ भिक्षु के एकाशनिक (एकाहारी) होने सम्बन्धी व्रत के अभ्यास को भी नगई ने इस आधुनिक युग में असम्भव और कदाचित् अनावश्यक मान लिया है। निश्चय ही यह सीमा को अतिक्रमण कर जाना है। समाज और जीवन के बाहरी रूपों में परिवर्तन होने के साथ-साथ आज के मनुष्य के लिए उनके मूल्यों के अंकन में भी परिवर्तन हो चुका है। वह भीतर से मूल्य अंकन करने के बजाय आज बाहर से करने लगा है। यदि इस दृष्टि से विनय-नियमों को आज देखा जाय तब तो उनमें से अधिकांश नियमों का अभ्यास ही व्यर्थ है। मज्झिम-निकाय के कीटागिरि-सुत्त (२।२।१०) में हम पढ़ते हैं कि बुद्ध के कुछ शिष्य भिक्षु अश्वजित् और पुनर्वसु नामक विनयहीन भिक्षुओं से जा कर कहते हैं, "आवुसो! भगवान् रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करते हैं। भिक्षु-संघ भी रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करता है। ऐसा करने से वे आरोग्य, उत्साह, बल और सुख-पूर्वक विहार अनुभव करते हैं। आओ आवुसो! तुम भी रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करो। तुम भी आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार को अनुभव करोगे।" अश्वजित् और पुनर्वसु नामक विनय-भ्रष्ट भिक्षुओं ने उत्तर दिया, "आवुसो! हम तो शाम को भी खाते हैं, प्रातः भी खाते हैं, दोपहर भी खाते हैं और दोपहर बाद भी। सायं, प्रातः, मध्याह्न, विकाल (दोपहर बाद) सब समय खाते भी हम आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार करते घूमते हैं। हम सायं भी खायेंगे, प्रातः भी, दिन में भी, विकाल में भी।" जैसा तर्क अश्वजित् और पुनर्वसु ने दिया वैसा आज कोई भी दे सकता है। और आज की परिस्थिति में वह कुतर्क भी नहीं लगेगा। आज मनुष्य के मूल्यांकन का सारा विधान ही बदल गया है। अतः यदि आज के भौतिकतावादी जीवन के पूरे स्वीकरण के साथ तथागत-प्रवेदित धम्म-विनय को निभाना है तो वह अशक्य है। काम-

---

१. 'बुद्धिस्ट विनय डिसिप्लिन और बुद्धिस्ट कमाण्डमेन्ट्स्' शीर्षक, बुद्धिस्टिक स्टडीज, (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ३६५-३८३.

वासना को लक्ष्य मानने वाले जन-समाज के लिए तथागत ने उपदेश नहीं दिया। कम से कम उसके लिए उसे समझना तो अशक्य ही है। अतः विनय-नियमों को निभाने का काम तो ऐसे महान् साधकों का ही हो सकता है जो समाज की मान्यताओं से ऊपर उठने की पूरी शक्ति रखते हों। कम से कम सामाजिक परिस्थितियों के नाम पर आदर्श को गिराना तो हमें नहीं चाहिए। स्थविरवादी परम्परा ने विनय-नियमों पर उनके पूरे शब्दों और अर्थों के साथ जोर दिया है, इसका यही कारण है। साधन की निष्ठा अत्यन्त आवश्यक है। निष्ठावान् के लिए कभी कुछ असम्भव नहीं है। वह समाज और परिस्थितियों को अपने अनुकूल कर सकता है, यदि उसे दृढ़ विश्वास है कि जो कुछ अभ्यास वह करता है उसके पीछे बुद्धों का सारा अनुभव और ज्ञान छिपा हुआ है और बुद्ध की 'आज्ञा-देशना' की सच्चाई सामाजिक परम्पराओं या परिस्थितियों की अनुमति की अपेक्षा नहीं रखती। हाँ, छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में शास्ता ने स्वयं ही आश्वासन दे दिया है कि उन्हें आवश्यकतानुसार छोड़ा जा सकता है। ये छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियम क्या हैं, इसके विषय में हम जानते हैं कि पूर्वकालीन धर्म-संगीतिकार भिक्षुओं में ही बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ और केवल अनेक सम्प्रदायों में बँट जाने के अतिरिक्त वे इसका कोई हल नहीं निकाल सके। वास्तव में इसका हल बाहर से हो ही नहीं सकता। कोई भी बाहरी विधान साधक को यह नहीं बतला सकता कि यह नियम छोड़ने योग्य है या नहीं। इसके लिए तो आन्तरिक साधना से प्राप्त निर्मल विवेक-बुद्धि ही मनुष्य के पास सर्वोत्तम साधन है। केवल उसी के द्वारा यह निर्णय किया जा सकता है कि क्या अ-महत्त्वपूर्ण है और छोड़ देने योग्य है और क्या महत्वपूर्ण है और जीवन भर अनुल्लंघनीय है। इसलिए विनय अन्दर है, बाहर नहीं। इस प्रकार अन्तर्निरीक्षण करने पर चाहे जो कुछ भी त्याज्य या पालनीय ठहरे, किन्तु यह निश्चित है कि जो त्याज्य होगा वह देश और काल से उद्भूत तत्त्व होगा और जो पालनीय होगा वह सार्वभौम, सार्वकालिक तत्त्व होगा, जिससे ही तथागत-प्रवेदित धम्म-विनय अधिकतर भरा हुआ है। 'क्षुद्रानुक्षुद्र' को छोड़ देने का विधान कर तथागत ने इसी देश-काल - उद्भूत तत्त्व से विमुक्त हो जाने का भिक्षु-संघ को अन्तिम उपदेश दिया था, ऐसा हमारा मन्तव्य है। इस प्रकार विनय-सम्बन्धी नियमों में न बाहरी कर्मकांड की गन्ध तक है और न वे साधकों के उस स्वबुद्धि-निर्णय के अधिकार को, जिसे शास्ता ने उन्हें दिया, छीनने का ही उद्योग करते हैं। यह उनकी एक भारी विशेषता है।

विनय का मूल आत्म-संयम है। संयम अर्थात् काया का संयम, वाणी का संयम, मन का संयम। 'विनयन करने के कारण ही विनय 'विनय' है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मो का समाधान, सम्यक् आधान, ही 'शील' कहलाता है। शील की समापत्ति के लिए ही विनय-नियमों का विधान किया गया है, वे अधि-शील-शिक्षा के लिये ही हैं, यद्यपि यह ठीक है कि वहाँ उसके बाहरी रूप को लक्ष्य कर के ही अधिकतर नियम बनाये गए हैं। फिर भी शास्ता के द्वारा मानसिक संयम पर जो जोर दिया गया है, वह भी उनके मूल में सुरक्षित है, ऐसा कहा जा सकता है। केवल किसी कर्म के करने या न करने से ही शील-विशुद्धि नहीं हो जाती। भगवान् ने स्वयं कहा भी है "मागन्दिय! न दृष्टि से, न अनुश्रव से, न ज्ञान से, न शील से, न व्रत से शुद्धि कहता हूँ। अदृष्टि, अ-श्रुति, अ-ज्ञान, अ-शील, अ-व्रत से भी नहीं।" निश्चय ही किसी कर्म के करने या न करने पर सदा-चार उतना निर्भर नहीं है, जितना उस कर्म-व्यापार के अन्दर रहने वाली मानसिक प्रवृत्ति पर। इसीलिए चेतना पर भगवान् ने सर्वाधिक जोर दिया है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन के संयम का अर्थ यह नहीं है कि इन भौतिक या मानसिक इन्द्रियों में अपने आप में संयम जैसी कोई वस्तु होती है, बल्कि केवल यही है कि जिन-जिन वस्तुओं की अनुभूति इनके द्वारा होती है उनके प्रति मानवीय व्यवहार में संयम पैदा होना चाहिए। 'चक्षु-इन्द्रिय में संयम को प्राप्त होता है,' ('चक्खुन्द्रिये संवरं आपज्जति) इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक भौतिक चक्षु को संयमित करता है या चक्षु और रूप के संयोग को ही निरुद्ध करता है। यदि ऐसा होता तो आँख मींचने वाला सर्वोत्तम संयमी होता। अतः चक्षुरिन्द्रिय में संयम प्राप्त करने का अर्थ है चक्षु इन्द्रिय मात्र को ही संयमित नहीं करना (यद्यपि है तो वह भी आवश्यक), बल्कि चक्षु के द्वारा देखे हुए रूप के प्रति अपने व्यवहार को संयमित रखना। यही बात श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, जिह्वा और रस, काय और स्पर्श तथा मन और धर्म (मानसिक पदार्थ) के विषय में भी जाननी चाहिए। अभिधम्म की भाषा का प्रयोग करते हुए इस तथ्य का बड़ा विशद निरूपण आचार्य बुद्धघोष ने 'विसुद्धि-मग्ग' के प्रथम परिच्छेद में किया है। वास्तव में शास्ता का मन्तव्य चित्त को संयमित करने का ही है और उसी उद्देश्य के अनुसार हमें विनय के नियमों की भी व्याख्या करनी चाहिए। जो बातें राग, संग्रह, असन्तोष, अनुद्योगिता और इच्छाओं को बढ़ाने वाली हैं वे सभी अकरणीय हैं, और उनके विपरीत करणीय। विनय-पिटक इन्हीं का कुछ अनुमापन हमें देती

है, जो यद्यपि सब काल और सब देश के लिए परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता, फिर भी वह सदाचार के उस सार्वभौम आदर्श पर आधारित है जिसे लोक-गुरु (बुद्ध) ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व मध्य-मंडल में सिखाया था। विनय के उपदेश करने में, जैसा भगवान् ने स्वयं कहा है, दस उद्देश्य उनकी दृष्टि में थे। "भिक्षुओ! दस बातों का विचार कर मैं भिक्षुओं के उपकार के लिए विनय-नियमों (शिक्षापदों) का उपदेश करता हूँ (१) संघ की अच्छाई के लिए, (२) संघ की आसानी के लिए, (३) उच्छृंखल पुरुषों के निग्रह के लिए, (४) अच्छे भिक्षुओं के सुख-विहार के लिए, (५) इस जन्म के चित्त-मलों के निवारण के लिए, (६) जन्मान्तर के चित्त-मलों के नाश के लिए, (७) अप्रसन्नों को प्रसन्न करने के लिए, (८) प्रसन्नों की प्रसन्नता को बढ़ाने के लिए, (९) सद्धर्म की चिरस्थिति के लिए, और (१०) विनय (संयम) की सहायता (अनुग्रह) के लिए।"[1] इन उद्देश्यों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से विनय-पिटक के नियमों के रूप और उनके उपयोग की सीमा काफी समझ में आ सकती है। उपासकों और भिक्षुओं के लिए निर्दिष्ट क्रमशः पंच (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य-पान से विरति) और दस (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य-पान से विरति एवं नृत्य-गीत, माला-गन्ध-विलेपन, ऊँचे पलंग, विकाल-भोजन एवं रुपये-पैसे के ग्रहण से भी विरति) शीलों के समान आज तक क्रमशः गृहस्थों और प्रव्रजितों के लिए सार्वभौम समाचार का कोई दूसरा आदर्श नहीं रक्खा गया है? विनय-पिटक के २२७ नियम इन्हीं में अन्तर्भावित हैं।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व की मध्य-मंडल की सामाजिक परिस्थिति मे तथागत ने भिक्षु-भिक्षुणी और उपासक-उपासिकाओं के लिए सदाचार-सम्बन्धी जिन नियमों का विधान किया, उन्होंने बाद में चल कर कितने देशों और कितने विशाल भूखंड में, भारत-भूमि से कोसो दूर, संन्यासी और गृहस्थ सब के लिए सम्मान्य सदाचार की कसौटी का काम किया, इसे देख कर आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। लंका, बरमा, स्याम, कम्बोडिया और लाओस की बात जानें दें, तो भी चीन, तिब्बत, कोरिया, मंगोलिया और जापान आदि में जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म गया, वहाँ-वहाँ विनय-पिटक सम्बन्धी नियमों का कितना सूक्ष्म अनु-

---

१. विनय-पिटक, पाराजिका १; देखिये अंगुत्तर-निकाय, प्रथम भाग, पृष्ठ १०१-१०३ (हिन्दी अनुवाद) भी।

शीलन किया गया, यह तत्सम्बन्धी साहित्य से प्रकट होता है। 'सो-सोर्-थर्-पा' (मूल सर्वास्तिवादी विनय-पिटक का तिब्बती संस्करण), 'जूजु-रित्सु', 'शिबुन्-रित्सु', 'मक्-सोगि-रित्सु', 'कोन्-पोन्-सेत्सु-इस्से-उबु' और 'गोबुन-रित्सु' (विनय-पिटक के विभिन्न चीनी संस्करण) किस तथ्य को प्रकट करते हैं? जापान का विनय-सम्प्रदाय क्या है? मंगोलिया और मंचूरिया में विनय-पिटक की प्राप्ति का क्या अर्थ है? किस गाथा को ये सब दुहराते हैं? स्याम, बरमा, लंका, कम्बोडिया और लाओस में आज भी जो काषाय-वस्त्रों की जीती-जागती ज्योति चमकती है, वहाँ के भिक्षु-संघ के जीवन का जो संचालन शास्ता के द्वारा मध्य-मंडल में आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उपदिष्ट नियमों के अनुसार होता है, वह सब किस कहानी को कहता है? चाहे चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया और मंचूरिया की ओर देखें, चाहे लंका, स्याम, बरमा, कम्बोडिया, लाओस और वियत-नाम की ओर देखें, चाहे आर्य जातियों की ओर देखें, चाहे आर्येतर मंगोलियन और तूरानी जातियों की ओर, चाहे ब्रम्म, प्यू, तलैङ, चम् और मोन्-ख्मेर जैसी जातियों की ओर, जब उन सब से पूछा जाय 'जिस गुरु से तुमने सदाचार को सीखा है, उसका नाम क्या है? तो चारों ओर से यही ध्वनि आती है "ति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्म सारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवाति।" निश्चय ही पूर्ण पुरुष, तथागत, भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध विश्व के एक बड़े भू-भाग के सदाचार के उपदेष्टा हैं, इसका सर्वोत्तम साक्ष्य धम्म के अलावा विनय-पिटक के उन विभिन्न संस्करणों से प्राप्त होता है, जो नाना देशों में पाये गये हैं और जो इस बात के सूचक हैं कि किस गम्भीर मनन और चिन्तन के साथ वहाँ विनय-नियमों की समीक्षा की गई है और उनका जीवन में अनुसरण किया गया है। इस देश में उत्पन्न अग्रजन्माओं से संसार के सब देशों के मनुष्य अपने-अपने सदाचार को सीखें, यह तो मनु ने भी कहा था। किन्तु किस भारतीय मनीषी या ऋषि ने यह काम किया? उनमें से अनेक तो चातुर्वर्णी शुद्धि भी नहीं सिखा सके, फिर विश्व का शास्ता बनना तो दूर की बात थी? जिस गौरव की ओर मनु ने स्मरण दिलाया था उसे भारतीय भूमि और संस्कृति को प्रदान करने वालों में भगवान् बुद्ध ही अग्र हैं, श्रेष्ठ हैं। वे सर्वोत्तम अर्थों में लोक-शास्ता हैं, लोक-गुरु हैं, यह विनय-पिटक के नाना देशों में विकास ने भली भाँति प्रकट कर दिया है। न केवल बौद्ध देशों या बौद्ध

मतावलम्बियों तक ही यह प्रभाव सीमित है, बल्कि ईसाई धर्म की उत्पत्ति, उसके अनेक नियमों तथा चर्च-सम्बन्धी विधान में उन बौद्ध धर्म-प्रचारकों का, जिन्हें अशोक ने पश्चिमी एशिया के देशों में भेजा था, कितना प्रभाव उपलक्षित है, इसमें इतिहासवेत्ताओं के आज दो मत नहीं हैं। अशोक ने अपने धर्म-प्रचारकों को सिरिया, मिश्र और मेसीडन के ग्रीक शासकों तक भेजा था, जिनका अनिवार्य प्रभाव ईसा-पूर्व की साधनाओं पर पड़ा और ईसाई धर्म ने भी आरम्भिक काल में काफी हद तक इस प्रभाव को ग्रहण किया। ईसा-पूर्व के यहूदी भिक्षुओं के प्रसिद्ध संगठन पर, जो 'एस्ने' कहलाते थे और फिलिस्तीन के दक्षिण एक झील के किनारे आश्रम बना कर रहते थे, बौद्ध विनय का प्रभाव दृष्टिगोचर है, ऐसा ग्रीक और हैब्रयू इतिहास के जानने वाले विद्वानों ने माना है। इसी प्रकार सिकन्दरिया के पास रहने वाले 'थेरप्युते' नामक ईसा-पूर्व के भिक्षु-संगठन पर बौद्ध जीवन-विधि का प्रभाव विद्वानों ने स्वीकार किया है। उत्तरकालीन मानी पन्थ पर बौद्ध धर्म के प्रभाव की बात तो बहुत स्पष्ट ही हो चुकी है। प्रथम शताब्दी ईसवी से लेकर कई शताब्दियों बाद तक, सम्भवतः इस्लाम के उदय तक, तुषार (तुखार), पर्थिया, किरगिज़, खोतन, कूचा, काशगर और तुर्फान आदि पश्चिमी एशिया के प्रदेशों तक में बौद्धों के संघाराम बने हुए थे, जहाँ हजारों की संख्या में भिक्षु निवास करते थे और अपने-अपने सम्प्रदायों के अनुसार विनय-नियमों का अभ्यास करते थे। न केवल अफगानिस्तान और ईरान में बल्कि उत्तरी कोरिया और बाहरी मंगोलिया तक के प्रदेशों में प्रातिमोक्ष का पाठ हो चुका है। अतः विनय-पिटक केवल संघ-सम्बन्धी नियमों का संग्रह न होकर आज हमारे लिये एक विशेष ऐतिहासिक गौरव का स्मारक बन गया है। जिस प्रकार शास्ता का धर्म विश्व-धर्म है, उसी प्रकार उनका विनय भी विश्व का विनय है, इसका अपने नाना रूपों में वह साक्ष्य देता है। विनय-पिटक का यह महत्त्व भी आज भारतीय विद्या और संस्कृति के उपासकों के लिये कुछ कम नहीं है।

पाँचवाँ अध्याय

अभिधम्म-पिटक

अभिधम्म पिटक

अभिधम्म-पिटक पालि तिपिटक (त्रिपिटक) का तीसरा मुख्य भाग है। 'अभिधम्म' शब्द का प्रयोग 'अभि-विनय' शब्द के साथ-साथ क्रमशः धम्म और विनय सम्बन्धी गंभीर उपदेश के अर्थ में सुत्त-पिटक में भी हुआ है।[१] संभवतः इसी के आधार पर आचार्य बुद्धघोष ने अभिधम्म का अर्थ किया है—'उच्चतर' धम्म या 'विशेष' धम्म। 'अभिधम्म' में 'अभि' शब्द को उन्होंने 'अतिरेक' या 'विशेष' का वाचक माना है।[२] वास्तव में यह 'अतिशयता' या 'विशेषता' धम्म

---

१. देखिये संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ. ३।१०); दसुत्तर-सुत्त (दीघ. ३।११); गुलिस्सानि-सुत्त (मज्झिम. २।२।९); किन्ति-सुत्त (मज्झिम. ३।१।३)। महा गोसिंग-सुत्त (मज्झिम. १।४।२)।

२. अतिरेक-विसेस-त्थदीपको हि एत्थ अभि-सद्दो। अट्ठसालिनी, पृष्ठ २ (देवनागरी संस्करण); मिलाइये सुमंगलविलासिनी, पृष्ठ १८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण); प्रसिद्ध महायानी आचार्य आर्य असंग ने 'अभिधर्म' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए (१) निर्वाण के अभिमुख उपदेश करने के कारण (अभिमुखतः), (२) धर्म का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करने के कारण (आभीक्ष्ण्यात्), (३) विरोधी सम्प्रदायों का खंडन करने के कारण (अभिभवात्) एवं (४) सुत्त-पिटक के सिद्धान्तों का ही अनुगमन करने के कारण (अभिगततिः) 'अभिधर्म' शब्द की सार्थकता दिखलाई है। अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगततितोऽभिधर्मः। महायान-सूत्रालंकार ११।३; आचार्य वसुबन्धु ने उपकारक स्कन्धादि से युक्त, विमल प्रज्ञा को ही अभिधर्म कहा है। प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्मः। अभिधर्मकोश १।२

की नहीं है। धम्म तो सर्वत्र एक रस है। किन्तु तीनों पिटकों में, उनके नाना वर्गीकरणों में, वह नाना रूप हो गया है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' जो धम्म सुत्त-पिटक में उपदेश-रूप है, विनय में जो संयम-रूप है, वही अभिधम्म में तत्व-रूप है। इसका कारण अधिकारियों का तारतम्य ही है। प्रस्थान-भेद से धर्म के स्वरूप में भी भेद हो गया है। सुत्तन्त की अधिचित्त-शिक्षा यहाँ अधिप्रज्ञा शिक्षा हो गई है, उसकी व्यवहार-देशना यहाँ परमार्थ-देशना हो गई है। किन्तु यह भेद सिर्फ शैली का है, आदेशना-विधि का है। सुत्त सबके लिए सुगम हैं, क्योंकि वहाँ बुद्ध-वचन अपने यथार्थ स्वरूप में रक्खे हुए हैं। अभिधम्म पिटक में बुद्ध-मन्तव्यों का वर्गीकरण और विश्लेषण किया गया है, तात्विक और मनो-वैज्ञानिक दृष्टियों से उन्हें गणनाबद्ध किया गया है। अतः जब कि सुत्त-पिटक का निरूपण जन-साधारण के लिए उपयोगी है, अभिधम्म पिटक की सूचियों और परिभाषाओं में वही चुने हुए व्यक्ति रुचि ले सकते हैं जिन्होंने बौद्ध तत्त्व-दर्शन को अपने अध्ययन का विशेष विषय बनाया है। इसी अर्थ में अभिधम्म पिटक को 'उच्चतर' धम्म या 'विशेष' धम्म कहा गया है। सुत्त-पिटक में यदि बौद्ध परम्परा के लिये अधिचित्त शिक्षा है, विनय में अधिशील शिक्षा, तो अभिधम्म में है अधिप्रज्ञा शिक्षा। इसी प्रकार यदि सुत्तन्त व्यवहार-देशना (वोहार देसना) है, विनय आज्ञा देसना (आणा देसना), तो अभिधम्म को उसने माना है उच्चतर रपमार्थ-देशना (परमत्थ-देसना)।[1]

अभिधम्म-पिटक धम्म की अधिक गहराई में उतरता है और अधिक साधनसम्पन्न व्यक्तियों के लिए भी उसका प्रणयन हुआ है, ऐसा बौद्ध परम्परा आरम्भ से ही मानती आई है। अट्ठसालिनी, मनोरथपूरणी और विभंग-अट्ठकथा में कहा गया है कि देव और मनुष्यों के शास्ता ने 'अभिधम्म' का उपदेश सर्व प्रथम त्रायस्त्रिंश लोक में अपनी माता देवी महामाया और अन्य देवताओं को दिया था। बाद में उसी की पुनरावृत्ति उन्होंने अपने महाप्रज्ञ शिष्य धर्मसेनापति सारिपुत्र के प्रति की थी। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने ही उसे अन्य ५०० भिक्षुओं को सिखाया। इस प्रकार बुद्ध के जीवन-काल में ही सारि-पुत्र के सहित ५०१ भिक्षु अभिधम्म के ज्ञाता थे। इस प्रकार प्राप्त 'अभिधम्म' का ही संगायन, इस परम्परा के अनुसार, प्रथम दो संगीतियों में हुआ। तीसरी

---

१. अट्ठसालिनी, पृष्ठ १८-१९ (देवनागरी संस्करण, पूना १९४२)।

संगीति में भी इसी की पुनरावृत्ति की गई, किन्तु इसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स (मौद्गलिपुत्र तिष्य) ने 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ को भी, जिसकी मोटी रूपरेखा भगवान् बुद्ध भविष्य में उत्पन्न होने वाले मिथ्या मत-वादों का ज्ञान प्राप्त कर उनके निराकरणार्थ पूर्व ही निश्चित कर गये थे, पूर्णता देकर 'अभिधम्म' में सम्मिलित कर दिया। इस प्रकार यह स्थविरवादी बौद्ध परम्परा अभिधम्म-पिटक को भी सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के समान ही बुद्ध-वचन मानने की पक्षपातिनी है।

आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठसालिनी की निदान-कथा में अायासपूर्वक यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि जिस प्रकार मधुपिंडिक-सुत्त आदि बुद्ध के शिष्यों के द्वारा उपदिष्ट होने पर भी बुद्ध के द्वारा अनुमोदित किये जाने के कारण बुद्ध-वचन कहलाते हैं, उसी प्रकार अभिधम्म-पिटक के ग्रथ कथावत्थु तक को माना जा सकता है। उन्होंने यह भी दिखाया है कि 'सुत्त' और 'विनय' से व्यतिरिक्त 'अभिधम्म' बुद्ध के काल में भी विद्यमान था और 'धम्मकथिक' शब्द 'आभिधम्मिक भिक्षु' के लिये ही आया है।

रचना-काल

उपर्युक्त अनुश्रुति अभिधम्म-पिटक की प्रशंसा में अर्थवाद मात्र है। वास्तव में उसी हद तक वह ठीक भी है। वैसे तो उसने भी यह स्वीकार कर ही लिया है कि अभिधम्म-पिटक का कम से कम एक ग्रन्थ 'कथावत्थु' अशोक-कालीन रचना है और उसका वर्तमान रूप स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स का दिया हुआ है। बुद्ध के प्रारंभिक उपदेशों में धम्म और विनय की ही प्रधानता है। ऐसा लगता है कि उन्हीं के आधार पर संग्रथित अभिधम्म को भी उन्हीं के समान प्रमाणवत्ता देने के लिए स्थविरों ने उपर्युक्त अर्थवाद की सृष्टि की है। आधुनिक विद्यार्थी के लिए सबसे अधिक कठिन समस्या तो यह है कि आज जिस रूप में अभिधम्म-पिटक हमें मिलता है, वह कहाँ तक सीधा बुद्ध-वचन है अथवा उसका प्रणयन किन-किन काल-श्रेणियों में बुद्ध-वचनों के आधार पर हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर आज जिस रूप में अभिधम्म-पिटक हमें मिलता है, उसकी प्रमाणवत्ता सुत्त और विनय की अपेक्षा निश्चयतः कम रह जाती है और उसका प्रणयन-काल भी उतनी ही निश्चिततापूर्वक उसके बाद का ठहरता है।

'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों के साथ दो

प्रश्न आचार्य बुद्धघोष ने बड़े महत्त्व के किये हैं। पहला प्रश्न है—'अभिधम्म पिटक किसका वचन है'? 'अयं अभिधम्मो नाम कस्स वचनं' दूसरा प्रश्न है—'किसने इसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया है?' 'केनाभतो ति'? पहले प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा है 'पूर्ण पुरुष, तथागत भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध का (भगवतो वचनं अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स) और दूसरे के उत्तर में कहा है 'उपदेशकों की न टूटने वाली परम्परा ने' (आचरिय परम्पराय)। इसी परम्परा का उल्लेख करते हुए वहाँ कहा गया है "तृतीय संगीति तक सारिपुत्र, भद्दजि, सोभित, पियजालि, पियपाल, पियदस्सि, कोसियपुत्त, सिग्गव, सन्देह, मोग्गलिपुत्त, विसुदत्त (या सुदत्त या तिस्सदत्त), धम्मिय, दासक, सोणक, रेवत, आदि स्थविरों की परम्परा ने अभिधम्म-पिटक का उपदेश दिया। उसके बाद उनकी शिष्य-परम्परा ने इस काम को अपने हाथ में लिया। इस प्रकार भारतवर्ष (जम्बुद्वीप) में उपदेशकों की अविच्छिन्न परम्परा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अभिधम्म को पहुँचाती रही। इसके अनन्तर सिंहल द्वीप में भिक्षु महिन्द, इद्धिय, (इट्टिय), उत्तिय, भद्दनाम (भद्दसाल) और सम्बल आये। यही महामनीषी भिक्षु अभिधम्म-पिटक को भी भारत से लंका द्वीप में अपने साथ लाये। तब से आज तक गुरु-शिष्य परम्परा से यह अभिधम्म पिटक उसी रूप में चलता आ रहा है"। आचार्य बुद्धघोष का यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। महिन्द के लंका में अभिधम्म-पिटक के ले जाने के बाद से उसके स्वरूप में कुछ भी परिवर्तन हुआ हो, इसका कोई साक्ष्य नहीं मिलता। उसके बाद अभिधम्म-पिटक का स्वरूप निश्चित और स्थिर हो गया, ऐसा हम मान सकते हैं, यद्यपि लेखबद्ध होने का कार्य तो अभिधम्म-पिटक का भी सम्पूर्ण तिपिटक के साथ ही लगभग २९ ई० पूर्व वट्टगामणि अभय के समय में सम्पादित किया गया। आन्तरिक या बाह्य साक्ष्य के आधार पर ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर अभिधम्म-पिटक के स्वरूप में तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व से प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक किए गए किसी परिवर्तन या परिवर्द्धन का अनुमान किया जा सके। निश्चय ही यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने सुदीर्घ काल तक लंका में मौखिक परम्परा में चलते रहने पर भी अभिधम्म-पिटक में कहीं भी ऐसे एक शब्द तक का भी निर्देश नहीं दिखाया जा सकता, जिससे सिंहली प्रभाव की कल्पना की जा सके[1]। कुछ विद्वानों ने 'कथावत्थु' की

---

१. फिर भी आश्चर्य है कि सर चार्ल्स इलियट जैसे विद्वान् ने भी अभिधम्म-पिटक

अट्ठकथा के आधार पर यह अवश्य दिखाने का प्रयत्न किया है कि 'कथावत्थु' में कुछ ऐसे सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का भी निराकरण है जो अशोक के काल के बाद प्रादुर्भूत हुए थे। चूंकि 'कथावत्थु' में केवल सिद्धान्तों का खंडन है, सम्प्रदायों का नामोल्लेख वहाँ नहीं है, अतः बहुत संभव है कि विशिष्ट सम्प्रदायों के साथ कालान्तर में इन सिद्धान्तों का संबंध हो जाने के कारण 'अट्ठकथा' (पाँचवीं शताब्दी ईसवी) में उनका उल्लेख कर दिया गया हो, किन्तु अशोक के काल में केवल स्फुट रूप से ही इन सिद्धान्तों की विद्यमानता पाई जाती हो। अतः 'कथावत्थु' में निराकृत उन सिद्धांतों को भी, जिनकी मान्यता बाद के उत्पन्न कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों में चल पड़ी, जिसका साक्ष्य उसकी 'अट्ठकथा' ने दिया है, अनिवार्यतः अशोक के उत्तरकालीन मानना ठीक नहीं है। इस विषय का अधिक विशद विवेचन हम 'कथावत्थु' के विवेचन पर आते समय करेंगे। स्थविरवादी भिक्षुओं की परम्परा ने आरम्भ से ही बुद्ध-वचनों को उनके मौलिक रूप में सुरक्षित रखने का जो आग्रह दिखलाया है, उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि लंका में महिन्द आदि भिक्षुओं के द्वारा ले जाये जाने के बाद से अभिधम्म वहाँ उसी विशुद्धतम स्वरूप में सुरक्षित बना रहा जिसमें वे उसे वहाँ ले गये थे। अब प्रश्न यही रह जाता है कि क्या महिन्द आदि भिक्षु जिस अभिधम्म को तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व लंका में ले गये थे, क्या वह वही बुद्ध-वचन था जिसका उपदेश स्वयं शास्ता ने मध्य-मंडल में दिया था? कम से कम स्थविरवादी बौद्ध परम्परा तो उसे इसी रूप में उस समय से मानती आई है और भिक्षु-संघ ने भी उसे बड़े प्रयत्न से उसके मौलिक रूप में सुरक्षित रखना अपना कर्तव्य माना है। किन्तु दूसरे सम्प्रदाय वालों (विशेषतः सर्वास्तिवादियों) ने उसके इस दावे को वैशाली की संगीति के समय से ही नहीं माना था, यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। ऊपर तृतीय संगीति के और बाद के अभिधम्म के उपदेशों की जिस परम्परा का उल्लेख किया गया है, उससे कम से कम एक बात निश्चित रूप से हमें मिल जाती है, और वह है अभिधम्म-पिटक के उस रूप के प्रणयन की, जिसमें वह अंतिम रूप से निश्चित और स्थिर हो गया था, निचली काल-सीमा। पाटलिपुत्र की संगीति २५३ ई० पू० में हुई।

के लंका में रचित होने की सम्भावना को प्रश्रय दिया। देखिये उनका 'हिन्दुइज्म एंड बुद्धिज्म', जिल्द पहली, पृष्ठ २७६, पदसंकेत १ तथा पृष्ठ २९१-२९२ (लन्दन, १९२१)। यह भरपूर अज्ञान है।

उसके समाप्त होने पर ही महिन्द आदि भिक्षु लंका को भेजे गये। अतः यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि लगभग २५० ई० पू० तक अभिधम्म-पिटक अपने उस रूप में, जिसमें वह आज उपलब्ध है, पूर्णतः स्थिर हो चुका था। बाद में मिलिन्दपञ्ह (१०० ई० पू०) में तो अभिधम्म-पिटक के सातों ग्रन्थों का, उनकी पूरी वर्गीकरण-शैली के संक्षिप्त निर्देश के साथ, उल्लेख हुआ है।[1] जिस आदर के साथ अभिधम्म-पिटक का उल्लेख यहाँ किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि बुद्ध-वचनों के रूप में उसकी ख्याति बौद्ध परम्परा में उस समय तक दृढ़ प्रतिष्ठा पा चुकी थी। यदि कम से कम सौ-डेढ़ सौ वर्ष का काल भी इस परम्परा के निर्माण में लगा हो, तो भी हम आसानी से अशोक-संगीति के समय तक पहुँच जाते हैं, जब कि तेपिटक बुद्ध-वचनों का अंतिम रूप से संस्करण हुआ था। अतः अशोक-संगीति या तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व का मध्यांश अभिधम्म-पिटक के रचना-काल की निचली काम-सीमा है जिसे बहुत खींचतान कर प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व तक अर्थात् उसके सिंहल में लेखबद्ध होने अथवा मिलिन्दपञ्ह में उसके उद्धृत होने तक के समय तक भी घटाकर लाया जा सकता है। अब हमें उसके रचना-काल की उपरली काल-सीमा का निर्णय करना है। विनय-पिटक—चुल्लवग्ग के प्रथम संगीति के वर्णन में हमने देखा है कि वहाँ धम्म और विनय के ही संगायन की बात कही गई है। अभिधम्म के संगायन की कोई सूचना वहाँ नहीं मिलती। किन्तु अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी, अट्ठसालिनी एवं समन्तपासादिका) के वर्णन में, जैसा हम पहले देख चुके हैं, अभिधम्म-पिटक के भी संगायन किये जाने का उल्लेख है। चूँकि तिपिटक के साक्ष्य के सामने उसकी अट्ठकथा के साक्ष्य का कोई प्रामाण्य नहीं माना जा सकता, अतः 'समन्तपासादिका' का साक्ष्य यहाँ अपने आप प्रमाण की सीमा के बाहर हो जाता है। जैसा भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने कहा है, "विनय और धर्म के साथ अभिधम्म का भी पारायण इसी (प्रथम) संगीति में हुआ, यह जो समन्तपासादिका का कहना है, यह तो स्पष्ट रूप से गलत है।"[2] किन्तु 'समन्तपासादिका' के साक्ष्य को स्पष्ट रूप से गलत मानते हुए भी उससे इतना निष्कर्ष तो हम निकाल ही सकते हैं कि अधिक से अधिक प्रथम संगीति के समय ही अभिधम्म-पिटक का विकास होना आरम्भ हो गया था। तभी हम

---

१. मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ १३-१४ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

२. महावंश, पृष्ठ ११ (परिचय)

वैशाली की संगीति के अवसर पर इस विषय संबंधी सर्वास्तिवादियों और स्थविरवादियों के विरोध और विवाद को समझ सकते हैं। यदि आज प्राप्त पालि विनय-पिटक का संकलन वैशाली की संगीति के अवसर पर ही हुआ हो तो उसमें जिस प्रकार अलौकिक ढंग से अभिधम्म को साक्षात् बुद्ध-वचन सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, उसका ऐतिहासिक रहस्य भी आसानी से समझा जा सकता है। दूसरे सम्प्रदाय वालों द्वारा अभिधम्म की प्रामाणिकता का निषेध कर देने पर ही उन्हें इस प्रकार के विधान की आवश्यकता पड़ी। प्रथम संगीति के पहले हम पारिभाषिक अर्थों में अभिधम्म-पिटक के वर्तमान होने की स्थापना किसी आधार पर नहीं कर सकते। उससे पहले सिर्फ 'मातिकाओं' (मात्रिकाओं) का वर्णन मिलता है। सर्वास्तिवादियों के मतानुसार भी 'मात्रिकाओं' (अभिधर्म) का संगायन प्रथम संगीति के अवसर पर आर्य महाकाश्यप ने किया था। कुछ भी हो, इन 'मातिकाओं' के आधार पर ही अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। अभिधम्म-पिटक के सर्वप्रथम ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' का प्रारंभ एक 'मातिका' से ही होता है। श्रीमती रायस डेविड्स ने इसी को अभिधम्म-पिटक का मूल स्रोत माना है।[१] उसमें निर्दिष्ट २२ त्रिकों और १०० द्विकों के वर्गीकरण पर ही अभिधम्म का सम्पूर्ण धम्म-विवेचन आधारित है। पुग्गलपञ्ञत्ति और धातुकथा का भी आरम्भ इसी प्रकार मातिकाओं से होता है। वास्तव में सम्पूर्ण अभिधम्म-ग्रन्थों की शैली ही पहले मातिका या उद्देस देकर बाद में उनके निद्देस (व्याख्या) देने की है। पहले दिखाया जा चुका है कि पिटक-साहित्य में जहाँ मातिकाओं का उल्लेख हुआ है (धम्मधरो विनयधरो मातिकाधरो पंडितो—विनय पिटक—चुल्लवग्ग), वहाँ उनसे किन्हीं विशिष्ट ग्रन्थों का बोध न होकर केवल सिद्धान्तात्मक सूचियों का ही होता है, जिनका उपयोग भिक्षु लोग स्मरण करने की सुगमता के लिए करते थे। इसी प्रकार दीघ-निकाय के संगीति-परियाय-सुत्त और दसुत्तर-सुत्त, मज्झिम निकाय के सळायतनविभंग-सुत्त और धातुविभंग-सुत्त, एवं अंगुत्तर-निकाय के अनेक संख्याबद्ध सुत्त, अभिधम्म-पिटक के वर्गीकरणों के मूल स्रोत माने जा सकते हैं।[२] इन्हीं के आधार पर अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। यह इससे भी प्रमाणित

---

१. ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अंग्रेजी अनुवाद) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९, १०५-११३ (भूमिका)

२. अभिधम्म-पिटक के अंगुत्तर-निकाय सम्बन्धी आधार के लिये मिलाइये ई०

होता है कि महायानी परम्परा के संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में 'अभिधर्म' के लिए 'मात्रिका' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।[1] अतः समन्तपासादिका के वर्णन को अक्षरशः सत्य न मानकर हम उससे इतना निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि मातिकाओं और ऊपर निर्दिष्ट सुत्त-पिटक के अंशों से अभिधम्म-पिटक के निर्माण का कार्य प्रथम संगीति के समय ही आरम्भ हो गया था और दूसरी संगीति के समय तक आते-आते उसने ऐसा निश्चित (अन्तिम नहीं) रूप प्राप्त कर लिया था, जिसके आधार पर दूसरे सम्प्रदाय वालों के लिये उसे बुद्ध-वचन मानने या न मानने का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ सकता था। अतः पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व अभिधम्म-पिटक के प्रणयन की उपरली काल-सीमा और २५० ई० पू० (जिसे अधिक सन्देह-वादी विवेचक घटा कर प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व तक भी ला सकते हैं) निचली काल-सीमा ठहरती है। इन्हीं के बीच अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। विशेषतः द्वितीय और तृतीय संगीतियों के बीच का समय अभिधम्म पिटक के संग्रह या रचना का काल माना जा सकता है।

उपर्युक्त काल-सीमाएँ निर्धारित करने से अधिक अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के प्रणयन के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। उनकी निश्चित तिथियाँ स्थापित नहीं की जा सकतीं। कब कौन सा ग्रन्थ निश्चित रूप प्राप्त कर प्रकाश में आया, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। हाँ, कुछ सिद्धान्तों के आधार पर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के काल-क्रम में तारतम्य अवश्य स्थापित किया जा सकता है। परम्परा से अभिधम्म-पिटक के सात ग्रन्थों का उल्लेख जिस क्रम में हमें मिलता है, वह यह है (१) धम्मसंगणि, (२) विभंग, (३) धातुकथा, (४) पुग्गलपञ्ञत्ति, (५) कथावत्थु, (६) यमक और (७) पट्ठान। मिलिन्दपञ्ह (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) में इसी क्रम में इन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।[1]

हार्डी : अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ९ (प्रस्तावना) (पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित संस्करण)

१. देखिये श्रीमती रायस डेविड्स : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अनुवाद) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९, १०५-११३; ओल्डनबर्ग और रायस डेविड्स : सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द १३, पृष्ठ २७३; कर्न : मेनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज्म, पृष्ठ ३, १०४।

२. पृष्ठ १३-१४ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

अट्ठसालिनी की निदान-कथा में भी यही क्रम है। 'सुमंगलविलासिनी' की निदान-कथा में अवश्य बुद्धघोष ने कुछ परिवर्तन के साथ एक दूसरे क्रम का अनुसरण किया है।[१] किन्तु वह छन्द की आवश्यकता के लिए भी हो सकता है, अतः महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। विंटरनित्ज़, गायगर, ज्ञानातिलोक, भिक्षु जगदीश काश्यप एवं लाहा आदि विद्वानों ने अभिधम्म-पिटक के अपने विवेचनों में उपर्युक्त क्रम का ही अनुसरण किया है। विषय की दृष्टि से इससे अधिक स्वाभाविक क्रम हो भी नहीं सकता। किन्तु काल-क्रम की दृष्टि से इस क्रम को ठीक मानना हमारे लिए अशक्य हो जाता है। केसियस ए० पिरीरा का मत है कि आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर धम्मसंगणि, विभंग और पट्ठान प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और उनका संगायन, अपने वर्तमान रूप में, संभवतः द्वितीय संगीति के अवसर पर ही हुआ था। इस प्रकार इन तीन ग्रन्थों ने अपना निश्चित और अन्तिम स्वरूप चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व के प्रथम चतुर्थांश या उससे पूर्व ही प्राप्त कर लिया था, ऐसा उनका मत है। धातुकथा, यमक और पट्ठान को भी उन्होंने पूर्व-अशोककालीन रचनाएँ माना है और कहा है कि उनका भी संगायन अपने अन्तिम रूप में तृतीय संगीति के अवसर पर हुआ था।[२] 'कथा-वत्थु' की रचना की निश्चित तिथि तृतीय संगीति है ही। 'कथावत्थु' काल-क्रम की दृष्टि से अभिधम्म-पिटक की अन्तिम रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। किन्तु अन्य ग्रन्थों के तारतम्य के विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं। डा० लाहा ने 'पुग्गलपञ्ञत्ति' को कालक्रम की दृष्टि से अभिधम्म-पिटक का प्राचीनतम ग्रन्थ माना है। उनका कहना है कि चूँकि अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक पर आधारित है, अतः जिस हद तक अभिधम्म पिटक का कोई ग्रन्थ स्पष्ट रूप से सुत्त-पिटक पर कम या अधिक अवलंबित है, उसी हद तक उसकी आपेक्षिक प्राचीनता भी कम या अधिक है।[३] इसी सिद्धान्त को आधार मानकर विवेचन करते हुए उन्होंने दिखाया है कि अन्य सब ग्रन्थों की अपेक्षा 'पुग्गलपञ्ञत्ति' ही सुत्त-पिटक पर अधिक अवलंबित है। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' की पृष्ठभूमि में दीघ, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों के पुग्गलों के प्रकार और विश्लेषण पूरी तरह निहित

---

१. दूसरे अध्याय में प्रथम संगीति के वर्णन के प्रसंग में उद्धृत।

२. महास्थविर ज्ञानातिलोक की 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक' के प्राक्कथन में।

३. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २२

हैं। उदाहरणतः 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के तयो पुग्गला, चत्तारो पुग्गला, पञ्च पुग्गला आदि भाग अंगुत्तर-निकाय के क्रमशः तिक-निपात चतुक्क-निपात और पंचक-निपात आदि के समान ही हैं। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के कुछ अंशों और दीघ-निकाय के संगीतिपरियाय-सुत्त में भी अनेक समानताएँ हैं। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के पालि टैक्सट् सोसायटी के संस्करण के संपादक डा० मॉरिस ने पुग्गलपञ्ञत्ति और सुत्त-पिटक के ग्रन्थों की इन सब समानताओं को सोद्धरण दिखाया है।[१] इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि पुग्गलपञ्ञत्ति की समानता, शैली और विषय दोनों की दृष्टि से, अभिधम्म-पिटक की अपेक्षा सुत्त-पिटक से अधिक है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने तो यहाँ तक कहा है कि 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के विवेचन को निकाल देने पर भी अभिधम्म-दर्शन की पूर्णता में कोई कमी नहीं आती।[२] 'पुग्गलपञ्ञत्ति' की प्रथम मातिका में अवश्य अभिधम्म-शैली का अनुसरण किया गया है, अन्यथा वह सुत्त-पिटक का ही ग्रन्थ जान पड़ता है। अतः पुग्गलपञ्ञत्ति की निश्चित तिथि चाहे जो कुछ हो, वह अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों में काल-क्रम की दृष्टि से सबसे प्राचीन है, ऐसा डा० लाहा ने माना है।[३] 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के समान ही डा० लाहा ने 'विभंग' की भी अभिधम्म-पृष्ठभूमि का विवेचन किया है। 'विभंग' के सच्च-विभंग, सतिपट्ठान-विभंग और धातु-विभंग, मज्झिम-निकाय के क्रमशः सच्चविभंग-सुत्त, सतिपट्ठान-सुत्त और धातुविभंग-सुत्त पर आधारित हैं। इसी प्रकार 'विभंग' के अनेक अंश खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ 'पटिसम्भिदामग्ग' पर भी अवलंबित हैं। इसलिए कालक्रम की दृष्टि से 'विभंग' को डा० लाहा ने 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के बाद दूसरा ग्रन्थ माना है। 'विभंग' को उन्होंने अभिधम्म-साहित्य के विकास की उस स्थिति का सूचक माना है, जब कि अभिधम्म की शैली पूर्णतः निश्चित नहीं हुई थी और वह सुत्तन्त की शैली से मिश्रित थी। चूंकि 'धम्मसंगणि' में अभिधम्म-शैली का विकसित रूप मिला है, इसलिए परम्परागत अनुश्रुति के विपरीत उन्होंने 'धम्मसंगणि' को विभंग के बाद का ग्रन्थ माना है। 'धम्मसंगणि' का ही पूरक ग्रन्थ 'धातुकथा' है। अतः 'विभंग' के बाद 'धम्मसंगणि' और उसके बाद 'धातुकथा', यह क्रम डा० लाहा ने स्वीकार किया है। 'बिभंग'

---

१. पुग्गलपञ्ञत्ति, पृष्ठ १०-११ (भूमिका)

२. अभिधम्म फिलासफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५

३. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २३

ही 'यमक' की भी पृष्ठभूमि है। 'विभंग' के एक भाग 'पच्चयाकार-विभंग' का ही विस्तृत निरूपण बाद में 'पट्ठान' में मिलता है। अतः धम्मसंगणि, धातुकथा, यमक और पट्ठान, ये चारों ग्रंथ विभंग पर ही आधारित हैं और काल-क्रम में उससे बाद के हैं, ऐसा डा० लाहा का मत है। इन सबसे बाद की रचना 'कथावत्थु' है। इस प्रकार 'पुग्गलपञ्ञत्ति' सबसे पूर्व की रचना, 'कथावत्थु' सबसे अन्तिम रचना, इन दोनों के बीच में 'विभंग', जिस पर ही आधारित 'धम्मसंगणि', 'धातुकथा', 'यमक' और 'पट्ठान', यही अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों के काल-क्रम के विषय में डा० लाहा का निष्कर्ष है। इसे डा० लाहा ने इस प्रकार दिखाया है।[१]

१. पुग्गलपञ्ञत्ति

२. विभंग—(अ) धम्मसंगणि—धातुकथा
(आ) यमक
(इ) पट्ठान

३. कथावत्थु

डा० लाहा का काल-क्रम-निश्चय अंशतः ठीक जान पड़ता है। किसी भी पालि साहित्य के विद्यार्थी को इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि 'कथावत्थु' अभिधम्म पिटक की अन्तिम रचना है। अतः अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों का परम्परागत परिगणन जिसमें 'कथावत्थु' को सातवें स्थान के बजाय पाँचवाँ स्थान प्राप्त है, काल-क्रम की दृष्टि से ठीक नहीं हो सकता, ऐसा तो अन्ततः मानना ही पड़ेगा। अतः 'कथावत्थु' को अभिधम्म-पिटक का अन्तिम ग्रंथ मानना ठीक ही जान पड़ता है। इसी प्रकार विषय और शैली दोनों की ही दृष्टि से 'पुग्गलपञ्ञत्ति' को भी कालक्रमानुसार प्रथम ग्रंथ माना जा सकता है। यहाँ तक डा० लाहा के निष्कर्ष ठीक जान पड़ते हैं। किन्तु 'विभंग' को 'धम्मसंगणि' से पूर्व की रचना मानना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। यहाँ डा० लाहा ने विषय-वस्तु की अपेक्षा शैली को अधिक महत्वपूर्ण मानकर यह निष्कर्ष निकाल डाला है। विशेषतः 'विभंग' को 'धम्मसंगणि' से पूर्व की रचना मानने के लिये उन्होंने दो कारण दिये हैं। (१) विभंग के प्रत्येक भाग में सुत्तन्तभाजनिय (सुत्तन्त-भाग) और अभिधम्मभाजनिय (अभिधम्म-भाग) दो स्पष्ट भाग हैं, जिनमें सुत्तन्तभाजनिय पर ही आधारित

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २६

अभिधम्मभाजनिय है। इससे डा० लाहा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'विभंग' अभिधम्म-पिटक के विकास की उस अवस्था का सूचक है, जिसमें सुत्तन्त और अभिधम्म का भेद सुनिश्चित नहीं हुआ था। इसके विपरीत 'धम्मसंगणि' में अभिधम्म-शैली का पूरा अनुसरण मिलता है। अतः 'धम्मसंगणि' 'विभंग' से बाद की रचना ही हो सकती है। (२) उद्देस (साधारण कथन) के बाद निद्देस (शब्दों के अर्थों का विस्तृत विवेचन) देने की अभिधम्म की प्रणाली है। विभंग के 'रूपक्खन्ध-विभंग' में 'रूप' का मात्र 'उद्देस' ही मिलता है। उसका निद्देस सिर्फ धम्मसंगणि में ही मिलता है। अतः 'धम्मसंगणि' 'विभंग' के बाद की ही रचना होनी चाहिए।[१] डा० लाहा ने यहाँ समष्टि रूप से दोनों ग्रंथों की विषय-वस्तु पर विचार नहीं किया है। केवल शैली की दृष्टि से विचार किया है और वह भी अपूर्ण है। जहाँ तक अध्यायों के 'सुत्त-विभाग' (सुत्तन्त-मातिका) और 'अभिधम्म-विभाग' (अभिधम्म-मातिका) इन दो विभागों का सम्बन्ध है, वे विभंग के समान धम्मसंगणि में भी मिलते हैं।[२] अतः इस दृष्टि से दोनों में भेद करना अनुचित है। विषय के स्वरूप की दृष्टि से शैली में भी अन्तर हो सकता है। धम्मसंगणि का धम्म-विश्लेषण विभंग में प्राप्त उसके वर्गीकृत स्वरूप का पूर्वगामी ही हो सकता है। फिर इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात तो विषय का पूर्वापर संबंध है, जिसके आधार पर हम अधिक निश्चित रूप से दो ग्रंथों का या एक ही ग्रंथ के दो अंशों के पूर्वापर भाव का अधिक निश्चय के साथ निर्णय कर सकते हैं। यह एक सर्व-विदित तथ्य है कि विभंग के प्रथम खंड में ही लेखक की धम्मसंगणि में विवेचित धम्मों की गणना से अभिज्ञता प्रकट हो जाती है, जिसमें उसने कुछ नये धम्मों का और समावेश कर दिया है।[३] विभंग ने धम्मसंगणि की 'मातिका' में निर्दिष्ट २२ त्रिकों और १०० द्विकों की विवरण-प्रणाली को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। विभंग के प्रथम तीन खण्ड स्कन्ध, आयतन और धातुओं का विवेचन करते

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २४-२५

२. देखिये धम्मसंगणि, पृष्ठ १-१९ (देवनागरी संस्करण); देखिये स्वयं विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३०६

३. विण्टरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६७

हैं, अतः अंशतः धम्मसंगणि के प्रति उनका भी पूरकत्व सुनिश्चित है।[१] 'धम्मसंगणि' की शैली विश्लेषणात्मक अधिक है, जब कि विभंग की संश्लेषणात्मक अधिक है।[२] इस तथ्य से भी विभंग धम्मसंगणि के बाद की ही रचना जान पड़ती है। धम्मसंगणि से विभंग की ओर विकास-क्रम सामान्य से विशेष की ओर विकास क्रम है। अतः धम्मसंगणि को ही विभंग से पूर्व की रचना मानना अधिक युक्तिसंगत है। श्रीमती रायस डेविड्स ने भी माना है कि विभंग अपने पूर्व धम्मसंगणि की अपेक्षा रखती है।[३] गायगर[४] और विंटरनित्ज[५] ने भी उसे धम्मसंगणि का पूरक रूप ही माना है। अभिधम्म-साहित्य के प्रसिद्ध भारतीय बौद्ध विद्वान् भिक्षु जगदीश काश्यप भी विभंग की विषय-वस्तु को धम्मसंगणि की पूरक स्वरूप ही मानते हैं।[६] अतः 'धम्मसंगणि' को ही 'विभंग' की अपेक्षा पूर्वकालीन रचना मानने की ओर विद्वानों की प्रवणता अधिक है। 'विभंग' के 'रूपक्खन्ध-विभंग' का अधिक विस्तृत विवेचन 'धम्मसंगणि' में पाया जाना 'धम्मसंगणि' के बाद की रचना होने का ही सूचक नहीं माना जा सकता। बल्कि यह तथ्य केवल यही दिखाता है कि धम्मसंगणि में इसका सांगोपांग विवेचन हो जाने के बाद विभंग में उसके इतने विस्तार में जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इतनी अधिक दृष्टियों से अभिधम्म-पिटक में धम्मों के विश्लेषण और विवेचन किये गये हैं और इतनी अधिक अवस्थाओं पर उसके संक्षिप्त और विस्तृत विवेचन निर्भर करते हैं कि एक दो उदाहरणों से हम किन्हीं दो ग्रन्थों की पूर्वापरता का कोई निश्चित निर्णय नहीं कर सकते। धम्मसंगणि वास्तव में सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक का आधारभूत ग्रन्थ है और विषय-वस्तु की दृष्टि से उसी पर आधारित 'विभंग' है। 'विभंग' 'धम्मसंगणि' का पूरक है और स्वयं 'धातुकथा'के लिए आधारस्वरूप है।[७] इस प्रकार 'धम्मसंगणि' और धातुकथा के बीच वह मध्यस्थता

---

१. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १७
२. उपर्युक्त के समान ही।
३. विभंग, भूमिका, पृष्ठ १३ (पालि टैक्सट् सोसायटी का संस्करण)
४. पालि लिटरेचर एंड लॅंग्वेज, पृष्ठ १,
५. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६७
६. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०४
७. पालि लिटरेचर एंड लॅंग्वेज, पृष्ठ १७

करता है। 'यमक' और पट्ठान के विषय में जो कुछ पहले कहा जा चुका है, वह ठीक है। अतः हमारे प्रस्तुत अध्ययन के अनुसार अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों का अधिक ठीक काल-क्रम यह होना चाहिए—पुग्गलपञ्ञत्ति, धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, यमक, पट्ठान, और कथावत्थु। इसे यों भी दिखाया जा सकता है—

१. पुग्गलपञ्ञत्ति

२. धम्मसंगणि

३. विभंग
   - अ. धातुकथा
   - आ. यमक
   - इ. पट्ठान

४. कथावत्थु

अभिधम्म-पिटक का विषय

ऊपर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के काल-क्रम के विषय में जो विवेचन किया गया है, उससे उसकी विषय-वस्तु पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। अभिधम्म-पिटक के विषय में सुत्त-पिटक की अपेक्षा कुछ नवीनता नहीं है। धम्म का विस्तार या विस्तृत विवेचन ही अभिधम्म है। आचार्य बुद्धघोष ने उसे 'धम्म' का अतिरेक या विशेष रूप कहा है। उसका भी यही अर्थ है। सुत्त-पिटक में निहित बुद्ध-मन्तव्यों को ही अभिधम्म पिटक में अधिक सूक्ष्म विस्तार के साथ समझाया गया है। पारिभाषिक शब्दावली कहीं कुछ नई अवश्य है, किन्तु सिद्धांतों का मूल आधार सुत्तन्त ही है। अभिधम्म के सिद्धांतों, वर्गीकरणों और विभागों के मूल स्रोतों को सुत्तन्त में खोज निकालना अध्ययन का एक अच्छा विषय हो सकता है। उससे दोनों का तुलनात्मक अध्ययन होने के अतिरिक्त स्वयं अभिधम्म-पिटक के दुरूह सिद्धांतों का समझना भी सुगम हो जाता है। प्रथम बार भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत किया है।[1] उनके मतानुसार विभज्यवाद जिस प्रकार सुत्तन्त का दर्शन है, उसी प्रकार वह अभिधम्म का भी दर्शन है। 'विभज्यवाद' का अर्थ है मानसिक और भौतिक जगत् की सम्पूर्ण अवस्थाओं का विश्लेषण कर चुकने

---

१. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९-३१

पर भी उनमें कहीं 'अत्ता' (आत्मा) का नहीं मिलना। पहिये, धुरा, जुआ आदि सभी भागों से व्यतिरिक्त 'रथ' की सत्ता नहीं है। इसी प्रकार व्यक्ति भी रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूपी पाँच स्कंधों की समष्टि के अलावा और कुछ नहीं है। ये सभी स्कन्ध अनित्य, अनात्म और दुःख हैं। इनमें अपनापन खोजना दुःख का ही कारण हो सकता है। यही बुद्ध का दर्शन है, जो सुत्त-पिटक में अनेक बार प्रस्फुटित हुआ है। उदाहरणतः संयुत्त-निकाय के इस बुद्ध-वचन को लीजिये, "हे गृहपति ! यहाँ अश्रुतवान्, आर्यों के दर्शन से अनभिज्ञ, अज्ञानी मनुष्य, रूप को आत्मा के रूप में देखता है, अथवा आत्मा को रूपवान् समझता है, या आत्मा में रूप को देखता है या रूप में आत्मा को देखता है। वह समझता है—मैं रूप हूँ और रूप मेरा है। इस प्रकार 'मैं रूप हूँ और रूप मेरा है' समझते हुए उसके रूप में परिवर्तन होता है, विपरिणाम होता है, कुछ का कुछ हो जाता है। गृहपति ! इसी से उत्पन्न होते हैं शोक, परिदेव (रोना-धोना), दुःख, दौर्मनस्य और मानसिक कष्ट"।[१] वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को लेकर भी इसी प्रकार दुःख-समुदय का क्रम दिखाया गया है। व्यक्ति के उपर्युक्त पाँच स्कन्धों में विश्लेषण के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विश्लेषण भी सुत्तन्त में किये गये हैं। उनमें दो मुख्य हैं। पहले, व्यक्ति के साथ बाह्य संसार के संबंध की व्याख्या करने के लिए १२ आयतनों का विवेचन किया गया है,[२] जो इस प्रकार है :—

१. चक्षु (चक्खु)	४. जिह्वा	७. रूप	१०. रस
२. श्रोत्र (सोत)	५. काय	८. शब्द (सद्द)	११. स्पृष्टव्य (फोट्ठब्ब)
३. घ्राण (घाण)	६. मन	९. गन्ध	१२. धम्म

---

१. इध गहपति, अस्सुतवा पुथुज्जनो अरियानं अदस्सावी रूपं अत्ततो समनुपस्सति, रूपवन्तं वा अत्तानं, अत्तनि वा रूपं, रूपस्मिं वा अत्तानं। अहं रूपं, मम रूपं ति परियुट्ठट्ठायी होति। तस्स अहं रूपं मम रूपं ति परियुट्ठट्ठतो तं रूपं परिणमति अञ्ञथा होति, तस्स रूपविपरिणामञ्ञथाभावा उप्पज्जन्ति सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्सूपायासा। अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २० में उद्धृत।

२. देखिये विशेषतः आयतन-संयुत्त (संयुत्त-निकाय)

इनमें व्यक्ति (द्रष्टा) का विश्लेषण प्रथम छह आयतनों के रूप में किया गया है, जो आध्यात्मिक आयतन (अज्झत्तिक आयतन) कहलाते हैं। बाह्य संसार (दृश्य) का विश्लेषण बाद के छह आयतनों के रूप में किया गया है, जो बाह्य-आयतन (बाहिर आयतन) कहलाते है। द्रष्टा और दृश्य के संबंध और उनके उपादान से उत्पन्न होने वाली चेतना को ध्यान में रखकर आन्तरिक और बाह्य संसार का १८ धातुओं में भी विश्लेषण किया गया है,[1] जो इस प्रकार है—

१. चक्षु (चक्खु)	७. रूप	१३. चक्षु-विज्ञान (चक्खु-विञ्ञाण)
२. श्रोत्र (सोत)	८. शब्द (सद्द)	१४. श्रोत्र-विज्ञान (सोत-विञ्ञाण)
३. घ्राण (घाण)	९. गन्ध	१५. घ्राण-विज्ञान (घाण-विञ्ञाण)
४. जिह्वा	१०. रस	१६. जिह्वा-विज्ञान (जिह्वा-विञ्ञाण)
५. काय	११. स्पृष्टव्य (फोट्ठब्ब)	१७. काय-विज्ञान (काय-विञ्ञाण)
६. मन	१२. धर्म (धम्म)	१८. मनो-विज्ञान (मनो-विञ्ञाण)

उपर्युक्त तीनों प्रकार के विश्लेषण सुत्त-पिटक में सामान्यतया मिलते हैं। संयुत्त-निकाय में पूरे संयुत्तों के नाम इनके विवेचन के आधार पर ही रक्खे गये हैं, जैसे खन्ध-संयुत्त, आयतन-संयुत्त, धातु-संयुत्त। स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश भगवान् बुद्ध का मूल उपदेश था, इसका सर्वोत्तम साक्ष्य हम बुद्धकालीन भिक्षुणियों के इन लगातार उद्‌गारों में पाते हैं, जिनमें वे अपनी उपदेश करने वाली बहिनों से इस संबंधी उपदेश को पाकर कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करती हैं "सा मे धम्ममदेसेसि खन्धायतनधातुयो।"[2] (उसने मुझे स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश दिया)। इस प्रकार सुत्तन्त में स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश मिलता है, किन्तु वहाँ इसका उद्देश्य केवल अनात्मवाद का उपदेश देना है, अलग-अलग सबका विश्लेषण करना नहीं। यह काम अभिधम्म में किया गया है। अभिधम्म में, जैसा हम उसकी विषय-वस्तु का विश्लेषण करते समय अभी देखेंगे, रूप-स्कन्ध का २८ अंगों में विश्लेषण

---

१. देखिये विशेषतः धातु-संयुत्त (संयुत्त-निकाय)

२. थेरीगाथा, गाथाएँ ४३ एवं ६९ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

किया गया है, इसी प्रकार वेदना-स्कन्ध का पाँच, संस्कार-स्कन्ध का ५० और विज्ञान स्कन्ध का ८९ अंगों में विश्लेषण किया गया है। इन सबका आधार, जैसा पहले कह चुके हैं, सुत्त-पिटक ही है। उदाहरणतः, रूप का विश्लेषण सुत्तन्त में केवल दो भागों में किया गया है, "भिक्षुओ ! क्या है रूप ? चार महाभूत और चार महाभूतों के उपादान से उत्पन्न हुआ रूप, भिक्षुओ यही कहलाता है रूप।"[१] रूप के इस द्विविध विभाग पर ही अभिधम्म का सारा रूप-विश्लेषण निर्भर है। इसी प्रकार वेदना-स्कन्ध का ५ भागों में विश्लेषण भी सुत्तन्त से ही लिया गया है, जहाँ सुख-वेदना, दुःख-वेदना, सौमनस्य, दौर्मनस्य, और उपेक्षा का स्पष्टतः उल्लेख है।[२] इसी प्रकार अभिधम्म के विज्ञान-स्कन्ध के १२१ विभागों में से अनेक सुत्तन्त में मिलते हैं और उनके आधार पर ही दूसरे अधिक सूक्ष्म विश्लेषण कर लिये गये हैं।[३] सारांश यह कि अभिधम्म के विश्लेषण सुत्तन्त पर ही आधारित हैं।

शैली

अभिधम्म का आधार सुत्तन्त होने पर भी उसकी शैली में विभिन्नता है। सुत्तन्त में उदाहरण दे देकर, अनेक पर्यायों से और अनेक उपमाओं से, धम्म को समझाया गया है। किन्तु अभिधम्म 'निप्परियाय देसना' है, अर्थात् वहाँ बिना उपमाएँ और उदाहरण दिये हुए धम्म को समझाया गया है। इसका कारण यह है कि अभिधम्म का प्रणयन साधारण जनता के लिए नहीं हुआ है। वह देव-मनुष्यों के लिए उपदेश किया हुआ बुद्ध-वचन है। त्रायस्त्रिंश-लोक में अभिधम्म के उपदेश करने संबंधी गाथा का यही मानवीय रहस्य है। अभिधम्म-पिटक में साधारण जन-समाज की भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है। वह अज्ञान पर आश्रित है। 'वृक्ष', 'मनुष्य', 'पशु' की वास्तविक सत्ता कहाँ है ? फिर भी हम व्यवहार में इस प्रकार के प्रयोग करते हैं। इसी को पालि-बौद्ध धर्म

---

१. "कतमं च भिक्खवे रूपं ? चत्तारो च महाभूता चतुन्नं च महाभूतानं उपादाय रूपं, इदं वुच्चति भिक्खवे रूपं"। संयुत्त-निकाय, अभिधम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २३ में उद्धृत।

२. देखिये अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २५

३. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २७-३१

में सम्मुति सच्च (संवृति सत्य) कहा गया है। सुत्त-पिटक इसी भाषा में लिखा गया है। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि बौद्धों ने जिसे 'सम्मुति सच्च' कहा है, वही शंकर का व्यवहार-सत्य है, जिसे उन्होंने 'अविद्यावद्विषय' कहा है। इसके विपरीत 'परमार्थ-सत्य' (पालि परमत्थ-सच्च) है, जहाँ माता माता नहीं है, पिता पिता नहीं है, मनुष्य मनुष्य नहीं है। इसी भाषा में अभिधम्म लिखा हुआ है। अतः उसमें वह प्राण-प्रतिष्ठा नहीं है, जो सुत्तन्त में है। एक में जीवन चारों ओर हिलोरें ले रहा है, दूसरे में वह सर्वथा अनुपस्थित है। अभिधम्म-पिटक की शैली की एक बड़ी विशेषता उसकी परिप्रश्नात्मक (पञ्ह-परिपुच्छक) प्रणाली है, प्रश्न और उत्तर के रूप में विषय को समझाया गया है। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'—इसका बड़ा अच्छा निर्वाह सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक दोनों में ही दिखाया गया है। 'परिप्रश्न' की बात तो अभिधम्म ने अपने आप पूरी कर दी है, वह हमसे 'प्रणिपात' और सेवा' की भी पूरी अपेक्षा रखता है। 'अट्ठसालिनी' की 'निदान-कथा' में आचार्य बुद्धघोष ने एक मार्मिक प्रश्न किया है "अभिधम्म का उदय किस स्रोत से हुआ है"? अथवा अभिधम्म किससे विकसित हुआ है? "अयं अभिधम्मो नाम केन पभावितो?" उत्तर दिया है, "बोधि को प्राप्त कराने वाली श्रद्धा से!" बोधि-अभिनीहारसद्धाय।" श्रद्धा के साथ हम अभिधम्म की लम्बी सेवा करें (जैसी वर्तमान समय में आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने की)[1] तो उसमें हम बहुत कुछ पा सकते हैं। उसके बिना तो हम यूरोपीय विद्वानों की तरह सिर्फ उकता ही जायेंगे और कहेंगे कि यहाँ गम्भीर दर्शन कुछ नहीं है।[2] श्रीमती रायस डेविड्स,[3] ज्ञानातिलोक[4]

---

१. देखिये 'अभिधम्मत्थ-संगह' पर उनकी स्वरचित 'नवनीत टीका' का प्राक्कथन (महाबोधि सभा, १९४१); देखिये धर्मदूत, सितम्बर १९४८ में डा० बापट का "आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी" शीर्षक लेख भी (पृष्ठ ८९-९५)।

२. जैसा विंटरनित्ज़ ने कह डाला है, देखिये उनकी हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५-६६।

३. ए बुद्धिस्टिक मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अनुवाद) की मननशील लेखिका। बुद्धिस्ट साइकोलोजी (द्वितीय संस्करण, लन्दन, १९२४) की भी लेखिका।

४. गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक के लेखक और प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् महास्थविर और साधक। जर्मन देशीय, परिनिर्वृत्त।

धर्मानन्द कोसम्बी,[1] अनागारिक गोविन्द[2] और भिक्षु जगदीश काश्यप[3] की प्रणाली पर यदि अभिधम्म के अध्ययन को विकसित किया जाय तो उससे बौद्ध नैतिक मनोविज्ञान का मार्ग हमारे लिए अधिक प्रशस्त हो सकता है और हम अभिधम्म को उसकी वास्तविक विभूति में देख सकते हैं।[4] अभिधम्म-पिटक की उद्देस (संक्षिप्त कथन) के बाद निद्देस (विस्तृत विवेचन) की वर्णन-प्रणाली, पर्यायवाची शब्दों और परिभाषाओं की अधिकता आदि प्रवृत्तियों के विषय में हम पहले कह ही चुके हैं।

महत्त्व

अभिधम्म-पिटक के महत्व पर हमें दो दृष्टियों से विचार करना है (१) स्थविरवाद परम्परा की दृष्टि से (२) अन्य बौद्ध संप्रदायों की दृष्टि से। जहाँ तक स्थविरवाद परम्परा का संबंध है, अभिधम्म-पिटक को आरंभ से ही सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के समान बुद्ध-वचन माना जाता है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। बरमा में अभिधम्म-पिटक का कितना अधिक आदर है, यह तत्संबंधी उस विस्तृत अध्ययन से ही स्पष्ट होता है जो उस देश में किया गया है। आठवें अध्याय में हम इस अध्ययन का विवेचन करेंगे। सिंहल भी अभिधम्म की पूजा में बरमा से पीछे नहीं रहा है। 'महावंश' में हम बार-बार

---

१. विदेश में जाकर अनेक कठिनाइयों के उपरान्त अभिधम्म का अध्ययन करने वाले प्रथम भारतीय विद्वान्।

२. दि साइकोलाजीकल एट्टीट्यूड ऑव अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफी के लेखक (रीडरशिप लेक्चर्स, पटना यूनीवर्सिटी, १९३६-३७)। जर्मन देशीय।

३. अभिधम्म-फिलॉसफी (दो जिल्दें) के लेखक, मनस्वी बौद्ध दार्शनिक और साधक।

४. अध्ययन की इसी परम्परा में हमें अभी अभिधम्म पर एक मूल्यवान् कृति मिली है "फिलॉसफी एण्ड साइकोलोजी इन दि अभिधम्म", जिसके लेखक हैं बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रसिद्ध पण्डित एच० वी० ग्युंथर। यह पुस्तक बुद्ध-बिहार, लखनऊ से सन् १९५७ में प्रकाशित हुई है। विचार और साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और आधुनिक भाषा में अभिधम्म के गूढ़ तत्त्वों को समझाया गया है।

पढ़ते हैं कि किस प्रकार विद्वान् सिंहली राजाओं ने अभिधम्म का आदरपूर्वक श्रवण किया और कुछ ने स्वयं उसका उपदेश भी किया। काश्यप प्रथम (९२९ ईसवी) ने तो सम्पूर्ण अभिधम्म को सोने के पत्रों पर खुदवाया और विशेषतः 'धम्मसंगणि' को बहुमूल्य रत्नों से मंडित किया। इसी प्रकार ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दी में लंका का राजा विजयबाहु प्रथम (१०५९–१११४ ई०) अभिधम्म का बड़ा मननशील अध्येता था और उसने 'धम्मसंगणि' का सिंहली भाषा में अनुवाद भी किया। अतः स्थविरवाद परम्परा में अभिधम्म-पिटक का सदा से बहुत सम्मान रहा है। स्थविरवाद-परम्परा से भिन्न बौद्ध संप्रदायों में अभिधम्म-पिटक को उतना प्रामाणिक बुद्ध-वचन नहीं माना गया है। हम जानते हैं कि स्वयं उत्तरकालीन हीनयानी संप्रदाय में सौत्रान्तिक नाम का एक वर्ग था जो अभिधम्म पिटक को प्रामाणिक नहीं मानता था। उसके लिए केवल सुत्त-पिटक ही प्रामाणिक बुद्धवचन था। इतना ही नहीं, अत्यंत पूर्वकाल में ही हम स्थविरवादियों के अन्दर ही भिक्षुओं के एक ऐसे वर्ग की सूचना पाते हैं जो अभिधम्म-पिटक की प्रामाणिकता को नहीं मानता था और केवल सुत्त-पिटक में ही अधिक विश्वास करता था। 'अठ्ठसालिनी' की निदान-कथा में दो भिक्षुओं का संलाप दिया हुआ है, जिससे यह बात स्पष्ट होती है—

"भन्ते! आप ऐसी लम्बी पंक्ति को उद्धृत कर रहे हैं, जैसे कि मानो आप सुमेरु को ही परिवेष्टित करना चाहते हों। ('सिनेरुं परिक्खिपन्तो विय') भन्ते! यह किसकी पंक्ति है?"

"आवुस! यह अभिधम्म की पंक्ति है।"

"भन्ते! आप अभिधम्म की पंक्ति का क्यों उद्धरण देते हैं? क्या आपको यह उचित नहीं कि आप बुद्ध द्वारा उपदिष्ट किन्हीं दूसरी पंक्तियों का उद्धरण दें।"

"आवुस! अभिधम्म का उपदेश किसका है?"

"निश्चय ही बुद्ध का नहीं है।" ('न एसो बुद्धभासितो')

"पर आवुस! क्या तुमने विनय-पिटक को पढ़ा है?"

"नहीं भन्ते। मैंने उसे नहीं पढ़ा है।" आदि, आदि

पुनः 'दीपवंस' के वर्णन में ही हम देखते हैं कि वैशाली की संगीति के अवसर पर ही 'महासंगीतिक' (महासंघिक) भिक्षुओं ने अन्य ग्रन्थों के साथ अभिधम्म-पिटक

की प्रमाणवत्ता स्वीकार नहीं की थी।[1] इससे हमारा सन्देह अभिधम्म-पिटक की प्रमाणवत्ता के विषय में अवश्य बढ़ जाता है। काल-क्रम और महत्ता में अवश्य अभिधम्म-पिटक को सुत्त और विनय पिटक के बाद मानना पड़ेगा, इसे प्रायः सभी निष्पक्ष बौद्ध विद्वान् आज भी स्वीकार करते हैं। किन्तु चूँकि अभिधम्म-पिटक का अर्वाचीनतम ग्रन्थ (कथावत्थु) भी ईसवी-पूर्व तृतीय शताब्दी की रचना है और उसके अलावा अन्य किसी ग्रन्थ के साथ किसी रचयिता का नाम जोड़ा नहीं गया है, अतः अर्थवाद की दृष्टि से उसे बुद्ध-वचन भी कहा जा सकता है, इतना अवकाश हमें स्थविरवाद-परम्परा को भी अवश्य देना ही होगा। अन्ततः अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक पर ही तो अवलंबित है ।

पालि अभिधम्म-पिटक की सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अभिधर्म-पिटक से तुलना

स्थविरवादियों और सर्वास्तिवादियों के दो पिटकों—सुत्त और विनय—की तुलना हम पहले कर चुके हैं। सर्वास्तिवादी संप्रदाय के अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थ चीनी भाषा में सुरक्षित हैं। उनके मूल संस्कृत में थे, किन्तु आज वे प्राप्य नहीं। स्थविरवादियों के समान सर्वास्तिवादियों का भी यह दावा है कि उनका अभिधर्म-पिटक बुद्ध-वचनों (सूत्र-पिटक) पर आधारित है। किन्तु जब कि स्थविरवादी (कथावत्थु को छोड़कर) अभिधम्म के ग्रन्थों को मनुष्यों की रचनाएँ नहीं मानते, सर्वास्तिवादियों की परम्परा में उनका अभिधर्म-पिटक विशिष्ट विचारकों की रचना माना जाता है। चीनी भाषा में सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक का नाम 'शास्त्र-संग्रह' है। स्थविरवादी अभिधम्म-पिटक के समान सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक में भी सात ग्रन्थ हैं, जिनके नाम उनके रचयिताओं के साथ, इस प्रकार हैं—

सर्वास्तिवादी संप्रदाय के अभिधर्म पिटक के ग्रथों के नाम	**उनके रचयिता**
१. ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र	आर्य कात्यायनीपुत्र
२. प्रकरण-पाद	स्थविर वसुमित्र

---

१. दीपवंस ५।३२-३८ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)

३. विज्ञान-काय-पाद	स्थविर देवशर्मा
४. धर्म-स्कन्ध-पाद	आर्य शारिपुत्र
५. प्रज्ञप्तिशास्त्र-पाद	आर्य मौद्गल्यायन
६. धातुकाय-पाद	पूर्ण (या वसुमित्र)
७. संगीति-पर्याय-पाद	महाकौष्ठिल (या शारिपुत्र)

पालि अभिधम्म पिटक के साथ इसकी तुलना करने पर ज्ञात होगा कि इनके नामों में पर्याप्त साम्य है, यथा--

पालि अभिधम्म-पिटक	सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक
१. धम्मसंगणि	(४) धर्मस्कन्धपाद
२. विभंग	(३) विज्ञानकायपाद
३. पुग्गलपञ्ञत्ति	(५) प्रज्ञप्तिपाद
४. धातुकथा	(६) धातुकायपाद
५. पट्ठान	(१) ज्ञान-प्रस्थान
६. यमक	(७) संगीतिपर्यायपाद
७. कथावत्थुप्पकरण	(२) प्रकरणपाद

नामों की इतनी समानता होते हुए भी विषय की समानता नहीं है।[१] फिर भी जिन विषयों का निरूपण एक पिटक में किसी ग्रन्थ में पाया जाता है, दूसरे पिटक में उन्हीं का या उनके कुछ अंशों का निरूपण किसी दूसरे ग्रन्थ में पाया जाता है। चूँकि दोनों के ही अभिधर्म-पिटक अपने-अपने सूत्रों पर अवलंबित हैं, जिनमें जैसा हम पहले देख चुके हैं, अधिक अन्तर नहीं है, अतः दोनों में कुछ न कुछ समानताओं का पाया जाना नितांत स्वाभाविक है। हाँ, उनके क्रम में अन्तर अवश्य है। सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थों की विषय-वस्तु के संक्षिप्त

---

१. देखिये डा० तकाकुसु का 'दि अभिधर्म लिटरेचर' शीर्षक निबन्ध, जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०५, पृष्ठ १६१। इस निबन्ध में तकाकुसु ने स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटकों के ग्रन्थों की विस्तृत तुलनात्मक पर्यालोचना की है। सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के कुछ विवेचन के लिये देखिये अनुकूल चन्द्र बनर्जी : सर्वास्तिवाद लिटरेचर, पृष्ठ ५१-७५ भी, (कलकत्ता, १९५७)

परिचय और पालि अभिधम्म के साथ उसकी तुलना से यह स्पष्ट होगा। पहले ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र को ही लें। यह सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक का सबसे प्रधान ग्रन्थ है। शेष छह ग्रंथ इसी के पाद या उपग्रंथ कहलाते हैं। उनके साथ इसका वही सम्बन्ध है जो वेद का उसके छह अंगों के साथ[1]। ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की रचना सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य आर्य कात्यायनीपुत्र ने की। आर्य कात्यायनीपुत्र कश्मीर के रहने वाले थे। इनका समय बुद्ध-परिनिर्वाण के ३०० वर्ष बाद है। ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र का प्रथम चीनी अनुवाद काश्मीरी भिक्षु गौतम संघदेव ने ३८३ ईसवी में किया। उसके बाद एक दूसरा अनुवाद सन् ६५७–६० ई० में यूआन्-चूआङ के द्वारा किया गया। इसी महा ग्रन्थ पर कनिष्क के काल में आचार्य वसुबन्धु और अश्वघोष की अध्यक्षता में 'विभाषा' नामक एक महाभाष्य लिखा गया, जिसका अनुसरण करने के कारण 'वैभाषिक' नामक बौद्ध सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। ज्ञान-प्रस्थान शास्त्र एक बृहत् ग्रन्थ है। इसमें आठ परिच्छेद या स्कन्ध हैं, जिनमें कुल मिलाकर श्लोकों की संख्या १५०७२ है।[2] जैसा पहले कहा जा चुका है, मूल संस्कृत तो मिलता ही नहीं, इस सम्पूर्ण ग्रंथ का अभी अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित नहीं हुआ है। अतः चीनी-भाषा से अनभिज्ञों के लिये अभी तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग पराश्रित ही हो सकता है। प्रो० तकाकुसु द्वारा प्रदत्त सूचना के अनुसार ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र के ८ परिच्छेदों के नाम और विषय इस प्रकार हैं—

१. **प्रकीर्णक**—लोकोत्तर धर्म, ज्ञान, पुद्गल, अरूप, अनात्म आदि स्फुट विषय।
२. **संयोजन**—अकुशल मूल, सकृदागामी, मनुष्य, दस द्वार आदि।
३. **ज्ञान**—आठ शैक्ष्य-अशैक्ष्य भूमियाँ, पाँच, दृष्टियाँ, पर-चित्त-ज्ञान, आर्य-प्रज्ञा आदि।
४. **कर्म**—अकुशल कर्म, असम्यक् वाणी, विहिंसा, व्याकृत, अव्याकृत आदि।
५. **चार महाभूत**—इन्द्रिय, सस्कृत, दृष्ट, सत्य, अध्यात्म आदि।
६. **इन्द्रियाँ**—२२ इन्द्रियाँ, भव, स्पर्श आदि।

---

१. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १९०४-०५, पृष्ठ ७४ में डा० तकाकुसु का अभिधर्म-साहित्य सम्बन्धी निबन्ध।

२. जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी, १९०४-०५ पृष्ठ १२४ (डा० तकाकुसु का 'दि सर्वास्तिवादिन् अभिधर्म बुक्स' शीर्षक निबन्ध)

७. **समाधि**—अतीतावस्था, प्रत्यय, विमुक्ति आदि।

८. **स्मृत्युपस्थान**—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, धर्मानुपश्यना, तृष्णा, संज्ञा, ज्ञान-समय आदि।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की विषय-वस्तु इतनी विस्तृत है कि उसमें पालि अभिधम्म-पिटक के कई ग्रन्थों के अंशतः विवरण उपस्थित दिखाये जा सकते हैं। विशेषतः खुद्दक-निकाय के 'पटिसम्भिदामग्ग' से इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु की अधिक समानता है, ऐसा मत स्वर्गीय डा० वेणीमाधव बड़ुआ ने प्रकाशित किया था, जो ठीक कहा जा सकता है।(२) प्रकरण-पाद स्थविर वसुमित्र की रचना कही जाती है। यह वसुमित्र कनिष्क-कालीन प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य आर्य वसुमित्र से भिन्न और उनसे पूर्वकालीन हैं। इनका काल बुद्ध-परिनिर्वाण से ३०० वर्ष बाद माना जाता है। अतः ये आर्य कात्यायनीपुत्र के समकालीन थे, ऐसा कहा जाता है। प्रकरण-पाद में आठ वर्ग हैं, जिनमें धर्म, ज्ञान, आयतन आदि का विवेचन है। यद्यपि 'प्रकरण-पाद' के नाम का साम्य 'कथावत्थुप्पकरण' से है, किन्तु दोनों की विषय-वस्तु या शैली में कोई समानता नहीं है। विषय-वस्तु की दृष्टि से डा० लाहा ने इस ग्रन्थ की तुलना 'विभंग' से की है।[1] किन्तु 'विभंग' की समानता धर्मस्कन्ध से अधिक है, यह हम अभी देखेंगे। 'प्रकरणपाद' का पहला चीनी अनुवाद गुणभद्र तथा बुद्धयशस् (या बोधियशस्) ने ४३५-४३ ई० में किया। उसके बाद एक दूसरा अनुवाद ६५९ ई० में यूआन्-चुआङ के द्वारा किया गया। (३) विज्ञान-काय-पाद स्थविर देवशर्मा की रचना कही जाती है। एक परम्परा के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना बुद्ध-परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद और एक दूसरी परम्परा के अनुसार ३०० वर्ष बाद हुई। दूसरी परम्परा ही अधिक ठीक हो सकती है। इस ग्रन्थ में ६ स्कन्ध हैं, जिनमें पुद्गल, हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय आदि विषयों के विवेचन हैं। विषय-वस्तु अभिधम्म-पिटक के 'पुग्गलपञ्ञत्ति' और 'पट्ठान' से जहाँ-तहाँ बहुत कुछ मिलती-जुलती है, फिर भी किसी एक विशिष्ट ग्रन्थ से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ ने ६४९ ई० में किया। (४) धर्मस्कन्धपाद सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक का ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र के बाद सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके कुछ अंशों को संगीति-पर्याय-पाद में प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया गया है। चीनी परम्परा के

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४०

अनुसार धर्मस्कन्ध-पाद आर्य महामौद्गल्यायन की रचना है। किन्तु यशोमित्र के मतानुसार यह आर्य शारिपुत्र की रचना है। यह निश्चित है कि ये शारिपुत्र और महामौद्गल्यायन बुद्ध के इन नामों के प्रधान शिष्य नहीं हो सकते। इस ग्रन्थ में २१ अध्याय हैं, जिनमें चार आर्य-सत्य, समाधि, बोध्यंग, इन्द्रिय, आयतन, स्कन्ध, प्रतीत्य समुत्पाद आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ६५९ ई० में यूआन्-चुआङ ने किया। इस ग्रन्थ की समता विषय-वस्तु की दृष्टि से 'विभंग' से सर्वाधिक है, यह निष्कर्ष महास्थविर ज्ञानातिलोक ने दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद निकाला है।[१] विभंग में १८ अध्याय (विभंग) हैं, धर्मस्कन्ध में २१ हैं। इनमें १४ एक दूसरे के बिलकुल समान हैं। यह समानता क्रमशः इस प्रकार है—

विभंग—१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८
धर्मस्कन्ध—१९, १८, २०, १०, १७, २१, ९, ७,८,१५,-११, १२, १--१६-

खाली छोड़ी हुई जगहों का तात्पर्य यह है कि विभंग के ११, १५, १६, और १८ वें अध्याय (विभंग) धर्मस्कन्ध में नहीं मिलते।[२] (५) प्रज्ञप्तिपाद या प्रज्ञप्ति-शास्त्र आर्य मौद्गल्यायन की रचना कही जाती है, जो निश्चयतः इस नाम के बुद्ध के शिष्य नहीं हो सकते। प्रज्ञप्ति-पाद का चीनी अनुवाद धर्मरक्ष ने ग्यारहवीं शताब्दी में किया। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ् ने नहीं किया, इसलिये इसकी प्राचीनता में सन्देह किया जाता है। इस ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद भी उपलब्ध है। इसमें १४ वर्ग हैं। 'प्रज्ञप्ति-पाद' का पालि 'पुग्गलपञ्ञत्ति' से केवल नाम का ही साम्य है। विषय में कोई समानता नहीं है। इस ग्रन्थ की कुछ समानता दीघ-निकाय के लक्खण-सुत्त से दिखाई गई है। (६) धातुकाय-पाद चीनी परम्परा के अनुसार कनिष्क के समकालीन प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य वसुमित्र की रचना बतलाई जाती है। किन्तु यशोमित्र (अभिधर्मकोश के व्याख्याकार) ने इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम पूर्ण लिखा है। यशोमित्र का मत ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रन्थ का भी चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ् ने ६६३ ई० में किया। इस ग्रन्थ की पालि 'धातुकथा' से कोई समानता नहीं है। हाँ, संयुत्त-निकाय के धातु-संयुत्त से इसकी विषय-वस्तु बहुत कुछ मिलती-

---

१. गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ २ (भूमिका)
२. गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ २ (भूमिका)

जुलती है। (७) संगीति-पर्याय-पाद के रचयिता चीनी परम्परा के अनुसार आर्य शारिपुत्र और यशोमित्र के वर्णनानुसार प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य महा-कौष्ठिल थे। यूआन्-चूआङ् ने इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद सातवीं शताब्दी के मध्य भाग में किया था। प्रोफेसर तकाकुसु ने इस ग्रन्थ के विषय और शैली की समानता सबसे अधिक दीघ-निकाय के संगीति-परियाय-सुत्त से दिखाई है।[१] इस ग्रन्थ में १२ वर्ग हैं। इसका भी अनुवाद यूआन्-चूआङ् के द्वारा किया गया। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अभिधर्म-पिटक के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि उसमें प्राचीन परम्पराएँ निहित हैं और पालि अभिधम्म-पिटक के कई अंशों से उसकी आश्चर्यजनक समानताएँ भी हैं, फिर भी सुत्त और विनय की अपेक्षा यहाँ समानताएँ कम हैं। इसका एक प्रधान कारण लम्बी परम्पराओं का एक देश से दूसरे देश में जाना और भाषा-माध्यमों की अनिवार्य कठिनताएँ हैं। जब तक मूल संस्कृत उपलब्ध न हो, तब तक बिना उसके स्वरूप पर विचार किए पालि अभिधम्म के साथ उसके आपेक्षिक महत्त्व और प्रामाण्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में पालि अभिधम्म के सामने उसकी प्रमाणवत्ता अल्प अवश्य रह जाती है। वह स्पष्टतः आचार्यों की रचना है, जब कि केवल 'कथावत्थुप्पकरण' को छोड़कर शेष पालि अभिधम्म-पिटक बुद्ध-वचन के रूप में ही स्थविरवाद-परम्परा में प्रतिष्ठित है। हाँ, सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक की तुलना से यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि सुत्त और विनय की अपेक्षा पालि अभिधम्म की प्रमाणवत्ता निश्चयतः कम और संकलन-काल भी उतनी ही निश्चिततापूर्वक कुछ बाद का है, जिसका विवेचन हम पहले कर आये हैं।

अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विश्लेषण—धम्मसंगणि[२]

पालि अभिधम्म-पिटक का सब से प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' है। वास्तव में यह सम्पूर्ण अभिधम्म-साहित्य की प्रतिष्ठा ही है।

---

१. जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ ९९

२. देवनागरी लिपि में प्रोफेसर पी० वी० बापट तथा आर० डी० बड़ेकर ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है (भांडारकर ओरियन्टल सीरीज़ संख्या २, प्रथम

'धम्मसंगणि' में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओं का संकलन किया गया है, गणनात्मक और परिप्रश्नात्मक शैली के आधार पर। धम्मों (पदार्थों) की कामावचर, रूपावचर आदि के रूप में संगणना और संक्षिप्त व्याख्या करने के कारण ही इस ग्रन्थ का यह नाम है।[१] 'धम्मसंगणि' के संकलन और विश्लेषण की सब से बड़ी विशेषता है भीतर और बाहर के सारे जगत् की नैतिक व्याख्या। नैतिक व्याख्या से तात्पर्य है कर्म के शुभ (कुशल), अशुभ (अकुशल) और इन दोनों से व्यतिरिक्त एवं अ-व्याख्येय (अव्याकृत) विपाकों के रूप में व्याख्या। ग्रन्थ के मुख्य भाग में चित्त और उससे संयुक्त अवस्थाओं (चेतसिक) का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण किया गया है। अतः इसे बौद्ध मनोविज्ञान की नैतिक व्याख्या ही कहा जा सकता है, या दूसरे शब्दों में बौद्ध नीतिवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी। ग्रन्थकार (या संकलनकार) ने दोनों के लिये ही पर्याप्त अवकाश दे दिया है। धम्मसंगणि के आरम्भ में 'मातिका' या विषय-सूची दी हुई है। उसमें नैतिकवाद की दृष्टि से वर्गीकरण है, किन्तु ग्रन्थ में जो विवेचन किया गया है, उसका काण्ड-विभाग चित्त और रूप की दृष्टि से है और फिर उसे 'कुसलत्तिक', (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) के रूप में विभाजित किया गया है। वास्तव में 'धम्मसंगणि' ने मन की अवस्थाओं की कर्म के शुभ, अशुभ आदि स्वरूपों के साथ व्याख्या करनी चाही है, जो एक दूसरे से घनिष्ठ और अनिरुक्त रूप से सम्बन्धित हैं। इसीलिये 'धम्मसंगणि' के विवेचनों में इतनी दुरूहता आ गई है।

संस्करण, पूना १९४०)। अभी हाल (सन् १९६०) में भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान सम्पादकत्व में सम्पादित होकर धम्मसंगणि का एक दूसरा देवनागरी संस्करण श्री नालन्दा से निकला है। रोमन लिपि में पालि टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित (लन्दन, १८८५), एडवर्ड मुलर द्वारा सम्पादित, संस्करण प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण भी उपलब्ध हैं। अंग्रेजी में श्रीमती रायस डेविड्स ने 'ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स' (लन्दन, १९००) शीर्षक से इस ग्रन्थ का अनुवाद किया था। हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का कोई अनुवाद नहीं निकला है।

१. कामावचररूपावचरादिधम्मे संगह्य संखिपित्वा वा गणयति संख्याति एत्थाति धम्मसंगणि। देखिये चाइल्डर्स : पालि डिक्शनरी, पृष्ठ ४४७ भी।

फिर भी धम्मसंगणि की 'मातिका' उसकी सारी दुरूह विषय-वस्तु को समझने के लिये एक अच्छी कुंजी है। भौतिक और मानसिक जगत् की व्याख्या धम्मसंगणि में जिस ढंगसे की गई है, उसका वह हमें पूरा दिग्दर्शन करा देती है। वह एक प्रकार की विषय-सूची है, जो उन शीर्षकों का उल्लेख कर देती है जिनमें भौतिक और मानसिक जगत् के नाना, पदार्थों (धम्मों) का विश्लेषण सम्पूर्ण ग्रन्थ के अन्दर किया गया है। 'मातिका' में कुल मिलाकर १२२ वर्गीकरण हैं, जिनमें २२ ऐसे वर्गीकरण हैं जो तीन-तीन शीर्षकों में विभक्त हैं। ये 'तिक' कहलाते हैं। शेष १०० ऐसे वर्गीकरण हैं, जो दो-दो शीर्षकों में विभक्त हैं। ये 'दुक' कहलाते हैं। २२ 'तिकों' और १०० 'दुकों' में ही सारे धम्मों का विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है अभिधम्म-पिटक के अन्य ग्रन्थों में भी इस वर्गीकरण-प्रणाली का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। यहाँ 'मातिका' के अनुसार इन 'तिकों' और 'दुकों' का विवरण देना अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा। इनकी गणन इस प्रकार है--

२२ तिक

१. अ. जो धम्म कुशल हैं (कुसला)
आ. जो धम्म कुशल नहीं हैं (अकुसला)
इ. जो धम्म अव्याकृत हैं (अव्याकता)

२. अ. जो धम्म सुख की वेदना से युक्त हैं (सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म दुःख की वेदना से युक्त हैं (दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता)
इ. जो धम्म न सुख न दुःख की वेदना से युक्त हैं (अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता)

३. अ. जो धम्म चित्त की कुशल या अकुशल अवस्थाओं के स्वयं परिणाम हैं (विपाका)
आ. जो धम्म स्वयं चित्त की कुशल या अकुशल अवस्थाओं के परिणामों को पैदा करने वाले हैं (विपाकधम्मधम्मा)
इ. जो धम्म न किसी के स्वयं परिणाम हैं और न परिणाम पैदा करने वाले हैं (नेव-विपाक-न-विपाक-धम्मधम्मा)

४. अ. जो धम्म पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप प्राप्त किये गये हैं और जो स्वयं भविष्य में ऐसे ही धम्मों को पैदा करने वाले हैं (उपादिन्नुपादानिया)

आ. जो धम्म पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप तो प्राप्त नहीं किये गये हैं, किन्तु जो भविष्य में धम्मों को पैदा करने वाले हैं (अनुपादिन्नुपादानिया)

इ. जो धम्म न तो पूर्व कर्म के परिणाम-स्वरूप प्राप्त ही किये गये हैं और न जो भविष्य में धम्मों को पैदा करने वाले हैं (अनुपादिन्नानुपादानिया)

५. अ. जो धम्म स्वयं अपवित्र हैं और अपवित्रता के आलम्बन भी बनते हैं (संकिलिट्ठ-संकिलेसिका)

आ. जो धम्म स्वयं अपवित्र नहीं हैं किन्तु अपवित्रता के आलम्बन बनते हैं (असंकिलिट्ठ-संकिलेसिका)

इ. जो धम्म न स्वयं अपवित्र हैं और न अपवित्रता के आलम्बन ही बनते हैं (असंकिलिट्ठ-असंकिलेसिका)

६. अ. जो धम्म वितर्क और विचार से युक्त हैं (सवितक्क-सविचारा)

आ. जो धम्म वितर्क से तो नहीं किन्तु विचार से युक्त हैं (अवितक्क-विचारमत्ता)

इ. जो धम्म न वितर्क और न विचार से ही युक्त हैं (अवितक्क-अविचारा)

७. अ. जो धम्म प्रीति की भावना से युक्त हैं (पीतिसहगता)

आ. जो धम्म सुख की भावना से युक्त हैं (सुखसहगता)

इ. जो धम्म उपेक्षा की भावना से युक्त हैं (उपेक्खासहगता)

८. अ. दर्शन के द्वारा जिनका नाश किया जा सकता है (दस्सनेन पहातब्बा)

आ. अभ्यास के द्वारा जिनका नाश किया जा सकता है (भावनाय पहातब्बा)

इ. जो न दर्शन और न अभ्यास से ही नष्ट किये जा सकते हैं (नेव दस्सनेन न भावनाय पहातब्बा)

अ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश दर्शन से किया जा सकता है (दस्सनेन पहातब्बहेतुका)

आ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश अभ्यास से किया जा सकता है (भावनाय पहातब्बहेतुका)

इ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश न दर्शन से और न अभ्यास से ही किया जा सकता है (नेव दस्सनेन न भावनाय पहातब्बहेतुका)

१०. अ. वे धम्म जो कर्म-संचय के कारण बनते हैं (आचयगामिनो)

आ. वे धम्म जो कर्म-संचय के विनाश के कारण बनते हैं (अपचयगामिनो)

इ. वे धम्म जो न कर्म-संचय और न उसके विनाश के कारण बनते हैं (नेव आचयगामिनो न अपचयगामिनो)

११. अ. वे धम्म जो शैक्ष्य सम्बन्धी हैं (सेक्खा)
(लोकोत्तर मार्ग की सात अवस्थाएँ)

आ. वे धम्म जो शैक्ष्य सम्बन्धी नहीं हैं, अर्थात् जिन्होंने अर्हत्त्व की पूर्णता प्राप्त करली है (अर्हत्व-फल) (असेक्खा)

इ. वे धम्म जो उपर्युक्त दोनों प्रकारों से विभिन्न हैं (अर्थात् उपर्युक्त आठ को छोड़कर बाकी सब) (नेव सेक्खा न असेक्खा)

१२. अ. वे धम्म जो अल्प आकार वाले हैं परित्ता)

आ. वे धम्म जो महान् आकार वाले हैं (महग्गता)

इ. वे धम्म जो अपरिमेय आकार वाले हैं (अप्पमाणा)

१३. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन अल्प आकार वाला है (परित्तारम्मणा)

आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन महान् आकार वाला है (महग्गतारम्मणा)

इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन अपरिमेय आकारवाला है (अप्पमाणारम्मणा)

१४. अ. हीन धम्म (मन की अवस्थाएँ) (हीना)

आ. मध्यम धम्म (मन की अवस्थाएँ) (मज्झिमा)

इ. उत्तम धम्म (मन की अवस्थाएँ) (पणीता)

१५. अ. जो निश्चयपूर्वक बुरे हैं (मिच्छत्तनियता)

आ. जो निश्चयपूर्वक अच्छे हैं (सम्मत्तनियता)

इ. जिनका स्वरूप अनिश्चित है (अनियता)

१६. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन मार्ग है। (मग्गारम्मणा)

आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका हेतु मार्ग है (मग्गहेतुका)

इ. वे धम्म (मन की अस्वथाएँ) जिनका मुख्य उद्देश्य ही मार्ग है (मग्गाधिपतिनो)

१७. अ. वे मन की अवस्थाएँ जो उत्पन्न हो चुकी हैं (उप्पन्ना)
आ. वे मन की अवस्थाएँ जो अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं (अनुप्पन्ना)
इ. वे मन की अवस्थाएँ जो भविष्य में पैदा होनेवाली हैं (उप्पादिनो)
१८. अ. वे मन की अवस्थाएँ जो बीत गईं (अतीता)
आ. वे मन की अवस्थाएँ जो भविष्य में पैदा होंगी (अनागता)
इ. वे मन की अवस्थाएँ जो अभी हाल में पैदा हुई हैं और अभी वर्तमान हैं (पच्चुप्पन्ना)
१९. अ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई अतीत की वस्तु है (अतीतारम्मणा)
आ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई भविष्य की वस्तु है (अनागतारम्मणा)
इ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई वर्तमान की वस्तु है (पच्चुपन्नारम्मणा)
२०. अ. जो धम्म किसी व्यक्ति के अन्दर अवस्थित हैं (अज्झत्ता)
आ. जो धम्म किसी व्यक्ति के बाहर अवस्थित हैं (बहिद्धा)
इ. जो धम्म किसी व्यक्ति के अन्दर और बाहर दोनों जगह अवस्थित हैं (अज्झत-बहिद्धा)
२१. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन कोई आन्तरिक वस्तु है (अज्झत्तारम्मणा)
आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन कोई बाहरी वस्तु है (बहिद्धारम्मणा)
इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन दोनों आन्तरिक और बाहरी वस्तुएँ हैं (अज्झत्त-बहिद्धारम्मणा)
२२. अ. वे धम्म जो दृश्य हैं और इन्द्रिय और उसके विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं (सनिदस्सन-सप्पटिघा)
आ. वे धम्म जो दृश्य तो नहीं, किन्तु इन्द्रिय और उसके सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं (अनिदस्सन-सप्पटिघा)

इ. वे धम्म जो न तो दृश्य हैं और न इन्द्रिय और उसके विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं (अनिदस्सन-अप्पटिघा)

१०० दुक

(१–हेतु-वर्ग)

१. अ. जो दूसरों के हेतु हैं—(हेतू)
आ. जो दूसरों के हेतु नहीं हैं—(न हेतू)

२. अ. जो हेतुओं से युक्त हैं—(सहेतुका)
आ. जो हेतुओं से युक्त नहीं हैं—(अहेतुका)

३. अ. जिनसे हेतु संलग्न हैं—(हेतुसम्पयुत्ता)
आ. जिनसे हेतु संलग्न नहीं हैं—(हेतुविप्पयुत्ता)

४. अ. जो स्वयं हेतु हैं और हेतुओं से युक्त भी हैं—(हेतू चेव सहेतुका च)
आ. जो स्वयं हेतु नही हैं, किन्तु हेतुओं से युक्त हैं—(सहेतुका चेव न च हेतू)

५. अ. जो स्वयं हेतु हैं और जिनसे हेतु संलग्न भी हैं—(हेतू चेव हेतुसम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वयं हेतु नही हैं, किन्तु जिनसे हेतु संलग्न हैं—(हेतुसम्पयुत्ता चेव न च हेतू)

६. अ. जो स्वयं हेतु नहीं हैं किन्तु जो हेतुओं से युक्त हैं—(न-हेतू सहेतुका)
आ. जो न स्वयं हेतु हैं और न हेतुओं से युक्त हैं—(न-हेतू अहेतुका)

(२—संक्षिप्त मध्यवर्गीय दुक)

७. अ. जिनके प्रत्यय हैं—(सप्पच्चया)
आ. जिनके प्रत्यय नहीं हैं— (अप्पच्चया)

८. अ. संस्कृत-- (संखता)
आ. असंस्कृत--(असंखता)

९. अ. दृश्य—(सनिदस्सना)
आ. अदृश्य—(अनिदस्सना)

१०. अ. इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से युक्त—(सप्पटिघा)
आ. इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से वियुक्त--(अप्पतिघा)

११. अ. जो रूप-युक्त हैं—(रूपिनो)
आ. जो रूप-युक्त नहीं हैं—(अरूपिनो)

१२. अ. लौकिक—(लोकिया)
आ. अलौकिक—(लोकुत्तरा)
१३. अ. जो कुछ के द्वारा विज्ञेय हैं—(केनचि विञ्ञेय्या)
आ. जो किसी के द्वारा विज्ञेय नहीं हैं—(केनचि न विञ्ञेय्या)

(३. आस्रव-वर्ग)

१४. अ. जो चित्त-मल हैं—(आसवा)
आ. जो चित्त-मल नहीं हैं—(नो आसवा)
१५. अ. जो चित्त-मल से युक्त हैं—(सासवा)
अ. जो चित्त-मल से युक्त नहीं हैं—(अनासवा)
१६. अ. जिनसे चित्त-मल संलग्न हैं—(आसवसम्पयुत्ता)
आ. जिनसे चित्त-मल संलग्न नहीं हैं—(आसवविप्पयुत्ता)
१७. अ. जो स्वयं चित्त-मल हैं और चित्त-मलों से युक्त भी हैं—(आसवा चेव सासवा च)
आ. जो स्वयं चित्त-मल नहीं हैं किन्तु चित्त-मलों से युक्त हैं—(सासवा चेव नो च आसवा)
१८. अ. जो स्वयं चित्त-मल हैं और जिनसे चित्त-मल संलग्न भी हैं—(आसवा चेव आसवसम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वयं चित्त-मल नहीं हैं, किन्तु जिनसे चित्त-मल संलग्न हैं—(आसवसम्पयुत्ता चेव नो च आसवा)
१९. अ. जो चित्त-मलों से संलग्न न रहने पर भी उनके आधार हैं—(आसव-विप्पयुत्ता सासवा पि)
आ. जो चित्तमलों से संलग्न भी नहीं हैं और उनके आधार भी नहीं हैं—(आसवविप्पयुत्ता अनासवा पि)

(४—संयोजन-वर्ग)

२०. अ. जो चित्त के बन्धन हैं—(संयोजना)
आ. जो चित्त के बन्धन नहीं हैं—(नो संयोजना)
२१. अ. जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं—(संयोजनिया)
आ. जो चित्त-बन्धनों की ओर नहीं ले जाने वाले हैं—(असंयोजनिया)
२२. अ. जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न हैं—(संयोजन-सम्पयुत्ता)

आ. जिनसे चित्त-बन्धन असंलग्न हैं—(संयोजन-विप्पयुत्ता)

२३. अ. जो स्वयं चित्त-बन्धन हैं, और चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले भी हैं—(संयोजना चेव संयोजनिया च)

आ. जो स्वयं चित्त-बन्धन नहीं हैं, किन्तु जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं—(संयोजनिया चेव नो च संयोजना)

२४. अ. जो स्वयं चित्त-बन्धन हैं और जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न भी हैं—(संयोजना चेव संयोजनसंपयुत्ता च)

आ. जो स्वयं चित्त-बन्धन नहीं हैं, किन्तु जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न हैं—(संयोजनसम्पयुत्ता चेव नो च संयोजना)

२५. अ. जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न तो नहीं हैं, किन्तु जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं—(संयोजनविप्पयुत्ता संयोजनिया पि)

आ. जिनसे न तो चित्त-बन्धन संलग्न ही हैं और न जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं—(संयोजनविप्पयुत्ता असंयोजनिया पि)

(५—ग्रन्थ-वर्ग)

२६. अ. जो चित्त की गाँठें हैं—(गन्था)

आ. जो चित्त की गाँठें नहीं हैं—(नो गन्था)

२७. अ. जो चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाली हैं—(गन्थनिया)

आ. जो चित्त की गाँठों की ओर नहीं ले जाने वाली हैं—(अगन्थनिया)

२८. अ. जो चित्त की गाँठों की सहचर हैं—(गन्थ-सम्पयुत्ता)

आ. जो चित्त की गाँठों की सहचर नहीं हैं—(गन्थ-विप्पयुत्ता)

२९. अ. जो स्वयं चित्त की गाँठें हैं और चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाली भी हैं—(गन्था चेव गन्थनिया च)

आ. जो स्वयं चित्त की गाँठें नहीं हैं और न चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाली हैं (गन्थनिया चेव नो च गन्था)

३०. अ. जो स्वयं चित्त की गाँठें हैं और चित्त की गाँठों की सहचर भी हैं—(गन्था चेव गन्थसंपयुत्ता च)

आ. जो स्वयं चित्त की गाँठें नहीं हैं, किन्तु चित्त की गाँठों की सहचर हैं—(गन्थसम्पयुत्ता चेव नो च गन्था)

३१. अ. जो चित्त की गाँठों की सहचर नहीं हैं, किन्तु उनको भविष्य में पैदा करने वाली हैं—(गन्थविप्पयुत्ता गन्थनिया पि)

आ. जो चित्त की गाँठों की सहचर भी नहीं हैं और न
उन्हें भविष्य में पैदा करने वाली ही हैं—(गन्थविप्पयुत्ता अगन्थनिया पि)

(६—ओघ-वर्ग)

३२-३७—ऊपर के समान ही। केवल 'चित्त की गाँठ' की जगह 'ओघ' (बाढ़) का प्रयोग है। (ओघ चार हैं, काम-ओघ, भव-ओघ, (आत्म-) दृष्टि-ओघ और अविद्या-ओघ।

(७—योग-वर्ग)

३८-४३—ऊपर के समान ही। केवल 'चित्त की गाँठ' की जगह 'योग' (आसक्ति) का प्रयोग है। (योग भी चार माने गये हैं, यथा काम-योग, भव-योग, (आत्म-) दृष्टि-योग, एवं अविद्या-योग)

(८—नीवरण-वर्ग)

४४. अ. जो ध्यान के विघ्न हैं —(नीवरणा)
आ. जो ध्यान के विघ्न नहीं हैं —(नो नीवरणा)
४५. अ. जो भविष्य में ध्यान के विघ्नों को
पैदा करने वाले हैं —(नीवरणिया)
आ. जो भविष्य में ध्यान के विघ्नों को
पैदा करने वाले नहीं हैं —(अनीवरणिया)
४६. अ. जो ध्यान के विघ्नों के सहचर हैं—(नीवरणसम्पयुत्ता)
आ. जो ध्यान के विघ्नों के सहचर नहीं हैं—(नीवरणविप्पयुत्ता)
४७. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न हैं और ध्यान के
विघ्नों को पैदा करने वाले भी हैं—(नीवरणा चेव नीवरणिया च)
आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न नहीं हैं, किन्तु जो
ध्यान के विघ्नों को पैदा करने वाले हैं—
(नीवरणिया चेव नो च नीवरणा)
४८. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न हैं और ध्यान के
विघ्नों के सहचर भी हैं—(नीवरणा चेव नीवरण-सम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न नहीं हैं, किन्तु ध्यान के
विघ्नों के सहचर हैं—(नीवरणसम्पयुत्ता चेव नो च नीवरणा)

४९. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्नों के सहचर नहीं हैं. किन्तु
उन्हें पैदा करने वाले हैं—(नीवरणविप्पयुत्ता नीवरणिया पि)
आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्नों के सहचर भी नहीं हैं
और न उन्हें पैदा करने वाले ही हैं–(नीवरणविप्पयुत्ता अनीवरणिया पि)

(९—परामर्श-वर्ग)

५०. अ. जो मिथ्या धारणायें हैं—(परामासा)
आ. जो मिथ्या धारणाएँ नहीं हैं—(नो परामासा)
५१. अ. जो (चित्त की अवस्थाएँ) मिथ्या धारणाओं को
पैदा करने वाली हैं—(परामट्ठा)
आ. जो मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली नहीं हैं—(अपरामट्ठा)
५२. अ. जो मिथ्या धारणाओं की सहचर हैं—(परामाससम्पयुत्ता)
आ. जो मिथ्या धारणाओं की सहचर नहीं हैं—(परामासविप्पयुत्ता)
५३. अ. जो स्वयं मिथ्या धारणायें हैं और मिथ्या धारणाओं
को पैदा करन वाली भी हैं—(परामासा चेव परामट्ठा च)
आ. जो स्वयं मिथ्या धारणाएँ नहीं हैं, किन्तु
मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली
हैं— (परामट्ठा चेव नो च परामासा)
५४. अ. जो स्वयं मिथ्या धारणाओं से विमुक्त हैं,
किन्तु उन्हें पैदा करने वाली हैं—(परामासविप्पयुत्ता परामट्ठा)
आ. जो स्वयं मिथ्या धारणाओं से विमुक्त हैं और
उन्हें पैदा करने वाली भी नहीं हैं—(परामासविप्पयुत्ता अपरामट्ठा)

(१०—विस्तृत मध्यम दुक)

५५. अ. जो धम्म किसी आलम्बन का सहारा लेकर पैदा होते हैं—(सारम्मणा)
आ. जो धम्म किसी आलम्बन का सहारा लेकर नहीं पैदा होते–(अनारम्मणा)
५६. अ. जो चेतना-स्वरूप है—(चित्ता)
आ. जो चेतना-स्वरूप नहीं हैं—(नो चित्ता)
५७. अ. जो चित्त की सहगत अवस्थाएँ हैं—(चेतसिका)
आ. जो चित्त की सहगत अवस्थाएँ नहीं हैं—(अचेतसिका)

५८. अ. जो चेतना से युक्त हैं—(चित्तसम्पयुत्ता)
आ. जो चेतना से युक्त नहीं हैं—(चित्तविप्पयुत्ता)
५९. अ. जो चेतना से संसृष्ट हैं—(चित्तसंसट्ठा)
आ. जो चेतना से संसृष्ट नहीं हैं—(चित्तविसंसट्ठा)
६०. अ. जो चेतना के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं—(चित्तसमुट्ठाना)
आ. जो चेतना के द्वारा उत्पन्न नहीं किये जाते—(नो चित्तसमुट्ठाना)
६१. अ. जो चेतना की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले हैं—(चित्तसहभुनो)
आ. जो चेतना की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले नहीं हैं—(नो चित्तसहभुनो)
६२. अ. जो चेतना के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाते हैं—(चित्तानुपरिवत्तिनो)
आ. जो चेतना के परिवर्तन के साथ परिवर्तित नहीं होते—(नो चित्तानुपरिवत्तिनो)
६३. अ. जो चेतना से संयुक्त हैं और उसी के द्वारा पैदा भी होने वाले हैं—(चित्तसंसट्ठसमुट्ठाना)
आ. जो चेतना से संयुक्त नहीं हैं, किन्तु उसके द्वारा पैदा होने वाले हैं—(नो-चित्तसंसट्ठसमुट्ठाना)
६४. अ. जो चेतना से युक्त हैं, उसके द्वारा पैदा होने वाले हैं और उसके साथ रहने वाले हैं—(चित्त-संसट्ठ-समुट्ठान-सहभुनो)
आ. जो न चेतना से युक्त हैं, न उसके द्वारा पैदा होने वाले हैं और न उसके साथ रहने वाले हैं—(नो चित्त-संसट्ठ-समुट्ठान-सहभुनो)
६५. अ. जो चेतना से युक्त हैं, उसके द्वारा पैदा किये जाते हैं और उसके परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाते हैं—(चित्त-संसट्ठ-समुट्ठानानुपरिवत्तिनो)
आ. जो न चेतना से युक्त हैं, न उसके द्वारा पैदा किये जाते हैं और न उसके परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते हैं—(नो-चित्त-संसट्ठ-समुट्ठानानुपरिवत्तिनो)
६६. अ. जो किसी व्यक्ति के अन्दर स्थित हैं—(अज्झत्तिका)
आ. जो उसके बाहर स्थित हैं—(बाहिरा)

६७. अ. जो पूर्व-कर्मों के परिणाम-स्वरूप अर्जित हैं—(उपादा)
आ. जो पूर्व-कर्मों के परिणाम-स्वरूप अर्जित नहीं हैं—(नो उपादा)
६८. अ. पूर्ववत्—(उपादिन्ना)
आ. " (अनुपादिन्ना)

(११—उपादान-वर्ग)

६९. अ. जो धम्म उपादान (इन्द्रिय द्वारा ग्रहण-स्वरूप) हैं—(उपादाना)
आ. जो धम्म उपादान नहीं हैं—(नो-उपादाना)
७०. अ. जो धम्म उपादान को पैदा करने वाले हैं—(उपादानिया)
आ. जो धम्म उपादान को नहीं पैदा करने वाले हैं—(अनुपादानिया)
७१. अ. जो धम्म उपादान से संलग्न हैं—(उपादानसम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म उपादान से अलग हैं—(उपादानविप्पयुत्ता)
७२. अ. जो धम्म स्वयं उपादान हैं और उपादान को
पैदा करने वाले भी हैं—(उपादाना चेव उपादानिया च)
आ. जो धम्म स्वयं उपादान नहीं हैं, किन्तु उपादान
को पैदा करने वाले हैं—(उपादानिया चेव नो च उपादाना)
७३. अ. जो धम्म स्वयं उपादान हैं और अन्य उपादानों
से संलग्न भी हैं—(उपादाना चेव उपादानसम्पयुत्ता च)
आ. जो धम्म स्वयं उपादान नहीं हैं, (उपादानसम्पयुत्ता चेव नो च
किन्तु अन्य उपादानों से संलग्न हैं— (उपादाना)
७४. अ. जो धम्म स्वयं उपादानों से अलग हैं,
किन्तु उन्हें पैदा करने वाले हैं—(उपादानविप्पयुत्ता उपादानिया पि)
आ. जो धम्म उपादानों से अलग हैं और उन्हें
पैदा करने वाले भी नहीं हैं—(उपादानविप्पयुत्ता अनुपादानिया पि)

(१२—क्लेश-वर्ग)

७५. अ. जो धम्म क्लेश (चित्त-मल—राग, द्वेष, मोहादि)-स्वरूप हैं—(किलेसा)
आ. जो धम्म क्लेश-स्वरूप नहीं हैं—(नो किलेसा)
७६. अ. जो धम्म क्लेश को पैदा करने वाले हैं—(संकिलेसिका)
आ. जो धम्म क्लेश को पैदा करने वाले नहीं हैं—(असंकिलेसिका)

७७. अ. जो धम्म क्लेशों से युक्त हैं—(संकिलिट्ठा)
आ. जो धम्म क्लेशों से युक्त नहीं हैं—(असंकिलिट्ठा)
७८. अ. जो धम्म क्लेशों से संलग्न हैं—(किलेससम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म क्लेशों से संलग्न नहीं हैं—(किलेसविप्पयुत्ता)
७९. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप हैं और क्लेशों को पैदा करने वाले भी हैं—(किलेसा चेव संकिलेसिका)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं हैं, किन्तु क्लेशों को पैदा करने वाले हैं—(संकिलेसिका चेव नो च किलेसा)
८०. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप हैं और अन्य क्लेशों से युक्त भी हैं—(किलेसा चेव संकिलिट्ठा च)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं हैं किन्तु, अन्य क्लेशों से युक्त हैं—(संकिलिट्ठा चेव नो च किलेसा)
८१. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप हैं और अन्य क्लेशों से संलग्न भी हैं—(किलेसा चेव किलेससम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं हैं, किन्तु अन्य क्लेशों से संलग्न हैं—(किलेससम्पयुत्ता चेव नो च किलेसा)
८२. अ. जो स्वयं क्लेश से अलग हैं, किन्तु क्लेशों को पैदा करने वाले हैं—(किलेसविप्पयुत्ता संकिलेसिका)
आ. जो स्वयं क्लेश से अलग हैं और क्लेशों को पैदा करने वाले भी नहीं हैं—(किलेसविप्पयुत्ता असंकिलेसिका)
८३. आ. जो धम्म 'दर्शन' के द्वारा हटाये या नष्ट किये जा सकते हैं—(दस्सनेन पहातब्बा)
आ. जो धम्म 'दर्शन' के द्वारा नहीं हटाये या नष्ट किये जा सकते—(न दस्सनेन पहातब्बा)
८४. अ. जो धम्म 'भावना' के द्वारा हटाये या नष्ट किये जा सकते हैं—(भावनाय पहातब्बा)
अ. जो धम्म 'भावना' के द्वारा हटाये या नष्ट नहीं किये जा सकते—(न भावनाय पहातब्बा)
८५. अ. जिन धम्मों के हेतु 'दर्शन' के द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं—(दस्सनेन पहातब्बहेतुका)

आ. जिन धम्मों के हेतु 'दर्शन' के द्वारा नष्ट नहीं
किये जा सकते—(न दस्सनेन पहातब्बहेतुका)

८६. अ. जिन धम्मों के हेतु 'भावना' के द्वारा
नष्ट किये जा सकते हैं—(भावनाय पहातब्बहेतुका)

आ. जिन धम्मों के हेतु 'भावना' के द्वारा नष्ट
नही किये जा सकते।—(न भावनाय पहातब्बहेतुका)

८७. अ. जिन धम्मों के साथ 'वितर्क' सलग्न है—(सवितक्का)

आ. जिन धम्मों के साथ 'वितर्क' संलग्न नहीं है—(अवितक्का)

८८. अ. जिन धम्मों के साथ 'विचार' संलग्न है (सविचारा)

आ. जिन धम्मों के साथ 'विचार' संलग्न नहीं है—(अविचारा)

८९. अ. जिन धम्मों के साथ 'प्रीति' संलग्न है—(सप्पीतिका)

आ. जिन धम्मों के साथ 'प्रीति' संलग्न नहीं है—(अप्पीतिका)

९०. अ. जो धम्म 'प्रीति' के सहचर हैं—(पीतिसहगता)

आ. जो धम्म 'प्रीति' के सहचर नहीं हैं—(न-पीतिसहगता)

९१. अ. जो धम्म 'सुख' के सहचर हैं—(सुखसहगता)

आ. जो धम्म 'सुख' के सहचर नहीं हैं—(न-सुखसहगता)

९२. अ. जो धम्म 'उपेक्षा' के सहचर हैं—(उपेक्खासहचरा)

आ. जो धम्म 'उपेक्षा' के सहचर नहीं है—(न-उपेक्खासहचरा)

९३. अ. जिन धम्मों का सम्बन्ध कामनाओं के लोक (कामावचर) से है—
(कामावचरा)

आ. जिन धम्मों का सम्बन्ध कामनाओं के
लोक (कामावचर) से नहीं है—(न-कामावचरा)

९४. अ. जिन धम्मों का सम्बन्ध रूप-लोक
(रूपावचर) से है—(रूपावचरा)

आ. जिन धम्मों का सम्बन्ध रूप-लोक (रूपावचर) से नहीं है—(न-
रूपावचरा)

९५. अ. जिन धम्मों का सम्बन्ध अरूप-लोक से है—(अरूपावचरा)

आ. जिन धम्मों का सम्बन्ध अरूप-लोक से नहीं है—(न-अरूपावचरा)

९६. अ. जो धम्म आवागमन के चक्र में निहित हैं—(परियापन्ना)

आ. जो धम्म आवागमन के चक्र में निहित नहीं हैं—(अपरियापन्ना)

९७. अ. जो धम्म निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले हैं—(निय्यानिका)
आ. जो धम्म निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले नहीं हैं—(अनिय्यानिका)
९८. अ. जिन धम्मों के परिणाम सुनिश्चित हैं—(नियता)
आ. जिन धम्मों के परिणाम सुनिश्चित नहीं हैं—(अनियता)
९९. अ. जिनसे आगे बढ़कर भी कुछ धम्म हैं—(स-उत्तरा)
आ. जिनसे आगे बढ़कर और कोई धम्म नहीं हैं—(अनुत्तरा)
१००. अ जो धम्म दुःखदायी पाप-कर्मों से युक्त हैं—(सरणा)
आ. जो धम्म दुःखदायी पाप-कर्मों से युक्त नहीं हैं—(अरणा)

उपर्युक्त १२२ वर्गीकरणों में धम्मों का विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है। वास्तव में इन वर्गीकरणों में भी प्रथम वर्गीकरण (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) ही नैतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। अतः धम्मसंगणि में मानसिक और भौतिक जगत् के सारे तत्वों को प्रधानतः इन्हीं तीन शीर्षकों में पहले विभक्त किया गया है। वहाँ पहले उपर्युक्त तत्वों का विश्लेषण कर यही जिज्ञासा की गई है कि इनमें से कौन से धम्म कुशल हैं, अकुशल हैं, या अव्याकृत हैं। शेष १२१ वर्गों में धम्मों के विश्लेषण को तो अन्त में प्रश्न और उत्तर के रूप में ही संक्षेप में समझा दिया गया है। अतः धम्मसंगणि का मुख्य विषय है धम्मों का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण। धम्मसंगणि की विषय-वस्तु चार कांडों में विभाजित की गई हैं, (१) चित्तुप्पाद-कंड (२) रूप-कंड (३) निक्खेपकंड और (४) अत्थुद्धार-कंड। पहले दो कांडों में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओं का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण है। पहले कांड में कुशल, अकुशल और अशंतः अव्याकृत का विवेचन है और दूसरे कांड में अव्याकृत के अधूरे विवेचन को पूरा किया गया है। तीसरे और चौथे कांडों में इनका संक्षेप है और शेष १२१ वर्गों के स्वरूप को प्रश्नोत्तर के रूप में समझाया गया है। चूंकि धम्मों की गणना कुशल, अकुशल आदि वर्गों में करने के अतिरिक्त स्वयं उनके स्वरूप का भी विश्लेषण धम्मसंगणि में किया गया है, अतः इस दृष्टि से उसके चार कांडों को चित्त, चेतसिक और रूप (जिन तीन वर्गों में उसने धम्मों को उनके स्वरूप भेद की दृष्टि से विभक्त किया है) इन तीन शीर्षकों में भी विभक्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रथम कांड में चित्त, चेतसिक और उनके नाना उपविभागों का एवं दूसरे कांड में रूप (भौतिक-

जगत्का समष्टि-गत रूप) का वर्णन है। तीसरे और चौथे कांडों में यहाँ भी संक्षेप ही हैं। धम्मसंगणि के इस द्विविध विभाग के कारण ही उसके विवेचन में इतनी दुरूहता आ गई है। पहले हम चित्त और उसकी सहगत अवस्थाओं (चेतसिक) के विश्लेषण और कुशल,अकुशल आदि के रूप में उसके विभाजन को,जो पहले कांड में किया गया है, लेते हैं। चित्त का अर्थ है चेतना। चेतना को बौद्ध दर्शन में बड़े व्यापक अर्थ में लिया गया है। भगवान् ने स्वयं कहा है "चेतानाहं भिक्खवे कम्मं वदामि"। अर्थात् "भिक्षुओ! चेतना को ही मैं कर्म कहता हूँ।" इस बुद्ध-वचन से ही समझा जा सकता है कि अभिधम्म में चेतना का इतना सूक्ष्म विश्लेषण क्यों किया गया है। कर्म के शुभ, अशुभ स्वरूपों का चेतना से घनिष्ठ संबंध है, अतः उसका विश्लेषण प्रत्येक पूर्ण आचरण-दर्शन के लिए आवश्यक है। धम्मसंगणि के निर्देशानुसार चित्त की चार भूमियाँ हैं, जिन पर अग्रसर होता हुआ वह इस बहिर्जगत् की चंचलताओं से ऊपर उठकर निर्वाण की ओर अभिमुख होता है। इन चार भूमियों के नाम हैं, कामावचर-भूमि, रूपावचर-भूमि, अरूपावचर-भूमि और लोकोत्तर-भूमि। जिस जीवन और जगत् में हमारा सामान्य जीवन-प्रवाह चलता है, वह कामनाओं का लोक है। यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक हम कामनाओं की पूर्ति में ही लगे रहते हैं। एक कामना दूसरी कामना को जन्म देती है और अन्त में अतृप्त कामनाओं के सम्बल को लेकर ही हम दूसरे जन्म में प्रवेश कर जाते हैं। चित्त की समता यहाँ नहीं मिलती। यही चित्त की कामावचर (कामनाओं में विचरण करने वाली) भूमि है। चित्त की दूसरी भूमि रूपावचर है। रूपावचर-भूमि से तात्पर्य है ध्यान-भूमि पर स्थित चित्त। रूपावचर शब्द ध्यान के अर्थ में पालि-साहित्य में रूढ़ हो गया है। चित्त की इस अवस्था में ध्यान का विषय या 'कर्मस्थान' रूपवान् पदार्थ या बाह्य जगत् का कोई दृश्य पदार्थ ही होता है, अतः इसे रूप-संबंधी चित्त का ध्यान ही कहना चाहिए। चित्त की तीसरी अवस्था में बाह्य दृश्य-पदार्थ के चिन्तन से हटकर चित्त आन्तरिक और किसी रूप-रहित आलम्बन (कर्मस्थान) का चिन्तन करने लगता है, जैसे आकाश की अनन्तता, ज्ञान की अनन्तता, अकिंचनता की अनन्तता या अन्त में ऐसी सूक्ष्म अवस्था जिसमें चेतना के भी होने या न होने का निर्धारण न किया जा सके। यही चित्त की अरूपावचर भूमि है, अर्थात् अरूप-संबंधी चित्त का ध्यान। यहाँ रूप का सर्वथा अस्तंगमन हो जाता है।

चित्त की चौथी अवस्था का नाम है लोकोत्तर-भूमि। यहाँ आते-आते योगी अनित्य, दुःख और अनात्म का चिन्तन करते-करते निर्वाण रूपी आलम्बन पर ध्यान करने लगता है, जिससे उसकी सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। एक-एक करके वह अपने सारे बन्धनों को नष्ट कर डालता है और उसका चित्त उस सर्वोत्तम भूमि में पहुँच जाता है, जो लोकोत्तर है। इस भूमि का संबंध चार आर्य-मार्गों और उनके फलों (स्रोत आपत्ति आदि) से है। यहाँ पहुँचकर फिर तृष्णा या अविद्या के फन्दे में पड़ना नहीं होता। चित्त फिर लोभ, द्वेष और मोह की ओर नहीं लौट सकता। इसीलिए यह भूमि लोकोत्तर है। चित्त की इन चार भूमियों को समझ लेने के बाद हमें चित्त के कुशल, अकुशल और अव्याकृत स्वरूप को कुछ और अधिक समझ लेना चाहिए। फिर चित्त के भेदों को समझना हमारे लिए आसान हो जायगा। कुशल चित्त वह है जो लोभ, द्वेष, मोह आदि से रहित हो। अकुशल चित्त इनसे युक्त होता है। अव्याकृत चित्त वह है जो इच्छा से रहित होता है। या तो यह अत्यन्त स्वाभाविक रूप से पूर्व-जन्म के कर्मों के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होता है जिसमें इच्छा करने या न करने का कोई सवाल ही नहीं होता और इस जन्म के कर्मों से सम्बद्ध न होने के कारण जिसका स्वरूप भी अस्पष्ट और अव्याख्येय (अव्याकृत) होता है, या यह विगत-तृष्ण उस पूर्ण पुरुष (अर्हत्) की चित्तावस्था का सूचक होता है जिसके इस जन्म के कुशल कर्म भी वास्तव में हेतु या इच्छा से रहित होते हैं और जो आगे के लिए विपाक भी पैदा नहीं करते। इसलिए वे भी अव्याकृत या अव्याख्येय होते हैं। इस दृष्टि से अव्याकृत चित्त के दो भाग किये गये हैं, (१) विपाक-चित्त, जो पूर्वजन्म के कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के चित्तों के परिणाम-स्वरूप हो सकते हैं और (२) क्रिया-चित्त, जो अर्हत् की चित्त-अवस्था के सूचक हैं और जिनमें अर्हत् के चित्त की क्रिया-मात्र ही रहती है, पर वास्तव में जो 'निष्क्रिय' होते हैं। पूर्णता-प्राप्त ज्ञानी पुरुष (अर्हत्) का चित्त सक्रिय चेतनात्मक होते हुए भी वह कर्म-विपाक की दृष्टि से निष्क्रिय होता है। चूँकि अर्हत् के सभी कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध कर दिये गये होते हैं, अतः उसका चित्त 'क्रिया' भर करता है, उसका आगे के लिये कोई विपाक या परिणाम नहीं बनता। चित्त की उपर्युक्त चार भूमियों और उसके तीन स्वरूपों में उसकी उन ८९ अवस्थाओं का वर्गीकरण, जो धम्मसंगणि में किया गया है, बड़ी अच्छी प्रकार समझ में आ सकता

है। चित्त की अवस्थाएँ कुल मिलाकर ८९ हैं, जिनमें भूमियों की दृष्टि से ५४ कामावचर-भूमि से संबंधित हैं, १५ रूपावचर-भूमि से संबंधित हैं, १२ अरूपावचर-भूमि से संबंधित हैं और ८ लोकोत्तर-भूमि से संबंधित हैं। कुशल-चित्त की दृष्टि से इन ८९ चित्त की अवस्थाओं में से २१ अवस्थाएँ कुशल-चित्त से संबंधित हैं, १२ अवस्थाएँ अकुशल-चित्त से संबंधित हैं और ५६ अवस्थाएँ (३६ विपाक-चित्त+२० क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त से संबंधित हैं। इनका भी अधिक विश्लेषण करें तो ५४ कामावचर-भूमि की चित्त-अवस्थाओं में से ८ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं, १२ अकुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं और ३४ (२३ विपाक चित्त+११ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त की अवस्थाएँ हैं। १५ रूपावचर-चित्त की अवस्थाओं में से ५ कुशल-चित्त संबंधी अवस्थाएँ हैं और १० (५ विपाक चित्त+५ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त संबंधी अवस्थाएँ हैं। रूपावचर-चित्त भूमि में अकुशल-चित्त की अवस्थाएँ सम्भव नहीं होतीं। १२ अरूपावचर-भूमि की अवस्थाओं में ४ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं और ८ (४ विपाक-चित्त+४ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त की अवस्थाएँ हैं। ८ लोकोत्तर-भूमि की अवस्थाओं में से ४ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं और ४ अव्याकृत चित्त (केवल विपाक-चित्त) की अवस्थाएँ हैं। अरूपावचर और लोकोत्तर भूमियों में भी अकुशल-चित्त का होना संभव नहीं। कुशल-त्रिक की दृष्टि से भी इसी प्रकार का विस्तृत विश्लेषण करें तो २१ कुशल-चित्तों में से ८ कामावचर-भूमि के हैं, ५ रूपावचर-भूमि के हैं, ४ अरूपावचर-भूमि के हैं और ४ ही लोकोत्तर-भूमि के हैं। १२ अकुशल-चित्तों में कुल कामावचर भूमि के ही हैं, क्योंकि अन्य उच्च भूमियों पर अकुशल-चित्त का होना संभव ही नहीं। ५६ अव्याकृत-चित्त की अवस्थाओं में से ३४ (२३ विपाक-चित्त+११ क्रिया-चित्त) कामावचर-भूमि की हैं, १० (५+विपाक-चित्त+५ क्रिया-चित्त) रूपावचर-भूमि की हैं, ८ (४ विपाक-चित्त+४ क्रिया-चित्त) अरूपावचर-भूमि की हैं और ४ लोकोत्तर-भूमि (केवल विपाक-चित्त) की हैं। अभी यह गणना सुबोध नहीं जान पड़ेगी, किन्तु आगे के विवरण से साफ हो जायगी। धम्मसंगणि में चूंकि चित्त के उपर्युक्त ८९ प्रकारों का विश्लेषण उसके कुशल, अकुशल और अव्याकृत रूपों का मूलाधार लेकर ही किया गया है, अतः उसकी पद्धति का ही अनुसरण करते हुए हम इस विषय को स्पष्ट करेंगे। धम्मसंगणि में सर्वप्रथम जिज्ञासा की गई है 'कतमे धम्मा कुसला?' अर्थात

कौन से धर्म कुशल हैं?' इसका जो उत्तर दिया गया है, उसका निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. कुसला धम्मा

(क) कामावचर-भूमि के ८ कुशल-चित्त।

कामनाओं के लोक में विचरण करता हुआ मनुष्य भी अपने चित्त को कुशल बना सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह धीरे-धीरे अपने चित्त को लोभ, द्वेष और मोह से विमुक्त करे। इसके बिना उसका चित्त कुशल या सात्विक नहीं हो सकता। जब कोई साधक शुभ कर्म करता है जिससे उसका चित्त सात्विक बनता है तो कभी तो वह ऐसा अपने मन में ठानकर ज्ञान-पूर्वक करता है, अर्थात् वह ऐसा विचार-पूर्वक, सोच-कर करता है कि ऐसा-ऐसा करने से भविष्य के जीवन में मेरे कर्मों का विपाक कुशल बनेगा। इस प्रकार की उसकी चित्त-अवस्था ज्ञान-संप्रयुक्त या ज्ञानयुक्त कहलाती है। उदाहरणतः, एक मनुष्य बुद्ध-वन्दना करता है और सोचता है कि ऐसा करने से उसका शुभ कर्म-विपाक बनेगा, तो उसका चित्त उस समय ज्ञान-संप्रयुक्त है। किन्तु यदि एक बालक इसी काम को दूसरे के अनुकरण पर करता है, तो उसके इस काम में इस ज्ञान की भावना नहीं है कि यह कर्म उसके लिए शुभ कर्म-विपाक का प्रसवकारी बनेगा। अतः उसका चित्त 'ज्ञान-विप्रयुक्त' या ज्ञान से रहित है। इसी प्रकार यदि कोई कर्म दूसरे की प्रेरणा पर और झिझक-पूर्वक किया जाता है, तो वह 'ससांस्कारिक' (ससंखारिक) है और यदि वह अपनी ही आन्तरिक प्रेरणा और बिना हिचकिचाहट के किया जाता है, तो वह 'असांस्कारिक' (असंखारिक) है। इसी प्रकार कोई कर्म सौमनस्य की भावना से युक्त (सोमनस्स-सहगत) हो सकता है और कोई उपेक्षा की भावना से युक्त (उपेक्खा-सहगत)। इतना समझ लेने पर अब धम्म-संगणि में निर्दिष्ट निम्नलिखित आठ कामावचर-कुशल-चित्तों को देखिए—) यथा—

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक

३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

(ख) रूपावचर-भूमि के ५ कुशल-चित्त—(कामावचर-भूमि से आगे बढ़कर योगी पृथ्वी, जल, तेज आदि २६ रूपवान् पदार्थों को आलम्बन (कर्मस्थान) मानकर ध्यान करता है। इस ध्यान की पाँच क्रमिक अवस्थाएँ होती हैं, जिनका मनोवैज्ञानिक स्वरूप इस प्रकार है—

१.	वितर्क,	विचार,	प्रीति,	सुख	एकाग्रता	वाला प्रथम ध्यान
२.		,,	,,	,,	,,	द्वितीय ध्यान
३.			,,	,,	,,	तृतीय ध्यान
४.				,,	,,	चतुर्थ ध्यान
५.				उपेक्षा	,,	पंचम ध्यान

(समचित्तत्व)

(ग) अ-रूपावचर-भूमि के ४ कुशल-चित्त—(रूपावचर-ध्यान से आगे बढ़कर योगी रूपवान् कर्मस्थानों को छोड़ देता है और रूप-रहित वस्तुओं का ध्यान करने लगता है, जिनकी चार क्रमिक अवस्थाएँ इस प्रकार हैं: (१) अनन्त आकाश का ध्यान, (२) अनन्त विज्ञान का ध्यान, (३) अनन्त आकिंचन्य (शून्यता) का ध्यान और (४) नैव-संज्ञा-नासंज्ञा (चित्त की वह सूक्ष्म अवस्था जिसमें न यह कहा जा सके कि संज्ञा है और न यह कहा जा सके कि संज्ञा नहीं है) का ध्यान। ध्यान की यही चार अवस्थाएँ अरूपावचर कहलाती हैं। अतः इन संबंधी चार कुशल-चित्तों के नाम हैं—)

१. आकाशानन्त्यायतन कुशल-चित्त
२. विज्ञानानन्त्यायतन कुशल-चित्त
३. आकिञ्चन्यायतन कुशल-चित्त
४. नैव-संज्ञा-नासंज्ञायतन कुशल-चित्त

(घ) लोकोत्तर-भूमि के चार कुशल-चित्त (अरूप-समाधि से उठकर योगी फिर अविद्या के प्रभाव में आ सकता है। इससे बचने के लिए उसे आगे ध्यान-साधना करनी होती है। वह धीरे-धीरे चित्त के बन्धनों को हटाता है और अनित्य, दुःख और अनात्म की भावना करता है। ऐसा करते-करते वह चित्त की लोकोत्तर अवस्था में प्रवेश कर जाता है, जिसकी निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हैं—

१. स्रोत आपत्ति-मार्ग-चित्त (जो निर्वाण-गामी स्रोत में पड़ गया है)
२. सकृदागामि-मार्ग-चित्त (जिसे एक बार और जन्म लेना है)
३. अनागामि-मार्ग-चित्त (जिसे अब लौटना नहीं है—अर्थात् जो इसी जन्म में निर्वाण का साक्षात्कार कर लेगा)
४. अर्हत्-मार्ग-चित्त (जिसने निर्वाण का पूर्ण साक्षात्कार कर लिया है।)

२—अकुसला धम्मा

धम्मसंगणि की दूसरी मुख्य जिज्ञासा है, 'कतमे धम्मा अकुसला ?' अर्थात् कौन से धम्म अकुशल हैं ?' इसका जो उत्तर दिया गया है, उसका निष्कर्ष यह है—

(क) लोभ-मूलक आठ अकुशल-चित्त (लोभ के कारण मनुष्य अशुभ कर्म करता है। कभी ऐसा करने में उसे चित्त की प्रसन्नता भी होती है और कभी मात्र उपेक्षा की भावना सी भी रहती है। ये दोनों क्रियाएँ, क्रमशः सौमनस्य से युक्त (सोमनस्ससहगत) और उपेक्षा-युक्त (उपेक्खासहगत) कहलाती हैं, जैसा हम कुशल चित्त के विषय में भी देख चुके हैं। इसी प्रकार लोभ-मूलक कोई बुरा काम किसी मिथ्या-धारणा का सहारा लेकर किया जा सकता है, जैसे यह तो मेरा कर्तव्य ही है आदि (यद्यपि भावना तो उसमें लोभ की ही रहती है) तो उस दशा में यह दृष्टिगत-युक्त (दिट्ठिगत-सम्पयुत्त) कहलायेगा। यदि इस प्रकार की मिथ्या-धारणा का सहारा नहीं लिया गया है, तो वह दृष्टिगत-विप्रयुक्त या मिथ्या-धारणा से मुक्त (दिट्ठिगत-विप्पयुत्त) कहलायेगा। इसी प्रकार दूसरे की प्रेरणा से, झिझकपूर्वक, किये हुए लोभमूलक दुष्कृत्य को 'ससांस्कारिक' (ससंखारिक) कहेंगे और बिना किसी दूसरे की प्रेरणा के और बिना झिझक के साथ किये हुए कर्म को 'असांस्कारिक' (असंखारिक) कहेंगे, जैसा हम कुशल-चित्त के विवेचन में भी पहले देख चुके हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोभ-मूलक अकुशल-चित्त कामनाओं के लोक (कामावचर-

भूमि) में ही हो सकते हैं। इससे आगे उनकी पहुँच नहीं। आठ प्रकार के लोभ-मूलक अकुशल-चित्तों के स्वरूप का परिचय देखिए—

१. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, असांस्कारिक
४. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, असांस्कारिक
८. उपेक्षा के साथ, मिथ्या-धारणा से रहित, ससांस्कारिक

(ख) द्वेष-मूलक दो अकुशल-चित्त

१. दौर्मनस्य के साथ, द्वेष-युक्त, असांस्कारिक
२. दौर्मनस्य के साथ, द्वेष-युक्त, ससांस्कारिक

} चित्त की द्वेषमयी अवस्था में सौमनस्य या उपेक्षा नहीं रह सकती। द्वेष की चंचलतापूर्ण अवस्था में धारणाओं का भी कोई विचरण नहीं होता।

(ग) मोह-मूलक दो अकुशल-चित्त

१. (अज्ञानमय) उपेक्षा के साथ, सन्देह-युक्त
२. उपेक्षा के साथ, उद्धतता से युक्त

} मन की मोह-युक्त अवस्था में असांस्कारिक या ससांस्कारिक होने का सवाल ही नहीं उठता।

३. अब्याकता (या अव्याकता) धम्मा

धम्मसंगणि की तीसरी मुख्य जिज्ञासा है "कतमे धम्मा अब्याकता" अर्थात् कौन से धर्म्म अव्याकृत हैं? इसके उत्तर का निष्कर्ष प्रकार है—

अ—विपाक-चित्त

(क) आठ कुशल विपाक-चित्त—अव्याकृत चित्त के दो भेद हैं, विपाक-चित्त और क्रिया-चित्त, यह हम पहले देख चुके हैं। विपाक-चित्त पूर्व-जन्म के कर्मों के परिणाम-स्वरूप होते हैं। पूर्व-जन्म के शुभ या अशुभ-कर्मों के परिणाम-

स्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनके कुशल-विपाक-चित्त और अकुशल-विपाक-चित्त ये दो स्वरूप होते हैं। आठ कुशल विपाक-चित्त, जो अनुकूल पदार्थों के साथ इन्द्रियों के संनिकर्ष होने के कारण उत्पन्न होते हैं, ये हैं—

१. चक्षु-विज्ञान	उपेक्षा (न-सुख-न-दुःख) से युक्त
२. श्रोत्र-विज्ञान	,,
३. घ्राण-विज्ञान	,,
४. जिह्वा-विज्ञान	,,
५. काय-विज्ञान	सुख या सौमनस्य से युक्त
६. मनोधातु	उपेक्षा से युक्त
७. मनो-विज्ञान-धातु	उपेक्षा से युक्त
८. मनो-विज्ञान-धातु	सुख या सौमनस्य से युक्त

संख्या ६, ७, ८ के कुशल विपाक चित्तों को क्रमशः 'सम्पटिच्छन्न' और 'सन्तीरण' (७, ८) 'अभिधम्मत्थ-संगह' में कहा गया है। सम्पटिच्छन्न (सम्प्रतिच्छन्न) का अर्थ है ग्रहणात्मक विज्ञान और 'सन्तीरण' (सन्तीर्ण) का अर्थ है अनुसन्धानात्मक विज्ञान। चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ उनके विषयों का सन्निकर्ष होने पर चक्षु-विज्ञान आदि उत्पन्न हो जाते हैं। उसके बाद चित्त को किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता की अनुभूति होती है और वह उसे ग्रहण करने के लिए उत्सुक होता है। यही चित्त की अवस्था 'सम्पटिच्छन्न' कहलाती है। जब उसे ग्रहण करने के लिए वह अनुसन्धान करने लगता है, तो यही अवस्था 'सन्तीरण' कहलाती है। इन सब व्यापारों में द्रष्टा को अपने आप की चेतना नहीं होती। ये सब व्यापार सुषुप्त चेतना या अर्द्धचेतना की अवस्था में होते हैं। अतः इन विज्ञानों का कोई हेतु नहीं होता। वे पूर्व जन्मों के शुभ या अशुभ कर्मों के परिणाम-स्वरूप ही उद्भूत होते हैं। इस आरम्भिक अवस्था में उनमें सुख या दुःख की वेदना का भी सवाल नहीं उठता। वे उपेक्षा (न-सुख-न-दुःख) की वेदना से युक्त होते हैं। काय-विज्ञान अवश्य सुख या दुःख की वेदना से युक्त होता है।

(ख) आठ कामावचर विपाक-चित्त (पूर्वजन्म के कुशल-चित्तों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाले विपाक-चित्त भी उनके समान ही संख्या में आठ हैं, यथा—

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-सम्प्रयुक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

(ग) सात अकुशल विपाक-चित्त (पूर्व जन्म के अशुभ-कर्मों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न)

१. चक्षु-विज्ञान	उपेक्षा (न-दुःख-न-सुख) से युक्त
२. श्रोत्र-विज्ञान	,,
३. घ्राण-विज्ञान	,,
४. जिह्वा-विज्ञान	,,
५. काय-विज्ञान—	दुःख या दौर्मनस्य से युक्त
६. मनोधातु (सम्पटिच्छन्न)	उपेक्षा से युक्त
७. मनोविज्ञान-धातु (सन्तीरण)	,,

(घ) पाँच रूपावचार विपाक-चित्त—रूपावचर-भूमि के पाँच कुशल-चित्तों के परिणाम- (विपाक) स्वरूप ही दूसरे जन्म में पाँच विपाक-चित्त उत्पन्न होते हैं। अतः उनका स्वरूप भी पूर्वोक्त कुशल-चित्तों के अनुरूप ही है यथा—

१. वितर्क,	विचार,	प्रीति	सुख	और एकाग्रता	से युक्त प्रथम	विपाक-चित्त
२.	,,	,,	,,	,,	द्वितीय	विपाक-चित्त
३.		,,	,,	,,	तृतीय	विपाक-चित्त
४.			,,	,,	चतुर्थ	विपाक-चित्त
५.			उपेक्षा	,,	पंचम	विपाक-चित्त

(ङ) चार अरूपावचर विपाक-चित्त—अरूपावचर-भूमि के चार कुशल-चित्तों के विपाक-स्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनके समान ही हैं, यथा—

१. आकाशानन्त्यायतन विपाक-चित्त
२. विज्ञानानन्त्यायतन विपाक-चित्त
३. आकिंचन्यायतन विपाक-चित्त
४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन विपाक-चित्त

(च) चार लोकोत्तर विपाक-चित्त—लोकोत्तर-भूमि के चार मार्ग-चित्तों के परिणामस्वरूप दूसरे जन्म में चार फल-चित्त उत्पन्न होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. स्रोत आपत्ति-फल-चित्त (स्रोत आपत्ति के फल को प्राप्त करने की चेतना)
२. सकृदागामि-फल-चित्त (सकृदागामि-फल को प्राप्त करने की चेतना)
३. अनागामि-फल-चित्त (इसी जन्म में निर्वाण के साक्षात्कार रूपी फल को प्राप्त करने की चेतना)
४. अर्हत्व-फल-चित्त (अर्हत्व-फल प्राप्ति की चेतना)

आ—क्रिया-चित्त

क. तीन अहेतुक क्रिया-चित्त

क्रिया-चित्त उसे कहते हैं जो न स्वयं पूर्व जन्मों के कर्मों का विपाक होता है और न भविष्य के कर्मों का विपाक बनता है। उसमें केवल 'क्रिया-मात्र' (करण-मत्त) रहती है। वास्तव में तो वह 'निष्क्रिय' ही होता है, क्योंकि उसका कोई विपाक नहीं बनता। वह इतना स्वाभाविक होता है कि उसका कोई हेतु भी नहीं दिखाया जा सकता। उदाहरणतः पूर्णता-प्राप्त मनुष्य (अर्हत्) की हँसी। इसी-लिए उसे अहेतुक भी कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं जैसे—

१. मनोधातु—उपेक्षा से युक्त।
२. मनोविज्ञान-धातु—उपेक्षा से युक्त (सभी प्राणियों में पाया जाता है)
३. मनोविज्ञान-धातु—सुख या सौमनस्य से युक्त (केवल अर्हत् में पाया जाता है)

'अभिधम्मत्थसंगह' में इन तीन क्रिया-चित्तों को क्रमशः पंचद्वारावज्जन चित्त (इन्द्रिय रूपी पाँच द्वारों की ओर प्रवण होने वाला, बाहरी पदार्थ से उनका संनि-कर्ष होने पर), मनोद्वारावज्जन चित्त (मन के द्वार की ओर प्रवण होने वाला) और हसितुप्पाद-चित्त (अर्हत् के हँसने की क्रिया वाला चित्त) कहा है। अर्हत्

का हँसना नितान्त स्वाभाविक अर्थात् अहेतुक होता है। न वह स्वयं किसी का विपाक होता है और न उसका आगे कोई विपाक बनता है।

ख. कामावचर-भूमि के ८ क्रिया-चित्त

कामावचर-भूमि के ८ कुशल-चित्तों का उल्लेख पहले हो चुका है। साधारण अवस्था में उनका विपाक भी दूसरे जन्म में होता है। किन्तु अर्हत् की जीवन-क्रियाएँ तो किसी विपाक को पैदा करती नहीं। उनमें वासना या तृष्णा का सर्वथा अभाव रहता है। अतः ये क्रियाएँ जैसे दग्ध हो जाती हैं। अतः पूर्वोक्त ८ कुशल-चित्त ही अर्हत् की जीवन-दशा से सम्बन्धित होकर आठ क्रिया-चित्त बन जाते हैं, अर्थात् वे अपने विपाक बनने के स्वभाव को छोड़ देते हैं। उनका बाहरी स्वरूप तो यहाँ भी पहले जैसा ही है, यथा—

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

ग. रूपावचर-भूमि के पाँच क्रिया-चित्त—ये चित्त भी पूर्वोक्त रूपावचर-भूमि के ५ कुशल-चित्तों और विपाक-चित्तों के समान हैं, अन्तर केवल इतना है कि क्रिया-चित्त होने की अवस्था में ये अर्हत् के चित्त की अवस्था के सूचक हैं, अतः भविष्य में विपाक पैदा नहीं करते। अर्हत् भी इन पाँच ध्यान की अवस्थाओं को प्राप्त करता है, किन्तु ये उसके लिये विपाक पैदा नहीं करतीं। इनका उल्लेख पहले दो बार हो चुका है, अतः यहाँ अनावश्यक है।

घ. अरूपावचर-भूमि के चार क्रिया-चित्त—ये चित्त भी पूर्वोक्त अरूपावचर-भूमि के ४ कुशल-चित्तों और विपाक-चित्तों के समान हैं। अन्तर भी यही है कि क्रिया-चित्त होने की अवस्था में ये अर्हत् के चित्त की अवस्था के सूचक हैं, अतः भविष्य में विपाक पैदा नहीं करते। अर्हत् अरूप-लोक की इन चार

अवस्थाओं को प्राप्त करता है, किन्तु ये उसके लिये विपाक पैदा नहीं करतीं। इनका भी उल्लेख पहले दो बार हो चुका है, अतः यहाँ पुनरावृत्ति करना निरर्थक है।

उपर्युक्त प्रकार चित्त के ८९ प्रकारों का कुशल, अकुशल और अव्याकृत चित्तों के रूप में उनकी उपर्युक्त ४ भूमियों पर विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है। अधिक सुगम बनाने के लिये इनका इस तालिका के द्वारा अध्ययन किया जा सकता है—

चित्त-विभेदों का कुशल, अकुशल आदि शीर्षकों में विश्लेषण करने के साथ-साथ 'धम्मसंगणि' में चित्त की उन अवस्थाओं (चेतसिक) का भी विश्लेषण किया गया है, जो किसी विशेष प्रकार के चित्त के साथ ही उत्पन्न और निरुद्ध होती रहती हैं और जिनके आलम्बन और इन्द्रिय भी उसके समान ही होते हैं। इन्हें 'चेतसिक' कहते हैं। 'चेतसिक' संख्या में कुल ५२ हैं, जिनमें १३ ऐसे हैं जो सामान्य ('अन्य-समान') हैं अर्थात् जो सभी प्रकार के चित्तों में पाये जाते हैं। इन तेरह में भी ७ तो अनिवार्यतः सब चित्तों में पाये जाते हैं, और ६ प्रकीर्ण हैं, अर्थात् वे कभी पाये जाते हैं, कभी नहीं। २५ चेतसिकों का एक वर्ग 'शोभन चेतसिक' कहलाता है, जिनमें १९ चेतसिक ऐसे हैं जो सभी कुशल-चित्तों में पाये जाते हैं और ६ ऐसे हैं जो सब में नहीं पाये जाते। १४ चेतसिक 'अकुशल' हैं, अर्थात् वे केवल अकुशल-चित्त में ही पाये जाते हैं। उनमें भी ४ मूलभूत अकुशल चेतसिक हैं, जो सभी अकुशल चित्तों में पाये जाते हैं। बाकी १० अकुशल चेतसिक ऐसे हैं जो सब अकुशल-चित्तों में नहीं पाये जाते। इनका वर्गीकरण इस प्रकार आसानी से समझा जा सकता है—

५२ चेतसिक या चित्त की सहगत अवस्थाएँ

१—१३ अन्य-समान (सभी चित्तों में सामान्यतः पाये जाने वाले) चेतसिक

अ-७ सर्व-चित्त-साधारण अर्थात् अनिवार्यतः सब चित्तों में पाये जाने वाले, जैसे कि

१. स्पर्श (फस्सो)
२. वेदना (वेदना)
३. संज्ञा (सञ्ञा)
४. चेतना (चेतना)

५. एकाग्रता (एकग्गता)
६. जीवितेन्द्रिय (जीवितिन्द्रियं)
७. मनसिकार या मनस्कार (मनसिकारो)

आ ६. प्रकीर्णक अर्थात् जो किसी चित्त में पाये जाते हैं, किसी में नहीं, जैसे कि

८ वितर्क (वितक्को)
९. विचार (विचारो)
१०. अधिमोक्ष (निश्चय) (अधिमोक्खो)
११. वीर्य (विरियं)
१२. प्रीति (पीति)
१३. छन्द (इच्छा) (छन्दो)

२. २५ शोभन चेतसिक, जो सामान्यतः कुशल-चित्त और उनके अनुरूप अव्याकृत-चित्तों में पाये जाते हैं—

अ. १९ 'शोभन-चित्त-साधारण' अर्थात् सभी कुशल-चित्तों में पाई जाने वाली चित्त की अवस्थाएँ

१४. श्रद्धा (सद्धा)
१५. स्मृति (सति)
१६. ह्री (हिरि—नैतिक लज्जा, पाप-संकोच)
१७. अवत्रपा या अपत्रप्य (ओत्तप्पं—पाप-भय)
१८. अलोभ (अलोभो)
१९. अद्वेष (अदोसो)
२०. तत्रमध्यस्थता (तत्रमज्झत्तता-समचित्तत्व)
२१. काय-प्रश्रब्धि (कायप्पस्सद्धि—काया की शान्ति)
२२. चित्त-प्रश्रब्धि (चित्तप्पस्सद्धि—चित्त की शान्ति)
२३. कायलघुता (कायलहुता—शरीर का हल्कापन)
२४. चित्त-लघुता (चित्तलहुता—चित्त का हल्कापन)
२५. कायमृदुता (कायमुदुता)
२६. चित्तमृदुता (चित्तमुदुता)
२७. कायकर्मज्ञता (कायकम्मञ्ञता)
२८. चित्तकर्मज्ञता (चित्तकम्मञ्ञता)
२९. कायप्रागुण्य (कायपागुञ्ञता)

३०. चित्तप्रागुण्य (चित्तपागुञ्ञता)

३१. काय-ऋजुता (कायुजुकता—काया की सरलता)

३२. चित्त-ऋजुता (चित्तुजुकता—चित्त की सरलता)

आ. ६ शोभन-चेतसिक जो किन्हीं कुशल-चित्तों में पाये जाते हैं, किन्हीं में नहीं, यथा

३३. सम्यक् वाणी (सम्मावाचा-वाचिक दुश्चरितों से विरति) } इन तीनों
३४. सम्यक् कर्मान्त (सम्माकम्मन्तो-कायिकदुश्चरितों से विरति) } को विरति
३५. सम्यक् आजीव (सम्मा आजीवो-जीविका संबंधी दुश्चरितों से विरति) } कहते हैं

३६. करुणा } इन दोनों को अ-परिमाण (परिमाण-रहित) कहते हैं
३७. मुदिता } क्योंकि इन्हें किसी हद तक बढ़ाया जा सकता है।

३८. प्रज्ञा-इन्द्रिय (पञ्ञिन्द्रियं-अमोह)

३. १४ अकुशल चेतसिक जो सामान्यतः अकुशल-चित्तों में पाये जाते हैं, जिनमें

अ. ४ मूल-भूत अकुशल चेतसिक जो सभी अकुशल-चित्तों में अनिवार्यतः पाये जाते हैं। यथा

३९. मोह (मोहो)

४०. अ-ह्रीकता (अहिरिकं-दुश्चरितों से लज्जा न करना)

४१. अन्-अवत्रपा (अनोत्तप्पं—कुकर्मों से त्रास न मानना)

४२. उद्धतता (उद्धच्चं-चंचलता)

आ. १० अकुशल-चेतसिक जो किन्हीं अकुशल-चित्तों में पाये जाते हैं किन्हीं में नहीं, यथा

४३. द्वेष (दोसो)

४४. ईर्ष्या (इस्सा)

४५. मात्सर्य (मच्छरियं-कृपणता)

४६. कौकृत्य (कुक्कुच्चं-दुश्चरित के बाद सन्ताप या चिन्ता)

४७. लोभ (लोभो)

४८. मिथ्या धारणा (दिट्ठि-दृष्टि)

४९. मान (मानो-गर्व)

५०. कायिक-आलस्य (थीनं-स्त्यान)

५१. मानसिक आलस्य (मिद्धं, मृद्ध)

५२. विचिकित्सा (विचिकिच्छा-सन्देह)

चित्त के ८९ विभेदों में से प्रत्येक में कौन-कौन से चेतसिक उपस्थित रहते हैं, इसका विस्तृत विवेचन, अनेक पुनरुक्तियों के साथ, 'धम्मसंगणि' में किया गया है। उसकी शैली को समझने के लिये चेतसिकों की इस विस्तृत सूची को देखिये, जिसे 'धम्मसंगणि' ने कामावचर-भूमि के कुशल-चित्त के प्रथम भेद (देखिये ऊपर चित्त-विभेद की तालिका) से ही सम्बन्धित किया है। प्रथम प्रकार के चित्त को लक्ष्य कर 'धम्मसंगणि' कहती है "जिस समय कामावचर-लोक से सम्बन्धित कुशल चित्त उत्पन्न होता है, ज्ञान और सौमनस्य से सम्प्रयुक्त, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श या धम्म के आलम्बन (विषय) को लेकर, तो उस समय[1]

१. (१) फस्सो होति, (२) वेदना होति (३) सञ्ञा होति (४) चेतना होति (५) चितं होति ।

२. (६) वितक्को होति (७) विचारो होति (८) पीति होति (९) सुखं होति (१०) चित्तस्सेकग्गता (चित्त की एकाग्रता) होति ।

३. (११) सद्धिन्द्रियं (श्रद्धा-इन्द्रिय) होति (१२) विरियिन्द्रियं (वीर्य-इन्द्रिय) होति (१३) सतिन्द्रियं (स्मृति-इन्द्रिय) होति (१४) समाधिन्द्रियं होति (१५) पञ्ञान्द्रियं (प्रज्ञा-इन्द्रिय) होति (१६) मनिन्द्रियं (मन-इन्द्रिय) होति (१७) सोमनस्सिन्द्रियं (सौमनस्य-इन्द्रिय) होति (१८) जीवितिन्द्रियं होति ।

४. (१९) सम्मादिट्ठि (सम्यक् दृष्टि) होति (२०) सम्मासंकप्पो (सम्यक् संकल्प) होति (२१) सम्मा वायामो (सम्यक् व्यायाम) होति (२२) सम्मा-सति (सम्यक् स्मृति) होति (२३) सम्मा समाधि (सम्यक् समाधि) होति।

५. (२४) सद्धा-बलं (श्रद्धा रूपी बल) होति (२५) विरिय-बलं (वीर्य रूपी बल) होति, (२६) सति-बलं (स्मृति रूपी बल) होति (२७) समाधि-बलं होति (२८) पञ्ञा-बलं (प्रज्ञा रूपी बल) होति (२९) हिरिबलं (नैतिक लज्जा (ह्री) रूपी बल) होति (३०) ओत्तप्पबलं (पाप-भय रूपी बल) होति

६. (३१) अलोभो होति (३२) अदोसो होति (३३) अमोहो होति (३४)

---

१. यस्मिं समये कामावचरं कुसलं चित्तं उत्पन्नं होति सोमनस्ससहगतं ञाण-सम्पयुत्तं रूपारम्मणं वा सद्दारम्मणं वा गन्धारम्मणं वा रसारम्मणं वा फोट्ठब्बारम्मणं वा धम्मारम्मणं वा तस्मिं समये.....

अनभिज्झा (अद्रोह) होति (३५) अब्यापादो (अ-वैर) होति (३६) सम्मादिट्ठि होति।

७. (३७) हिरि (ह्री-नैतिक लज्जा) होति (३८) ओत्तप्पं (पाप-भय) होति।

८. (३९) काय-पस्सद्धि (काय-प्रश्रब्धि-काया की शान्ति) होति।
(४०) चित्त-पस्सद्धि होति (४१) काय-लहुता होति (४२) चित्त-लहुता होति (४३) काय-मुदुता होति (४४) चित्त-मुदुता होति (४५) काय-कम्मञ्ञता (काया के कर्मों का ज्ञान) होति। (४६) चित्त-कम्मञ्ञता होति (४७) काय-पागुञ्ञता होति (४८) चित्त-पागुञ्ञता होति (४९) कायु-जुकता। होति (५०) चित्तुजुकता होति।

९. (५१) सति होति (५२) सम्पजञ्ञं होति।

१०. (५३) समथो होति (५४) विपस्सना होति।

११. (५५) पग्गहो (निश्चय) होति (५६) अविक्खेपो (चित्त-शान्ति का भंग न होना) होति।

उपर्युक्त ५६ चित्त-अवस्थाओं में बहुत पुनरुक्ति की गई है। २, ९ और १७; ५ और १६; ६ और २०; १०, १४, २३, २७, ५३ और ५६; ११ और १४; १२; २१, २५ और ५५; १३, २२, २६ और ५१; १५, १९, २८, ३३, ३६, ५२ और ५४; २९ और ३७; ३१ और ३४ तथा ३२ और ३५ संख्याओं की अवस्थाएँ समान ही हैं। अतः समान अवस्थाओं को निकाल देने पर शेष ३१ रह जाती हैं। 'धम्मसंगणि' में इस प्रकार के विस्तार बहुत अधिक हैं और उनकी संगति केवल विभिन्न दृष्टियों से किये गये वर्गीकरणों के आधार पर ही लगाई जा सकती है। कुशल चित्त के प्रथम भेद के अलावा उसके शेष २० भेदों की सहगत-अवस्थाओं की भी गणना उसी के आधार पर की गई है। यही पद्धति बाद में कामावचर-भूमि के अकुशल-चित्त के १२ भेदों के विषय में तथा उसके बाद विपाक-चित्त की चारों भूमियों के ३६ भेदों के विषय में और अन्त में क्रिया-चित्त की तीन भूमियों (कामावचर, रूपावचर, और अरूपावचर) के २० भेदों के विषय में प्रयुक्त की गई है। इन सबका विस्तृत विवरण अभिधम्म के पूरे दर्शन को समझने के लिये आवश्यक है, किन्तु पालि साहित्य के इतिहास में तो इनका अपेक्षाकृत गौण स्थान ही हो सकता है। अतः यहाँ केवल मोटी रूपरेखा उपस्थित कर 'धम्मसंगणि' में जिस शैली में उनका निरूपण किया गया है,

उसका दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है।[1] संक्षेप में चित्त और चेतसिकों के सम्बन्ध का स्वरूप इस नीचे दी हुई तालिका से समझ में आ सकता है—

अ—कुशल-चित्त

चित्तों की क्रम-संख्या	चेतसिकों की संख्या, जो उनके अन्दर पाये जाते हैं
(पहले दी हुई तालिका के अनुसार)	
१ एवं २	१३ अन्य समान + २५ शोभन = ३८
३ एवं ४	उपर्युक्त ३८ में से ज्ञान को घटाकर = ३७
५ एवं ६	उपर्युक्त ३८ में से प्रीति को घटाकर = ३७
७ एवं ८	उपर्युक्त ३८ में से ज्ञान और प्रीति दोनों को घटाकर = ३६
९	उपर्युक्त ३८ में से ३ विरतियों (सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव) को घटाकर = ३५
१०	उपर्युक्त ३५ में से वितर्क को घटाकर = ३४
११	उपर्युक्त ३४ में से विचार को घटाकर = ३३
१२	उपर्युक्त ३३ में से प्रीति को घटाकर = ३२
१३	उपर्युक्त ३२ में से करुणा और मुदिता (दो अ-प्रमाण) को घटाकर = ३०
१४-१७	उपर्युक्त के समान ही = ३०
१८-२१	प्रथम ३८ में से करुणा और मुदिता को घटाकर = ३६

---

१. चित्त और चेतसिकों के सम्बन्ध के विस्तृत और क्रमबद्ध निरूपण के लिए देखिए भिक्षु जगदीश काश्यपः अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द, पहली, पृष्ठ ६८-११०; जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६८-८७; महास्थविर ज्ञानातिलोक (गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ६-१३) ने विशेषतः निरूपण शैली की दृष्टि से ही विवरण दिया है, अतः वह पूर्ण और क्रम-बद्ध नहीं है, किन्तु उनकी दी हुई सूचियाँ और तालिकाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

आ—अकुशल—चित्त

लोभ मूलक ८	२२	१३ अन्य-समान+४ मूलभूत अकुशल+लोभ+मिथ्या दृष्टि =१९
	२३	उपर्युक्त १९+स्त्यान और मृद्ध (कायिक और मानसिक आलस्य) =२१
	२४	उपर्युक्त १९+मान--मिथ्या-दृष्टि =१९
	२५	उपर्युक्त २१+मान—मिथ्या-दृष्टि =२१
	२६	उपर्युक्त संख्या २२ के १९—प्रीति =१८
	२७	उपर्युक्त १९—प्रीति—मिथ्यादृष्टि+मान =१८
	२८	उपर्युक्त १९—प्रीति—मिथ्या-दृष्टि +मान =१८
	२९	उपर्युक्त १९--प्रीति+स्त्यान+मृद्ध =२०
द्वेष मूलक २	३०	उपर्युक्त १९—प्रीति—लोभ—मिथ्या-दृष्टि +द्वेष+ईर्ष्या+मात्सर्य+कौकृत्य (चिन्ता) =२०
	३१	उपर्युक्त २०+स्त्यान+मृद्ध =२२
मोह मूलक २	३२	१० अन्य-समान (प्रीति, अधिमोक्ष, छन्द, ये तीन कुल संख्या में से छोड़ दी गई हैं)+मोह+अहिरिक+अनोत्तप्प+उद्धच्च +विचिकिच्छा =१५
	३३	उपर्युक्त १५—विचिकिच्छा+ अधिमोक्खो =१५

इ—अव्याकृत-चित्त

(क) कर्म-विपाक

३४-३८ एवं ५०-५४ भी	७ सर्वचित्त-साधारण =७
३९ एवं ५५ एवं ४१ और ५६ भी	" उपर्युक्त ७+वितर्क+विचार+ अधिमोक्ष =१०
४०	१३ अन्य समान में से छन्द और प्रीति को घटाकर=११
४२-४९	=१-८, किन्तु—करुणा—मुदिता—सम्यक् वाणी—सम्यक् कर्म—सम्यक् कर्म—सम्यक् आजीव
५७-६९	=९-२१

(ख) क्रिया-चित्त

७०	= ३९
७१-७२	१३ में से छन्द और प्रीति को घटाकर =११
७३-८०	=१-८, किन्तु सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म एवं सम्यक् आजीव को घटाकर
८१-८९	= ९–१७[1]

'धम्मसंगणि' के प्रथम अध्याय या कांड (चित्तुप्पादकंड) की विषय-वस्तु और शैली का परिचय ऊपर दिया गया है। वास्तव में 'धम्मसंगणि' का यही भाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। दूसरा अध्याय 'रूप-कंड' एक प्रकार इसी का पूरक है। प्रथम कांड में कुशल, अकुशल और अव्याकृत का वर्णन है। रूप भी अव्याकृत के अन्दर ही आता है। इसका वर्णन इस दूसरे कांड में किया गया है। रूप का अर्थ है चार महाभूत और उनसे निर्मित सारा वस्तुजगत्। 'धम्मसंगणि' में कहा गया है 'चत्तारो च महाभूता चतुन्नं च महाभूतानं उपादाय रूपं, इदं वुच्चति सब्बं रूपं'। अर्थात् चार महाभूत और चार महाभूतों के उपादानों से उत्पन्न सारा दृश्य रूपात्मक जगत्, यही कहलाता है रूप। इस प्रकार निर्दिष्ट रूप का वर्गीकरण ही इस कांड का प्रधान विषय है। १०४ प्रकार के दुक, १०३ प्रकार के त्रिक, २२ प्रकार के चतुष्क और इसी प्रकार ग्यारह तक अन्य अनेक प्रकार के वर्गीकरण में दृश्य जगत् को यहाँ बाँटा गया है।[2] इन वर्गीकरणों में कुछ ऐसी प्रभावशीलता या मौलिकता नहीं है, जिसके लिए यहाँ इनका उद्धरण आवश्यक हो। शैली प्रायः वैसी ही है जैसी प्रथम कांड में।

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'धम्मसंगणि' के तीसरे और चौथे कांडों में पूर्व विवेचित वस्तु के ही संक्षेप हैं और अधिकतर प्रश्नोत्तर के रूप में धम्मों के स्वरूप को उन वर्गीकरणों में भी, जिनको पहले नहीं लिया जा सका है, समझा दिया गया है। तीसरे कांड (निक्खेप कंड) और चौथे कांड (अत्थु-

---

१. देखिए ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १२ के सामने दी हुई तालिका

२. देखिए भिक्षु जगदीश काश्यपः अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९०-९४।

द्वारकंड) में शेष २१ त्रिकों और १०० द्विकों में धम्मों का क्या स्वरूप होगा, इसी को प्रश्नोत्तर के द्वारा समझाया गया है। 'निक्खेपकंड' के कुछ प्रश्नोत्तर लीजिये —

(१) कतमे धम्मा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ?

यस्मिं समये कामावचरं कुसल चित्तं उप्पन्नं होति सोमनस्ससहगतं ञाणसम्पयुत्तं रूपारम्मणं वा सद्दारम्मणं वा गन्धारम्मणं वा रसारम्मणं वा फोट्ठब्बारम्मणं वा धम्मारम्मणं वा ये वा पन तस्मिं समये अञ्ञेपि पटिच्चसमुप्पन्ना अरूपिनो धम्मा ठपेत्वा वेदनाक्खन्धं, इमे धम्मा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता[1]।

(२) कतमे धम्मा कुसला ?

तीणि कुसलमूलानि—अलोभो, अदोसो, अमोहो, तंसम्पयुत्तो वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, तंसमुट्ठानं कायकम्मं, वचीकम्मं, मनोकम्मं, इमे धम्मा कुसला।[2]

(३) कतमे धम्मा सप्पच्चया ?

पञ्चक्खन्धा, रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, इमे धम्मा सप्पच्चया।[3]

(४) कतमे धम्मा अप्पच्चया ?

---

१. कौन से धर्म (पदार्थ) सुख की वेदना से युक्त हैं? जिस समय कामावचर-भूमि में कुशल-चित्त उत्पन्न होता है, सौमनस्य और ज्ञान से युक्त, एवं रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म का आलम्बन ले कर, तो उस समय वह और अन्य भी प्रतीत्यसमुत्पन्न अरूपवान् पदार्थ, वेदना-स्कन्ध को छोड़ कर, जो उस समय पैदा होते हैं, वे सभी सुख की वेदना से युक्त धर्म (पदार्थ) हैं।

२. कौन से धर्म कुशल हैं? तीन कुशल-मूल, यथा अलोभ, अद्वेष, अमोह, इनसे युक्त तीन स्कन्ध, यथा वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, इनसे उत्पन्न तीन प्रकार के कर्म, यथा कायिक कर्म, वाचिक कर्म, मानसिक कर्म, यही सब धर्म कुशल हैं।

३. कौन से धर्म प्रत्ययों वाले हैं? पाँच स्कन्ध, जैसे कि रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, विज्ञान-स्कन्ध, यही धर्म प्रत्ययों वाले हैं।

असंखता धातु। इमे धम्मा अप्पच्चया[1]।

'अत्थुद्धार-कंड' के भी कुछ उदाहरण देखिये—

(१) कतमे धम्मा हेतू चेव सहेतुका च ?

यत्थ द्वे तयो हेतू एकतो उप्पज्जन्ति, इमे धम्मा हेतू चेव सहेतुका च[2]।

निःसन्देह 'धम्मसंगणि' की गणनात्मक शैली इतनी विचित्र है कि साहित्य का सामान्य विद्यार्थी उसमें रुचि नहीं ले सकता। उसमें तो 'कर्म' और 'अकर्म' के स्वरूप का गवेषी और उसके तत्वों को गूढ़ चेतना की तह और उसकी सारी भूमियों में ढूँढ़ने को उद्यत कोई साहित्यिक भिक्षु ही प्रवेश कर सकता है। क्या कुशल है और क्या अकुशल है, इनमें से किसी को भी स्वीकार कर लेने पर चित्त की क्या प्रगतियाँ अथवा अधोगतियाँ होती हैं, उनके क्या मानसिक निदान और लक्षण होते हैं, क्या प्रतिकार होते हैं, उनमें से क्या हेय हैं या क्या ग्राह्य हैं, इन सब की निष्पक्ष और मनोवैज्ञानिक गवेषणा मनुष्य को किसी भावी नैतिक चेतना-प्रधान युग में जब अभिप्रेत होगी तो 'धम्मसंगणि' की पक्तियों के आलवालों में फिर मणियों और मोतियों के थाले बनेंगे। अभी तो हमने जहाँ कहीं से चुने हुए कुछ पुष्पों से उसकी अर्चना की है, जो भी इस किं-कुशल-गवेषणा-विहीन युग में कहीं अधिक है।

विभंग[3]

विभंग अभिधम्म-पिटक का दूसरा ग्रन्थ है! 'विभंग' का अर्थ है विस्तृत रूप से विभाजन या विवरण। इसी अर्थ में यह शब्द भद्देकरत्त-सुत्तन्त (मज्झिम-

---

१. कौन से धर्म प्रत्ययों वाले नहीं हैं? असंस्कृत धातु। यही धर्म प्रत्ययों वाले नहीं हैं।

२. कौन से धर्म स्वयं हेतु भी हैं और अन्य हेतुओं से युक्त भी हैं? जहाँ दो-तीन हेतु एक जगह उत्पन्न होते हैं, तो यही धर्म स्वयं हेतु भी हैं और अन्य हेतुओं से युक्त भी हैं।

उपर्युक्त तथा अन्य पालि उद्धरणों के लिए देखिए भिक्षु जगदीश काश्यपः अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९५-१०३

३. श्रीमती रायस डेविड्स् ने इस ग्रन्थ का सम्पादन रोमन लिपि में पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लंदन, के लिए किया है, जिसे उक्त सोसायटी ने सन् १९०४ ई० में

३।४।१) में प्रयुक्त किया गया है। "भिक्षुओ ! तुम्हें भद्देकरत्त (भद्रैकरक्त) के उद्देश (नाम-कथन) और विभंग (विभाग) का उपदेश करता हूँ, उसे सुनो अच्छी तरह मन में करो।" विभंग में धम्मसंगणि के ही बृहद् विश्लेषण को वर्ग-बद्ध किया गया है, अतः यह उसका पूरक ग्रन्थ ही माना जा सकता है। धम्मसंगणि में, जैसा हम अभी देख चुके हैं, धम्मों का अनेक द्विकों और त्रिकों में विश्लेषण किया गया है और यही उसका प्रधान विषय है। किन्तु धम्मों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए वहाँ इस प्रकार के भी प्रश्न किये गये हैं, जैसे किन-किन धम्मों में कौन-कौन से स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय आदि सन्निविष्ट हैं। इस प्रकार के प्रश्नों का उद्देश्य वहाँ स्कन्ध, आयतन और धातु आदि के संबंध के साथ धम्मों के स्वरूप को समझाना ही है, न कि स्वयं स्कन्ध, आयतन और धातु आदि के स्वरूप का विनिश्चय करना। यह दूसरा काम विभंग में किया गया है। धम्मसंगणि का प्रधान विषय धम्मों का विश्लेषण मात्र कर देना है, उनका, स्कन्ध, आयतन और धातु आदि के रूप में संश्लिष्ट वर्गीकरण करना विभंग का विषय है। यद्यपि धम्मसंगणि ने धम्मों का विश्लेषण करने के बाद अपूर्ण ढंग से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनमें कौन-कौन से स्कन्ध, आयतन और धातु आदि संनिविष्ट हैं, किन्तु विभंग ने यहीं से उसके सूत्र को पकड़कर उसके सारे गन्तव्य मार्ग को ही जैसे उल्टा मोड़ दिया है। विभंग में इन स्कन्ध, आयतन और धातु आदि को ही प्रस्थानबिन्दु मानकर यह दिखाया गया है कि स्वयं इनमें कौन-कौन से धम्म सन्निविष्ट हैं। अतः वस्तु पूरक होते हुए भी वस्तु का विन्यास यहाँ धम्मसंगणि के ठीक विपरीत है। यहाँ यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि धम्मसंगणि की १०० द्विकों और २२ त्रिकों वाली वर्गीकरण की प्रणाली को भी, जिसका निर्देश उसकी 'मातिका' और निर्वाह सारे ग्रन्थ में हुआ है, विभंग ने आवश्यकतानुसार ज्यों का त्यों ले लिया है। अतः इस दृष्टि से भी वह उस पर अवलंबित है। इन्हीं सब कारणों से विभंग का अध्ययन-क्रम बौद्ध परम्परा में सदा धम्मसंगणि के बाद ही माना जाता है।

प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। सिंहली लिपि में साइमन हेवावितरणे-संस्करण अधिक ध्यान देने योग्य है। देवनागरी लिपि में श्री नालन्दा से भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित संस्करण सन् १९६० में निकल चुका है

विभंग की विषय-वस्तु १८ विभागों या विभंगों में विभक्त की गई हैं, जिनमें से प्रत्येक अपने आप में पूर्ण है। विभंग के १८ विभागों या विभंगों के नाम इस प्रकार हैं

(१) खन्ध-विभंग—(स्कन्ध-विभंग)
(२) आयतन-विभंग—(आयतन-विभंग)
(३) धातु-विभंग—(धातु-विभंग)
(४) सच्च-विभंग—(सत्य-विभग)
(५) इन्द्रिय-विभंग—(इन्द्रिय-विभंग)
(६) पच्चयाकार-विभंग (प्रत्ययाकार-विभंग)
(७) सतिपट्ठान-विभंग—(स्मृतिप्रस्थान-विभंग)
(८) सम्मप्पधान-विभंग —(सम्यक्-प्रधान-विभंग)
(९) इद्धिपाद-विभंग—(ऋद्धिपाद-विभंग)
(१०) बोज्झंग-विभंग—. (बोध्यंग-विभंग)
(११) मग्ग-विभंग—(मार्ग-विभंग)
(१२) झान-विभंग—(ध्यान-विभंग)
(१३) अप्पमञ्ञा-विभंग—(अ-परिमाण-विभंग)
(१४) सिक्खापद-विभंग—(शिक्षापद-विभंग)
(१५) पटिसम्भिदा-विभंग—(प्रतिसम्विद्-विभंग)
(१६) ञाण-विभंग—(ज्ञान-विभंग)
(१७) खुद्दक-वत्थु-विभंग—(क्षुद्रक-वस्तु-विभंग)
(१८) धम्म-हृदय-विभंग—(धर्म-हृदय-विभंग)

प्रत्येक विभंग का नाम उसकी विषय-वस्तु के स्वरूप का सूचक है। प्रायः प्रत्येक ही विभंग तीन अंगों में विभक्त है, (१) सुत्तन्तभाजनिय, (२) अभिधम्म-भाजनिय, (३) पञ्ह-पुच्छकं। सुत्तन्त-भाजनिय में निरुक्त की जाने वाली विषय-वस्तु का सुतन्त आधार दिखलाया गया है, अर्थात् जिस विषय का वर्णन करना है वह किस सीमा तक या किस स्वरूप में सुत्त-पिटक में पाया जाता है, इसका निर्देश किया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में उसकी अभिधम्म या उसके आधार-स्वरूप 'मातिका' के अनुसार व्याख्या है। 'पञ्ह-पुच्छकं' में 'द्विक', 'त्रिक' आदि शीर्षकों के रूप में प्रश्नोत्तर हैं, जिनमें संपूर्ण निरूपित विषय का

सिंहावलोकन एवं संक्षेप है। अब हम प्रत्येक विभंग की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण देंगे।

१—खन्ध-विभंग

(पाँच स्कन्धों का विवरण)

जिसे हम व्यक्तिगत सत्ता (जीवात्मा, पुद्गल) कहते हैं, वह रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान की समष्टि के सिवा और कुछ नहीं है, ऐसी बौद्ध दर्शन की मान्यता है। रूप स्वयं संपूर्ण भौतिक विकारों और अवस्थाओं की समष्टि है। वेदना संपूर्ण संवेदनों की समष्टि है। संज्ञा संपूर्ण संजानन या जानने की क्रिया की, वस्तु और इन्द्रिय के सयोग से उत्पन्न चित्त की उस अवस्था की, जिसमें उसे वस्तु की सत्ता की सूचना मिलती है, दूसरे शब्दों में समग्र प्रत्यक्षों की, समष्टि है। इसी प्रकार संस्कार बाह्य और आन्तरिक स्पर्शों (इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्षों) के कारण से उत्पन्न समग्र मानसिक संस्करणों की और विज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों के, तत्संबंधी रूपादि विषयों या आलम्बनों-आयतनों के साथ संयुक्त होने पर उत्पन्न, चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों पर आधारित समग्र चित्त-भेदों की समष्टि है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का ही सामूहिक नाम' पंच-स्कन्ध' है। इन पाँचों स्कन्धों में ही संपूर्ण नाम-रूप-मय जगत् के मूल तत्व निहित हैं, ऐसा बौद्ध दर्शन मानता है। 'पञ्च-स्कन्ध' के विषय को उपन्यस्त करते हुए विभंग के आरंभ में ही कहा गया है—पञ्चक्खन्धा—रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञा-क्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो। इन पञ्चस्कन्धों का सुत्तन्त आधार दिखाते हुए सुत्तन्त-भाजनिय में उस बुद्ध-वचन को उद्धृत किया गया है, जिसमें इन पाँच स्कन्धों में से प्रत्येक के विषय में यह साधारण कथन किया गया है कि वह भूत वर्तमान या भविष्य का भी हो सकता है, व्यक्ति के बाहर या भीतर का भी हो सकता है, स्थूल या सूक्ष्म भी हो सकता है, शुभ या अशुभ भी हो सकता है, दूर का या समीप का भी हो सकता है। रूप-विषयक उद्धरण यह है, "जो कुछ भी रूप है, भूत (अतीत) का, या वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) का, या भविष्यत् (अनागत) का, व्यक्ति के बाहर का (बहिद्धा) या भीतर (अज्झत्तं) का, स्थूल (ओळारिक), या सूक्ष्म (सुखुम), शुभ (कुशल) या अशुभ (अकुशल), दूर का (दूरे), या समीप का (सन्तिके), उस सब की समष्टि ही रूप-स्कन्ध है।" वेदनादि

स्कन्धों के विषय में भी कुछ थोड़े-बहुत अन्तर से इसी क्रम का अनुसरण किया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में पञ्च-स्कन्ध की व्याख्या है। रूप के विवेचन में २२ त्रिकों और १०० द्विकों को लेकर अक्षरशः वही प्रणाली बरती गई है जो धम्मसंगणि में। अतः उसमें कुछ नवीनता नहीं है। शेष चार स्कन्धों के विवरणों में भी यद्यपि विषय और शैली की दृष्टि से कुछ नवीनता नहीं है, किन्तु इनके अलग-अलग विवरण धम्मसंगणि की विषय-वस्तु को अधिक स्पष्ट कर देते हैं। वेदना के विषय में बताया गया है कि वह सदा स्पर्श (फस्सो-इन्द्रिय-विषय सन्निकर्ष) पर आधारित है। वह लौकिक भी हो सकती है और अलौकिक भी, वितर्कादि से युक्त भी और उनसे रहित भी, सुख से युक्त भी, दुःख से युक्त भी, न-सुख-न-दुःख से युक्त भी। कामावचर-भूमि या अरूपावचर-भूमि की भी हो सकती है, चक्षु-संस्पर्श से भी युक्त हो सकती है, श्रोत्र-संस्पर्श से भी, आदि, आदि। दो संख्या से लेकर दस संख्या तक के वर्गीकरणों में वेदना-स्कन्ध का विस्तृत विवरण इस प्रकार किया गया है—

वेदना-स्कन्ध

२. (१) सहैतुक (२) अहैतुक

३. (१) कुशल (२) अकुशल (३) अव्याकृत

४. (१) कामावचर (२) रूपावचर (३) अरूपावचर (४) अपरियापन्न (व्यक्तिगत जीवन-सत्ता से असम्बन्धित)

५. (१) सुखेन्द्रिय (२) दुःखेन्द्रिय (३) सौमनस्येन्द्रिय (४) दौर्मनस्येन्द्रिय (५) उपेक्षेन्द्रिय

६. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनो-संस्पर्शजा

७. (१) चक्षु-संस्पर्शजा, (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा, (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनोधातु-संस्पर्शजा (७) मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा

८. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्गजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) सुखा काय-ससंस्पर्शजा (६) दुःखा काय-संस्पर्शजा (७) मनोधातु-संस्पर्शजा (८) मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा

९. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वासंस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनोधातु-संस्पर्शजा (७) कुशला

मनोविज्ञानधातुसंस्पर्शजा (८) अकुशला मनोविज्ञानधातु संस्पर्शजा (९) अव्याकृता मनोविज्ञानधातुसंस्पर्शजा।

१०. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) सुखा मनोधातु-संस्पर्शजा (७) दुःखा मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा (८) कुशला मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा (९) अकुशला मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा (१०) अव्याकृत-मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा।

उपर्युक्त सूची में कई संख्याएँ अनेक बार संगृहीत हैं। अभिधम्म के परिगणनों में यह बात नई नहीं है। गणनाओं के पीछे पड़ जाने की प्रवृत्ति का ही यह परिणाम है। संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों का विवरण भी जहाँ-तहाँ अल्प परिवर्तनों के साथ वेदना-स्कन्ध के समान ही दिया गया है। पञ्ह-पुच्छकं विभाग में प्रश्न हैं, जैसे पञ्चानं खन्धानं कति कुसला ? कति अकुसला ? कति अब्याकता ? अर्थात् पाँच स्कन्धों में से कितने कुशल हैं ? कितने अकुशल ? कितने अव्याकृत ? इसी प्रकार कति सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? कति दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? कति अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? अर्थात् कितने सुख की वेदना से युक्त हैं, कितने दुःख की वेदना से युक्त हैं, और कितने न-दुःख-न-सुख की वेदना से युक्त हैं ? इनके फिर उत्तर दिये गये हैं। उदाहरणतः ऊपर उद्धृत प्रथम त्रिक-प्रश्नावली का उत्तर दिया गया है—रूपक्खन्धो अब्याकतो। चत्तारो खन्धा सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अब्याकता, अर्थात् रूप-स्कन्ध अव्याकृत है। शेष चार स्कन्ध (वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) कुशल भी हो सकते हैं, अकुशल भी और अव्याकृत भी। ऊपर उद्धृत द्वितीय त्रिक-प्रश्नावली का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—द्वे खन्धा न वत्तब्बा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ति पि। दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता ति पि। तयो खन्धा सिया सुखाय, दुक्खाय अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता। इसका अर्थ यह है—दो स्कन्धों (रूप और वेदना) के विषय में न तो ऐसा ही कहा जा सकता है कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं और न यह कि वे दुःख की वेदना से युक्त हैं। शेष तीन स्कन्ध (संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) सुख की वेदना से भी युक्त हो सकते हैं, दुःख की वेदना से भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। ये उदाहरण सिर्फ शैली का दिग्दर्शन मात्र कराने के लिए दिये गये हैं। अन्यथा इस प्रश्नोत्तरी में एक-एक करके वे सभी २२ त्रिक और १०० द्विक के वर्गीकरण सन्निहित हैं, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। उत्तरों की यह विशेषता है कि वे संक्षिप्त होने के

साथ-साथ स्कन्धों का नाम ले ले कर निर्देश नहीं करते, बल्कि उनकी केवल संख्या गिना देते हैं।

२—आयतन-विभंग

(१२ आयतनों या आधारों का विवरण)

सुत्तन्त-भाजनिय में १२ आयतनों का उल्लेख है, जैसे कि

१. चक्षु-आयतन	७. जिह्वा-आयतन
२. रूप-आयतन	८. रस-आयतन
३. श्रोत्र-आयतन	९. काय-आयतन
४. शब्द-आयतन	१०. स्पृष्टव्य-आयतन
५. घ्राण-आयतन	११. मन-आयतन
६. गन्ध-आयतन	१२. धर्म-आयतन

ये सब आयतन अनित्य, दुःख और अनात्म हैं, इतना ही कहकर सुत्तन्त-भाजनिय समाप्त हो जाता है। अभिधम्म-भाजनिय में उपर्युक्त १२ आयतनों के स्वरूप की व्याख्या की गई है। "क्या है चक्षु-आयतन? यह चक्षु, जो चार महाभूतों से उत्पन्न, व्यक्तिगत सत्ता से अभिन्न रूप से संबंधित, अनुभूति (पसाद) रूपी स्वभाव वाली, प्रत्यक्ष का अविषय (अनिदस्सं—क्योंकि प्रत्यक्ष तो केवल रंग, प्रकाश आदि के अनुभवों का होता है), किन्तु साथ ही इन्द्रिय-अनुभवों पर प्रतिक्रिया करनेवाली (सप्पटिघ) है—यही अदृश्य चक्षु, जिसकी इन्द्रिय-अनुभवों पर प्रतिक्रिया के कारण व्यक्ति अनुभव करता है कि उसने किसी दृश्य पदार्थ को देखा है, देखता है, या देखेगा, यही कहलाता है चक्षु-आयतन।" इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण जिह्वा और काय-संबंधी आयतनों की भी व्याख्या की गई है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय संबंधी विज्ञानों, मनोधातु और मनोविज्ञानधातु के समष्टिगत स्वरूप को ही 'मन-आयतन' कहा गया है। चार महाभूतों से उत्पन्न संपूर्ण भौतिक व्यापार, जो रंग आदि के रूप में दिखाई पड़ता है, 'रूपायतन' कहा गया है। बारह आयतनों में से पाँच इन्द्रिय आयतनों (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) और पाँच विषय-आयतनों (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य), इन दस आयतनों को भौतिक कहा गया है और मन-आयतन को मानसिक। धर्म-आयतन भौतिक भी हो सकता है और मानसिक भी, अतीत का भी, वर्तमान का भी, और भविष्यत् का भी, वास्तविक भी, और काल्पनिक भी। 'पञ्ह पुच्छकं' में

स्कन्ध-विभंग के नमूने पर ही प्रश्न हैं, यथा (१) दादसायतनानं कति कुसला? कति अकुसला? कति अव्याकता? अर्थात् १२ आयतनों में से कितने कुशल हैं, कितने अकुशल, कितने अव्याकृत? (२) कति सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता? कति दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता? कति अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता? अर्थात् कितने सुख की वेदना से युक्त हैं? कितने दुःख की वेदना से युक्त हैं? कितने न-दुःख-न-सुख की वेदना से युक्त हैं? आदि, आदि। इनके उत्तर भी क्रमशः देखिए, (१) दस आयतन (चक्षु, रूप, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय, स्पृष्टव्य) अव्याकृत हैं। दो आयतन (मन और धर्म) कुशल भी हो सकते हैं, अकुशल भी और अव्याकृत भी—"सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अव्याकता।" (२) दस आयतनों के विषय में न तो निश्चयपूर्वक यही कहा जा सकता है कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं, न यह कि वे दुःख की वेदना से युक्त हैं और न यही कि वे न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त हैं। मन-आयतन सुख की वेदना से युक्त भी हो सकता है, दुःख की वेदना से युक्त भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त भी। इसी प्रकार धर्म आयतन सुख की वेदना से भी युक्त हो सकता है, दुःख की वेदना से भी, न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुख की वेदना से ही युक्त है, या दुःख की वेदना से ही, आदि।

३—धातु-विभंग

(१८ धातुओं का विवरण)

सुत्तन्त-भाजनिय में छह-छह के तीन वर्गीकरणों में १८ धातुओं का विवरण इस प्रकार किया गया है—

(अ) पृथ्वी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु, आकाश-धातु, विज्ञान धातु

(आ) सुख-धातु, दुःख-धातु, सौमनस्य-धातु, दौर्मनस्य-धातु, उपेक्षा-धातु, अविद्या-धातु

(इ) काम-धातु, व्यापाद-धातु, विहिंसा-धातु, निष्कामता-धातु, अव्यापाद-धातु, अ-विहिंसा धातु।

अभिधम्म-भाजनिय में १८ धातुओं की गणना दूसरे प्रकार से की गई है, जो इस प्रकार है—

१. चक्षु	७. घ्राण	१३. काय
२. रूप	८. गन्ध	१४. स्पृष्टव्य
३. चक्षु-विज्ञान	९, घ्राण-विज्ञान	१५. काय-विज्ञान
४. श्रोत्र	१०. जिह्वा	१६. मन
५. शब्द	११. रस	१७. धर्म
६. श्रोत्र-विज्ञान	१२. जिह्वा-विज्ञान	१८ मनोविज्ञान

इन अठारह धातुओं में चक्षु, रूप, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय और स्पृष्टव्य, ये दस धातुएँ भौतिक हैं। अतः वे रूप-स्कन्ध में सम्मिलित हैं। चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान, मन, और मनो विज्ञान, ये सात धातुएँ मानसिक हैं। धर्म-धातु अंशतः मानसिक और अंशतः भौतिक है। चक्षु और रूप के संयोग से उत्पन्न चित्त की अवस्था का नाम चक्षु-विज्ञान है। इसी प्रकार श्रोत्र-विज्ञान आदि के विषय में भी नियम है। मनो-धातु, चक्षु-विज्ञान आदि विज्ञानों के बाद, द्रष्टा और दृश्य के संयोग के ठीक अनन्तर, उत्पन्न हुई चित्त की अवस्था का नाम है। मनोविज्ञान-धातु मन और धर्मो के सयोग से उत्पन्न चित्त की उस अवस्था का नाम है, जो मनो-धातु के बाद उत्पन्न होती है। 'पञ्हपुच्छकं' में फिर उसी क्रम से प्रश्न हैं, जैसे प्रथम दो विभंगों में, यथा (१) १८ धातुओं में से कितनी कुशल हैं, कितनी अकुशल और कितनी अव्याकृत? (२) कितनी सुख की वेदना से युक्त हैं? कितनी दुःख की वेदना से युक्त हैं? कितनी न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त? आदि, आदि। इनके उत्तर भी ध्यान देने योग्य हैं (१) १६ धातुएँ (धर्म और मनोविज्ञान को छोड़ कर शेष सब) अव्याकृत हैं। दो धातुएँ (धर्म और मनोविज्ञान) कुशल भी हो सकती हैं, अकुशल भी, और अकुशल भी, 'सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अब्याकता'। (२) दस धातुओं (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य) के विषय में निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं, या दुःख की वेदना से युक्त हैं या न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त हैं। पाँच-धातुएँ (चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, काय-विज्ञान, मन) न-सुख-न-दुःखकी वेदना से युक्त हैं। काय-विज्ञान-धातु सुख की वेदना से भी युक्त हो सकती है और दुःख की वेदना से भी। मनोविज्ञान-धातु सुख, दुःख और न-सुख-न-दुःख, इन तीनों वेदनाओं में से किसी से भी युक्त हो सकती है। इसी प्रकार धर्म-धातु भी

इन तीनों वेदनाओं में से किसी से युक्त हो सकती और उसके विषय में यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि या तो वह सुख की वेदना से ही युक्त है, या दुःख की वेदना से, या न-सुख-न-दुःख की वेदना से, आदि आदि।

४—सच्च-विभंग

(चार आर्य-सत्यों का विवरण)

पहले, सुत्तन्त-भाजनिय में सुत्तों (विशेषतः दीघ-निकाय के महासतिपट्ठान-सुत्त एवं इस प्रकार के अन्य बुद्ध-वचनों) की भाषा में चार आर्य-सत्यों की प्रस्तावना करते हुए कहा गया है—'चत्तारि अरिय-सच्चानि : दुक्खं अरियसच्चं, दुक्ख-समुदयं (या दुक्ख-समुदयो) अरियसच्चं, दुक्खनिरोधं (या दुक्ख-निरोधो) अरियसच्चं, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं, अर्थात् ये चार आर्य-सत्य हैं—दुःख आर्य-सत्य, दुःख-समुदय आर्य सत्य, दुःख-निरोध आर्य-सत्य, दुःख-निरोध-गामी मार्ग आर्य-सत्य। अभिधम्म-भाजनिय में इनकी अभिधम्म के अनुसार व्याख्या है। तृष्णा और चित्त-मलों को दुःख-समुदय का प्रधान कारण माना गया है और इनके निरोध को दुःख–निरोध का भी प्रधान कारण। दुःख-निरोधी-गामी मार्ग की व्याख्या निर्वाण-सम्बन्धी ध्यान के रूप में की गयी है, जिसकी भूमियों का निरूपण 'धम्म-संगणि' में हो चुका है। 'पञ्हपुच्छकं' में चार आर्य सत्यों के विषय में उसी प्रकार के प्रश्न किये गये हैं, जैसे पूर्व के विभंगों में, यथा (१) चार आर्य सत्यों में कितने कुशल हैं? कितने अकुशल? कितने अव्याकृत? (२) कितने सुख की वेदना से युक्त हैं, कितने दुःख की वेदना से युक्त, कितने न -सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त? इनके उत्तर इस प्रकार हैं(१) समुदय-सत्य अकुशल है। मार्ग-सत्य कुशल है। निरोध-सत्य अव्याकृत है। दुःख-सत्य कुशल भी हो सकता है, अकुशल भी और अव्याकृत भी। (२) दो सत्य सुख की वेदना से भी युक्त हो सकते हैं और न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त भी। निरोध-सत्य के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह तीनों प्रकार की वेदनाओं में से किससे युक्त है। दुःख-सत्य सुख की वेदना से भी युक्त हो सकता है, दुःख की वेदना से भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुख की वेदना से युक्त है, या दुःख की वेदना से,

या न-सुख-न-दुःख की वेदना से। दुःख-सत्य को सुख की वेदना से भी युक्त मानकर 'विभंग' ने उसको वह विस्तृत अर्थ दिया है, जिसकी स्मृति भगवान् बुद्ध के साथ-साथ महर्षि पतञ्जलि ने भी दिलाई है "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (२।१५)

५----इन्द्रिय-विभंग

(२२ इन्द्रियों का विवरण)

इस विभंग में २२ इन्द्रियों का सुत्तन्त के आधार पर विवरण है, जिनकी संख्या इस प्रकार है—

१. चक्षु
२. श्रोत्र
३. घ्राण
४. जिह्वा } छह इन्द्रिय
५. काय
६. मन

७. स्त्रीत्व
८. पुरुषत्व
९. जीवित-इन्द्रिय

१०. सुख (शारीरिक)
११. दुःख (शारीरिक)
१२. चित्त की प्रसन्नता (सौमनस्य) } पाँच प्रकार की वेदनाएँ
१३. चित्त की खिन्नता (दौर्मनस्य)
१४. उपेक्षा,

१५. श्रद्धा
१६. वीर्य
१७. स्मृति } पाँच नैतिक इन्द्रियाँ
१८. समाधि
१९. प्रज्ञा

२०. "मैं अज्ञात को जानूँगा" यह संकल्प (अनञ्ञातं ञस्सामीतिन्द्रिय)
२१. परिपूर्ण ज्ञान (अञ्ञा) } तीन लोकोत्तर इन्द्रिय
२२. "जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया" तत्सम्बन्धी इन्द्रिय (अञ्ञाताविन्द्रिय)

उपर्युक्त २२ इन्द्रियों की व्याख्या और अन्त में (पञ्हपुच्छकं) प्रश्नोत्तरों के रूप में उनका कुशल, अकुशल और अव्याकृत आदि के रूप में विभाजन, इतना ही इस विभंग का विषय है।

६—पच्चयाकार-विभंग

(प्रतीत्य समुत्पाद का विवरण)

इस विभंग में प्रतीत्य समुत्पाद का वर्णन है। सुत्तन्त-भाजनिय में पहले सुत्तन्त का यह उद्धरण है "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार (चेतना) की उत्पत्ति, संस्कार (चेतना) के प्रत्यय से विज्ञान की उत्पत्ति, विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप की उत्पत्ति, नाम और रूप के प्रत्यय से छह आयतनों की उत्पत्ति, छह आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श की उत्पत्ति, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना की उत्पत्ति, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा की उत्पत्ति, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान की उत्पत्ति, उपादान के प्रत्यय से भव की उत्पत्ति, भव के प्रत्यय से जन्म की उत्पत्ति, जन्म के प्रत्यय से जरा-मरण, दुःख, शोक आदि की उत्पत्ति"। प्रतीत्य समुत्पाद में प्रयुक्त १२ निदानों की व्याख्या यहाँ निदान-संयुत्त के समान ही की गई है। अभिधम्म-भाजनिय में उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख है, जिनके आधार पर भौतिक और मानसिक जगत् में उत्पत्ति और निरोध का व्यापार चलता है। इन प्रत्ययों का विस्तृत विवेचन आगे चल कर पूरे ग्रन्थ 'पट्ठान-प्रकरण' में किया गया है। इस विभंग के अन्त में प्रश्नोत्तर रूप में प्रतीत्य समुत्पाद के विभिन्न अगों में कौन कुशल, अकुशल आदि हैं, इसका विवेचन पूर्ववत् ही किया गया है।

७—सतिपट्ठान-विभंग

(चार स्मृति-प्रस्थानों का विवरण)

काया में कायानुपश्यी होना, वेदना में वेदनानुपश्यी होना, चित्त में चित्तानुपश्यी होना और धर्मों में धर्मानुपश्यी होना, यही चार स्मृति-प्रस्थान हैं, जिनका विस्तृत उपदेश सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०) जैसे सुत्तन्त के अंशों में दिया गया है। इस विभंग के सुत्तन्त-भाजनिय में इसी का संक्षेप कर दिया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में यह दिखाया गया है कि इनकी भावना लोकोत्तर ध्यान में किस प्रकार होती है। 'पञ्ह-पुच्छकं' में इनका विभाजन कुशल,

अकुशल आदि के रूप में किया गया है। इनमें अकुशल कोई नहीं है। चारों स्मृति-प्रस्थान या तो कुशल होते हैं या अव्याकृत। अर्हत् की चित्त-अवस्था में आगे के लिये कर्म-विपाक नहीं बनते। अतः उस हालत में वे बौद्ध पारिभाषिक शब्दों में 'किरिया' (क्रिया-मात्र) होते हैं।

८—सम्मप्पधान-विभंग

(चार सम्यक् प्रधानों का विवरण)

(१) अकुशल अवस्थाओं से बचना, (२) उन पर विजय प्राप्त करना, (३) कुशल अवस्थाओं का विकास करना और (४) विकसित कुशल अवस्थाओं को बनाये रखना, यही चार सम्यक् प्रधान हैं। सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम-१।१।१०) के आधार पर इसका वर्णन किया गया है और अभिधम्म-भाजनिय में केवल यह अधिक दिखला दिया गया है कि लोकोत्तर-ध्यान की अवस्था में ये किस प्रकार विद्यमान रहते हैं।

९—इद्धिपाद-विभंग

(४ ऋद्धियों का विवरण)

चार ऋद्धियाँ हैं, दृढ़ संकल्प को एकाग्रता (छन्द-समाधि), वीर्य की एकाग्रता (विरिय-समाधि), चित्त की एकाग्रता (चित्त-समाधि) और गवेषणा की एकाग्रता (वीमंसा-समाधि)। यहाँ यह भी दिखाया गया है कि चार ऋद्धियों का चार सम्यक्-प्रधानों से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है।

१०—बोज्झङ्ग-विभंग

(बोधि के सात अंगों का विवरण)

बोधि के सात अंग हैं, स्मृति (सति), धर्म की गवेषणा (धम्म-विचय), वीर्य (विरिय), प्रीति (पीति), चित्त-शान्ति या प्रश्रब्धि (पस्सद्धि), समाधि और उपेक्षा (उपेक्खा)। मज्झिम-निकाय के आनापान-सति-सुत्त के समान ही इनका यहाँ निर्देश है। अभिधम्म-भाजनिय में अवश्य इन विभिन्न अंगों की अभिधम्म की शब्दावली में व्याख्या की गई है और बाद में कुशल आदि के रूप में उनका विभाजन किया गया है।

११—मग्ग-विभंग

(आर्य अष्टांगिक मार्ग का विवरण)

आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का विवरण यहाँ सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०) के अनुसार ही है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि का निर्देश करने के बाद प्रत्येक की व्याख्या की गई है और फिर अन्त में प्रश्नोत्तर के रूप में उन्हें कुशलादि के वर्गीकरणों में बाँटा गया है।

१२—झान-विभंग

(चार ध्यानों का विवरण)

सर्व-प्रथम सुत्तन्त-भाजनिय में चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम. १।३।७) के उस बुद्ध-वचन को उद्धृत किया गया है जिसमें चार ध्यानों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण हम उसे यहाँ उद्धृत करेंगे। भिक्षुओ! "भिक्षु इस आर्य-सदाचार से युक्त हो, इस आर्य इन्द्रिय-संयम से युक्त हो, स्मृति और ज्ञान से युक्त हो, किसी एकान्त-स्थान में रहता है जैसे कि अरण्य, वृक्ष की छाया, पर्वत, कन्दरा, गुफा, श्मशान, जंगल, खुले आकाश के नीचे या पुआल के ढेर पर। वह पिंडपात से लौट भोजन कर चुकने के बाद आसन मार शरीर को सीधा रख स्मृति को सामने कर बैठता है.....वह चित्त के उपक्लेश, प्रज्ञा को दुर्बल करने वाले, पाँच बन्धनों को छोड़, काम-वितर्क से रहित हो, बुरे विचारों से रहित होकर, प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विहरता है। इस ध्यान में वितर्क और विचार रहते हैं। एकान्त-वास से यह ध्यान उत्पन्न होता है। इसमें प्रीति और सुख भी रहते हैं.....फिर भिक्षुओ! भिक्षु वितर्क और विचारों के उपशमन से अन्दर की प्रसन्नता और एकाग्रता रूपी द्वितीय ध्यान को प्राप्त करता है। इसमें न वितर्क होते हैं, न विचार। यह समाधि से उत्पन्न होता है। इसमें प्रीति और सुख रहते हैं!.....फिर भिक्षुओ! भिक्षु प्रीति से भी विरक्त हो, उपेक्षावान् होकर विहरता है। वह स्मृतिमान्, ज्ञानवान् होता है और शरीर से सुख का अनुभव करता है। वह तृतीय ध्यान को प्राप्त करता है जिसे पंडित जन 'उपेक्षावान्, स्मृतिमान् सुखपूर्वक विहार करने वाला' कहते हैं। फिर भिक्षुओ!

भिक्षु दुःख और सुख दोनों के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य दोनों के पहले से ही अस्त हुए रहने से, चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करता है। इसमें न दुःख होता है न सुख। केवल उपेक्षा तथा स्मृति की परिशुद्धि यहाँ होती है।" इसी बुद्ध-वचन के आधार पर अभिधम्म-भाजनिय में यह दिखलाया गया है कि प्रथम ध्यान के पाँच अवयव होते हैं, यथा, वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि। द्वितीय ध्यान के तीन, यथा प्रीति, सुख और समाधि। तृतीय ध्यान में केवल दो रह जाते हैं, सुख और समाधि और चौथे में भी केवल दो, उपेक्षा और समाधि। 'पञ्ह-पुच्छकं' में यही दिखलाया गया है कि ध्यान कुशल भी हो सकते हैं और अव्याकृत भी। चार स्मृति-प्रस्थानों की तरह ये भी अर्हत् के चित्त के लिये भविष्य में कर्म-विपाक बनाने वाले नहीं होते। दूसरे शब्दों में, वे उसके लिये 'किरिया-चित्त' होते हैं।

१३—अप्पमञ्ञ-विभंग

(चार अ-परिमाण अवस्थाओं का विवेचन)

मैत्री (मेत्ता), करुणा, मुदिता और उपेक्षा, इनको अपरिमाण वाली अवस्थाएँ कहा गया है। इसका कारण यह है कि उन्हें कहाँ तक बढ़ाया जा सकता है, इसकी कोई सीमा नहीं। इन्हीं को 'ब्रह्म-विहार' भी कहते हैं। पतंजलि की भाषा में इन्हें 'सार्वभौम महाव्रत' भी कहा जा सकता है। पातंजल योग-दर्शन (१।३३) में इन चार अवस्थाओं के विकास का उपदेश दिया गया है। इस विभंग में इन चार अवस्थाओं का विवरण और चार ध्यानों के साथ उनका सम्बन्ध दिखलाया गया है।

१४—सिक्खापद-विभंग

(पाँच शिक्षापदों का विवरण)

हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य और मद्यपान, इनसे विरत रहना ही सदाचार के पाँच सार्वजनीन नियम हैं, जिनका यहाँ विवरण और विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

१५----पटिसम्भिदा-विभंग

(चार प्रतिसंविदों का विवरण)

चार प्रतिसंविदों या विश्लेषणात्मक ज्ञानों का इस विभंग में वर्णन किया गया है, यथा (१) अर्थ-सम्बन्धी ज्ञान (अत्थ-पटिसम्भिदा) (२) धर्म-सम्बन्धी ज्ञान (धम्म-पटिसम्भिदा) (३) शब्द-व्याख्या-सम्बन्धी ज्ञान (निरुत्ति-पटिसम्भिदा) और (४) ज्ञान-दर्शन-सम्बन्धी ज्ञान (पटिभान-पटिसम्भिदा)

१६----ञाण-विभंग

(नाना प्रकार के ज्ञानों का विवरण)

इस विभंग में नाना प्रकार के ज्ञानों का विवरण है, यथा लौकिक ज्ञान, अलौकिक ज्ञान, आदि, आदि। इस विभंग का तीन प्रकार का ज्ञान-विवरण विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, प्रज्ञा की यहाँ तीन क्रमिक अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं, यथा श्रुतमयी प्रज्ञा (सुतमया पञ्ञा), चिन्ता-मयी प्रज्ञा (चिन्तामया पञ्ञा) और भावना-मयी प्रज्ञा (भावनामया पञ्ञा)। शास्त्रादि ग्रन्थों के श्रवण या पठनादि से उत्पन्न ज्ञान 'श्रुतमयी प्रज्ञा' है। वह सुना हुआ है, स्वयं का अनुभव या चिन्तन उसमें नहीं है। इसके बाद चिन्ता-मयी प्रज्ञा है, जिसमें अपनी बुद्धि का चिन्तन सम्मिलित है। किन्तु इससे भी ऊँचा एक ज्ञान है, जिसका नाम है 'भावना-मयी' प्रज्ञा। यह प्रज्ञा न केवल शास्त्रीय या बौद्धिक आधारों पर प्रतिष्ठित है, बल्कि इसमें सम्पूर्ण सदाचार-समूह के पालन से उत्पन्न चित्त की उस समाधि की गम्भीरता भी सन्निहित है, जो कुशल चित्त से ही प्राप्त की जा सकती है। यह तीन प्रकार का ज्ञान-वर्गीकरण निश्चय ही बड़ा मार्मिक है।

१७----खुद्दक-वत्थु-विभंग

(छोटी-मोटी बातों का विवरण)

इस विभंग में आस्रवों (चित्त-मलों) आदि के अनेक प्रकारों का वर्णन किया गया है।

१८----धम्म-हृदय-विभंग

(धर्म के हृदय का विवरण)

अब तक के विभंगों में जो कुछ वर्णन किया जा चुका है, उसी का प्रश्नोत्तर

के रूप में यहाँ सिंहावलोकन है। चूंकि इसमें धर्म के सब तत्व अपने आप आ गये हैं, इसलिये इसे 'धर्म का हृदय' कहा गया है। कुछ प्रश्नों की बानगी देखिये—कितने धर्म काम-धातु में प्राप्त होते हैं? कितने रूप-धातु में? कितने अरूप-धातु में? कितने कामावचर हैं? कितने रूपावचर? कितने अरूपावचर? कितने छोड़ने योग्य? कितने भावना करने योग्य? आदि, आदि। गीतोक्त भगवान् की विभतियों की तरह इनका कहीं अन्त ही नहीं दिखाई पड़ता। इसी-लिये इनका संक्षप देने का भी यहाँ प्रयत्न नहीं किया गया।

धातुकथा[1]

विभंग के १८ विभंगों में से स्कन्ध, आयतन और धातु, इन प्रथम तीन विभंगों को चुनकर उनका विशेष अध्ययन धातुकथा में किया गया है। स्कन्ध, आयतन और धातु, यही धातुकथा के विषय हैं। अतः उसका पूरा नाम ही, जैसा महा-स्थविर ज्ञानातिलोक ने कहा है, 'खन्ध-आयतन-धातु-कथा' होना चाहिये। धातु-कथा के विषय-प्रतिपादन की एक विशेष शैली यह है कि यहाँ स्कन्ध, आयतन और धातुओं का सम्बन्ध धर्मों के साथ दिखलाया गया है। इन धर्मों की संख्या उसकी 'मातिका' के अनुसार ११४ है, जो इस प्रकार है, ५ स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातुएँ, ४ सत्य, २२ इन्द्रिय, प्रतीत्य समुत्पाद, ४ स्मृति-प्रस्थान, ४ सम्यक् प्रधान, ४ ऋद्धिपाद, ४ ध्यान, ४ अपरिमाण, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ आर्य-मार्ग के अंग (आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग), स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त, अधिमोक्ष और मनसिकार। किस-किस स्कन्ध, आयतन या विभंग में कौन-कौन धर्म सम्मिलित (संगहित), अ- सम्मिलित (असंगहित), संयुक्त (सम्प्रयुक्त) या वियुक्त (विप्पयुत्त) आदि हैं, इसी का विवेचन १४ अध्यायों में प्रश्नोत्तर ढंग से किया गया है, जिसकी रूप-रेखा इस प्रकार है—

---

१. ई० आर० गुणरत्न द्वारा अट्ठकथा-सहित पालि टैक्सट् सोसायटी के लिए सम्पादित। उक्त सोसायटी द्वारा सन् १८९२ में रोमन लिपि में प्रकाशित। इस ग्रन्थ के सिंहली, बर्मी एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा पुग्गलपञ्ञत्ति के सहित एक जिल्द में सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा सन् १९६० में प्रकाशित।

१. सम्मिलन और अ-सम्मिलन (संगहो-असंगहो) : इस अध्याय में यह दिखलाया गया है कि कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में कौन-कौन से धर्म सम्मिलित हैं या अ-सम्मिलित हैं।

२. सम्मिलित और अ-सम्मिलित (संगहितेन असंगहितं) : यहाँ यह दिखलाया गया है कि कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म असम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मो के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित हैं, किन्तु समान धातु और आयतन में सम्मिलित नहीं है।

३. अ-सम्मिलित और सम्मिलित (असंगहितेन संगहितं) . कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मो के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं हैं, किन्तु समान आयतन और समान धातु में सम्मिलित है।

४. सम्मिलित और सम्मिलित (संगहितेन संगहितं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित है, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मो के साथ उन समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित हैं जो पुनः अन्य धर्म या धर्मो के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) सम्मिलित हैं।

५. अ-सम्मिलित और अ-सम्मिलित (असंगहितेन असंगहितं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म अ-सम्मिलित हैं जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ उन्हीं स्कन्ध, आयतन और धातुओं में असम्मिलित हैं जो पुनः अन्य धर्म या धर्मो के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) असम्मिलित हैं। यह अध्याय चौथे अध्याय का ठीक विपरीत है।

६. संयोग और वियोग (सम्पयोगो विप्पयोगो) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं के साथ धर्म संयुक्त हैं, या कितने के साथ वे वियुक्त है।

७. संयुक्त से व्युक्त (सम्पयुत्तेन विप्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त है, जो उन धर्मो से, जो अन्य धर्मो के साथ संयुक्त हैं, वियुक्त हैं।

८. वियुक्त से सयुक्त (विप्पयुत्तेन सम्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त हैं, संयुक्त हैं।

९. संयुक्त से संयुक्त (सम्पयुत्तेन सम्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों से संयुक्त हैं, संयुक्त हैं।

१०. वियुक्त से वियुक्त (विप्पयुत्तेन विप्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों से वियुक्त हैं, वियुक्त हैं।

११ सम्मिलित से संयुक्त और वियुक्त (संगहितेन सम्पयुत्तं विप्पयुत्तं) : (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं, किन्तु समान आयतन और धातु में कुछ अन्य धर्मों के साथ सम्मिलित हैं, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं, किन्तु समान आयतन और धातु में कुछ अन्य धर्मो के साथ सम्मिलित हैं।

१२. संयुक्त से सम्मिलित और असम्मिलित (सम्पयुत्तेन संगहितं असंगहितं) : (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित है जो कुछ अन्य धर्मो से संयुक्त हैं, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म असम्मिलित हैं जो कुछ अन्य धर्मों मे संयुक्त हैं।

१३. असम्मिलित से संयुक्त और वियुक्त (असंगहितेन सम्पयुत्तं विप्पयुत्तं) : (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो किन्हीं अन्य धर्मो के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त है जो किन्हीं अन्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं।

१४. वियुक्त से सम्मिलित और असम्मिलित (विप्पयुत्तेन संगहितं असंगहितं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धर्मों में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्मो से वियुक्त हैं, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धर्मों में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं, जो कुछ अन्य धर्मो से वियुक्त हैं।

उपर्युक्त अध्यायों के विषय और शैली को अच्छी तरह हृदयंगम करने के लिए प्रत्येक में से एक-एक दो-दो प्रश्नोत्तरों को भी दे देना उपयुक्त होगा। अतः क्रमशः,

(१) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित है? १ स्कन्ध, ११ आयतन और ११ धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित है।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है? चार स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है।

(इ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित है? एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित है।

(ई) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है? चार स्कन्ध, ग्यारह आयतन और १७ धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है। आदि, आदि

(२) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं, जो चक्षु-आयतन....स्पृष्टव्यायतन और चक्षु-धातु.....स्पृष्टव्य-धातु धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित हैं, किन्त समान धातु और आयतन में सम्मिलित नहीं हैं?

चार स्कन्धों, दो आयतनों और आठ धातुओं में वे सम्मिलित नहीं हैं।

(३) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं हैं, किन्तु समान आयतन और समान धातु में सम्मिलित हैं?

तीन स्कन्धों, एक आयतन और एक धातु में वे सम्मिलित है, निर्वाण को छोड़कर!

(४) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो समुदय,-सत्य, मार्ग-सत्य धर्मों के साथ उन समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित हैं जो पुनः समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) सम्मिलित हैं?

एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु में वे सम्मिलित हैं।

(५) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं जो अन्य धर्मों के साथ उन्हीं स्कन्ध, आयतन और धातुओं में अ-सम्मिलित हैं जो पुनः उन्हीं धर्मों के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) असम्मि-लित हैं?

एक स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं में वे अ-सम्मिलित हैं।

(६) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं के साथ रूप-स्कन्ध संयुक्त है?

किसी के साथ नहीं (क्योंकि स्वयं अपने साथ वह संयुक्त हो नहीं सकता और अन्य धर्म मानसिक हैं)

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं के साथ रूप-स्कन्ध संयुक्त नहीं है ?

चार स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं के साथ वह संयुक्त नहीं है।

(७) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों के साथ संयुक्त हैं, वियुक्त हैं ?

चार स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे वियुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(८) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मो से जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त हैं, संयुक्त हैं ?

किसी से नहीं।

(९) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध से संयुक्त हैं, संयुक्त हैं ?

तीन स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे संयुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(१०) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मो से जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त हैं, वियुक्त हैं ?

चार स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे वियुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(११) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं हैं, किन्तु समुदय-सत्य और मार्ग-सत्य के साथ समान आयतन और धातुओं में सम्मिलित हैं ?

तीन स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं से वे संयुक्त हैं, अंशतः एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु से भी।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त है जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं, किन्तु समुदय-सत्य और मार्ग-सत्य के साथ समान आयतन और समान धातुओं में सम्मिलित हैं ? एक स्कन्ध, दस आयतन और दस धातुओं से वे वियुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(१२) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध और संस्कार-स्कन्ध से संयुक्त हैं ?

तीन स्कन्धों, दो आयतनों और आठ धातुओं में वे सम्मिलित हैं।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं, जो वेदना-स्कन्ध से संयुक्त हैं?

दो स्कन्धों, दस आयतनों और दस धातुओं में वे सम्मिलित नहीं हैं।

(१३) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो रूप-स्कन्ध के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं?

तीन स्कन्धों और अंशतः एक आयतन और एक धातु से वे संयुक्त हैं।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो रूप-स्कन्ध के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं हैं?

एक स्कन्ध, दस आयतन और दस धातुओं से वे वियुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(१४) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त हैं?

चार स्कन्धों, दो आयतनों और धातुओं में वे सम्मिलित हैं।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं, जो रूप स्कन्ध से वियुक्त हैं?

एक स्कन्ध, दस आयतनों और दस धातुओं में वे सम्मिलित नहीं हैं।

पुग्गलपञ्ञत्ति[1]—

'पुग्गलपञ्ञति' (पुद्गल-प्रज्ञप्ति) शब्द का अर्थ है पुद्गलों या व्यक्तियों संबंधी ज्ञान या उनकी पहचान। 'पुग्गल-पञ्ञत्ति' में व्यक्तियों के नाना प्रकारों

---

१. डा० मॉरिस द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट् सोसायटी (१८८३) द्वारा प्रकाशित। इसका अंग्रेजी अनुवाद 'दि डैज़िगनेशन ऑव ह्यूमन टाइप्स' शीर्षक से डा० बिमलाचरण लाहा ने किया है, जो पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन (१९२३) द्वारा प्रकाशित किया गया है। देवनागरी-संस्करण भिक्षु जगदीश काश्यप के द्वारा सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा प्रकाशित। इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। महास्थविर ज्ञानातिलोक ने इस ग्रन्थ का जर्मन भाषा में अनुवाद किया है, ब्रेसलो, १९१०।

का वर्णन किया गया है। विषय या वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अधिधम्म की अपेक्षा सुत्तन्त से अधिक घनिष्ठ संबंध है। व्यक्तियों का निर्देश यहाँ धम्मों के साथ उनके संबंध की दृष्टि से नहीं किया गया है, जो अभिधम्म का विषय है। बल्कि अंगुत्तर-निकाय की शैली पर, बुद्ध-वचनों का आश्रय लेकर, या कहीं उनको अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से, या उनकी व्याख्या-स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव के विभाग के अनुसार व्यक्तियों के नाना स्वरूपों को वर्गबद्ध किया गया है, जो मूल बुद्ध-धर्म के नैतिक दृष्टिकोण को समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। सपूर्ण ग्रन्थ में दस अध्याय हैं, जिनमें प्रथम में एक-एक प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश है, दूसरे में दो दो प्रकार के और इसी प्रकार क्रमशः बढ़ते हुए दसवें अध्याय में दस-दस प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश है। चार आर्य-श्रावक, पृथग्जन, सम्यक् सम्बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, शैक्ष्य, अशैक्ष्य, आर्य, अनार्य, स्रोत आपन्न, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत् आदि के रूप में व्यक्तियों का विभाजन, जो सुत्तों में जीवन-शुद्धि के स्वरूप और उसके विकास को दिखाने के लिए किया गया है, यहाँ क्रमिक गणनाबद्ध रूप में संगृहीत कर दिया गया है। कुछ-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

एक-एक प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौनसा व्यक्ति 'पृथग्जन' (पुथुज्जनो—प्राकृत मनुष्य—सांसारिक मनुष्य) है?

जिसके प्रथम तीन संयोजन (मानसिक बन्धन) प्रहीण नहीं हुए और न जो उनके प्रहीण करने के मार्ग में ही संलग्न है, वही व्यक्ति 'पृथग्जन' है।

२. कौन सा व्यक्ति अनागामी है?

जो व्यक्ति प्रथम पाँच संयोजनों का विनाश करने के बाद किसी उच्चतर लोक में जन्म लेता है जहाँ उसकी निर्वाण-प्राप्ति निश्चित हो जाती है, और जहाँ से वह लौटकर फिर इस लोक में नहीं आता, वही व्यक्ति अनागामी है।

दो-दो प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन सा व्यक्ति भीतरी संयोजनों से बँधा हुआ है?

जिसके प्रथम पाँच संयोजन अभी नष्ट नहीं हुए, वही व्यक्ति भीतरी संयोजनों से बँधा हुआ है।

२. कौन सा व्यक्ति बाहरी संयोजनों से बँधा हुआ है?

जिसके अंतिम पाँच संयोजन अभी नष्ट नहीं हुए, वही व्यक्ति बाहरी संयोजनों से बँधा हुआ है।

तीन-तीन प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं हैं ?

स्रोत आपन्न और सकृदागामी, ये दो व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं हैं।

२. कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त है, किन्तु भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है ?

अनागामी—यह व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त है, किन्तु भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है।

३. कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति, इन दोनों प्रकार की आसक्तियों से विमुक्त है ?

अर्हत्—यह व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना-सबंधी आसक्ति, इन दोनों आसक्तियों से विमुक्त है।

चार-चार प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है, जो गरजता है पर बरसता नहीं ?

जो कहता बहुत है पर करता कुछ नहीं—यही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता है पर बरसता नहीं।

२. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है, जो बरसता है, पर गरजता नहीं ?

जो करता है, पर कहता नहीं, ऐसा व्यक्ति उस बादल के समान है जो बरसता है पर गरजता नहीं।

३. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है, जो गरजता भी है और बरसता भी है ?

जो कहता भी है और करता भी है, वही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी है और बरसता भी है।

४· कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी नहीं और बरसता भी नहीं ?

जो न कहता है और न करता है, वही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी नहीं और बरसता भी नहीं।

इसी वर्गीकरण का एक और सुन्दर उपमा के द्वारा व्यक्तियों के चार प्रकार का विभाजन देखिए—

१. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है, जो अपने बिल तो खोदकर तैयार करता है, किन्तु उसमें रहता नहीं ?

जो व्यक्ति सुत्त, गाथा, उदान, जातक आदि ग्रन्थों का अभ्यास तो करता है, किन्तु चार आर्य सत्यों का स्वयं साक्षात्कार नहीं करता, यही व्यक्ति उस चूहे के समान है जो अपना बिल तो खोदकर तैयार करता है, किन्तु उसमें रहता नहीं।

२. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है, जो बिल में रहता है, किन्तु उसे स्वयं खोदकर तैयार नहीं करता ?

जो सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास तो नहीं करता, किन्तु चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार कर लेता है, यही व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल में तो रहता है, किन्तु उसे स्वयं खोदकर तैयार नहीं करता।

३. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है, जो बिल को स्वयं खोदकर तैयार भी करता है और उसमें रहता भी है ?

जो सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास भी करता है और चार आर्य सत्यों को साक्षात्कार भी करता है।

४. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो न बिल को खोदता है, न उसमें रहता है ?

जो न सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास करता है और न चार आर्य-सत्यों का साक्षात्कार ही करता है।

इसी प्रकार आगे के अध्यायों में क्रमशः पाँच-पाँच, छह-छह, सात-सात, आठ-आठ, नौ-नौ और दस-दस के वर्गीकरणों में व्यक्तियों का वर्णन किया गया है। यद्यपि सुत्त-पिटक से नवीन या मौलिक तो यहाँ कुछ नहीं है, फिर भी उपमाएँ कहीं-कहीं बड़ी सुन्दर हुई हैं। संख्याबद्ध वर्गीकरणों की ऊपरी कृत्रिमता होते हुए भी 'पुग्गल-पञ्ञत्ति' के विवरण नैतिक तत्वों की भित्ति पर आश्रित हैं, अतः वे आधुनिक विद्यार्थी के लिए भी अध्ययन के अच्छे विषय हैं।

कथावत्थु[1]

जैसा दूसरे अध्याय में दिखाया जा चुका है, अशोक के समय (तीसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व) तक आते-आते मूल बुद्ध-धर्म १८ भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों या निकायों में बँट चुका था। अशोक ने लगभग २५३ या २४६ ई० पू० जब पाटलिपुत्र की सभा को बुलाया, तो उसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इन्हीं १८ सम्प्रदायों में से एक (थेरवाद-स्थविरवाद) को मूल बुद्ध-धर्म मान कर बाकी १७ के दार्शनिक सिद्धांतों का निराकरण किया और अपने समाधानों को 'कथावत्थु-पकरण' नामक ग्रंथ में रख दिया जो उसी समय से अभिधम्म-पिटक का एक अंग माना जाने लगा। कथावत्थु में केवल दार्शनिक सिद्धांतों का खंडन है। किन-किन सम्प्रदायों के वे दार्शनिक सिद्धांत थे, इसका उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है। यह कमी उसकी अट्ठकथा (पाँचवीं शताब्दी) ने पूरी कर दी है। इस अट्ठकथा के वर्णनानुसार भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने संघ के अनुशासन को भंग कर 'महासंघिक' नामक सम्प्रदाय की स्थापना की। इसी सम्प्रदाय की पाँच शाखायें बाद में और हो गईं। इस प्रकार कुल मिलाकर महासंघिकों के ६ सम्प्रदाय हो गए, जिनके नाम थे, महासंघिक, एकब्बोहारिक, गोकुलिक,[2] पञ्ञत्तिवादी, बाहुलिक और चेतियवादी।[3] प्रथम संगीति में स्थविरों

---

१. ए० सी० टेलर द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लंदन, द्वारा सन् १८९४ एवं १८९७ में रोमन लिपि में प्रकाशित। 'पॉइन्ट्स ऑव कन्ट्रोवर्सी और सबजैक्ट्स ऑव डिस्कोर्स' शीर्षक से शॉ जैन आंग एवं श्रीमती रायस डेवड्स् द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित एवं पालि टैक्स्ट् सोसायटी (लंदन, १९१५) द्वारा प्रकाशित। बरमी, सिंहली एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा सन् १९६१ में प्रकाशित।

२. सम्भवतः इनका पूर्ण नाम कुक्कुलिक था। ये आदित्त-परियाय-सुत्त को अधिक महत्त्व देते थे, जिसमें भगवान् ने कहा है "सब्बं भिक्खवे आदित्तं" अर्थात् "भिक्षुओ! सब जल रहा है।" इस उपदेश का अनुसरण कर वे सब संस्कारों को कुक्कुल (अंगारों) के समान मानते थे। इसीलिये ये 'कुक्कुलिक' या बाद में 'गोकुलिक' कहलाये।

३. आंध्र देश के धान्यकटक के स्तूप (महाचैत्य) में निवास करने वाले भिक्षु।

(बुद्ध-भिक्षुओं) ने मूल बुद्ध-धर्म के जिस स्वरूप को स्वीकार किया था, उसका नाम 'थेरवाद' (स्थविरवाद) पड़ गया था और इस थेरवाद के भी अशोक के समय तक आते-आते कुल मिलाकर १२ सम्प्रदाय हो गये थे, जो इस प्रकार थे, थेरवादी, महिंसासक, वज्जिपुत्तक, सब्बत्थवादी या सब्बत्थिवादी, धम्मगुत्तिक, धम्मुत्तरिय, छन्नागरिक, भद्रयानिक, सम्मितिय, कस्सपिक, संक्रन्तिक, और सुत्त-वादी। कथावत्थु-अट्ठकथा के अनुसार यह शाखा-भेद इस प्रकार दिखाया जा सकता है[1]—

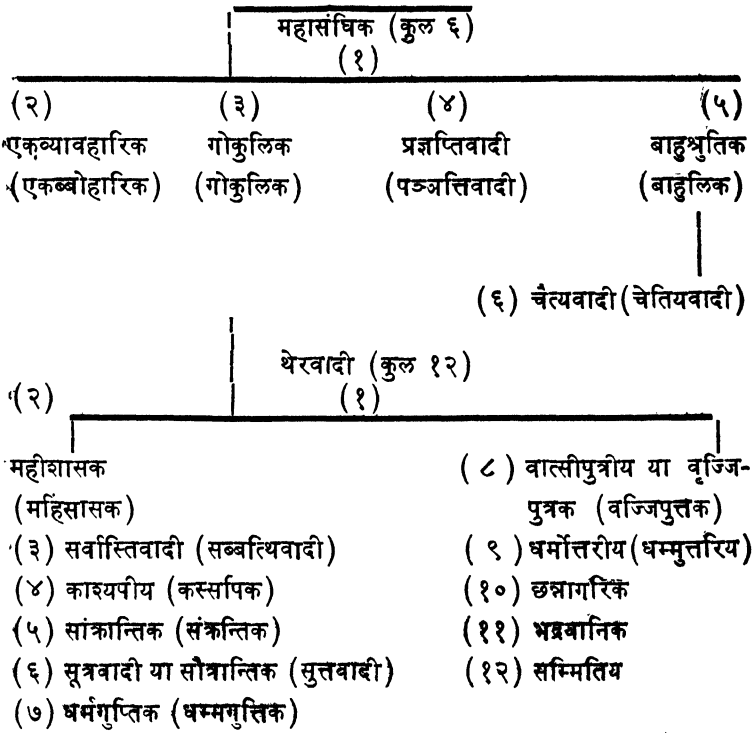

---

१. देखिये ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३६; राहुल सांकृत्या-यन : विनय-पिटक (हिन्दी अनुवाद), भूमिका, पृष्ठ १, उन्हीं की पुरातत्व-निबन्धावली, पृष्ठ १२१; 'दीपवंस' के अनुसार और 'महावंस' ५।२-११ के

उपर्युक्त दोनों परम्पराओं की विभिन्नताएँ वास्तव में इन सम्प्रदायों के अनिश्चित इतिहास के कारण हैं। यदि कथावत्थु में इन सम्प्रदायों के विषय में भी कुछ कह दिया गया होता तो बौद्ध धर्म के इतिहास-जिज्ञासुओं का काम सरल हो जाता। किन्तु धम्मवादी स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इसके लिए अवकाश नहीं दिया। उनके लिए विचार व्यक्तियों या सम्प्रदायों से अधिक महत्वपूर्ण थे। भारतीय ज्ञानियों की निर्वैयक्तिक परम्परा के यह अनुकूल ही है। किन्तु इस अभाव के कारण इन सम्प्रदायों का इतिहास भी अनिश्चित ही रह गया है। स्थविरवादी परम्परा की मान्यता, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, कथावत्थु की अट्ठकथा पर आश्रित है, जो स्वयं पाँचवीं शताब्दी ईसवी की रचना होने के कारण उतनी प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। फिर भी जो वस्तु निश्चित मानी जा सकती है, वह यह है कि अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के समय उपर्युक्त अठारह सम्प्रदाय विद्यमान थे। अशोक के द्वारा पूजित किये जाने पर ये और भी बढ़ने लगे। शास्ता का वास्तविक उपदेश क्या था, यह कुछ भी जान न पड़ने लगा। परिणामतः पाटलिपुत्र में एक संगीति बुलाई गई। इस सभा के सभापति थे स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स। उन्होंने उपर्युक्त सम्प्रदायों में से केवल विशुद्ध स्थविरवाद को तो बुद्ध का मन्तव्य अथवा 'विभज्जवाद' माना और शेष को बुद्ध के मत से बाहर माना। इसी समय से सर्वास्तिवाद आदि सम्प्रदाय, जो अब तक स्थविरवादियों की ही शाखा माने जाते थे, अब अलग हो गये। अतः हम कह सकते हैं कि अशोक के समय तक बुद्ध-मन्तव्य अथवा 'विभज्यवाद' जिस नाम से व्यवहृत होता रहा, वह और उसकी परम्परा 'स्थविरवाद' में निहित है। इसी स्थविरवाद के समर्थन की दृष्टि से शेष १७ सम्प्रदायों के मन्तव्यों का खंडन 'कथावत्थु' में किया गया है।

शताब्दी ईसवी) के पूर्वगामी आचार्य भव्य या भावविवेक (पाँचवीं शताब्दी ईसवी) के वर्णनानुसार भी १८ सम्प्रदायों के विकास का यही क्रम है। केवल उन्होंने गोकुलिक (कुक्कुलिक) शाखा को महासांघिकों से तथा षाण्णागारिक (छन्नागरिक) शाखा को स्थविरवादियों की परम्परा से वियुक्त कर दिया है। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ८३१-३२; 'महावंस', 'कथावत्थु', वसुमित्र और भव्य, इन चारों स्रोतों के आधार पर १८ सम्प्रदायों के शाखा-भेद के तुलनात्मक अध्ययन के लिये देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ८२७ पर दी हुई महत्त्वपूर्ण तालिका।

'कथावत्थु' में विरोधी १७ सम्प्रदायों के सिद्धांतों को प्रश्नात्मक ढंग से पहले पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है, फिर स्थविरवादी दृष्टिकोण से उनका खंडन किया गया है। सिद्धांतों के पूर्वापर-सम्बन्धी निर्वाचन में किसी निश्चित नियम का पालन नहीं किया गया। सिद्धांतों को मानने वाले सम्प्रदायों का तो उसमें नामोल्लेख भी नहीं है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। कुल मिलाकर 'कथावत्थु' में विरोधी सम्प्रदायों के २१६ सिद्धांतों का खंडन है, जो २३ अध्यायों में विभक्त किये गये हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस ग्रंथ में न केवल अशोक-कालीन सिद्धांतों का ही खंडन है, बल्कि कुछ बाद के सम्प्रदायों और सिद्धांतों का भी खंडन सम्मिलित है। अतः उनके मत में इस ग्रंथ में कई अंश ईसा की पहली शताब्दी तक जोड़े जाते रहे[१]। इस ग्रंथ में प्राचीन अर्थात् अशोक के समय में प्रचलित सिद्धांतों में से तो आठ का खंडन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें से दो तो महासांघिकों के सम्प्रदाय हैं, यथा (१) महासांघिक (चतुर्थ शताब्दी ईसवी-पूर्व) तथा गोकुलिक (चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व) और छह सम्प्रदाय स्वयं स्थविरवादियों के हैं यथा (१) भद्रयानिक (तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व), (२) महीशासक (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व), (३) वात्सीपुत्रीय (चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व), (४) सर्वास्तिवादी (चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व), (५) सम्मितिय (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व, तथा (६) वज्जिपुत्तक (चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व)[२]। इनके अलावा कुछ अर्वाचीन सिद्धांतों का भी खंडन कथावत्थु में मिलता है। ये सम्प्रदाय भी आठ हैं, यथा, (१) अन्धक[३], (२) अपरशैलीय,[४] (३) पूर्वशैलीय[५], (४) राजगिरिक, (५) सिद्धार्थिक, (६) वैपुल्य (वेतुल्ल), (७) उत्तरापथक और (८) हेतुवादी।[६] यदि स्वयं कथावत्थु में इन सम्प्रदायों का नामोल्लेख होता तब तो

---

१. देखिये राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०; ज्ञानातिलोक; गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ३७-३८

२. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८; राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०

३. आंध्र देश के बौद्ध सम्प्रदाय।

४,५. आंध्र देश के इन नाम के पर्वतों के पास के निवासी भिक्षु।

६. महावंस ५।१२-१३ में भी हेमवत, राजगिरिय, सिद्धार्थक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय और वाजिरीय, इन छह सम्प्रदायों को अशोक के उत्तरकालीन माना

यह माना जा सकता था कि उसके जो अंश इन अर्वाचीन सम्प्रदायों के सिद्धांतों का खंडन करते है वे अशोक के काल के बाद की रचना हैं। किन्तु वहाँ तो सिर्फ सिद्धांतों का खंडन है, सिद्धांतों को निश्चित सम्प्रदायों के साथ वहाँ नहीं जोड़ा गया है। यह काम तो पाँचवीं शताब्दी में लिखी जाने वाली उसकी अट्ठकथा ने ही किया है। अतः इससे यही निश्चित निष्कर्ष निकल सकता है कि जब कथावत्थु के विचारक ने विरोधी सिद्धांतों का खंडन किया था, तब वे बौद्ध वायु-मंडल में विच्छिन्न शंकाओं के रूप में प्रवाहित अवश्य हो रहे थे, किन्तु निश्चित सम्प्रदायों के साथ उनका अभी संबंध स्थापित नहीं हुआ था। सभव है कहीं-कहीं व्यक्ति इनका उपदेश दे रहे हों या शंकाओं के रूप में उपस्थित कर रहे हों। वाद मे चलकर इन्हीं में से निश्चित सम्प्रदायों का आविर्भाव हो गया, जैसा धर्म और दर्शन के इतिहास में अक्सर होता है। जिस समय कथावत्थु की अट्ठकथा लिखी गई (पाँचवीं शताब्दी ईसवी में) उस समय तक इन सम्प्रदायों का स्वरूप निश्चित हो चुका था और वे बौद्ध परम्परा में प्रतिष्ठा पा चुके थे। यही कारण है कि अट्ठकथाकार (महास्थविर बुद्धघोष) ने कथावत्थु में खंडन के लिए प्रस्तुत जिन-जिन सिद्धांतों की समता अपने काल में प्रचलित या परम्परा से प्राप्त संप्रदायों की मान्यताओं के साथ देखी, उन्हें उनके साथ संबंधित कर दिया है। अतः हम उन विद्वानों (विशेषतः राहुल सांकृत्यायन और ज्ञानातिलोक) के मत से सहमत नहीं है जो कथावत्थु के कतिपय अंशों को अशोक से काल के वाद की रचना मानते है। जैसा हम अभी स्पष्ट कर चुके हैं, सिद्धांत संप्रदायों की उपेक्षा अधिक प्राचीन है और संप्रदायों का नामोल्लेख कथावत्थु में है नहीं। अतः वह निश्चय ही अपने संपूर्ण रूप में अशोककालीन रचना है और उस काल के भिक्षु-संघ में स्फुट रूप से प्रचलित नाना मिथ्या धारणाओं और शंकाओं के निराकरण के द्वारा मूल बुद्ध-धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का वह प्रयत्न करती है। बाद में इन्हीं (स्थविरवादी दृष्टिकोण से) मिथ्या धारणाओं और शंकाओं ने विकसित होकर विभिन्न निश्चित संप्रदायों और उपसंप्रदायों का रूप धारण कर लिया, जिनका साक्ष्य उसकी अट्ठकथा देती है।

गया है। अतः ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८ एवं राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२०, का इनको उत्तरकालीन ठहराना युक्ति-युक्त ही जान पड़ता है।

'कथावत्थु' के २१६ शंका-समाधान २३ अध्यायों में विभक्त हैं, यह अभी कहा जा चुका है। इनमें से कई समाधान दार्शनिक दृष्टि से बड़े महत्व के है। बुद्ध के दर्शन की मनमानी व्याख्या पहले के युगों में भी बहुत की जा चुकी है और आज भी बहुत की जाती है। तथाकथित ब्राह्मण-दार्शनिक यदि इस दिशा में मार्ग-भ्रष्ट हुए है तो उनसे कम बौद्ध दार्शनिक भी नहीं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही सर राधाकृष्णन् के उस प्रयत्न की हँसी उड़ाई है और उसे 'बाल-धर्म' (भारी मूर्खता) निश्चित कर दिया है जो उन्होंने बुद्ध को उपनिषद् के आत्मवाद का प्रचारक सिद्ध करने के लिए किया है।[1] यदि मनीषी राधाकृष्णन् कथावत्थु के प्रथम अध्याय के प्रथम शंका-समाधान में ही स्पष्ट इस विषयक स्थविरवादी दृष्टिकोण की सम्यक् अवधारणा कर लेते तो वे मूल बुद्ध-दर्शन के साथ आत्मवाद या अन्य ऐसी किसी चीज को इस प्रकार अनधिकृत रूप से मिलाने का प्रयत्न नहीं करते। इसी प्रकार यदि मनीषी महापडित भी इस बात की सम्यक् अनुभूति कर लेते कि 'महाशून्यतावादी' वेतुल्यकों (वैपुल्यकों) की स्थविरवादियों ने 'कथावत्थु' में क्या खबर ली है, तो वे नागार्जुन आदि उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों को, जिन्होंने निषेधात्मक और तर्कात्मक दिशा में ही अधिक पदार्पण किया है, बुद्ध-मन्तव्यों के एक-मात्र सच्चे व्याख्याता होने का श्रेय प्रदान नहीं करते। बुद्ध-मत तर्क से अतीत है, सभी अतियों से बाहर जाता है, सभी मतवादों से ऊपर उठता है। आत्मवाद और अनात्मवाद, ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद, भौतिकवाद और विज्ञानवाद, शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद सभी इन अतियों और मतवादों के ही स्वरूप हैं। इनका जहाँ विसर्जन है, वहीं मध्यम-मार्ग प्रकाशित होता है। बुद्ध की दार्शनिक परिस्थिति संबंधी हमारी बहुत सी शंकाओं का निर्मूलन स्वयं बुद्ध-वचनों के बाद 'कथावत्थु' में बड़े अच्छे ढग से होता है। बाद में मिलिन्दपञ्ह (प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व) में भी इस प्रकार का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उसका महत्व 'कथावत्थु' के बाद ही है। अब हम कथावत्थु में निरुक्त विषय-वस्तु का संक्षेप से दिग्दर्शन करेंगे।

कथावत्थु में निराकृत सिद्धान्तों की सूची

पहला अध्याय

१. क्या जीव, सत्त्व या आत्मा की परमार्थ-सत्ता है? वज्जिपुत्तक और

---

१. देखिये महापंडित राहुल सांकृत्यायन का दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५३०-३२

सम्मितिय भिक्षुओं का विश्वास था कि 'है'। स्थविरवादी दृष्टिकोण से इसका विस्तृत खंडन किया गया है।

२. क्या अर्हत्व की अवस्था से अर्हत् का पतन संभव है? सम्मितिय, वज्जिपुत्तक, सब्बत्थिवादी और कुछ महासंघिक भिक्षुओं का विश्वास था कि यह संभव है। स्थविरवादियों ने स्रोत आपन्न, सकृदागामी और अनागामी के विषय में तो यह माना है कि वे अपनी-अपनी अवस्थाओं से पतित होकर फिर सांसारिक बन सकते हैं, किन्तु अर्हत् का पतन तो असंभव है।

३. क्या देवताओं में ब्रह्मचर्य की प्राप्ति संभव है? सम्मितिय भिक्षु कहते थे कि 'नहीं'। स्थविरवादी दृष्टिकोण से कहा गया है कि सम्मितिय भिक्षुओं को ब्रह्मचर्य का अर्थ समझने में ही भ्रम हो गया है। भिक्षु-जीवन (ब्रह्मचर्य) के स्वर्ग में न होते हुए भी पवित्र-जीवन (ब्रह्मचर्य) का अभ्यास करने में तो देवता स्वतंत्र ही हैं। अतः स्थविरवादियों के अनुसार देवताओं में भी ब्रह्मचर्य की प्राप्ति संभव है।

४. क्या चित्त-संयोजनों (मानसिक-बन्धनों) का विनाश विभागशः होता है? सम्मितियों का विश्वास था कि स्रोत आपन्न व्यक्ति दुःख और दुःख-समुदय का ज्ञान प्राप्त कर, प्रथम तीन चित्त-बन्धनों के केवल कुछ अंशों को उच्छिन्न करता है और बाकी अंशों को अधिक ऊँची अवस्थाओं को प्राप्त करने के बाद उच्छिन्न करता है। स्थविरवादियों का इसके विपरीत तर्क यह है कि इस प्रकार एक ही व्यक्ति को विभागशः स्रोत आपन्न और विभागशः स्रोत आपन्न नहीं भी मानना पड़ेगा। सम्मितियों ने अपनी स्थिति के समर्थन के लिए बुद्ध-वचन को उद्धृत किया है, किन्तु स्थविरवादियों ने दूसरा बुद्ध-वचन उद्धृत कर उनकी स्थिति को स्वीकार नहीं किया है।

५. क्या संसार में रहते हुए भी कोई मनुष्य राग और द्वेष से मुक्त हो सकता है? सम्मितियों का विश्वास था कि हो सकता है। स्थविरों ने इसे स्वीकार नहीं किया।

६ क्या सब कुछ है? (सब्बं अत्थि?) सब्बत्थिवादियों (सर्वास्तिवादियों) का विश्वास था कि भूत, वर्तमान और भविष्यत् के सभी भौतिक और मानसिक धर्मों की सत्ता है। स्थविरवादियों के मतानुसार अतीत समाप्त हो चुका, भविष्यत् अभी उत्पन्न नहीं हुआ, केवल वर्तमान ही की सत्ता है।

७. सिद्धांत छह का ही पूरक है।

८. क्या यह सत्य है कि भूत, और भविष्यत् की कुछ वस्तुओं का अस्तित्व है और कुछ का नहीं? कस्सपिक भिक्षु कहते थे कि अतीत भी अंशतः वर्तमान में विद्यमान है और जिन भविष्य के पदार्थों के होने का हम दृढ़ निश्चय कर सकते है, उनकी भी सत्ता मान सकते है। स्थविरों ने इसे स्वीकार नही किया है।

९. क्या सभी पदार्थ स्मृति के आलम्बन है? अन्धकों का ऐसा विश्वास था, किन्तु स्थविरों ने खंडन किया है।

१०. क्या भूत, वर्तमान और भविष्यत् के पदार्थों का अस्तित्व एक प्रकार से है और दूसरे प्रकार से नहीं? अन्धकों का ऐसा विश्वास, किन्तु स्थविरों द्वारा खंडन।

दूसरा अध्याय

११. क्या अर्हत् का वीर्य-पतन सम्भव है? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं का विश्वास था कि भोजन-पान के कारण यह सम्भव है। स्थविरों ने इसे नहीं माना है।

१२-१४. क्या अर्हत् को अज्ञान और संशय हो सकते है और दूसरों से वह पराजित किया जा सकता है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का विश्वास था कि लौकिक ज्ञान के विषय में यह सर्वथा सम्भव है। स्थविरों ने इसका विरोध नहीं किया, किन्तु अर्हत् को कभी भी अविद्या या विचिकित्सा हो सकती है, इसे उन्होंने नहीं माना।

१५. क्या ध्यानावस्था में वाणी-व्यापार भी सम्भव है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा विश्वास, किन्तु उसका निराकरण।

१६. क्या 'दुःख' 'दुःख' कहने से स्रोत आपत्ति आदि चार ब्रह्मचर्य की अवस्थाओं की प्राप्ति हो सकती है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं के इस मिथ्या विश्वास का निराकरण।

१७. क्या कोई चित्त-अवस्था सम्पूर्ण दिन भर रह सकती है? अन्धकों के इस विश्वास का निराकरण।

१८. क्या सभी संस्कार तप्त, दहकते हुए अंगारों के समान है? भगवान् के एक वचन के अनुसार गोकुलिक भिक्षु सभी संस्कारों को दुःख-मय ही मानते थे। स्थविरवादियों ने क्षणिक सुखमय संस्कारों की भी सत्ता मानी है।

१९. क्या ब्रह्मचर्य की चार अवस्थाओं (स्रोत, आपत्ति आदि) का साक्षात्कार विभागशः होता है। अन्धक, सब्बत्थिवादी, सम्मितिय और भद्रयानिक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास। स्थविरवादियों का मत सिद्धान्त-संख्या ४ के समान।

२०. क्या बुद्ध का लोकोत्तर व्यवहार (वोहार–वाणी) जैसी कोई चीज है? अन्धक भिक्षु मज्झिम-निकाय के एक वचन के आधार पर ऐसा ही मानते थे। स्थविरवादी मतानुसार ब्रह्मचर्य-संलग्न चित्त और निर्वाण ही लोकोत्तर हैं।

२१. क्या दुःख-विमुक्ति भी दो हैं और निर्वाण भी दो? महीशासक और अन्धक भिक्षु कहते थे कि ऐसा ही है। एक दुःख-विमुक्ति है चिन्तन या प्रतिसंख्यान (पटिसंखा) के द्वारा प्राप्त की हुई। और दूसरी उसके बिना। इसी प्रकार एक निर्वाण है प्रतिसंख्यान के द्वारा प्राप्त किया हुआ और दूसरा उसके बिना। इसका निराकरण किया गया है।

तीसरा अध्याय

२२-२३. क्या तथागत के दस बल उनके शिष्यों को भी प्राप्त हो सकते है? अन्धकों की मान्यता इसके पक्ष में।

२४. क्या विमुक्ति होता हुआ मन लोभ-ग्रस्त होता है? अन्धकों का विश्वास था कि अर्हत्त्व प्राप्त कर लेने पर ही लोभ से पूर्णतः विमुक्ति मिलती है।

२५. क्या विमुक्ति क्रमशः क्रिया के रूप में होने वाली वस्तु है?

२६. क्या स्रोत आपन्न का मत-वाद सम्बन्धी बन्धन नष्ट हुआ रहता है। अन्धक और सम्मितियों की ऐसी ही मान्यता थी। स्थविरवादी मत मध्यमार्गीय दृष्टिकोण लेता है, अर्थात् उसकी मान्यता है कि स्रोत आपन्न का मत-वाद सम्बन्धी बन्धन टूटने लगता है किन्तु पूर्णतः टूट चुका हुआ नहीं होता।

२७. क्या स्रोत आपन्न को श्रद्धेन्द्रिय आदि इन्द्रियों (जीवन-शक्तियों) की प्राप्ति हो जाती है? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

२८-२९. क्या चर्म-चक्षु दिव्य-चक्षुओं में परिवर्तित हो सकते है, यदि उनका आधार कोई मानसिक धर्म हो? अन्धकों की ऐसी ही मान्यता।

३०. क्या दिव्य-चक्षु प्राप्त कर लेना कर्म के स्वरूप को समझ लेना ही है?

३१. क्या देवताओं में संयम पाया जाता है?

३२. क्या अचेतन प्राणी (असञ्ञि-सत्ता) भी विज्ञान (चित्त) से युक्त होते हैं? अन्धकों का विश्वास था कि बिना चित्त के पुनर्जन्म नहीं होता। अतः कम से कम मृत्यु और पुनर्जन्म के क्षण में अचेतन प्राणियों के भी विज्ञान होता है।

३३. क्या नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में विज्ञान उपस्थित नहीं रहता? अन्धकों का विश्वास कि नहीं रहता।

चौथा अध्याय

३४. क्या गृहस्थ भी अर्हत् बन सकता है? उत्तरापथकों का विश्वास। स्थविरवादी मतानुसार अर्हत् होने पर मनुष्य गृहस्थाश्रम में नहीं रह सकता।

३५. क्या जन्म के अवसर पर ही कोई अर्हत् बन सकता है? उत्तरापथकों का भ्रम।

३६. क्या अर्हत् की प्रत्येक उपयोग-सामग्री भी पवित्र (अनासव—मल-रहित) होती है? उत्तरापथकों का मत?

३७. क्या अर्हत् होने के बाद भी मनुष्य को चार मार्ग-फलों की प्राप्ति बनी हुई रहती है? उत्तरापथकों का विश्वास।

३८. क्या ६ प्रकार की उपेक्षाओं को अर्हत् एक ही क्षण में एक ही साथ धारण कर सकता है? किस सम्प्रदाय की यह मान्यता थी, इसका उल्लेख नहीं किया गया है। स्थविरवादी मतानुसार ऐसी अवस्था सम्भव नहीं है।

३९. क्या बोधि-मात्र से बुद्ध हो जाता है? उत्तरापथकों का भ्रमात्मक विश्वास, 'बोधि' का अर्थ न समझने के कारण।

४०. क्या ३२ महापुरुष-लक्षणों से युक्त प्रत्येक मनुष्य बोधिसत्व है? उत्तरापथकों का विश्वास।

४१ क्या बोधिसत्व को बुद्ध काश्यप की शिष्यता में ही सम्यक् मार्ग की प्राप्ति हो गई थी? अन्धकों का ऐसा विश्वास था।

४२. ३७ के समान।

४३. क्या संयोजनों (चित्त-बन्धनों) के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने का नाम ही अर्हत्व है? अन्धकों का विश्वास।

पाँचवाँ अध्याय

४४. क्या विमुक्ति और विमुक्ति-ज्ञान दोनों एक ही वस्तु है ? अन्धकों की यही मान्यता ।

४५. क्या शैक्ष्य (जिसे अभी सीखना बाकी है, या जिसने अर्हत्व की अवस्था अभी प्राप्त नहीं की है) को अशैक्ष्य (अर्हत्)-सम्बन्धी ज्ञान भी उपस्थित रहता है ? उत्तरापथकों का विश्वास ।

४६. पृथ्वी-कृत्स्न के द्वारा ध्यान करने वाले का ज्ञान क्या मिथ्या-ज्ञान ही है ? अन्धकों का विश्वास।

४७. क्या 'अ-नियत' (चार आर्य-मार्गों में जो प्रतिष्ठित नहीं हुआ है) को 'नियाम' (आर्य-मार्ग की चार अवस्थाएँ, यथा स्रोत आपत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्त्व) सम्बन्धी ज्ञान उपस्थित रहता है ? उत्तरापथकों का ऐसा ही विश्वास ।

४८. क्या सभी प्रतिसम्भिदा-ज्ञान है ? अन्धकों का विश्वास ।

४९. क्या यह सत्य है कि संवृति-ज्ञान (सम्मुति ञाण—व्यावहारिक ज्ञान जिसके अनुसार हम मनुष्य, वृक्ष आदि जैसी बातें कहते हैं जिनका परमार्थतः कोई अस्तित्व नहीं) का विषय भी सत्य ही है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास ।

५०. क्या पर-चित-ज्ञान का आधार चेतना ही है ? अन्धकों का ऐसा ही मत ।

५१. क्या सम्पूर्ण भविष्य का ज्ञान सम्भव है ? अन्धकों के अनुसार सम्भव था ।

५२. क्या एक साथ सम्पूर्ण वर्तमान का ज्ञान सम्भव है ? अन्धकों के अनुसार सम्भव था ।

५३. क्या साधक को दूसरों की मार्ग-प्राप्ति का भी ज्ञान हो सकता है ? अन्धक कहते थे 'हाँ' !

छठा अध्याय

५४. क्या चार मार्गों के द्वारा आश्वासन मिल सकता है ? अन्धकों का विश्वास।

५५. क्या प्रतीत्य समुत्पाद अ-संस्कृत (अ-कृत) और शाश्वत है ? पूर्वशलीय और महीशासक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

५६. क्या चार आर्य-सत्य अ-संस्कृत और शाश्वत है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का यही मत ।

५७. क्या आकाशानन्त्यायतन (आकाश अनन्त है, ऐसे आयतन की भावना) अ-संस्कृत है ?

५८. क्या निरोध-समापत्ति (निरोध-समाधि, जिसमें चित्त की वृत्तियों का पूर्णतः निरोध हो जाता है) अ-संस्कृत है ? अन्धकों और उत्तरापथकों की मान्यता ।

५९. क्या आकाश-अ-संस्कृत है ? उत्तरापथक और महीशासकों की मान्यता ।

६०-६१. क्या आकाश, चार महाभूत, पाँच इन्द्रिय और कायिक कर्म दृश्य हैं ? अन्धकों की मान्यता ।

सातवाँ अध्याय

६२. क्या कुछ वस्तुओं का दूसरी वस्तुओं के साथ वर्गीकरण करना असम्भव है ? राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षुओं का ऐसा ही मत था।

६३. क्या ऐसे चेतसिक धर्म नहीं है, जो दूसरे चेतसिक धर्मों के साथ संयुक्त हों ? राजगृहिक और सिद्धार्थिक भिक्षु कहते कि नहीं हैं ?

६४. क्या 'चेतसिक' नाम की कोई वस्तु ही नहीं है ? 'नहीं है' यह भी कहते थे राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षु ही ।

६५. क्या दान देना भी चित्त की एक अवस्था का ही नाम है ? राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास।

६६. क्या दान-उपभोग के साथ दान का पुण्य भी बढ़ता है ? राजगिरिक, सिद्धार्थिक और सम्मितिय भिक्षुओं का विश्वास ।

६७. क्या यहाँ दिया हुआ दान अन्यत्र (पितरों के द्वारा) उपभोग किया जा सकता है ? यह प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण था, जिस पर बौद्धों को भी उस युग में सोचना पड़ा । 'पेतवत्थु' और 'खुद्दक-पाठ' के विवेचनों में हम पहले इसका कुछ निर्देश कर चुके हैं। राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षुओं का विश्वास था कि यहाँ दिये हुए भोजन का उपभोग पितर अपने लोक में करते हैं। स्थविरवादियों के अनुसार भोजन का साक्षात् उपभोग तो उनके लिये सम्भव नहीं है, किन्तु यहाँ दिये हुए दान के कारण प्रेतों के मन पर अच्छा प्रभाव अवश्य पड़ता है और वह उनके कल्याण के लिये होता है।

६८. क्या पृथ्वी भी कर्म-विपाक है ? अन्धकों का विश्वास ।

६९. क्या जरा और मृत्यु कर्म-विपाक हैं ? अन्धकों का विश्वास ।

७०. क्या चार आर्य-मार्गों से संयुक्त चित्त की अवस्थाएँ कर्म-विपाक पैदा नहीं करतीं ? अन्धकों का विश्वास।

७१. क्या एक कर्म-विपाक दूसरे कर्म-विपाक को पैदा करता है? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

आठवाँ अध्याय

७२ क्या जीवन के छह लोक हैं। अन्धक और उत्तरापथकों की मान्यता। स्थविरवादी केवल पाँच लोक मानते थे, मनुष्य-लोक, पशु-लोक, नरक-लोक, यक्ष-लोक और देव-लोक। अन्धक और उत्तरापथक एक छोटे लोक, असुर-लोक, को भी मानते थे।

७३. क्या दो जन्मों के बीच में कुछ व्यवधान होता है? पूर्वशैलीय और सम्मितिय भिक्षुओं के अनुसार होता था।

७४. क्या काम-धातु का अर्थ केवल काम-वासना-सम्बन्धी पाँच विषयों का उपभोग ही है ? पूर्वशैलीय भिक्षु मानते थे कि काम-धातु से तात्पर्य केवल पाँच इन्द्रियों (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) सम्बन्धी विषय-भोगों से है। स्थविरवादी परम्परा में इसका विस्तृत अर्थ लिया गया है, अर्थात् कामनाओं से प्रवर्तित होने वाला सारा जीव-लोक, इच्छाओं की दौड़-धूप में लगा हुआ सारा जीव-जगत्।

७५. क्या 'काम' का अर्थ है इन्द्रिय-चेतना का आधार ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत।

७६-७७. क्या रूप-धातु का तात्पर्य है केवल रूप वाले पदार्थ (रूपिनो धम्मा) ? और अ-रूप धातु का अर्थ है केवल अ-रूप वाले पदार्थ ? अन्धकों का मत।

७८. क्या रूप-लोक का प्राणी ६ इन्द्रियों वाला होता है ? अन्धकों और सम्मितियों की मान्यता।

७९. क्या अरूप-लोक में भी रूप है ? अन्धकों का विश्वास।

८०. कुशल चित्त से संयुक्त कायिक-कर्म भी क्या कुशल है ? महीशासक और सम्मितियों का मत।

८१. क्या 'रूप-जीवितेन्द्रिय' (रूप-जीवितिन्द्रिय) जैसी कोई वस्तु नहीं ? 'नहीं' कहते थे पूर्वशैलीय और सम्मितिय भिक्षु !

८२. क्या पूर्व के बुरे कर्म के कारण अर्हत् का भी पतन हो सकता है ? पूर्वशैलीय और सम्मितिय भिक्षु कहते थे कि यह सम्भव है।

नवाँ अध्याय

८३. क्या दस संयोजनों से विमुक्ति बिना धर्मों के अनित्य, दुःख और अनात्म स्वरूप को चिन्तन किये भी प्राप्त हो सकती है ? अन्धकों की मिथ्या-धारणा ।

८४. क्या निर्वाण का चिन्तन भी एक मानसिक बन्धन है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा मत ।

८५. क्या रूप आलम्बन-युक्त है ? उत्तरापथकों का 'आलम्बन' का ठीक अर्थ न जानने के कारण यह भ्रम ।

८६. क्या सात अनुशयों (चित्त-मलों) के मानसिक आधार नहीं होते ? अन्धकों और कुछ उत्तरापथकों का यही मत।

८७. क्या अन्तर्ज्ञान का भी मानसिक आधार नहीं होता ? अन्धकों का यही मत।

८८. क्या भूत या भविष्यत् की चेतना का भी कोई मानसिक आधार नहीं होता ? उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा मत ।

८९. क्या प्रत्येक चित्त की अवस्था में वितर्क रहता है ? उत्तरापथक भिक्षुओं की यही मान्यता ।

९०. क्या शब्द भी केवल वितर्क का ही बाहरी विस्तार (विप्फार) है । पूर्व-शैलीय भिक्षुओं की यही मान्यता ।

९१. क्या वाणी सदा चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? 'नहीं है' कहते थे पूर्वशैलीय, क्योंकि भूल में हमारे मुँह से कभी-कभी ऐसी बातें निकल जाती हैं, जिन्हें हम कहना नहीं चाहते ।

९२. क्या कायिक-कर्म सदा चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का उपर्युक्त के समान मत ।

९३. क्या भूत और भविष्यत् की भी प्राप्तियाँ सम्भव है ? अन्धक कहते थे 'हाँ' ।

दसवाँ अध्याय

९४. क्या पुनर्जन्म को प्राप्त कराने वाले स्कन्धों के निरोध से पूर्व ही पंचस्कधों की उत्पत्ति हो जाती है ? अन्धकों का ऐसा ही मत ।

९५. क्या आर्य अष्टांगिक मार्ग का अभ्यास करते समय व्यक्ति का रूप उसमें संनिविष्ट रहता है ? सम्मितिय, महीशास्क और महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास।

९६. क्या पाँच इन्द्रिय-चेतनाओं (जैसे देखना, सुनना आदि) का उपयोग करते हुए मार्ग की भावना की जा सकती है ? महीशासकों का यही विश्वास।

९७. क्या पाँच प्रकार की इन्द्रिय-चेतनाएँ कुशल हैं ? महीशासकों की मान्यता।

९८. क्या पाँच प्रकार की इन्द्रिय-चेतनाएँ अ-कुशल भी हैं ? उपर्युक्त के समान ही।

९९. क्या आर्य-अष्टागिक-मार्ग का अभ्यास करने वाला व्यक्ति दो प्रकार के शील (लौकिक और अलौकिक) का आचरण कर रहा है ? महासांघिकों का यही मत।

१००. क्या शील कभी-कभी अ-चेतसिक भी होता है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास।

१०१. क्या शील चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? ९१, ९२ के समान।

१०२. क्या मात्र ग्रहण करने से शील का विकास होता है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास।

१०३. क्या केवल शरीर या वाणी से विज्ञप्ति कर देना भी शील है ? महीशासक और सम्मितियों का ऐसा ही मत।

१०४. क्या नैतिक उद्देश्य की अविज्ञप्ति अकुशल है ? महासांघिकों का यही मत।

ग्यारहवाँ अध्याय

१०५. क्या सात अनुशय अव्याकृत हैं ? महासांघिकों की यह मान्यता थी।

१०६. क्या ज्ञान से असयुक्त चित्त की अवस्था में भी किसी को अविद्या से विमुक्त और विद्या से युक्त कहा जा सकता है ? महासांघिक कहते थे, 'कहा जा सकता है'।

१०७. क्या अन्तर्ज्ञान चित्त से अयुक्त भी हो सकता है। पूर्वशैलीय भिक्षु कहते थे कि हो सकता है।

१०८. क्या दुःख आर्य-सत्य का ज्ञान मात्र यह कहने से हो जाता है 'यह दुःख है' ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था।

१०९. क्या योग की विभूतियों से युक्त मनुष्य कल्प भर तक रह सकता है ? महासांघिक भिक्षु कहते थे 'हाँ'।

११०. क्या चित्त-प्रवाह (चित्त-सन्तति) समाधि में भी रहता है? सर्वास्तिवादी और उत्तरापथकों का विश्वास।

१११ क्या पदार्थों का नियमित स्वरूप स्वयं निष्पन्न (निष्फन्न) है? अन्धकों का विश्वास?

११२. क्या अनित्यता स्वयं निष्पन्न है, जैसे अनित्य पदार्थ? यह मत भी अन्धकों का था।

बारहवाँ अध्याय

११३. क्या केवल संयम और अ-संयम ही कुशल और अकुशल कर्मों की उत्पत्ति करने वाले हैं? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास।

११४. क्या प्रत्येक कर्म का विपाक अवश्य होता है? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था। स्थविरवादियों के मत के अनुसार अव्याकृत कर्म का विपाक नहीं होता।

११५-११६. क्या वाणी और शरीर की इन्द्रियाँ भी पूर्व-जन्म के कर्म के परिणाम स्वरूप हैं? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था।

११७. क्या वे स्रोत आपन्न व्यक्ति जो अधिक से अधिक सात बार आवागमन में घूमने के बाद निर्वाण प्राप्त करते हैं (सत्तक्खत्तु-परम), उस काल के अन्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त करते हैं? उत्तरापथकों का ऐसा ही मत।

११८. क्या वे स्रोत आपन्न व्यक्ति जो एक कुल से दूसरे कुल में जन्म लेने के बाद (कोलंकोल) या सिर्फ एक ही बार और जन्म लेने के बाद (एकबीजी) निर्वाण प्राप्त करते हैं, उस काल के अन्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त करते है? उत्तरापथकों का ही मत।

११९. क्या सम्यक् दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति जान-बूझ कर हत्या कर सकता है? पूर्वशैलीय भिक्षु कहते थे कि ऐसा मनुष्य अभी क्रोध-मुक्त नही हुआ, अतः क्रोध के आवेश में उसके लिये ऐसा करना असम्भव नहीं है।

१२०. क्या सम्यक्-दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति दुर्गतियों से विमुक्त हो जाता है? उत्तरापथकों का यह मत था। स्थविरवादियों के मतानुसार दुर्गति के दो अर्थ हैं, पशु-योनि आदि दुर्गतियाँ और इच्छा-आसक्ति आदि दुर्गतियाँ। उपर्युक्त व्यक्ति उनके मतानुसार केवल प्रथम दुर्गति से विमुक्त हो जाता है।

१२१. क्या स्रोत आपन्न व्यक्ति अपने सातवें जन्म में दुर्गतियों से विमुक्त हो जाता है ? उपर्युक्त के समान।

तेरहवाँ अध्याय

१२२. क्या जीवन-काल (कल्प–कप्प) के लिये दंडित व्यक्ति युग-काल (कल्प–कप्प) तक दंड भोगेगा ? 'कल्प' का अर्थ न समझने के कारण राजगिरिक भिक्षुओं का यह भ्रम था।

१२३. क्या नरक में यातना पाता हुआ प्राणी कुशल-चित्त की भावना नहीं कर सकता ? 'नहीं कर सकता' कहते थे उत्तरापथिक। स्थविरवादियों के अनुसार वह उस अवस्था में भी कुछ कुशल कर्म कर सकता है।

१२४. क्या पितृ-वध आदि दुष्कृत्यों को करने वाला भी कभी आगे चल कर शुभ कर्म-पथ पर आ सकता है। उत्तरापथक कहते थे 'आ सकता है'। स्थविरवादियों के अनुसार वह उसी अवस्था में आ सकता है, जब कि बिना निश्चय किये हुए और दूसरे की आज्ञानुसार उसने ऐसा किया हो।

१२५. क्या व्यक्ति का भाग्य उसके लिये पहले से ही निश्चित (नियत) है ? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

१२६-२७. क्या ५ नीवरणों (चित्त के आवरणों) और १० संयोजनों (चित्त-बन्धनों) को जीतते समय भी व्यक्ति इनसे युक्त हो सकता है? उत्तरापथक भिक्षुओं का विश्वास था कि हो सकता है।

१२८. क्या ध्यान के अन्दर ध्यान का आस्वाद होता है और ध्यान की इच्छा ही उसका आलम्बन (विषय) है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

१२९. क्या अ-सुखकर वस्तु के लिये भी आसक्ति हो सकती है ? उत्तरापथकों का ऐसा ही विश्वास।

१३०. क्या मन के विषयों की तृष्णा (धम्म-तण्हा) अव्याकृत है, और

१३१. क्या वह दुःख का कारण नहीं है? ये दोनों मत पूर्वशैलीय भिक्षुओं के थे।

चौदहवाँ अध्याय

१३२. क्या कुशल-मूल (अ-लोभ, अ-द्वेष अ-मोह) अ-कुशल मूलों (लोभ, द्वेष, मोह) के बाद पैदा होते है? महासांघिकों का मिथ्या विश्वास था।

१३३. माता के पेट में गर्भ में आते समय क्या ६ इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन) साथ-साथ ही उत्पन्न होती हैं? पूर्वशैलीय भिक्षुओ का ऐसा ही विश्वास था ।

१३४. क्या एक विज्ञान (चक्षु-विज्ञान आदि) किसी दूसरे विज्ञान के बाद उत्पन्न हो सकता है ? उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

१३५. क्या वाणी और शरीर का पवित्र भौतिक कार्य चार महाभूतों से ही उत्पन्न होता है ? उत्तरापथकों का यही विश्वास था।

१३६. क्या काम-वासना-सम्बन्धी अनुशय और उसका प्रकाशन दो विभिन्न वस्तुएँ हैं? अन्धकों का यही विश्वास था।

१३७. क्या अनुशयों का प्रकाशन चित्त से असंयुक्त (विप्पयुत्त) है ? अन्धकों का यही मत था।

१३८. क्या रूप-राग, रूप-धातु में ही अन्तर्हित और सम्मिलित है ? अन्धक और सम्मितिय भिक्षुओं का यही विश्वास था ।

१३९. क्या मिथ्या मत-वाद अ-व्याकृत हैं? अन्धक और सम्मितिय भिक्षुओं का यही मत था। वे 'अव्याकृत' शब्द के ठीक अर्थ को नहीं समझते थे।

१४०. क्या मिथ्या मत-वाद, लौकिक क्षेत्र से असम्बन्धित, साधकों के लोकोत्तर क्षेत्र में भी पाये जाते है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का यह मिथ्या विश्वास था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

१४१. क्या 'प्रतीत्य समुत्पाद' का प्रत्येक धर्म (अवस्था) केवल एक ही प्रत्यय का सूचक है ? महासांघिक भिक्षुओं का ऐसा ही मत था।

१४२. क्या यह कहना गलत है कि 'संस्कारों के प्रत्यय से अविद्या की उत्पत्ति होती है, जैसे कि 'अविद्या के प्रत्यय से संस्कारों की उत्पत्ति होती है ?' महासांघिकों के मतानुसार यह कहना गलत ही था। स्थविरवादियों ने इसे 'सहजात-प्रत्यय' या 'अन्योन्य-प्रत्यय' के आधार पर व्याख्यात किया है और गलत नहीं माना ।

१४३. क्या काल परिनिष्पन्न (परिनिष्फन्न) है ?

१४४. क्या काल के सभी क्षण परिनिष्पन्न हैं ?

१४५. क्या आस्रव (काम-आस्रव, भवास्रव, दृष्टि-आस्रव, अविद्यास्रव) दूसरे आस्रवों से असंलग्न है? हेतुवादी भिक्षुओं का यही मत था।

१४६. क्या लोकोत्तर भिक्षुओं के जरा और मरण भी लोकोत्तर होते हैं? महासांघिकों का यह मत था। स्थविरवादियों के मतानुसार इनकी भौतिक या मानसिक सत्ता ही नहीं है, अतः न ये लौकिक हैं, न लोकोत्तर।

१४७. क्या निरोध-समापत्ति (निरोध-समाधि) लोकोत्तर है? हेतुवादियों का मत।

१४८. क्या वह लौकिक (लोकिय) है? पूर्वोक्त के समान।

१४९. क्या निरोध-समाधि की अवस्था में मृत्यु भी हो सकती है। राजगिरिक कहते थे कि हो सकती है। स्थविरवादी भिक्षुओं के मतानुसार नहीं हो सकती।

१५०. क्या निरोध-समाधि के बाद संज्ञा-हीन प्राणियों (असञ्ञासत्त) के लोक में उत्पत्ति होती है? हेतुवादियों का यही मिथ्या विश्वास था।

१५१. क्या कर्म और कर्म-संचय दो विभिन्न वस्तुएँ हैं? अन्धक और सम्मितियों का ऐसा ही विश्वास।

सोलहवाँ अध्याय

१५२-५३. क्या कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन को नैतिक रूप से शिक्षित कर सकता है या उसे सहायता पहुँचा सकता है? महासांघियों का यह मत था।

१५४. क्या एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन में सुख उत्पन्न कर सकता है? हेतुवादियों का ऐसा विश्वास था।

१५५. क्या एक ही समय अनेक वस्तुओं की ओर हम ध्यान दे सकते हैं? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं के मतानुसार यह सम्भव था।

१५६-५७. क्या रूप भी एक हेतु है? क्या यह हेतुओं से युक्त है? ये दोनों मत उत्तरापथकों के थे।

१५८. क्या रूप कुशल या अकुशल हो सकता है? महीशासक और सम्मितिय भिक्षुओं का यह विश्वास था।

१५९. क्या रूप कर्म-विपाक है? अन्धक और सम्मतियों की मान्यता।

१६०. क्या रूपावचर और अरूपावचर लोकों में भी रूप है? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था।

१६१. क्या रूप-राग और अरूप-राग, क्रमशः रूप-धातु और अरूप-धातु में सम्मिलित हैं? अन्धकों की यही मान्यता थी।

सत्रहवाँ अध्याय

१६२. क्या अर्हत् भी पुण्यों का संचय करता है ? अन्धकों की मान्यता।

१६३. क्या अर्हत् की अकाल मृत्यु नहीं हो सकती ? नहीं हो सकती, ऐसा राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षु मानते थे।

१६४. क्या हर वस्तु कर्मों के कारण है ? राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षु ऐसा ही विश्वास रखते थे।

१६५. क्या दुःख छह इन्द्रिय-अनुभूतियों तक ही सीमित है ? हेतुवादियों की यह मान्यता थी।

१६६. क्या आर्य-मार्ग को छोड़कर सभी वस्तुएं और संस्कार, दुःख(कृत) हैं। हेतुवादियों का ऐसा ही विश्वास था।

१६७. क्या यह कहना गलत है कि संघ दान ग्रहण करता है। यह मत वेतुल्यक नामक महाशून्यतावादियों का था। संघ की चार आर्य-मार्गों और उनके फलों के रूप में व्याख्या करना इनका मुख्य सिद्धान्त था। इनके सिद्धान्तों में हम महायान-धर्म के बीज पाते है।

१६८-७१. क्या यह कहना गलत है कि संघ दान को पवित्र करता है, या स्वयं उसे खाता, पीता है, या संघ को दान की हुई वस्तु बड़ा पुण्य पैदा करती है, या बुद्ध को दान की हुई वस्तु बड़ा पुण्य पैदा करती है ? ये सब सिद्धान्त वेतुल्यक नामक महाशून्यतावादियों के थे। इन्हीं से बाद में महायान-सम्प्रदाय का विकास हुआ।[१]

---

१. **मिलाइये, ज्ञानातिलोक** "According to my opinion **वैतुल्य** is a distortion of **वैपुल्य** and the **वैपुल्य** sutras of the Mahayana refer to the above-mentioned heretics (Vetulyakas known as **महाशून्यतावादिन्** s) whose ideas, too, appear to be perfectly Mahayanistic"-**गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ६०; राहुल सांकृत्यायन : "वैपुल्य ही वह नाम है जिससे महायान आरम्भिक काल में प्रसिद्ध हुआ"। पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३१। 'शून्यता' (सुञ्ञता) के विचार का निर्देश संयुत्त-निकाय के ओपम्म-वग्ग में तथा अंगुत्तर-निकाय के अनागतभय-सूत्रों (पंचक निपात) में हुआ है। अंगुत्तर-निकाय में तथागत-भाषित सूत्रों को 'शून्यता-प्रतिसंयुक्त' बताया गया है। "ये ते**

१७२. क्या दान देने वाले के द्वारा ही पवित्र किया जाता है, ग्रहण करने वाले के द्वारा नहीं ? उत्तरापथकों का यही विश्वास था।

अठारहवाँ अध्याय

१७३-७४. क्या यह कहना गलत है कि बुद्ध मनुष्यों के लोक में रहे ? क्या यह भी गलत है कि उन्होंने उपदेश दिया ? 'हाँ गलत ही है' ऐसा वेतुल्यक (वैपुल्यक) कहते थे। बाद में चल कर महायान-धर्म ने (लंकावतार-सूत्र में) भी यही कहा "भगवान् तथागत मौन हैं। भगवान् बुद्ध ने कभी किसी को कुछ नहीं सिखाया" (मौनाः हि भगवन्तस्तथागताः। न मौनैस्तथागतैर्भाषितम्)। इस सबके बीज हम यहीं पाते हैं।

१७५. क्या बुद्ध को करुणा उत्पन्न नहीं हुई ? 'नहीं हुई' कहते थे उत्तरापथक, क्योंकि करुणा को भी वे आसक्ति का ही रूप मानते थे।

१७६. क्या यह सत्य है कि भगवान् बुद्ध के मल में से भी अद्वितीय सुगन्ध आती थी ? अन्धक और उत्तरापथकों का यही मत था।

१७७. क्या केवल एक आर्य-मार्ग के अभ्यास से चारों आर्य-मार्गों (स्रोत आपत्ति आदि) के फलों को प्राप्त किया जा सकता है ?

१७८. क्या एक ध्यान के ठीक बाद दूसरे ध्यान में साधक प्रवेश कर जाता है ? महीशासकों का ऐसा ही विश्वास था।

सुत्तन्ता तथागतभासिता सुञ्ञतापटिसंयुत्ता।" इस विषय सम्बन्धी अधिक निरूपण के लिए देखिये श्रीमती रायस डेविड्स : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अनुवाद), पृष्ठ ४२ (भूमिका); देखिये सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र में "वैपुल्यसूत्राणि प्रकाशयामि।" २।५२ तथा "वैपुल्यसूत्राणि च धारयेत।" ३।१४६ (डा० नलिनाक्ष दत्त द्वारा सम्पादित देवनागरी संस्करण, कलकत्ता, १९५३)। 'वैपुल्य' शब्द के सम्बन्ध में मिलाइये दि सूत्र ऑव वे-लेंग्, पृष्ठ ८५ भी। (लन्दन, १९४४)। बोधिधर्म ने चीनी सम्राट् वू-ति के दानादि कृत्यों में कोई पुण्य नहीं माना था। व 'धर्म-काय' में, 'मन के सार' में, महाशून्यता में, वास्तविक 'पुण्य' मानते थे। मुझे स्पष्टतः लगता है कि ध्यान-सम्प्रदाय का भी विशेष सम्बन्ध कथावत्थु में निर्दिष्ट इन महाशून्यतावादी वेतुल्यकों से होना चाहिये।

१७९. ध्यानों के पंचविध विभाजन में जिसे द्वितीय ध्यान कहा जाता है, वह क्या केवल प्रथम और द्वितीय ध्यान के बीच की अवस्था है? सम्मितिय और कुछ अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था।

१८०. क्या साधक ध्यान में शब्दों को सुन सकता है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं की यही मान्यता थी?

१८१. क्या दृश्य पदार्थ आँखों से ही देखे जाते हैं? महासाघिकों के मतानुसार (पसाद-चक्खु) जो केवल भौतिक विकार है, देखती है। स्थविरवादियों के मतानुसार वह केवल देखने का आधार या आयतन है और जो देखता है, वह तो वास्तव में चक्षु-विज्ञान है।

१८२. क्या हम भूत, वर्तमान और भविष्यत् के मानसिक क्लेशों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं? उत्तरापथकों के अनुसार कर सकते हैं।

१८३. क्या शून्यता संस्कार-स्कन्ध में सम्मिलित है? अन्धकों के अनुसार सम्मिलित है।

१८४. क्या मार्ग-फल अ-संस्कृत है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत।

१८५. क्या किसी वस्तु की प्राप्ति स्वयं अ-संस्कृत है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत।

१८६. क्या 'तथता' (वस्तुओं का निश्चित भाव) अ-संस्कृत है? उत्तरापथकों में से कुछ का यह विश्वास था। बाद में चल कर अश्वघोष के 'भूततथता' के सिद्धान्त का यहाँ बीज पाया जाता है। महायान में तथता का विस्तृत दर्शन है।

१८७. क्या निर्वाण-धातु कुशल है? अन्धकों का मत। कुशल को सामान्यतः 'निर्दोष' या 'पवित्र' मानकर वे निर्वाण को भी 'कुशल' कहते थे।

१८८. क्या सांसारिक मनुष्य (पृथग्जन) में भी अत्यन्त नियमवत्ता (अच्चन्त-नियामता) हो सकती है? उत्तरापथकों में से कुछ के मतानुसार हो सकती

१८९. है। क्या ऐसी श्रद्धेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं जो लौकिक हों और जिन्हें साधारण आदमी (पृथग्जन) भी प्राप्त कर सके? नहीं हैं, ऐसा महीशासक और हेतुवादी भिक्षु कहते थे।

बीसवाँ अध्याय

१९०. क्या बिना जान-बूझ कर किये हुए पितृ-वध आदि अपराधों के कारण भी नरक में जन्म लेना पड़ता है? उत्तरापथक ऐसा मानते थे।

१९१. क्या साधारण सांसारिक मनुष्य (पृथग्जन) को सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता? नहीं हो सकता, कहते थे हेतुवादी।

१९२. क्या नरक में फाँसी लगाने वाले या चौकीदार नहीं हैं। 'नहीं हैं' कहते थे अन्धक।

१९३. क्या देवताओं के पशु भी होते हैं? अन्धकों के अनुसार होते थे!

१९४. क्या आर्य अष्टांगिक मार्ग वास्तव में पाँच अंगों वाला ही है? महीशासक ऐसा ही मानते थे। सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव को वे मानसिक दशा न मान कर उनका अन्तर्भाव केवल सम्यक् व्यायाम में कर देते थे।

१९५. क्या चतुरार्य सत्य-सम्बन्धी १२ प्रकार के ज्ञान लोकोत्तर हैं? पूर्वशैलीय भिक्षु उन्हें ऐसा ही मानते थे।

इक्कीसवाँ अध्याय

१९६. क्या बुद्ध-उपदेशों में कोई संस्कार किया गया है? क्या उनमें फिर संस्कार किया जा सकता है? इन दोनों बातों की सम्भावना उत्तरापथक भिक्षु मानते थे। स्थविरवादियों ने दोनों का विरोध किया है। बुद्ध की शिक्षाओं का संस्कार या सुधार सम्भव नहीं है।

१९७. क्या सांसारिक मनुष्य की पहुँच एक ही क्षण में काम-लोक, रूप-लोक और अ-रूप-लोक की वस्तुओं में हो सकती है? हो सकती है, ऐसा कुछ विरोधी सम्प्रदाय के लोग मानते थे, किन्तु उनके नाम का निर्देश अट्ठकथा में नहीं किया गया है।

१९८. क्या बिना कुछ संयोजनों का विनाश किए भी अर्हत्त्व प्राप्ति हो सकती है? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था।

१९९. क्या बुद्ध और उनके कुछ शिष्यों को प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में योग की शक्तियाँ प्राप्त हुई रहती हैं। अन्धकों का विश्वास।

२००. क्या विभिन्न बुद्धों में भी कुछ श्रेणी का तारतम्य है? अन्धक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं का ऐसा ही मत था।

२०१. क्या संसार के चारों भागों में बुद्धों का निवास है। महासांघिकों का यह विश्वास था। बाद के महायानी ग्रंथ 'सुखावती-व्यूह' में इसी विश्वास का प्रतिपादन किया गया है। 'सुखावती-व्यूह' में प्रत्येक भाग में रहने वाले

बुद्ध का नाम भी दिया हुआ है, जैसे पश्चिमी भाग में भगवान् अमिताभ बुद्ध रहते हैं पूर्वी भाग में अमितायु आदि। महासांघिकों को अभी इसका पता नहीं है।

२०२.-३. क्या सभी वस्तुएँ और कर्म नियत हैं? अन्धक और कुछ उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

बाईसवाँ अध्याय

२०४. क्या बिना कुछ संयोजनों का विनाश किए भी निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है? अन्धकों का विश्वास था कि हो सकती है। यह मत १९८ के प्रायः समान ही है।

२०५. क्या अर्हत् के शरीर त्याग करते समय उसका चित्त 'कुशल' रहता है। अन्धकों का यह भ्रमात्मक कथन था। 'कुशल' के दार्शनिक अर्थ को वे ठीक-ठीक न समझते थे।

२०६. क्या निश्चल (आनेञ्ज) ध्यान की अवस्था में भी बुद्ध या किसी अर्हत् की मृत्यु हो सकती है? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की यही मिथ्या धारणा थी।

२०७-८. क्या गर्भ की अवस्था में या स्वप्न की अवस्था में सत्य का अन्तर्ज्ञान (धम्माभिसमय) या अर्हत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। उत्तरापथक भिक्षु इसकी सम्भावना मानते थे।

२०९. क्या स्वप्न की अवस्था में चित्त 'अव्याकृत' रहता है? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की ऐसी ही मान्यता थी। स्थविरवादियों के मतानुसार कुशल और अकुशल अवस्थाएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं।

२१०. क्या शुभ और अशुभ मानसिक अवस्थाओं की पुनरावृत्ति सम्भव नहीं है। ऐसी मान्यता उत्तरापथक भिक्षुओं की थी।

२११. क्या सभी पदार्थ (धर्म) एक क्षण तक ही रहते हैं? ऐसी मान्यता पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं की थी।

२१२. क्या (पुरुष और स्त्री के) संयुक्त विचार के साथ मैथुन-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है? यह बात वेतुल्यकों ने उठाई थी, किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि उनका तात्पर्य भिक्षुओं से है या गृहस्थों से। स्थविरवादियों ने इसका कड़ा प्रतिवाद किया है।

२१३. क्या ऐसे अ-मानुषी जीव हैं जो भिक्षुओं का रूप धारण कर मैथुन सेवन करते हैं? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की ऐसी मान्यता थी।

२१४. क्या बुद्ध ने अपनी शक्ति और इच्छा से ही बोधिसत्व होते समय पशु आदि योनियों में प्रवेश किया, माता के गर्भ में प्रवेश किया, कड़ी तपस्याएँ की और एक दूसरे गुरु के लिए तपस्या की? अन्धकों की यह मान्यता थी।

२१५. क्या ऐसी वस्तु है जो स्वयं काम नहीं, किन्तु काम के समान है? (दया, सहानुभूति, आदि)। इसी प्रकार घृणा नहीं, किन्तु घृणा के समान है, (ईर्ष्या, मात्सर्य) आदि। अन्धकों की ये मान्यताएँ थीं।

२१६. क्या यह कहना ठीक है कि पंच-स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातु और २२ इन्द्रियाँ, 'असंस्कृत' हैं और केवल दुःख 'सस्कृत' या परिनिष्पन्न (परिनिष्फन्न) है? उत्तरापथक और हेतुवादी भिक्षुओं की ऐसी ही मान्यता थी।

ऊपर हम कथावत्थु में निराकृत २१६ मतवादों का संक्षिप्त विवरण दे चुके है। इनमें से बहुत कुछ अल्प महत्त्व के हैं, परन्तु अधिकांश मतवाद बड़े महत्त्व के हैं। उनसे बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वास्तव में इसी दृष्टि से उन्हें ऊपर उद्धृत भी किया गया है। कथावत्थु की अट्ठकथा ने जिन सम्प्रदायों के साथ उपर्युक्त मतवादों में से प्रत्येक को संलग्न किया है (कुछ को बिना संलग्न किए भी छोड़ दिया है जैसे २५, ३०, ३१, ३८, १४३, १४४, १७७, और १९७,) उनकी दृष्टि से मतवादों का संकलन करने पर निम्नलिखित सूची बनेगी, जो बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक विकास के विद्यार्थी के लिए बड़ी आवश्यक हो सकती है—

वज्जिपुत्तक	१, २
महिंसासक (महीशासक)	२१, ५५, ५९, ८०, ९५, १०३, १५८, १७८, १८९, १९४
महासांघिक	९५-१००, १०२, १०४-६, १०९, ११३-१६, १३२, १४१, १४२, १४६, १५२, १५३, १८१, १९८, २०१
गोकुलिक	१८
सब्बत्थिवादी (सर्वास्तिवादी)	२, ६, ७, १९, ११०

सम्मितिय	१-५, १९, २६, २८, २९, ६६, ७३-७८, ८०-८२, ९५, १०३, १३८, १३९, १५१, १५८, १५९, १७९
भद्रयानिक	१९
कस्सपिक (काश्यपिक)	८
हेतुवादी	१४५, १४७-४८, १५०, १५४, १६५-६६, १८९, १९१, २१६
उत्तरापथक	३४-३७, ३९, ४०, ४५, ४७, ५८, ५९, ७२, ८५, ८६, ८८, ८९, ११०, ११७-१८, १२०, १२३-२४, १२६-२७, १२९, १३४-३५, १५०-५७, १७२, १७५-७७, १८२, १८६, १८८, १९०, १९६, २०२-३, २०६-९, २१०-१६
अन्धक	९, १०, १७, १९-२४, २६, २८, २९, ३२, ३३, ४१-४४, ४६, ४८-५४, ५८, ६०, ६१, ६८-७२, ७६-७९, ८३, ८६, ८७, ९३, ९४, १०८, १११-१२, १२८, १३६-३९, १५१, १५९-६२, १७६-७७, १७९, १८३, १८७, १९२-९३, १९९, २००, २०४-५, २१२, २१४, २१५
पुब्बसेलिय (पूर्वशैलीय)	११-१६, ५५, ५६. ७३-७५, ८१, ८२, ८४, ९०-९२, १०७, ११९, १२५, १३०, १३१, १३३, १४०, १५५, १८०, १८४, १८५, १९५, २११
अपरसेलिय (अपरशैलीय)	११, १२५, १३५, २११
राजगिरिक	६२-६५, ६७, १२२, १४९, १६३-६४
सिद्धत्थिक (सिद्धार्थिक)	६२-६७, १६३-१६४
वेतुल्यक	१७३-७४, २१२
महाशून्यतावादी वेतुल्यक	१६७–७१[1]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के प्रारंभिक विकास को समझने के लिए 'कथावत्थु' की समीक्षाओं का कितना अधिक महत्त्व है। किन्तु ये समीक्षाएँ

---

१. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८

केवल एक सम्प्रदाय (स्थविरवाद) की है, यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए। जिस प्रकार 'कथावत्थु' में स्थविरवादी दृष्टिकोण से अन्य विरोधी सिद्धान्तों का खडन किया गया है, उसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों की परम्परा में शेष सम्प्रदायों (जिनमें स्थविरवादी भी सम्मिलित है) का खंडन किया गया है। उदाहरणत: वसुमित्र के 'अष्टादश-निकाय शास्त्र'[1] में सर्वास्तिवादी दृष्टिकोण से शेष १७ सम्प्रदायों का खंडन किया गया है। इसी प्रकार तिब्बती और चीनी अनुवादों में कुछ अन्य संप्रदायों की दृष्टियों से भी खंडन-मंडन मिलते हैं।[2] चूँकि हमारे विषय से ये सीधे सम्बन्धित नहीं हैं, अत: इनके तुलनात्मक अध्ययन में पड़ना हमारे लिए अप्रासगिक होगा। 'कथावत्थु' की दृष्टि से इतना कह देना ही आवश्यक जान पड़ता है कि अन्य बौद्ध सम्प्रदायों की परम्पराओं में प्राप्त सिद्धान्तों के विवरणों से उसके विवरणों की विभिन्नता नहीं है। केवल समालोचना-दृष्टि का भेद अवश्य है, जो सप्रदाय-विभेद के कारण आवश्यक हो गया है। जहाँ तक आपेक्षिक प्रामाण्य का सवाल है, निश्चय ही 'कथावत्थु' की परम्परा प्राचीन है और उसी का अनुवर्तन बाद में 'दीपवंस' और 'महावंस' में भी मिलता है। वसुमित्र और भव्य के वर्णन अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। संस्कृत बौद्ध धर्म की परम्परा का उसके मूल स्रोत से कई बार ऐतिहासिक उलट-पुलटों के कारण विच्छेद भी हो चुका है। अत: पालि वर्णन ही अधिक प्रामाणिक और समाश्रयणीय है। अत: 'कथावत्थु' के नाना सम्प्रदायों के सिद्धान्त-विवरण प्रामाणिक माने जा सकते हैं और बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक विकास के प्रारम्भिक स्वरूप को समझने के लिए आज भी उसका पर्याप्त महत्व है, इसमें सन्देह नहीं।

यमक[3]

'यमक' का शाब्दिक अर्थ है जोड़ा या जुड़वाँ पदार्थ। 'यमक पकरण' में प्रश्नों को जोड़ों के रूप में रक्खा गया है, यथा (१) क्या सभी कुशल-धर्म कुशल-

---

१. इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं है। केवल चीनी अनुवाद मिलता है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् प्रो० मसूदा ने किया है। वसुमित्र द्वारा दिये गये कुछ सम्प्रदायों के परिचय के लिये देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ८२८-३१।

२. देखिये जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१०, पृष्ठ ४१३

३. श्रीमती रायस डेविड्स एवं अन्य तीन सहायक सम्पादकों द्वारा रोमन लिपि में

मूल हैं? क्या सभी कुशल-मूल कुशल-धर्म हैं? (२) क्या सभी रूप रूप-स्कन्ध हैं? क्या सभी रूप-स्कन्ध रूप है? (३) क्या सभी अ-रूप अ-रूप स्कन्ध हैं? क्या सभी अ-रूप-स्कन्ध अ-रूप हैं? आदि, आदि। प्रश्नों के अनुकूल और विपरीत स्वरूपों का यह जोड़ा बनाना इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक देखा जाता है। इसीलिए इसका नाम 'यमक' पड़ा है। 'यमक' का मुख्य विषय है अभिधम्म में प्रयुक्त शब्दावली की निश्चित व्याख्या करना। अतः उसका अभिधम्म-दर्शन के लिए वही महत्व और उपयोग है, जो एक निश्चित पारिभाषिक शब्द-कोश का किसी पूर्ण दर्शन-प्रणाली के लिए। उसकी बहुत कुछ शुष्कता का भी यही कारण है। 'यमक' दस अध्यायों में विभक्त है, जिनमें निर्दिष्ट विषयों के साथ धम्मों के सबंधों को दिखाना ही उसका लक्ष्य है? अध्यायों के विषय उनके नामों से ही स्पष्ट हो जाते है, यथा

(१) मूल यमक—कुशल, अकुशल और अव्याकृत, ये तीन 'मूल' धर्म या पदार्थ।
(२) खन्ध-यमक—पञ्च-स्कन्ध।
(३) आयतन-यमक—१८ आयतन।
(४) धातु-यमक—१८ धातुएँ।
(५) सच्च-यमक—४ सत्य।
(६) सखार-यमक—सस्कार, कायिक, वाचिक और मानसिक।
(७) अनुसय-यमक—७ अनुशय (चित्त के अन्दर सुषुप्त बुराइयाँ)।
(८) चित्त-यमक—चित्त-सबधी प्रश्नोत्तर।
(९) धम्म-यमक—धर्मो-सबधी प्रश्नोत्तर।
(१०) इन्द्रिय-यमक—२२ इन्द्रियाँ।

प्रत्येक अध्याय की विषय-प्रतिपादन शैली प्रायः समान है। प्रायः प्रत्येक अध्याय तीन भागों में विभक्त है (१) पञ्ञत्ति-वार (शब्द-प्रज्ञापन-विभाग), (२) पवत्ति-वार (प्रक्रिया-विभाग) और (३) परिञ्ञा-वार (अन्तर्ज्ञान-विभाग)। प्रथम

सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसायटी (लन्दन, १९११ एवं १९१३) द्वारा दो जिल्दों में प्रकाशित। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा सन् १९६१ में ३ भागों में प्रकाशित।

भाग के भी दो उपविभाग हैं (अ) 'उद्देस-वार (प्रश्न-कथन) और निद्देस-वार (व्याख्या-खण्ड)। 'उद्देस-वार' में प्रश्नों का कथन जोड़े के रूप में किया गया है, यथा, क्या सभी रूप को रूप-स्कन्ध कहा जा सकता है? क्या सभी रूप-स्कन्ध को रूप कहा जा सकता है? आदि। 'निद्देस-वार' में इसकी व्याख्या की गई है। द्वितीय मुख्य भाग 'पवत्ति-वार' के तीन भाग है, यथा (अ) उप्पाद-वार (उत्पत्ति-विभाग), (आ) निरोध-वार (विनाश-विभाग) और (इ) उप्पाद-निरोध-वार (उत्पत्ति और विनाश सबधी विभाग)। 'उप्पाद-विभाग' में यह दिखाया गया है कि भिन्न-भिन्न धर्मो की किस प्रकार उत्पत्ति होती है? प्रश्नों का ढग तो वही जड़वाँ नमूने का है, यथा 'क्या वेदना-स्कन्ध उसको भी उत्पन्न होता है, जिसको रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है? क्या रूप-स्कन्ध उसको भी उत्पन्न होता है, जिसको वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी उत्पन्न होता है, जिसमें रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी उत्पन्न होता है, जिसमें वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है?' आदि, आदि। 'निरोध-वार' में इसी प्रकार धर्मो के विनाश या अस्तंगमन संबधी प्रश्न किये गये है, यथा 'क्या वेदना-स्कन्ध का भी उसके अन्दर निरोध हो जाता है, जिसके अन्दर रूप-स्कन्ध का निरोध हो जाता है? क्या रूप-स्कन्ध का भी उसके अन्दर निरोध हो जाता है, जिसके अन्दर वेदना-स्कन्ध का निरोध हो जाता है?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी निरुद्ध हो जाता है, जिस जीवन-भूमि में रूप-स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी निरुद्ध हो जाता है, जिस जीवन-भूमि में वेदना-स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है?' आदि, आदि। 'उप्पाद-निरोध-वार' में इस क्रम को उल्टा कर दिया गया है। उसके प्रश्न इस प्रकार के हैं—'क्या वेदना-स्कन्ध उसके अन्दर निरुद्ध हो जाता है, जिसके अन्दर रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है? क्या रूप-स्कन्ध उसके अन्दर निरुद्ध हो जाता है, जिसके अन्दर वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है'? 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में निरुद्ध हो जाता है, जिस भूमि में रूप-स्कन्ध पैदा होता है? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में निरुद्ध हो जाता है, जिस जीवन भूमि में वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है?' आदि, आदि। तृतीय मुख्य भाग 'परिञ्ञा-वार (अन्तर्ज्ञान-भाग) में प्रश्नोत्तर के रूप में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि धम्मों का अन्तर्ज्ञान किस प्रकार पैदा होता है। इसके प्रश्न इस प्रकार है—'क्या जिसने रूप-स्कन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे वेदना-स्कन्ध का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है?

क्या जिसने वेदना-स्कन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे रूप-स्कन्ध का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है?' आदि, आदि।

इससे अधिक 'यमक' की वीथियों में भ्रमण करना "सूखी हड्डियों की घाटी" में भ्रमण करना ही होगा, जैसा श्रीमती रायस डेविड्स ने उसे कहा है।[1] वास्तव में यह किसी भी पारिभाषिक शब्द-कोश के लिए कहा जा सकता है। 'यमक' भी अभिधम्म का शब्द-कोश ही है। अतः उसका सूखापन भी अभिधम्म के विद्यार्थियों के लिए एक सतत उपयोग और महत्व की वस्तु है।

पट्ठान[2]

अभिधम्म-दर्शन धम्मों (पदार्थों-अवस्थाओं) का एक परिपूर्ण दर्शन है। धम्म-संगणि में धम्मों का विश्लेषण, विभंग में उनका वर्गीकरण, धातुकथा में उस वर्गीकरण के कुछ शीर्षकों पर अधिक प्रकाश, पुग्गलपञ्ञत्ति में इस धम्म-दर्शन की पृष्ठभूमि में व्यक्तियों के प्रकारों का निरूपण, कथावत्थु में अभिधम्म-दर्शन संबंधी मिथ्या धारणाओं के निरसन के द्वारा उसके विमल, मौलिक स्वरूप का प्रकाशन, यमक में अभिधम्म-गृहीत पारिभाषिक शब्दावली की सदा के लिए भ्रम निवारण

---

१. इस ग्रन्थ की क्लिष्ट शैली और दुरूह विषय-वस्तु के कारण श्रीमती रायस डेविड्स् जैसी महाप्राज्ञा एवं अभिधम्म-दर्शन की मननशीला अध्येत्री को भी अनेक विप्रतिपत्तियों में पड़ जाना पड़ा। उनकी कठिनाइयों और सन्देहों का निवारण प्रसिद्ध बर्मी बौद्ध विद्वान् स्थविर लेदि सदाव ने किया था। लेदि सदाव के विचार एक पालि निबन्ध के रूप में 'यमक' के पालि टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित संस्करण के परिशिष्ट में निहित हैं। ऐतिहासिक गौरव को प्राप्त यह निबन्ध पालि-साहित्य के विद्यार्थियों के द्वारा द्रष्टव्य है।

२. श्रीमती रायस डेविड्स् ने इस ग्रंथ का अंशतः सम्पादन पालि टैक्स्ट् सोसायटी के लिए किया है। दुक-पट्ठान, भाग प्रथम (१९०६) एवं तिक-पट्ठान भाग १-३ (१९२१-२३)। इस ग्रंथ के बरमी, सिंहली एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा ६ भागों में सन् १९६१ में प्रकाशित।

करने वाली निश्चित व्याख्या, अभिधम्म-दर्शन का इतना विकास अभी हम उसके छह ग्रन्थों में देख चुके हैं। सातवें ग्रन्थ (पट्ठान) में अब हम अभिधम्म-दर्शन की एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमि पर आते हैं। यही वह भूमि है जहाँ से वह नित्य, ध्रुव पदार्थ, के गवेषक अन्य भारतीय दर्शनों का साथ छोड़ देता है। कम से कम उनकी सी गवेषणा में तो वह प्रवृत्त नहीं होता। निरन्तर परिणामी 'धर्मों' का विश्लेषण करने के बाद उनकी तह में किसी अ-परिणामी 'धर्मी' को भी क्या अभिधम्म ने देखा है? ऐसी जिज्ञासा हम अमरता के लालची अवश्य करेंगे। किन्तु लालच (तृष्णा) को अवकाश तथागत ने कब दिया, फिर चाहे वह अमरता का ही क्यों न हो? हमारा प्रश्न ही गलत है, ऐसा ही उत्तर यहाँ तो हम पायेंगे। अतः बुद्ध-अनुगामी स्थविरों ने भी धम्मों या पदार्थों की अवस्थाओं का ही अध्ययन किया है, प्रवाहों और घटनाओं (जिनमें ही संपूर्ण नाम (विज्ञान-तत्व) और रूप (भौतिक-तत्व) सन्निहित है) के अनित्य, दुःख और अनात्म स्वरूप पर ही जोर दिया है। उनमें अन्तर्हित किसी कूटस्थ, नित्य, ध्रुव पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि पर उन्होंने जोर नहीं दिया। क्यों? क्योंकि उनके शास्ता के शब्दों में "यह न ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी है और न निर्वेद, शान्ति, परम ज्ञान और निर्वाण के लिए ही आवश्यक है।" इस उद्देश्य को समझ लें तो पालि बुद्ध-दर्शन ने अपनी जिज्ञासाओं की जो मर्यादा बाँध ली है, उसको हृदयंगम करना आसान हो जाता है। फिर भी अनात्मवादी बुद्ध-मत भौतिकतावादी नहीं है।

जहाँ तक दार्शनिक परिस्थिति की पूर्णता का सवाल है, उसके लिए भी तथागत ने पर्याप्त अवकाश और आश्वासन दिया है। जिसे उन्होंने 'अनत्ता' (अनात्मा) के रूप में निषिद्ध किया है, उसे ही उन्होंने 'निब्बाण' (निर्वाण) के रूप में प्रतिष्ठित किया है। सभी भौतिक और मानसिक अवस्थाएँ अनित्य, दुःख और अनात्म हैं, सापेक्ष हैं, कार्य और कारण की शृंखला से बद्ध हैं। किन्तु निर्वाण असंस्कृता धातु है। वह कार्य-कारण भाव से बद्ध नहीं है। वह उससे ऊपर है। अनपेक्ष है, परमार्थ है। सत्-असत् से ऊपर है, निसर्गतः विशुद्ध है। किन्तु दुःख-निवृत्ति की साधना तो भव-प्रवाह में ही करनी है, जो कार्य-कारणभाव से संचालित है। अतः उसी की गवेषणा प्रधान रूप से करनी इष्ट है। भगवान् बुद्ध ने समग्र मानसिक और भौतिक जगत् में यदि किसी नियामक को नहीं तो नियम को तो अवश्य ही देखा है, यदि किसी ऋत-धारी वरुण को नहीं, तो स्वयं ऋत को तो अवश्य देखा ही है। त्रसरेणु से भी सहस्रांश छोटे पदार्थों से लेकर महापिंड नीहारिकाओं तक

और दृश्य इन्द्रिय-व्यापारों से लेकर सूक्ष्म अन्तश्चेतना की गहरी अनुभूतियों तक, इस सारे संसार-चक्र को तथागत ने नियम (नियाम) से बँधा हुआ अवश्य देखा है। भगवान् को इस सत्य का ज्ञान सम्यक्-सम्बोधि-प्राप्ति के समय ही हुआ था, इसके लिए तिपिटक में प्रभूत प्रमाण हैं।[1] क्या है वह नियम, जिसका ज्ञान भगवान् बुद्ध ने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के समय ही किया? यही है वह गम्भीर[2] प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्च समुप्पाद) अथवा प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम। यह कोई कोरा दार्शनिक सिद्धांत नहीं है, बल्कि यह है सम्यक् सम्बुद्ध की प्रत्यक्षतम अनुभूति। यदि यह कोरा दार्शनिक सिद्धांत होता तो तथागत के लिए इसका उपदेश करना ही अनावश्यक होता। उस हालत में तथागत भी प्लेटो, अरस्तू, शंकर या नागार्जुन की समकोटि के ही दार्शनिक होते। वे 'करुणा के देव' किस प्रकार होते, जिस रूप में मानवता को उनका एकमात्र सहारा मिला है? वास्तव में प्रतीत्य समुत्पाद भगवान् की करुणा का ही ज्ञानमय परिणाम है। भगवान् ने अशेष जीव-जगत् को दुःख की चक्की में पिसते देखा। जहाँ बुद्ध-नेत्रों से देखा, अखिल लोक में जरा, मरण, शोक, रोना-पीटना, दुःख, दौर्मनस्य और उपायासों का ही अखंड साम्राज्य देखा। जिज्ञासा हुई यह किसके कारण? स्थूल कारण अनेक थे जिन्हें साधारण आदमी आज भी देखते हैं और कुछ उन्हीं पर अधिक जोर भी देते हैं। किन्तु बुद्ध-नेत्रों से देखा गया कि जन्म ही इन दुःखों का मूल कारण है। जन्म का कारण क्या? भव। भव का कारण क्या? उपादान। उपादान का कारण क्या? तृष्णा! तृष्णा का कारण क्या? वेदना! वेदना का कारण क्या? स्पर्श! स्पर्श का कारण क्या? षडायतन! षडायतन का कारण क्या? नाम-रूप। नाम-रूप का कारण क्या? विज्ञान। विज्ञान का कारण क्या? संस्कार। संस्कार का कारण क्या? अविद्या। "भिक्षुओ! अविद्या और तृष्णा से संचालित, भटकते-फिरते प्राणियों के आरम्भ का पता नही चलता।" आवागमन के चक्र को अविद्या ही गति प्रदान करती है। यदि अविद्या का निरोध कर दिया जाय, तो संस्कारों का निरोध! संस्कारों का निरोध कर दिया जाय, तो विज्ञान का निरोध। विज्ञान का निरोध कर दिया जाय, तो

---

१. देखिये विशेषतः विनय-पिटक--महावग्ग १; उदान, प्रथम (बोधि) वर्ग।

२. महानिदान-सुत्त (दीघ. २।२) में भगवान् ने स्वयं इसकी गम्भीरता का वर्णन सारिपुत्र के प्रति किया है।

नाम-रूप का निरोध। नाम-रूप का निरोध कर दिया जाय, तो छह आयतनों का निरोध। छह आयतनों का निरोध कर दिया जाय, तो स्पर्श का निरोध।.....वेदना का निरोध!.....तृष्णा का निरोध!..... उपादान का निरोध!.....भव का निरोध!.....जन्म का निरोध! .....जरा, मरण, शोक, रोदन-विलाप, दुःख, मानसिक कष्ट एवं सारे दुःख-पुञ्ज का निरोध ! यही बुद्धोक्त प्रतीत्य समुत्पाद है, जिसे दुःख के आवागमन और अस्तंगमन को हेतुपूर्वक दिखाने के लिए भगवान् ने करुणापूर्वक उपदेश किया।[१]

इस प्रतीत्य समुत्पाद का ही पूरे विस्तार के साथ विवेचन 'पट्ठान' में किया गया है। किन्तु सुत्तन्त की अपेक्षा पट्ठान की विवेचन-पद्धति की एक विशेषता है। जैसा प्रतीत्य समुत्पाद के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है, प्रतीत्य समुत्पाद की कारण-कार्य परम्परा में १२ कड़ियां हैं, जो एक दूसरी से प्रत्ययों के आधार पर जुड़ी हुई हैं। सुत्तन्त में अधिकांश इन कड़ियों की व्याख्या मिलती है। पट्ठान में इन कड़ियों की व्याख्या पर जोर न देकर उन प्रत्ययों पर जोर दिया गया है, जिनके आश्रय से वे पैदा होती और निरुद्ध होती रहती हैं। पट्ठान में इस प्रकार के २४ प्रत्ययों का विवेचन किया गया है। यही उसकी एकमात्र विषय-वस्तु है। जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'पट्ठान' (पच्चय+ठान) वास्तव में प्रत्ययों का स्थान ही है।

आकार और महत्व की दृष्टि से पट्ठान अभिधम्म-पिटक का एक महाग्रन्थ है। सम्भवतः इसीलिये उसे 'महापकरण' ('महाप्रकरण') की संज्ञा दी गई है। महत्व में उसका स्थान धम्मसंगणि के बाद ही है। स्यामी संस्करण की ६ जिल्दों में ३१२० पृष्ठ हैं। यह हालत तब है जब ग्रन्थ के चार मुख्य भागों में से अन्तिम तीन अत्यन्त संक्षिप्त कर दिये गये हैं। यदि उनका भी विवरण प्रथम भाग के समान ही किया जाता तो महास्थविर ज्ञानातिलोक का यह अनुमान ठीक है कि कुल ग्रन्थ का आकार १४००० पृष्ठों से कम न होता। देवनागरी में तो वह छह बड़ी जिल्दों में है ही। जैसा अभी कहा जा चुका है, संपूर्ण ग्रन्थ चार बड़े भागों में विभक्त है, यथा

---

१. देखिये विशेषतः महानिदान-सुत्त (दीघ. २।२), महाहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम. १।३।८), आदि।

(१) अनुलोम-पट्ठान--धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का विधानात्मक अध्ययन।

(२) पच्चनिय-पट्ठान--धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का निषेधात्मक अध्ययन।

(३) अनुलोम-पच्चनिय पट्ठान--धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का विधानात्मक और निषेधात्मक अध्ययन।

(४) पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान--धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का निषेधात्मक और विधानात्मक अध्ययन।

ग्रन्थ के आरम्भ में एक भूमिका है, जिसका नाम 'पच्चय-निद्देस' (प्रत्यय-निर्देश) है। इसमें उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख और संक्षिप्त विवरण है जिनके आधार पर धम्मों का उदय और अस्तंगमन सारे ग्रन्थ में दिखाया गया है। स्यामी संस्करण की पहली जिल्द में यह भूमिका-भाग ही आया है। मूल ग्रन्थ के उपर्युक्त ४ भागों में से प्रत्येक की विषय-प्रतिपादन शैली समान ही है। केवल प्रथम भाग के आधार पर शेष तीन में विषय-विवरण संक्षिप्त अवश्य कर दिया गया है। स्यामी संस्करण की २, ३, ४ और ५ जिल्दों में केवल प्रथम भाग आया है। शेष तीन भाग छठी जिल्द में हैं। प्रथम भाग की अध्याय-संख्या इस प्रकार है--२२+८९+१३२+९४+४२+४८=४२७। इससे पट्ठान के बृहत् आकार की कुछ कल्पना की जा सकती है।

उपर्युक्त चार भागों में विधानात्मक आदि अध्ययन-क्रम से २४ प्रत्ययों का संबंध धम्मों के साथ दिखाया गया है। प्रत्येक भाग में यह अध्ययन-क्रम छह प्रकार से प्रयुक्त किया गया है। इसका अर्थ यह है कि इन चार भागों में से प्रत्येक छह-छह उपविभागों में और भी बँटा हुआ है, जैसे कि

(१) तिक-पट्ठान--धम्मसंगणि में प्रयुक्त २२ त्रिकों के वर्गीकरण को लेकर धम्मों के साथ २४ प्रत्ययों का संबंध-निरूपण।

(२) दुक-पट्ठान--धम्मसंगणि में प्रयुक्त १०० द्विकों के वर्गीकरण को लेकर धम्मों के साथ २४ प्रत्ययों का संबंध निरूपण।

(३) दुक-तिक-पट्ठान--उपर्युक्त १०० द्विकों और २२ त्रिकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

(४) तिक-दुक-पट्ठान--उपर्युक्त २२ त्रिकों और १०० द्विकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

(५) तिक-तिक-पट्ठान—परस्पर मिश्रित २२ त्रिकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

(६) दुक-दुक-पट्ठान—परस्पर मिश्रित १०० द्विकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

इस प्रकार संपूर्ण महाग्रन्थ चौबीस भागों में बँटा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक 'पट्ठान' कहलाता है। इसीलिए 'पट्ठान' की अट्ठकथा में कहा गया है—चतुवीसति-समन्त-पट्ठान-समोधान-पट्ठान-महाप्पकरणं नामाति। अर्थात् 'पट्ठान' महाप्रकरण में कुल मिलाकर २४ 'पट्ठान' या प्रत्यय-स्थान हैं।

'पट्ठान' के दीर्घ आकार को देखते हुए उसके विषय या शैली का लघु से लघु संक्षेप देना भी कितना कठिन है, यह आसानी से समझा जा सकता है। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, उसकी भूमिका (पच्चय-निद्देस) में उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख और संक्षिप्त विवेचन है, जिसके आधार पर संपूर्ण ग्रन्थ में प्रतीत्य समुत्पाद को समझाया गया है। प्रत्यय-दर्शन का विवेचन पट्ठान की एक मुख्य विशेषता है। जैसा श्रीमती रायस डेविड्स ने कहा है, संपूर्ण अभिधम्म-दर्शन सम्बन्धी ज्ञान के लिये वह एक महत्वपूर्ण रचनात्मक दान है।[१] हमारा उद्देश्य यहाँ इन २४ प्रत्ययों का संक्षिप्त विवरण देना ही है। इनके नाम इस प्रकार हैं—

१. हेतु-प्रत्यय	११. पश्चात्-जात-प्रत्यय
२. आलम्बन-प्रत्यय	१२. आसेवन-प्रत्यय
३. अधिपति-प्रत्यय	१३. कर्म-प्रत्यय
४. अनन्तर-प्रत्यय	१४. विपाक-प्रत्यय
५. समनन्तर-प्रत्यय	१५. आहार-प्रत्यय
६. सहजात-प्रत्यय	१६. इन्द्रिय-प्रत्यय
७. अन्योन्य-प्रत्यय	१७. ध्यान-प्रत्यय
८. निःश्रय-प्रत्यय	१८. मार्ग-प्रत्यय
९. उपनिःश्रय-प्रत्यय	१९. सम्प्रयुक्त-प्रत्यय
१०. पूर्वजात-प्रत्यय	२०. विप्रयुक्त-प्रत्यय

---

१. देखिये तिक-पट्ठान, प्रथम भाग (श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट् सोसायटी से प्रकाशित, लन्दन १९२१-२३), पृष्ठ ५ (भूमिका) एवं तिक-पट्ठान, द्वितीय भाग, की सम्पादकीय टिप्पणी।

२१. अस्ति-प्रत्यय	२३. विगत-प्रत्यय
२२. नास्ति-प्रत्यय	२४. अविगत-प्रत्यय[1]

प्रत्येक प्रत्यय का क्या अर्थ है और किस प्रकार उसका आश्रय लेकर किसी एक धम्म या धम्मों की उत्पत्ति और निरोध किसी दूसरे धम्म या धम्मों की उत्पत्ति और निरोध पर आधारित हैं, इसका भी कुछ दिग्दर्शन कराना यहाँ आवश्यक होगा।

१. हेतु-प्रत्यय (हेतु पच्चयो)—हेतु का अर्थ है मूल कारण या आधार। अभिधम्म-दर्शन में लोभ, द्वेष, मोह एवं उनके विपक्षी अलोभ, अद्वेष और अमोह को मूल कारण या हेतु कहा गया है। इनमें से पहले तीन कर्म-विपाक की दृष्टि से अकुशल हैं और बाद के तीन कुशल हैं। और कहीं-कहीं (जैसे कि अर्हत् के संबंध में) अव्याकृत अर्थात् अनिरुक्त (नितान्त स्वाभाविक या कर्म-विपाक उत्पन्न करने में निष्क्रिय) भी। जितनी भी कुशल या अकुशल अवस्थाएँ मानसिक या भौतिक जगत् में हो सकती हैं, उनके मूल आधार या हेतु क्रमशः उपर्युक्त कुशल या अकुशल धम्म ही हैं। इन मूल आधारों या हेतुओं की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर ही अनिवार्यतः सब कुशल और अकुशल धम्मों की उपस्थिति या अनुपस्थिति निर्भर है। पट्ठान की भाषा में, "हेतुओं से संयुक्त धम्म और इन्हीं से उत्पन्न होने वाली भौतिक जगत् की सारी अवस्थाएँ, हेतुओं पर हेतु-प्रत्यय के रूप में अवलम्बित हैं।" उत्पन्न होने वाली वस्तु (पच्चयुप्पन्न—प्रत्ययोत्पन्न) तो यहाँ धम्म और भौतिक जगत् की अवस्थाएँ हैं। जिनसे वे उत्पन्न होती हैं (पच्चय-धम्म), वे 'हेतु' या कुशलादि मूल धम्म हैं। जिस प्रत्यय (पच्चय) से वे पैदा होती हैं, वह हेतु-प्रत्यय (हेतु-पच्चय) है। शेष प्रत्ययों में भी क्रमानुसार हम इन तीन बातों का उल्लेख करेंगे यथा (१) उत्पन्न होने वाली वस्तु (पच्चयुप्पन्न) क्या है? (२) जिस वस्तु से वह उत्पन्न होती है (पच्चय-धम्म), वह क्या है? (३) प्रत्यय क्या है?

---

१. **इन चौबीस प्रत्ययों में से अनेक एक दूसरे में सम्मिलित हैं। अभिधम्मत्थसंगह में इनको चार मुख्य भागों में विभक्त कर दिया गया है, यथा आलम्बन, उपनिःश्रय, कर्म और अस्ति। आरम्मणूपनिस्सयकम्मत्थिपच्चयेसु च सब्बेपि पच्चया समोधानं गच्छन्ति। पृष्ठ १५१ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण, नवनीत टीका सहित)**

२. **आलम्बन प्रत्यय (आरम्मण पच्चयो)**—आलम्बन का अर्थ है विषय या आधार। जिस वस्तु के आधार से कोई दूसरी वस्तु पैदा होती है, तो उस दूसरी वस्तु के प्रति पहली वस्तु का संबंध आलम्बन प्रत्यय का होता है। उदाहरणतः चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति रूप-आयतन पर आधारित है। अतः रूप-आयतन आलम्बन है चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मो का। दूसरे शब्दों में, रूप आयतन आलम्बन-प्रत्यय के रूप में चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों का प्रत्यय है। इसी प्रकार शब्दायतन, गन्धायतन, रसायतन और स्पृष्टव्यायतन क्रमशः श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और उनसे संयुक्त धर्मों के आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त पाँचों आयतन (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य) मिलकर मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के तथा सब धर्म मिलकर मनो-विज्ञान-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। संक्षेप में, जो-जो धर्म चित्त और चेतसिक धर्मों के आलम्बन हैं, वे सभी उनके प्रति आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। यहाँ (१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) घ्राण (४) जिह्वा और (५) काय-संबंधी विज्ञान एव उनसे संयुक्त धर्म तथा (६) मनोधातु और (७) मनो-विज्ञान-धातु और इनसे संयुक्त धर्म 'पच्चयुप्पन्न' अर्थात् प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ हैं। इनके 'पच्चय-धम्म' अर्थात् वे वस्तुएँ, जिनसे ये प्रत्ययों के आधार पर उत्पन्न होती हैं, क्रमशः ये हैं (१) रूप (२) शब्द (३) गन्ध (४) रस और (५) स्पृष्टव्य सबंधी आयतन और इनसे संयुक्त धर्म तथा (६) इन पाँचों आयतनों का सम्मिलित रूप और (७) सपूर्ण धर्म। जिस प्रत्यय के आधार पर यह उत्पत्ति होती है, वह आलम्बन-प्रत्यय (आरम्मण-पच्चयो) है।

३. **अधिपति-प्रत्यय (अधिपति पच्चयो)**—किसी वस्तु की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा जब इन चार पदार्थों यथा (१) इच्छा (छन्द), (२) उद्योग (विरिय), (३) चित और (४) मीमांसा (वीमंसा) की सहायता की अधिकता होती है तो इन चार धर्मों में से जिस किसी की अधिकता होती है, वही उत्पन्न होने वाली वस्तु के साथ अधिपति-प्रत्यय के सबध से संबंधित होता है। उदाहरणतः, जो धर्म इच्छा (छन्द) से सयुक्त है या उससे उद्भूत है, वह इच्छा-अधिपति (छन्दाधिपति) के साथ अधिपति-सबध से सबधित है। इसी प्रकार वीर्य, चित्त और मीमांसा अधिपतियों से जो धर्म संयुक्त हैं, वे क्रमशः इनके साथ अधिपति-सबध से सबंधित हैं। यहाँ इच्छा, वीर्य, चित्त और मीमांसा से संयुक्त धर्म, उत्पन्न

होने वाली वस्तुएँ 'पच्चयुप्पन्न' हैं। क्रमशः इच्छा-अधिपति (छन्दाधिपति), वीर्याधिपति (विरियाधिपति), चित्ताधिपति, और मीमांसाधिपति (वीमंसाधिपति) इनके 'पच्चय-धम्म' हैं अर्थात् ये वे वस्तुएँ हैं, जिनसे उपर्युक्त धर्म उत्पन्न होते हैं। प्रत्यय-अधिपति प्रत्यय है।

४. **अनन्तर-प्रत्यय (अनन्तर पच्चयो)**––यदि कोई वस्तु अपने ठीक पीछे होने वाली वस्तु की उत्पत्ति में सहायक होती है, तो वह उसके साथ अनन्तर प्रत्यय के संबध से सबंधित होती है। 'पट्ठान' में कहा गया है 'येस येसं धम्मान अनन्तरा ये ये धम्मा तेसं धम्मान अनन्तरपच्चयेन पच्चयो' अर्थात् जिन-जिन धर्मों के अनन्तर जो-जो धर्म होते हैं, तो पूर्व के धर्म पश्चात् के धर्म के प्रति अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय होते हैं। उदाहरणतः, पाँच विज्ञान-धातुओं (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय सबधी विज्ञान-धातुओं) और उनसे सयुक्त धर्मो के अनन्तर मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मो की उत्पत्ति होती है। अतः पाँच विज्ञान-धातु और उनसे संयुक्त धर्म मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मो के प्रति अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। इसी प्रकार मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्म मनो-विज्ञान-धातु और उससे संयुक्त धर्मो के लिये, कुशल-धर्म, कुशल और अव्याकृत धर्मो की उत्पत्ति के लिए और अकुशल धर्म, अकुशल और अव्याकृत धर्मो की उत्पत्ति के लिए, अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय होते हैं। यहाँ मनो-धातु, मनो-विज्ञान-धातु, कुशल और अव्याकृत धर्म, अकुशल और अव्याकृत धर्म तथा इनसे सयुक्त धर्म 'पच्चयुप्पन्न' अर्थात् प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होने वाले धर्म हैं। जिन धर्मों से इनकी उत्पत्ति होती है, वे हैं क्रमशः (१) पाँच विज्ञान-धातु और उनसे सयुक्त धर्म (२) मनो-धातु और उससे सयुक्त धर्म (३) कुशल-धर्म (४) अकुशल-धर्म। अतः ये प्रत्यय-धर्म हैं। जिस प्रत्यय के कारण उनकी उत्पत्ति होती है, वह है अनन्तर-प्रत्यय।

५. **समनन्तर-प्रत्यय (समनन्तर पच्चयो)**––बिलकुल अनन्तर-प्रत्यय के समान।

६. **सहजात-प्रत्यय––(सहजात पच्चयो)**––जब कोई धर्म किन्हीं अन्य धर्मों के साथ-साथ उत्पन्न होते हैं, तो उनके बीच सहजात-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान एक दूसरे के साथ सहजात-प्रत्यय के रूप में सम्बन्धित हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति एक ही साथ होती है।

७. अन्योन्य-प्रत्यय--(अञ्ञमञ्ञ पच्चयो)--एक दूसरे के आश्रय से उत्पन्न होने वाले धर्म इस प्रत्यय के द्वारा आपस में सम्बन्धित होते हैं। यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण ही दिया जा सकता है, क्योंकि संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान आपस में एक दूसरे के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं।

८. निःश्रय-प्रत्यय--(निस्सय पच्चयो)--निःश्रय का अर्थ है आधार। पृथ्वी वृक्ष का निःश्रय है। इसी प्रकार जिन धर्मों की उत्पत्ति जिन धर्मों के आधार पर होती है, उनके प्रति उनका निःश्रय-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः चक्षु-आयतन, श्रोत्र-आयतन, घ्राण-आयतन, जिह्वा-आयतन और काय-आयतन के आधार पर ही क्रमशः चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान और काय-विज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः उनके बीच निःश्रय-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

९. उपनिःश्रय-प्रत्यय--(उपनिस्सय पच्चयो)--उपनिःश्रय का अर्थ है बलवान् आधार। कुशल-धर्मों के दृढ़ आधार पूर्वगामी कुशल-धर्म ही होते हैं। अतः उनके बीच का सम्बन्ध उपनिःश्रय-प्रत्यय का है। अन्य अनेक उदाहरण भी मूल पालि में दिये हुए हैं।

१०. पुरेजात-प्रत्यय--(पुरेजात पच्चयो)--जिस धर्म से किसी धर्म की उत्पत्ति पहले हुई हो तो उनके बीच पुरेजात-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, चक्षु-विज्ञान-धातु आदि की उत्पत्ति से पहले चक्षु-आयतन आदि की उत्पत्ति हो चुकी होती है। अतः उसके प्रति वह पुरेजात-प्रत्यय से सम्बन्धित है।

११. पश्चात्-जात-प्रत्यय--(पच्छाजात-पच्चयो)--शरीर की उत्पत्ति पहले हो जाती है। उसके बाद उसमें चित्त और चेतसिक पैदा होते हैं। अतः दोनों के बीच का सम्बन्ध पश्चात्-जात-प्रत्यय का है।

१२. आसेवन-प्रत्यय--(आसेवन-पच्चयो)--आसेवन का अर्थ है बार-बार आवृत्ति। किसी धर्म का बार-बार अभ्यास जिस किसी दूसरे धर्म को जन्म देने का कारण बनता है, तो उसके साथ उसका आसेवन प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, प्रत्येक कुशल-धर्म की उत्पत्ति किसी पूर्वगामी कुशल धर्म के आसेवन या सतत अभ्यास से होती है। अतः दोनों के बीच आसेवन-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

१३. कर्म-प्रत्यय--(कम्म-पच्चयो)--किसी भी कर्म-विपाक के पूर्व-

गामी कुशल या अकुशल धर्म होते हैं, अतः उनके बीच का सम्बन्ध कर्म-प्रत्यय का होता है।

१४. **विपाक-प्रत्यय**--(**विपाक-पच्चयो**)--वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन चार स्कन्धों की उत्पत्ति पूर्व के वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों के विपाक-स्वरूप होती है, अतः इनके बीच विपाक-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

१५. **आहार-प्रत्यय**--(**आहार-पच्चयो**)--भोजन से यह हमारा शरीर बनता है। अतः शरीर का भोजन के प्रति आहार-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१६. **इन्द्रिय-प्रत्यय**--(**इन्द्रिय-पच्चयो**)--चक्षु-विज्ञान आदि की उत्पत्ति चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के प्रति इन्द्रिय-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१७. **ध्यान-प्रत्यय**--(**झान-पच्चयो**)--ध्यान से संयुक्त अवस्थाओं (धर्मों) की उत्पत्ति ध्यान के अंगों के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के साथ ध्यान-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१८. **मार्ग-प्रत्यय**--(**मग्ग-पच्चयो**)--उपर्युक्त के समान मार्ग से संयुक्त अवस्थाओं की भी उत्पत्ति मार्ग के अंगों के प्रत्यय से है, अतः उनके बीच मार्ग-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१९. **संयुक्त-प्रत्यय**--(**सम्पयुत्त-पच्चयो**)--पूर्वोक्त के समान ही संज्ञा वेदना, आदि से संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति क्रमशः संज्ञा, वेदना आदि के अगों के प्रत्यय से ही है, अतः उनके बीच का सम्बन्ध संयुक्त-प्रत्यय का ही है।

२०. **वियुक्त-प्रत्यय**--(**विप्पयुत्त-पच्चयो**)--भौतिक धर्म मानसिक धर्मों के साथ और मानसिक धर्म भौतिक धर्मों के साथ विप्रयुक्त-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं, क्योंकि दोनों का स्वभाव एक दूसरे से वियुक्त रहने का है।

२१. **अस्ति-प्रत्यय**--(**अत्थि पच्चयो**)--जिस धर्म की उपस्थिति या विद्यमानता पर दूसरे धर्म की उत्पत्ति अनिवार्यतः निर्भर होती है, तो दोनों के बीच अस्ति-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है, यथा सम्पूर्ण भौतिक विकारों की उत्पत्ति के लिये चार महाभूतों की उपस्थिति अनिवार्यतः आवश्यक है, अतः चार महाभूतों के साथ अस्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध के द्वारा सम्पूर्ण भौतिक विकार सम्बन्धित है।

२२. **नास्ति-प्रत्यय**--(**नत्थि-पच्चयो**)--अपनी अनुपस्थिति या अविद्यमानता से ही जो कोई धर्म किसी दूसरे धर्म की उत्पत्ति में सहायक हो, तो वह उत्पन्न

होने वाले धर्म के प्रति नास्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। जो चित्त और चेतसिक अभी निरुद्ध हो चुके हैं, वे अपनी अविद्यमानता से ही अभी उत्पन्न होने वाले चित्त और चेतसिक धर्मों के प्रति नास्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं।

२३. **विगत-प्रत्यय--(विगत-पच्चयो)**--उपर्युक्त (२२) के समान।

२४. **अविगत-प्रत्यय--(अविगत-पच्चयो)**--उपर्युक्त (२१) के समान।

ऊपर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के विषय और शैली का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। सुत्तन्त में निहित बुद्ध-वचनों के प्रति उनका वही सम्बन्ध है, जो व्याख्यात्मक वेदान्त-ग्रन्थों का उपनिषदों के प्रति। अन्तर्ज्ञान और अपरोक्ष-अनुभूति पर प्रतिष्ठित, जल और वायु के समान सब के लिये सुलभ, बुद्धों (ज्ञानियों) के वचन भी, पंडितवाद और शास्त्रीय विवेचनों के फन्दे में फँसकर कितने सूखे, आकर्षण-विहीन और जन-साधारण के लिये कितने दुरूह हो जाते हैं, इसके लिये अभिधम्म-पिटक के समान ही उत्तरकालीन वेदान्तियों एवं बौद्ध और वैदिक परम्परा के आचार्यों के प्रज्ञान अच्छे उदाहरण हैं। चाहे नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति हों, चाहे वात्स्यायन, कुमारिल, वाचस्पति, उदयन और श्रीहर्ष हों, सब एक समान ही हैं। बुद्ध और उपनिषदों के ऋषियों की सी सरलता, स्वाभाविकता और मार्मिकता एक में भी नहीं है। अभिधम्म-पिटक अति प्राचीन होते हुए भी बुद्ध-मन्तव्य को इसी ओर ले गया है। सन्तोष की बात यह है कि वहाँ बुद्ध के मौलिक सिद्धांतों में कोई परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं किया गया है, संशोधन की तो कोई बात ही नहीं। अतः मूल बुद्ध-दर्शन को जानने के लिये उसका उपयोग बच रहता है। बुद्ध-मन्तव्य स्वयं एक विस्मयकारी वस्तु है। यदि उसके कुछ विस्मयों को खोलना है, तो अभिधम्म-पिटक का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। यदि यह देखना है कि निरंतर परिवर्तनशील, अनित्य, दुःख और अनात्म धर्मो (पदार्थों) के प्रवर्तमान रहने पर भी संसार के सर्वश्रेष्ठ साधक और ज्ञानी पुरुष ने चित्त की निश्चल समाधि किस प्रकार सिखाई है, नियामक को न मानकर भी नियम को किस प्रकार प्रतिष्ठित किया है, ईश्वर-प्रणिधान न होने पर भी पावनता का कितना महान् और दृढ़ प्रणिधान किया है, प्रार्थना न होने पर भी ध्यान को किस पर टिकाया है, 'अत्ता' (आत्मा) न होने पर भी पुनर्जन्मवाद को किस पर अवलम्बित किया है, परम सत्ता के विषय में मौन रखकर भी गम्भीर आश्वासन

किस प्रकार दिया है, यदि यह सब और इसके साथ प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के महान् मनोवैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी दान को उसकी पूरी विभूति के साथ देखना है, तो अभिधम्म की वीथियों में भ्रमण करना ही होगा। किन्तु बीसवीं सदी के मनुष्य के लिये, जो कामावचर-लोक (कामनाओं के लोक) की अभाव पूर्तियों के प्रयत्न में ही अभी संलग्न और सन्तुष्ट है, इतना अवकाश मिल सकेगा, यह कहना सन्देह से खाली नहीं है!

*

छठा अध्याय

पूर्व-बुद्धघोष-युग
(१०० ई० पूर्व से ४०० ई० तक)

तेपिटक बुद्ध-वचनों का अन्तिम संकलन तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व किया गया। तब से उनका रूप पूर्णतः निश्चित हो गया। ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी में बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल ने उन पर अपनी प्रसिद्ध अट्ठकथाएँ लिखीं। पालि-तिपिटक के सुनिश्चित रूप धारण कर लेने और इन अट्ठकथाओं के रचना-काल के बीच जिस साहित्य की रचना हुई, उसमें नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस और मिलिन्दपञ्ह अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका विवरण हम इस परिच्छेद में देंगे।

नेत्तिपकरण

'नेत्तिपकरण' का संक्षिप्त नाम 'नेत्ति' भी है। इसी को 'नेत्तिगन्ध' (नेत्ति-ग्रन्थ) भी कहते हैं। जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'नेत्तिपकरण' सद्धम्म को समझने के लिये नेतृत्व या मार्ग-दर्शन का काम करता है। 'नेत्ति' का अर्थ है मार्ग-दर्शिका। वास्तव में बुद्ध-वचन इतने सरल और हृदयस्पर्शी हैं कि उनको समझने के लिए उनसे व्यतिरिक्त अन्य किसी सहायक की आवश्यकता नहीं। एकान्त-चिन्तन हो, बुद्ध-वचन हों, उनके बीच मध्यस्थता करने की किसी को आवश्यकता नहीं है। किन्तु पंडितवाद बुद्ध-धर्म में भी चल पड़ा। सरल बुद्ध-उपदेशों का वर्गीकरण किया गया, उनके पाठ का नियमबद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रीय नियम बनाये गये, उनके मन्तव्यों को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सूचीबद्ध किया गया, उनके शब्दों की व्याख्या और उनके तात्पर्य का निर्णय करने के लिये ग्रन्थ-रचना की गई। इस प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण हम अभिधम्म-पिटक में ही देखते है। उसी का प्रत्यावर्तन हमें 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेस' जैसे ग्रन्थों में मिलता है। 'नेत्तिपकरण' का सम्बन्ध एक प्रकार से तेपिटक बुद्ध-वचनों से वही है, जो यास्क-कृत निरुक्त

का वेदों से। फिर भी निरुक्त की एक विशेष सार्थकता भी है, क्योंकि आठवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व ही वेदों की भाषा इतनी प्राचीन हो चुकी थी और उसमें रहस्यात्मक ज्ञान ('आचरिय-मुट्ठि') भी इतना अधिक रक्खा हुआ बताया जाता था कि उसके उद्घाटन के लिये शब्द-व्युत्पत्ति-परक एक ग्रन्थ की आवश्यकता थी भी। इसके विपरीत बुद्ध-वचनों की लोकोत्तर सरलता ने किसी भी व्युत्पत्ति-शास्त्र या निरुक्ति-शास्त्र की अपेक्षा आरम्भ से ही नहीं रक्खी। यह उसकी एक बड़ी विशेषता है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी से जो अट्ठकथाएँ भी लिखी गईं, उन्होंने भी विशेषतः बुद्ध-वचनों की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को ही पूरा किया है, उत्तरकालीन संस्कृत भाष्यकारों या टीकाकारों की तरह शब्द-क्रीड़ाएँ नहीं कीं। फलतः बुद्ध-वचनों पर निरुक्ति-परक साहित्य पालि में अधिक नहीं पनप पाया। केवल 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेस' यही दो ग्रन्थ इस सम्बन्ध में मिलते हैं और उन्होंने भी बुद्ध-वचनों की मौलिक सरलता को अधिक सरल बना दिया हो, या सद्धम्म को समझने वाले के लिये अधिक मार्ग प्रशस्त कर दिया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसा अभी कहा गया, उनका उद्देश्य केवल तिपिटक के पाठ और उसके तात्पर्य-निर्णय-सम्बन्धी नियमों या युक्तियों का शास्त्रीय विवेचन मात्र करना है।

'नेत्तिपकरण' की विषय-वस्तु और शैली बहुत कुछ अभिधम्म-पिटक से मिलती है। सुगमता के लिए उसे इस प्रकार तालिका-बद्ध किया जा सकता है—

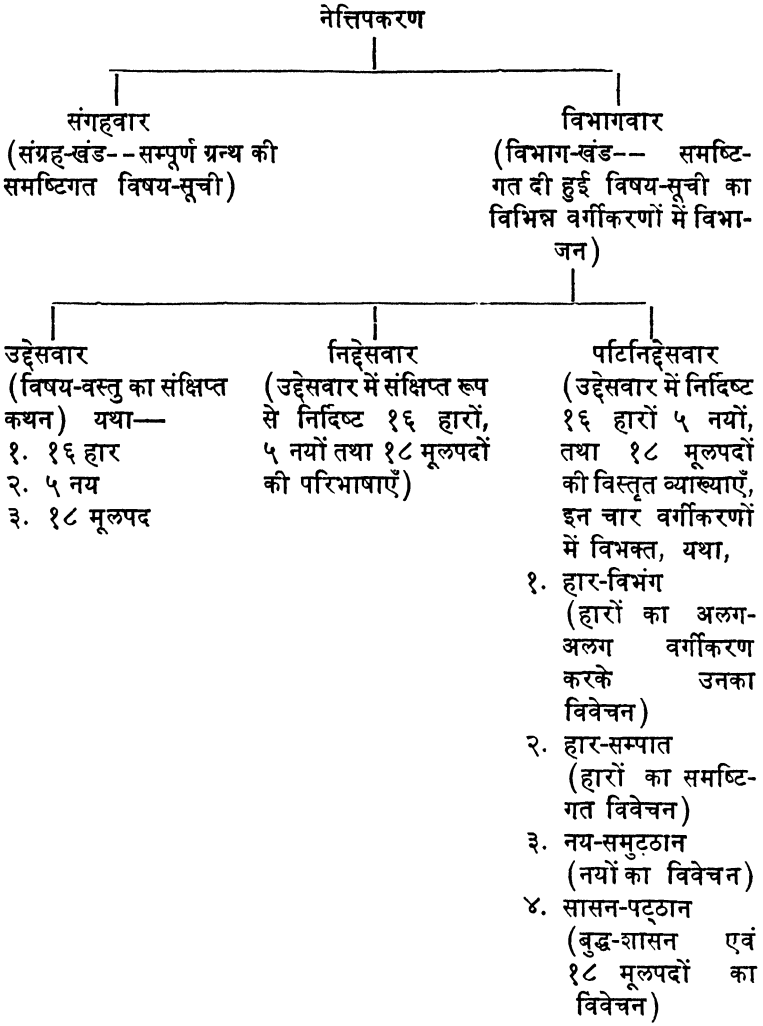

इस तालिका से स्पष्ट है कि नेत्तिपकरण का विषय १६ हार (गुंथे हुए विषयों की मालाएँ), ५ नय (तात्पर्य-निर्णय करने की युक्तियाँ) और १८ मूल पदों (मुख्य नैतिक विषयों) का विवेचन करना ही है। अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ इन तीनों वर्गीकरणों में निर्दिष्ट तत्वों का नाम-परिगणन मात्र कर देना ही पर्याप्त

होगा। नेत्तिपकरण में विवेचित १६ हार ये हैं, (१) देसना हार—इस हार में बताया गया है कि बुद्ध की देसना (धर्मोपदेश) की विधि छह प्रकार की होती थी (अ) शील आदि का सुपरिणाम दिखाने वाली (अस्सादं), (आ) विषय-भोगों का दुष्परिणाम दिखाने वाली (आदिनवं), (इ) संसार से निकलने का मार्ग दिखाने वाली (निस्सरणं), (ई) श्रामण्य के फल का वर्णन करने वाली (फलं), (उ) निर्वाण-प्राप्ति का उपाय बताने वाली (उपायं) और (ऊ) नैतिक उद्देश्य दिखाने वाली (आनत्ति)। यहीं श्रुतमयी (अनुश्रव पर आश्रित), चिन्तामयी—(बौद्धिक चिन्तन पर आश्रित) और भावनामयी (पवित्र जीवन या ध्यान के विकास पर आश्रित), इन तीन प्रज्ञाओं (ज्ञानों) का भी निर्देश किया गया है। (२) विचय-हार या धर्म-चिन्तन और पर्यवेक्षण (३) युत्तिहार (युक्तिहार) अथवा युक्तियों के द्वारा धर्म-विश्लेपण कर उसके अर्थ को समझना, (४) पदट्ठानहार, मौलिक लक्षणों से पदों की व्याख्या करना, (५) लक्खण-हार, लक्षणों से अर्थ को समझना, यथा कहीं रूप शब्द के आ जाने से ही, वेदना आदि को भी समझना। (६) चतुव्यूह-हार (चतुर्व्यूह-हार) अर्थात् पाठ, शब्द, उद्देश्य और क्रम से अर्थ को समझना, (७) आवत्तहार, किस प्रकार बुद्ध-उपदेशों में सभी विषय किसी न किसी प्रकार अविद्या, चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि जैसे मूलभूत सिद्धांतों में संनिविष्ट हो जाते हैं, इसे समझना। वेदान्त-शास्त्र के तात्पर्य-निर्णय में जिसे 'अभ्यास' कहा गया है, उसकी इससे विशेष समानता है। (८) (विभत्तिहार) अर्थात् विभाजन या वर्गीकरण का ढंग। (९) परिवत्तन-हार अथवा बुद्ध का अशुभ को शुभ के रूप में परिवर्तित करने का ढंग। (१०) वेवचन-हार अथवा शब्दों के अन्य अनेक समानार्थवाची शब्द देकर अर्थ को स्पष्ट करने का ढंग। (११) पञ्ञत्तिहार (प्रज्ञप्तिहार)—एक ही धम्म को अनेक प्रकार से रखने का ढंग। (१२) ओतरण-हार अथवा इन्द्रिय, पटिच्च-समुप्पाद, पञ्च स्कन्ध आदि के रूप में सम्पूर्ण बुद्ध-मन्तव्य का विश्लेषण। (१३) सोधन-हार, प्रश्नों को शुद्ध करने का ढंग, जिसे बुद्ध प्रयुक्त करते थे। (१४) अधिट्ठान-हार अथवा सत्य के आधार का निर्णय करना। (१५) परिक्खा-हार अथवा हेतुओं और प्रत्ययों सम्बन्धी ज्ञान। यह 'हार' बिलकुल अभिधम्म-पिटक, विशेषतः पट्ठान, का ही एक अंग जान पड़ता है। (१६) समारोपनहार अथवा चार प्रकार से बुद्ध का समझाने का ढंग, यथा (अ) मूल-भूत विचारों के द्वारा, (आ) समानार्थवाची शब्दों के द्वारा, (इ) चिन्तन के द्वारा (ई) अशुभ वृत्तियों के निरोध द्वारा। जिन पाँच नयों का विवेचन 'नेत्तिप-

करण' में किया गया है, उनके नाम ये हैं (१) नन्दियावत्त, (२) तीपुक्खल, (३) सीहविक्कीलित, (४) दिसालोचन, तथा (५) अंकुस। १८ मूल-पद इस प्रकार हैं (१) तण्हा (तृष्णा), (२) अविज्जा, (अविद्या), (३) लोभ, (४) दोस (द्वेष), (५) मोह (६) सुभ-सञ्ञा (शुभ-संज्ञा) (७) निच्च-सञ्ञा (नित्य-संज्ञा), (८) अत्तसञ्ञा (आत्म-संज्ञा), (९) सुक्ख सञ्ञा (सुख-संज्ञा), तथा इन नौ के क्रमशः विपरीत यथा (१०) समथ (शमथ-आन्तरिक शान्ति), (११) विपस्सना (विपश्यना-विदर्शना), (१२) अ-लोभ (१३) अ-दोस (अ-द्वेष), (१४) अ-मोह (१५) असुभ-सञ्ञा (अशुभ-संज्ञा) (१६) अनिच्च-सञ्ञा (अनित्य-संज्ञा) (१७) अनत्त-सञ्ञा (अनात्म-संज्ञा), तथा (१८) दुक्ख-सञ्ञा (दुःख-संज्ञा)। विषय की दृष्टि से बुद्ध-उपदेशों को कितने भागों में बाँटा जा सकता है, इसका भी निरूपण 'नेत्तिपकरण' में किया गया है। इस दृष्टि से विवेचन करते हुए उसने बुद्ध-वचनों को इन मुख्य सोलह भागों में बाँटा है, यथा (१) संकिलेस-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो चित्त-मलों (संकिलेस) का विवेचन करते है, (२) वासना-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो वासना या तृष्णा का विवेचन करते है, (३) निब्बेध-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो प्रज्ञा के द्वारा सत्य को बेधने का विवेचन करते हैं, (४) असेख-भागिय, अर्थात् अर्हंतों की अवस्था का विवेचन करने वाले, (५) संकिलेसभागिय तथा वासना-भागिय, (६) संकिलेस-भागिय तथा निब्बेध-भागिय, (७) संकिलेस-भागिय तथा असेख-भागिय, (८) संकिलेस, असेख तथा निब्बेध-भागिय, (९) संकिलेस-वासना-निब्बेध-भागिय, (१०) वासना-निब्बेध भागिय, (११) तण्हासंकिलेस भागिय (१२) दिट्ठि-संकिलेस-भागिय (१३) दुच्चरित-संकिलेस-भागिय, (१४) तण्हावोदान-भागिय (तृष्णा की विशुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन), (१५) दिट्ठिवोदान भागिय (दृष्टि या मिथ्या मतवादों की विशुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन) तथा (१६) दुच्चरित-वोदान-भागिय अर्थात् दुराचरण की शुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन।

ऊपर विषयों के अनुसार बुद्ध-वचनों का जो वर्गीकरण किया गया है, उसमें पहले संक्षिप्त विवेचन करके फिर उनमें निर्दिष्ट धर्मों को एक दूसरे से मिलाकर अन्य अनेक वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। संकिलेस, वासना, तण्हा और असेख के आधार पर ऐसे ही वर्गीकरण ऊपर किये गये है। निश्चयतः यह अभिधम्म की प्रणाली है। 'उद्देस' के बाद 'निद्देस' देने की अभिधम्म की निश्चित प्रणाली है, यह हम अभिधम्म-पिटक के विवेचन में देख चुके हैं। उसी का अनु-

वर्तन इस ग्रन्थ में किया गया है, जैसा उसकी ऊपर दी हुई विषय-तालिका से स्पष्ट है। इतना ही नहीं, सिद्धांतों के विवेचन में भी अभिधम्म का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, परिक्खार-हार के विवेचन में पट्ठान के हेतुओं और प्रत्ययों की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। यहाँ 'नेत्ति' के लेखक ने उसे पूरी तरह न लेकर अपने निरुक्ति सम्बन्धी प्रयोजन के अनुसार ही लिया है। इसीलिये 'हेतु' और 'प्रत्यय' का विभेद यहाँ इतना स्पष्ट नहीं हो पाया। लौकिक और अलौकिक का विभेद भी 'नेत्तिपकरण' में किया गया है। यह भी अभिधम्म के प्रभाव का सूचक है। नेत्तिपकरण और अभिधम्म की शैली के इस पारस्परिक सम्बन्ध का ऐतिहासिक अर्थ क्या है? स्पष्टतः यही कि नेत्तिपकरण की रचना अभिधम्म-पिटक के बाद हुई। किन्तु श्रीमती रायस डेविड्स ने इसके विपरीत यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नेत्तिपकरण' कम से कम 'पट्ठान' से पूर्व की रचना है।[१] उनके इस मत का मुख्य आधार यही है कि नेत्तिपकरण में अभी हेतु और प्रत्यय का भेद उतना स्पष्ट नहीं हुआ है जितना 'पट्ठान' में। किन्तु क्या यह 'नेत्तिपकरण' के आवश्यकता के अनुरूप नहीं हो सकता? क्या इस कारण नहीं हो सकता कि 'नेत्तिपकरण' के लेखक को यहाँ अभिधम्म की सूक्ष्मता में न जाकर केवल उसके निरुक्ति-सम्बन्धी प्रयोजन को ग्रहण करना था? अभिधम्म-पिटक के संकलन या प्रणयन के काल के सम्बन्ध में जो विवेचन हम पहले कर चुके हैं, उसकी पृष्ठभूमि में तो नेत्तिपकरण को उसके बाद की रचना ही माना जा सकता है। ई० हार्डी ने जिन्होंने इस ग्रन्थ का सम्पादन पालि टैक्स्ट् सोसायटी के लिए किया है, आन्तरिक और बाह्य साक्ष्य का विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नेत्तिपकरण' ईसवी सन् के आसपास की रचना है।[२] गायगर ने इस मत को स्वीकार किया है।[३] श्रीमती रायस डेविड्स के मत की अपेक्षा यही मत अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। 'गन्धवंस' के वर्णनानुसार 'नेत्तिपकरण' के रचयिता भगवान् बुद्ध के परम ऋद्धिमान् शिष्य महाकच्चान या महाकच्चायन (महाकात्यायन) ही थे।[४] स्वयं मज्झिम-

---

१. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९२५, पृष्ठ १११-११२; विंटरनित्ज ने भी उनके इस साक्ष्य को स्वीकार किया है। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑव इंडियन लिचरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८३

२. नेत्तिपकरण (ई० हार्डी द्वारा सम्पादित, लन्दन १९०२), पृष्ठ ८ (भूमिका)

३. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २६

४. पृष्ठ ४९

निकाय के मधुपिंडिकसुत्त (१।२।८) में महाकच्चान के अर्थ-विभाग की प्रशंसा की गई है, "यह आयुष्मान् महाकात्यायन, बुद्ध द्वारा प्रशंसित, सब्रह्मचारियों द्वारा प्रशंसित और शास्ता द्वारा संक्षेप से कहे हुए उपदेश का विस्तार से अर्थ-विभाग करने में समर्थ हैं।" सम्भवतः इसी आधार पर 'नेत्तिपकरण' को गौरव देने के लिए उसे इन आर्य महाकात्यायन की रचना बतलाया गया है। किन्तु इन शास्त्रीय विवेचनों में पड़ने की बुद्ध के उन प्रथम शिष्यों को आवश्यकता नहीं थी, यह निश्चित है। यह तो उत्तरकालीन वैदिक परम्परा से प्राप्त प्रभाव का ही परिणाम था। जिस प्रकार कच्चान और मोग्गल्लान व्याकरणों का सम्बन्ध बुद्ध के प्रथम शिष्यों के साथ किया जाता है, उसी प्रकार 'नेत्तिपकरण' के रचयिता महाकच्चान के विषय में भी हमें जानना चाहिए। वास्तव में 'नेत्तिपकरण' ईसवी सन् के आसपास की रचना है और उसके रचयिता कोई कच्चान नामक भिक्षु थे, जिनके विषय में अधिक हमें कुछ ज्ञात नहीं है। पाँचवीं शताब्दी में या उसके कुछ बाद धम्मपाल ने 'नेत्तिपकरण' पर 'नेत्तिप्पकरणस्स अत्थ संवण्णना' (नेत्तिपकरण का अर्थ-विवरण) नाम की एक अट्ठकथा भी लिखी, जिसका निर्देश हम आगे के अध्याय में अट्ठकथा-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। बरमा और सिंहल की भाषाओं में इस ग्रंथ का अनुवाद हुआ है, और इसके कई संस्करण भी निकले हैं।

पेटकोपदेस

'पेटकोपदेस' भी 'नेत्तिपकरण' के समान विषय-वस्तु वाली एक दूसरी रचना है। श्रीमती मेबिल बोड ने हमें बताया है कि बरमा में इन दोनों ग्रन्थों का आदर तिपिटक के समान ही होता है।[1] 'पेटकोपदेस' का उद्देश्य तिपिटक के विद्यार्थियों को उसी प्रकार का उपदेश या शिक्षा देना है, जैसा हम 'नेत्तिपकरण' में देख आये हैं। 'नेत्तिपकरण' की ही विषय-वस्तु को यहाँ एक दूसरे ढंग से उपन्यस्त कर विवेचित किया गया है। कहीं जो कुछ बातें 'नेत्तिपकरण' में दुरूह रह गई हैं, उनको यहाँ स्पष्ट रूप से समझा दिया गया है। 'पेटकोपदेस' की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि यहाँ विषय का विन्यास प्रधानतः चार आर्य सत्यों की दृष्टि से किया गया है, जो बुद्ध-शासन के मूल उपादान हैं। 'पेटकोपदेस' के भी

---

१. दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४-५

रचयिता 'नेत्तिपकरण' के लेखक महाकच्चान ही माने जाते हैं। अतः उनके काल और वृत्त के सम्बन्ध में भी वही जानना चाहिए, जो 'नेत्तिपकरण' के रचयिता के सम्बन्ध में। अरविन्द बड़ुआ द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित।

मिलिन्दपञ्ह[1]

'मिलिन्द-पञ्हं', 'मिलिन्द पञ्हो' या 'मिलिन्दपञ्हा' (इन तीनों प्रकार यह ग्रन्थ लिखा जाता है)[2] इस युग की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना है। सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य में इस ग्रन्थ की समता अन्य कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को अपनी अट्ठकथाओं में तिपिटक के समान ही आदरणीय मानते हुए उद्धृत किया है,[3] यह उसकी महत्ता का सर्वोत्तम सूचक है। साहित्य और दर्शन दोनों दृष्टियों से 'मिलिन्द-पञ्ह' स्थविरवाद बौद्ध धर्म का एक बडा गौरव ग्रन्थ है। पाश्चात्य विद्वान् तक उसके दार्शनिक और

---

१. रोमन लिपि में सन् १८८० में लन्दन से ट्रेंकनर का प्रसिद्ध संस्करण निकला था। आज तो नागरी लिपि में भी सौभाग्यवश इसके मूल पाठ और अनुवाद दोनों उपलब्ध हैं। मिलिन्द-पञ्होः आर. डी. बड़ेकर द्वारा सम्पादित, बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९४०; भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा हिन्दी में अनुवादित, प्रकाशक भिक्षु उ० कित्तिमा, सारनाथ, बनारस, १९३७। द्वितीय संस्करण भी इस अनुवाद का निकल चुका है। प्रकाशक भिक्षु महानाम, प्रधानमंत्री, धर्मोदय सभा, कलकत्ता १९५१। मिलिन्दपञ्हो के स्यामी, सिंहली तथा बरमी अनेक संस्करण उपलब्ध हैं। मूल को देवनागरी लिपि में देते हुए स्वर्गीय पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने इस ग्रंथ का बंगला में अनुवाद किया था।

२. सिंहल में तो विशेषतः मिलिन्दपञ्हो ही कहा जाता है। हिन्दी में 'मिलिन्द-प्रश्न' के आधार पर 'मिलिन्दपञ्ह' ही कहना हमने अधिक उचित समझा है।

३. अट्ठसालिनी, पृष्ठ ९४, ९८, ९९, ११६ (देवनागरी संस्करण, पूना, १९४२) में बुद्धघोष ने 'आयुष्मान् नागसेन' (आयस्मा नागसेन), 'नागसेन स्थविर' (नागसेनत्थेरो) और 'आयुष्मान् नागसेन स्थविर' (आयस्मा नागसेनत्थेरो) आदि कह कर मिलिन्द-पञ्ह के लेखक को स्मरण किया है।

साहित्यिक गौरव पर इतने अधिक मुग्ध हुए हैं कि उन्हें इसमें ग्रीक प्रभाव और विशेषतः प्लेटो के संवादों की गन्ध आने लगी है! 'मिलिन्द-पञ्ह' (मिलिन्द-प्रश्न) जैसा, उसके नाम से स्पष्ट है, 'मिलिन्द' के 'प्रश्नों' के विवरण के रूप में लिखा गया है। 'मिलिन्द' शब्द ग्रीक 'मेनाण्डर' नाम का भारतीयकरण है। मेनाण्डर के प्रश्नों का विवरण मात्र इस ग्रन्थ में नहीं है। मेनाण्डर के प्रश्नों का समाधान इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। यह समाधान भदन्त नागसेन नामक बौद्ध भिक्षु ने किया। अतः मेनाण्डर और भदन्त नागसेन के संवाद के रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। मेनाण्डर या मिलिन्द और भदन्त नागसेन का यह संवाद ऐतिहासिक तथ्य था, इसके लिए प्रभूत इतिहास-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध है। 'मिलिन्द-पञ्ह' में ही मिलिन्द को योनकों अर्थात् यवनकों का राजा कहा गया है ('योनकानं राजा मिलिन्दो') और उसकी राजधानी सागल (वर्तमान स्यालकोट) को बतलाया गया है। हम जानते हैं कि दूसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व भारत का उत्तर-पच्छिमी भाग ग्रीक शासकों के हाथ में चला गया था। ग्रीक शासक मेनाण्डर या मेनाण्ड्रोस ही 'मिलिन्द-पञ्ह' का 'मिलिन्द' है, यह इतिहासवेत्ताओं का निश्चित मत है। किन्तु इस मेनाण्ड्रोस के शासन-काल की निश्चित तिथि क्या है, इसके विषय में अभी एक मत नहीं हो सका है। स्मिथ के अनुसार १५५ ई० पूर्व मेनाण्डर ने भारत पर आक्रमण किया।[१] हेमचन्द्र रायचौधरी[२] के मतानुसार मेनाण्डर का शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व है। स्वय 'मिलिन्द-पण्ह' के अनुसार मिलिन्द और नागसेन का आविर्भाव बुद्ध-परिनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद "परिनिब्बानतो पंचवस्ससते अतिक्कन्ते" हुआ। अधिकतर विद्वानों की आज मान्यता है कि मेनाण्डर का शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व है। अतः अपने मूल रूप में 'मिलिन्द-पञ्ह' इसी समय लिखा गया, यह निश्चित है। चूंकि ग्रीक-शासन मेनाण्डर के बाद शीघ्र भारत से लुप्त हो गया था और उसकी कोई स्थायी स्मृति भारतीय इतिहास में अंकित नहीं है, अतः यदि 'मिलिन्द-पञ्ह' की रचना को मिलिन्द और नागसेन के संवाद के आधार पर एक बाद के युग में लिखी हुई

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ २२७, २३९, २५८ (चतुर्थ संस्करण)

२. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३८१-८२ (छठा संस्करण, कलकत्ता, १९५३ ई०)

भी मानें, तो भी वह युग बहुत बाद का नहीं हो सकता। हर हालत में 'मिलिन्द-पञ्ह' की रचना ईसवी सन् के पहले ही हो गई थी[1] और उसका आधार था ग्रीक राजा मेनाण्डर और भदन्त नागसेन का ऐतिहासिक संवाद। 'मिलिन्द-पञ्ह' की इस विषयक ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने के लिए एक और दृढ़तर साक्ष्य भी विद्यमान है। भारत के करीब २२ स्थानों में (विशेषतः मथुरा में और काबुल तक) ग्रीक राजा मेनाण्डर के सिक्के मिले हैं, जिन पर खुदा हुआ है "बेसिलियस-सोटिरस मेनण्ड्रोस"। एक आश्चर्य की बात यह है कि इन सिक्कों पर धर्म-चक्र का निशान बना हुआ है, जो उसके बौद्ध धर्मावलम्बी होने का पक्का प्रमाण देता है। 'मिलिन्द-पञ्ह' में भी हम पढ़ते हैं कि भदन्त नागसेन के उत्तरों से सन्तुष्ट होकर राजा मिलिन्द उनसे अपने को उपासक (बौद्ध गृहस्थ-शिष्य) के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना करता है–"उपासकं मं भन्ते नागसेन धारेथ"।[2] बाद में हम वहीं यह भी देखते हैं कि राजा मिलिन्द ने बाद में अपने राज्य को अपने पुत्र को देकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और विदर्शना-ज्ञान की वृद्धि करते हुए उसने अर्हत्त्व प्राप्त किया।[3] ग्रीक इतिहास-लेखक प्लूटार्क का कहना है कि मेनाण्डर के मरने के बाद अनेक भारतीय नगरों में उसकी अस्थियों के ऊपर समाधियाँ बनाई गईं। स्पष्टतः यह मेनाण्डर के बौद्ध होने का साक्ष्य देता है और 'मिलिन्द-पञ्ह' के वर्णन का समर्थन करता है। भगवान् बुद्ध (महापरिनिब्बाण-सुत्त) और अनेक अर्हतों की अस्थियों पर इसी प्रकार स्तूप बनवाये गये थे। आचार्य बुद्धघोष के परिनिर्वाण पर इसी प्रकार का वर्णन बुद्धघोसुप्पत्ति' (पृष्ठ ६६, जेम्स ग्रे-द्वारा सम्पादित) में मिलता है। अतः पूर्वोक्त विवरण, प्लूटार्क का साक्ष्य और सबसे अधिक राजा मेनाण्डर के सिक्कों पर धर्म-चक्र के चिह्न का पाया जाना, इन सब बातों के प्रकाश में हम 'मिलिन्द-पञ्ह' के इस साक्ष्य को अस्वीकार नहीं कर सकते

---

१. मिलाइये रायस डेविड्स्: क्वेश्चन्स ऑव किंग मिलिन्द (मिलिन्द-प्रश्न का अंग्रेजी अनुवाद), भाग प्रथम (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५), पृष्ठ ४५ (भूमिका); विंटरनित्ज़: हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७५

२. पृष्ठ ४११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

३. पुत्तस्स रज्जं निय्यादेत्वा अगारस्मा अनगारियं पब्बजित्वा विप्पस्सनं वड्ढेत्वा अरहत्तं पापुणीति। पृष्ठ ४११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

कि मेनाण्डर बौद्ध हो गया था। शिनकोट-अभिलेख का साक्ष्य भी यही है। इतने ठोस प्रमाणों के होते हुए भी कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह स्वीकार नहीं किया कि मेनाण्डर बौद्ध हो गया था।[१] सम्भवतः पाश्चात्य संस्कृति की गौरव-रक्षा के अन्तर्हित भाव ने ही उन्हें इस स्पष्ट सत्य को स्वीकार करने से उन्मुख या उदासीन रक्खा है। ग्रीक राजा मेनाण्डर और भदन्त नागसेन के संवाद के रूप में 'मिलिन्द-पञ्ह' का लिखा जाना एक निश्चित ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी वह किसके द्वारा लिखा गया, किस रूप में लिखा गया, बाद में उसमें क्या परिवर्तन या परिवर्द्धन किए गए, आदि समस्याएँ बाकी ही बच रहती हैं। इन समस्याओं पर आने से पूर्व हमें इतना तो निश्चयपूर्वक समझ ही लेना चाहिए कि मूल रूप में 'मिलिन्द-पञ्ह' का प्रणयन, उत्तर-पश्चिमी भारत में, द्वितीय या प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व हुए, भदन्त नागसेन और ग्रीक राजा मेनाण्डर के संवाद के आधार पर, उसी समय या कम से कम प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व के निकट, बौद्ध धर्म सम्बन्धी शंकाओं के निवारणार्थ हुआ। उसके रचयिता भी भदन्त नागसेन ही माने जा सकते हैं। महास्थविर बुद्धघोषाचार्य की भी यही मान्यता थी, क्योंकि उन्होंने 'मिलिन्द-पञ्ह' से उद्धरण देते हुए ग्रन्थ का नाम तक लेना आवश्यक न समझ केवल स्थविर नागसेन के नाम से ही उसका उद्धरण दिया है। ग्रन्थ के नायक होने के साथ-साथ उनके इस ग्रन्थ के रचयिता होने में कोई विरोध नहीं है। ऐसी निवयक्तिकता भारतीय साहित्य में अनेक बार देखी जाती है। कम से कम श्रीमती रायस डेविड्स ने जो 'मिलिन्द पञ्ह' के रचयिता का नाम 'माणव' बतलाया है,[२] उसके लिए तो कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता और उसे उनकी कल्पना से प्रसूत ही समझना चाहिए।

---

१. मिलाइये रायस डेविड्स : मिलिन्द-पञ्ह का अंग्रेजी अनुवाद (क्विशन्स ऑव किंग मिलिन्द), भाग प्रथम (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५, पृष्ठ १९ (भूमिका); स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ १८७, २२६; गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २७; ये विद्वान् इतना तक तो स्वीकार करते हैं कि बौद्धों से उसकी सहानुभूति थी। इससे कुछ अधिक विंटरनित्ज ने इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७५, पद-संकेत १ में कहा है। परन्तु स्पष्ट साहस तो सत्य बात कहने का वह भी नहीं कर सके।

२. देखिये उनका मिलिन्द क्विशन्स, लन्दन, १९३०

अक्सर (विशेषतः पश्चिमी विद्वानों द्वारा) यह कहा जाता है कि 'मिलिन्द-पञ्ह' एक इकाई-बद्ध रचना नहीं है और उसका प्रणयन भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न युगों में हुआ है। परिच्छेदों की एक दूसरे से भिन्नरूपता एवं शैली और विषय-वस्तु की भी विभिन्नता के कारण यह मान लिया गया है कि मौलिक रूप में ग्रन्थ बहुत छोटा रहा होगा, सम्भवतः वह मिलिन्द और नागसेन के संवाद के संक्षिप्त विवरण के रूप में था, और बाद में स्थविरवाद बौद्ध धर्म की दृष्टि से जो विषय महत्वपूर्ण थे उनको प्राचीन नमूनों के आधार पर इसमें जोड़ा जाता रहा। ग्रन्थ का प्रस्तुत रूप इसी परिवर्द्धन का परिणाम है। 'मिलिन्द-पञ्ह' के अनेकरूपतामय आन्तरिक साक्ष्य के अलावा एक और प्रभावशाली बाह्य साक्ष्य इस मत के प्रतिपादन में दिया गया है कि प्रस्तुत पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' एक मौलिक रचना न होकर अनेक परिवर्द्धनों का परिणाम है अथवा स्वयं मौलिक रूप से संस्कृत में लिखे हुए ग्रन्थ का पालि रूपान्तर है। इस बाह्य साक्ष्य का आधार है इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद, जो सन् ३१७ और ४२० ई० के बीच किसी समय एक अज्ञात लेखक के द्वारा किया गया। पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' में ७ अध्याय हैं, यथा (१) बाहिर-कथा, (२) लक्खण-पञ्हो, (३) विमतिच्छेदन-पञ्हो (४) मेण्डक-पञ्हो (५) अनुमान-पञ्हो, (६) धुतंग-कथा, तथा (७) ओपम्मकथापञ्हं। उपर्युक्त चीनी अनुवाद में, जिसका नाम वहाँ 'न-सियन्-पि-कियु-चिंग्' अर्थात् 'नागसेन भिक्षु सूत्र' या संक्षेप में 'न-सियन्-चिंग्' अर्थात् 'नागसेन सूत्र' दिया गया है, चौथे अध्याय से लेकर सातवें अध्याय तक नहीं हैं। वहाँ केवल प्रथम तीन अध्याय हैं जो १२४ परिच्छेदों के रूप में हैं।[1] इससे स्वाभाविक तौर पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'मिलिन्द-पञ्ह' के पहले तीन अध्याय ही ग्रन्थ के मौलिक स्वरूप के परिचायक हैं और बाकी बाद के परिवर्द्धन मात्र हैं। सेनाँ और बार्थ आदि अनेक विद्वानों के अलावा गायगर[2] और विंटरनित्ज़[3] भी इसी

---

१. चीनी 'नागसेन-भिक्षु-सूत्र' के कौन-कौन से परिच्छेद पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' के किन-किन अध्यायों में समाविष्ट या अन्तर्भावित हैं, इसके लिये देखिये प्रभात कुमार मुखर्जी : इण्डियन लिटरेचर इन चाइना एण्ड दि फार ईस्ट, पृष्ठ ६५, पद-संकेत ३ (ग्रेटर इण्डिया सोसायटी, कलकत्ता, १९३१)। चीनी 'नागसेन-भिक्षु-सूत्र' का डेमी विले ने फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया है।

२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ २७

३. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७६-१७७

मत के मानने वाले हैं। उन्होंने इसी के समर्थन में अन्य कारण भी दिये हैं। एक सब से बड़ा कारण तो यही है कि हमारे प्रस्तुत पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' में ही तृतीय अध्याय के अन्त में लिखा है "मिलिन्दस्स पञ्हानं पुच्छाविस्सज्जना निट्ठिता" अर्थात् "मिलिन्द के प्रश्नों के उत्तर समाप्त हुए।" इतना ही नहीं, आगे चौथे अध्याय के प्रारम्भ में जो गाथाएँ आती हैं, वे एक नये ही प्रकार से विषय की प्रस्तावना करती हैं। "वक्ता, तर्कप्रिय, अत्यन्त बुद्धि-विशारद (राजा) मिलिन्द ज्ञान-विवेचन के लिए नागसेन के पास आया।"[1] जब पहले मिलिन्द के प्रश्न समाप्त ही कर दिये गए तो फिर इस प्रकार विषय का दुबारा अवतरण करने की क्या आवश्यकता थी? निश्चय ही निष्पक्ष समालोचक को इस चौथे अध्याय के बाद के भाग की मौलिकता और प्रामाणिकता में सन्देह होने लगता है। यह भी कितने आश्चर्य की बात है कि आचार्य बुद्धघोष ने भी 'मिलिन्द-पञ्ह' के जिन अवतरणों को उद्धृत किया है, वे प्रायः प्रथम तीन अध्यायों से ही हैं। अतः उन्हीं को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक मानना पड़ता है। जहाँ तक इन प्रथम तीन अध्यायों की भी प्रामाणिकता का सवाल है, उनके विषय में भी कुछ विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है। स्वयं विंटरनित्ज़ ने प्रथम अध्याय के कुछ अंशों को मौलिक नहीं माना है। उनके मतानुसार ग्रन्थ की मौलिक प्रस्तावना अपेक्षाकृत कुछ छोटी थी।[2] गायगर भी इस मत में उनके साथ सहमत हैं।[3] इसी प्रकार तृतीय अध्याय (विमतिच्छेदन-पञ्हो) में भी निरन्तर परिवर्द्धनों की सम्भावना स्वीकार की गई है। इस परिच्छेद में मिलिन्द के सन्देहों का निवारण किया गया है। जो-जो सन्देह स्थविरवाद बौद्ध धर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते थे, उन सब का समाधान-सहित समावेश इस परिच्छेद में कर दिया गया है, ऐसा इन विद्वानों ने मान लिया है। गार्बे और श्रेडर ने तो इस पूरे अध्याय तक को बाद को जोड़ा हुआ मान लिया है,[4] जो ठीक नहीं है। पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' और चीनी भाषा में प्राप्त 'नागसेन-सूत्र' में विभिन्नता होने के आधार पर तथा अन्य उपर्युक्त आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह मान लिया गया है कि पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' के अध्याय ४ से लेकर ७ तक बाद के परिवर्द्धन हैं। एक दूसरा निष्कर्ष यह भी निकाला गया है

---

१. भस्सप्पवेदीवेतंडी अतिबुद्धिविचक्खणो। मिलिन्दो ञाणभेदाय नागसेनमुपागमि।

२. ३. गत पृष्ठ पर उद्धृत क्रमशः ३ एवं २ पद-संकेतों के समान।

४. देखिये विंटरनित्ज़: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७७, पद-संकेत २

कि 'मिलिन्द-पञ्ह' के प्रारम्भिक काल से ही अनेक संस्करण या पाठ-भेद थे। जर्मन विद्वान् श्रेडर ने उसके सात पाठ-भेदों का उल्लेख किया है। निश्चय ही ये सब बातें कल्पना पर आश्रित हैं और केवल चीनी अनुवाद से पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' की विभिन्नता के आधार पर निकाले हुए अनुमान मात्र है। यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि 'मिलिन्द-पञ्ह' के प्रश्न को लेकर डा० गायगर जैसे विद्वान् को भी भ्रम में पड़ जाना पड़ा है। उन्होंने यह मान लिया है कि पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' मौलिक रूप से संस्कृत में लिखा गया था और ईसवी सन् के करीब उसका अनुवाद पालि में किया गया। उन्होंने यह भी मान लिया है कि यह अनुवाद लंका में किया गया और प्राचीन नमूनों के आधार पर उसमें अनेक परिवर्द्धन भी कर दिये गये, यथा पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल आदि की कथाएँ दीघ-निकाय के सामञ्ञफल-सुत्त के आधार पर और रोहण और नागसेन के सम्बन्ध की कथा महावंस ५।१३१ में निर्दिष्ट सिग्गव और तिस्स की कथा के आधार पर जोड़ दी गई।[१] परिवर्द्धनों की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी (यद्यपि पूरण कस्सप और मक्खलि गोसाल आदि को 'मिलिन्द-पञ्ह' में व्यक्तियों का वाचक न समझ कर उनके सम्प्रदाय के आचार्यों या पदों का सूचक मान कर उन सम्बन्धी विवरणों को बाद का परिवर्द्धन मानने की भी अपेक्षा नहीं) 'मिलिन्द-पञ्ह' का मौलिक संस्कृत से लंका में पालि में रूपान्तरित किया जाना स्वीकार नहीं किया जा सकता। चूंकि यह मत डा० गायगर जैसे विद्वान् की ओर से आया है, इसलिए इसका उल्लेख यहाँ कर दिया गया है। अन्यथा वह इस योग्य भी नहीं है। 'मिलिन्द-पञ्ह' निश्चयतः अपने मौलिक पालि रूप में उत्तर-पश्चिमी भारत की प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व की रचना है। सम्भव है उसमें बाद में भी परिवर्द्धन हुए हों। किन्तु उसका मौलिक रूप आज का-सा सात परिच्छेदों वाला ही रहा हो, इसके लिए भी कम अवकाश नहीं है, क्योंकि जैसा डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स ने सुझाव रक्खा है, संभवतः चीनी अनुवादक ने ही अपने अनुवाद में अन्तिम चार अध्यायों को छोड़ दिया हो।[२] यद्यपि विंटरनित्ज़ ने उनके इस मत को स्वीकार नहीं किया है ।[३] हमें चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी

---

१. पालि लिटरेचर एंड लॅंग्वेज, पृष्ठ २७, पद-संकेत २

२. एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, जिल्द आठवीं, पृष्ठ ६३२

३. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७७ पद-संकेत १

में (जिससे पहले चीनी अनुवाद नहीं हुआ था) बुद्धघोष के इस ग्रन्थ के प्रति आदर और श्रद्धा-भाव को देख कर सत्य की इसी ओर प्रवणता दिखाई पड़ती है। चीनी 'नागसेन-सूत्र' में हम केवल मिलिन्द को तात्त्विक विषयों पर प्रश्न पूछते देखते हैं, परन्तु पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' यहीं समाप्त नहीं हो जाता। इसमें मिलिन्द पूर्ण सन्तुष्ट होकर उपासकत्त्व प्राप्त कर लेता है। अतः चीनी अनुवाद अपूर्ण है, यह निष्कर्ष अपने आप प्राप्त होता है। 'मिलिन्द-पञ्ह' के उपर्युक्त चीनी अनुवाद के अतिरिक्त दो और चीनी अनुवाद इस ग्रन्थ के किये गये। पहला अनुवाद तीसरी शताब्दी ईसवी में किया गया, जो पाँचवीं शताब्दी में नष्ट हो गया। दूसरा अनुवाद गुणभद्र ने सन् ४३५-४५५ के बीच किया, जो भी कालान्तर में नष्ट हो गया। इस प्रकार मिलिन्द-पञ्ह के तीन अनुवाद चीनी भाषा में हुए, जिनमें से केवल एक 'नागसेन भिक्षु सूत्र' या 'नागसेन-सूत्र' के नाम से उपलब्ध है। पालि परम्परा की दृष्टि से यहाँ यह कहना आवश्यक है कि सुमंगल नामक भिक्षु ने अठारहवीं शताब्दी में 'मिलिन्द-पञ्ह' का सिंहली भाषा में अनुवाद 'सद्धर्मादासय' या 'श्री धर्मादासय' शीर्षक से किया।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'मिलिन्द-पञ्ह' की विषय-वस्तु सात भागों या अध्यायों में विभक्त है (१) बाहिर-कथा, (२) लक्खण-पञ्हो, (३) विमति-च्छेदन-पञ्हो, (४) मेण्डक-पञ्हो, (५) अनुमान-पञ्हो, (६) धुतंग-कथा और (७) ओपम्मकथा पञ्हं। 'बाहिर-कथा', मिलिन्द-पञ्ह' की भूमिका है। सर्व-प्रथम लेखक ने नागसेन की इस विचित्र कथा (चित्रा नागसेनकथा) को, जो अभि-धर्म, विनय और सुत्तों पर समाश्रित है, और जिसमें विचित्र उपमाएँ और युक्तियाँ प्रकाशित की गई हैं, सावधान हो कर, ज्ञानपूर्वक, बुद्ध-शासन सम्बन्धी सन्देहों के निवारणार्थ, सुनने का आह्वान किया है—

अभिधम्मविनियोगाळ्हा सुत्तजालसमत्थिता।
नागसेनकथा चित्रा ओपम्मेहि नयेहि च॥
तत्थ ञाणं पणिधाय हासयित्वान मानसं।
सुणाथ निपुणे पञ्हे कङ्खाठानविदालने'ति॥

उसके बाद ग्रीक राजा मिलिन्द (मेनाण्डर) की राजधानी सागल का रम-णीय, काव्यमय वर्णन है। "**अथ यं अत्थि योनकानं नानापुटभेदनं सागलं नाम नगरं नदीपब्बतसोभितं रमणीयभूमिप्पदेसभागं आरामुय्यानोपवनतडागपोक्खरणी-सम्पन्नं नदीपब्बतरामणेय्यकं**" आदि। उसके बाद उपर्युक्त सात भागों में ग्रन्थ की

विषय-सूची तथा फिर नागसेन और मिलिन्द के पूर्व-जन्म की कथा है। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि भदन्त नागसेन ने अपने और अपने प्रतिवादी मिलिन्द के पूर्वजन्म (पुब्बयोग, पुब्ब-कम्म) के वर्णन में तो इतनी तत्परता दिखाई है, फिर भी अपने वर्तमान जन्म और कर्म के विषय में अधिक जानने का हमें अवकाश नहीं दिया। सम्भवतः जिसे हम इतना ठोस समझते हैं, वह उनके लिये इतना आवश्यक नहीं था और जो कुछ हमें अपने विषय में वह बताना आवश्यक समझते थे, उसे उन्होंने वहाँ बता भी दिया है। स्थविर नागसेन का जन्म मध्य देश की पूर्वी सीमा पर स्थित, हिमालय पर्वत के समीपवर्ती कजंगला नामक प्रसिद्ध कस्बे में हुआ था। उनके पिता का नाम सोणुत्तर था, जो एक ब्राह्मण थे। तीनों वेदों, इतिहासों और लोकायत शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर नागसेन ने स्थविर रोहण से बुद्ध-शासन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की एवं बौद्ध धर्म में प्रवेश किया। तदनन्तर वे वत्तनिय सेनासन के स्थविर अस्सगुत्त (अश्वगुप्त) के पास गये और उनसे शिक्षा प्राप्त की। यहीं उनको सोतापन्न (स्रोत आपन्न) फल की प्राप्ति हुई। तदनन्तर उन्हें पाटलिपुत्र भेज दिया गया, जहाँ उन्होंने स्थविर धर्मरक्षित से बौद्ध धर्म का विशेष अध्ययन किया। यहीं उन्हें अर्हत्त्व फल की प्राप्ति हुई। इसके बाद वे सागल (सियालकोट) के संखेय्य परिवेण में गये, जहाँ राजा मिलिन्द से उनकी भेंट हुई। मिलिन्द की शिक्षा का वर्णन करते हुए उसे 'श्रुति, स्मृति, संख्यायोग (सांख्य योग), नीति, वैशेषिक (विसेसिका) आदि १९ शास्त्रों का मननशील विद्यार्थी बतलाया गया है। वह पूरा तर्कवादी, वितंडावादी और वाद-विवाद में अजेय था, यह भी दिखाया गया है। मिलिन्द को दार्शनिक वाद-विवाद से बड़ा प्रेम था और उसने 'लोकायत' सम्प्रदाय आदि के अनुयायी सभी विचारकों को परास्त कर दिया था। उसने बुद्धकालीन ६ प्रधान आचार्यों की गद्दियों पर प्रतिष्ठित एव उनके समान ही नाम धारण करने वाले छह प्रधान आचार्यों, यथा पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, निगण्ठ नाटपुत्त, सञ्जय बेलट्ठिपुत्त, अजित केस कम्बलि और पकुध-कच्चायन के नाम भी अपने मन्त्रियों से सुन रक्खे थे, और प्रथम दो से वह मिला भी था[1], किन्तु उसकी शान्ति उनसे नहीं हुई थी। अन्त में ग्रीक राजा को यह

---

१. यूरोपीय विद्वानों ने पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल आदि के नाम देख कर ही यह समझ लिया है कि यहाँ 'मिलिन्द-पञ्ह' के लेखक ने इन बुद्धकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है। यह एक भ्रम है। देखिये मिलिन्द-प्रश्न,

अभिमान होने लगा "**तुच्छो बत भो जम्बुदीपो पलापो बत भो जम्बुदीपो। नत्थि कोचि समणो वा ब्राह्मणो वा यो मया सद्धिं सल्लपितुं सक्कोति कंखं पटिविनोदेतुंति।**" "**तुच्छ है भारतवर्ष! प्रलाप मात्र है भारतवर्ष! यहाँ कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण नहीं है जो मेरे साथ, मेरे सन्देहों के निवारणार्थ, संलाप भी कर सके।**" मिलिन्द के इन शब्दों में हम बुद्धिवादी ग्रीक ज्ञान की गौरवमय हुंकार देखते हैं। भारतीय राष्ट्र का गौरव भदन्त नागसेन के रूप में अपनी सारी संचित ज्ञान-गरिमा को लिये हुए अन्त में उसे मिल गया। नागसेन के ज्ञान की प्रशंसा में कहा गया है कि उन्होंने अपनी अल्पावस्था में ही निघंटु आदि के सहित तीनों वेदों को पढ़ लिया था, और वे इतिहास, व्याकरण, लोकायत आदि शास्त्रों में पूर्ण निष्णात थे।[१] उसके बाद प्रव्रजित हो कर उन्होंने अभिधम्म के सात प्रकरणों तथा अन्य तेपिटक बुद्ध-वचनों को अपने गुरु रोहण से पढ़ा था। पहले उन्होंने धर्मरक्षित नामक भिक्षु के साथ पाटिलपुत्र में निवास किया। बाद में आयुपाल नामक भिक्षु के निमंत्रण पर वे सागल नगर के संखेय्य परिवेण नामक विहार में चले गये। वहीं राजा मिलिन्द उनसे मिलने के लिए गया। '**अथ खो मिलिन्दो राजा येनायस्मा नागसेनो तेनुपसंकमि।** (तदनन्तर राजा मिलिन्द जहाँ आयुष्मान् नागसेन थे, वहाँ गया।)

कुशल-प्रश्न पूछने और परिचय प्राप्त करने में ही दार्शनिक संलाप छिड़ गया। संवाद भी उस प्रश्न पर, जो बुद्ध-दर्शन की आधार-भूमि है। अनात्म लक्षण! राजा मिलिन्द नागसेन के पास जा कर बैठ जाता है और उनसे पूछता है--

"भन्ते! आप किस नाम से पुकारे जाते हैं? आपका नाम क्या है?"

(किं नामोसि भन्ते'ति)

"महाराज! मैं 'नागसेन' नाम से पुकारा जाता हूँ। सब्रह्मचारी भिक्षु मुझे यही कह कर बुलाते हैं। माता-पिता अपने बच्चों के इस प्रकार के नाम रखते हैं,

---

(हिन्दी अनुवाद) की बोधिनी में भिक्षु जगदीश काश्यप की इस विषय-सम्बन्धी टिप्पणी।

१. तीसु वेदेसु सनिघंटुकेटुभेसु साक्खरप्पभेदेसु इतिहासपञ्चमेसु पदको वेय्याकरणो लोकायतमहापुरिसलक्खणेसु अनवयो अहोसि। पृष्ठ ११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

जैसे 'नागसेन', 'सूरसेन' आदि। लेकिन ये सब नाम केवल व्यवहार के लिए हैं। तात्विक दृष्टि से इस प्रकार का कोई व्यक्ति नहीं होता।

(न हेत्थ पुग्गलो उपलब्भतीति)

बस, संप्रश्न और संवाद का पूरा क्षेत्र खुल गया!

"भन्ते! नागसेन! यदि यथार्थ में कोई व्यक्ति है ही नहीं, तो आपको अपनी आवश्यक वस्तुएँ कौन देता है? उन वस्तुओं का उपयोग कौन करता है? पुण्य कौन करता है? ध्यान कौन लगाता है? आर्य-मार्ग और उसका फल निर्वाण कौन प्रत्यक्ष करता है?.....भले-बुरे का फिर तो कोई कर्ता ही नहीं? आपका कोई गुरु भी नहीं? आप उपसम्पन्न भी नहीं? आप कहते हैं आपको लोग 'नागसेन' नाम से पुकारते हैं। नागसेन है क्या?

"क्या केश नागसेन हैं?"

"केश किस प्रकार नागसेन हो सकते हैं?"

"तो क्या नख, दाँत, चमड़ी, मांस, शरीर नागसेन हैं?"

"राजन्! ये भी नहीं।"

"तो क्या पञ्च स्कन्धों का संयोग नागसेन है?"

"नहीं, महाराज!"

"तो क्या फिर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों से कोई व्यतिरिक्त वस्तु नागसेन है?" **(किं पन भन्ते अञ्ञत्र रूपवेदनासञ्ञा-संखारविञ्ञाणं नागसेनोति)**

"नहीं, महाराज!" **(नहि महाराजाति)**

मिलिन्द राजा थक जाता है। उसकी बुद्धि आगे संप्रश्न करना नहीं जानती।

"भन्ते! मैं पूछते-पूछते हार गया, फिर भी मैं यह न जान सका कि 'नागसेन' क्या है? तो क्या 'नागसेन' केवल एक नाम ही है? अन्ततः 'नागसेन' है क्या वास्तव में? भन्ते! आप असत्य बोल रहे हैं कि 'नागसेन' नाम का कोई व्यक्तित्व यथार्थ में विद्यमान नहीं है!"

वितंडावादी मिलिन्द की बुद्धि को परिश्रान्त जानकर भदन्त नागसेन उसे कुछ आसान मार्ग से समझाना चाहते हैं।

"महाराज! आपका जन्म तो क्षत्रिय-कुल में हुआ है न? इसलिए स्वभावतः आप सुकुमार हैं। फिर भी आप इतनी गर्मी में दोपहर को यहाँ चले ही आये।

मुझे विश्वास है कि आप जरूर थक गये होंगे। आप पैदल आये हैं या रथ पर?"

"भन्ते! मैं पैदल नहीं चलता हूँ। मैं रथ पर आया हूँ।"

"महाराज! यदि आप रथ पर आये हैं, तो कृपया मुझे यह बताइये कि रथ है क्या?"

"क्या रथ के बाँस रथ हैं?"

"नहीं भन्ते! रथ के बाँस रथ नहीं हो सकते।"

"तो क्या धुरा, पहिये, रस्से, जुआ, पहियों के डंडे, अथवा बैल हाँकने की लाठी, रथ हैं?"

"नहीं भन्ते!"

"तो फिर कहिये कि क्या रथ इनसे अलग कोई वस्तु है?"

"नहीं भन्ते! यह कैसे हो सकता है!"

"राजन्! मैं पूछ-पूछ कर हार गया। उस पर भी मैं न जान सका कि यथार्थ में रथ क्या है? तो फिर क्या आप का रथ केवल एक नाममात्र है? राजन्! आप असत्य बोल रहे हैं कि आप रथ पर आये हैं। आप इस सारे जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में सबसे प्रतापी राजा हैं। तो फिर आप किसके डर से असत्य बोल रहे हैं?"

'भन्ते! मैं असत्य नहीं बोल रहा हूँ। रथ के बाँस, पहिये, रथ का ढाँचा, पहियों के डंडे, हाँकने की लकड़ी, इन भिन्न-भिन्न हिस्सों पर 'रथ' का अस्तित्व निर्भर है। 'रथ' एक शब्द है जो केवल व्यवहार के लिये है। **"रथोति संज्ञा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्तं पवत्तीति।"**

"ठीक है महाराज! आपने यथार्थ 'रथ' को समझ लिया। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति की भी हालत है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों पर मेरा अस्तित्व निर्भर है। 'नागसेन' शब्द केवल व्यवहारमात्र है। यथार्थ में 'नागसेन' नाम का कोई व्यक्तित्व विद्यमान नहीं है। परमार्थ रूप से व्यक्ति की उपलब्धि नहीं होती **"परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति।"**

भदन्त नागसेन की यह अनात्मवाद की व्याख्या बड़ी महत्वपूर्ण है। इसके उद्धरण के बिना मूल बुद्ध-दर्शन सम्बन्धी अनात्मबाद का कोई भी विवेचन पूरा नहीं माना जा सकता। कहाँ तक भदन्त नागसेन ने बुद्ध-मन्तव्य निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया है, अथवा कहाँ तक उन्होंने उसके यथार्थ रूप का ही दिग्दर्शन किया है, इसके विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं। पहले मत का प्रतिपादन योग्यतापूर्वक

डा० राधाकृष्णन् ने किया है,[1] जबकि इसी कारण महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास लिखने की उनकी योग्यता को ही संदेह की दृष्टि से देखा है।[2] इस विवाद में भाग न लेकर हम इतना ही कह देना अपने प्रस्तुत उद्देश्य के लिये पर्याप्त समझते हैं कि चाहे नागसेन की अनात्मवाद की व्याख्या बुद्ध-मन्तव्य का यथावत् निदर्शन करती हो या चाहे उन्होंने उसे निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया हो, वह अपने आप में महत्वपूर्ण अवश्य है। न केवल स्थविरवादी बौद्ध साहित्य में ही, अपितु सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में, बुद्ध-वचनों को छोड़कर, अनात्म-वाद का उससे अधिक सुन्दर, उससे अधिक आकर्षक और उससे अधिक गम्भीर विवेचन कहीं नहीं मिल सकता। अतः बौद्ध दर्शन और बौद्ध साहित्य के विद्यार्थी के लिये हर हालत में उसका जानना आवश्यक है।

अनात्मवाद की उपर्युक्त व्याख्या मान लेने पर पुनर्जन्मवाद के साथ उसकी संगति किस प्रकार लगाई जा सकती है, यह भी समस्या मिलिन्द के सिर में चक्कर लगाती है। वह भदन्त नागसेन से पूछता है।

"भन्ते नागसेन कौन उत्पन्न होता है? क्या उत्पन्न होने पर व्यक्ति वही रहता है या अन्य हो जाता है? **यो उप्पज्जति सो एव सो उदाहु अञ्ञो'ति।**"

"न तो वही और न अन्य ही--**न च सो न च अञ्ञो'ति**" स्थविर कहते हैं।

राजा की समझ में यह उत्तर नहीं आता। स्थविर उदाहरण देकर समझाते हैं कि जब पुरुष बच्चा होता है और जब वह तरुण युवा होता है, तब क्या वह बालक और युवा एक ही होता है? नहीं ऐसा नहीं होता। बालक अन्य होता है और वह तरुण युवा अन्य होता है। किन्तु यदि यही मान लिया जाय कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य होता है, तो फिर न कोई किसी की माता रहेगी, न कोई किसी का पिता रहेगा, न आचार्य रहेगा.....! फिर तो ऐसी ही प्रतीति होगी कि यह गर्भ की प्रथम अवस्था की माता है, यह दूसरी अवस्था की माता है, यह तीसरी अवस्था की, जो सब आपस में भिन्न-भिन्न हैं, अन्य से अन्य हो गये हैं। क्या एक ही व्यक्ति के बालकपन की माँ भिन्न है उसकी युवावस्था की

---

१. इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३८२-९०; कीथ, श्रीमती रायस डेविड्स और विंटरनित्ज की भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की मान्यता है, देखिये विंटरनित्ज: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७८, पद-संकेत ३।

२. दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५३१-५३२।

माँ से? **अञ्ञा खुद्दकस्स माता अञ्ञा महन्तस्स माता!** विद्यार्थी जब पाठशाला में पढ़ने जाता है, तब क्या वह अन्य ही है? और जब वह विद्याध्ययन समाप्त करता है, अन्य ही है? **'अञ्ञो सिप्पं सिक्खति अञ्ञो सिक्खितो भवति**—अन्य ही शिल्प सीखता है, अन्य ही शिक्षित होता है? अन्य ही पाप करता है और अन्य के ही अपराध-स्वरूप हाथ-पैर काटे जाते हैं? राजा घबड़ा जाता है, क्योंकि वह पहले स्वयं ही स्वीकार कर चुका है कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य। अतः कुछ समझ नहीं सकता कि उसे क्या कहना चाहिए। विवश होकर वह भदन्त नागसेन से कहता है "भन्ते! आप ही मुझे बताइये कि क्या बात है? **त्वं पन भन्ते एवं वुत्ते किं वदेय्यासीति।** भन्ते! ऐसा पूछने पर आप स्वयं क्या कहेंगे? स्थविर उसे समझाते हैं कि "धर्मों के लगातार प्रवाह से, एक उत्पन्न होता है, दूसरा निरुद्ध होता है, और यह सब ऐसे होता है जैसे मानो युगपत्, एक-साथ हो। इसलिए न तो सर्वथा उसी की तरह और न सर्वथा अन्य की तरह, एक जीवन की अंतिम चेतनावस्था के लय होने पर दूसरे जन्म की प्रथम चेतनावस्था आ जाती है।"[1] फिर भी मिलिन्द पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाता और वह पूछता है

"भन्ते नागसेन! पर क्या है वह जो जन्म ग्रहण करता है? **भन्ते नागसेन को पटिसन्दहति?**

"हे महाराज! नाम-रूप जन्म ग्रहण करता है। **नाम-रूपं खो महाराज पटिसन्दहति।**"

"क्या यही नाम-रूप[2] जन्म ग्रहण करता है?" "महाराज! यह नाम-रूप जन्म ग्रहण नहीं करता, किन्तु इस नाम-रूप के द्वारा जो शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं और उन कर्मों के द्वारा जो अन्य नाम-रूप उत्पन्न होता है, वही जन्म ग्रहण करता है।"[3] आगे समझाते हुए स्थविर कहते हैं "हे राजन्! मृत्यु के समय जिसका

---

१. **एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति, अञ्ञो उप्पज्जति, अञ्ञो निरुज्झति, अपुब्बं अचरिम विय सन्दहति, तेन न च सो न च अञ्ञो पुरिमविञ्ञाणे पच्छिमविञ्ञाणं संगहं गच्छतीति। मिलिन्दपञ्हो, लक्खणपञ्हो, पृष्ठ ४३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)**

२. **नाम अर्थात् सूक्ष्म चित्त और चेतसिक धर्म। रूप अर्थात् चार महाभूत और उनका विकार।**

३. **न खो महाराज इमं येव नामरूपं पटिसन्दहति। इमिना पन महाराज नामरूपेन कम्मं करोति सोभनं वा पापकं वा, तेन कम्मेन अञ्ञं नामरूपं पटिसन्दहतीति।**

अन्त होता है, वह तो एक अन्य नाम-रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है, वह एक अन्य होता है। किन्तु द्वितीय (नाम-रूप) प्रथम (नाम-रूप) में से ही निकलता है[1] . . . अतः हे राजन्! धर्म-सन्तति ही संसरण करती है, जन्म ग्रहण करती है—**एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति।**"

इस प्रकार भदन्त नागसेन ने अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्मवाद की संगति मिलाने का प्रयत्न किया है, जो बौद्ध दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। द्वितीय परिच्छेद (लक्खण-पञ्हो) की मुख्य विषय-वस्तु इतनी ही है।

तृतीय परिच्छेद (विमतिच्छेदन-पञ्हो) में राजा के सन्देहों (विमति) का, जो उसे अनेक छोटे-छोटे विषयों पर हुए थे, भदन्त नागसेन द्वारा निवारण किया गया है। इस प्रकार के अनेक सन्देहों का इस परिच्छेद में विवरण किया गया है, जिनमें से कुछ का ही निदर्शन यहाँ किया जा सकता है। उदाहरणतः मिलिन्द पूछता है, "भन्ते नागसेन! क्या सभी लोग निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं (**भन्ते नागसेन सब्बेव लभन्ति निब्बाणं ति**)? भन्ते नागसेन! क्या बुद्ध अनुत्तर हैं? 'भन्ते नागसेन! क्या बुद्ध सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं?' 'क्या बुद्ध ब्रह्मचारी हैं?' 'क्या उपसपदा (भिक्षु-सस्कार) ठीक (सुन्दर) है? 'भन्ते नागसेन! कितने आकारों से स्मृति उत्पन्न होती है? 'भन्ते नागसेन! आप कहते हैं श्वास-प्रश्वास का निरोध किया जा सकता है'। "कैसे भन्ते?" "भन्ते नागसेन! भगवान ने क्या कार्य अत्यन्त दुष्कर किया है?" आदि, आदि। भदन्त नागसेन ने इन सब प्रश्नों और सन्देहों का अत्यन्त मनोरम शैली में उत्तर दिया है। प्रश्नकर्ता और उत्तर-दाता दोनों ही अपने-अपने प्रश्नोत्तरों से अन्त में सन्तुष्ट दिखाई पड़ते हैं। राजा मिलिन्द को ऐसा लगता है "जो सब मैंने पूछा, सबका भदन्त नागसेन ने मुझे उत्तर दिया (**सब्बं मया पुच्छितं'ति सब्बं भदन्तेन नागसेनेन विस्सज्जितं ति।**" भदन्त नागसेन को भी ऐसा होता है "जो सब राजा मिलिन्द ने मुझसे पूछा, उस सबका मैंने उत्तर दे दिया (**सब्बं मिलिन्देन रञ्ञा पुच्छितं, सब्बं मया विस्सज्जितं ति।**" उठकर भिक्षु संघाराम में चले गये। राजा मिलिन्द भी अपने साथियों के साथ लौट गया। यह तीसरे परिच्छेद की विषय-वस्तु का संक्षेप है।

कुछ दिन बाद राजा मिलिन्द फिर भदन्त नागसेन के दर्शनार्थ आता है। इस

---

१. **एवमेव खो महाराज किञ्चापि अञ्ञं मारणान्तिकं नामरूपं अञ्ञं पटिसन्धिस्मिं नामरूपं। अपि च ततो येव तं निब्बत्तं ति।**

बार वह उन विरोधों को भदन्त नागसेन के सामने रखता है जो उसे तेपिटक बुद्ध-वचनों के अन्दर मालूम पड़े हैं। मिलिन्द ने मननपूर्वक एक बुद्धिवादी की तरह तिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों को पढ़ा है। उसे उनके अन्दर अनेक पारस्परिक विरोधी बातें दिखाई पड़ी हैं। इन्हें वह भदन्त नागसेन के सामने एक-एक करके रख देता है। भदन्त नागसेन उनका उत्तर देते हैं। 'मिलिन्द-पञ्ह' का चौथा परिच्छेद, जो इस ग्रन्थ का सबसे लम्बा परिच्छेद है, इन्हीं संबंधी प्रश्नोत्तरों का विवरण है। ऊपर से विरोधी दिखाई देने वाले तिपिटक के विभिन्न विवरणों या बुद्ध-वचनों के विरोध का परिहार और उनमें समन्वय-स्थापन, यही इस परिच्छेद का लक्ष्य है, जो तिपिटक के विद्यार्थियों के लिये सदा महत्वपूर्ण रहेगा। इस प्रकरण में राजा मिलिन्द ने जो प्रश्न पूछे हैं या सुलझाने के लिये विरोधी वाक्य रक्खे हैं, वे इतने नाना प्रकार के है कि उनका संक्षेप देना बड़ा कठिन है। केवल कुछ उदाहरण देकर हम उनके स्वरूप और शैली की ओर संकेत भर कर सकेंगे। भदन्त के चरणों में शिर रखकर, हाथ जोड़कर राजा ने कहा, "भन्ते नागसेन! भगवान् ने यह कहा "आनन्द! पाँच सौ वर्ष तक सद्धर्म ठहरेगा।" पुनः जब परिनिर्वाण के समय सुभद्र परिव्राजक ने भगवान् से पूछा तो उन्होंने कहा 'सुभद्र! यदि भिक्षु ठीक तरह विहार करेंगे तो यह लोक अर्हतों से कभी शून्य नहीं होगा।" यदि भन्ते नागसेन! तथागत से यह कहा कि सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ठहरेगा तब तो यह वचन कि यह लोक कभी अर्हतों से शून्य नहीं होगा, मिथ्या ठहरता है। और यदि तथागत ने यह कहा कि यह लोक कभी अर्हतों से शून्य नहीं रहेगा, तो फिर यह वचन कि सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ठहरेगा, मिथ्या ठहरता है? भन्ते नागसेन! यह दोनों ही ओर से कठिनता पैदा करने वाला, गहन से भी गहनतर, बलवान् से भी बलवत्तर, जटिल से भी जटिलतर, प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन! भगवान् ने यह कहा है 'भिक्षुओ! मैं जानकर ही धर्मोपदेश करता हूँ, बिना जाने नहीं।' पुनः उन्होंने विनय-प्रज्ञप्ति के समय यह भी कहा 'आनन्द! यदि संघ चाहे तो मेरे बाद छोटे-मोटे (क्षुद्रानुक्षुद्र) शिक्षापदों को छोड़ दे।' भन्ते नागसेन! क्या क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापद बिना जान बूझकर ही दिये हुए उपदेश हैं, जो भगवान् ने उन्हें अपने बाद छोड़ देने के लिये कहा। भन्ते नागसेन! यदि भगवान् का यह कहना ठीक है कि मैं जान बूझकर ही उपदेश करता हूँ, बिना जाने बूझे नहीं, तो भगवान् का यह वचन मिथ्या है, 'यदि संघ चाहे तो मेरे बाद क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदों को छोड़ दे, और यदि सचमुच ही भगवान् ने यह कहा कि मेरे बाद संघ क्षुद्रानु-

क्षुद्र शिक्षापदों को छोड दे, तो उनका यह कहना मिथ्या है कि 'मैं जानबूझकर ही उपदेश करता हूँ, बिना जाने बूझे नहीं'। यह भी दोनों ओर से कठिनता पैदा करने वाला सूक्ष्म, निपुण, गंभीर और उलझन पैदा करने वाला प्रश्न है जो आपकी सेवा में उपस्थित है। आप मुझे समझावें।" "भन्ते नागसेन! भगवान् ने कहा है तथागत को धर्मों में आचार्य-मुष्टि (न बताने योग्य बात) नहीं है।' किन्तु जब मालुंक्यपुत्त ने उनसे प्रश्न पूछा तो भगवान् ने उसकी व्याख्या नहीं की, उसे नहीं बताया। क्या भगवान् जानते नहीं थे, इसलिए नहीं बताया, या भगवान् को वह रहस्य ही रखना था, इसलिए नहीं बताया। भन्ते नागसेन! यदि भगवान् ने यह ठीक ही कहा था कि तथागत को रहस्य रखना नहीं है तो फिर क्या उन्होंने न जानने के कारण ही (अजानन्तेन) ही उसे नहीं बताया। यदि जानने पर भी नहीं बताया, तब तो फिर तथागत की आचार्य-मुष्टि (रहस्य रखना) है ही। यह भी दोनों ओर से कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन! आप कहते हैं कि तथागत को भोजन, वस्त्र, निवास-स्थान, पथ्य-औषधादि सामग्री सदा मिल जाती थी। फिर आप कहते हैं एक बार पञ्चशाल नामक ब्राह्मण- ग्राम में से भगवान् बिना भिक्षा प्राप्त किये ही धुले-धुलाये भिक्षापात्र को लेकर लौट आये। . . . .भन्ते नागसेन! यह भी दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन! भगवान् ने यह कहा 'आनन्द! तुम तथागत के शरीर की पूजा की चिन्ता मत करो।' पुनः उन्होंने यह भी कहा 'पूजनीय पुरुष की धातुओं की पूजा करो'. . . .दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन! भगवान् ने यह कहा है 'भिक्षुओ! पूर्ण पुरुष, तथागत् भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध नवीन मार्ग का उद्भावन करने वाले हैं।' पुनः एक दूसरी जगह उन्होंने यह भी कहा है, 'भिक्षुओ! जिस प्राचीन मार्ग पर पूर्व काल में ज्ञानी पुरुष चले, उसी का मैंने दर्शन प्राप्त किया है।'. . . .यह दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" इस प्रकार के अनेक विरोधाभासमय प्रश्न राजा मिलिन्द ने भदन्त नागसेन के सामने रक्खे हैं, जिनका उन्होंने अपनी अद्भुत शैली में उत्तर दिया है। प्रत्येक बौद्ध दर्शन के विद्यार्थी के लिए उनका पढ़ना अनिवार्य है। साहित्य की दृष्टि से भी वे अपने महत्व में अद्वितीय हैं।

'मिलिन्द-पञ्ह' के पाँचवें परिच्छेद का नाम है 'अनुमान-पञ्हो' (अनुमान-प्रश्न)। एक बार फिर मिलिन्द राजा भदन्त नागसेन के दर्शनार्थ आता है। वह

उनसे पूछता है, "भन्ते नागसेन ! क्या आपने बुद्ध को देखा है (किं पन बुद्धो तया दिट्ठो ति) "नहीं महाराज" (नहि महाराजा ति)। "क्या आपके आचार्यों ने बुद्ध को देखा है (किं पन ते आचरियेहि बुद्धो दिट्ठो ति)" "नहीं महाराज !" "भन्ते नागसेन ! यदि आपने भी बुद्ध को नहीं देखा, आपके आचार्यो ने भी बुद्ध को नहीं देखा, तो भन्ते ! समझता हूँ बुद्ध हैं ही नहीं, बुद्ध का कुछ पता ही नहीं।" यदि किसी आधुनिक विद्वान् के सामने यह प्रश्न रक्खा जाता तो वह उन ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख करता जिनके आधार पर बुद्ध का अस्तित्व प्रमाणित किया जाता है। किन्तु नागसेन कालवादी नहीं हैं। इतिहासवादी नहीं हैं। वे धर्मवादी है। उनके लिए बुद्ध का धर्म ही बुद्ध के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। 'धम्म' के अस्तित्व से ही बुद्ध के अस्तित्व का अनुमान कर लेना चाहिए, यही इस संपूर्ण परिच्छेद की मूल ध्वनि है। "महाराज ! उन भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा प्रयुक्त ये वस्तुएँ, जैसे कि चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक्-प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग अभी विद्यमान हैं। उनको देखकर ही पता लगा लेना चाहिए कि भगवान् बुद्ध अवश्य हुए हैं।" "बहुत जनों को तारकर उपाधि (आवागमन-कारण) के मिट जाने से भगवान् निर्वाण को प्राप्त कर चुके। इस अनुमान से ही जान लेना चाहिए कि वे पुरुषोत्तम हुए हैं।" "संसार के मनुष्य और देवताओं ने धर्मामृत को प्राप्त किया है, यही देखकर पता लगा लेना चाहिए कि धर्म की बड़ी लहर अवश्य बही होगी।" "उत्तम गन्ध की महक पाकर लोग पता लगा लेते हैं कि जैसी गन्ध बह रही है, उससे मालूम होता है कि फूल पुष्पित अवश्य हुए होंगे। वैसे ही यह शील की गन्ध जो देवताओं और मनुष्यों में बह रही है, इसी से समझ लेना चाहिए कि लोकोत्तर बुद्ध अवश्य हुए होंगे" आदि, आदि। इसी प्रसंग में 'धम्म-नगर' (धम्म रूपी नगर) के सुन्दर सांगोपांग रूपक का भी वर्णन किया गया है।

छठे परिच्छेद में फिर राजा मिलिन्द भदन्त नागसेन के पास जाता है और इस बार वह उनसे फिर एक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछता है, "भन्ते नागसेन ! क्या कोई गृहस्थ बिना घर को छोड़े, विषय का भोग करते हुए, स्त्री-पुत्रादि से घिरा हुआ, माला-गन्ध-विलेपन को धारण करता हुआ, सोने-चाँदी का आस्वादन लेता हुआ ....शान्त, निर्वाणपद को साक्षात्कार कर सकता है?" इसी के उत्तर में आगे बढ़ते-बढ़ते भदन्त नागसेन १३ अवधूत-नियमों (धुतंग) के विवेचन पर आ जाते हैं। इस परिच्छेद का नाम ही 'धुतंग' कथा' अर्थात् 'अवधूत-व्रतों का विवरण' है। वास्तव

में 'मिलिन्द-पञ्ह' की विषय-वस्तु की अपेक्षा यह 'विसुद्धि-मग्ग' (द्वितीय परिच्छेद) की विषय-वस्तु का अधिक अभिन्न अंग है। अतः इन अवधूत-व्रतों का अधिक विवरण न देकर यहाँ उनके नाम निर्देश कर देना ही आवश्यक होगा। अवधूत-व्रतों की संख्या १३ है, जो इस प्रकार हैं—(१) पांशुकूलिक (फटे-पुराने) धूलि-धूसरित वस्त्रों को साफ कर उनसे सीये हुए वस्त्र पहनने का नियम (पंसुकूलिकंग)। (२) तीन चीवर (भिक्षु-वस्त्र) पहनने का नियम (तेचीवरिकंग)। (३) भिक्षान्न मात्र पर ही निर्वाह करने का नियम (पिण्डपातिकंग)। (४) एक घर से दूसरे घर, बिना किसी घर को छोड़े हुए, भिक्षा माँगने का नियम (सपदानचारिकंग)। (५) भोजन के लिए दूसरी बार न बैठने का नियम (एकासनिकंग)। (६) केवल एक भिक्षा-पात्र में जितना भोजन आ जाय उतना ही भोजन करने का नियम (पत्तपिंडिकंग)। (७) एक बार भोजन समाप्त कर लेने पर फिर कुछ न खाने का नियम (खलुपच्छा-भत्तिकंग)। (८) वनवासी होने का नियम (आरञ्ञिकंग)। (९) वृक्ष के नीचे रहने का नियम (रुक्खमूलिकंग)। (१०) खुले आकाश के नीचे रहने का नियम (अब्भोकासिकंग) (११) श्मशान में वास करने का नियम (सोसानिकंग)। (१२) यथाप्राप्त निवास-स्थान में रहने का नियम (यथासन्थतिकंग) और (१३) न लेटने का नियम (नेसज्जिकंग)।

सातवें परिच्छेद (ओपम्मकथापञ्हं) में उपमाओं के द्वारा यह बताया गया है कि अर्हत्त्व को साक्षात्कार करने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को किस प्रकार नाना गुणों का सम्पादन करना चाहिए। किस प्रकार उसे कछुए के पाँच गुण ग्रहण करने चाहिए, कौए के दो गुण ग्रहण करने चाहिये, हिरन के तीन गुण ग्रहण करने चाहिये, आदि, आदि। संवाद के आरम्भ से लेकर अन्त तक भदन्त नागसेन के गौरव की रक्षा की गई है। आरम्भ में ही उन्होंने राजा से तय कर लिया है कि संवाद 'पंडितवाद' के ढंग से होगा, 'राजवाद' के ढंग से नहीं। राजा सदा उनसे नीचे आसन पर बैठता है। प्रथम बार ही उनके उत्तर से सन्तुष्ट होकर वह उनका भक्त बन जाता है। वह उनके पैरों में अपने सिर को रख देता है और विनम्रता पूर्वक ही प्रत्येक प्रश्न को पूछता है। अन्त में तो, जैसा हम पहले देख चुके हैं, वह उनका उपासक ही बन जाता है, और बुद्ध की, धम्म की और संघ की शरण जाता है, जो इतिहास के साक्ष्य के द्वारा भी प्रमाणित है।

'मिलिन्द-पञ्ह' दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से तो एक महाग्रंथ है ही, साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्व भी उसका अल्प नहीं है। यद्यपि स्थविरवाद बौद्ध

धर्म का वह कण्ठहार है, जिसकी प्रतिष्ठा वहाँ बुद्ध-वचनों के समान ही मान्य है, वह भारतीय साहित्य की भी अमूल्य निधि है। यद्यपि लंका, बरमा और स्याम के समान भारत में उसकी आधुनिक लोक-भाषाओं में 'मिलिन्द-पञ्ह' संबंधी प्रचुर साहित्य नहीं लिखा गया, किन्तु इस कारण उसे उस गौरव से, जो 'मिलिन्द-पञ्ह' ने भारतीय साहित्य को दिया है, वंचित कर देना ठीक नहीं होगा। 'मिलिन्द-पञ्ह' प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व की प्रभावशाली भारतीय गद्य-शैली का सर्वोत्तम नमूना है। विवेचनात्मक विषयों के लिए उपयुक्त हिन्दी की गद्य शैली का तो विकास हमारे साहित्य में अभी हुआ है। शंकर का प्रशस्त दार्शनिक गद्य अवश्य इस प्रसंग में स्मरण आता है, परन्तु उसका भी समय आठवीं शताब्दी ईसवी है। अंग्रेजी साहित्य की भी इस संबंधी परम्परा १००-२०० वर्ष से पहले नहीं जाती। बाण और दंडी का गद्य भी निश्चय ही इसके लिए उपयुक्त नहीं था। इस दृष्टि से 'मिलिन्द-पञ्ह' की विचारात्मक गद्य-बद्ध शैली कितनी महत्वपूर्ण है, इसका सम्यक् अनुपापन नहीं किया जा सकता। लेखक का शब्दाधिकार और उसकी शैली की प्रभावशीलता, उसका ओजमय शब्दचयन, प्रभावशाली कथन-प्रकार, उपमाओं और युक्तियों के द्वारा उसका स्वाभाविक अलंकार-विधान, सबसे बढ़कर उसकी सरलता, भव्यता और प्रसादगुण, ये सब गुण उसे साहित्यिक गद्य के निर्माताओं की उस श्रेणी में बैठा देते हैं, जहाँ उसका तेज सर्वोपरि है।[1] प्राचीन भारतीय गद्य-साहित्य में 'मिलिन्द-पञ्ह' के समान कोई रचना न पाकर ही संभवतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह अनुमान लगा लिया है कि 'मिलिन्द-पञ्ह' की शैली पर ग्रीक प्रभाव उपलक्षित है। यह एक बड़ा भ्रम है। भारतीय पराधीनता के युग में अधिकांश पश्चिमी विद्वान् यह विश्वास ही नहीं कर सकते थे कि भारत ने भी विश्व-संस्कृति को कुछ मौलिक योगदान दिया है। इसी कारण उन्होंने अनेक प्राचीन भारतीय विशेषतापूर्ण बातों पर भी पश्चिमी प्रभाव की कल्पना कर ली है। प्लेटो के संवादों के प्रभाव को 'मिलिन्द-पञ्ह' की शैली पर बताने के समान

---

१. पुण्यश्लोक डा० रायस डेविड्स् 'मिलिन्द-पञ्ह' की शैली के बड़े प्रशंसक थे। देखिये उनके मिलिन्दपञ्ह के अंग्रेजी अनुवाद, (दि क्वेशन्स ऑव किंग मिलिन्द, सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५ वीं का भूमिकांश तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, जिल्द ८, पृष्ठ ६३१; मिलाइये विंटरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७६ भी।

और कोई निरर्थक बात नहीं कही जा सकती। पहले तो ग्रीक भाषा और विचार से नागसेन के परिचित होने का साक्ष्य नहीं दिया जा सकता, फिर जब उनके सामने प्राचीन उपनिषदों और स्वयं बुद्ध-वचनों के रूप में गम्भीर संवादों की परम्परा प्रस्तुत थी, तो वे उसे छोड़कर विदेश से उसे ग्रहण करने क्यों जाते? वह समय तो भारतीय संस्कृति के गौरव का था और हम समझते हैं कि भारतीय ज्ञान का वह गौरव ही 'मिलिन्द-पञ्ह' में प्रतिध्वनित हुआ है, जिससे नमित होकर ही बुद्धिवादी मिलिन्द राजा बुद्ध-धर्म में उपासकत्व ग्रहण करता है। यह भारतीय ज्ञान की महान् विजय का द्योतक है—उस ग्रीक ज्ञान पर जिसकी पाश्चात्य जगत् बड़ी दम भरता है और जिससे ही उसने अपना सारा ज्ञान वास्तव में प्राप्त भी किया है। 'मिलिन्द-पञ्ह' उस ज्ञान-विजय अथवा धम्म-विजय का स्मारक और परिचायक है, जिसे भारत ने उस समय के, अपने अलावा, सबसे अधिक ज्ञान-संपन्न देश पर प्राप्त किया था। इस दृष्टि से वह भारतीय वाङ्मय के अमर रत्नों में से एक है। जहाँ तक 'मिलिन्द-पञ्ह' की शैली के स्रोतों या उसकी प्रेरणा का सवाल है, वह निश्चय ही तिपिटिक बुद्ध-वचनों में ही निहित है। दीघ-निकाय के पायासि-सुत्त और सक्कपञ्ह-सुत्त जैसे सुत्तों की जीवंत संवाद-शैली उसकी प्रेरणा-स्वरूप मानी जा सकती है। 'कथावत्थु' के अप्रतिम आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स के भी भदन्त नागसेन कम ऋणी नहीं हैं। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन हम यहाँ विस्तार-भय के कारण नहीं कर सकते, किन्तु यह तो निश्चित ही है कि मोग्गलिपुत्त के समाधानों पर ही नागसेन के अधिकांश 'प्रश्न-व्याकरण' (प्रश्नों के उत्तर) आधारित हैं और जिस मन्तव्य को वहाँ 'स्थविरवाद' के रूप में अपनाया गया है, वही मन्तव्य 'मिलिन्द-पञ्ह' कार का भी है। यद्यपि उपनिषदों की शैली का कोई स्पष्ट प्रभाव 'मिलिन्द-पञ्ह' पर उपलक्षित नहीं होता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि श्वेतकेतु आरुणेय और प्रवाहण जैवलि (जिनके संवाद छान्दोग्य. ५।३ और बृहदारण्यक. ६।२।१ में आते हैं), आरुणि उद्दालक और याज्ञवल्क्य (जिनके संवाद बृहदारण्यक ३।७।१ में आते हैं), आरुणि और श्वेतकेतु (छान्दोग्य. ६।१), आदि अनेक ऋषियों के संवाद अपनी विचित्र विशेषता रखते हुए भी मिलिन्द और नागसेन के प्रभावशाली संवादों में अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं। इतिहास की दृष्टि से, विशेषतः पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से, 'मिलिन्द-पञ्ह' का यह महत्व है कि उसमें पालि तिपिटक के नाना ग्रन्थों के नाम दे देकर, पाँच निकायों, अभिधम्म-पिटक के सात ग्रन्थों, और उनके भिन्न-भिन्न अंगों के निर्देशपूर्वक अनेक अंश

उद्धृत किये गये हैं, जिनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पालि तिपिटक प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व अपने उसी नाम-रूप में विद्यमान था, जिसमें वह आज है।[1] इस प्रकार 'मिलिन्द-पञ्ह' का साक्ष्य अशोक के अभिलेखों द्वारा प्रदत्त साक्ष्य का समर्थन करता है। 'मिलिन्द-पञ्ह' में अनेक स्थानों के वर्णन हैं, जैसे कलसिगाम, अलसन्द (अलेक्ज़ेन्ड्रिया—कन्धार), योन (यवन-यूनान, बैक्ट्रिया), भरुकच्छ (भड़ौंच), चीन (चीन-देश), गन्धार, कलिंग, कजंगला, कोसल, मधुरा (मथुरा), सागल, साकेत, सुराष्ट्र (सुरट्ठ), वाराणसी, वंग, तक्कोल, उज्जेनी, आदि। इनसे तत्कालीन भारतीय भूगोल पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सारांश यह कि धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भूगोल, सभी दृष्टियों से 'मिलिन्द-पञ्ह' का भारतीय वाङ्मय के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है और पालि अनुपिटक-साहित्य में तो उसके समान महत्वपूर्ण कोई दूसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ है ही नहीं, यह तो निर्विवाद ही है।

अन्य साहित्य

पालि तिपिटक के संकलन और अट्ठकथा-साहित्य के प्रणयन के बीच के युग में उपर्युक्त तीन ग्रन्थों (नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, मिलिन्दपञ्ह) के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ (दीपवंस) भी है। यह भी प्राग्बुद्धघोषकालीन पालि साहित्य की एक प्रमुख रचना है। 'वंश-साहित्य' का विवरण देते समय हम इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का परिचय देंगे। इसी प्रकार सिंहली अट्ठकथाएँ और पुराणाचार्यों (पोराणाचरिय) के ग्रन्थ आदि भी इन शताब्दियों में लिखे गये, जिनका विवरण अट्ठकथा-साहित्य के प्रकरण में ही दिया जायगा। इसी युग के साहित्य के रूप में गायगर ने 'सुत्त-संगह' की भी चर्चा की है, जो किसी अज्ञात लेखक के द्वारा किया हुआ सुत्तों का संग्रह है और 'विमानवत्थु' आदि के समान अल्प महत्व की रचना है। बरमी परम्परा इसे 'खुद्दक-निकाय' के अन्तर्गत मानती है, किन्तु इसके प्रणेता या प्रणयन-काल के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। मललसेकर ने सम्भावना प्रकट की है कि सुत्त-संगह सम्भवतः अनुराधपुर में लिखा गया।[2]

---

१. देखिये रायस डेविड्स: दि क्वेशन्स ऑव किंग मिलिन्द (मिलिन्दपञ्ह का अंग्रेजी अनुवाद), सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५वीं, पृष्ठ १४ (भूमिका)।

२. डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११९१ (लन्दन, १९६०)।

सातवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग

(४०० ई० से ११०० ई० तक)

अट्ठकथा-साहित्य का उद्भव और विकास

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार स्थविर महेन्द्र (महिन्द) और उनके साथी भिक्षु पालि तिपिटक के साथ-साथ उसकी 'अट्ठकथा' को भी अपने साथ लंका में ले गये।[1] यह निश्चित है कि जिस रूप में यह 'अट्ठकथा' लंका में ले जाई गई होगी वह पालि-तिपिटक के समान मौखिक ही रहा होगा। प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व जब लंकाधिपति वट्टगामणि अभय के समय में पालि-तिपिटक लेख-बद्ध किया गया, तो उसकी उपर्युक्त 'अट्ठकथा' के भी लेखबद्ध होने की कोई सूचना हम नहीं पाते। अतः महेन्द्र द्वारा लंका में पालि-तिपिटक की 'अट्ठकथा' भी ले जाये जाने का कोई ऐतिहासिक आधार हमें नहीं मिलता। उन अट्ठकथाओं का कोई अंश आज किसी रूप में सुरक्षित नहीं है। हाँ, एक दूसरी प्रकार की 'अट्ठकथाओं' के अस्तित्व का साक्ष्य हम सिंहल के इतिहास में अत्यन्त प्रारम्भिक काल से ही पाते हैं। ये प्राचीन सिंहली भाषा में लिखी हुई अट्ठकथाएँ हैं। जैसा हम आगे अभी इसी प्रकरण में देखेंगे, आचार्य बुद्धघोष इन्हीं प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का पालि रूपान्तर करने के लिये लंका गये थे। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी में न केवल बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल आदि के द्वारा रचित विस्तृत अट्ठ-कथा-साहित्य, बल्कि प्राग्बुद्धघोषकालीन लंका का इतिहास-ग्रन्थ 'दीपवंस' और बाद में उसी के आधार-स्वरूप रचित 'महावंस' भी, अपनी विषय-वस्तु के मूल आधार और स्रोतों के लिये इन्हीं प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के ऋणी हैं। महा-वंस-टीका (६३।५४९-५५०) के आधार पर गायगर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न

---

१. देखिये समन्तपासादिका की बाहिरनिदानवण्णना।

किया है कि ये प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ बारहवीं शताब्दी ईसवी तक प्राप्त थीं। आज इनका कोई अंश सुरक्षित नहीं है।

जैसा अभी कहा गया, बुद्धघोष महास्थविर प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का पालि रूपान्तर करने के लिये ही लंका गये थे। उन्होंने अपनी विभिन्न अट्ठकथाओं में जिन प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का निर्देश किया है, या उनसे उद्धरण दिये हैं, उनमें ये मुख्य हैं (१) महा-अट्ठकथा, (२) महा-पच्चरी या महा-पच्चरिय, (३) कुरुन्दी या कुरुन्दिय, (४) अन्धट्ठकथा, (५) संखेप-अट्ठकथा, (६) आगमट्ठकथा और (७) आचरियानं समानट्ठकथा। दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर, इन चारों निकायों की अपनी 'अट्ठकथाओं' के अन्त में आचार्य बुद्धघोष ने अलग-अलग कहा है "सा हि महा-अट्ठकथाय सारमादाय निट्ठिता एसा" अर्थात् "इसे मैंने महा-अट्ठकथा के सार को लेकर पूरा किया है"। इससे निश्चित है कि बुद्धघोष-कृत 'सुमंगलविलासिनी', 'पपंचसूदनी', 'सारत्थप्पकासिनी' और 'मनोरथपूरणी' (क्रमशः दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों की अट्ठकथाएँ) प्राचीन सिंहली अट्ठकथा, जिसका नाम 'महा-अट्ठकथा' (सिंहली भाषा में 'महा-अतुवव') था, पर आधारित हैं। उपर्युक्त कथन के साक्ष्य पर 'सद्धम्म-संगह' (१४वीं शताब्दी) का यह कहना कि 'महा-अट्ठकथा' सुत्त-पिटक की अट्ठकथा थी,[1] ठीक मालूम पड़ता है। इसी प्रकार 'सद्धम्म-संगह' के अनुसार 'महापच्चरी' और 'कुरुन्दी' क्रमशः अभिधम्म और विनय की अट्ठकथाएँ थीं।[2] 'कुरुन्दी' 'विनय-पिटक' की ही अट्ठकथा थी, इसे आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से पूरा समर्थन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि विनय-पिटक की अट्ठकथा (समन्तपासादिका) के आरम्भ में उन्होंने अपनी इस अट्ठकथा के मुख्य आधार के रूप में 'कुरुन्दी' का उल्लेख नहीं किया है। वहाँ उन्होंने केवल यह कहा है कि ये तीनों अट्ठकथाएँ (महा-अट्ठकथा, महापच्चरी, एवं कुरुन्दी) प्राचीन अट्ठकथाएँ थीं और सिंहली भाषा में लिखी गई थीं। समन्तपासादिका में उन्होंने अधिकतर 'महापच्चरी' का उल्लेख किया है और उसकी व्याख्याओं को उद्धृत किया है। इससे यह लगता है कि इसका सम्बन्ध विनय से ही अधिक था। महा-अट्ठकथा को भी उन्होंने कहीं-कहीं उद्धृत किया है। कुरुन्दी-अट्ठकथा (सिंहली भाषा में कुरुन्दिय अतुवव) का यह नाम

१, २. सद्धम्म-संगह, पृष्ठ ५५ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८९० में प्रकाशित संस्करण)

इसलिये पड़ा बताया गया है क्योंकि इसका संकलन सिंहल के कुरुन्दवेलु विहार में हुआ था। इसी प्रकार महापच्चरी (महापच्चरिय अतुवव) नाम के पीछे उसका कहीं एक बेड़े में रचित होने का रहस्य अन्तर्हित बताया जाता है। 'गन्धवंस' में भी उपर्युक्त तीन अट्ठकथाओं का उल्लेख किया गया है। वहाँ 'महा-अट्ठकथा' (सुत्त-पिटक की अट्ठकथा) को इन सब में प्रधान बताया गया है और उसे पुराणाचार्यों (पोराणाचरिया) की रचना बतलाया गया है, जब कि अन्य दो अट्ठकथाओं को ग्रन्थाचार्यों (गन्धाचरिया) की रचनाएँ बतलाया गया है।[1] इससे स्पष्ट है कि 'गन्धवंस' के अनुसार 'महा-अट्ठकथा' की प्राचीनता और प्रामाणिकता अन्य दो की अपेक्षा अधिक थी। वस्तुतः यही अट्ठकथा सबसे महत्वपूर्ण सिंहली अट्ठकथा थी। इसलिये कभी-कभी 'सीहलट्ठकथा' नाम से इस एक अट्ठकथा का ही बोध होता है। कभी-कभी इसे केवल 'अट्ठकथा' भी कह दिया जाता है। बुद्धघोष की अट्ठकथाओं का मुख्य आधार-स्रोत यही है। साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन अट्ठकथाओं का बड़ा महत्व था। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, परम्परागत मान्यता के अनुसार स्थविर महेन्द्र महा-अट्ठकथा को अपने साथ सिंहल ले गये थे, जिसका उन्होंने सिंहली भाषा में अनुवाद किया, जो बाद में पालि के अट्ठकथा-साहित्य का मूल बना और जिसने काफी हद तक पालि के प्राचीन वंश-साहित्य को भी आधार प्रदान किया। 'अन्धट्ठकथा' और 'संखेपट्ठकथा' तथा इनके साथ-साथ 'चूलपच्चरी' और 'पण्णवार' नाम की प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख 'समन्तपासादिका' की दो टीकाओं 'वजिरबुद्धि' और 'सारत्थदीपनी' में भी किया गया है।[2] किन्तु इनके विषय में भी हमारी कोई विशेष जानकारी नहीं है।[3] 'आचरियानं समानट्ठकथा', जिसका उल्लेख बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' के आदि में किया है, किसी विशेष अट्ठकथा का नाम न होकर केवल अनेक अट्ठकथाओं के समान सिद्धांतों का

---

१. पृष्ठ ५९ एवं ६८ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६ में प्रकाशित संस्करण)

२. देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २५

३. इनके कुछ अनुमानाश्रित विवरण के लिए देखिये लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३७६; श्रीमती रायस डेविड्स : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स, पृष्ठ २२ (भूमिका)

सूचक है, यही मानना अधिक समीचीन जान पड़ता है। 'आगमट्ठकथा', जिसका उल्लेख आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' और 'समन्तपासादिका' दोनों के आदि में किया है, सम्पूर्ण आगमों या निकायों की एक सामान्य अट्ठकथा ही रही होगी। कुछ भी हो, बुद्धघोष ने जिन प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है, वे किन्हीं लेखकों की व्यक्तिगत रचनाएँ न होकर अनुराधपुर के महाविहार-वासी भिक्षुओं की परम्परा प्राप्त कृतियाँ थीं जो उनकी सामान्य सम्पत्ति के रूप में चली आ रही थीं। आचार्य बुद्धघोष ने इन महाविहारवासी भिक्षुओं की आदेशना-विधि को लेकर ही अपनी समस्त अट्ठकथाएँ और 'विसुद्धिमग्ग' लिखे, यह उन्होंने सब जगह स्पष्ट कर दिया है। 'विसुद्धिमग्ग' के साक्ष्य का हम पीछे विवरण देंगे, अभी केवल 'समन्तपासादिका' और 'अट्ठसालिनी' के इस साक्ष्य को देखें--

"महाविहारवासीनं दीपयन्तो विनिच्छयं
अत्थं पकासयिस्सामि आगमट्ठकथासु पि"

आगे बुद्धघोष के जीवन-विवरण से भी यही स्पष्ट होगा कि 'महाविहार' की परम्परा पर आश्रित सिद्धांतों के अनुसार ही उन्होंने अपने विशाल अट्ठकथा-साहित्य की रचना की है। यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि 'महा-विहार' के अलावा 'उत्तर-विहार' नामक एक अन्य विहार के भिक्षुओं की परम्परा भी उस समय अनुराधपुर में प्रचलित थी। बुद्धदत्त का 'उत्तर-विनिच्छय' उसी पर आधारित है।

प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं को अपनी रचनाओं का आधार स्वीकार करने के अतिरिक्त आचार्य बुद्धघोष ने 'प्राचीन स्थविरों' (पोराणकत्थेरा) या 'प्राचीनों'-'पुराने लोगों' (पोराणा) के मतों के उद्धरण अनेक बार अपनी अट्ठकथाओं में दिये हैं।[1] ये 'प्राचीन स्थविर' या 'पुराने लोग' कौन थे? 'गन्धवंस' के मतानुसार प्रथम तीन धर्म-संगीतियों के आचार्य भिक्षु, आर्य महाकात्यायन को छोड़कर, 'पोराणा' या 'पुराने लोग' कहलाते हैं।[2] सम्भवतः प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं

---

१. 'पोराणों' के कुछ उद्धरणों के लिए देखिए विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ६५-६७

२. देखिये आगे नवें अध्याय में गन्धवंस की विषय-वस्तु का विवेचन।

में इन प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख था। वहीं से उनका पालि रूपान्तर कर आचार्य बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में ले लिया है। इन 'पोराणों' के उद्धरणों की एक बड़ी विशेषता यह है कि ये प्रायः पद्य-मय हैं और अनेक उद्धरण जो बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में मिलते हैं, बिलकुल उन्हीं शब्दों में 'महावंस' में भी मिलते हैं। इससे इस मान्यता को दृढ़ता मिलती है कि बुद्धघोष की अट्ठकथाएँ और 'महावंस' दोनों के मूल स्रोत और आधार प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ ही हैं। 'यथाहु पोराणा' (जैसा पुराने लोगों ने कहा) या 'तेने वे पोराणकत्थेरा' (इसी प्रकार प्राचीन स्थविर) आदि शब्दों से आरम्भ होने वाले इन 'पोराण' आचार्यों के उद्धरणों को बुद्धघोष की अट्ठकथाओं और 'विसुद्धि-मग्ग' से यदि संग्रह किया जाय और 'दीपवंस' आदि के इसी प्रकार के साक्ष्यों से उनका मिलान किया जाय तो प्राचीन बौद्ध परम्परा सम्बन्धी एक व्यवस्थित और अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री हमारे हाथ लग सकती है, जिसका ऐतिहासिक महत्व भी अल्प न होगा।

प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं और पुराने आचार्यों के अतिरिक्त आचार्य बुद्धघोष ने अपने पूर्वगामी सभी स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की है। 'दीपवंस' और 'मिलिन्द-पञ्ह' तो प्राग्बुद्धघोषकालीन रचनाएँ हैं ही, बुद्धघोष ने अपनी व्याख्याओं के लिये सब से अधिक मूल्यवान् सामग्री तो बुद्ध और उनके प्रारम्भिक शिष्यों के वचनों के स्वकीय मन्थन से ही प्राप्त की है। इसी में उनकी मौलिकता भी है। चूंकि इसमें उन्हें इतनी अधिक सफलता मिली है, इसीलिये पालि-साहित्य में उनका दान अमर हो गया है। स्वयं तिपिटक-साहित्य में ऐसी अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, जिससे बुद्धघोष जैसे अगाध विद्वान् चाहे जितनी सहायता ले सकते थे। स्वयं भगवान् बुद्ध के सळायतन-विभंग (मज्झिम. ३।४।७), अरण-विभंग (मज्झिम. ३।४।९), धातु-विभंग (मज्झिम. ३।४।१०) एवं दक्खिणा-विभंग (मज्झिम. ३।४।१२) आदि सुत्तों में निहित व्याख्यात्मक उपदेश, तथा उनके प्रधान शिष्यों यथा सारिपुत्र, महाकात्यायन, महाकोट्ठित आदि के व्याख्यापरक निर्वचन, अभिधम्म-पिटक और उसके अन्तर्गत विशेषतः 'कथावत्थु' की विवेचन-प्रणाली, ये सभी स्रोत और साधन बुद्धघोष के लिये खुले पड़े थे, जिनका पूरा उपयोग कर उन्होंने पालि साहित्य में उस विशाल अट्ठकथा-साहित्य का प्रवर्तन किया, जो अपनी विशालता और गम्भीरता में भारतीय साहित्य में उपलब्ध समान कोटि के प्रत्येक साहित्य से बढ़कर है।

अट्ठकथा-साहित्य की संस्कृत भाष्य और टीकाओं से तुलना—अट्ठकथाओं की कुछ सामान्य विशेषताएँ

वास्तव में पालि के अट्ठकथा-साहित्य के समान भारतीय भाष्य-साहित्य में अन्य कुछ नहीं है। संस्कृत में भाष्य और टीकाएँ अवश्य हैं, किन्तु उनकी तुलना सर्वांश में पालि अट्ठकथाओं से नहीं की जा सकती। भाष्य की परिभाषा संस्कृत में इस प्रकार की गई है—

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।"—शब्द-कल्पद्रुम

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भाष्य का मुख्य उद्देश्य सूत्र के अर्थ का वर्णन करना है और इसी की पूर्ति के लिये वह कुछ स्व-कथन भी करता है, जिसकी भी व्याख्या में वह प्रवृत्त होता है। संस्कृत के भाष्य इस परिभाषा पर पूरे उतरते हैं। किन्तु यदि पालि अट्ठकथाओं का सम्बन्ध तिपिटिक या बुद्ध-वचनों से उसी प्रकार का माना जाय जैसे भाष्यों का सूत्रों से, तो यह पालि के अट्ठकथा-साहित्य की एक प्रमुख विशेषता को व्यक्त न करेगा। अर्थ की व्याख्या के साथ-साथ पालि अट्ठ-कथाओं का एक बड़ा उद्देश्य उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी स्पष्ट रूप से विवृत कर देना है। किसी संस्कृत के भाष्यकार ने ऐसा किया हो, यह हम नहीं कह सकते। कम से कम जिस ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय पालि अट्ठकथाकारों ने दिया है, वह संस्कृत के भाष्यकारों में तो उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत भाष्यों में अर्थ की व्याख्या पर जोर होता है। यही काम उनकी टीकाएँ भी करती है। अनेक सिद्धान्तों या विचार-धाराओं के विवरण वहाँ आते हैं, किन्तु 'इत्येके', 'इत्य-परे' कहकर ही छोड़ दिये जाते हैं। कौन सा सिद्धान्त कब उत्पन्न हुआ, अथवा वह किन का था, आदि की गवेषणा वहाँ नहीं की जाती। वहाँ केवल सिद्धान्त का ही अर्थ-विवेचन अधिकतर किया जाता है। इसके विपरीत पालि-अट्ठकथाओं में पूरे विवरण की सूची रहती है। 'कथावत्थु' की अट्ठकथा को इस दृष्टि से देखें तो आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। वहाँ निराकृत २१६ सिद्धान्तों में से कौन किस सम्प्रदाय का सिद्धान्त था और वह कब उत्पन्न हुआ, आदि का पूरा विवरण वहाँ दिया गया है। वेदों के भाष्यों में ऋषियों की जीवनियों के विषय में उतना भी नहीं कहा गया, जितना पालि अट्ठकथाओं में बुद्ध

और उनके शिष्यों के विषय में कहा गया है। निश्चय ही उन्होंने जो ऐतिहासिक ब्यौरे दिये है वे पूरे भारतीय साहित्य के लिये एक दम नई चीज हैं और उनकी इस विशेषता को हमें उनका महत्वांकन करते समय सदा ध्यान में रखना चाहिये।

पालि साहित्य के तीन बड़े अट्ठकथाकार: बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल

पालि-साहित्य में अट्ठकथा-साहित्य का प्रारम्भ चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी से होता है। इस प्रकार बुद्ध-युग से लगभग एक हजार वर्ष बाद ये अट्ठकथाएँ लिखी गई। निश्चय ही काल के इस इतने लम्बे व्यवधान के कारण इन अट्ठकथाओं की प्रामाणिकता उतनी सबल नहीं होती, यदि ये परम्परा से प्राप्त प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं पर आधारित नहीं होतीं। चूँकि ये उनकी एतिहासिक परम्परा पर आधारित हैं, अतः इतनी आधुनिक होते हुए भी बुद्ध-युग के सम्बन्ध में इनका प्रामाण्य मान्य है, यद्यपि स्वयं तिपिटिक के बाद। चौथी-पाँचवीं शताब्दी में प्रायः समकालिक ही तीन बड़े अट्ठकथाकार पालि साहित्य में हुए है, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल। धम्मपाल सम्भवतः कुछ बाद में हुए। इनके बाद कुछ और भी अट्ठकथाकार हुए, जिनका विवरण हम बाद में देंगे। अभी हम इन तीन आचार्यों के जीवन और कार्यो पर विहंगम दृष्टि डालें।

बुद्धदत्त की जीवनी और रचनाएँ

बुद्धदत्त और बुद्धघोष समकालिक थे, यह 'बुद्धघोसुप्पत्ति' (बुद्धघोष की जीवनी) और 'गन्धवंस' तथा 'सासनवंस' (१९वी शताब्दी के वंश-ग्रन्थ) के वर्णनों से ज्ञात होता है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णनानुसार आचार्य बुद्धदत्त, बुद्धघोष से पहले लंका में बुद्ध-वचनों के अध्ययनार्थ गये थे। अपने अध्ययन को समाप्त कर जिस नाव से लौट कर वे भारत (जम्बुद्वीप) आ रहे थे, उसका मिलान उस नाव से हो गया जिसमें बैठकर इधर से आचार्य बुद्धघोष लंका को जा रहे थे। दोनों स्थविरों में धर्म-संलाप हुआ। कुशल-मंगल और एक दूसरे का परिचय प्राप्त करने के बाद आचार्य बुद्धघोष ने उन्हें बताया "बुद्ध-उपदेश सिंहली भाषा में है। मैं उनका मागधी रूपान्तर करने लंका जा रहा हूँ।" बुद्धदत्त ने उनसे कहा, "आवुस बुद्धघोष! मैं भी तुमसे पूर्व इस लंका द्वीप में भगवान् के शासन को सिंहली भाषा से मागधी भाषा में रूपान्तरित करने के उद्देश्य से आया था। किन्तु मेरी आयु

थोड़ी बाकी है। मैं अब इस काम को पूरा नहीं कर सकूंगा।'"[1] जब इस प्रकार दोनों स्थविरों में आपस में बातचीत चल रही थी तभी दोनों नावें एक दूसरी को छोड़कर चल दीं।[2] इस विवरण से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि बुद्धदत्त बुद्धघोष से पहले लंका गये थे और दूसरी यह कि वे आयु में बुद्धघोष से बड़े थे, क्योंकि उक्त संलाप में उन्होंने बुद्धघोष को 'आवुस' (आयुष्मन्) कहकर पुकारा है जो बडों के द्वारा छोटों के लिये प्रयुक्त किया जाता है।[3] बुद्धदत्त ने अपने विनय-विनिच्छय (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के आरम्भ में ही बुद्धघोष के साथ अपने मिलन और संलाप का वर्णन किया है। उससे प्रकट होता है कि बुद्धदत्त ने बुद्धघोष से यह प्रार्थना की थी कि जब वे अपनी अट्ठकथाएँ समाप्त कर लें तो उनकी प्रतियाँ उनके पास भी भेज दें, ताकि वे उन्हे संक्षिप्त रूप प्रदान कर सकें। आचार्य बुद्धघोष ने उनकी इस प्रार्थना के अनुसार बाद में अपनी अट्ठकथाएँ उनके पास भेज दीं। आचार्य बुद्धदत्त ने आचार्य बुद्धघोष-कृत अभिधम्म-पिटक की अट्टकथाओं का संक्षेप 'अभिधम्मावतार' में और विनय सम्बन्धी अट्ठकथा का संक्षेप 'विनय-विनिच्छय' में किया। इस सूचना में सन्देह करने की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि यह स्वयं बुद्धदत्त द्वारा दी हुई है। हाँ, 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णन के साथ उसका कुछ विरोध अवश्य है, क्योंकि लंका से लौटने के समय ही वे 'अल्पायु' तक जीने की आशा रखते थे, फिर इतने काल तक बुद्धघोष की अट्ठकथाओं के संक्षेप लिखने के लिये किस प्रकार जीवित रहे? फिर भी इसमें कुछ वैसा विरोध नहीं है, जिस पर विश्वास ही नहीं किया जा सके। हर हालत में 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के

---

१. "आवुसो बुद्धघोस अहं तया पुब्बे लंका दीपे भगवतो सासनं कातुं आगतोम्हि ति वत्वा अहं अप्पायुको...." बुद्धघोसुप्पत्ति, पृष्ठ ६० (जेम्स ग्रे का संस्करण), यही वर्णन बिलकुल 'सासनवंस' में भी है, देखिये पृष्ठ २९-३० (मेबिल बोड का संस्करण)

२. एवं तेसं द्विन्नं थेरानं अञ्ञमञ्ञं सल्लपन्तानं येव द्वे नावा सयं एव अपनेत्वा गच्छिंसु। बुद्धघोसुप्पत्ति एवं सासनवंस, ऊपर उद्धृत के समान।

३. मिलाइये बुद्धदत्त के ग्रन्थों के सम्पादक उसी नाम के आधुनिक सिंहली भिक्षु (ए० पी० बुद्धदत्त) का यह कथन "अयं पन बुद्धदत्ताचरियो बुद्धघोसाचरियेन समानवस्सिको वा थोकं वुड्ढतरो वा ति सल्लक्खेम" (आचार्य बुद्धदत्त बुद्धघोष के समवयस्क या उनसे कुछ थोड़े ही बड़े थे, ऐसा हमें लगता है)

वर्णन की अपेक्षा 'विनय-विनिच्छय' का वर्णन ही अधिक प्रामाणिक है, और यदि दोनों स्थविरों को हम प्रायः समवयस्क मान सकें, तब तो उनमें कुछ ऐसा अन्तर भी नहीं है। आचार्य बुद्धदत्त चोल-राज्य में उरगपुर (वर्तमान उरइपुर) के निवासी थे। आचार्य बुद्धघोष के समान उन्होंने भी लंका के अनुराधपुर-स्थित महाविहार में जाकर भगवान् (बुद्ध) के शासन-सम्बन्धी उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। लंका से लौट कर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना कावेरी नदी के तट पर दक्षिण के कृष्णदास (कण्हदास) या विष्णुदास (वेण्हुदास) नामक वैष्णव द्वारा निर्मित विहार में बैठ कर की,[1] जो वैष्णवों और बौद्धों के मधुर सम्बन्ध के रूप में पालि साहित्य में सदा स्मृत रहेगी।

बुद्धदत्त द्वारा रचित ग्रन्थ या अट्ठकथाएँ इस प्रकार हैं (१) विनयविनिच्छय, (२) उत्तरविनिच्छय, (३) अभिधम्मावतार, (४) रूपारूपविभाग और (५) मधुरत्थविलासिनी (बुद्धवंस की अट्ठकथा)। 'उत्तरविनिच्छय' (उत्तर विनिश्चय) और 'विनय-विनिच्छय' दोनों बुद्धघोष-कृत समन्तपासादिका (विनयपिटक की अट्ठकथा) के पद्यबद्ध संक्षेप हैं। वस्तुतः 'विनय-विनिच्छय' का परिशिष्ट ही 'उत्तर-विनिच्छय' है। विनय-विनिच्छय में ३१ और उत्तरविनिच्छय में २३ अध्याय है। उत्तर-विनिच्छय के २३ अध्यायों में ९६९ गाथाएँ हैं। विनय-पिटक की विषय-सूची का अनुसरण करते हुए इसमें भी पहले महाविभंग या भिक्खु-विभंग सम्बन्धी नियमों का विवरण है, यथा पाराजिक-कथा, पटिदेसनिय-कथा, सेखिय-कथा आदि। इसके बाद भिक्खुनी-विभंग के विषय हैं, यथा पाराजिक-कथा, संघादिसेस-कथा, निस्सग्गिय-कथा, अधिकरण-पच्चय-कथा, खन्धक-पुच्छा, आपत्ति-समुट्ठान-कथा आदि। 'उत्तर-विनिच्छय' सिंहल के 'उत्तर विहार' की परम्परा के आधार पर लिखी गयी अट्ठकथा है, यह पहले कहा जा चुका है। विनय-विनिच्छय के ३१ अध्यायों में कुल मिलाकर ३१८३ गाथाएँ हैं। इसकी भी विषय-वस्तु उत्तर-विनिच्छय से ही मिलती जुलती है। केवल व्याख्या में कहीं कुछ अन्तर है। पहले महाविभंग (भिक्खु-विभंग) के अन्तर्गत पाराजिक-कथा, संघादिसेस-कथा, अनियत-कथा, निस्सग्गिय-पाचित्तिय-कथा, पटिदेसनिय-

---

१. **'अभिधम्मावतार' में उन्होंने स्वयं कहा है "विनय-विनिच्छयो.. चोलरट्ठे भूतमंगलगामे वेण्हुदासस्स आरामे वसन्तेन ..कावेरीपट्टने रम्मे नानारामोपसोभिते कारिते कण्हदासेन दस्सनीये मनोरमे।"**

कथा तथा सेखिय-कथा का विवरण है। इसी प्रकार भिक्खुनी-विभंग के अन्तर्गत पाराजिक-कथा, संघादिसेस-कथा, निस्सग्गिय-पाचित्तिय कथा और पटिदेसनिय कथा के विवेचन हैं।[१] फिर खन्धक-कथा, कम्म-कथा, पकिण्णक-कथा, कम्मट्ठान-कथा आदि के विवेचन हैं। इस प्रकार उत्तर-विनिच्छय[२] और विनय-विनिच्छय[३] दोनों ही अट्ठकथाएँ विनय-पिटक की विषय-वस्तु का समन्तपासादिका के आधार पर, पद्य में विवेचन करती हैं। इन पर क्रमशः 'उत्तर-लीनत्थ-दीपनी' और 'विनय-सारत्थ-दीपनी' नामक टीकाएँ भी बाद में चलकर वाचिस्सर (सारिपुत्त के शिष्य) के द्वारा लिखी गई, जिनका उल्लेख हम आगे चलकर टीका-साहित्य के विवेचन में करेंगे। 'अभिधम्मावतार' गद्य-पद्य-मिश्रित रचना है। मूल रचना पद्य में ही है और जहाँ-तहाँ गद्य में लेखक ने उसकी व्याख्या की है। बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं के आधार पर इसका प्रणयन हुआ है। किन्तु बुद्धघोष का अन्धानुसरण लेखक ने नहीं किया है। बुद्धघोष ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के रूप में धर्मों (पदार्थों) का विवेचन किया है, जब कि बुद्धदत्त ने 'अभिधम्मावतार' में चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण, इस चार प्रकार के वर्गीकरण को लिया है। श्रीमती रायस डेविड्स ने बुद्धदत्त के वर्गीकरण को अधिक उत्तम माना है।[४] वस्तुतः 'अभिधम्मावतार' की शैली बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं और 'विसुद्धिमग्ग' की अपेक्षा अधिक प्रसाद-गुणपूर्ण है और उसकी पद-रचना भी अपेक्षाकृत सरल है। 'अभिधम्मावतार'[५] के समान 'रूपारूप-विभाग'[६] भी अभिधम्म-सम्बन्धी रचना है। इसका भी विषय रूप, अरूप, चित्त, चेतसिक आदि का विवेचन करना है। 'मधुरत्थ विलासिनी'

---

१. इन विभिन्न शब्दों के अर्थों के लिए देखिये पीछे विनय-पिटक का विवेचन (चौथे अध्याय में)

२. ३. इन दोनों का रोमन लिपि में सम्पादन महास्थविर ए० पी० बुद्धदत्त ने किया है, जिसे पालि टैक्सट् सोसायटी ने प्रकाशित किया है। इन ग्रन्थों के सिंहली, बरमी और स्यामी संस्करण भी उपलब्ध हैं, जो क्रमशः कोलम्बो, रंगून और बंकाक से प्रकाशित हुए हैं।

४. बुद्धिस्ट साइकोलोजी, पृष्ठ १७४

५. ६. इनका भी रोमन लिपि में सम्पावन महास्थविर ए० पी० बुद्धदत्त ने किया है, जिसे पालि टैक्सट् सोसायटी ने प्रकाशित किया है।

(मधुरत्थ-पकासिनी भी) 'बुद्धवंस' की अट्ठकथा है, जिसका साहित्यिक दृष्टि से कुछ अधिक महत्व नहीं है। परन्तु बुद्ध के वर्षावासों सम्बधी कुछ अत्यन्त महत्व की सूचनाएँ इसमें हैं।

बुद्धघोष की जीवनी

अब हम पालि-साहित्य के युग-विधायक आचार्य बुद्धघोष पर आते हैं। 'बुद्धघोष' अनुपिटक साहित्य का सब से बड़ा नाम है। आचार्य बुद्धघोष ने बुद्ध-शासन की सेवा और उसकी चिरस्थिति के लिये जितना अधिक काम किया है, उतना शायद ही अन्य किसी व्यक्ति ने किया हो। पालि साहित्य को जो कुछ उन्होंने दिया है, वह आकार और महत्व दोनों में ही इतना महान् है कि यह समझना कठिन हो जाता है कि एक जीवन में इतना काम कैसे कर लिया गया। इन महापुरुष की जीवनी की पावन अनुस्मृति पहले हम करें। आचार्य बुद्धघोष ने अन्य अनेक भारतीय मनीषियों की तरह अपने जीवन के विषय में हमें अधिक नहीं बताया है। केवल अपनी अट्ठकथाओं के आदि और अन्त में उन्होंने कुछ सूचनाएँ दी हैं, जो उनकी रचना आदि पर ही कुछ प्रकाश डालती हैं अथवा जिनकी प्रेरणा पर, और जिस उद्देश्य से वे लिखी गईं, उनके विषय में वे कुछ संक्षेप से कहती हैं, किन्तु मनुष्य रूप में बुद्धघोष के विषय में हमें उनसे कुछ सामग्री नहीं मिलती। यह पक्ष सम्भवतः बुद्धघोष के लिये इतना अमहत्त्वपूर्ण था कि उसे उन्होंने अपने महत् उद्देश्य में ही खो दिया है। उपनिषदों के ऋषियों ने भी ऐसा ही किया है और भारतीय मनीषियों की यह एक निश्चित परम्परागत प्रणाली ही रही है कि अपने साधारण व्यक्तिगत जीवन के विषय में उन्होंने कुछ कहना उचित नहीं समझा है। उनकी यह निर्वैयक्तिकता उनके सन्देश को निश्चय ही एक अधिक बल प्रदान करती है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु मनुष्य होने के नाते हम उनके मानव-रूप को भी जानना चाहते ही हैं। और उससे इस अवस्था में जानने का अवकाश नहीं रह जाता। बुद्धघोष की जीवनी को जानने के लिये उनकी अट्ठकथाओं में दी गयी थोड़ी-बहुत सामग्री के अतिरिक्त प्रधान साधन हैं (१) महावंस या ठीक कहें तो चूलवंस[1] के सेंतीसवें परिच्छेद की २१५-२४६ गाथाएँ, (२) बुद्धघोसुप्पत्ति या महाबुद्धघो-

---

१. ३७।५० तक महावंस है। उसके बाद का परिवर्द्धित अंश चूलवंस के नाम से प्रसिद्ध है। देखिये आगे नवें अध्याय में वंश-साहित्य का विवेचन।

सस्स निदानवत्थु, (३) गन्धवंस (४) सासनवंस और (५) सद्धम्म सगह। 'महावस' का उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश, जिसमें बुद्धघोष की जीवनी वर्णित है, धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नामक भिक्षु की रचना है, जिनका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य-भाग है। चूँकि बुद्धघोष का जीवन-काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी है, अतः उनके आठ सौ नौ-सौ वर्ष बाद लिखी हुई उनकी जीवनी सर्वांश में प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, यह तो निश्चित ही है। फिर भी सबसे अधिक प्रामाणिक वर्णन जो हमें बद्धघोष की जीवनी का मिलता है, वह यही है। 'गन्धवस' और 'सासनवंस' तो ठीक उन्नीसवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं, अतः उनका इस सम्बन्ध में प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' महामंगल या मंगल नामक सिंहली भिक्षु की चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है, जो महावस के उपर्युक्त अश के वाद, किन्तु गन्धवंस और सासनवंस से पहले, लंका में लिखी गई। इस रचना में इतनी अतिशयोक्तियाँ भरी पड़ी है कि इसके भी प्रामाण्य को सर्वांश में नहीं माना जा सकता। केवल महावंस के उपर्युक्त अंश का वर्णन ही प्रायः इस सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक माना जाता है। उसके अनुसार बुद्धघोष की जीवनी की रूपरेखा यह है—आचार्य बुद्धघोष का जन्म गया के समीप बोधिवृक्ष के पास हुआ। बाल्यावस्था में ही शिल्प और तीनों वेदों में पारंगत होकर यह ब्राह्मण-विद्यार्थी वाद-विवाद के लिये भारतवर्ष भर में घूमने लगा। ज्ञान की बड़ी उत्कट जिज्ञासा थी। योगाभ्यास में भी बड़ी रुचि थी। एक दिन रात में किसी विहार में पहुँचा। वहाँ पातंजल मत पर बड़ा अच्छा प्रवचन दिया। किन्तु रेवत नामक बौद्ध स्थविर ने उन्हें बाद में पराजित कर दिया। इन बौद्ध भिक्षु के मुख से बुद्ध-शासन का वर्णन सुनकर बुद्धघोष को विश्वास हो गया 'निश्चय ही (मोक्ष का) यही एक मात्र मार्ग है' (**एकायनो अयं मग्गो**) और उन्होंने प्रव्रज्या ले ली। प्रव्रजित होकर उन्होंने पिटक-त्रय का अध्ययन किया। वास्तव में भिक्षु होने से पहले बुद्धघोष एक ब्राह्मण विद्यार्थी (**ब्राह्मणमाणवो**) मात्र थे। बाद में भिक्षु-संघ ने उनके घोष को बुद्ध के समान गम्भीर जानकर उन्हें 'बुद्धघोष' की पदवी दे दी।[1] जिस विहार में उनकी प्रव्रज्या हुई थी, वहीं उन्होंने 'ञाणोदय' (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके बाद यहीं उन्होंने 'धम्मसंगणि' पर 'अट्ठसालिनी'

---

१. **बुद्धस्स विय गम्भीरघोसत्ता नं वियाकरुं।**
बुद्धघोस ति सो सोभि बुद्धो विय महीतले॥

नाम की अट्ठकथा भी लिखी और अन्त में तिपिटक पर 'परित्तट्ठकथा' नाम से एक संक्षिप्त अट्ठकथा (या परित्त की अट्ठकथा, जैसा गायगर समझते हैं) लिखने का उपक्रम किया, जिसे देखकर उनके गुरु महास्थविर रेवत ने उनसे कहा,[१] "लंका से यहाँ भारत में केवल मूल पालि-तिपिटक ही लाया गया है। अट्ठकथाएँ यहाँ नहीं हैं। विभिन्न आचार्यों की परम्पराएँ भी यहाँ उपलब्ध नहीं हैं। हाँ, लंका-द्वीप में महास्थविर महेन्द्र (महिन्द) द्वारा संगृहीत सिंहली भाषा में प्रामाणिक अट्ठकथाएँ सुरक्षित हैं। तुम वहाँ जाकर उनका श्रवण करो, बाद में मागधी भाषा में उनका रूपान्तर करो, ताकि वे सब के लिये हितकारी हों।"[२] इस प्रकार अपने गुरु से आज्ञा पाकर आचार्य बुद्धघोष लंकाधिपति महानाम के शासन-काल में लंका में गये। अनुराधपुर के महाविहार के महापधान नामक भवन में रह कर उन्होंने संघ-पाल नामक स्थविर से सिंहली अट्ठकथाओं और स्थविरवाद की परम्परा को सुना। बुद्धघोष को निश्चय हो गया कि धर्म-स्वामी (बुद्ध) का यही ठीक अभिप्राय है।[३] तब उन्होंने महाविहार के भिक्षु-संघ से प्रार्थना की, "मैं अट्ठकथाओं का (मागधी) रूपान्तर करना चाहता हूँ। मुझे अपनी पुस्तकों को देखने की अनुमति दें।"[४]

---

१. तत्थ ञाणोदयं नाम कत्वा पकरणं तदा।
धम्मसंगणियाकासि कण्डं सो अट्ठसालिनिं॥
परित्तट्ठकथं चेव कातुं आरभि बुद्धिमा।
तं दिस्वा रेवतो थेरो इदं वचनं अब्रुवि॥

२. पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध।
तथाचरियवादा च भिन्नरूपा न विज्जरे॥
सीहलट्ठकथा सुद्धा महिन्देन मतीमता।
संगीतित्तयमारूल्हं सम्मासम्बुद्धदेसितं॥
कता सीहलभासाय सीहलेसु पवत्तति।
तं तत्थ गन्त्वा सुत्वा त्वं मागधानं निरुत्तिया।
परिवत्तेहि सा होति सब्बलोकहितावहा॥

३. महापधानघरं गन्त्वा संघपालस्स सन्तिका।
सीहलट्ठकथं सुत्वा थेरवादञ्च सब्बसो॥
धम्मसामिस्स एसो व अधिप्पायो ति निच्छिय।

४. कातुं अट्ठकथं मम पोत्थके देथ सब्बेति आह।

इस पर भिक्षुओं ने उन्हें दो गाथाएँ परीक्षा-स्वरूप व्याख्या करने के लिये दीं। बुद्धघोष ने उनकी व्याख्यास्वरूप 'विसुद्धि-मग्ग' की रचना की। 'विसुद्धि-मग्ग' की विद्वत्ता को देख कर भिक्षुओं को इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने बुद्धघोष को साक्षात् भगवान् मैत्रेय बुद्ध (भावी बुद्ध) ही मान लिया और उन्हें अपनी सब पुस्तकें देखने की अनुमति दे दी।[१] अनुराधपुर के गन्थाकर (ग्रन्थाकर) विहार में बैठकर बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओं के मागधी रूपांतर करने सम्बन्धी अपने कार्य को पूर्ण किया।[२] इसके बाद वे अपनी जन्मभूमि भारत लौट आये और यहाँ आकर बोधिवृक्ष की पूजा की।[३] इस वर्णन से एक बड़े महत्व की बात यह निश्चित हो जाती है कि बुद्धघोष महास्थविर लंका के राजा महानाम के समय में लंका में गये। यह राजा महानाम चौथी शताब्दी के अन्तिम और पाँचवीं शताब्दी के आदि भाग में लंका में शासन करता था। अतः निश्चित है कि बुद्धघोष का जीवन-कार्य इसी समय किया गया। बुद्धघोष ने किसी भी ऐसे ग्रन्थ आदि का उद्धरण नहीं दिया है, जो उस काल के बाद का हो। बरमी परम्परा भी यही मानती है कि आचार्य बुद्धघोष ने पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में लंका द्वीप में गमन किया। चूंकि उस समय उनकी अवस्था कम से कम तरुण तो रही ही होगी, अतः उनका जीवन-काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी कहा जा सकता है। हाँ, 'महावंस' के उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश में आचार्य बुद्धघोष का जन्मस्थान बुद्ध-गया के समीप बतलाया गया है।[४] आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी का कहना है कि बुद्धघोष महास्थविर संभवतः उत्तर भारत के नहीं हो सकते थे। उनकी किसी भी कथा की पृष्ठभूमि उत्तर भारत में नहीं रक्खी गई है। इसके अतिरिक्त विसुद्धि-मग्ग १।८६ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण) में 'वन-दाह' की उनके द्वारा व्याख्या तथा मज्झिम-निकाय के गोपालक-सुत्त की व्याख्या में उनके द्वारा किया हुआ गंगा का विवरण, सब यही दिखलाते

---

१. निस्संसयं स मेत्तेय्यो ति वत्वा पुनप्पुनं।
सद्धिं अट्ठकथायादा पोत्थके पिटकत्तये॥

२. गन्थाकरे वसन्तो सो विहारे दूरसंकरे।
परिवत्तेसि सब्बा पि सीहलट्ठकथा तदा॥
सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया।

३. वन्दितुं सो महाबोधिं जम्बुदीपं उपागमि॥

४. बोधिमण्डसमीपम्हि जातो ब्राह्मणमाणवो।

हैं कि जिस वन-दाह का उन्होंने वर्णन किया है वह भी दक्षिण की वस्तु है और जिस गंगा का उन्होंने वर्णन किया है, वह उत्तर भारत की गंगा न होकर दक्षिण भारत की महावली गंगा है। इस प्रकार आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि आचार्य बुद्धघोष उत्तरी भारत की भौगोलिक परिस्थिति से परिचित नहीं थे, अतः वे वहाँ के निवासी नही हो सकते। आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उस बरमी परम्परा को प्रामाणिक माना है जो बुद्धघोष को दक्षिण भारत का ब्राह्मण मानने की पक्षपातिनी है। 'विसुद्धि-मग्ग' के निगमन (उपसंहार) में अपना परिचय देते हुए आचार्य बुद्धघोष ने अत्यन्त निर्वैयक्तिकतापूर्वक कहा है **"बुद्धघोसो ति गरूहि गहित नामधेय्येन थेरेन मोरण्ड-खेटक-वत्तब्बेन कतो विसुद्धिमग्गो नाम"** (बड़ों के द्वारा 'बुद्धघोष' नाम दिये हुए, **मोरंड खेटक के निवासी, स्थविर (बुद्धघोष) ने इस विशुद्धि-मार्ग को लिखा।**) इसके आधार पर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह मत प्रकट किया है कि आचार्य बुद्धघोष दक्षिण-भारत के **मोरण्डखेटक (मोरंड नामक खेटक, खेड़ा) नामक गाँव के निवासी थे।** आचार्य बुद्धघोष कुछ दिन, जैसा उन्होंने अपनी मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा में कहा है, **मयूरसुत्तपट्टन या मयूररूपपट्टन** (सिहली पाठ) में भी रहे थे और वहीं बुद्धमित्र नामक स्थविर के साथ रहते हुए उनकी प्रार्थना पर इस अट्ठकथा को लिखा था।[१] आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी की धारणा है कि यह मयूरसुत्तपट्टन या मयूररूपपट्टन कहीं तेलुगु प्रदेश में था। इसी प्रकार आचार्य बुद्धघोष कांचीपुर आदि दक्षिण के नगरों में भी रहे थे, जैसा उनके अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा के अन्त में इस वाक्य से प्रकट होता है—

"स्थविर ज्योतिपाल के साथ काञ्चीपुर तथा अन्य स्थानों में रहते हुए मैंने उनकी प्रार्थना पर इस अट्ठकथा को लिखना आरम्भ किया।"[२] इस प्रकार बुद्धघोष ने चूँकि अपने जीवन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य दक्षिण के इन नगरों

---

१. आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त-बुद्धमित्तेन।
पुब्बे मयूररूपपट्टनम्हि सद्धिं वसन्तेन॥
यमहं पपञ्चसूदनिमट्ठकथं कातुमारद्धो॥

२. आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त-जोतिपालेन।
कञ्चीपुरादिसु मया पुब्बे सद्धिं वसन्तेन॥
अट्ठकथं अंगुत्तरमहानिकायस्स कातुमारद्धो॥

में ही किया, अतः वे दक्षिण के ही निवासी थे, ऐसा निष्कर्ष आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उनकी अट्ठकथाओं के साक्ष्य पर निकाला है,[१] जो उस हद तक ठीक कहा जा सकता है। फिर भी उनका जन्म-स्थान भी दक्षिण-प्रान्त था, यह उपर्युक्त विवरणों से प्रमाणित नहीं हो जाता। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि उनका जीवन-कार्य अधिकतर दक्षिण-भारत में किया गया। 'महावंस' के ऊपर उद्धृत अंश और 'बुद्धघोसुप्पत्ति' आदि में भी बुद्धघोषाचार्य को ब्राह्मण कहा गया है और उन्हें तीनों वेद, नाना शिल्पों तथा पातंजल योग आदि मतों का पारंगत बताया गया है।[२] आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उनके ब्राह्मण होने में भी सन्देह किया है और इसी प्रकार उनके वेद तथा पातंजल मत आदि शास्त्रों में पारंगत होने में भी सन्देह प्रकट किया है। बुद्धघोष के ब्राह्मण न होने के विषय में आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह तर्क दिया है कि बुद्धघोष को वेद के पुरुष-सूक्त जैसे महत्वपूर्ण अंश से भी जानकारी नहीं थी, क्योंकि इस सूक्त की एक ऋचा में क्षत्रिय को ब्रह्मा के बाहु से उत्पन्न बताया गया है, जब कि बुद्धघोष ने इसी सूक्त की ओर संकेत करते हुए उसे हृदय से उत्पन्न बता डाला है।[३] चूँकि बाहु और हृदय दोनों ही साहस के प्रतीक हैं, अतः सम्भव है आचार्य बुद्धघोष से, जो स्मृति से लिख रहे होंगे, दोनों के साधर्म्य के कारण यह गलती हो गई हो। यदि इस गलती को गलती के रूप में स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी यह उनके ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण होने से किस प्रकार सम्बन्धित हो सकती है? यह सूक्त-विषयक अनभिज्ञता तो बुद्धघोष के ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण दोनों के ही होते हुए हो सकती थी। अतः इसके कारण आचार्य कोसम्बी का बुद्धघोष को -अ-ब्राह्मण ठहराना ठीक नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार चूँकि बुद्धघोष ने 'गृहपति' या कृषक-वर्ग की प्रशंसा की है, उनको किसी किसान के घर उत्पन्न हुआ मानना भी ठीक नहीं होगा, जैसा मानने का आचार्य कोसम्बी ने प्रस्ताव किया

---

१. देखिये उनके द्वारा सम्पादित 'विसुद्धिमग्ग' का अंग्रेजी-प्राक्कथन, पृष्ठ १५-१८।

२. मिलाइये बुद्धघोसुप्पत्ति "सत्तवस्सिककाले सो तिण्णं वेदानं पारगू अहोसि" (सात वर्ष की अवस्था में ही वह (बुद्धघोष) तीनों वेदों का पारंगत हो गया)

३. पुरुष सूक्त में शब्द हैं—बाहू राजन्यः कृतः' जब कि बुद्धघोष ने लिखा है 'खत्तिया उरतो निक्खन्ता' (क्षत्रिय हृदय से निकले)। विसुद्धिमग्ग (कोसम्बीजी द्वारा सम्पादित) के प्राक्कथन, पृष्ठ १३ में उद्धृत।

है।[१] संस्कृत शास्त्रों का बुद्धघोष का ज्ञान अपूर्ण था, यह भी उद्धरण देकर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने दिखाने का प्रयत्न किया है।[२] उधर डॉ० विमलाचरण लाहा ने कोई ऐसा भारतीय ज्ञान-शास्त्र ही नहीं छोड़ा है, जिस पर बुद्धघोष का पूर्ण अधिकार न दिखा दिया हो।[३] हम समझते हैं कि सत्य इन दोनों कोटियों के बीच में है। आचार्य बुद्धघोष को संस्कृत-साहित्य से अवगति अवश्य थी,[४] किन्तु वह उस अगाध पांडित्य के रूप में नहीं थी जिसे हम एक वेदज्ञ ब्राह्मण के साथ संयुक्त कर सकते हैं। परन्तु बुद्ध के युग और उसकी परम्पराओं का उनका ज्ञान एक अगाध महासागर के समान था जिसमें कोई कमी या अपूर्णता दिखाना (जो भी काम कहीं-कहीं आचार्य कोसम्बी जी ने किया है) हास्यास्पद ही होगा। बरमी परम्परा की यह मान्यता है कि आचार्य बुद्धघोष बरमा में भी बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ गये थे। किन्तु इसका अब तक कोई निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला। उसके अभाव में हम यही मान सकते हैं कि बुद्धघोष की रचनाओं के अत्यधिक प्रसार और आदर के कारण ही उनके नाम के साथ इतनी आत्मीयता वहाँ प्रचलित हो गई है। आचार्य बुद्धघोष के निर्वाण के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं। किन्तु कम्बोडिया के निवासियों का यह विश्वास है कि बुद्धघोष महास्थविर का परिनिर्वाण उनके देश में ही हुआ था। वहाँ 'बुद्धघोष-विहार' नामक एक अत्यन्त प्राचीन विहार आज तक उनकी स्मृति को खंडहर के रूप में खड़ा रह कर सुरक्षित

---

१. विसुद्धिमग्ग (कोसम्बीजी द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १३ एवं १६ (प्राक्कथन)

२. विसुद्धिमग्ग (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण) के प्राक्कथन में पृष्ठ १३-१४

३. उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष' में एक पूरा परिच्छेद (छठा) ही आचार्य बुद्धघोष की विश्व-कोश जैसी बहुज्ञता के विवेचन के लिए दिया है, पृष्ठ १०४-१३५। उनसे पूर्व लार्ड चामर्स ने भी बुद्धघोष को एक 'सच्चा विश्वकोशीय विद्वान्' कहा था।

४. उन्होंने पाणिनि के नियम के अनुसार अनेक पालि शब्दों की व्युत्पत्ति की है। देखिये आगे दसवें अध्याय में पालि व्याकरण-साहित्य का विवेचन। बुद्धघोसुप्पत्ति (पृष्ठ ६१, ग्रे का संस्करण) के अनुसार सिंहली भिक्षुओं ने भी बुद्धघोष के संस्कृत-ज्ञान के विषय में सन्देह किया था, जिसका उन्होंने एक प्रभावशाली भाषण देकर निराकरण भी कर दिया था। देखिये लाहा: दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ३८-३९।

बनाये हुए है।[1] हमें कम्बोडिया-निवासियों के विश्वास में सन्देह करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।

बुद्धघोष की रचनाएँ

आचार्य बुद्धघोष की रचनाएँ ये हैं —

१. विसुद्धिमग्ग	—	संयुत्त-निकाय की दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में एक मौलिक कृति
२. समन्तपासादिका	—	विनय-पिटक की अट्ठकथा
३. कंखावितरणी	—	पातिमोक्ख की अट्ठकथा
४. सुमंगलविलासिनी	—	दीघ-निकाय की अट्ठकथा
५. पपञ्चसूदनी	—	मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा
६. सारत्थप्पकासिनी	—	संयुत्त-निकाय की अट्ठकथा
७. मनोरथपूरणी	—	अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा
८. परमत्थजोतिका	—	खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठकथा
९. अट्ठसालिनी	—	धम्मसंगणि की अट्ठकथा
१०. सम्मोहविनोदनी	—	विभंग की अट्ठकथा
११-१५. पञ्चप्पकरणट्ठकथा	—	धम्मसंगणि और विभंग को छोड़कर शेष ५ अभिधम्म-ग्रंथों की अट्ठकथाएँ
१६. जातकट्ठवण्णना	—	जातक की अट्ठकथा
१७. धम्मपदट्ठकथा	—	धम्मपद की अट्ठकथा
१८. अन्य ग्रन्थ	—	ज्ञानोदय आदि (जो प्राप्त नहीं)

इनका कुछ संक्षिप्त परिचय देना यहाँ आवश्यक होगा।

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४२, पद-संकेत २

विसुद्धिमग्ग[1]

'विसुद्धिमग्ग' या 'विसुद्धिमग्गो' (विशुद्धि-मार्ग) सम्भवतः आचार्य बुद्धघोष का सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे बुद्ध-धर्म का विश्वकोश ही समझना चाहिये। बौद्ध धर्म या साधना सम्बन्धी कोई ऐसा महत्वपूर्ण विषय नहीं है जिसका विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में न किया गया हो। अपने पूर्वगामी सम्पूर्ण पिटक और अनुपिटक साहित्य का मन्थन ही जैसे आचार्य बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ में किया है। आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी रचनाओं में इस ग्रन्थ को विशेष महत्वपूर्ण माना है। दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर, इन चारों निकायों की अपनी अट्ठकथाओं की प्रस्तावनाओं में उन्होंने पुनरुक्तिपूर्वक यह कहा है "चारों आगमों (निकायों) के बीच में स्थित होकर यह 'विसुद्धि-मग्ग' उनके यथार्थ अर्थ को प्रकाशित करेगा।"[2] ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्होंने पहले 'विसुद्धि-मग्ग' की रचना की और फिर चार निकायों की अट्ठकथाओं की। इसीलिए जिस विषय का विस्तृत निरूपण उन्होंने पहले 'विसुद्धि-मग्ग' में कर दिया है, उसे फिर निकायों की अट्ठकथाओं में नहीं दुहराया है। इसके विषय में भी उन्होंने प्रत्येक निकाय की अट्ठकथा के आरंभ में कहा है "चूँकि मैंने इस सबका शुद्ध निरूपण 'विसुद्धि-मग्ग' में किया है, इसलिए उसके संबंध में फिर यहाँ दुबारा विचार नहीं करूँगा।"[3] निश्चय

---

१. इस ग्रन्थ का देवनागरी लिपि में सम्पादन आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने किया है, जो भारतीय विद्या भवन, बम्बई (१९४०) से प्रकाशित भी हो चुका है। इस महत्वपूर्ण संस्करण का उल्लेख कर देने के बाद अन्य किसी संस्करण के उल्लेख करने की अपेक्षा नहीं रह जाती। निश्चय ही यह इतना ही महत्वपूर्ण सम्पादन है और हिन्दी का तो विशेष गौरव है। 'विसुद्धि-मग्ग' का हिन्दी अनुवाद त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने दो भागों में किया है। ये दोनों भाग महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा क्रमशः सन् १९५६ और १९५७ में प्रकाशित किये गये हैं।

२. मज्झे विसुद्धिमग्गो एस चतुन्नम्पि आगमानं हि।
ठत्वा पकासयिस्सति तत्थ यथाभासितं अत्थं॥

३. इति पन सब्बं यस्मा विसुद्धिमग्गे मया सुपरिसुद्धं।
वुत्तं तस्मा भिय्यो न तं इध विचारयिस्सामि॥

ही आचार्य बुद्धघोष 'विसुद्धि-मग्ग' को अपनी सम्पूर्ण रचनाओं का मध्यस्थ बिन्दु मानते थे और अपनी अट्ठकथाओं के अध्ययन से पहले पाठक से वे उसके अध्ययन की अपेक्षा रखते थे।

यद्यपि 'विसुद्धि-मग्ग' (विशुद्धि-मार्ग) पूरे अर्थों में एक मौलिक रचना है, किन्तु वह दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में ही लिखी गई है। वे दो गाथाएँ है—

"अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा। तं तं गोतम पुच्छामि को इमं विजटये जटं ति।"

दूसरी गाथा है—

"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञञ्च भावये।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं ति।"

पहली गाथा प्रश्न के रूप में है और दूसरी गाथा उसका उत्तर है। विसुद्धि-मग्ग के प्रारंभ में ही कहा गया है कि एक बार जब भगवान् श्रावस्ती में विचर रहे थे तो किसी देवपुत्र ने उनके पास आकर उनसे प्रथम गाथा के रूप में प्रश्न पूछा, जिसका अर्थ है "अन्दर भी उलझन है, बाहर भी उलझन है। यह जनता उलझन में जकड़ी हुई। अतः हे गोतम! मैं तुमसे पूछता हूँ—कौन इस उलझन को सुलझा सकता है?" भगवान् ने दूसरी गाथा के द्वारा इसका उत्तर दिया, जिसका अर्थ यह है "शील में प्रतिष्ठित होकर प्रज्ञावान् मनुष्य जब समाधि और प्रज्ञा की भावना करता है, तो इस प्रकार उद्योगी और ज्ञानवान् भिक्षु होते हुए वह उस उलझन को सुलझा देता है।" बस भगवान् के इस उत्तर को लेकर ही आचार्य बुद्धघोष ने संपूर्ण बौद्ध ज्ञान और दर्शन को एक एक निश्चित उद्देश्य के सूत्र में पिरो दिया है। वह उद्देश्य क्या है? साधना के मार्ग के उत्तरोत्तर विकास का स्पष्टतम निर्देश कर देना। दूसरे शब्दों में 'विसुद्धिमग्ग' बौद्ध योग को एक अत्यन्त क्रमबद्ध ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। हम पहले देख चुके हैं कि आचार्य बुद्धघोष बुद्ध-मत में प्रव्रजित होने से पहले पातंजल योग-दर्शन में निष्णात थे। निश्चय ही उन्होंने 'विसुद्धि-मग्ग' के रूप में बौद्धों के योग-दर्शन को ही साधकों के कल्याण के लिए प्रकाशित किया है। पातंजल योग-दर्शन की अपेक्षा 'विसुद्धि-मग्ग' अधिक सुव्यवस्थित और नियम-बद्ध है,[1] यह कहा जाय तो यह अतिरंजना नहीं होगी। बुद्धघोष

---

१. देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ सेंतालीस (वस्तुकथा)

महास्थविर ने साधकों के कल्याण के लिए ही इस महाग्रन्थ की रचना की है, इसे उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में यह कहकर दुहराया है' **'साधुजन-पामुज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे'** (साधुजनों की प्रसन्नता के लिये रचित 'विशुद्धि-मार्ग' में, आदि)। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के आदि में भी उन्होंने कहा है, "मैं विशुद्धि के मार्ग का भाषण करूँगा। सभी साधु पुरुष, जिन्हें पवित्रता की इच्छा है, मेरे कहे हुए को आदरपूर्वक सुने"[1] **(विसुद्धिमग्गं भासिस्सं तं मे सक्कच्च भासतो। विसुद्धिकामा सब्बे पि निसामयथ साधवो ति)**। यह ग्रन्थ महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर ही आधारित है, इसे भी बुद्धघोष ने यहीं दिखा दिया है **"महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधारित विशुद्धि-मार्ग का मैं कथन करूँगा" (महाविहारवासीनं देसनानयनिस्सितं विसुद्धिमग्गं भासिस्सं)**।

जैसा अभी कहा गया, 'विशुद्धि-मार्ग' साधना-मार्ग की नाना भूमियों का क्रम-बद्ध वर्णन करता है। 'विशुद्धि' का अर्थ किया है आचार्य बुद्धघोष ने 'सर्वमल-रहित, अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण' और 'मग्ग' या मार्ग का अर्थ किया है 'प्राप्ति का उपाय।' अतः 'विशुद्धि-मार्ग' का अर्थ है 'सर्वमल-रहित, अत्यन्त परिशुद्ध, निर्वाण-की प्राप्ति का उपाय।' इस उपाय की मुख्य तीन भूमियाँ हैं, जो उत्तरोत्तर क्रमिक साधना के द्वारा प्राप्त की जाती हैं। इन तीन भूमियों के नाम हैं, शील, समाधि और प्रज्ञा। भगवान् बुद्ध के शब्दों में यही तीन धर्मस्कन्ध अर्थात् धर्म के आधार हैं। शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में साधना के पूरे मार्ग का विवरण करना ही 'विसुद्धि-मग्ग' का लक्ष्य है।[2] इस महाग्रंथ में कुल मिलाकर २३ परिच्छेद हैं, जिनमें प्रथम

---

१. 'विसुद्धिमग्ग' के अन्त में उन्होंने फिर अपनी इसी अभिलाषा को दुहराया है 'तस्मा विसुद्धिकामेहि सुद्धपञ्ञेहि योगेहि। विसुद्धिमग्गे एतस्मिं करणीयो व आदरो ति' (विशुद्धि के इच्छुक शुद्ध ज्ञान वाले योगी इस विशुद्धि-मार्ग में आदर-बुद्धि करें), पृष्ठ ५०६ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

२. 'विसुद्धि-मग्ग' को विषय-वस्तु का विशद विश्लेषण भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपनी अभिधम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१८-२५७ में किया है। त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने भी "धर्मदूत" अप्रैल-मई १९४७ पृष्ठ ६१-६६ में इसका सुन्दर विश्लेषण किया है। देखिये उनके द्वारा अनुवादित विशुद्धि-मार्ग' (पहला भाग) की भूमिका में "विशुद्धि-मार्ग की विषय-भूमि" सम्बन्धी विवरण (पृष्ठ १९-४०) भी।

दो परिच्छेद शील या सदाचार का निरूपण करते हैं। ३—१३ परिच्छेद समाधि का निरूपण करते हैं। १४—२३ परिच्छेद प्रज्ञा का निरूपण करते है। शील का निरूपण करने वाले प्रथम दो परिच्छेदों के नाम है क्रमशः 'शील-निर्देश' (सील-निद्देसो) और 'अवधूत-व्रतों का निर्देश' (धुतंग-निद्देसो)। प्रथम परिच्छेद में आचार्य बुद्धघोष ने अपने विवेच्य विषय को प्रश्नों के रूप में वर्गीकृत किया है—

(१) शील क्या है?
(२) किस अर्थ से 'शील' है?
(३) शील के लक्षण, सार, प्रकटित स्वरूप और आसन्न कारण क्या है?
(४) शील का सुपरिणाम क्या है?
(५) शील कितने प्रकार का है?
(६) शील का मैला होना क्या है?
(७) शील का निर्मल होना क्या है?

इन प्रश्नों के उत्तर जो बुद्धघोष ने दिये हैं, उनका यदि यहाँ संक्षेप भी दिया जाय, तो वह भी कई पृष्ठ लेगा। फिर इनके साथ-साथ अनेक अवान्तर विषय भी 'विसुद्धि-मग्ग' में सम्मिलित हैं—जिनका साधकों के लिए अपना महत्व है, किन्तु पालि साहित्य के इतिहास में जिन्हें विस्तार-भय से उद्धृत नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः बुद्धघोष द्वारा शील की प्रशंसा,[१] ब्रह्मचर्य के उच्चतम आदर्श का प्रकाशन,[२] और सबसे बढ़कर कुछ बौद्ध साधकों के पवित्र जीवन संबंधी अभ्यास के उदाहरण,[३] आदि बड़े मार्मिक प्रसंग हैं। तेरह अवधूत-व्रतों (जो दूसरे परिच्छेद के विषय हैं) के नामों का विवरण हम 'मिलिन्द-पञ्ह' का विवरण करते समय दे चुके हैं। उन्हीं का यहाँ भी विस्तृत विवरण है। प्रत्येक अवधूत-नियम के विषय में यहाँ इतनी दृष्टियों से विचार किया गया है (१) अर्थ, (२) लक्षण, (३) ग्रहण की विधि, (४) विभिन्न प्रकार, यथा उत्तम, मध्यम, हीन, (५) भंग होना, (६) व्रत-रक्षण की प्रशंसा, (७) कुशल-त्रिक के रूप में वर्गीकरण, (८) समष्टि-गत विवरण और (९) व्यष्टिगत विवरण। अल्पेच्छता, सन्तोष आदि गुणों की

---

१. पृष्ठ ६-७
२. पृष्ठ ३४-३५
३. देखिये विशेषतः पृष्ठ १४, २२, २६-२८, ३१-३२ आदि, आदि

वृद्धि के लिए ही इन नियमों के अभ्यास का विधान किया गया है। वास्तव में ये चित्त के मैल को शुद्ध करने के लिए ही हैं। अतः इनका अभ्यास सबके लिए अनिवार्य नहीं है। आचार्य बुद्धघोष ने इन कठिन नियमों के विवेचन में तथागत के मध्यम-मार्ग को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। इसीलिए उन्होंने एक महत्व-पूर्ण प्रश्न किया है 'कस्स धुतंगसेवना सप्पाया ति' अर्थात् किसका अवधूत-व्रतों का अभ्यास अनुकूल है? उत्तर दिया है 'रागचरितस्स चेव मोहचरितस्स च' अर्थात् उस व्यक्ति का, जिसके आचरण में अभी राग वर्तमान है, मोह वर्तमान है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'धुतंगसेवना हि दुक्खा पटिपदा चेव सल्लेखविहारो च' अर्थात् अवधूत-व्रतों का अभ्यास कष्ट का मार्ग है और तपश्चर्या का जीवन है। उनका उपयोग साधक के लिए केवल इसीलिए है कि वे चित्त-मलों को नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार वे भिक्षु के अंग ही बन जाते हैं। कष्ट के मार्ग के आश्रय लेने वाले का राग शान्त हो जाता है, तपश्चर्या से रहने वाले अप्रमादी व्यक्ति का मोह नष्ट हो जाता है।[१] इसीलिए रागद्वेषादियुक्त व्यक्तियों का चित्त-शुद्धि के लिए स्वेच्छा-पूर्वक इन व्रतों को स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार उनके दोष शान्त हो जाते हैं।

शील या सदाचार के बाद विशुद्धि-मार्ग उस दूसरी ऊँची भूमिका का वर्णन करता है, जिसका नाम समाधि है। समाधि की परिभाषा करते हुए आचार्य बुद्ध-घोष ने कहा है **'कुसलचित्तेकग्गता समाधि'** अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। किसी एक आलम्बन (विषय) में चित्त और चेतसिक धर्मों को समान और सम्यक् रूप से बिना विक्षेप और विकीर्णता के रखना ही चित्त की समाधि या समाधान (सम्यक् आधान) कहलाता है।[२] समाधि के विषय में भी आचार्य बुद्धघोष ने वही प्रश्न किये हैं, जो शील के विषय में, यथा (१) समाधि क्या है? (२) किस अर्थ में 'समाधि' है? (३) समाधि के लक्षण, सार, प्रकटित रूप और आसन्न कारण क्या हैं? (४) समाधि कितने प्रकार की होती है? (५) समाधि का मलिन होना क्या है? (६) समाधि का निर्मल होना क्या है? और

---

१. दुक्खापटिपदं च निस्साय रागो वूपसमति। सल्लेखं निस्साय अप्पमत्तस्स मोहो पहीयति। पृष्ठ ५४-५५

२. एकारम्मणे चित्तचेतसिका समं सम्मा च अविक्खिपमान-अविप्पकिण्णा च हुत्वा तिट्ठन्ति, इदं समाधानं ति वेदितब्बं। (पृष्ठ ५७)

(७) समाधि की भावना किस प्रकार करनी चाहिए? इनके उत्तरों का संक्षेप देना तो यहाँ असंभव ही होगा। केवल कुछ मोटी बातें कही जा सकती हैं। आचार्य बुद्ध- घोष ने समाधि का प्रधानतः दो भागों में विवरण किया है, यथा (१) उपचार समाधि (२) अर्पणा समाधि। चार भागों में भी, यथा —

(१) दुक्खा-पटिपदा-दन्धाभिञ्ञा ।
(२) दुक्खा-पटिपदा-खिप्पाभिञ्ञा।
(३) सुखा-पटिपदा-दन्धाभिञ्ञा ।
(४) सुखा-पटिपदा-खिप्पाभिञ्ञा ।

जैसा अभी कहा गया, समाधि-स्कन्ध का विवरण 'विसुद्धिमग्ग' के ३—१३ परिच्छेदों में है। इन परिच्छेदों के नाम-विवरण के अलावा उनकी विषय-वस्तु का तो संक्षिप्त निर्देश भी यहाँ प्रायः असंभव ही है, अतः हम उनके नाम देकर उनकी विषय-वस्तु को इंगित मात्र करेंगे।

समाधि-स्कन्ध (परिच्छेद ३-१३)

३. **कर्मस्थानों (समाधि के आलम्बनों) को ग्रहण करने का निर्देश (कम्मट्ठानगहण-निद्देसो)**——समाधि-भावना की दस बाधाओं[1] (पलिबोधा) को छोड़ने का उपदेश।

४. **पृथ्वी-कृत्स्न (ध्यान-विशेष) का निर्देश (पथवीकसिणनिद्देसो)**—— पृथ्वी-कृत्स्न नामक ध्यान का विवरण। समाधि के अयोग्य १८ स्थानों[2] को छोड़ने का आदेश एवं चार ध्यानों का विस्तृत विवरण।

---

१. यथा आवास, कुल, लाभ, गण, काम, मार्ग, जाति-बन्धु, रोग, ग्रन्थ (रचना) और ऋद्धि (योग-विभूति)।

२. यथा (१) बहुत बड़ा विहार, (२) बिलकुल नया विहार, (३) बहुत पुराना विहार, (४) सड़क के किनारे स्थित, (५) तालाब के किनारे स्थित, (६-८) पेड़, फूल और फलों वाले बागों से युक्त, (९) अति प्रसिद्ध, (१०) नगर के बीच में स्थित, (११) अधिक पेड़ों के बीच में स्थित, (१२) खड़ी फसलों वाले खेत के समीप, (१३) झगड़ालू भिक्षु जहाँ रहते हों, (१४) जहाँ के व्यक्ति अ-धार्मिक हों, (१५) सीमा-प्रान्त में अवस्थित, (१६) अ-रक्षित स्थान में स्थित और (१८) जहाँ कल्याण-मित्र (आध्यात्मिक मित्र) न मिल सकें।

५. शेष कृत्स्नों (ध्यान-विशेषों) का निर्देश (सेसकसिणनिद्देसो)—पृथ्वी-कृत्स्न से अतिरिक्त शेष आपोकृत्स्न (जल-कृत्स्न) आदि ९ ध्यानों का विवरण।

६. अशुभ कर्मस्थान का निर्देश (असुभकम्मट्ठान-निद्देसो)—शरीर की गन्दगियों के ध्यान के द्वारा अर्पणा-समाधि की प्राप्ति का उपाय।

७. छह अनुस्मृतियों का निर्देश (छ अनुस्सति निद्देसो)—बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग और देवताओं की अनुस्मृतियाँ।

८. अनुस्मृति और कर्म-स्थान का निर्देश (अनुस्सति-कम्मट्ठान-निद्देसो)—मरण, कायगतासति, आनापान-सति और उपशम, इन चार अनुस्मृतियों तथा योग-आलम्बनों का विवरण।

९. ब्रह्म-विहार का निर्देश (ब्रह्मविहार-निद्देसो)—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यही चार भावनाएँ 'ब्रह्म-विहार' कहलाती है। इनका विशद विवरण। इन भावनाओं का निर्देश पतंजलि ने भी अपने योग-दर्शन में किया है।

१०. अ-रूपता का निर्देश (आरुप्प-निद्देसो)—अरूपता-सम्बन्धी ध्यानों का विवरण, यथा आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा नवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यानों का विवरण।

११. समाधि का निर्देश (समाधि-निद्देसो) समाधि-भावना का उपदेश एवं शरीर की अशुभता आदि पर ध्यान। आहार में प्रतिकूल-संज्ञा आदि का विवेचन भी।

१२. ऋद्धिविध का निर्देश (इद्धिविधनिद्देसो)—दिव्यश्रोत्र, परचित्त-ज्ञान, पूर्वजन्म की स्मृति और दिव्य चक्षु, इन चार योग-विभूतियों का विवरण।

१३. अभिज्ञा (उच्चतम गूढ़ ज्ञान) का निर्देश (अभिञ्ञा-निद्देसो)—पूर्व-जन्म की स्मृति आदि का ही विस्तृत विवरण।

प्रज्ञा की परिभाषा करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने कहा है 'कुसलचित्तसम्पयुत्तं विपस्सनाञाणं पञ्ञा' अर्थात् कुशल-चित्त से युक्त विपश्यना-ज्ञान ही प्रज्ञा है। प्रज्ञा-स्कन्ध के परिच्छेदों की विषय-वस्तु इस प्रकार है—

१४. स्कन्ध-निर्देश (खन्ध-निद्देसो)—पञ्च-स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का विवेचन।

१५. आयतन और धातुओं का निर्देश (आयतन-धातु-निद्देसो)—१२ आयतन और अठारह धातुओं का विवरण।

१६. इन्द्रिय और सत्यों का निर्देश (इन्द्रिय-सच्च-निद्देसो)--पाँच इन्द्रिय और चार आर्य-सत्यों का विवरण।

१७. प्रज्ञा की भूमियों का निर्देश (पञ्ञाभूमिनिद्देसो)—स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य और प्रतीत्य समुत्पाद ये प्रज्ञा की भूमियाँ हैं। प्रथम पाँच का वर्णन पहले हो चुका है। यहाँ प्रतीत्य समुत्पाद का विस्तृततम विवरण उपलब्ध होता है।

१८. दृष्टि की विशुद्धि का निर्देश (दिट्ठिविसुद्धि-निद्देसो)–नाम और रूप का यथावत् दर्शन ही दृष्टि-विशुद्धि है—इसका विस्तृत विवरण।

१९. संशय को पार करने के रूप में विशुद्धि का निर्देश (कंखावितरण-विसुद्धि निद्देसो)—यथाभूत ज्ञान, सम्यक् दर्शन और संशय को पार करना, यह सब एक ही वस्तु हैं, केवल शब्द नाना है।

२०. मार्ग और अमार्ग के ज्ञान और दर्शन के रूप में विशुद्धि का निर्देश (मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि निद्देसो) पदार्थों के उदय और व्यय को देखना एवं विपश्यना-प्रज्ञा की भावना करना।

२१. प्रतिपदा (मध्यम-मार्ग) के ज्ञान और दर्शन के रूप में विशुद्धि का निर्देश (पटिपदाञाणदस्सनविसुद्धि-निद्देसो)—'न मैं, न मेरा, न मेरा आत्मा', अर्थात् अनात्म तत्व की भावना का विवरण।

२२. ज्ञान और दर्शन रूपी विशुद्धि का निर्देश (ञाणदस्सनविसुद्धि-निद्देसो) —स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्, इन चार मार्गों सम्बन्धी ज्ञान का विवरण। बोधिपक्षीय धर्मों का भी इन्हीं के अन्दर समावेश।

२३. प्रज्ञा की भावना के सुपरिणामों का निर्देश (पञ्ञाभावनानिसंसनिद्देसो)—नाना चित्त-मलों का विध्वंस, आर्य-फल के रस का अनुभव, निरोध-समाधि को प्राप्त करने की योग्यता और लोक में पूज्य होने की पात्रता, प्रज्ञा की भावना के इन चार सुपरिणामों का विवरण।

उपर्युक्त विषय-सूची के संकेत-मात्र से स्पष्ट है कि 'विशद्धि-मार्ग' का क्षेत्र कितना अधिक विस्तृत है। अतः यदि इतने निरूपण से हम केवल यह भी इंगित करने में सफल हो सके कि 'विशुद्धि-मार्ग' बुद्ध-धर्म सम्बन्धी महान् ज्ञानकोश को संचित किये हुए है, तो भी हमने पालि साहित्य की दृष्टि से अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। विवरण में आगे चले जाने पर तो इस विषय का अन्त ही नहीं हो सकता, क्योंकि पातंजल योग और 'विमुत्तिमग्ग' के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन किये

बिना कोई इस सम्बन्धी विवेचन पूरा नहीं माना जा सकता।[1] अब हम बुद्धघोष की अट्ठकथाओं पर आते हैं।

समन्तपासादिका

समन्तपासादिका पूरे विनय-पिटक की अट्ठकथा है। आचार्य बुद्धघोष की रची हुई यह सम्भवतः प्रथम अट्ठकथा है। बुद्ध श्री (बुद्धसिरि) नामक स्थविर की प्रार्थना पर उन्होंने यह अट्ठकथा लिखी थी। प्राचीन भारत की सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक अवस्था का इस अकेले ग्रन्थ से ही एक पूरा इतिहास निर्मित किया जा सकता है। प्रथम तीन बौद्ध संगीतियों के विवरण में हमने इस ग्रन्थ से कितनी सहायता ली है, यह पूर्व के विवरणों से स्पष्ट हो गया होगा। भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन-सम्बन्धी अनेक विवरणों के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों और भौगोलिक स्थानों के विवरण जो हमें यहाँ मिलते हैं, बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। इस अट्ठकथा के बाद ही बुद्धघोष ने सुत्त-पिटक के निकायों पर अट्ठकथाएँ लिखीं। यह उल्लेखनीय है कि सन् ४८९ ई० में ही इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद हो गया था। सम्भवतः पालि से चीनी भाषा में अनुवादित होने वाला यह प्रथम ग्रन्थ था। इससे पूर्व केवल बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद हुए थे।

कंखावितरणी

'कंखावितरणी' 'पातिमोक्ख' पर अट्ठकथा है। इस अट्ठकथा में हमें न केवल बुद्धकालीन भिक्षु-संघ के जीवन की ही झलक मिलती है, अपितु उसके उत्तर-कालीन विकास का भी पर्याप्त ज्ञान होता है।

---

१. एम० नगई ने सन् १९१९ में विद्वानों का ध्यान बुद्धघोष-कृत 'विसुद्धि-मग्ग' के समान विषय वाले और उससे पूर्व लिखित चीनी ग्रन्थ 'विमुत्ति-मग्ग' (चि-तो-तओ-लुन्) की ओर आकृष्ट किया था। बाद में डॉ० पी० वी० बापट ने इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अपना शोध-प्रबन्ध लिखा "विमुत्ति-मग्ग एण्ड विसुद्धिमग्ग : ए कम्पेरेटिव स्टडी"। (पूना, १९३७)। अरहन्त उपतिस्स-कृत चीनी विमुत्ति-मग्ग का अंग्रेजी अनुवाद एन० आर० एम० एहार, सोम थेर और खेमिन्द थेर ने किया है। कोलम्बो, १९६१

सुमंगलविलासिनी

'सुमंगलविलासिनी' दीघ-निकाय की अट्ठकथा है। संघस्थविर दाठानाग नामक भिक्षु की प्रार्थना पर आचार्य बुद्धघोष ने यह अट्ठकथा लिखी, ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है।[१] बुद्धकालीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति के अनेक चित्रों एवं अनेक प्रकार के आख्यानों से यह अट्ठकथा भरी पड़ी है। सुत्तों के अनेक प्रकार के विवेचन, बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन-सम्बन्धी अनेक विवरण, इस अट्ठकथा में भी भरे पड़े हैं। उदाहरणतः भगवान् बुद्ध 'तथागत' क्यों कहलाते हैं, उनकी दैनिक चर्या क्या थी, आदि अनेक महत्वपूर्ण विवरण इस अट्ठकथा में हैं। इसी प्रकार बुद्धकालीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों, यथा जीवक कौमार भृत्य, तिष्य श्रामणेर, अम्बट्ठ आदि के विषय में अधिक जानकारी यहाँ दी गई है। इसी प्रकार भौगोलिक दृष्टि से अंग-मगध, दक्षिणापथ, घोषितराम, कोसल, राजगृह आदि के प्राचीन आख्यान-बद्ध इतिहास और उनके विषय में अन्य महत्वपूर्ण विवरण दिये गये हैं, जो पालि-तिपिटक में नहीं मिलते। इन सब के अलावा 'सुमंगलविलासिनी' में दीघ-निकाय के कठिन शब्दों की निरुक्तियाँ और उनके अर्थ-निर्वचन भी हैं, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उसका सब से अधिक आकर्षक महत्व तो ऐतिहासिक ही है, इसमें संदेह नहीं।

पपञ्चसूदनी

सुमंगलविलासिनी की ही शैली में लिखित पपञ्चसूदनी मज्झिम-निकाय की विस्तृत अट्ठकथा है। यह अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने बुद्धमित्र नामक स्थविर की प्रार्थना पर लिखी थी।[२] ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से इस अट्ठकथा का भी प्रभूत महत्व है। कुरु-प्रदेश, श्रावस्ती (सावत्थि), हिमवन्त प्रदेश आदि के महत्वपूर्ण विवरण इस अट्ठकथा में मिलते हैं। विषय-विन्यास मज्झिम-निकाय के समान ही है और उसी के अनुसार बुद्ध-वचनों की क्रमानुसार व्याख्या भी यहाँ की गई है, जो उस दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

---

१. आयाचितो सुमंगलपरिवेणनिवासिना थिरगुणेन।
दाठानाग संघत्थेरेन थेरवंसन्वयेन।
यं आरभिं सुमंगलविलासिनि नाम नामेन।

२. आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त बुद्धमित्तेन।

सारत्थप्पकासिनी

ज्योतिपाल नामक भिक्षु की प्रार्थना पर आचार्य बुद्धघोष ने सारत्थप्पकासिनी या संयुत्त-निकाय की अट्ठकथा लिखी।[1] अर्थ और ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टियों से यह अट्ठकथा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अलावा यहाँ इसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता।[2]

मनोरथपूरणी

मनोरथपूरणी या अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने भदन्त नामक स्थविर की प्रार्थना पर लिखी। इस अट्ठकथा की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भगवान् बुद्ध के शिष्य अनेक भिक्षु और भिक्षुणियों की जीवनियों का वर्णन किया गया है। उदाहरणतः पिंडोल भारद्वाज, पुण्ण मन्तानिपुत्त, महा-कच्चान, सोण कोळिवीस, राहुल, रट्ठपाल, वंगीस, कुमार कस्सप, उपालि, उरु-वेल कस्सप आदि के महत्वपूर्ण विवरण दिये हुए हैं। इसी प्रकार महाप्रजावती गौतमी, संघमित्रा तथा अन्य अनेक भिक्षुणियों के भी विवरण हैं। भगवान् बुद्ध के वर्षावासों का भी (मधुरत्थविलासिनी के समान) बड़ा अच्छा विवरण यहाँ दिया गया है। बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण के एक वर्ष पूर्व तक के ४५ वर्षावासों को भगवान् ने कहाँ-कहाँ बिताया, इस ऐतिहासिक महत्वपूर्ण तथ्य के विषय में यहाँ कहा गया है—"तथागत प्रथम बोधि में बीस वर्ष तक अस्थिर वास हो, जहाँ-जहाँ ठीक रहा वहीं जाकर वास करते रहे। पहली वर्षा में ऋषिपतन में धर्म-चक्र प्रवर्तन कर वाराणसी के पास ऋषिपतन में वास किया। दूसरी वर्षा में राजगृह के वेणुवन में। तीसरी और चौथी में भी वहीं। पाचवीं वर्षा वैशाली में महावन कूटागारशाला में। छठवीं वर्षा में मंकुल-पर्वत पर। सातवीं त्रायस्त्रिंश भवन में। आठवीं भर्ग-देश में सुंसुमार-गिरि के भेसकलावन में। नवीं कौशाम्बी में। दसवीं पारिलेय्यक वनखंड में।

---

१. आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त-जोतिपालेन।
कंचीपुरादिसु मया पुब्बे सद्धिं वसन्तेन॥

२. सारत्थप्पकासिनी के भौगोलिक महत्व के लिये देखिये लेखक का "बुद्धकालीन भारतीय भूगोल", पृष्ठ ४५-४६ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सं० २११८)।

ग्यारहवीं नाला ब्राह्मण-ग्राम में। बारहवीं वेरंजा में। तेरहवीं चालिय पर्वत पर। चौदहवीं जेतवन में। पन्द्रहवीं कपिलवस्तु में। सोलहवीं आलवी में। सत्रहवीं राजगृह में। अठारहवीं चालिय पर्वत पर। उन्नीसवीं भी वहीं। बीसवीं वर्षा राजगृह में। इस प्रकार तथागत ने बीस वर्ष, जहाँ-जहाँ ठीक हुआ वहीं वर्षावास किया। इससे आगे दो ही निवास-स्थान सदा रहने के लिये किये। कौन से दो? जेतवन और पूर्वाराम.....।"[१] अतः इस अट्ठकथा के अनुसार, बुद्ध के वर्षावासों का यह प्रामाणिक ब्यौरा इस प्रकार होगा :

वर्षा-वास	जहाँ बिताया
१	ऋषिपतन मृगदाव
२-४	राजगृह
५	वैशाली
६	मंकुल पर्वत
७	त्रायस्त्रिंश
८	सुंसुमारगिरि
९	कौशाम्बी
१०	पारिलेय्यक
११	नाला
१२	वेरंजा
१३	चालिय पर्वत
१४	श्रावस्ती (जेतवन)
१५	कपिलवस्तु
१६	आलवी
१७	राजगृह
१८–१९	चालिय पर्वत
२०	राजगृह
२१–४५	श्रावस्ती (जेतवन और पूर्वाराम में, वैकल्पिक रूप से)
(४६)	[वैशाली के समीप वेलुव (या बेलुव) गाँव]

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा बुद्धचर्या, पृष्ठ ७५ में अनुवादित।

परमत्थजोतिका

परमत्थजोतिका खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठ-कथा है। इसमें लिच्छवियों की उत्पत्ति की मनोरंजक कथा है, जिसका विवरण हम यहाँ विस्तार-भय के कारण नहीं दे सकते। परमत्थजोतिका के अन्तर्गत खुद्दक-पाठ की अट्ठकथा के प्रसंग में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन, राजगृह के १८ विहारों, सप्तपर्णी गुफा और वैशाली आदि के विषय में विशेष सूचना दी गई है। महाकाश्यप, आनन्द और उपालि आदि भिक्षुओं तथा विशाखा, धम्म-दिन्ना आदि भिक्षुणियों के विषय में भी कुछ अधिक सूचना दी गई है।

धम्मपदट्ठकथा

धम्मपदट्ठकथा या धम्मपद की अट्ठकथा में जातक के ढंग की कहानियों का प्राधान्य है। चार निकायों और जातक आदि से ही ये कहानियाँ संगृहीत की गई हैं। जातक की अनेक गाथाएँ यहाँ उद्धृत की गई हैं और उसकी कहानियों में से अनेक यहाँ उसी रूप में रक्खी हुई हैं। वास्तव में धम्पपदट्ठकथा कहानियों का एक संग्रह ही है। वासवदत्ता और उदयन की कथा भी इस अट्ठकथा में एक जगह मिलती है। अनेक कथाएँ जातक के अलावा विनय-पिटक से भी ली गई हैं, जैसे देवदत्त, बोधिराजकुमार, छन्न आदि की कथाएँ। निश्चय ही जातक और धम्मपदट्ठकथा का पारस्परिक सम्बन्ध पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। धम्मपदट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष की रचना है या नहीं, इसके विषय में सन्देह प्रकट किया गया है। डा० गायगर ने इसे आचार्य बुद्धघोष की रचना नहीं माना है।[1] उन्होंने धम्मपदट्ठकथा को जातकट्ठवण्णना से भी बाद की रचना माना है, क्योंकि दोनों में अनेक कहानियाँ समान हैं। यह एक आश्चर्य की बात है कि जो कहानियाँ यहाँ दी गई हैं और जिनके आधार पर धम्मपद की प्रत्येक गाथा को समझाया गया है, उन्हें भी साक्षात् बुद्धोपदेश (बुद्ध-देसना) ही यहाँ बताया गया है, जो ऐतिहासिक रूप से ठीक नहीं हो सकता। कुछ भी हो, धम्मपदट्ठकथा की कहानियों में जातक के समान ही प्राचीन भारतीय

---

१. उन्होंने इसे किसी मौलिक सिंहली अट्ठकथा का पालि अनुवाद माना है। देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३२

जीवन, विशेषत: सामान्य जनता के जीवन, की पूरी झलक मिलती है और भारतीय कथा-साहित्य में उसका भी एक स्थान है।

जातकट्ठवण्णना

जातकट्ठवण्णना या जातकत्थण्णना जातक-गाथाओं की अट्ठकथा है। इसके भी बुद्धघोष-कृत होने में सन्देह किया गया है। प्रधान कारण भाषा-शैली की भिन्नता का दिया गया है।[1] डा० गायगर ने इसे किसी सिंहली भिक्षु की रचना माना है, फिर चाहे वह भले ही बुद्धघोष क्यों न हों।[2] वस्तुत: जातकट्ठवणना के लेखक सिंहली भिक्षु चुल्ल बुद्धघोष थे जो बुद्धघोष के प्राय: समकालिक थे, या उनके थोड़े ही बाद हुए। 'गन्धवंस' में भी एक सिंहली भिक्षु चुल्ल बुद्धघोषाचार्य का उल्लेख है जिनकी दो रचनाएँ वहाँ बताई गई हैं 'जातत्तगीनिदान' और 'सोतत्तगी निदान'। सम्भव है कि 'जातत्तगीनिदान' ही जातकट्ठकथा या जातकट्ठवण्णना हो ?[3] प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं से लेखक ने अपनी सामग्री का संकलन किया है। एक मान्यता यह भी है कि सिंहली भाषा में पहले से ही 'जातकट्ठवण्णना' नाम की एक जातक-अट्ठकथा प्रचलित थी, जिसमें गाथाएँ मूल पालि में थीं और शेष अंश सिंहली में था और पालि जातकट्ठकथा उसी का पालि में अनुवाद है। इसके विपरीत यह भी माना जाता है कि जातक-कथाओं का पाठ आरम्भ से ही अपने मौलिक पालि रूप में सिंहल में सुरक्षित रहा है। कुछ भी हो, जातक की कहानियों या आख्यानों की अपेक्षा धम्मपट्ठकथा की कहानियाँ अपने स्वरूप में बुद्ध-उपदेशों की भावना से अधिक प्रभावित हैं। वास्तव में यहाँ तो लोक-विश्वासों की ही झलक अधिक मिलती है। भूत और वर्तमान के (बुद्ध-) जीवन की कहानियों की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है, अत: उत्तरकालीन क्षेपकों और परिवर्द्धनों की भी इस ग्रन्थ में आशंका की गई है। दो जातक कथाओं (हत्थिपाल जातक और मूगपक्ख जातक) में तो

---

१. कुछ अन्य निषेधात्मक कारणों के लिये देखिये टी० डब्ल्यू०, रायस डेविड्स्: बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, पृष्ठ ५९-६० (भूमिका) (श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा संशोधित संस्करण, जार्ज रटलेज एण्ड संस, लन्दन)।

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३१

३. देखिये मललसेकर: दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १२६।

कुछ सिंहली भिक्षुओं के नाम तक आये हैं। कुछ भी हो, भारतीय कथानक-साहित्य के प्राचीन रूप को जानने के लिये जातक (गाथा-जातक) के समान उसकी इस अट्ठकथा को भी पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं। उसके संबंध में अन्य बातों का विवेचन हम पिहले 'जातक' के प्रसंग में कर चुके हैं।

अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाएँ

आचार्य बुद्धघोष की अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाएँ भी बड़ी महत्व-पूर्ण हैं। इनमें सबसे पहला स्थान 'अट्ठसालिनी'[१] का है, जो 'धम्मसंगणि' की अट्ठ-कथा है। वास्तव में इसके समान गम्भीर और दुरूह दूसरी रचना अनुपिटक साहित्य में नहीं है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, 'महावंस' के धम्मकित्ति-विरचित परिवर्द्धित अंश के अनुसार आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' की रचना लंका से प्रस्थान करने के पहले ही की थी। यह बात ठीक नहीं हो सकती। लंका जाकर बुद्धघोष महास्थविर ने 'विसुद्धिमग्ग' लिखा, यह तो निश्चित ही है। उस के बाद ही 'अट्ठसालिनी' लिखी गई, यह हमें जानना चाहिये। इसका कारण यह है कि 'अट्ठसालिनी' के आरम्भ की गाथाओं में स्वयं आचार्य बुद्धघोष ने कहा है, "सब कर्म-स्थान (समाधि के आलम्बन), चर्या, अभिज्ञा और विपश्यना का प्रकाशन में 'विसुद्धि-मग्ग' में कर चुका हूँ, इसलिये फिर उनका यहाँ विवरण नहीं करूँगा।"[२] अतः 'अट्ठसालिनी' को 'विसुद्धिमग्ग' के बाद की ही रचना मानना चाहिये। यह हो सकता है कि उसकी एक प्राथमिक रूपरेखा आचार्य बुद्धघोष ने यहाँ बनाई हो। प्रस्तुत रूप में तो वह निश्चित रूप से 'विसुद्धिमग्ग' के बाद की रचना है। अभिधम्म के जिज्ञासुओं के लिये 'अट्ठसालिनी' का कितना अधिक महत्व है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। 'अट्ठसालिनी' के अलावा 'सम्मोह-विनोदनी' नाम की अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने विभंग पर लिखी। अन्य पाँच अभिधम्म-ग्रन्थों पर भी उन्होंने अट्ठकथाएँ लिखी, जिनके नाम हैं क्रमशः धातु-

---

१. देवनागरी लिपि में प० व० बापट तथा आर० डी० बड़ेकर द्वारा सम्पादित, भाण्डारकर ओरियण्टल सीरीज, संख्या ३, प्रथम संस्करण, पूना, १९४२।

२. कम्मट्ठानानि सब्बानि चरियाभिञ्ञा विपस्सना।
विसुद्धिमग्गे पनिदं यस्मा सब्बं पकासितं॥आदि।

कथापकरणट्ठकथा, पुग्गलपञ्ञत्तिपकरणट्ठकथा, कथावत्थु-पकरण-अट्ठकथा,[१] यमकपकरणट्ठकथा और पट्ठानपकरणट्ठकथा। ये पाँचों अट्ठकथाएँ मिलकर पञ्चप्पकरणट्ठकथा भी कहलाती हैं।

अन्य रचनायें

जैसा बुद्धघोष की जीवनी के प्रसंग में कहा जा चुका है, लंका-गमन से पूर्व आचार्य बुद्धघोष ने रेवत स्थविर के पास रहते हुए 'ञाणोदय' (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ लिखा था और 'परित्तट्ठकथा' नाम से सम्पूर्ण तिपिटक पर एक संक्षिप्त अट्ठकथा लिखनी आरंभ की थी। ये रचनाएँ आज नहीं मिलतीं। 'सासन-वंस' के अनुसार आचार्य बुद्धघोष 'पिटकत्तयलक्खण गन्ध' (पिटकत्रयलक्षण ग्रन्थ) नामक ग्रन्थ के भी रचयिता थे, किन्तु यह ग्रन्थ भी आज नहीं मिलता। महाकाव्य की शैली पर बुद्ध-जीवनी के रूप में लिखित 'पद्यचूड़ामणि' नामक ग्रन्थ भी, जिसे मद्रास सरकार ने प्रकाशित करवाया था, उसके सम्पादक कुप्पू-स्वामी शास्त्री के द्वारा अट्ठकथाचरिय बुद्धघोष की रचना बतलाया गया है। उसकी भिन्न शैली के साक्ष्य पर डॉ० विमलाचरण लाहा ने उसे पालि अट्ठकथाकार बुद्धघोष की रचना नहीं माना है।[२] हमें भी यही मत समीचीन जान पड़ता है।

पालि साहित्य में बुद्धघोष का स्थान

इस प्रकार आचार्य बुद्धघोष के विशाल ज्ञान की कुछ झलक हमने देखी है। वास्तव में पालि साहित्य के एक पूरे युग के वे विधायक हैं, जिसका प्रभाव अभी भी निःशेष कहीं हुआ है। उनके 'विसुद्धि-मग्ग' की ज्ञान-गरिमा पालि साहित्य में ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखती है। इसी प्रकार उनकी अट्ठकथाओं का अर्थ-सम्बन्धी महत्व तो है ही, उनमें जो

---

१. इस अट्ठकथा के अनुसार अशोक के काल तक उत्पन्न १८ बौद्ध सम्प्रदायों और उनके मतों का उल्लेख हम पाँचवें अध्याय में 'कथावत्थु' के विश्लेषण के प्रसंग में कर चुके हैं।

२. पद्य-चूड़ामणि की विषय-वस्तु और शैली के विवरण तथा डा० लाहा के तत्सम्बन्धी निष्कर्ष के लिए देखिये उनका 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष', पृष्ठ ८५-९१

महान् ऐतिहासिक और भौगोलिक सामग्री भरी पड़ी है, जिससे सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय सामाजिक और राजनैतिक जीवन पुनरुज्जीवित हो उठता है, वह तो भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिये निरन्तर उपयोग की वस्तु ही है। आचार्य बुद्धघोष उन प्राचीन भारतीय आचार्यों की परम्परा में से थे जो ज्ञान के क्षेत्र को मौलिक दान देते हुए भी भाष्यकार के विनीत रूप में रहना ही पसन्द करते थे। आचार्य बुद्धघोष ने हमें बहुत कुछ नया आलोक दिया है, ज्ञान के क्षेत्र को अपने ढंग से काफी विस्तृत किया है, फिर भी सदा अपने को महाविहारवासी भिक्षुओं की आदेशना-विधि का अनुगामी ही बताया है। यह उनकी विनम्रता का सूचक है। बुद्धघोष महास्थविर ने सद्धम्म की चिरस्थिति के लिये जो काम किया है, उसी के कारण हम आज बुद्ध और उनके युग को इतनी सजीवता के साथ समझ सके हैं। बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से लुम्बिनी, कौशाम्बी, राजगृह, उरुवेला और कपिलवस्तु की स्मृतियों को आज भी नया बनाया जा सकता है और चित्त को राग, द्वेष और मोह से मुक्त किया जा सकता है। जब तक 'विसुद्धिमग्ग' और 'अट्ठ-सालिनी' जैसे गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ और 'सुमंगलविलासिनी' और 'समन्त-पासादिका' जैसी ऐतिहासिक सामग्री-परिपूर्ण अट्ठकथाएँ पालि में विद्यमान हैं, तब तक ज्ञान और इतिहास के गवेषक सदा उसके दरवाज़े पर आते रहेंगे और प्रसंगवश उस विनीत, साक्षात् मैत्रेय, महास्थविर की अनुस्मृति भी करते रहेंगे जो ज्ञानपिपासावश भारत से लंका दौड़ा गया था और जिसने वहाँ महापधान-भवन में बैठकर दिन-रात बुद्ध-शासन का चिन्तन किया था और उसके मर्म को भी पाया था। हम आचार्य बुद्धघोष की इसी अनुस्मृति के साथ इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

धम्मपाल और उनकी अट्ठकथाएँ

आचार्य बुद्धघोष के समकालिक बुद्धदत्त (जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है) के अलावा एक अन्य प्रसिद्ध अट्ठकथाकार आचार्य धम्मपाल है। धम्मपाल बुद्धघोष के कुछ परवर्ती ही थे, परन्तु कितने, यह निश्चित करना कठिन है। वास्तव में बुद्धदत्त और धम्मपाल दोनों ने बुद्धघोष के काम को ही पूरा किया है। धम्मपाल का जन्म तमिल-प्रदेश में काञ्चीपुर में हुआ था। इनकी भी शिक्षा सिंहल के महाविहार में हुई थी। तदनन्तर इन्होंने दमिल (तमिल) प्रदेश के पदरतित्थ (या बदरतित्थ) नामक विहार में आकर निवास किया और यहीं अपनी अट्ठ-कथाएँ लिखीं। आचार्य धम्मपाल की रचनाएँ ये हैं—

१. परमत्थदीपनी—खुद्दक-निकाय के उन ग्रन्थों की अट्ठकथा है जिन पर बुद्धघोष ने अट्ठकथा नहीं लिखी। इस प्रकार धम्मपाल की इस अट्ठकथा के अन्तर्गत उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा एवं चरियापिटक की अट्ठकथाएँ सम्मिलित हैं। इनमें विशेषतः थेर-थेरी गाथाओं की अट्ठकथाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि यहाँ लेखक ने भगवान् बुद्ध के शिष्य भिक्षु-भिक्षुणियों की जीवनियों को अनुविद्ध किया है।[1]

२. नेत्तिपकरण-अट्ठकथा या नेत्तिप्पकरणस्स अत्थसंवण्णना (नेत्तिपकरण की अट्ठकथा)।

३. नेत्तित्थ कथाय टीका या लीनत्थवण्णना (उपर्युक्त नेत्तिपकरण-अट्ठकथा की टीका)।

४. परमत्थमञ्जूसा या महाटीका--विसुद्धिमग्ग की अट्ठकथा।

५. लीनत्थप्पकासिनी या लीनत्थवण्णना--प्रथम चार निकायों की बुद्धघोषकृत अट्ठकथाओं की टीका।

६. जातकट्ठकथा की टीका (जिसका भी नाम लीनत्थप्पकासिनी है)

७. बुद्धदत्त-कृत मधुरत्थविलासिनी (बुद्धवंस की अट्ठकथा) की टीका।

धम्मपाल-कृत उपर्युक्त ग्रन्थों में सब से अधिक प्रसिद्ध परमत्थदीपनी है। शेष में से कुछ प्राप्त भी नहीं हैं। कुछ ऐसी भी हैं जिनके विषय में यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि ये किस धम्मपाल की हैं, क्योंकि इस नाम के कई भिक्षु कई शताब्दियों में हो चुके हैं। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की उपर्युक्त अट्ठकथाओं में से अधिकांश के रोमन, बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण मिलते हैं। विशेषतः साइमन हेवावितरणे निधि की ओर से प्रकाशित सिंहली संस्करण उल्लेखनीय हैं। नागरी लिपि में अभी कोई संस्करण नहीं हुए, अनुवादों की तो कोई बात ही नहीं!

बुद्धघोष-युग के अन्य पालि अट्ठकथाकार

बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के अलावा इस युग के बाद में आने वाले अन्य पालि अट्ठकथाकारों में इनके नाम मुख्य हैं--(१) आनन्द, (२) चुल्ल (या चूल),

---

१. प्रस्तुत लेखक ने अपने थेरीगाथा-अनुवाद में, जो सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हुआ है, परमत्थदीपनी के आधार पर भिक्षुणियों की जीवनियों को ग्रथित किया है।

धम्मपाल, (३) उपसेन, (४) महानाम (नव महानाम), (५) काश्यप (कस्सप), (६) वज्रबुद्धि (वजिर बुद्धि), (७) क्षेम (खेम), (८) अनिरुद्ध (अनुरुद्ध), (९) धर्म श्री (धम्मसिरि) और (१०) महास्वामी (महासामि)। आनन्द भारतीय भिक्षु थे। इनकी शिक्षा लंका में हुई थी। इनका समय आठवीं या नवीं शताब्दी ईसवी है।[१] यह आनन्द 'वनरतन तिस्स' भी कहलाते थे, क्योंकि इनका सम्बन्ध श्री लंका के वनवासी सम्प्रदाय (अरण्यवासी निकाय) से था। इन्होंने बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं की सहायक स्वरूप 'मूल-टीका' या 'अभिधम्म-मूल टीका' लिखी है। यही इनकी एकमात्र प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रचना है।[२] चुल्ल धम्मपाल इन्हीं आनन्द (वनरतन तिस्स) के शिष्य थे और इन्होंने 'सच्च संखेप' (सत्य संक्षेप) लिखा है। अपने गुरु (आनन्द वनरतन तिस्स) की

---

१. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २१०; श्रीमती मेबिल बोड के अनुसार इनका समय छठी शताब्दी है। देखिये उनका 'दि पालि लिटरेचर ऑव बर्मा', पृष्ठ ७। गायगर इन्हें बुद्धघोष का समकालिक मानते हैं। देखिये उनकी 'पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज', पृष्ठ ३३-३४।

२. आनन्द नाम के कई स्थविर श्रीलंका में हुए हैं, जिनका पालि साहित्य के इतिहास में स्थान है और इनके विभेद को हमें समझ लेना चाहिये। एक तो आनन्द वनरतन तिस्स हैं ही, अट्ठकथाकार, जिनका उल्लेख हम यहां कर चुके हैं। चुल्ल धम्मपाल के गुरु भारतीय भिक्षु, जिन्होंने श्रीलंका में अध्ययन किया, वनवासी सम्प्रदाय से सम्बन्धित, 'मूल टीका' या 'अभिधम्म-मूल-टीका' के लेखक, समय आठवीं-नवीं शताब्दी। एक दूसरे आनन्द हैं आनन्द वनरतन। यह एक सिंहली भिक्षु थे और इनका समय बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी है। इनका भी सम्बन्ध वनवासी सम्प्रदाय से था। यह आनन्द वनरतन बुद्धप्पिय या 'चोलिय दीपंकर' (रूपसिद्धि और पज्जमधु के रचयिता) और वेदेह थेर (समन्तकूटवण्णना और रसवाहिनी के लेखक) के गुरु थे। बुद्धप्पिय ने इन्हें 'तम्बपण्णिद्धज' कहा है, इसलिये इनका सिंहली भिक्षु होना सिद्ध है। आनन्द वनरतन सम्भवतः विजयबाहु तृतीय (१२३२-३६ ई०) के समकालिक थे। इन्होंने पियदस्सि-कृत पद-साधन और धम्मसिरि-कृत खुद्द-सिक्खा या खुद्दक-सिक्खा का सिंहली भाषा में अनुवाद किया। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के ही एक अन्य भिक्षु थे आनन्द, जिन्हें बर्मी भिक्षु छपद (सद्धम्मजोतिपाल)

'मूल टीका' पर इन्होंने 'लीनत्थवण्णना' नाम की एक अनटीका भी लिखी।[1] उपसेन 'सद्धम्मप्पजोतिका' या 'सद्धम्मट्ठितिका' नामक निद्देस की टीका के लेखक हैं। सिंहली भिक्षु महानाम ने पटिसम्भिदामग्ग की अट्ठकथा 'सद्धम्मप्पकासिनी' (या सद्धम्मविलासिनी) शीर्षक से लिखी। यह महानाम महाविहार के उत्तरमन्ति परिवेण में रहते थे। काश्यप ने मोहविच्छेदनी और विमतिच्छेदनी (या विमतिविनोदनी) नामक विवेचनात्मक ग्रन्थों की रचना की। गन्धवंस के अनुसार 'अनागतवंस' के भी लेखक यही थे। वज्रबुद्धि ने 'वज्रबुद्धि' नाम की ही टीका 'समन्तपासादिका' पर लिखी। क्षेम ने 'खेमप्पकरण' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह 'परमत्थदीप' के नाम से भी प्रसिद्ध है। अनिरुद्ध अभिधम्म-साहित्य सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधम्मत्थसंगह' के रचयिता हैं। अनिरुद्ध ने ही अभिधम्म-सम्बन्धी दो ग्रन्थ और लिखे हैं (१) परमत्थ-विनिच्छय और (२) नामरूप-परिच्छेद। अनिरुद्ध सिंहली भिक्षु थे। उनका समय सम्भवतः ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी है और सम्भवतः उन्होंने कुछ समय काञ्चीपुर में भी बिताया।[2] मुख्यतः वे पोलोन्नरुवा के मूलसोम

अन्य तीन भिक्षुओं के साथ लंका से बरमा ले गये थे जहाँ उनकी सहायता से पगान में 'सीहल-संघ' की स्थापना की। यद्यपि इन भिक्षु आनन्द ने कोई रचना नहीं छोड़ी है, परन्तु इस कारण उन्हें पालि साहित्य के इतिहास में स्थान देने से वंचित नहीं किया जा सकता। एक अन्य आनन्द 'सद्धम्मोपायन' के रचयिता हैं, जो 'अभयगिरि कवि चक्कवर्ती आनन्द' भी कहलाते हैं। इनका भी समय बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी है। एक अन्य आनन्द हंसवती या हंसावती (पेगू नगर—बर्मा) में भी हुए हैं, सोलहवीं शताब्दी में, जिन्होंने आनन्द वनरतन तिस्स द्वारा लिखित 'अभिधम्म मूल टीका' या 'मूल टीका' पर 'मधुसारत्थदीपनी' नाम से एक अनुटीका लिखी, बर्मी ग्रन्थ 'पिटकत्थमेन्' के अनुसार। परन्तु सासनवंस में 'मधुसारत्थदीपनी' को हंसावती के ही और इसी काल के भिक्षु महानाम या महानन्द की रचना बतलाया गया है।

१. देखिए मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २११।

२. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १६९-१७०। श्रीमती मेबिल बोड अनुरुद्ध को सिंहली भिक्षु मानती हैं और उनका समय छपद (बारहवीं शताब्दी) से कुछ पूर्व ही मानती हैं। देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा', पृष्ठ १८।

विहार में निवास करते थे। यहीं उन्होंने 'अभिधम्मत्थ-संगह' लिखा। सम्भवतः 'अनुरुद्ध-शतक' भी उन्होंने लिखा। अनिरुद्ध के ग्रन्थों पर बाद में एक बड़ा सहायक साहित्य लिखा गया, जिसका विवरण हम आगे टीकाओं के युग में देंगे। अनुराधपुर के भिक्षु धर्म श्री ने विनय-सम्बन्धी अट्ठकथा-साहित्य को 'खुद्दक-सिक्खा' (क्षुद्रक-शिक्षा) या 'खुद्द-सिक्खा' नामक ग्रन्थ दिया और अनुराधपुर के ही सिंहली भिक्षु महास्वामी ने इसी विषय-सम्बन्धी 'मूल-सिक्खा' (मूल-शिक्षा)। धम्मसिरि और महासामि का समय परम्परागत रूप से चौथी शताब्दी ईसवी माना जाता है,[1] जो कुछ पूर्व मालूम पड़ता है।

बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के बाद जिस अट्ठकथा-साहित्य का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसमें अनिरुद्ध कृत 'अभिधम्मत्थसंगह' का एक अपना स्थान है। उसके अध्ययन का एक अलग इतिहास ही है। सुमंगल, छपद, वेपुल्ल-बुद्धि, और अरियवंस जैसे विद्वान् भिक्षुओं ने उस पर व्याख्याएँ विभिन्न युगों में लिखी हैं। अकेले बर्मी भाषा में उस पर कम से कम तेईस 'निस्सय' लिखे गये हैं। पालि साहित्य के इतिहास की किसी भी योजना में वह एक स्वतन्त्र परिच्छेद का अधिकारी है। उतना अवकाश तो इस कृति को यद्यपि हम यहाँ नहीं दे सकते, फिर भी अन्य की अपेक्षा इसका कुछ अधिक विस्तृत विवरण यहाँ अपेक्षित है। वह भी न केवल इसकी स्वतन्त्र महत्ता की दृष्टि से ही, बल्कि इसलिये भी कि इसकी विषय-वस्तु का उल्लेख या विवेचन करते समय न केवल सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक की ही विषय-वस्तु बल्कि उसकी अट्ठकथाओं का भी बहुत कुछ सारांश यहाँ स्वतः आ जाता है।

अभिधम्मत्थसंगह के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विश्लेषण

'अभिधम्मत्थ संगह'[2] में परमार्थ रूप से चार पदार्थों (धर्मों) की सत्ता मानी

---

१. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ ७७।

२. अभिधम्मत्थसंगह, मूल पालि तथा आचार्य धर्मानन्द कौसम्बी-रचित उसकी पालि टीका 'नवनीत टीका' के सहित, देवनागरी लिपि में महाबोधि सभा द्वारा प्रकाशित, सारनाथ, १९४१। भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा हिन्दी में अनुवादित। मूल सहित। बुद्ध-बिहार, लखनऊ, १९६० ई०। भिक्षु जगदीश काश्यप ने अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द पहली, में अभिधम्मत्थ संगह की विषय-वस्तु का अत्यन्त विशदतापूर्वक विश्लेषण किया है। साथ में रोमन-लिपि में पालि-पाठ भी दे दिया गया है।

गई है,यथा चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण।[1] हेतुओं से युक्त चित्त को 'सहेतुक' और उनसे वियुक्त चित्त को 'अ-हेतुक' कहते हैं। हेतु का अर्थ है अभिधम्म में लोभ, द्वेष, मोह या अ-राग, अ-द्वेष और अ-मोह। इन मूल प्रवृत्तियों को लेकर ही मनुष्य किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है, अतः यही 'हेतु' कहलाते हैं। सहेतुक चित्त तीन प्रकार के होते हैं यथा, कुशल, अकुशल और अव्याकृत। कुशल, अकुशल और अव्याकृत से अभिधम्म में क्या तात्पर्य लिया जाता है, यह हम अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत धम्मसंगणि के विवेचन में देख चुके हैं। अव्याकृत सहेतुक चित्त दो प्रकार का होता है 'विपाक-चित्त' और 'क्रिया-चित्त'। विपाक और क्रिया (किरिया) चित्तों से क्या तात्पर्य है, यह भी हम विस्तारपूर्वक धम्मसंगणि के विवेचन में देख चुके हैं। 'विपाक-चित्त' अव्याकृत इसलिये है कि पहले किये हुए कर्म का फल होने के कारण उसे न 'कुशल' ही कहा जा सकता है और न 'अकुशल' ही। 'क्रिया सहेतुक चित्त' वह चित्त है, जिसमें 'अ-लोभ', 'अ-द्वेष' और 'अ-मोह', ये तीन हेतु रहते तो हैं, किन्तु तृष्णा के क्षय के कारण इनका 'विपाक' नहीं बनता अर्थात् ये पुनर्जन्म के लिये कारण-स्वरूप नहीं बनते। 'क्रिया सहेतुक चित्त' अर्हत् का ही हो सकता है। वह चाहे अ-लोभ, अ-द्वेष, और अ-मोह के कारण कुछ कुशल कर्म भले ही सम्पादन करे, किन्तु अनासक्त होने के कारण उसका वह सब कर्म केवल 'क्रिया' मात्र ही होता है। वह आगे के लिये विपाक पैदा नहीं करता।

चित्त के साथ उत्पन्न और निरुद्ध होने वाले एवं एक ही विषय (आलम्बन) और इन्द्रिय वाले चित्त के धर्मों को 'अभिधम्मत्थसंगह' में 'चेतसिक' कहा गया है।[2] इनकी संख्या ५२ है। चेतसिक धर्मों को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है। यथा (१) १३ 'अन्य समान' (२) १४ 'अकुशल' और (३) २५ 'शोभन'।[3] फिर इनका भी विश्लेषण किया गया है। जब कोई 'चेतसिक' या चित्त-

---

१. तत्थ वुत्थाभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो। चित्तं, चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा। अभिधम्मत्थसंगहो।

२. एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका। चेतोयुत्ता द्विपञ्चासा धम्मा चेतसिका मता। अभिधम्मत्थ-संगहो, चेतसिक-कण्डो।

३. तेरसञ्ञसमाना च चुद्दसा कुसला तथा। सोभना पञ्चवीसाति द्विपञ्चास पवुच्चरे। अभिधम्मत्थसंगहो, चेतसिक-कण्डो।

कर्म 'शोभन-चित्त' से युक्त होता है, तब वह 'अशोभन' से अन्य होता है, और जब वह 'अशोभन' से युक्त होता है, तब शोभन से अन्य होता है। इसीलिये उसे 'अन्य समान' कहते हैं। इस 'अन्य समान' चेतसिक का भी द्विविध विभाजन है, यथा (१) साधारण चेतसिक (२) प्रकीर्ण चेतसिक। साधारण चेतसिक धर्म वे हैं, जो सभी चित्तों में साधारण रूप से रहते हैं और ये संख्या में सात हैं (१) स्पर्श, (२) वेदना, (३) संज्ञा, (४) चेतना, (५) एकाग्रता, (६) जीवितेन्द्रिय और (७) मनसिकार।[१] प्रकीर्ण चेतसिक धर्म वे हैं जो केवल जब कभी होने वाले हैं। ये संख्या में छह हैं, यथा (१) वितर्क, (२) विचार, (३) अधिमोक्ष, (४) वीर्य, (५) प्रीति और (६) छन्द (इच्छा)।[२] विषयों (आलम्बनों) को स्पर्श करने वाले चेतसिक-धर्म को स्पर्श, विषयों के स्वाद भोगने वाले को वेदना, विषयों के स्वभाव को ग्रहण करने वाले को संज्ञा, विषयों में प्रेरणा करने वाले को चेतना, विषय में स्थिर रहने वाले को एकाग्रता, प्राप्त विषयों की मन में रक्षा करने वाले को 'मन-सिकार' कहते हैं। इसी प्रकार विष य-चिन्तन करने वाले चेतसिक को वितर्क, उस पर बार-बार सोचने वाले को विचार, विषयों में प्रवेश कर निश्चल भाव से रहने वाले को अधिमोक्ष, उत्साह करने वाले को वीर्य, विषयों में आनन्द लेने वाले को प्रीति और उनकी इच्छा करने वाले चेतसिक धर्मों को 'छन्द' कहते हैं। पूर्वोक्त १४ अकुशल चेतसिक इस प्रकार हैं, मोह, निर्लज्जता (अह्री), अ-पापभयता (अन-पात्रप्य), औद्धत्य, लोभ, (मिथ्या-) दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, पश्चात्ताप-कारी कृत्य (कौकृत्य), स्त्यान (मन को भारी करने वाला), मृद्ध (चेतसिकों को भारी करने वाला) और विचिकित्सा (संशय)। शोभन-चित्त २५ हैं, यथा (१) श्रद्धा, (२) स्मृति, (३) ह्री, (४) अपात्रप्य (पाप-कर्म में भय होना), (५) अलोभ, (६) अद्वेष, (७) मध्यस्थता, (८) कायप्रश्रब्धि (कायिक शान्ति), (९) चित्त-प्रश्रब्धि, (चित्त-शान्ति), (१०) कायलघुता, (११) चित्त-लघुता, (१२) काय-मृदुता, (१३) चित्त-मृदुता (१४) कार्य-कर्मज्ञता (१५) चित्त-कर्मज्ञता, (१६) काय-प्रागुण्य (काया का समर्थ-भाव), (१७) चित्त-प्रागुण्य

---

१. फस्सो वेदना सञ्ञा चेतना एकग्गता जीवितिन्द्रियं मनसिकारो चेति सत्तिमे चेतसिका सब्बचित्त-साधारणा नाम। उपर्युक्त के समान ही।

२. वितक्को विचारो अधिमोक्खो विरियं पीति छन्दो चेति छयिमे चेतसिका पकिण्णका नाम। उपर्युक्त के समान ही।

(चित्त का समर्थ-भाव), (१८) काय-ऋजुता, (१७) चित्त-ऋजुता, (२०) सम्यक् वाणी, (२१) सम्यक् कर्मान्त (२२) सम्यक् आजीव। (इन अंतिम तीन अर्थात् सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक आजीव को 'धम्मसंगणि' में तीन विरतियाँ कह कर पुकारा गया है।), (२३) करुणा (२४) मुदिता और (२५) अमोह (प्रज्ञा)। इस प्रकार ५२ चेतसिक धर्मों की कुशल, अकुशल और अव्याकृत कर्ममयी व्याख्या अभिधम्मत्थसंगह में की गई है। किन्तु यह सब तो दिग्दर्शन मात्र है और बहुत कुछ अस्पष्ट भी। अभी तो हमने केवल 'सहेतुक चित्त' के इन तीन प्रकारों यथा 'कुशल', 'अकुशल' और' अव्याकृत' चेतसिकों के साथ संबंध को व्यक्त किया है। किन्तु जिस गहनता और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एवं अन्तर्दृष्टि के साथ इनका विश्लेषण और व्याख्यान 'अभिधम्मत्थसंगह' में किया गया है, उसकी तो यह एक प्रतिच्छाया भी नहीं है। कहाँ चित्त के चार प्रकार के वर्गीकरण, कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर! कहाँ फिर इनमें भी कामावचर-चित्त के ५४ प्रकार! कहाँ फिर उनकी भी व्याख्या और उसमें भी यह निर्णय कि इनमें से १२ अकुशल चित्त (जिसमें से भी ८ लोभ-मूलक, २ द्वेष-मूलक और २ मोह-मूलक), १८ अहेतुक-चित्त (जिनमें भी फिर ७ अकुशल-विपाक, आठ कुशल विपाक और ३ अहेतुक-चित्त) और २४ सहेतुक चित्त (जिनके भी फिर वेदना, विज्ञान और संस्कार के भेद से वर्गीकरण)। इतना ही नहीं, इन्हीं कामावचर-भूमि में होने वाले चित्तों में फिर २३ विपाक चित्त, २० कुशल और अकुशल एवं ११ क्रिया-चित्तों का विभाजन! ऊपर निर्दिष्ट द्वितीय भूमि के चित्त अर्थात् रूपावचर चित्त के फिर १५ प्रकार, जिनमें ५ कुशल-चित्त, ५ विपाक-चित्त और पाँच क्रिया-चित्त। इसके बाद तृतीय भूमि के चित्त अर्थात् अरूपावचर-चित्त के बारह विभागों का निरूपण, जिनमें चार कुशल-चित्त, चार विपाक-चित्त और चार क्रिया-चित्त। अन्त में चतुर्थ भूमि के चित्त अर्थात् लोकोत्तर चित्त के इसी प्रकार ८ भेद, जिनमें चार कुशल चित्त और चार विपाक चित्त। इस प्रकार कुल ५४ कामावचर, १५ रूपावचर, १२ अरूपावचर और ८ लोकोत्तर चित्तों अर्थात् कुल ८९ प्रकार के चित्तों की परिभाषाएँ, व्याख्याएँ, और 'कर्म' के स्वरूप के साथ उनके सबंध का निर्णय, यह सब 'अभिधम्मत्थसंगह' की संख्याओं में भरने का प्रयत्न किया गया है। चित्त और चेतसिक धर्मों के इस निरूपण में कितनी सूक्ष्मता, कितनी विश्लेषण-प्रियता 'अभिधम्मत्थसंगह' ने अभिधम्म का अनुगमन कर दिखाई है, इसे देखकर साधारण विद्यार्थी का साहस छूट

जाता है। फिर भी 'अभिधम्मत्थसंगह' के महत्व का यह कुछ कम बड़ा साक्ष्य नहीं है कि अभिधम्म-पिटक पर बुद्धघोष जैसे आचार्य की अट्ठकथाएँ रहते हुए भी बौद्ध विद्यालयों में अभिधम्म का अध्ययन प्रायः इसी ग्रन्थ के द्वारा होता आया है और विशेषतः बरमा में तो इसके चारों ओर एक सहायक साहित्य की अटूट परम्परा ही १५ वीं शताब्दी से बनती चली आ रही है, जिसका वर्णन हम ११०० ई० से वर्तमान समय तक के पालि के व्याख्यापरक साहित्य का विवरण देते समय अभी आठवें अध्याय में करेंगे।

बुद्धघोष-युग में अट्ठकथाओं और व्याख्यापरक साहित्य के अतिरिक्त वंश-संबंधी कई ग्रन्थ भी लिखे गये, और इसी प्रकार काव्य और व्याकरण-संबंधी पर्याप्त रचनाएँ भी हुईं। इनका विवरण हम अपनी योजना के अनुसार क्रमशः नवें और दसवें अध्यायों में देंगे।

आठवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग

(११०० ई० से वर्तमान समय तक)

विषय-प्रवेश

लंकाधिराज पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) का शासन-काल पालि-साहित्य के उत्तरकालीन विकास के इतिहास में बड़ा गौरवमय माना जाता है। इसी समय से पालि अट्ठकथाओं के ऊपर टीकाएँ लिखने की वह महत्वपूर्ण परम्परा चल पड़ी जो ठीक उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी तक अप्रतिहत रूप से चलती रही। न केवल टीकाओं के रूप में ही, बल्कि काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दः शास्त्र एवं 'वंश' (इतिहास) संबंधी साहित्य भी इन शताब्दियों में प्रभूत मात्रा में लिखा गया। इस सब साहित्यिक प्रगति के क्षेत्र प्रधानतः लंका और बरमा ही रहे। बारहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य-सृजन के क्षेत्र में लंका का प्रमुख स्थान रहा। पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक बरमी पालि-साहित्य का युग कहा जा सकता है। टीकाओं तक ही अपने को सीमित रखकर इस विशाल साहित्य-रचना का विवेचन हम इस अध्याय में करेंगे।

सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनके शिष्यों की टीकाएँ

पराक्रमबाहु प्रथम के शासन-काल में लंका में एक बौद्ध सभा (संगीति) बुलवाई गई। इस सभा का उद्देश्य अट्ठकथाओं पर मागधी (पालि) भाषा में टीकाएँ लिखवाना था। इस सभा के संयोजक उदुम्बरगिरि-विहार के निवासी प्रसिद्ध सिंहली स्थविर महाकस्सप थे, जो विनय के एक महान् आचार्य थे और जिन्होंने अभिधम्मत्थसंगह पर एक 'पोराण-टीका' लिखी तथा चान्द्र-व्याकरण के आधार पर संस्कृत में 'बालाववोधन' नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी। इस सभा के

प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप बुद्धघोष की अट्ठकथाओं पर पालि-भाषा में टीकाएँ लिखी गईं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. सारत्थदीपनी—समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) की टीका।

२. पठम-सारत्थमंजूसा—सुमंगलविलासिनी (दीघ-निकाय की अट्ठकथा) की टीका।

३. दुतिय-सारत्थमंजूसा—पपञ्चसूदनी (मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा) की टीका।

४. ततिय-सारत्थमंजूसा—सारत्थप्पकासिनी (संयुत्त-निकाय की अट्ठकथा) की टीका।

५. चतुत्थ-सारत्थमंजूसा—मनोरथपूरणी (अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा) की टीका।

६. पठम-परमत्थप्पकासिनी—अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्ठकथा) की टीका।

७. दुतिय-परमत्थप्पकासिनी—सम्मोहविनोदनी (विभंग की अट्ठकथा) की टीका।

८. ततिय परमत्थप्पकासिनी—पञ्चप्पकरणट्ठकथा (धातुकथा, पुग्गल-पञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान की अट्ठकथा) की टीका।

उपर्युक्त टीकाओं में से केवल 'सारत्थदीपनी' आज उपलब्ध है। यह तत्कालीन सिंहली भिक्षु सारिपुत्त की रचना है। इस रचना के अतिरिक्त इन स्थविर की तीन कृतियाँ और प्रसिद्ध हैं। (१) लीनत्थप्पकासनी—बुद्धघोष-कृत मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा की टीका, (२) विनय-संगह—विनय-संबंधी नियमों का संग्रह। इस रचना का दूसरा नाम 'पालिमुत्तक विनयसंगह' (पालिमुक्तक विनय संग्रह) या 'महाविनयसंगहप्पकरणं' (महाविनयसंग्रह-प्रकरण) भी है। (३) सारत्थ-मंजूसा—बुद्धघोष कृत अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा की टीका। स्थविर सारिपुत्त के शिष्यों ने भी इस टीका-रचना-कार्य में बड़ा योग दिया। उनके शिष्यों में ये प्रधान थे—(१) संघरक्खित, (२) बुद्धनाग, (३) वाचिस्सर, (४) सुमंगल, (५) सद्धम्मजोतिपाल या छपद, (६) धम्मकित्ति, (७) बुद्धरक्खित और (८) मेधंकर। सुबोधालंकार, सम्बन्ध-चिन्ता, सुसद्दसिद्धि और वुत्तोदय आदि अनेक ग्रन्थों के लेखक स्थविर संघरक्खित की प्रसिद्ध टीका-रचना 'खुद्दकसिक्खा-

टीका' है, जो धम्मसिरि (धर्म श्री) रचित 'खुद्दक-सिक्खा' की टीका है। स्थविर संघरक्खित से पहले महायस (या रेवत) ने भी 'खुद्दक-सिक्खा' पर 'खुद्दकसिक्खा-टीका' नाम से ही एक टीका लिखी थी। इन दोनों में भेद करने के लिए स्थविर संघरक्खित-कृत टीका को 'अभिनव-खुद्दक सिक्खा-टीका' और महायस (या रेवत)-कृत टीका को 'पोराण-खुद्दक-सिक्खा टीका' भी कहा जाता है। ये दोनों टीकाएँ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में आज भी सिंहल में सुरक्षित हैं। स्थविर बुद्धनाग की रचना 'विनयत्थ-मंजूसा' है, जो कंखावितरणी (पातिमोक्ख पर बुद्धघोष-कृत अट्ठकथा) की टीका है। यह टीका भी सिंहल में हस्तलिखित प्रति के रूप में सुरक्षित है। प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु वाचिस्सर (वागीश्वर) अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। 'गन्धवंस' में उनके १८ ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। प्रसिद्ध वेदान्ती आचार्य वाचस्पति मिश्र और इन स्थविर (वाचिस्सर) के नाम या उपनाम में समानता होने के साथ-साथ दोनों की विद्वत्ता भी प्रायः समान रूप से गहरी और विस्तृत है। स्थविर वाचिस्सर की प्रधान रचनाएँ ये हैं—(१) मूलसिक्खा-टीका—यह टीका महास्वामी (महासामि)-कृत 'मूल-सिक्खा' की टीका है। वाचिस्सर से पहले विमलसार ने भी इसी (मूलसिक्खा-टीका) नाम की एक टीका 'मूल-सिक्खा' पर लिखी थी। अतः विमलसार-कृत टीका 'मूलसिक्खा-पोराण-टीका' कहलाती है और वाचिस्सर-कृत टीका 'मूल-सिक्खा—अभिनव-टीका' (२) सीमालंकार-संगह—विनय-संबंधी ग्रन्थ, जिसमें विहार की सीमा का निर्णय किया गया है। (जहाँ तक के भिक्षु प्रातिमोक्ष आदि विशेष संस्कारों में सम्मिलित होने के लिए किसी एक विहार में एकत्र हों, वह उस विहार की सीमा कहलाती है)।[1] (३) खेमप्पकरणटीका—यह टीका भिक्षु खेम (क्षेम)—कृत 'खेमप्पकरण' की टीका है। (४) नामरूप-परिच्छेद-टीका—यह अनिरुद्ध (पालि अनुरुद्ध)-कृत 'नाम रूप परिच्छेद' की टीका है। (५) सच्चसंखेप टीका—यह स्थविर आनन्द के शिष्य चूल (या चुल्ल) धम्मपाल-कृत 'सच्च-संखेप' की टीका है। (६) अभिधम्मावतार-टीका—यह रचना बुद्धदत्त-कृत 'अधिम्मावतार' की टीका है। (७) 'रूपारूपविभाग'—यह अभिधम्म सम्बन्धी रचना है। (८) विनयविनिच्छय-टीका—यह टीका बुद्धदत्त-कृत 'विनय-विनिच्छय' की टीका है। (९) उत्तर-

---

१. इस विषय पर पन्द्रहवीं शताब्दी में बरमी भिक्षु-संघ में एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। देखिये आगे दसवें अध्याय में कल्याणी-अभिलेख का विवरण।

विनिच्छय टीका—यह रचना बुद्धदत्त-कृत 'उत्तरविनिच्छय' की टीका है। (१०) सुमंगलप्पसादिनी—यह रचना धम्मसिरि (धर्म श्री)-कृत 'खुद्दक-सिक्खा' की टीका है। इन रचनाओं के अलावा 'योग-विनिच्छय', (मललसेकर के मतानुसार विनयविनिच्छय-टीका का ही दूसरा नाम) और 'पच्चय-संगह' जैसे अनेक ग्रंथ भी वाचिस्सर द्वारा रचित बताये जाते हैं। चूँकि 'वाचिस्सर' उपाधि-धारी अनेक भिक्षु सिंहल में हो गये हैं, अतः निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सी रचनाएँ किस 'वाचिस्सर' की हैं। फिर भी ऊपर जिन प्रधान दस रचनाओं का उल्लेख किया जा चुका है, वे सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य 'वाचिस्सर' की ही मानी जाती हैं।[1] सिंहली भिक्षु सुमंगल-कृत तीन रचनाएँ हैं, (१) अभिधम्मत्थ-विभावनी, जो अनिरुद्ध-कृत अभिधम्मत्थ-संगह की टीका है। अभिधम्मत्थ-विभावनी का बर्मा में बहुत आदर हुआ। पहले यह वहाँ 'टीका हल' (सुन्दर टीका) कहलाती थी, परन्तु जब पन्द्रहवीं शताब्दी में बर्मी भिक्षु अरियवंस ने उस पर अपनी टीका 'मणिसारमंजूसा' लिखी, तो यह उस समय से 'टीका-ग्यु' (प्रसिद्ध टीका) कहलाने लगी। (२) अभिधम्मत्थविकासनी, जो बुद्धदत्त-कृत अभिधम्मावतार की टीका है, (३) सच्चसंखेप-टीका (सारत्थसालिनी)—जो चुल्ल धम्मपाल-कृत सच्चसंखेप की टीका है। ये तीनों ग्रंथ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में सिंहल में सुरक्षित हैं। 'अभिधम्मत्थ-विभावनी' का महाबोधि प्रेस, कोलम्बो, से (विद्योदय टीका पब्लिकेशन्स सीरीज में) सन् १९३३ में सिंहली अक्षरों में प्रकाशन भी हो चुका है। सद्धम्मजोतिपाल या छपद (छपट भी) का नाम सारिपुत्त के शिष्यों में विशेषतः प्रसिद्ध है। यह पगान (बर्मा) के निवासी बर्मी भिक्षु थे, जिन्होंने बौद्ध धर्म की शिक्षार्थ सिंहल में प्रवास किया था। सारिपुत्त के शिष्यत्व में वे वहाँ ११७० से ११८० ई० तक रहे। बाद में वे कुछ सिंहली भिक्षुओं सहित बरमा में आये और महाविहार की परम्परा के अनुसार पगान में 'सिंहल संघ' (सीहल

---

१. मललसेकर अवश्य इनमें कुछ घटाना और कुछ बढ़ाना चाहेंगे। उनके मतानुसार उपर्युक्त २, ३, ६, ७, ८ और ९ रचनाएँ एक अन्य 'वाचिस्सर' की हैं जिनका समय भी १२वीं शताब्दी है। 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन', पृष्ठ २०२; सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की रचनाओं में वे इन्हें और जोड़ना चाहेंगे, सम्बन्ध-चिन्ता-टीका, सुबोधालंकार-टीका, बुत्तोदय-विवरण और चूपवंस। वहीं, पृष्ठ २०४।

संघ) की स्थापना की। छपद पगान के राजा नरपति-सि-थु (११६७–१२०२) के समकालिक थे। उनकी ये रचनायें अधिक प्रसिद्ध हैं, (१) विनय-समुट्ठान-दीपनी (विनय-सम्बन्धी टीका-ग्रन्थ), (२) पातिमोक्ख-विसोधनी, (३) विनय-गूल्हत्थ-दीपनी—विनय-पिटक के कठिन शब्दों की व्याख्या, (४) सीमालंकार-संगह-टीका, जो वाचिस्सर-कृत सीमालंकार-संगह की टीका है। इस प्रकार चार रचनाएँ छपद की विनय-सम्बन्धी हैं। अभिधम्म साहित्य को भी इन्होंने पाँच टीका-ग्रन्थ प्रदान किये हैं, (१) मातिकत्थ-दीपनी, (२) पट्ठान-गणनानय, (३) नाम-चार-दीप या नामचार-दीपनी, (४) अभिधम्मत्थसंगह-संखेप-टीका (या संखेप-वण्णना) जो अनिरुद्ध-कृत अभिधम्मत्थ-संगह की टीका है। कुछ स्रोतों के अनुसार छपद ने इसे मौलिक रूप में लिखा और कुछ के अनुसार उन्होंने सिंहली लिपि से इसकी अनुलिपि मात्र की। (५) गन्धसार या गण्ठिसार, जिसमें तिपिटक के ग्रन्थों के सारभूत अंश संकलित हैं। छपद की व्याकरण-सम्बन्धी रचनाओं का उल्लेख हम अलग से करेंगे। धम्मकित्ति की रचना 'दाठावंस' है, जिसका विवेचन हम वंश-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। इसी प्रकार वाचिस्सर (उपर्युक्त सारिपुत्त के ही शिष्य) की रचना थूपवंस है, जिसका विवेचन भी हम वहीं करेंगे। बुद्धरक्खित की रचना 'जिनालंकार', जो काव्य-ग्रंथ है, इसी युग की है। इसका विवरण हम पालि-काव्य का विवेचन करते समय दसवें अध्याय में देंगे। सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य मेधंकर सिंहली गद्य ग्रन्थ 'विनयार्थ-समुच्चय' के लेखक हैं। उन्होंने पालि ग्रन्थ भी लिखे, परन्तु वे आज प्राप्त नहीं हैं। यह मेधंकर उदुम्बर-गिरि-विहार के निवासी थे। इन्हें 'जिन-चरित' और 'पयोग-सिद्धि' के लेखक वनरतन मेधंकर से पृथक् समझना चाहिये। सारिपुत्त और उनके शिष्यों का यह उपर्युक्त साहित्य पराक्रमबाहु प्रथम के शासन-काल में लिखा गया, अतः इसका समय बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग ही है। इसी समय 'वंसत्थप्पकासिनी'[1] नाम की 'महावंस' की टीका भी लिखी गई।[2] यह

---

१. वंसत्थप्पकासिनी का रोमन लिपि में सम्पादन डॉ० जी० पी० मललसेकर ने किया है, जिसे दो जिल्दों में पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन ने सन् १९३५-३६ में प्रकाशित किया है।

२. बारहवीं शताब्दी का समय गायगर ने पर्याप्त विवेचन के पश्चात् वंसत्थप्प-कासिनी के लिये निश्चित किया है। देखिये उनकी 'पालि लिटरेचर एण्ड

'महावंस-टीका' के नाम से ही सामान्यतः प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'महावंस-टीका' का बड़ा महत्त्व है। इसके लेखक का नाम भी 'महावंस' के लेखक के समान महानाम ही था। इन्हें हम महानाम द्वितीय कह सकते हैं। इन्होंने 'महावंस' के रचयिता महानाम को 'आचरिय' कह कर पुकारा है।

तेरहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

तेरहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के प्रसिद्ध नाम वेदेह स्थविर (वेदेह थेर), बुद्धप्पिय और धम्मकित्ति हैं। वेदेह स्थविर की दो प्रसिद्ध रचनाएँ 'समन्तकूट-वण्णना',[1] और 'रसवाहिनी' हैं।[2] बुद्धप्पिय की रचना 'पज्जमधु' है। यह एक काव्य-ग्रन्थ है। इसका विवेचन हम दसवें अध्याय में करेंगे। इस शताब्दी की सम्भवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना 'महावंस' का 'चूलवंस' के नाम से परिवर्द्धन है। 'महावंस' का इस प्रकार प्रथम परिवर्द्धन तेरहवीं शताब्दी में और दूसरा परिवर्द्धन १८वीं शताब्दी के मध्य भाग में किया गया। तेरहवीं शताब्दी में इस परिवर्द्धन को करने वाले 'धम्मकित्ति' नामक भिक्षु थे। सिंहल और बरमा में इस नाम के अनेक शताब्दियों में इतने अधिक भिक्षु हुए हैं कि यह धम्मकित्ति उनमें से कौन से थे, इसका सम्यक् रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता। सम्भवतः यह वही स्थविर धम्मकित्ति थे, जिन्होंने चूलवंस ८४।११–१२ के अनुसार तम्बरट्ठ (बरमा?) से लंका में जाकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था और जो पराक्रम बाहु द्वितीय के द्वारा सम्मानित किये गये थे। इस प्रकार इनका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग है। इसी समय 'अत्तनगलुविहारवंस' नामक वंश-ग्रंथ भी लिखा गया, जिसके लेखक का नाम अभी अज्ञात ही है। तेरहवीं शताब्दी के अंतिम या चौदहवीं शताब्दी के आदि भाग के पालि-साहित्य के इतिहास में सिद्धत्थ भिक्षु का नाम प्रसिद्ध है। सिद्धत्थ 'पज्जमधु' के रचयिता बुद्धप्पिय के शिष्य थे। इनकी रचना 'सारसंगह' या 'सारत्थसंगह' है जो गद्य-पद्य मिश्रित बुद्ध-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ

लेंग्वेज', पृष्ठ ४२। डॉ० मललसेकर ने इसका रचना-काल नवीं शताब्दी माना है। देखिये पालि टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित तथा उनके द्वारा सम्पादित वंसत्थप्पकासिनी की भूमिका।

१. २. इनके विवरण के लिए देखिये आगे दसवें अध्याय में पालि-काव्य का विवरण।

पालि साहित्य का इतिहास

लेखक

डॉ० भरतसिंह उपाध्याय

द्वितीय संस्करण

(संशोधित और परिवर्द्धित)

शक १८८५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

है। इसमें साठ परिच्छेद हैं। इसी नाम का एक सिंहली ग्रन्थ भी मिलता है। तेरहवीं शताब्दी के आदि भाग या बारहवीं के उत्तर भाग में ही सद्धम्मोपायन काव्य-ग्रन्थ लिखा गया, जिसके लेखक सिंहली भिक्षु अभयगिरि कवि चक्रवर्ती आनन्द माने जाते हैं। तेरहवीं शताब्दी में या बारहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में ही सिंहली स्थविर आनन्द वनरतन के एक शिष्य ने 'चतुभाणवारट्ठकथा' लिखी, जिसका ही दूसरा नाम 'सारत्थ-समुच्चय' है। यह चतुभाणवार की अट्ठकथा है। चतुभाणवार पाँच निकायों से २७ उद्धरणों का एक संग्रह है, जिसके संकलन-काल या संकलनकर्ता का कुछ पता नहीं है। चतुभाणवारट्ठकथा हेवावितरणे बिक्वैस्ट सीरीज़ (कोलम्बो) में सम्पादित है।

चौदहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

इस शताब्दी की महत्वपूर्ण रचनाएँ कुछ काव्य-ग्रंथ और वंश-ग्रन्थ हैं। इनका विशेष विवरण तो हम क्रमशः दसवें और नवें अध्यायों में देंगे, किन्तु यहाँ नामोल्लेख करना आवश्यक है। प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ हैं (१) सिंहल-प्रवासी बर्मी भिक्षु मेधंकर-कृत लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार, (२) पंचगतिदीपन, जिसके लेखक का पता नहीं, (३) तेलकटाहगाथा, जो तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी की रचना है जिसके भी लेखक का नाम अज्ञात है, यद्यपि परम्परागत रूप से वह कल्याणिय थेर के द्वारा उच्चरित मानी जाती है। वंश-ग्रन्थों में भिक्षु महामंगल-कृत 'बुद्धघोसुप्पत्ति', जिसमें बुद्धघोष की जीवनी का वर्णन किया गया है, इसी शताब्दी में लिखा गया और इसी प्रकार धम्मकित्ति महासामि का 'सद्धम्मसंगह' भी। छन्दः शास्त्र और काव्य शास्त्र पर लिखने वाले पगान के भिक्षु सद्धम्मञाण भी इसी शताब्दी में हुए। उनकी रचनाओं का उल्लेख हम आगे यथास्थान करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि उन्होंने सर्ववर्मा (चतुर्थ शताब्दी ईसवी) के कातंत्र (कलाप) व्याकरण का पालि में अनुवाद किया।

बरमी पालि-साहित्य—पन्द्रहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

जैसा पहले दिखाया जा चुका है, पन्द्रहवीं शताब्दी से बरमा पालि-साहित्य के अध्ययन और ग्रन्थ-रचना का प्रधान केन्द्र हो गया। जिस विषय की ओर बरमी बौद्ध भिक्षुओं की विशेष दृष्टि गई वह था अभिधम्म। वास्तव में यह उनके अध्ययन और ग्रन्थ-रचना का एक मात्र मुख्य विषय ही बन गया। फलतः एक लम्बी

परम्परा हम इस साहित्य संबंधी रचना की वहाँ देखते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के बरमी पालि-साहित्य के इतिहास के प्रसिद्ध नाम हैं अरियवंस, सद्धम्मसिरि (सद्धर्म श्री), सीलवंस और रट्ठसार। अरियवंस पगान के निवासी थे। परन्तु वे सेगेंग और आवा में भी काफी समय तक रहे। सेगेंग में इन्होंने प्रसिद्ध स्थविर ये–दिन् से शिक्षा पाई। इनकी रचनाएँ ये हैं (१) मणिसार- मञ्जूसा—सुमंगल-कृत अभिधम्मत्थविभावनी की टीका, (२) मणिदीप—बुद्धघोष-कृत अट्ठसालिनी की टीका, (३) जातक-विसोधन—जातक संबंधी रचना। 'गन्धाभरण' नामक ग्रन्थ भी अरियवंस ने बर्मी भाषा में लिखा। अभिधम्म पर 'अनुटीका' नामक एक व्याख्या भी उन्होंने लिखी। वे बर्मी-साहित्य के प्राथमिक लेखकों में हैं जिन्होंने दार्शनिक विषयों पर अपने देश की लोक-भाषा में साहित्य लिखा। सद्धम्मसिरि अरियवंस के ही समकालिक थे। इनकी एकमात्र प्रसिद्ध रचना 'नेत्तिभावनी' है, जो नेत्तिपकरण की टीका है। आवा के भिक्षु सीलवंस का काल अरियवंस और सद्धम्म सिरि से कुछ बाद का है, किन्तु है पन्द्रहवीं शताब्दी ही। इनकी प्रसिद्ध रचना 'बुद्धालंकार' है, जो निदान-कथा की सुमेध-कथा का काव्यमय रूपान्तर है। रट्ठसार ने भूरिदत्त जातक, हत्थिपाल जातक और संवर जातक के काव्यमय रूपान्तर किये हैं। पद्रहवीं शताब्दी की ही रचना 'काव्यविरतिगाथा' है। इसमें २७४ गाथाओं में काम-वासना को जीतने के उपायों का वर्णन है। इसके लेखक के नाम आदि का अभी पता नहीं चला है।

सोलहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

सोलहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास में सद्धम्मालंकार और महानाम या महानन्द इन दो भिक्षुओं के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। सद्धम्मालंकार हसवती या हंसावती (पेगू, बर्मा) के निवासी थे। उनकी रचना 'पट्ठान-दीपनी' या 'पट्ठानसारदीपनी' है, जो पट्ठानप्पकरण की टीका है। महानाम या महानन्द भी हंसावती के ही निवासी थे और उन्होंने 'मधुसारत्थदीपनी' लिखी, जो स्थविर आनन्द वनरतन तिस्स द्वारा लिखित 'अभिधम्ममूलटीका' या संक्षेपतः 'मूल-टीका' की अनुटीका है। इसी (सोलहवीं) शताब्दी में लाओस के सिरि मंगल (श्री मंगल) नामक स्थविर ने मंगल-सुत्त की टीका 'मंगल-दीपनी' या 'मंगलत्थदीपनी' लिखी। स्याम देश (थाई-देश) में आज भी इस टीका का बड़ा आदर है।

सत्रहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

तिपिटकालंकार, तिलोकगुरु, सारदस्सी और महाकस्सप, ये चार भिक्षु सत्रहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास के प्रकाश-स्तम्भ हैं। प्रोम के भिक्षु तिपिटकालंकार (त्रिपिटकालंकार) की ये तीन रचनाएँ हैं (१) वीसतिवण्णना —अट्ठसालिनी के आरंभ की २० गाथाओं की टीका, (२) यसवड्ढनवत्थु, (३) विनयालंकार-टीका—सारिपुत्त-कृत 'विनय-संगह' की टीका। तिलोकगुरु की चार रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें दो धातु-कथा की ही टीका और अनुटीका स्वरूप हैं, यथा (१) धातुकथा-टीका–वण्णना, (२) धातुकथा-अनुटीका–वण्णना। शेष दो रचनाएँ हैं (१) यमक-वण्णना, (२) पट्ठान-वण्णना। आवा के भिक्षु सारदस्सी थेर ने अभिधम्म-पिटक के कठिन शब्दों की व्याख्या स्वरूप अपनी 'गूल्ह-त्थदीपनी' लिखी और इसी प्रकार 'विसुद्धिमग्ग' पर 'विसुद्धिमग्गगण्ठिपदत्थ।' महाकस्सप या कस्सप की प्रसिद्ध रचना 'अभिधम्मत्थ गण्ठिपद' है, जो अभिधम्म के कठिन शब्दों की व्याख्या है। सत्रहवीं शताब्दी में अनेक पालि ग्रन्थों के बरमी भाषा में अनुवाद हुए, यह उसकी एक बड़ी विशेषता है।

अठारहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

अठारहवीं शताब्दी बरमा में 'पारुपण' और' एकंसिक' विवाद के कारण अति प्रसिद्ध है। इसका सम्बन्ध चीवर के पहनने के ढंग से है। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, इस शताब्दी के तीन बड़े प्रसिद्ध लेखक आणाभि-वंस (ज्ञानाभिवंश), आणवर और सारदस्सी हैं। ज्ञानाभिवंश बरमा के संघराज थे। इनकी तीन रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं (१) पेटकालंकार—नेत्ति-पकरण की टीका, (२) साधुविलासिनी—दीघ-निकाय की आंशिक व्याख्या, (३) राजाधिराज-विलासिनी—गद्य काव्य-ग्रन्थ।[1] इन्हीं ज्ञानाभिवंश संघराज ने 'चतुसामणेरवत्थु' और 'राजवादवत्थु' नामक भावमयी रचनाएँ भी लिखी हैं। आणवर ने अभिधानप्पदीपिका का बर्मी भाषा में अनुवाद किया। 'राजाधिराज-नामत्तप्पकासिनी' भी इन्होंने लिखी। इसमें बर्मी राजा महाराजाधिपति की प्रशंसा है। पगान के भिक्षु सारदस्सी ने 'धातुकथा-योजना' लिखी, जो धातुकथा की टीका

१· देखिये दसवें अध्याय में पालि काव्य-ग्रंथों का विवेचन।

है। गायगर ने इन्हें सत्रहवीं शताब्दी में रख दिया है।[1] वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के सारदस्सी थेर आवा के निवासी थे और इनसे भिन्न हैं।[2] अठारहवीं शताब्दी में ही बर्मा में 'मालालंकारवत्थु' नाम की बुद्ध-जीवनी भी लिखी गई (रचना-काल १७७३ ई०)। किन्तु उसके लेखक के नाम के विषय में हमारी कोई जानकारी नहीं है। थाई-देश (स्याम) में संगीति-वंस भी इसी शताब्दी में वहाँ के भदन्त वनरतन (सोमदेज फ वनरत) के द्वारा लिखा गया। इसमें नौ संगीतियों का उल्लेख है। सागू (बर्मा) के निवासी भिक्षु कण्टकखिप नागित भी इसी शताब्दी में हुए। इन्होंने 'सद्सारत्थजालिनी' लिखी। सिंहल में सरणंकर संघराज जैसे बहुभाषाविद् विद्वान् इसी शताब्दी में हुए। इन्होंने सिंहली और बर्मी भाषाओं में कई व्याख्या-ग्रन्थ लिखे। इन्होंने तत्कालीन सिंहली राजा कित्ति सिरि राजसीह के द्वारा स्याम के राजा धम्मिक के पास एक सन्देश भी भिजवाया, जिसके परिणामस्वरूप स्याम से कुछ भिक्षु लंका आये और वहाँ उपसम्पदा की पुनः स्थापना हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

नळाटधातुवंस, छकेसधातुवंस, सन्देसकथा और सीमा-विवाद-विनिच्छय उन्नीसवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं, जिनके लेखकों के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है। इस शताब्दी की दो बड़ी महत्वपूर्ण रचनाएँ 'गन्धवंस' और 'सासनवंस' हैं। चूँकि ये दोनों वंश-ग्रन्थ हैं, इनका विस्तृत विवरण हम नवें अध्याय में इस सम्बन्धी साहित्य का विवेचन करते समय देंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में लंका और बरमा में पालि-साहित्य सम्बन्धी अन्य अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये, जिनके नाम-परिगणन मात्र से कोई विशेष उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, प्रसिद्ध बरमी भिक्षु लेदि सयदाव की 'परमत्थदीपनी-टीका' नामक अभिधम्मत्थ-संगह की टीका और उनका यमक-सम्बन्धी पालि निबन्ध, जो उन्होंने श्रीमती रायस डेविड्स् की कुछ शंकाओं के निवारणार्थ लिखा था, अवश्य महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं और उन्नीसवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखती हैं।[3] इसी प्रकार लंका में समरसेकर, सिरि धम्मरतन, विक्रम सिंघे, वस्कडुवे सिरि सुभूति, विमलसार थेर,

---

१. पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ४७।

२. देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५६ तथा ६७।

३. देखिये पीछे पाँचवें अध्याय में 'यमक' का विवरण।

महागोड सिरि आणिस्सर, हिक्कडुवे सिरि सुमंगल और सिरि सिद्धत्थ धम्मानन्द आदि ने जो कार्य किया, वह भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इसी शताब्दी में बर्मा के यशस्वी लेखक यू यन् (जिनका पालि में नाम जेय्यसूर है) हुए। इन्होंने अनेक पालि ग्रन्थों के अलावा बर्मी भाषा में 'पिटकत्थमेन्' लिखा, जिसमें तत्कालीन मांडले के राजकीय संग्रहालय में प्राप्त पालि ग्रन्थों की विस्तृत विवरण-सूची है। सीमा-विवाद-विनिच्छय-कथा भी बरमा में सन् १८०१ में लिखी गयी। इसमें बर्मा और सिंहल के धार्मिक सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश है।

बीसवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

बीसवीं शताब्दी में भी पालि-भाषा में टीकाओं का लिखा जाना कुछ आश्चर्य-मय अवश्य लगता है, किन्तु वह एक तथ्य है। वह एक ऐसी परम्परा का सूचक है, जो अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। भारत में पालि-अध्ययन की जो दुरवस्था है, जिसमें अब सुधार हो रहा है, वह लंका, बरमा और स्याम जैसे देशों की परिस्थिति की भी, जहाँ बौद्ध धर्म आज एक जीवित धर्म के रूप में विद्यमान है, सूचक नहीं है। वहाँ पालि का अध्ययन आज भी उसी उत्साह के साथ किया जाता है, जैसा उन्नीसवीं या उसकी पूर्व की शताब्दियों में, या कुछ अवस्थाओं में तो उससे अधिक भी। श्री लंका में भिक्षु विदुरपोल पियतिस्स ने नेत्ति-पकरण और संयुत्त-निकाय पर अपनी टीकाएँ इसी शताब्दी में लिखी हैं। इसी प्रकार कई अन्य सिंहली भिक्षुओं ने महत्वपूर्ण व्याख्यापरक साहित्य पालि में लिखा है। बर्मा में अभिधज महा-रट्ठ गुरु भद्दन्त रेवत, न्योंग्यन सयदाव (१८७४-१९५५) ने, जो छट्ठ संगायन के संघनायक चुने गये थे, हमें सीलक्खन्ध-टीका और नमक्कार-टीका जैसे ग्रन्थ दिये हैं। इसी प्रकार थातोन् (बर्मा) के भिक्षु मिंगुन सयदाव (१८६८-१९५५) ने हमें मिलिन्द-अट्ठकथा (१९४९), पेटकोपदेस-अट्ठकथा, कठिन-विनिच्छय और निब्बाण-कथा जैसे ग्रन्थ दिये हैं। स्याम (थाई देश) आरम्भ से ही पालि तिपिटक, अट्ठकथाओं और टीकाओं के अनुशीलन और उन सम्बन्धी रचनाओं के प्रणयन और प्रकाशन में अग्रणी रहा है, जिसकी अवगति हमारे देश में बहुत कम है। बंकाक के वजिरआण पाण्डुलिपि पुस्तकालय में ऐसी अनेक पाण्डुलिपियों का भाण्डार है जो स्याम में रचित पालि साहित्य की महत्वपूर्ण व्याख्यात्मक रचनाएँ हैं और जिनकी परम्पराएँ वहाँ अब तक जारी हैं। संखेपत्थजोतनी (विसुद्धिमग्ग की टीका), संगीति-वंस (रचना-काल १७८९ ई०), पंचिका-नाम-अट्ठयोजना

(अभिधम्मत्थविभावनी की टीका), जिनकालमालिनी (ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर द्वारा सम्पादित, पा० टै० सो० १९६२; जी० कोड्स् द्वारा फ्रेंच भाषा में अनुवादित), छामदेवीवंस और समन्तपासादिक-अत्थ-योजना जैसी रचनाओं का सम्बन्ध स्याम की पालि परम्परा से है, जिनका प्रणयन मध्य-युग तथा गत शताब्दियों में हुआ है और जिनका साहित्य तथा राजनैतिक और धार्मिक इतिहास की दृष्टि से महत्व है।[1] पालि ग्रन्थों पर अनेक 'निस्सय' लाओस में लिखे गये हैं। इसी प्रकार कम्बोडिया में भी आज तक पालि में रचनाएँ होती रही हैं, जिनका पूरा विवरण हमें प्राप्त नहीं है। भारत में भी ज्ञान की ज्योति क्षीण भले ही हो गई हो, किन्तु बुझी नहीं है। आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी के रूप में हम फिर भी कुछ गौरव अनुभव कर सकते हैं। उन्होंने पालि साहित्य को, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, दो अमूल्य टीका-ग्रन्थ प्रदान किये हैं (१) विसुद्धिमग्गदीपिका, जो विसुद्धिमग्ग पर विद्यार्थियों के उपयोग के लिये लिखी गई उत्तम टीका है, और (२) अभिधम्मत्थसंगह की 'नवनीत-टीका'। अपने वर्षों के प्रयास के परिणाम-स्वरूप प्राप्त ज्ञान को यहाँ आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने अभिधम्म के जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त सुगम भाषा में प्रस्तुत किया है। भारतीय पालि अनुशीलन की दृष्टि से ये रचनाएँ ठीक हैं, परन्तु लंका, बर्मा और स्याम में इस दिशा में जो कार्य हुआ है, उसको देखते हुए इनका अधिक महत्व नहीं माना जा सकता। परन्तु यहाँ इनको ही पढ़ने वाले कितने हैं?

इस युग की अन्य रचनाएँ

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पालि-स्वाध्याय की जो परम्परा बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल ने पाँचवीं शताब्दी में छोड़ी, वह अविच्छिन्न रूप से बीसवीं शताब्दी तक चलती आ रही है। यद्यपि उसमें मौलिकता न हो, किन्तु वह एक सतत साधना की सूचक तो है ही। यहाँ हमने बारहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी

---

१. स्याम देश (थाई देश) में लिखित पालि साहित्य का परिचय प्रो० जी० कोड्स् ने 'बुलेटिन डि ल इकोल फ्रांसेज ड एक्स्ट्रीम-आरियण्ट' में १९१५, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ३९-४६ में 'पालि लिटरेचर ऑव स्याम' शीर्षक लेख में दिया है। इस सूचना के लिए मैं अपने मित्र श्री जीवञ्चन्द्र राय का आभारी हूँ।

तक के टीका-साहित्य का ही प्रधानतः दिग्दर्शन किया है। कहीं-कहीं काव्य-संबंधी ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है और इसी प्रकार वंश-सम्बन्धी ग्रन्थों की ओर भी संकेत मात्र कर दिया है। उनका विवरण हमें कालक्रम और विकास की दृष्टि से अलग देना इष्ट है। व्याकरण-सम्बन्धी प्रभूत साहित्य का निर्माण इन्हीं शताब्दियों में अर्थात् बारहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं या बीसवीं शताब्दी तक लंका और बरमा दोनों देशों में किया गया। उसका हमने बिलकुल उल्लेख इस प्रकरण में नहीं किया है। उसके विकास की परम्परा को हम अलग से (दसवें अध्याय में) लेंगे, क्योंकि वह काफी विस्तृत है और अलग विवेचन की ही अपेक्षा रखती है। पालि में इन्हीं शताब्दियों में ही धर्म-शास्त्र (धम्मसत्थ, बर्मी धम्मथत्) सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हुई। सर्वप्रथम बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में बर्मी भिक्षु धम्मविलास (सारिपुत्त) ने राजा नरपति-सि-थु के शासन-काल (११६७-१२०२ ई०) में 'धम्मविलास धम्मसत्थ' नामक विधिशास्त्रीय ग्रन्थ पालि में लिखा। तदनन्तर तेरहवीं शताब्दी में 'वगरु धम्मसत्थ' नामक विधि-ग्रन्थ तलैङ भाषा में बर्मी राजा वगरु के द्वारा लिखा गया, जिसका 'मनु-सार' नाम से सोलहवीं शताब्दी में एक बर्मी भिक्षु के द्वारा पालि भाषा में अनुवाद किया गया। सत्रहवीं शताब्दी में 'मनु-धम्मसत्थ' नाम से एक और संस्करण 'धम्मविलास धम्मसत्थ' का किया गया। इसे धम्मविलास द्वितीय नामक बर्मी भिक्षु ने किया। अठारहवी शताब्दी में अनेक 'धम्मसत्थ' ग्रन्थ बर्मा में लिखे गये, जिनमें 'मनु-वण्णना' अधिक प्रसिद्ध है। इसके लेखक वन्न क्यव-दिन् थे। इसके बर्मी और पालि दोनों ही संस्करण हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में राजबल क्यव-दिन् ने पालि गाथाओं में 'मोह-विच्छेदनी' लिखी, जो इस परम्परा का अन्तिम महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह रचना सन् १८३२ ई० में लिखी गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि बर्मी पालि साहित्य के इतिहास में धर्मशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य का लक्षणीय विकास बारहवीं शताब्दी से आज तक हुआ है और इसका आधार और मूल प्रेरणा-स्रोत रहा है मनु-स्मृति। इस प्रकार मनु-स्मृति का बर्मा के धर्मशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य के विकास में, जो पालि और बर्मी दोनों भाषाओं में ही लिखा गया, महत्वपूर्ण योग-दान रहा है। परन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि जैसे-जैसे हम इन बर्मी पालि विधि-शास्त्रीय ग्रन्थों का क्रमिक रूप से अनुशीलन करते हैं, तो हमें यह जानते देर नहीं लगती कि धीरे-धीरे बुद्ध की उदार शिक्षाएँ मनु की व्यवस्था का स्थान लेती गई हैं और यह प्रक्रिया 'मोह-विच्छेदनी' में अपनी पूर्ण निष्पत्ति को प्राप्त हुई है। यहाँ मनु का स्थान

पूर्णतः बुद्ध ने ले लिया है। बर्मा जैसे बुद्ध-शासन के प्रति गहरी निष्ठा और श्रद्धा वाले देश के साहित्य और समाज के लिए यह एक स्वाभाविक घटना ही है।[1] काव्य, व्याकरण, वंश और धर्मशास्त्र के अलावा छन्दः-शास्त्र, काव्य-शास्त्र, कोश आदि पर इन शताब्दियों में काफी साहित्य लिखा गया, जिसका इस प्रकरण में विवेचन नहीं किया गया है। उसका संक्षेपतः निदर्शन हम आगे के प्रकरणों में करेंगे।

---

१. बर्मा में लिखित पालि विधिशास्त्रीय ग्रन्थों के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३२, ३३, ८४-८९।

नवाँ अध्याय

वंस-साहित्य

'वंस' शब्द का अर्थ और इतिहास से भेद

'वंस' (सं० वंश)—साहित्य पालि साहित्य की एक मुख्य विशेषता है। यद्यपि 'वंश' नाम से कोई ग्रन्थ संस्कृत भाषा या अन्य किसी प्राचीन आर्य-भाषा के साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता, किन्तु वैदिक साहित्य के ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'वंश-ब्राह्मण' जैसा एक अंश है, जिसमें प्राचीन ब्राह्मण आचार्यों की परम्परा का वर्णन है और बृहदारण्यक उपनिषद् के कुछ अध्यायों में भी विशिष्ट आध्यात्मिक ज्ञान के ऋषियों की परम्पराएँ दी गई हैं। उदाहरणतः इस उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में मधु-विद्या की सम्प्रदाय-परम्परा का उल्लेख है और चतुर्थ अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में याज्ञवल्कीय काण्ड की विस्तृत वंश-परम्परा का। पुनः जिसे छान्दोग्य-उपनिषद् में 'इतिहास-पुराण' कहा गया है, उसकी तुलना विषय और शैली की दृष्टि से पालि 'वंस'-ग्रन्थों से की जा सकती है। 'इतिहास-पुराण' या ठीक कहें तो 'पुराण-इतिहास' ग्रन्थों के सर्वोत्तम उदाहरण संस्कृत भाषा में महाभारत और अष्टादश पुराण जैसे ग्रन्थ ही हैं। इनके विषयों में धर्म-वृत्त और कथाओं के साथ-साथ प्राचीन भारतीय इतिहास का भी संनिवेश है। इनका निश्चित आधार ऐतिहासिक होते हुए भी वर्णन-शैली प्रायः इतनी अतिरंजनामयी और नैतिक उद्देश्यों से (कहीं-कहीं साम्प्रदायिक मतवादों से भी, जैसा कि उत्तरकालीन पुराणों में) ओतप्रोत होती है कि उनमें से निश्चित इतिहास को निकालना बड़ा कठिन हो जाता है। पार्जिटर आदि विद्वानों को उनका वास्तविक ऐतिहासिक मूल्यांकन करने में कितना परिश्रम करना पड़ा, यह इसी से जाना जा सकता है। जो बात संस्कृत के पुराण इतिहासों के बारे में ठीक है, वही बात पालि के 'वंस' ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कुछ अन्तर, केवल मात्रा का, यह अवश्य है कि पालि 'वंस'-कारों ने भारतीय 'पुराण'-कारों की अपेक्षा कुछ अधिक ऐतिहा-

सिक बुद्धि का परिचय दिया है। संस्कृत में केवल 'राजतरंगिणी' को छोड़कर और कोई ग्रन्थ उनकी कोटि का नहीं है। निश्चय ही उनके वर्णनों में निश्चित इतिहास की सामग्री संस्कृत पुराण-इतिहासों से तो बहुत अधिक मात्रा में और अधिक स्पष्ट रूप से मिलती है। भारतीय परम्परा के अनुसार इतिहास-पुराण के पाँच लक्षण कहे गये हैं, सर्ग (सृष्टि-क्रम-वर्णन), प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद पुनः सृष्टि-क्रम का वर्णन), वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। इनमें वंश और वंशानुचरित हमारे प्रस्तुत विषय की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। राजाओं की विस्तृत वंशावलियाँ विष्णु, वायु, मत्स्य, भागवत आदि पुराणों में दी हुई हैं। पालि का वंश-साहित्य भी प्रधानतः राजाओं की वंशावलियों का ही वर्णन करता है, यद्यपि महाभारत और पुराणों की तरह उसमें भी इनके अलावा बहुत कुछ है। पालि-वंश-ग्रन्थों में बौद्ध धर्म के इतिहास का वर्णन है और इस प्रसंग में सद्धर्म के आचार्यों की परम्पराएँ भी उनमें हैं। पालि में बुद्धवंस और अपदान जैसे ग्रन्थ पहले से ही विद्यमान थे। इनमें से पहले में गौतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ बुद्धों की वंश-परम्परा है और दूसरे में स्थविर-स्थविरियों के जीवन-चरित। यह सब सामग्री पालि के वंश-साहित्य की प्रेरक स्रोत मानी जा सकती है। धर्म-वृत्त और कथाएँ दोनों के ही महत्वपूर्ण अंग हैं। इतने सामान्य कथन के बाद अब हम पालि के वंश-साहित्य की विशेषताओं में प्रवेश कर सकते हैं।

पालि 'वंस'-ग्रन्थ

पालि में 'वंस'-साहित्य की परम्परा बुद्धघोष-युग के पहले से ही चली आ रही थी और उसका अविच्छिन्न प्रवर्तन तो ठीक उन्नीसवीं या बीसवीं शताब्दी तक मिलता है। पालि के मुख्य वंस-ग्रन्थ ये हैं, (१) दीपवंस, (२) महावंस, (३) चूलवंस, (४) बुद्धघोसुप्पत्ति, (५) सद्धम्मसंगह, (६) महाबोधिवंस, (७) थूपवंस, (८) अत्तनगलुविहारवंस, (९) दाठावंस, (१०) छकेसधातुवंस, (११) नळाट-धातु वंस, (१२) सन्देस-कथा, (१३) गन्धवंस, (१४) सासनवंस, और (१५) संगीति- वंस। इनका अलग- अलग संक्षिप्त परिचयात्मक विवेचन आवश्यक होगा।

दीपवंस[1]

'दीपवंस' पालि वंश-साहित्य की सर्व-प्रथम रचना है। यह लंका-द्वीप का

---

१. रोमन लिपि में ओल्डनबर्ग द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित, विलियम्स एण्ड

इतिहास है। लंका-द्वीप की ऐतिहासिक परम्परा का आधार एवं आदि स्रोत यही ग्रन्थ है। 'दीपवंस' प्राग्बुद्धघोषकालीन रचना है। इसके लेखक का नाम अभी अज्ञात ही है। सम्भवतः यह किसी एक विशिष्ट लेखक की रचना है भी नहीं।[1] आरम्भिक काल से लेकर राजा महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक का लंका का इतिहास इस ग्रन्थ में वर्णित है। बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को अपनी अट्ठकथाओं में कई जगह (विशेषतः कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा में) उद्धृत किया है। बुद्धघोष का समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी है। अतः यह निश्चित है कि 'दीपवंस' का प्रणयन-काल ३५२ ई० (महासेन के शासन-काल की अन्तिम साल, जब तक का वर्णन 'दीपवंस' में मिलता है) और ४५० ई० के बीच ही होना चाहिये। चूलवंस (३८।५९) में उल्लेख है कि लंकानरेश धातुसेन (४६०-४७८ ई०) प्रति वर्ष महेन्द्र-उत्सव के अवसर पर 'दीपवंस' का सार्वजनिक पाठ करवाया करता था। इससे स्पष्ट है कि 'दीपवंस' पाँचवीं शताब्दी के मध्य भाग में एक सुप्रसिद्ध रचना की ख्याति प्राप्त कर चुका था। 'दीपवंस' की ऐतिहासिक परम्परा और विषय-वस्तु प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के ऐतिहासिक अंशों पर आधारित हैं। ये सिंहली अट्ठकथाएँ अत्यन्त प्राचीन काल में सिंहल में लिखी गई थीं। इनकी भाषा सिंहली गद्य थी, किन्तु बीच-बीच में कहीं कहीं पालि-गाथाएँ भी इनमें सम्मिलित थीं। इन्हीं अट्ठकथाओं पर बुद्धघोष की पालि-अट्ठकथाएँ आधारित हैं और इन्हीं पर 'दीपवंस' भी। 'महा-अट्ठकथा', 'महापच्चरी', 'कुरुन्दी', 'चुल्ल-पच्चरी', 'अन्धट्ठकथा' आदि जिन सिंहली अट्ठकथाओं से बुद्धघोष ने सामग्री ली, उन्हीं पर 'दीपवंस' भी आधारित है। विशेषतः जिसे 'महावंस-टीका' में 'सीहलट्ठकथा-महावंस' कहा गया है, उससे भी सम्भवतः 'दीपवंस' में अधिक सहायता ली गई है। अनेक स्रोतों से सहायता लेने के कारण और उनमें निर्दिष्ट परम्पराओं को उनके मौलिक रूप में ही रख देने की प्रवृत्ति के कारण, 'दीपवंस' में अनेक पुनरुक्तियाँ मिलती हैं। विभिन्न स्रोतों से सामग्री संकलित की गई है, किन्तु उस संकलन को व्यवस्थित एवं एकात्मतापरक रूप प्रदान नहीं किया गया है। एक ही घटना का वर्णन एक जगह संक्षिप्त रूप से कर दिया गया

नॉरगेट, लन्दन १८७९। हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का कोई मूल संस्करण या अनुवाद नहीं निकला। इस ग्रन्थ के बरमी और सिंहली संस्करण उपलब्ध हैं।

१. देखिये मललसेकर: दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १३२।

है, दूसरी जगह उसी घटना का वर्णन विस्तृत रूप से दे दिया गया है। यह विभिन्न स्रोतों से संकलित सामग्री को व्यवस्थित रूप न दे सकने के कारण ही है। अतः साहित्यिक कला की दृष्टि से यह ग्रन्थ उतना महत्वपूर्ण नहीं हो पाया है। भाषा और छन्द दोनों ही इस ग्रन्थ के निर्दोष नहीं हैं। जबकि ऐतिहासिक सामग्री इस ग्रन्थ ने उपर्युक्त सिंहली अट्ठकथा-साहित्य से ली है, भाषा और शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ तिपिटक पर भी आधारित कहा जा सकता है। बुद्धवंस, चरियापिटक, जातक, परिवार-पाठ आदि ग्रंथों की शैली की 'दीपवंस' की भाषा-शैली से पर्याप्त समानता है। फिर भी, जैसा अभी निर्दिष्ट किया जा चुका है, भाषा पर लेखक का अधिक अधिकार दिखाई नहीं पड़ता। साहित्यिक दृष्टि से 'दीपवंस' एक अव्यवस्थित, पुनरुक्तिमय, भाषा और शैली के दोषों से परिपूर्ण एवं नीरस पद्यात्मक (केवल दो जगहों पर गद्य-मिश्रित) रचना है।

किन्तु साहित्यिक दृष्टि से दोष मय होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से 'दीपवंस' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। फ्रैंक जैसे कुछ-एक विद्वानों ने उसकी साहित्यिक अपूर्णताओं के कारण या उनसे अधिक प्रभावित होकर ही उसे एक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ के गौरव से भी वंचित रखना चाहा है।[1] निश्चय ही यह सन्तुलन को खो देना है। 'दीपवंस' के ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक ग्रन्थ होने में संदेह की गुंजायश नहीं, यह डॉ० गायगर की इस सम्बन्धी खोजों ने अन्तिम रूप से निश्चित कर दिया है।[2] 'दीपवंस' में एक प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा मिलती है, जिसको सिंहल में सदा आदर और विश्वास की दृष्टि से देखा गया है। यह इसी से जाना जा सकता है कि पाँचवीं शताब्दी ईसवी में सिंहल के राजा धातुसेन ने इस ग्रन्थ का पाठ राष्ट्रीय गौरव के साथ एक वार्षिक उत्सव के अवसर पर करवाया था। सिंहली इतिहासों में निश्चय ही इस ग्रन्थ को पहला और अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त है। ग्रन्थ की विषय-वस्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, लंका के प्रारम्भिक इति-

---

१. यथा स्मिथ: इंडियन एंटिक्वेरी, ३२, १९०३, पृष्ठ ३६५; फ्रैंक: जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०८, पृष्ठ १।

२. देखिये विशेषतः उनका महावंस (अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ १२-२०; गायगर से पहले मैक्समुलर तथा डॉ० रायस डेविड्स ने भी सिंहली इतिहास ग्रंथों की प्रमाणवत्ता को प्रतिपादित किया था। देखिये क्रमशः सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द १० (१), पृष्ठ १३-२५ (भूमिका); बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २७४।

ह्रास से लेकर वहाँ के राजा महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक है। सर्वप्रथम बुद्ध के तीन बार लंका-गमन का वर्णन किया गया है। यहाँ बुद्ध की प्राचीन वंशावली का भी वर्णन किया गया है, और उनके वंश के आदि पुरुष का नाम महासम्मत बतलाया गया है। फिर प्रथम दो बौद्ध संगीतियों का वर्णन है। यहाँ विनय-पिटक—चुल्लवग्ग आदि के वर्णनों से कोई विशेष विभिन्नता नहीं है। वही मगधराज अजातशत्रु के तत्वावधान में, महाकाश्यप के सभापतित्व में, प्रथम संगीति का होना, एवं आनन्द और उपालि के द्वारा क्रमशः धम्म और विनय का संगायन किया जाना, यहाँ भी प्रथम संगीति के विवरण में दिया गया है। इसी प्रकार द्वितीय संगीति के प्रसंग में वज्जिपुत्तक भिक्षुओं का अलग होना, 'महासंघिकों' के रूप में विकसित हो जाना आदि वर्णित है। अशोक के काल तक, स्थविरवाद सम्प्रदाय को सम्मिलित कर, बुद्ध-धर्म १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था, यह भी 'दीपवंस' का वर्णन अन्य इस सम्बन्धी स्रोतों के साक्ष्य से अनुमत है, यह सब हम द्वितीय अध्याय में बौद्ध संगीतियों के विवरण में देख चुके हैं। प्रथम दो संगीतियों का वर्णन करने के बाद 'दीपवंस' तीसरी संगीति के वर्णन पर आता है। किन्तु यहाँ सम्बन्ध मिलाने के लिये वह पहले लंका-द्वीप के उस समय तक के इतिहास को अंकित करता है। लंकाद्वीप की स्थापना एक भारतीय उपनिवेश के रूप में लाळ[1] नरेश सिंहबाहु के विद्रोही पुत्र विजय ने की। वह अपने पिता के द्वारा अपने उच्छृङ्खल व्यवहार के कारण देश से बाहर निकाल दिया गया था। अपने कुछ साथियों को लेकर विजय लंका द्वीप आया। यात्रा के प्रसंग में भरुकच्छ, सुप्पारक आदि बन्दरगाहों का भी वर्णन कर दिया गया है, जो ग्रन्थकार की ऐतिहासिक बुद्धि का पर्याप्त साक्ष्य देता है। किन्तु साथ ही यह भी दिखाया गया है कि लंका में उस समय यक्ष, दानव और राक्षस रहते थे, जो 'पुराण-इतिहास'

---

१. प्राचीन लाट अर्थात् गुजरात-प्रदेश। गायगर ने लाळ को 'राढ़' मानते हुए इसे बंग-प्रदेश माना है, जो निश्चय ही ठीक नहीं है। देखिये महावंश, पृष्ठ ६ (परिचय) (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)। यद्यपि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'लाळ' का 'राढ़' भी रूप-परिवर्तन शक्य है, परन्तु भौगोलिक समीचीनता की दृष्टि से 'लाट' मानना ही ठीक है। विजय और उसके साथी पोत में बैठकर भरुकच्छ से सुप्पारक होते हुए सिंहल गये थे। अतः लाळ (लाट) गुजरात ही होना चाहिये, बंगाल मानने पर कोई संगति नहीं बैठती।

शैली का एक अच्छा नमूना कहा जा सकता है। विजय सिंहल का प्रथम अभिषिक्त राजा हुआ। उसके बाद अनेक राजा हुए। जिस समय भारत में अशोक राजा राज्य करता था, सिंहल में विजय का वंशधर देवानंपिय तिस्स नामक राजा था। अशोक ने तृतीय संगीति के बाद अपने पुत्र और पुत्री महेन्द्र और संघमित्रा को बुद्ध-धर्म का संदेश लेकर लंका में भेजा। वे अपने साथ बोधिवृक्ष की शाखा भी ले गये। देवानंपिय तिस्स ने उनका स्वागत किया और बुद्ध-धर्म को स्वीकार किया। इस प्रकार देवानंपिय तिस्स के शासन-काल में बौद्ध धर्म सर्वप्रथम लंका में प्रविष्ट हुआ। बोधिवृक्ष की शाखा, जिसे महेन्द्र और संघमित्रा अपने साथ ले गये थे, बड़े सम्मान के साथ अनुराधपुर में लगाई गई और वहीं 'महाविहार' नामक विहार की स्थापना की गई। देवानंपिय तिस्स के बाद लंका के ऊपर एक बड़ी विपत्ति आई। दक्षिण भारत से तमिलों (दमिळों) ने वहाँ जाकर उसकी राष्ट्रीय एकता को भंग करना आरम्भ कर दिया और बहुत सा भाग अपने अधिकार में कर लिया। तमिलों के द्वारा निरन्तर तंग किये जाने पर भी सिंहल के मैत्री-भावना-परायण बौद्ध राजाओं ने उनसे युद्ध करने की नहीं सोची। जो भाग तमिलों ने अपने अधिकार में कर लिया था, उस प्रदेश की सिंहली जनता उनके अत्याचारों से दुःखी थी। अन्त में उन्हें 'दुट्ठगामणि' के रूप में उपयुक्त नेता मिला। दुट्ठगामणि का वास्तविक नाम 'गामणि' था। वह तत्कालीन बौद्ध लंकाधिपति काकवण्ण तिस्स का पुत्र था। बड़ा उद्धत और वीर स्वभाव का था। सोलह वर्ष की अवस्था में ही उसने तमिलों से लड़ने के लिये अपने पिता से आज्ञा माँगी। अहिंसक बौद्ध पिता ने नर-हिंसामय युद्ध की अनुमति नहीं दी। गामणि उसी समय से विद्रोही हो गया। पिता के आदेश को न मानने के कारण उसके नाम के साथ इसी कारण 'दुष्ट' (दुट्ठ) शब्द भी लगने लगा। बाद में पिता के मरने के बाद वह शोषित सिंहली जनता का स्वाभाविक नेता हुआ। उसने एक सुसंगठित सेना तैयार कर दमिळों को परास्त किया और सिंहल को एक सूत्र में बाँधा। दुट्ठगामणि सिंहल का सबसे बड़ा शासक माना जाता है। उसने बौद्ध धर्म की भी बड़ी सेवा की। नौ मंजिलों का 'लौह प्रासाद' (लोह पासाद) नामक विहार उसने अनुराधपुर में बनवाया। इसकी प्रत्येक मंजिल में सौ कमरे थे। इसकी छतें ताँबे (लोह) की खपरैलों से पटी थीं, इसीलिये यह 'लोह पासाद' कहलाया। अनुराधपुर में ही 'महाथूप' (महास्तूप) तथा अन्य अनेक स्तूप और विहार भी उसने बनवाये। दमिळों (तमिलों) के नेता एलार को परास्त कर उसकी मृत्यु पर

दुट्ठगामणि ने राजकीय सम्मान के साथ उसका दाह-कर्म करवाया और उसके भस्मावशेषों पर एक स्तूप भी बनवाया गया जिसके समीप गीत आदि गाना निषिद्ध कर दिया गया। शत्रु के प्रति भी एक विशेष मैत्री-भावना उसमें थी। दुट्ठगामणि के बाद उसके वंशधरों में कई राजाओं के बाद प्रसिद्ध सिंहली राजा वट्टगामणि अभय हुआ। उसी के समय में पालि त्रिपिटक को लेखबद्ध किया गया। अतः उसका शासन-काल (प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व) पालि-साहित्य के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है। वट्टगामणि अभय के बाद अनेक राजाओं और उनकी वंशावलियों का वर्णन करता हुआ 'दीपवंस' लंकाधिपति महासेन (३२५-३५२ ई०) के शासन-काल तक आकर समाप्त हो जाता है।

'दीपवंस' के वर्णनों का वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्वांकन क्या है, लंका के निश्चित इतिहास के रूप में वह कहाँ तक मान्य है, भारतीय इतिहास की परम्पराओं से उसके वर्णनों का क्या और कहाँ तक सामञ्जस्य या विरोध है, पालि साहित्य और बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास में उसके क्या महत्वपूर्ण साक्ष्य हैं, इन सब समस्याओं का विवेचन हम यहाँ अलग से न कर 'दीपवंस' पर ही आश्रित और सम्भवतः उसकी व्याख्या-स्वरूप लिखित एक अन्य वंश-ग्रन्थ के साथ करेंगे, जिसका नाम 'महावंस' (महावंश) है।

महावंस[1]

'महावंस' भी 'दीपवंस' के समान ही लंका का एक सुव्यवस्थित इतिहास-ग्रन्थ है। उसकी न केवल विषय-वस्तु, किन्तु क्रम भी बिलकुल 'दीपवंस' के समान है। सम्भवतः 'दीपवंस' के आधार पर ही वह लिखा गया है। उसके स्रोत बिलकुल 'दीपवंस' के समान ही हैं। 'दीपवंस' और अन्य प्राचीन सिंहली अट्ठ-

---

१. डॉ० गायगर द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन, १९०८। उन्हीं के द्वारा, मेबिल बोड की सहायता से, अंग्रेजी में अनुवादित, पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन, १९१२। इस ग्रन्थ के अनेक सिंहली संस्करण हो चुके हैं। बम्बई विश्वविद्यालय ने इस ग्रन्थ का देवनागरी-संस्करण भी प्रकाशित किया है। हिन्दी में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वारा १९४२ में प्रकाशित।

कथाओं के अलावा 'सीहलट्ठकथा-महावंस' नामक अट्ठकथा का भी उसने अधिक आश्रय लिया है, यह हमें उसकी टीका से, जिसका नाम 'वंसत्थप्पकासिनी' या 'महावंस-टीका' (बारहवीं शताब्दी) है, विदित होता है। 'महावंस' की विषय-वस्तु 'दीपवंस' के समान होते हुए भी उससे अधिक विस्तृत है। एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि 'दीपवंस' की-सी अव्यवस्थित भाषा या नीरस शैली यहाँ बिलकुल नहीं मिलती। 'महावंस' सच्चे अर्थों में एक ऐतिहासिक काव्य है। उसे 'ऐतिहासिक महाकाव्य' भी कहा जा सकता है। उसकी भाषा और शैली में वही उदात्तता है, जिसे हम महाकाव्यों की शैली से सम्बन्धित करते हैं। देवानंपिय तिस्स (२४७ ई० पू० से २०७ ई० पू० तक) और दुट्ठगामणि (१०१ ई० पू० से ७७ ई० पू० तक) के विस्तृत, उदात्त वर्णन निश्चय ही महाकाव्योचित प्रभावशीलता से ओतप्रोत हैं। 'महावंस' अपने मौलिक रूप में ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर समाप्त हो जाता है। उसके बाद ही 'महावंसो निट्ठितो' ('महावंश समाप्त') इस प्रकार के शब्द लिखित थे। किन्तु बाद में इस ग्रन्थ का कई शताब्दियों तक परिवर्द्धन किया गया। ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा से आगे के परिवर्द्धित स्वरूप का नाम 'चूलवंस' है। इस परिवर्द्धित संस्करण के ३८वें परिच्छेद की उनसठवीं गाथा में यह प्रसिद्ध पाठ आता है 'दत्वा सहस्सं दीपेतुं दीपवंसं समादिसि'। इसका अर्थ यह है, 'उसने सोने की एक सहस्र मुद्राएँ देकर 'दीपवंस' पर एक दीपिका लिखवाने की आज्ञा दी।' जिस राजा के विषय में यह कहा गया है, वह धातुसेन है। इस धातुसेन का काल ईसा की पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम या छठी शताब्दी का आदि भाग है। जिस 'दीपिका' की ओर उपर्युक्त पाठ में संकेत किया गया है, उसे यहाँ 'महावंस' ही मान लिया गया है। यह मान्यता पहले फ्लीट नामक विद्वान् ने प्रचारित की।[१] गायगर[२] और उनके बाद विमलाचरण लाहा[३] महोदय ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। विंटरनित्ज़ अवश्य इसे मानने को प्रस्तुत नहीं।[४] यदि वास्तव में 'दीपवंस' पर लिखित उपर्युक्त 'दीपिका' से तात्पर्य 'महावंस' से ही हो, तो इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि

---

१. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०९, पृष्ठ ५, पद-संकेत १।
२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ३६।
३. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५२२ एवं ५३६।
४. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१२, पद संकेत ४।

'महावंस' की रचना का काल पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम या छठी शताब्दी का प्रारम्भिक भाग ही है। विंटरनित्ज़ ने उपर्युक्त 'दीपिका' को 'महावंस' न मान कर भी 'महावंस' का रचना-काल पाँचवी शताब्दी का अन्तिम भाग ही माना है। कुछ भी हो, 'महावंस' का 'दीपवंस' पर आश्रित होना एक निश्चित तथ्य है। अनेक पद्य दोनों में समान हैं। समान उपादानों का अवलम्बन कर के भी 'महावंस'-कार ने अपनी रचना को अपनी उच्चतर भाषा और शैली से एक विशेष गौरव दे दिया है, इसमें सन्देह नहीं। 'महावंस' के रचयिता का नाम महावंस-टीका के अनुसार महानाम था। स्थविर महानाम दीघसन्द (दीघसन्दक या दीघसन्दन भी) सेनापति द्वारा निर्मित विहार में रहते थे, यह भी वहाँ कहा गया है। दीघसन्द या दीघसन्दन देवानं पिय तिस्स के प्रधान सेनापति थे और इन्होंने 'चूल पासाद' नामक विहार स्थविर महेन्द्र के लिये बनवाया था। यही विहार बाद में 'दीघसन्द-सेनापति-परिवेण' या 'दीघसन्द-विहार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जहाँ महानाम ने निवास किया। महानाम सम्भवतः लंका-नरेश धातुसेन (४६०-४७८ ई०) के चाचा थे। इससे अधिक 'महावंस' के रचयिता और उनके जीवन-वृत्त के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है।

दीपवंस और महावंस की तुलना

'दीपवंस' और 'महावंस' का विषय एक समान है, यह पहले दिखाया जा चुका है। पाँचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईसवी तक के लङ्का के इतिहास का वर्णन दोनों का विषय है। किन्तु 'दीपवंस' की अपेक्षा 'महावंस' की विषय-वस्तु अधिक विस्तृत, अधिक व्यवस्थित और अधिक काव्यमय है। 'महावंस' के आदि में ही इस कवि-इतिहासलेखक ने कहा है "पुराने लोगों ने भी इस ('महावंश') का वर्णन किया है। उसमें कहीं अति विस्तार, कहीं अति संक्षेप और पुनरुक्ति की अधिकता है। उन सम्पूर्ण दोषों से मुक्त, समझने और स्मरण रखने में सरल, सुनने पर प्रसन्नता और वैराग्य को देने वाले, परम्परागत, प्रसादजनक स्थलों पर प्रसाद और वैराग्य-जनक स्थलों पर वैराग्य उत्पन्न करने वाले इस महावंश को सुनो।"[१] महावंस-टीका ने भी इसी बात का अनुमोदन करते हुए स्वीकार किया है "आचार्य (महानाम) ने पुरानी सिंहल अट्ठकथा में से अति

---

१. महावंस १। २-४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

विस्तार तथा पुनरुक्ति दोषों को छोड़ सरलता से समझ में आने योग्य 'महावंस' को लिखा।"[1] महावंस का लेखक निश्चय ही एक कवि-हृदय का व्यक्ति था। उसने जिस स्थल को स्पर्श किया है, प्रत्येक को रसात्मकता प्रदान की है। इस 'महावंस' या महान् पुरुषों (राजाओं और आचार्यों) के वंश-इतिहास[2] लिखने में उसका मन्तव्य उसके उदय-व्यय को दिखाकर पाठकों के हृदय में निर्वेद प्राप्त कराना भी था, यह उसने प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में स्पष्ट कर दिया है। 'महावंस' का प्रत्येक परिच्छेद इन शब्दों के साथ समाप्त होता है "सुजनों के प्रसाद और वैराग्य के लिये रचित 'महावंस' का... परिच्छेद समाप्त।" 'दीपवंस' के साथ 'महावंस' के वर्णित विषयों की तुलना करने के लिये यहां 'महावंस' की विषय-सूची का दिग्दर्शन मात्र करा देना आवश्यक होगा। ऊपर दीपवंस के विषय का जो संक्षिप्त वर्णन किया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में वह स्पष्ट भी हो जायगा। 'महावंस' के प्रथम परिच्छेद में बुद्ध के तीन बार लङ्का में आगमन का वर्णन है। विशेष विस्तार के अलावा 'दीपवंस' के वर्णन से इसकी कुछ भी भिन्नता नहीं है। दूसरे परिच्छेद में भगवान् बुद्ध के पूर्वतम कुल-पुरुष महासम्मत का वंश-वर्णन है। यह भी 'दीपवंस' के आधार पर और उसके समान ही है। तीसरे, चौथे और पाँचवें परिच्छेदों में, क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय धर्म-संगीतियों का वर्णन है। इन वर्णनों में कोई उल्लेखनीय विभिन्नता नहीं है। चूंकि इनका विस्तृत विवरण हम दूसरे अध्याय में दे चुके हैं, अतः फिर 'महावंस' के आधार पर उसी वर्णन को दुहराना उपयुक्त न होगा। अन्य स्रोतों से जो कुछ भी अन्य विभिन्नताएँ यहाँ हैं, वे वहीं (द्वितीय अध्याय में) निर्दिष्ट कर दी गई हैं। 'महावंस' के छठे परिच्छेद में विजय के लङ्का-आगमन का तथा सातवें में उसके राज्याभिषेक का वर्णन है, जो भी 'दीपवंस' के इस सम्बन्धी वर्णन का विस्तृत और क्रम-बद्ध वर्णन ही है। आठवें, नवें और दसवें परिच्छेदों में विजय के वंशानुक्रम का वर्णन है, जिनमें अनेक राजाओं के नाम और शासन-काल आते हैं। ग्यारहवें अध्याय में देवानं पिय तिस्स के अभिषेक का वर्णन आता है। इसी समय बुद्ध-धर्म का प्रवेश लङ्का में होता

---

१. "अयं हि आचरियो एत्थ पोराणकम्हि सीहलट्ठकथा महावंसे अतिवित्थारपुनरुत्तदोसभावं पहाय तं सुखग्गहणातिपयोजन सहितं कत्वा कथेसि। महावंस, पृष्ठ १ (परिचय) में उद्धृत।

२. "महन्तातं वंसो तन्ति पवेणि महावंसो", महावंस-टीका।

है। 'दीपवंस' की अपेक्षा 'महावंस' में विस्तार बहुत अधिक है और उसकी सूचना भी उसकी अपेक्षा अधिक है। 'महावंस' के वर्णनानुसार "देवानं पिय तिस्स और धम्मासोक (धर्माशोक-अशोक राजा) दोनों राजा एक दूसरे के न देखने पर भी चिरकाल से मित्र चले आ रहे थे।"[१] देवानं पिय तिस्स ने अपने राज्याभिषेक के समय अनेक नीलम, हीरे, लाल, मणि आदि की भेंट अशोक के पास भेजी। 'महावंस' के वर्णनानुसार "राजा (देवानंपिय तिस्स) ने अपने भानजे महारिष्ठ प्रधान मंत्री, पुरोहित, मन्त्री और गणक, इन चार व्यक्तियों को दूत बना, बहुमूल्य रत्नादि . . . . देकर सेना सहित वहाँ (पाटलिपुत्र) भेजा।"[२] इन दूतों के मार्ग का वर्णन भी महावंस में किया गया है "जम्बुकोल (लङ्का के उत्तर में सम्बलहुरि नामक स्थान) से नाव पर चढ़कर सात दिन में वे बन्दरगाह पहुँचे। वहाँ से फिर एक सप्ताह में पाटलिपुत्र पहुँचे। वहाँ जाकर राजा को भेंट समर्पित की, जिसे देख कर वह प्रसन्न हुआ।"[३] अशोक राजा ने अन्य प्रभूत भेंट-सामग्री के साथ सद्धर्म की यह भेंट भी भेजी, "मैंने बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ग्रहण की है और शाक्य-पुत्र के शासन में उपासक हुआ हूँ। हे नरोत्तम! आप भी आनन्दपूर्वक श्रद्धा के साथ इन उत्तम रत्नों की शरण ग्रहण करें।"[४] तृतीय धर्म-संगीति के बाद देश-विदेश में बुद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने जो कार्य किया, उसका वर्णन 'महावंस' के एक अलग परिच्छेद में ही किया गया है। बारहवें परिच्छेद का शीर्षक है 'नाना-देश-प्रचार'। इस नाना देश-प्रचार की योजना के अन्तर्गत ही आगे चल कर तेरहवें परिच्छेद में महेन्द्र के लंका-गमन का वर्णन है। 'नाना-देश-प्रचार' के वर्णन में हम पढ़ते हैं, "संगीति समाप्त कर के बुद्ध-धर्म के प्रकाशक स्थविर मौद्गलिपुत्र तिष्य (मोग्ग-लिपुत्त तिस्स) ने भविष्य को देखते हुए, प्रत्यन्त-देशों (पड़ोसी देशों) में (धर्म-)

---

१. महावंस ११।१९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)
२. महावंस ११।२०-२२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)
३. महावंस ११।२३-२४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)
४. महावंस११।३४-३५; मूल इस प्रकार है--

अहं बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो।
उपासकत्तं वेदेसिं सक्यपुत्तस्स सासने॥
त्वंपि मानि रतनानि उत्तमानि नरुत्तम।
चित्तं पसादयित्वान सद्धाय सरणं भज॥

शासन की स्थापना का विचार कर, कार्तिक मास में स्थविर मज्झन्तिक को कश्मीर और गन्धार को भेजा और महादेव स्थविर को महिष-मंडल भेजा। रक्षित नामक स्थविर को वनवास (मैसूर का उत्तरी भाग) की ओर भेजा और यवन (ग्रीक) धर्मरक्षित को अपरान्त (बम्बई से सूरत तक का प्रदेश) देश में भेजा। महाधर्म-रक्षित स्थविर को महाराष्ट्र में तथा महारक्षित स्थविर को यवन देशों में भेजा। हिमालय-प्रदेश में मज्झिम स्थविर को भेजा और स्वर्णभूमि (बरमा) में सोण और उत्तर नामक दो स्थविरों को भेजा। अपने शिष्य महा महेन्द्र स्थविर तथा इट्ठिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल—इन पाँच स्थविरों को कह कर लंका भेजा—"तुम मनोज्ञ लंका-द्वीप में, मनोज्ञ बुद्ध-धर्म की स्थापना करो।"[१] इन सब भिक्षुओं के अलग-अलग कार्य का वर्णन करने के बाद महेन्द्र के लंका-गमन का बर्णन बड़े उदात्त और काव्यमय ढंग से 'महावंस'-कार ने किया है। "अन्तिम शय्या पर सोये हुए लोक-हितैषी मुनि (बुद्ध) ने लंका के हित के लिये जिनके बारे में भविष्यवाणी की थी, वही लंका के लिए दूसरे बुद्ध, लंकावासी देवताओं द्वारा पूजित, महेन्द्र, लंका के हितार्थ वहाँ पधारे।"[२] चौदहवें अध्याय में उनके नगर-प्रवेश का वर्णन है। राजा देवानंपिय तिस्स को अपना परिचय देते हुए स्थविर महेन्द्र उन्हें कहते हैं, "महाराज! हम धर्मराज (बुद्ध) के अनुयायी भिक्षु हैं। आप पर ही अनुग्रह करने के लिये हम भारत (जम्बुद्वीप) से यहाँ (लंका में) आये हैं।"[३] पन्द्रहवें अध्याय से लेकर बीसवें अध्याय तक क्रमशः महाविहार-निर्माण, चैत्यपर्वत-विहार-प्रतिग्रहण, महाबोधि-ग्रहण, बोधि-आगमन, एवं स्थविर-परिनिर्वाण आदि के वर्णन हैं, जो उस काल तक लंका में बौद्ध धर्म की प्रगति के चरण-चिन्ह हैं। इक्कीसवें अध्याय में देवानंपिय तिस्स के बाद और दुट्ठगामणि से पहले आने वाले पाँच राजाओं का वर्णन है। बाईसवें परिच्छेद से लेकर बत्तीसवें परिच्छेद तक अर्थात् पूरे ग्यारह परिच्छेदों में दुट्ठगामणि का इतिहास वर्णित है, जब कि 'दीप-वंस' में इस वर्णन को केवल १३ गाथाएँ दी गई हैं। दुट्ठगामणि ने किस प्रकार सैनिक बल का संग्रह कर तमिलों का निष्कासन किया, यह हम पहले देख चुके हैं।

---

१. महावंस १२।१-८।

२. महावंस १३।२१।

३. महावंस १४।८; मूल पालि-पाठ इस प्रकार है—समणा मयं महाराज धम्म-राजस्स सावका। तवेव अनुकम्पाय जम्बुदीपा इधागता।

युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद उसने बौद्ध धर्म की सेवा भी की और 'लोह-प्रासाद' और 'महा-स्तूप' नामक अनेक विहार और स्तूप भी बनवाये। इस विजेता राजा के इस प्रकार बुद्ध-धर्म के उपासक रूप का वर्णन कर उसे एक राष्ट्रीय नेता और महापुरुष के रूप में 'महावंस' में चित्रित किया गया है और उसके आधार पर ग्यारह परिच्छेदों में एक महाकाव्य की ही सृष्टि कर दी गई है। बाईसवें अध्याय से ३२वें अध्याय तक की विषय-सूची उसके इन विभिन्न क्रिया-कलापों को अच्छी प्रकार दिखा सकती है। वह इस प्रकार है (२२) ग्रामणी कुमार का जन्म, (२३) योद्धाओं की प्राप्ति, (२४) दो भाइयों का युद्ध, (२५) दुष्ट ग्रामणी की विजय, (२६) मरिचवट्टि-विहार-पूजा, (२७) लोह-प्रासाद-पूजा, (२८) महास्तूप की साधन प्राप्ति, (२९) महास्तूप का आरम्भ (३०) धातुगर्भ की रचना, (३१) धातु-निधान और (३२) तुषितपुर-गमन। दुट्ठगामणि के जीवन का सबसे बड़ा काम उसकी विजयों के अलावा उसके द्वारा ९ मंजिलों वाले लोह-प्रासाद तथा मरिचवट्टि और महास्तूप आदि विहारों और स्तूपों का बनवाना था। लोह-प्रासाद के पूर्ण होने से पहले ही उसे मरणान्तक रोग उत्पन्न हुआ और उसे निश्चय हो गया कि उसका अन्तकाल समीप है। अपने छोटे भाई तिस्स को बुलवा कर स्तूप के बचे हुए काम को समाप्त करवाने का आदेश दिया, जिसे उसने पूरा किया। मृत्यु से पूर्व अशक्त होने पर भी इस श्रद्धालु राजा ने पालकी में बैठकर इस चैत्य की प्रदक्षिणा की और दक्षिण-द्वार पर आ कर बुद्ध-वन्दना की। "फिर भिक्षु-संघ से घिरे हुए राजा ने दाँईं करवट लेटे हुए उत्तम महास्तूप को और बाँईं करवट लेटे हुए उत्तम लोह-प्रासाद को देखकर चित्त प्रसन्न किया।"[१] मरण-शय्या पर पड़ा हुआ राजा अपने पूर्व के युद्ध के साथियों को सम्बोधित कर कहने लगा, "पहले मैंने तुम दस योद्धाओं को साथ ले कर युद्ध किया था, अब मृत्यु के साथ अकेले ही युद्ध आरम्भ कर दिया। इस मृत्यु रूपी शत्रु को मैं पराजित नहीं कर सका।"[२] शरीर छोड़ने से पहले दुट्ठगामणि ने अपने छोटे भाई तिस्स को आदेश दिया "हे तिस्स! अस-माप्त महास्तूप का शेष सब कृत्य आदरपूर्वक समाप्त करवाना। स्वयं प्रातःकाल उस पर पुष्प चढ़ाना। प्रतिदिन तीन बार उसकी पूजा करना। बुद्ध-शासन के सत्कार-सम्बन्धी जो कृत्य मैंने निश्चित किए हैं, उन सभी कृत्यों को हे तात! तुम

---

१. महावंस ३२।२-३।

२. महावंस ३२।१६-१७।

अविच्छिन्न रूप से चलाते रहना। संघ-सम्बन्धी कार्य में हे तात! कभी प्रमाद न करना।"[१] धर्म-श्रवण करने के बाद, रथ पर खड़े होकर तीन बार महास्तूप की प्रदक्षिणा कर, स्तूप और संघ को प्रणाम कर, दुट्ठगामणि तुषित-लोक को गया। इस प्रकार दुट्ठगामणि की जीवन-गाथा को यहाँ एक पूरे राष्ट्र के आदर्शों से व्याप्त महाकाव्यगत महत्ता और प्रभावशीलता दी गई है, यह उसकी उपर्युक्त शैली से ही स्पष्ट हो जाता है। दुट्ठगामणि के बाद उसके उत्तराधिकारी राजाओं की एक क्रमवद्ध लम्बी सूची क्रमशः 'दश राजा', 'एकादश राजा', 'द्वादश राजा', 'त्रयोदश राजा' इस प्रकार क्रमशः तेतीसवें, चौतीसवें, पैंतीसवें और छत्तीसवें परिच्छेदों में दी हुई है, जब कि 'दीपवंस' में इस सम्बन्धी संक्षिप्त वर्णन ही उपलब्ध है। सैंतीसवें परिच्छेद की पचासवीं गाथा तक (जहाँ तक ही मौलिक 'महावंस' की विषय-सीमा है) राजा महासेन के शासन-काल का वर्णन है। इस प्रकार 'दीपवंस' और 'महावंस' दोनों एक ही जगह से प्रारम्भ कर महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक आ कर लंका के इतिहास को समाप्त कर देते हैं। 'महावंस' से कम से कम डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की रचना होने के कारण 'दीपवंस' जब कि अपने स्रोतों अर्थात् सिंहली अट्ठकथाओं के अधिक समीप है, 'महावंस' ने उसे विस्तृत काव्यात्मक स्वरूप प्रदान कर उसकी भाषा और शैली में भी अधिक परिष्कार और व्यवस्थापन कर दिया है। दोनों के द्वारा वर्णित विषयों के विवरणों में अद्भुत समानता होते हुए भी कहीं कुछ वंशावलियों के कालानुक्रमों में अन्तर भी है, जिस पर हम अभी आयेंगे। 'महावंस' को चाहे 'दीपवंस' की अर्थकथा या टीका स्वीकार किया जाय या नहीं, उसकी शैली अपनी एक मौलिक विशेषता रखती है, यद्यपि उसकी विषय-वस्तु अन्ततोगत्वा 'दीपवंस' पर ही आधारित है।

क्या 'दीपवंस' और 'महावंस' इतिहास हैं?

'दीपवंस' और 'महावंस' दोनों ही इतने अतिरंजनामय और अलौकिक वर्णनों से भरे हुए ग्रन्थ हैं कि उन्हें शब्दशः तो इतिहास नहीं माना जा सकता। पालि तिपिटक से हम जानते हैं कि शास्ता मध्य-मंडल के बाहर शायद ही कहीं गये। हाँ, एक-दो अवसरों पर उत्तरकुरु द्वीप, कैलाश, मानसरोवर, चन्द्रभागा (चिनाब) नदी के तट और नर्मदा नदी को पार कर सूनापरान्त (सुनापरन्त) जनपद

---

१. महावंस ३२।५९-६२।

और उसके मंकुलकाराम तक जाने की बात तो अवश्य आती है, परन्तु लंका-गमन का वर्णन नहीं है। किन्तु 'महावंस' में तथा उससे पूर्व 'दीपवंस' में भी उनका तीन बार लंका-गमन दिखाया गया है, जो सुखकर होते हुए भी तिपिटक के प्रमाण पर आधारित नहीं है। विजय का उसी दिन लंका में पहुँचना जिस दिन भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, यह भी वास्तविक घटनाश्रित नहीं दीखता। नाना चमत्कारमय वर्णन जो 'दीपवंस' और 'महावंस' में भरे पड़े हैं, उनकी तो कोई इयत्ता ही नहीं। महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओं का आकाश से उड़ कर लंका में पहुँचना, लोह-प्रासाद और महास्तूप के निर्माण के समय अनेक प्रकार के चमत्कारों का होना, आदि बातें निश्चित घटनापरक ऐतिहासिक शैली को व्यक्त नहीं करतीं। यदि इन सब बातों को उचित अवकाश देकर 'दीपवंस' और 'महावंस' की मूल विषय-वस्तु का परीक्षण किया जाय तो वहाँ से हम निश्चय ही बहुत कुछ निश्चित इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। न केवल लंका के धार्मिक और राजनैतिक इतिहास में ही, बल्कि भारतीय इतिहास की अनेक समस्याओं के सुलझाने में भी, विशेषतः उसके कालक्रम की समस्या के सुलझाने में, इस प्रकार के अध्ययन से काफी सहायता मिल सकती है। चाहे 'दीपवंस' और 'महावंस' के अन्य विवरण कितने ही अधिक अतिरंजनामय हों, कालानुक्रम के सम्बन्ध में उनका प्रामाण्य और महत्व निर्विवाद है। उनकी इसी विशेषता की ओर लक्ष्य करते हुए प्रो० रॉयस डेविड्स ने कहा है कि सिंहल के इतिहास-ग्रन्थों की कालानुक्रमणिका इंगलैण्ड और फ्रांस के उन सर्वोत्तम ग्रन्थों की कालानुक्रमणिकाओं से भी, जो उन देशों में बहुत शताब्दियों बाद तक लिखे गये, किसी भी प्रकार कम महत्व वाली नहीं है।[1] यद्यपि विजय से लेकर देवानंपिय तिस्स तक की कालानुक्रमणिका के विषय में तो उतना निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु देवानंपिय तिस्स और हर हालत में दुट्ठगामणि से लेकर महासेन तक की कालानुक्रमणिका तो प्रामाणिक ही मानी जा सकती है। 'महावंस' में दी हुई इस पूरी कालानुक्रमणिका को हम यहाँ विस्तार-भय से उद्धृत नहीं कर सकते।[2] यहाँ केवल इतना ही कहना अपेक्षित है कि चूँकि बुद्ध-परिनिर्वाण से काल-

---

१. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २७४।

२. 'महावंस' के आधार पर विजय से लेकर महासेन तक के लंका के ६१ राजाओं की तथा बिम्बिसार से लेकर अशोक तक के १३ भारतीय राजाओं की कालानुक्रमणिकाओं के उद्धरण के लिए देखिये महावंश (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ७-९ (भूमिका)।

गणना कर यहाँ विभिन्न राजाओं के शासन-काल की गणना की गई है, अतः उससे न केवल बुद्ध के परिनिर्वाण अपितु अन्य अनेक भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं के तिथि-विनिश्चय में भी पर्याप्त सहायता मिली है। इस विषय का अधिक विवेचन करना तो यहाँ पूरे प्राचीन भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त विवाद-ग्रस्त समस्या में ही प्रवेश करना होगा, जो हमारे प्रस्तुत प्रयोजन को देखते हुए अप्रासंगिक होगा। काल-क्रम के अलावा भारतीय इतिहास के लिए इन लंका के इतिहास-ग्रन्थों का और भी प्रभूत महत्व है। भारतीय इतिहास की अनेक घटनाओं का वे अद्भुत रूप से समर्थन करते हैं। उदाहरणतः अशोक के पहले के राजाओं यथा नन्दों, चन्द्रगुप्त (चन्दगुत्त) और बिम्बिसार के वर्णन, बिम्बिसार और अजातशत्रु के पारस्परिक सम्बन्ध और बुद्ध के साथ उनका समकालिक होना, भगवान् बुद्ध का बिम्बिसार से आयु में पाँच वर्ष बड़ा होना, चन्द्रगुप्त और उसके ब्राह्मण मन्त्री चाणक्य (चणक्क) के विवरण, और सब से अधिक अशोक का बुद्ध-परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद अभिषिक्त होना, आदि तथ्य ऐसे हैं जो इन सिंहली इतिहास-ग्रन्थों ने भारतीय इतिहास के समर्थनस्वरूप दिये हैं। 'महावंस' में वर्णित तृतीय बौद्ध संगीति के सभापति मोग्गलिपुत्त तिस्स और उनके द्वारा देश-विदेश भेजे हुए मज्झिम (हिमवन्त-प्रदेश के धर्मोपदेशक) आदि धर्मोपदेशकों की बात सही है, इसे साँची स्तूप में प्राप्त धातु-डिब्बियों के ऊपर उत्कीर्ण लेखों से समर्थन प्राप्त होता है। वहाँ प्राप्त एक डिबिया पर लिखा हुआ है "सपुरिसस मज्झिमस" (सत्पुरुष मज्झिम का) और एक दूसरी पर लिखा है 'सपुरिसस मोगलिपतस' (सत्पुरुष मोग्गलिपुत्त का)। साँची-स्तूप की एक पाषाणवेष्टनी पर उरुवेला से लंका को बोधि-वृक्ष की टहनी ले जाये जाने का चित्र अंकित है। उससे भी 'महावंस' में वर्णित महेन्द्र द्वारा धर्म-प्रचार के कार्य को ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त होता है। इसी प्रकार पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजों तथा चीनी यात्रियों के वर्णनों से अशोक तथा देवानंपिय तिस्स का समकालिक होना भी प्रमाणित होता है। तीन बौद्ध संगीतियों का विवरण भी, जो महावंस' और 'दीपवंस' में दिया हुआ है, तत्वतः ऐतिहासिक आधार पर ही आश्रित है। अतः इन इतिहास-ग्रन्थों के वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से भी समाश्रयणीय हैं। विशेषतः उत्तरकालीन इतिहास के सम्बन्ध में तो इनका साक्ष्य अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक है ही। 'महावंस' का विशेष महत्व तो लंका के धार्मिक इतिहास के रूप में ही है। सर्वप्रथम तो उपालि से लेकर महेन्द्र तक के विनय-धरों की जो कालानुक्रम-पूर्वक परम्परा यहाँ दी हुई है, वह लंका और भारत दोनों देशों में बुद्ध-धर्म के

विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यह परम्परा इस प्रकार है, (१) उपालि, (२) दासक, (३) सोणक, (४) सिग्गव, (५) मोग्गलिपुत्त तिस्स तथा (६) महिन्द। सर्वास्तिवादियों के मतानुसार एक दूसरी परम्परा है,[1] जो उनके सम्प्रदाय के अनुसार प्रामाणिक मानी जाती है। चूँकि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने अपने-अपने सम्प्रदायों के अनुसार इन परम्पराओं का उल्लेख किया है, अतः उनमें कम या अधिक प्रामाणिक होने का सवाल ही नहीं उठता। वे सब अपनी-अपनी दृष्टि से प्रामाणिक हैं और आदिम स्रोत तो हर हालत में बुद्ध और उनके प्राथमिक शिष्य ही हैं। सिंहल के स्तूप, विहार और चैत्यों के तो बड़े ही विस्तृत विवरण 'महावंस' में उपलब्ध हैं। महाविहार, अभयगिरि विहार, (उत्तर विहार भी नाम) थूपाराम, महामेघ-वण्णाराम, लोहपासाद आदि विहारों के वर्णन लंका में बौद्ध धर्म के विकास पर बड़ा अच्छा प्रकाश डालते हैं और पुरातत्त्व के विद्यार्थी के लिए अध्ययन के अच्छे विषय हैं। इसी प्रकार धार्मिक उत्सवों के भी बड़े चित्रमय वर्णन उपलब्ध हैं। सब से बड़ी बात तो भारत और सिंहल के शताब्दियों तक के पारस्परिक आदान-प्रदान का इन ग्रन्थों में बड़ा सुन्दर चित्रण है। तत्कालीन भारतीय इतिहास और भूगोल मानो इन ग्रन्थों में पुनरुज्जीवित हो उठते हैं। राजगृह, कौशाम्बी, वैशाली, उज्जयिनी, पुष्पपुर, नालन्दा आदि भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों की स्मृति 'दीपवंस' और 'महावंस' में कितनी हरी-भरी है, यह उन्हें पढ़ते ही देखे बनता है। कपिलवस्तु, कुशीनारा, गिरिव्रज, जेतवन, मधुरा (मथुरा), उरुवेला, काशी, ऋषिपतन (इसिपतन), पाटलिपुत्र, वाराणसी आदि बुद्ध-स्मृति से अंकित भारतीय नगरों तथा इसी प्रकार अंग, मगध, चम्पा, मल्ल, वेणुवन, इन्द्रप्रस्थ, भरुकच्छ, सुप्पारक, तक्षशिला, सागल (स्यालकोट), अवन्ती, मद्र, प्रयाग (पयाग) आदि स्थानों तथा उतने ही अधिक लंका-द्वीप के सांस्कृतिक केन्द्रों और स्थानों से, जो इन ग्रन्थों में वर्णित हैं, तत्कालीन ऐतिहासिक भूगोल का ही निर्माण किया जा सकता है। पालि साहित्य के इतिहास में भी इन ग्रन्थों का साक्ष्य तिपिटक की प्राचीनता सम्बन्धी उस परम्परा का समर्थन करता है जिसके दर्शन हम पहले अशोक के अभिलेखों और 'मिलिन्द-पञ्ह' में करते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में ही तीनों पिटकों, पाँचों निकायों

---

१. जिसके उद्धरण के लिए देखिये राहुल सांकृत्यायन : अभिधर्मकोश, पृष्ठ ८ (भूमिका)।

और उनके विभिन्न ग्रन्थों के नाम ले लेकर, उनके वर्गों, पञ्जासकों, संयुत्तों और वर्गों के पूरे ब्योरे दे देकर उद्धृत किया गया है। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि पालि तिपिटक इनके प्रणयन-काल में उसी नाम और वर्गीकरण में विद्यमान था, जिसमें वह आज है।

चूलवंस[1]

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'महावंस' ३७वें परिच्छेद की ५० वीं गाथा पर समाप्त हो जाता है और वह लंका के इतिहास का महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक वर्णन करता है। उसके बाद का लंका का क्रमबद्ध इतिहास भी इसी ग्रन्थ के परिवर्द्धित अंश के रूप में बाद में उसके साथ ही जोड़ दिया गया। यह जुड़ा हुआ अंश अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अथवा यदि उसके आधुनिकतम रूप को भी उसके साथ संयुक्त मानें तो ठीक १९३५ ई० तक लंका के इतिहास का क्रम-बद्ध निरूपण करता है। 'महावंस' के ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा के बाद का यह परिवर्द्धित अंश 'चूलवंस' के नाम से प्रसिद्ध है। 'चूलवंस' सन् ३५२ ई० (महासेन के शासन-काल की अन्तिम साल) से लेकर ठीक आधुनिक काल तक (उसके आधुनिकतम विकसित रूप को सम्मिलित कर) लंका के इतिहास का वर्णन करता है। यह रचना पाँच भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न कालों में हुई है, जिसका क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है —

(१) सिंहल प्रवासी स्थविर धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नामक भिक्षु ने जिन्हें, तम्बरट्ठ का निवासी बतलाया गया है[2] और जो प्रसिद्ध सिंहली राजा पराक्रमबाहु द्वितीय (१२३६-१२६८ ई०) के समकालिक थे, तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में सर्वप्रथम महानाम द्वारा ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर छोड़े हुए 'महावंस का परिवर्द्धन किया। सैंतीसवें अध्याय में १९८ गाथाएँ जोड़कर उसे 'सात राजा' शीर्षक दिया और फिर ७९ परिच्छेद तक

---

१. रोमन लिपि में डा० गायगर द्वारा दो जिल्दों में सम्पादित एवं उन्हीं के द्वारा दो जिल्दों में अनुवादित, पालि टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित, १९३५। इस ग्रन्थ के सिंहली और बरमी सस्करण भी उपलब्ध हैं।

२. गायगर ने इन्हें बरमा का निवासी माना है। देखिये उनकी 'पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४४।

ग्रन्थ-रचना की। राजा महासेन और उसके पुत्र सिरिमेघवण्ण (श्री मेघवर्ण) से इन्होंने अपने विषय का आरम्भ किया और उसे पराक्रमबाहु द्वितीय के शासन-काल तक छोड़ा। इस बीच में उन्होंने ७८ राजाओं का कालानुक्रम-पूर्वक वर्णन किया, जो निश्चिततम इतिहास ही है। अकेले पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) का ही वर्णन इस भाग में १८ अध्यायों में किया गया है। पराक्रमबाहु ने दमिळों (तमिळों) को हराया था और बौद्ध धर्म की स्तूपों, विहारों आदि के निर्माण के द्वारा बड़ी सेवा की थी। महानाम ने जिस प्रकार दुट्ठगामणि के वर्णन से एक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की है, उसी प्रकार यहाँ पराक्रमबाहु प्रथम को एक महाकाव्योचित प्रभावशील वर्णन का विषय बनाया गया है।

(२) 'चूलवंस' का द्वितीय परिवर्द्धन बुद्धरक्षित नामक भिक्षु ने किया। इन्होंने ८० वें परिच्छेद से लेकर ९०वें परिच्छेद तक रचना की। पराक्रमबाहु द्वितीय से आरम्भ कर इन्होंने अपना विषय पराक्रमबाहु चतुर्थ पर (जो सन् १३२५ में राजगद्दी पर बैठा) छोड़ा। इस भाग में इन्होंने २३ राजाओं का वर्णन किया।

(३) 'चूलवंस' का तृतीय परिवर्द्धन तिब्बोतुवावे सुमंगल स्थविर ने किया। इन्होंने ९१ वें परिच्छेद से १०० परिच्छेद तक रचना की। भुवनेकबाहु तृतीय के काल से लेकर इन्होंने अपने विषय को कीर्ति श्री राजसिंह (कित्ति सिरिराजसीह) (१७४७-१७८० ई०) तक छोड़ा। इस बीच में उन्होंने २४ राजाओं का वर्णन किया। इसी अंश में हमें ईसाई धर्म-प्रचारकों के लंका में आने की सूचना भी मिलती है।

(४) 'चूलवंस' का चौथा परिवर्द्धन हिक्कडुवे सिरि सुमंगल तथा देवरक्षित ने किया। यह परिवर्द्धन केवल १०१वें परिच्छेद के रूप में लिखा गया। इसमें लंका के दो अन्तिम राजा सिरि राजाधिराज सीह (श्री राजाधिराज सिंह) और सिरि विक्कम राज सीह (श्री विक्रमराज सिंह) का वर्णन है, और लंका के अंग्रेजों के हाथ में चले जाने की भी सूचना है। यह अंश १७८५ और १८१५ ई० के बीच के लंका के इतिहास का वर्णन करता है।

(५) सन् १८१५ से १९३५ ई० तक का लंका का इतिहास सिंहली भिक्षु स्थविर युगिरल पञ्ञानन्द नायक पाद द्वारा लिखा गया है। यदि चाहें तो इसे भी 'चूलवंस' का ही परिवर्द्धित स्वरूप कह सकते हैं, और चाहें तो अलग स्वतंत्र

ग्रन्थ भी मान सकते हैं। प्रकाशित (सन् १९३६ ई०) तो यह स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में ही हुआ है। सिंहल की आधुनिक पालि-रचना की प्रगति पर इस ग्रन्थ से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

बुद्धघोसुप्पत्ति

बुद्धघोसुप्पत्ति (बुद्धघोषोत्पत्ति) बुद्धघोष की जीवनी के रूप में लिखी गई रचना है। इसके प्रणेता महामंगल नामक सिंहली भिक्षु थे। महावंस के प्रथम परवर्द्धित अंश (चूलवंस) में बुद्धघोष का जीवन-वृत्त दिया गया है। बुद्धघोसुप्पत्ति के वर्णन के साथ इसे मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धघोसुप्पत्ति का वर्णन चूलवंस के बाद रचित हुआ। चूँकि महावंस का प्रथम संवर्द्धन जिसमें बुद्धघोष की जीवनी है, तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में किया गया, अतः बुद्धघोसुप्पत्ति को उसके कुछ बाद अर्थात् चौदहवीं शताब्दी की रचना मान सकते हैं। इसी शताब्दी में पगान में मंगल नामक भिक्षु हुए, जिन्होंने 'गन्धट्ठि' नामक व्याकरण ग्रन्थ (उपसर्गो पर) लिखा।[२] गायगर ने इन मंगल नामक बर्मी भिक्षु के साथ बुद्धघोसुप्पत्ति के लेखक महामंगल को मिलाने का सन्देहपूर्ण सुझाव दिया है।[३] परन्तु यह बिलकुल भी संभव नहीं है। जैसा रोमन लिपि में बुद्धघोसुप्पत्ति के सम्पादक जेम्स ग्रे ने स्वीकार किया है, महामंगल एक सिंहली भिक्षु थे।[४] अतः उन्हें बर्मी मंगल से नहीं मिलाया जा सकता। तेरहवीं-चौदहवी शताब्दी में सिंहल में मंगल नाम के एक अन्य महास्थविर भी हो गये हैं, जो वेदेह थेर के गुरु थे।[५] इनसे अपने महामंगल को मिलाया जाय या नहीं, यह भी एक समस्या ही है। अस्तु, 'बुद्धघोसुप्पत्ति' में अलौकिक विधान इतना अधिक है कि उसका वास्तविक ऐतिहासिक महत्वांकन नहीं किया जा सकता। बुद्धघोष की बाल्यावस्था और प्रारंभिक शिक्षा तथा धर्म-परिवर्तन का वर्णन करते समय

---

१. जेम्स ग्रे द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, लन्दन, १८९२।

२. देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २६, डे ज़ॉयसा : केटेलाग, पृष्ठ २३, देखिये आगे दसवें अध्याय में व्याकरण-साहित्य का विवेचन।

३. पालि लिटरेचर एण्ड लॅंग्वेज, पृष्ठ ४६, ५७।

४. बुद्धघोसुप्पत्ति, पृष्ठ ३३ (रोमन संस्करण)।

५. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २२३।

ऐसा मालूम पड़ता है मानो 'मिलिन्दपञ्ह' के नागसेन और रोहण तथा 'महावंस' (परिच्छेद ५) के सिग्गव तथा मोग्गलिपुत्त तिस्स सम्बन्धी प्रकरणों के नमूनों को ही रूपान्तर कर के रख दिया गया है।[1] यद्यपि लेखक ने बुद्धघोष के जन्म, बाल्यावस्था, प्रारम्भिक शिक्षा, धर्म-परिवर्तन, ग्रन्थ-रचना आदि सभी का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किन्तु ऐतिहासिक बुद्ध का उसने अधिक परिचय नहीं दिया है। बुद्धदत्त-कृत 'विनय-विनिच्छय' के अनुसार बुद्धदत्त ने बुद्धघोष-कृत विनय और अभिधम्म पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाओं को ही क्रमशः अपने 'विनय विनिच्छय' और 'अभिधम्मावतार' के रूप में संक्षिप्त रूप दिया था। किन्तु 'बुद्धघोसुप्पत्ति' में बुद्धदत्त का प्रथम लंका-गमन दिखा कर बुद्धघोष को अपना अपूर्ण काम पूरा करने का उन्हें आदेश देते दिखाया गया है। निश्चय ही 'विनय-विनिच्छय' का ही प्रमाण यहाँ दृढ़तर माना जा सकता है। इस प्रकार की एक-दो ऐतिहासिक भूलें 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के रचयिता ने और भी की हैं।[2] वास्तव में बात यह है कि स्थविर महामंगल ने केवल अनुश्रुति के आधार पर चौदहवी शताब्दी में इस रचना को ग्रथित किया था, अतः साक्षात् जीवन से प्राप्त मौलिकता या सच्चाई उनकी रचना में नहीं आ सकती थी। 'महावंस' के ३७ वें परिच्छेद के परिवर्द्धित संस्करण में सिंहल-प्रवासी बरमी भिक्षु धम्मकित्ति (१३वीं शताब्दी) ने भी यद्यपि बुद्धघोष से शताब्दियों बाद अपने वर्णन को ग्रन्थित किया था, किन्तु उसकी प्रामाणिकता फिर भी 'बुद्धघोसुप्पत्ति' से अधिक है। 'महावंस' (या ठीक कहें तो चूलवंस) के इस प्रकरण की तुलना में बुद्धघोसुप्पत्ति का वर्णन कम ऐतिहासिक मूल्य का ही मानना पड़ेगा। 'महावंस' के उपर्युक्त विवरण का साक्ष्य स्वयं बुद्धघोष और बुद्धदत्त आदि की अट्ठकथाओं के कतिपय वर्णनों से मिल जाता है, जब कि बुद्धघोसुप्पत्ति के वर्णनों से उनका कहीं-कही विरोध भी है, जैसा एक उदाहरण में हम ऊपर देख चुके हैं। अतः ऐतिहासिक रूप से वह उतना विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। जो तथ्य उसके प्रामाणिक भी हैं, वे भी 'महावंस' के वर्णन पर ही आधारित हैं,

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४४-४७; देखिये उन्हीं का 'हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर', जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५५९; मिलाइये जेम्स ग्रे द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित 'बुद्धघोसुप्पत्ति' की भूमिका भी।

२. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४३-४४।

यह उनकी शैली से ही स्पष्ट हो जाता है। स्वयं लेखक ने भी स्वीकार किया है कि उसका वर्णन 'पूर्वाचार्यों' (पुब्बाचरिया) पर आधारित है। उत्तरकालीन वंश-ग्रन्थों यथा गंधवंस,[१] सासनवंस[२] तथा सद्धम्मसंगह[३] में भी बुद्धघोष की जीवनी के साथ-साथ इस ग्रन्थ (महावंस) का भी उल्लेख हुआ है (विशेषतः सासनवंस में)। ये सभी 'महावंस' के उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश पर इतने आधारित हैं कि इनमें कोई नई बात ही ढूंढ़ना व्यर्थ है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' का दूसरा नाम 'महाबुद्धघोसस्स निदान-वत्थु' (महाबुद्धघोषस्य निदानवस्तु) भी है।

सद्धम्मसंगह[४]

सद्धम्मसंगह' एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसमें बुद्ध-शासन के संग्रह के साथ-साथ प्रारम्भिक काल से लेकर १३वीं शताब्दी तक के भिक्षु-संघ के इतिहास का वर्णन है। दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर और खुद्दक-निकायों का निर्देश इस ग्रन्थ में हुआ है। अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है। तीन बौद्ध संगीतियों के वर्णन में कोई नई बात यहाँ नहीं कही गई है। चुल्लवग्ग (विनय-पिटक), बुद्धघोष की अट्ठकथाओं, दीपवंस और महावंस के आधार पर संकलित सामग्री का उपयोग कर के ही इन वर्णनों को ग्रथित कर लिया गया है। तृतीय संगीति के बाद के धर्म-प्रचार कार्य का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ में भी दिया गया है और दीपवंस, महावंस तथा समन्तपासादिका के समान उन भिक्षुओं के नामों का उल्लेख भी किया गया है, जिन्हें धर्म-प्रचार के लिए देश-विदेश में भेजा गया था। इस प्रकार 'सद्धम्मसंगह' के वर्णनानुसार थेर मज्झन्तिक कश्मीर और गन्धार को भेजे गए, महादेव थेर महिष-मंडल को भेजे गये, रक्खित थेर वनवासी-प्रदेश को, योनक (ग्रीक) धम्मरक्खित थेर अपरान्तक को, महाधम्मरक्खित थेर महारट्ठ (महाराष्ट्र) को, महारक्खित थेर योनक (यवनक-ग्रीस) प्रदेश को, मज्झिम

---

१. जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ६६।
२. पृष्ठ ३० (मेबिल बोड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९७)।
३. जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९० में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ५५।
४. सद्धानन्द द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९०, में सम्पादित। डा० विमलाचरण लाहा द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४१।

थेर हिमालय-प्रदेश को, सोणक और उत्तर सुवण्णभूमि (सुवर्णभूमि-बरमा) को, और महेन्द्र (महिन्द) तथा इत्थिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल भिक्षु लंका को भेजे गये। यह वर्णन महावंस के समान ही है। 'सद्धम्मसंगह' में कुल ११ अध्याय हैं। नवें अध्याय में अनेक ग्रन्थों और उनके रचयिताओं का वर्णन है। 'सद्धम्मसंगह' धम्मकित्ति महासामि (धर्मकीर्ति महास्वामी) नामक भिक्षु की रचना है, जिनका काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है। धम्मकित्ति महासामि धम्मकित्ति सघराज के शिष्य थे। धम्मकित्ति संघराज श्री लंका के निवासी थे, जब कि धम्मकित्ति महासामि शिक्षार्थ लंका में आये थे और यहीं उनकी उपसम्पदा हुई थी। बाद में अपने देश (सम्भवतः भारत) में वापस जाकर, उन्होंने योदय या योधपुर (अयोध्या?) नगर के लंकाराम में, जिसे परमराज ने बनवाया था, 'सद्धम्म संगह' की रचना की। बालावतार-व्याकरण को गन्धवंस में वाचिस्सर की रचना बताया गया है, किन्तु एक अन्य परम्परा के अनुसार (जिसे गायगर ने स्वीकार किया है) उसके भी रचयिता सद्धम्मसंगह के रचयिता धम्मकित्ति महासामि नामक स्थविर ही हैं।[1] मललसेकर के मतानुसार बालावतार के रचयिता धम्मकित्ति धम्मकित्ति महासामि न होकर सिंहली स्थविर धम्मकित्ति हैं, जिन्होंने सिंहली भाषा में 'सद्धर्मालंकार' (रस-वाहिनी का एक परिवर्द्धित अनुवाद) और 'निकाय-संग्रह' ग्रन्थ लिखे।[2] इनका भी समय चौदहवीं शताब्दी ही है। चूंकि 'निकाय-संग्रह' के रचयिता धम्मकित्ति महाथेर जयबाहु और देवरक्खित के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, अतः उनके साथ धम्मकित्ति महासामि को मिलाना हम बहुत उचित नहीं समझते। हमें सद्धम्मसंगह और बालावतार व्याकरण के अलग-अलग रचयिता मानना ही अभीष्ट है।

महाबोधिवंस[3]

'महाबोधिवंस' या 'बोधिवंस' अनुराधपुर में आरोपित बोधिवृक्ष की कथा है। इसका मूल सिंहली भाषा में था और उससे यह पालि में अनुवादित है। यह एक

---

१. देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ४५, ५१।

२. वि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २२६, २४०, २४३।

३. रोमन लिपि में एस० ए० स्ट्रांग द्वारा सम्पादित, पालि टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८९१।

गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। सारी गाथाएँ प्रायः महावंस से ली गयी हैं। वंसत्थ-प्पकासिनी या महावंस-टीका में एक प्राचीन ग्रन्थ 'महाबोधिवंस-कथा' या 'बोधि-वंसत्थकथा' का उल्लेख है। इसे प्रस्तुत महाबोधिवंस के समरूप माना जाय या उसका मूल सिंहली रूप, इसके सम्बन्ध में अभी विद्वानों में एक मत नहीं हो पाया है। महाबोधिवंस के लेखक ने बोधि-वृक्ष के इतिहास के रूप में बुद्ध-धर्म के प्रारंभिक इतिहास का यहाँ वर्णन किया है, जो निदान-कथा, दीपवंस, महावंस आदि प्राचीन स्रोतों पर आधारित है। बुद्ध दीपंकर से प्रारंभ कर, जैसा वंश-ग्रन्थकारों ने अक्सर किया है, तीन बौद्ध संगीतियों का विवरण, महेन्द्र का लंकागमन, महा-विहार, चेतियगिरि विहार आदि का निर्माण, इन सब बातों का विवरण इस ग्रन्थ में भी किया गया है। 'महाबोधि-वंस' के रचयिता सिंहली भिक्षु उपतिस्स (उपतिष्य) थे, जिनका समय डा० मललसेकर के मतानुसार लगभग दसवीं शताब्दी[१] और डा० गायगर के मतानुसार ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग है।[२] एस० ए० स्ट्राँग ने इन्हें बुद्धघोष के समकालिक माना है,[३] जिसका प्रतिवाद डा० गायगर ने किया है।[४] वर्णन-शैली को देखते हुए 'महाबोधिवंस' की समानता उत्तरकालीन वंश-ग्रन्थों से ही अधिक दिखाई पड़ती है, अतः उसे दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की रचना मानना ही ठीक लग·ता है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में श्री पराक्रमबाहु महास्थविर ने महाबोधिवंस का सिंहली भाषा में १२ अध्यायों में अनुवाद किया। अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु सरणंकर संघराज ने 'मधुरार्थ प्रकाशिनी' नामक एक व्याख्या सिंहली भाषा में 'महाबोधिवंस' पर लिखी।

थूपवंस[५]

'थूपवंस' सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की रचना है। इन

---

१. वि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १५६-१५७।

२. देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३७, परन्तु देखिये उनका दीपवंस एंड महावंस, पृष्ठ ७९ (कुमारस्वामी का अंग्रेजी अनुवाद); इनके साथ मिलाइये ऊपर का पद-संकेत।

३. देखिये उनके द्वारा सम्पादित 'महाबोधिवंस' की प्रस्तावना।

४. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज पृष्ठ ३७, पद-संकेत १।

५. इस ग्रन्थ का सम्पादन डा० लाहा ने किया है, जिसे पालि टैक्स्ट सोसायटी ने

वाधिस्सर के विषय में हम आठवें अध्याय में काफी कह आये हैं। 'गन्धवंस' में इस ग्रन्थ का तो उल्लेख है,[1] किन्तु इसके लेखक का कोई नाम वहाँ नहीं दिया हुआ है। यह ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है और इसमें कुल १६ अध्याय हैं। निदान-कथा, समन्तपासादिका, महावंस तथा महावंस-टीका आदि से यहाँ सामग्री संकलित की गई है। 'थूपवंस' की रचना बारहवीं शताब्दी के अन्तिम या तेरहवीं शताब्दी के आदिम भाग में हुई। तेरहवीं शताब्दी में ही इस ग्रन्थ का सिंहली रूपान्तर भी किया गया।[2]

जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'थूपवंस' (स्तूपवंश) भगवान् बुद्ध की धातुओं पर स्मारक रूप से निर्मित 'स्तूपों' का इतिहास है। विशेषतः उसमें लंकाधिपति दुट्ठगामणि (१०१–७७ ई० पू०) द्वारा अनुराधपुर में बनवाये गये महास्तूप का विस्तृत विवरण है। पूरे ग्रन्थ के १६ परिच्छेदों में से आठ का सम्बन्ध इसी से है। ग्रन्थ के अन्त में इसे 'थूपवरस्स वंसो' कहकर पुकारा गया है। इससे यह पता लगता है कि इसका मुख्य उद्देश्य महास्तूप का वर्णन करना ही है और अन्य स्तूपों या धातु-चैत्यों के विवरण इसी की पृष्ठभूमि स्वरूप दिये गये हैं। 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' में ही हमने देखा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके शरीर के अवशिष्ट चिन्हों पर आठ बड़े स्तूपों का निर्माण किया गया था। 'महावंस' के विवरण में भी हम देख चुके हैं कि किस प्रकार लंका के राजा दुट्ठगामणि ने 'महास्तूप' आदि कई विशाल स्तूपों का निर्माण किया था। बुद्धपरिनिर्वाण-काल से लेकर दुट्ठ-

---

सन् १९३५ में प्रकाशित किया है। सिंहली लिपि में यह ग्रन्थ धम्मरतन द्वारा सम्पादित है, कोलम्बो १८९६। डा० विमलाचरण लाहा ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है, जो बिबिलियोथेका इंडिका सीरीज (१९४५) में प्रकाशित हुआ है।

१. पृष्ठ ७०।

२. कहीं-कहीं इस सिंहली रूपान्तर की पालि 'थूपवंस' से अल्प विभिन्नता भी है उदाहरणतः सिंहली 'थूपवंस' में 'धम्मचक्क पवत्तन-सुत्त' के उपदेश का विवरण है, जब कि पालि थूपवंस' में केवल 'धम्मचक्कपवत्तन-सुत्तो' कह कर उसका निर्देश मात्र कर दिया गया है। मौलिक रूप से दोनों समान हैं। देखिये 'दि महाबोधि' मई-जून १९४६, पृष्ठ ५७-६० में डा० विमलाचरण लाहा का 'थूपवंस' शीर्षक लेख।

गामणि के समय तक निर्मित स्तूपों का क्रमबद्ध इतिहास वर्णन करना ही इस ग्रन्थ का विषय है। बुद्ध-भक्ति से प्रेरित होकर लंका के अनेक राजाओं ने विशाल विहारों और स्तूपों का निर्माण कराया था, अतः उसके इतिहास में उनका भी एक विशेष महत्व है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु स्तूपों का वर्णन करना ही केवल एक-मात्र विषय 'थूपवंस' का नहीं है। उसने इसे आधार मानकर बौद्ध धर्म के पूरे इतिहास का ही वर्णन दुट्ठगामणि के समय तक कर दिया है। इस ग्रन्थ के तीन मुख्य भाग है। पहले भाग में गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन किया गया है। बोधिसत्वों की चर्या का यह वर्णन प्रमिद्ध दीपंकर बुद्ध के समय से प्रारंम्भ किया गया है, जैसा कि प्रायः अन्य सब वंश-ग्रन्थों ने भी किया है। दूसरे भाग में भगवान् गौतम बुद्ध की जीवनी है। जन्म से लेकर महापरिनिर्वाण तक भगवान् बुद्ध की जीवनी यहाँ बड़ी प्रभावशाली शैली में वर्णित की गई है। तीसरे भाग में, जिसे ग्रन्थ के शीर्षक को देखते हुए उसका प्रधान अंश ही कहा जा सकता है, भगवान् बुद्ध की धातुओं पर निर्मित स्तूपों का और उनके उत्तरकालीन इतिहास का वर्णन किया गया है। जैसा अभी कहा जा चुका है, 'थूपवंस' में 'महावंस', 'समन्तपासादिका', 'निदान-कथा' आदि की अपेक्षा नवीन कुछ नहीं है। देवानं पिय तिस्स के काल से लेकर दुट्ठगामणि के काल तक का वर्णन तो प्रायः शब्दशः 'महावंस' पर ही आधारित है। लेखक ने स्तूपों के चारों ओर व्यवस्थित कर उसे एक नया रूप अवश्य दे दिया है। उसकी विषय-वस्तु का कुछ संक्षिप्त विवरण यहाँ अपेक्षित होगा।

ग्रन्थ के आरंभ में लेखक ने बताया है कि पूर्ववर्ती पालि वर्णनों को पूर्णता देने के लिए ही उसने इस ग्रन्थ की रचना की है। उसके बाद उसने बताया है कि चार प्रकार के व्यक्ति स्तूपार्ह हैं, यथा तथागत, प्रत्येक बुद्ध (व्यक्तिगत रूप से ज्ञानी, किन्तु लोकों के उपदेष्टा नहीं), तथागत के शिष्य और राज-चक्रवर्ती। जिस चैत्य में इनमें से किसी के शरीर के अवशिष्ट चिन्ह रक्खे जायें, वही 'स्तूप' (थूप) है। इसके बाद गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्धों का विस्तृत वर्णन है। उनके सम्बन्ध में जो स्तूप बनाये गये, उनका भी वर्णन है। यह सब इतना पौराणिक है कि इसका वर्णन करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। ग्रन्थ के दूसरे भाग में लेखक ने बुद्ध-जीवनी का वर्णन किया है और तीसरे या अन्तिम भाग में उनके शरीर-चिन्हों के ऊपर निर्मित स्तूपों का। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके शरीर का दाह-संस्कार जिस प्रकार किया गया, उसका यहाँ बिल्कुल उसी प्रकार वर्णन

है जैसा महापरिनिब्बाण-सुत्त में। अतः उसकी यहाँ पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं। महापरिनिब्बाण सुत्त के मूल आधार पर ही यहाँ बताया गया है कि भगवान् की धातुओं को बाँटने के लिए कुशीनारा के मल्लों, मगध के अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शाक्यों, अल्लकप्प के बुलियों, रामगाम के कोलियों, वेठदीपक के एक ब्राह्मण और पावा के मल्लों में आपस में झगड़ा होने ही वाला था कि द्रोण नामक ब्राह्मण के सामयिक शब्दों (शास्ता शान्तिवादी थे, उनकी धातुओं पर इस प्रकार का झगड़ा उचित नहीं) को मानकर उन्होंने उन्हें आठ भागों में विभक्त कर लिया, जिन पर आठ महास्तूपों का निर्माण राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्पकप्प, रामगाम, वेठदीप, पावा और कुसिनारा, इन आठ स्थानों में किया गया। रामगाम के स्तूप में निहित धातुएँ ही बाद में सिंहल ले जाई गईं। इनका इतिहास इस प्रकार है। स्थविर महाकाश्यप के आदेश पर मगधराज अजातशत्रु ने वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, वेठदीप, पावा और कुशीनारा से बुद्ध की धातुओं को इकट्ठा करवाकर उन्हें राजगृह की धातुओं के साथ ही राजगृह के दक्षिण-पूर्वी भाग में एक महास्तूप में स्थापित किया। धर्मराज अशोक के समय में इन्हीं धातुओं के विभक्त अंशों पर ८४ हजार चैत्यों का निर्माण हुआ। अशोक की राज्य-प्राप्ति, अभिषेक, धर्म-परिवर्तन आदि का भी उल्लेख यहाँ 'महावंस' के वर्णन के अनुसार ही किया गया है। श्रामणेर न्यग्रोध से उपदेश ग्रहण कर सम्राट् अशोक ने ८४००० नगरों में ८४००० धर्म-स्कन्धों की स्मृति में ८४००० विहारों का निर्माण करवाया। राजगृह में अजातशत्रु द्वारा पूर्व स्थापित धातुओं के विभक्त अंशों पर ही इन ८४००० विहारों का निर्माण हुआ था, यह हम अभी कह ही चुके हैं। तृतीय बौद्ध संगीति के बाद स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा देश-विदेश में नाना धर्मोपदेशों का भिजवाया जाना दिखाया गया है। भिक्षुओं के नामों की सूची तथा जिन-जिन प्रदेशों में वे भेजे गये थे, 'महावंस' से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। हम पहले देख ही चुके हैं कि 'सद्धम्मसंगह' और 'महाबोधिवंस' जैसे ग्रन्थों की भी यही स्थिति है। 'दीपवंस', 'महावंस', 'समन्तपासादिका' और 'महावंस-टीका' आदि में कही हुई बातों को ही यहाँ बार-बार दुहराया गया है। स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स के आदेशानुसार थेर मज्झन्तिक कश्मीर और गन्धार को, थेर महादेव महिसक मंडल को, थेर रक्खित वनवासी-प्रदेश को, थेर योनक (ग्रीक) धम्मरक्खित अपरान्तक को, महाधम्मरक्खित महाराष्ट्र को, थेर महारक्खित योनक लोक को, थेर मज्झिम हिमवन्त प्रदेश को, थेर सोण और उत्तर सुवर्णभूमि

को और थेर महिन्द (महेन्द्र), इत्तिय, उत्तिय और भद्दसाल तम्बपण्णिदीप (लंका-द्वीप) को भेजे गये। 'दीपवंस' और 'महावंस' के समान 'थूपवंस' में भी इस धर्म-प्रचार का श्रेय स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स को ही दिया गया है और इस प्रसंग में अशोक के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। इसके विपरीत अशोक ने अपने दूसरे और तेरहवें शिलालेखों में अपने द्वारा किये हुए धर्म-प्रचार कार्य का उल्लेख किया है और वहाँ स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स का कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवतः भिक्षु-संघ और धम्म-राजा दोनों की ओर से ही स्वतन्त्र रूप से धर्म प्रचार का कार्य आरम्भ किया गया था। इस समस्या का विवेचन हम 'महावंस' का वर्णन करते समय कर चुके हैं। किस प्रकार 'दीपवंस' 'महावंस' आदि के धर्म-प्रचार-कार्य का विवरण, जिसके आधार पर ही इन उत्तरकालीन-वंश-ग्रन्थों ने अपने वर्णन ग्रथित किये हैं, साँची और भरहुत के स्तूपों से समर्थित है, यह भी हम वहाँ दिखा चुके हैं। अशोक और उनके समकालीन लंकाधिपति देवानंपिय तिस्स के बीच पारस्परिक भेंटों के आदान-प्रदान का वर्णन करने के बाद 'थूपवंस' में महेन्द्रादि भिक्षुओं के धर्म-प्रचार कार्य का वर्णन किया गया है। देवानं पिय तिस्स के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद उसके भाई की पत्नी अनुलादेवी को प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा हुई। इस विधि को सम्पन्न कराने के लिये सम्राट् अशोक की प्रव्रजित पुत्री संघमित्रा भारत से बुलाई गई। वह बोधिवृक्ष की डाली लेकर वहाँ पहुँची। अनुलादेवी की प्रव्रज्या के बाद देवानं पिय तिस्स ने सम्पूर्ण लका द्वीप (तम्बपण्णि दीप) में एक-एक योजन के फासले पर स्तूपों का ताँता फैला दिया। इन स्तूपों में रखने के लिये तथागत के शरीर के अवशिष्ट चिन्हों को उसने श्रामणेर सुमन को भेजकर अपने मित्र देव-प्रिय राजा अशोक से मँगाया जिसे उसने बुद्ध द्वारा प्रयुक्त भिक्षा पात्र में रखकर अपने कल्याणमित्र के पास आदरपूर्वक भेजा। देवानं पिय तिस्स के बाद दमिळों (तमिलों) द्वारा लंका के सताये जाने का वर्णन है। यह वर्णन 'महावंस' के समान ही है। लंका के इतिहास-ग्रन्थों में इसकी निरन्तर पुनरावृत्ति इसकी सत्यता की सूचक है। राजा दुट्ठ-गामणि ने इन दमिळों (तमिलों) को परास्त कर लंका को एक अभिन्न राजनैतिक और सांस्कृतिक सूत्र में बाँध दिया। 'लंक-दीपं एकछत्तमकासि'। लंका-द्वीप में उसने एकछत्र राज्य की स्थापना की। जिस प्रकार 'महावंस' में दुट्ठगामणि को एक राष्ट्रीय नेता के रूप में चित्रित किया गया है, वही बात यहाँ भी पाई जाती है। दमिळों और उनके नेता एलार की दुट्ठगामणि के हाथ पराजय आदि

के ऐतिहासिक वर्णनों के लिए इस ग्रन्थ का 'महावंस' आदि की अपेक्षा भी अतिरिक्त महत्व है, इसमें सन्देह नहीं। राजा दुट्ठगामणि (१०१-७७ ई० पूर्व) ने ९९ विहार बनवाये, जिनमें मरिचवट्टि, लौह प्रासाद (लोह पासाद) और महास्तूप बड़े निर्माण-कार्य थे। किस प्रकार अनुराधपुर में निर्मित महास्तूप पर छत्र चढ़ने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई और अपने छोटे भाई को उसे पूरा करने का आदेश दे कर, भिक्षु-सघ को विहार को समर्पित कर तथा रोग-शय्या पर पड़े हुए ही स्तूप की तीन बार प्रदक्षिणा कर, बुद्ध, धर्म और सघ की वन्दना करते हुए, इस श्रद्धालु राजा ने तुषित-लोक में गमन किया, यह हम 'महावंस' के वर्णन में देख चुके है। उसी के समान यह यहाँ वर्णित हैं। महास्तूप का निर्माण दुट्ठगामणि ने बड़े प्रयास और रुचि से करवाया था। उसके अन्दर भगवान् बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी अनेक चित्र यथा धर्म-चक्र-प्रवर्तन महापरिनिर्वाण-प्राप्ति आदि दिखाये गये थे। महास्तूप में रखने के लिये बुद्ध-शरीर के अवशिष्ट चिन्ह वही थे जिन्हें रामगाम के कोलियों ने अपने यहाँ स्थापित किया था और जो बाद में लंका में लाये गये थे। दुट्ठगामणि द्वारा निर्मित स्तूपों, विशेषतः महास्तूप, के वर्णन के साथ ही 'थूपवस' का वर्णन समाप्त हो जाता है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि लंका के धार्मिक इतिहास में 'थूपवस' का बड़ा महत्व है। आज खडहरों के रूप में भग्न या आधुनिक शहरों के नीचे विलीन प्रभूत पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्री का वह परिचय देता है। लका की बुद्ध-भक्ति का भी वह परिचायक है। भारत और लंका के मधुर, धर्म-निःश्रित सम्बन्धों की भी वह याद दिलाता है। दमिळों (तमिल लोगों) द्वारा लंका पर किये गये आक्रमणों की याद दिला कर वह इस परिच्छेद को कुछ दुःखानुविद्ध भी करता है, भारतीय सस्कृति के अ-शोषक तत्व की कुछ कटु व्याख्या भी करता है। फिर भी मनुष्यों के लोभ ने जिसे नष्ट किया, क्षत-विक्षत किया, धम्म ने उसे पुनरुज्जीवित किया, यह आश्वासन भी हमें यहाँ मिलता है। लका के राजा और उनकी जनता आध्यात्मिक प्रेरणा के लिये सदा भारत की ओर देखते रहे। अनुलादेवी की प्रव्रज्या के लिये सघमित्रा बुलाई गईं। बोधि-वृक्ष की डाली रोपी गई। तब से दोनों देश आध्यात्मिक रूप से एक हो गये। भारत के देश-काल का, उसके गन्धार, कश्मीर और महिष-मंडल का, वनवासी, अपरान्तक, महाराष्ट्र और सुवर्ण भूमि का, उसके विदिशा, रामग्राम, पावा, राजगृह, वैशाली और कपिलवस्तु का, लंका के

इस ग्रन्थ में निरन्तर स्मरण यही दिखाता है कि बुद्ध की स्मृति के साथ इस देश की स्मृति को भी लंका-वासियों ने अपने इतिहास में कभी भूला नहीं है।

अत्तनगलुविहार-वंस

'अत्तनगलुविहार-वंस' का दूसरा नाम 'हत्थवनगल्लविहारवंस' भी है। सन् १८७० के जेम्स डि' एल्विस के संस्करण में वह प्रथम नाम ('अत्तनगलुवंस') से ही छपा है, परन्तु 'हत्थवनगल्ल विहार वंस' पाठ भी प्रचलित है, क्योंकि चूलवंस में विहार का नाम 'हत्थवनगल्ल' विहार ही दिया गया है। तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग की यह गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। इसमें ११ अध्याय है और इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी सरल, स्वाभाविक वर्णन-शैली है। ऐतिहासिक उपन्यास जैसा लगता है। प्रथम आठ परिच्छेदों में लकाधिपति सिरि-संघबोधि (श्रीसघबोधि) का वर्णन है। अन्तिम तीन परिच्छेदों में उन अनेक विहारों के निर्माण का वर्णन है, जो उपर्युक्त राजा के अन्तिम निवास-स्थान पर बनाये गये थे। 'अत्तनगल्ल' या 'अत्तनगलु' नामक स्थान पर निर्मित विहार इनमें अधिक प्रसिद्ध होने के कारण, इसी के आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'अत्तनगलु-विहारवस' या सक्षेप में 'अत्तनगलुवंस' पड़ा है। सिंहली भिक्षु अनोमदस्सी सघराज के अनुरोध पर, जिन्हें पराक्रमबाहु द्वितीय (१२२९-१२४६ ई०) ने, चूलवस ८६।३७ के अनुसार, यह विहार समर्पित किया था, यह रचना उनके एक शिष्य द्वारा लिखी गई थी।[1] इसके लेखक के नाम आदि का कुछ पता नहीं चलता।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, अत्तनगलुविहारवंस में राजा सिरिसंघबोधि के अन्तिम निवास-स्थान पर निर्मित विहार की कहानी है। इसे कुछ अधिक विवृत कर देना आवश्यक होगा। श्रीलंका में सिरिसंघबोधि (३०७-३०९ई०) एक बड़े उदार, सन्त और धार्मिक राजा हो गये हैं। उनकी साधुवृत्ति को देख उनके कोषाध्यक्ष गोठाभय (गोठकाभय) ने उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। वस्तुतः सिरि संघबोधि स्वयं ही गद्दी छोड़कर भिक्षु हो गये। गोठाभय ने उनके सिर पर इनाम की भी घोषणा कर दी। एक दिन वे अत्तनगलु (हत्थवनगल्ल) नामक स्थान पर ठहरे थे। यहाँ एक गरीब आदमी ने उन्हें भोजन दिया, जिससे

---

१. गायगर: पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ४४; मिलाइये मललसेकर: दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २१९।

कृतज्ञतावश उन्होंने उसे अपना सिर दे दिया ताकि राजा से वह उनके सिर पर रक्खा इनाम प्राप्त कर सके। इसी स्थान पर बाद में गोठाभय ने पश्चात्ताप से अभिभूत होकर अत्तदण्डगल्ल-विहार या हत्थदण्डगल्ल-विहार बनवाया, जिसकी करुण कहानी इस वंश-ग्रन्थ में दी गई है।

दाठावंस[1]

'दाठावंस' की रचना बारहवीं शताब्दी के अन्त या तेरहवीं शताब्दी के आदि भाग में सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य महास्थविर धर्मकीर्ति (धम्मकित्ति महाथेर) ने की। यह भिक्षु संस्कृत, मागधी भाषा (पालि), तर्कशास्त्र, व्याकरण, काव्य और आगम आदि में निष्णात थे। अपने समकालीन सिंहली राजा पराक्रमबाहु प्रथम (११९७-१२००) के राजगुरु थे। इनका छन्दों पर अगाध अधिकार था, यह 'दाठावंस' में प्रयुक्त जगती, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि नाना छन्दों से विदित होता है। 'दाठावंस' बुद्ध के दाँत-धातु की कथा है। इसका दूसरा नाम 'दन्तधातुवंस' भी है। चूलवंस ३७।९३ में 'दाठाधातुवंस' (दाठाधातुस्स वंसम्हि) का उल्लेख है। मललसेकर इस दाठाधातुवंस को दाठावंस से एक भिन्न और उसके समकालीन या किंचित् उत्तरकालीन रचना मानते हैं,[2] परन्तु डा० लाहा का मत है कि ये दोनों एक ही रचनाएँ हैं।[3] 'दाठावंस' की विषय-वस्तु बहुत कुछ 'थूपवंस' के समान ही है। उसके समान यहाँ यद्यपि गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्धों का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु अन्य वर्णन प्रायः समान ही हैं। 'थूपवंस' में कथा का अन्त दुट्ठगामणि (१०१-७७ ई० पूर्व) पर लाकर कर दिया गया है, जब कि 'दाठावंस' में वह लंकाधिपति कित्ति सिरि मेघ-

---

१. रोमन लिपि में डॉ० रायस डेविड्स द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८४ में सम्पादित। देवनागरी लिपि में डा० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित एवं अंग्रेजी में अनुवादित, पंजाब संस्कृत सीरीज १९२५। सिंहली लिपि में असभतिस्स द्वारा सम्पादित, केलानिया, १८८३। मुदु कुमारस्वामी ने भी इस ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। ट्रबनर, लन्दन, १८७४।

२. द्वि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ ६६, २०९।

३. औन् दि क्रोनिकल्स ऑव सिलोन, पृष्ठ २२ (रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९४७)।

वण्ण (कीर्ति श्री मेघवर्ण) तक चलती है, जिनका शासन-काल ३४४-३६२ ई० है। बुद्ध के दाँत के इतिहास के चारों ओर यहाँ बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास का वर्णन किया गया है, जैसे "थूपवंस" में स्तूपों की कथा के चारों ओर। कलिंग के राजा गुहसीव के जामाता दन्तकुमार द्वारा लंका में बुद्ध की बाँई डाढ़ का लाया जाना और वहाँ कीर्ति श्री मेघवर्ण (सिरि मेघवण्ण) द्वारा उसका आदर-पूर्वक ग्रहण करना तथा अनुराधपुर में लंका के राजा, भिक्षु-संघ और उपासक जनता के द्वारा उसकी पूजा किया जाना आदि तथ्यों का वर्णन इस ग्रन्थ की मुख्य विषय-वस्तु है। ऐसा माना जाता है कि 'दाठावंस' एक पूर्वकालीन सिंहली रचना 'दळदावंस' पर आधारित है। बाद में स्वयं दाठावंस पर आधारित एक सिंहली वंश-ग्रन्थ लिखा गया, जिसका नाम है 'दळदा पूजावली।'

छकेसधातुवंस[1]

'छकेसधातुवंस' १९वीं शताब्दी की रचना है। यह किसी बरमी भिक्षु की रचना है, जिसके नाम का पता नहीं। इसमें भगवान् बुद्ध के छह केशों के ऊपर बनवाये गये स्तूपों का वर्णन है। यह एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है और इसकी शैली सरल है। छकेसधातुवंस से पृथक् एक अन्य रचना भी थी, जिसका नाम था 'केसधातुवंस'। बुद्ध भगवान् का केश-धातु सिलाकाल (अम्ब सामणेर) नामक भिक्षु द्वारा भारत से लंका लाया गया था, मोग्गल्लान प्रथम (४९६-५१३ ई०) के शासन-काल में। केसधातुवंस में बुद्ध के इसी केश-धातु का इतिहास था। आज वह उपलब्ध नहीं है। केवल चूलवंस के उन्तालीसवें परिच्छेद में इसका उल्लेख मिलता है। इससे यह पता लगता है कि सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी ईसवी के मध्यभाग में यह रचना लङ्का में विद्यमान थी। चूलवंश (३९।४९-५६) के उल्लेख से ही पता चलता है कि बुद्ध के केश-धातु के ऊपर लंका में एक स्तूप बनवाया गया था और सिलाकाल को उसका प्रथम रक्षक नियुक्त किया गया था।

नळाटधातुवंस

नळाटधातुवंस (ललाटधातुवंश) पाँच अध्यायों में बुद्ध के ललाट की हड्डी का इतिहास है। इसके युग और लेखक का ठीक पता नहीं है। परन्तु गायगर ने

---

१. जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८५, में मिनयेफ द्वारा सम्पादित।

इसे एक आधुनिक युग की या उन्नीसवीं शताब्दी की रचना माना है।[1] परन्तु यदि यह ग्रन्थ सचमुच सिंहली भाषा में लिखित 'धातुवंस' का मूल रूप है (जैसा कि गायगर भी मानते हैं) तो यह इतना उत्तरकालीन नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि सिंहली धातुवंस के लेखक स्थविर ककुसन्ध थे, जिनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी माना जाता है।[2] अतः नळाटधातुवंस इससे कुछ पूर्वकालीन रचना होना ही चाहिए।

सन्देश-कथा

सन्देश-कथा एक पत्र के रूप में है, जिसे कुछ सिंहली व्यक्तियों ने बर्मी राजा मिण्डन् (१८५२-७२ ई०) को लिखा। सन् १८५८ में लिखा गया यह पत्र सद्धर्म-सम्बन्धी एक सन्देश के रूप में है। पत्र-लेखकों ने, (जिनकी निश्चित संख्या दस है), पहले इस बात पर प्रकाश डाला है कि किस प्रकार ईसाई धर्म-प्रचारकों ने नाना उपायों से लंका द्वीप में ईसाई धर्म का प्रचार किया है और बौद्ध धर्म की कितनी दुरवस्था हो गई है। बाद में उन्होंने यह इच्छा प्रकट की है कि बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान के लिये वे कोलम्बो (कोलम्बक) के समीप वस्सकडव (वर्तमान वस्कडुव) नामक कस्बे में एक संघाराम बनवाना चाहते हैं, जिसमें एक चैत्य, धर्मशाला, प्रतिमाघर, उपोसथागार भी होंगे। इस काम के लिये बर्मी राजा की सहायता माँगी गई है। ऐसा माना जाता है कि मिण्डन् ने इसका उत्तर दिया था, परन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है। इस सन्देश-कथा का एक विशेष महत्व यह है कि इससे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तर भाग में लंका में बौद्धधर्म की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। लंका और बरमा के सम्बन्धों की दृष्टि से भी इसका महत्व है। सन्देश-कथा नाम से कई रचनाएँ लंका और बरमा में मिलती हैं। एक अन्य 'सन्देश-कथा' सन् १८०० ई० में लिखी गई थी। इसका सम्पादन मिनयेफ ने जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी, १८८५, पृष्ठ १७-२८ में किया था। इससे भी सिंहल और बरमा के धार्मिक सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। उन्नीसवीं शताब्दी में लंका में लिखित 'राम-सन्देस' भी एक प्रकार का सन्देशकाव्य ही है। विद्वानों का अनुमान है कि लंका और बरमा में ही नहीं, कम्बोडिया और थाई देश में भी अन्य अनेक सन्देश-कथाएँ

---

१. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४८।

२. दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २५५।

गद्य और पद्य पाण्डुलिपियों के रूप में खोजी जा सकती हैं और उनसे इन देशों के धार्मिक सम्बन्धों पर काफी नया प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।[1]

गन्धवंस[2]

'गन्ध-वंस' (ग्रन्थ-वंश) उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में लिखा गया। इसकी उत्तरकालीन रचना होते हुए भी इसी कोटि के अन्य वंश-ग्रन्थों के समान इसका अल्प महत्व नहीं है। पालि-साहित्य के इतिहास-लेखक के लिए तो यह एक बड़ा सहायक ग्रन्थ है। जैसा इसके नाम से विदित है, यह पालि-ग्रन्थों का इतिहास है। पालि ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों का विवरण देना ही इसका मुख्य लक्ष्य है। यहाँ पुस्तकों और उनके रचयिताओं की सूची, रचना-स्थान और रचना के उद्देश्य दिये गये हैं। पहले तिपिटक का विश्लेषण किया गया है। फिर ग्रन्थकारों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है, जो कालानुक्रम-परक भी हैं, (१) पोराणाचरिय, (२) अट्ठकथाचरिय और (३) गन्धकाचरिय। पोराणाचरिय (पुराणाचार्य) धर्म-संगीतिकार प्राचीन भिक्षु थे जिन्होंने बुद्ध-वचनों का संगायन और संकलन किया। अट्ठकथाचरिय (अर्थकथाचार्य) वे भिक्षु थे जिन्होंने अत्यन्त प्राचीन काल में पालि तिपिटक पर अट्ठकथाएँ लिखीं। उसके बाद गन्धकाचरियों (ग्रन्थकाचार्यों) का समय आता है, जिनमें पहले कुरुन्दी और महापच्चरी आदि सिंहली अट्ठकथाओं के लेखक और बाद में बुद्धदत्त, बुद्धघोष, धम्मपाल आदि आते हैं। जिन ग्रंथों के लेखकों का पता नहीं है, उनकी भी सूची 'गन्धवंस' कार ने दी है। लेखकों में कौन से भारतवासी थे, या कौन से लंकावासी थे, या कौन से बर्मी, किसने रचना अपनी प्रेरणा से की, या किसने दूसरों के अनुरोध से की, इस प्रकार का भी विवरण देकर रचनाओं के रचना-स्थान और रचनोद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है। गन्धवंस के प्रणेता अरण्यवासी भिक्षु नन्दपञ्ञ थे। इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में ग्रन्थ का नाम 'चुल्ल गन्धवंस' दिया गया है। इससे यह अनुमान सही लगता है

---

१. देखिये द लाइट ऑव द धम्म (यूनियन ऑव बरमा बुद्ध-शासन काउंसिल द्वारा प्रकाशित), जिल्द दूसरी, संख्या २ (अप्रैल १९५४) में प्रो० देवप्रसाद गुह का 'सन्देस-कथा' शीर्षक लेख।

२. मिनयेफ द्वारा रोमन लिपि में जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसाइटी, १८८६, में सम्पादित।

कि वर्तमान रूप में प्राप्त गन्धवंस एक पूर्वकालीन बृहत् ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण है। 'गन्धवंस' में निर्दिष्ट ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है--

ग्रन्थकार	रचित ग्रन्थ
१. महाकच्चायन	— (१) कच्चायनगन्धो, (२) महानिरुत्तिगन्धो (३) चुल्लनिरुत्ति गन्धो (४) नेत्तिगन्धो, (५) पेटकोपदेसगन्धो, (६) वण्णनीतिगन्धो।
२. बुद्धघोस (बुद्धघोष)	— (१) विसुद्धिमग्गो, (२) सुमंगलविलासिनी, (३) पपंचसूदनी (४) सारत्थप्पकासिनी (५) मनोरथपूरणी, (६) समन्तपासादिका, (७) परमत्थकथा (८) कंखावितरणी (९) धम्मपदट्ठकथा (१०) जातकट्ठकथा (११) खुद्दकपाठट्ठकथा (१२) अपदानट्ठकथा।
३. बुद्धदत्त	— (१) विनयविनिच्छयो (२) उत्तरविनिच्छयो, (३) अभिधम्मावतारो (४) मधुरत्थविलासिनी।
४. आनन्द	— मूलटीकं
५. धम्मपाल	—(१) नेत्तिपकरणट्ठकथा (२) इतिवुत्तक-अट्ठकथा (३) उदानट्ठकथा (४) चरियापिटक-अट्ठकथा (५) थेरगाथा-अट्ठकथा, (६) विमानवत्थुस्स विमलविलासिनी नाम अट्ठकथा (७) पेतवत्थुस्स विमलविलासिनी नाम अट्ठकथा (८) परमत्थमंजूसा (९) दीघनिकायट्ठकथादीनं चतुन्नं अट्ठकथानं लीनत्थप्पकासिनी नाम टीका (१०) जातकट्ठकथाय लीनत्थप्पकासिनी नाम टीका, (११) परमत्थदीपनी (१२) लीनत्थवण्णना।
६. महावजिरबुद्धि (महाव ज्रबुद्धि)	-- विनय-गण्ठि (विनय-गण्ठि या विनय-गन्धि भी)
७. विमलबुद्धि	— मुखमत्तदीपनी।
८. चुल्लवजिरो	— अत्थब्यत्थानं।

९. दीपंकरो	— (१) रूपसिद्धिपकरणं (२) रूपसिद्धिटीकं-सुम्म-पञ्चसुत्तं।
१० चुल्लधम्मपालो	— सच्चसंखेपं।
११. कस्सपो	-- (१) मोहविच्छेदनी (२) विमतिच्छेदनी, (३) बुद्धवंस, (४) अनागतवंस।
१२. महानाम	-- (१) सद्धम्मप्पकासिनी (२) महावंस (३) चुल्ल-वंस।
१३. उपसेन	-- सद्धम्मट्ठितिकं[1]।
१४. मोग्गल्लान	— मोग्गल्लान व्याकरणं।
१५. संघरक्खित	— सुबोधालंकार।
१६. वुत्तोदयकार	— (१) वुत्तोदय, (२) संबंध-चिन्ता (३) नवटीकं।
१७. धम्मसिरि (धर्मश्री)	— खुद्द-सिक्खं।
१८. अनुरुद्ध	— खुद्द-सिक्खं।
१९. अनुरुद्ध	— (१) परमत्थविनिच्छयं (२) नाम-रूप-परिच्छेदं (३) अभिधम्मत्थसंगहप्पकरणं।
२०. खेम	— खेमं।
२१. सारिपुत्त—	(१) सारत्थदीपनी (२) विनयसंगहपकरणं, (३) सारत्थमंजूसं (४) पञ्चकं।
२२. बुद्धनाग—	विनयत्थमञ्जूसं।
२३. नव मोग्गल्लान—	अभिधानप्पदीपिकं।
२४. वाचिस्सरो—	(१) संबंधचिंताटीका (२) मोग्गल्लान व्याकरणस्स टीका (३) नामरूपपरिच्छेदटीका (४) पदरूप-विभावनं (५) खेमप्पकरणस्स टीका (६) मूलसिक्खाय टीका (७) वुत्तोदयविवरणं (८) सुमंगलपसादनी (९) बालावतारो (१०) योगविनिच्छयो (११) सीमालंकार (१२) रूपारूपविभाग (१३) पञ्चयसंगहो।

---

१. सासनवंस में इसे 'सद्धम्मप्पज्जोतिका' कह कर पुकारा गया है। सिंहल में यह प्रायः इसी नाम से प्रसिद्ध है।

२५. सुमंगल— (१) अभिधम्मत्थविकासनी (२) अभिधम्मत्थ-विभावनी।
२६. धम्मकित्ति— दन्तधातुपकरणं।
२७. मेधंकरो— जिनचरितं।
२८. सद्धम्मसिरि— सद्दत्थभेदचिन्ता।
२९. देवो— सुमणकूटवण्णना।
३०. चुल्लबुद्धघोसो—(१) जातत्तगीनिदानं (२) सोतत्तगीनिदानं।
३१. रट्ठपाल— मधुरसवाहिनी।
३२. अग्गवंस— सद्दनीतिपकरणं।
३३. विमलबुद्धि— महाटीकं।
३४. उत्तम— (१) बालावतारटीकं (२) लिंगत्थविवरणटीकं)।
३५. क्यच्चारञ्ञो— (१) सद्दबिन्दु (२) परमत्थबिन्दुपकरणं।
(राजा क्यच्वा—बरमी)
३६. सद्धम्मगुरु— सद्दवुत्तिपकासकं।
३७. अग्गपंडित— लोकुप्पत्ति।
३८. सद्धम्मजोतिपाल—(१)सीमालंकारस्स टीका (२) मातिकत्थदीपनी (३) विनयसमुट्ठान दीपनी (४) गन्धसारो (५) पट्ठानगणनानयो (६) संखेपवण्णना (७) सुत्त-निद्देसो (८) पातिमोक्खविसोधनी।
३९. नवविमलबुद्धि—अभिधम्मपण्णरसट्ठानं।
४०. वेपुल्लबुद्धि— (१) सद्दसारत्थजालिनिया टीका (२) वुत्तोदयटीका, (३) परमत्थमंजूसा (४) दसगण्ठिवण्णना (५) मगधभूताविदग्गं, (६) विदधिमुखमंडनटीका
४१. अरियवंस— (१) मणिसारमंजूसं, (२) मणिदीपं, (३) गण्ठाभरणं (४) महानिस्सरं, (५) जातक-विसोधनं।
४२. चीवरो— जंघदासस्स टीकं।
४३. नवमेधंकरो— लोकदीपकसारं।
४४. सारिपुत्तो— सद्दवुत्तिपकासकस्स टीकं।
४५. सद्धम्मगुरु— सद्धवुत्तिपकासकं।
४६. धम्मसेनापति— (१) कारिकं, (२) एतिमासमिदीपकं (३) मनोहारं।

४७. ञाणसागरो— लिंगत्थविवरणपकासनं।
(ज्ञानसागर)

४८. अभय— सद्दत्थभेदचिन्ताय महाटीकं।

४९. गुणसागरो— मुखमत्तसारं तट्टीकं।

५०. सुभूतचन्दन-- लिंगत्थविवरणपकरणं।

५१. उदुम्बरनामाचरियो--पेटकोपदेसस्स टीकं।

५२. उपतिस्साचरिय--अनागतवंसस्स अट्ठकथा।

५३. बुद्धप्पिय— सारत्थसंगहनाम गन्थो।

५४. धम्मानन्दाचरिय—(१) कच्चायनसारो (२) कच्चायनभेदं (३) कच्चायनसारस्स टीका।

५५. गन्धाचरियो— कुरुन्दिगन्ध।

५६. नागिताचरिय-- सद्दसारत्थजालिनी।

उपर्युक्त ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों के अलावा नीचे लिखे ग्रन्थ भी निर्दिष्ट हैं, जिनके ग्रन्थकारों के नाम आदि के विषय में कुछ नहीं कहा गया।

(१) महापच्चरियं (२) धुराणटीका (३) मूलसिक्खाटीका (४) लीनत्थपकासिनी (५) निसन्देहो (६) धम्मानुसारिणी (७) ञेय्यसन्दति (८) ञेय्यसन्दतिया टीका (९) सुमहावतारो (१०) लोकपञ्ञत्तिपकरणं (११) तथागतुप्पत्तिप्पकरणं (१२) नलातधातुवण्णना (१३) सीहलवत्थु (१४) धम्मदीपको (१५) पटिपत्ति–संगहो (१६) विसुद्धिमग्गगन्धि (१७) अभिधम्मगन्धि (१८) नेत्तिपकरणगन्धि (१९) विसुद्धिमग्गचुल्लनवटीका (२०) सोतप्पमालिनी (२१) पसाद जननी (२२) सुबोधालंकारस्स नवटीका (२३) गूळ्हत्थटीकं (२४) बालप्पबोधनं (२५) सद्दत्थभेदचिन्ताय मज्झिमटीकं (२६) कारिकाय टीकं (२७) एतिमासमिदीपिकाय टीकं (२८) दीपवंस (२९) थूपवंस, तथा (३०) बोधिवंस। उपर्युक्त ग्रन्थों और ग्रन्थकारों में से अधिकांश का विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है और कुछ का आगे किया जायगा। निश्चय ही 'गन्धवंस' की सूचीबद्ध सामग्री पालि-साहित्य के इतिहासकार के लिए बड़ी सहायक है।

सासनवंस[1]

'सासनवंस' (शासन-वंश) भी 'गन्धवंस' के समान महत्वपूर्ण रचना है। उसका प्रणयन उन्नीसवीं शताब्दी (सन् १८६१ ई०) में बरमा में हुआ। यह बरमी भिक्षु पञ्ञसामि (प्रज्ञास्वामी) की रचना है। प्राचीन पालि साहित्य पर आधारित होने के कारण इसका बड़ा महत्व है। 'सासनवंस', जैसा उसके शीर्षक से स्पष्ट है, बुद्ध-शासन का इतिहास है। बुद्ध-काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक स्थविरवाद बौद्ध धर्म के विकास का इस ग्रन्थ में वर्णन है। 'सासन-वंस' में दस अध्याय हैं। विशेषतः छठा अध्याय अधिक महत्वपूर्ण है। इस अध्याय में बरमा में बौद्ध धर्म के विकास का वर्णन किया गया है। 'सासनवंस' का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग यही है। वैसे इस ग्रन्थ में बुद्ध की जीवनी तथा अजात-शत्रु, कालाशोक और धर्माशोक के समय में हुई तीन बौद्ध संगीतियों आदि का भी वर्णन है। तृतीय बौद्ध संगीति के बाद मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा धर्मोपदेशकों को देश-विदेश में भेजने का विवरण यहाँ दिया गया है। 'सासनवंस' के वर्णना-नुसार तृतीय संगीति के बाद सुवर्णभूमि (बरमा) में धर्मोपदेशकों के जाने से पहले भी स्वयं मोग्गलिपुत्त तिस्स वहाँ धर्मोपदेश करने गये थे, जो उतना पूर्व परम्परा पर आधारित नहीं है। बरमी राजा सिरिमहासीह सूरसुधम्मराजा (श्री महासिंह शूर सुधर्मराज) के समय में भिक्षु-संघ में हुए पारुपण (चीवर की दोनों कन्धों को ढँककर ओढ़ना) और एकंसिक (एक दाहिने) कन्धे को खोलकर रखते हुए चीवर को ओढ़ना) संबंधी विवाद हुआ, जिसका निर्देश इस ग्रन्थ में किया गया है। इसी प्रकार विहार-सीमा संबंधी विवाद का उल्लेख किया गया है। संक्षेप में, बरमी बौद्ध धर्म के विकास एवं बरमी राजाओं और भिक्षु-संघ के पारस्परिक संबंध आदि को जानने के लिए 'सासन-वंस' का आज के विद्यार्थी के लिए भी प्रभूत महत्व है। बुद्ध-जीवनी और संगीतियों तथा अशोक के काल में मोग्गलिपुत्त तिस्स के द्वारा किये गये धर्म-प्रचार आदि के विवरण के लिए वह दीपवंस, महावंस तथा समन्तपासादिका आदि पर आधारित है, इसमें सन्देह नहीं। तृतीय संगीति के बाद जिन-जिन देशों में भार-तीय बौद्ध भिक्षु उपदेश करने के लिए भेजे गये, उनके विवरणों में 'दीपवंस' और 'महावंस' की अपेक्षा यहाँ कुछ विभिन्नता भी है। उदाहरणतः अपरान्त राष्ट्र (अपरन्त-रट्ठ) को यहाँ इरावदी नदी का पच्छिमी भाग बतलाया गया है।

१. मेबिल बोड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८९७।

इसी प्रकार महारट्ठ (महाराष्ट्र) को, जहाँ स्थविर महाधर्मरक्षित उपदेशार्थ गये थे, 'महानगरराष्ट्र' (महानगर-रट्ठ) या स्याम (थाई-देश) बतलाया गया है। इसी प्रकार मज्झिम स्थविर को चीन-राष्ट्र में धर्म-प्रचार करते बतलाया गया है, जबकि 'दीपवंस' और 'महावंस' के वर्णनानुसार वे 'हिमवन्त' प्रदेश के धर्म-प्रचारक थे। इसी प्रकार कुछ अन्य भी विभिन्न वर्णन हैं,[१] जो उसने प्रामाणिक नही माने जा सकते। बरमी भिक्षु-संघ के इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बड़ा महत्व है, इसमें सन्देह नहीं।

ऊपर हमने पालि के वंश-साहित्य का संक्षिप्त विवरण दिया है, जो लंका और बरमा में लिखा गया। थाई देश में लिखे गये 'संगीति-वंस' का उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। इन सब देशों के साथ वंश-साहित्य ने भारतीय धर्म और संस्कृति के संबंध जोड़े हैं। विशेषतः सिंहल के भाषा और साहित्य के विकास पर पालि वंश-साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा है। यह इस तथ्य से हम जान सकते हैं कि अनेक पालि वंश-ग्रन्थों के पालि और सिंहली दोनों ही संस्करण मिलते हैं, कुछ पालि वंश-ग्रन्थों के मूल सिंहली में हैं और कुछ उत्तरकालीन सिंहली वंश-ग्रन्थ पालि-वंश-ग्रन्थों पर आधारित हैं। इस प्रकार के उत्तरकालीन सिंहली वंश-ग्रन्थ हैं, धातुवंस, दळदा पूजावली, निकाय-संग्रह, सद्धर्मरत्नाकर और राजावली आदि। इस प्रकार यह आदान-प्रदान हुआ है और लंका की लोक-भाषा पालि से प्रभावित और विकसित हुई है। विधि-शास्त्र (धर्म-शास्त्र), व्याकरण और अभिधम्म के क्षेत्र में किस प्रकार बर्मी भाषा पालि से समृद्ध हुई है, यह हम पहले देख ही चुके है। इन विषयों के अनेक ग्रन्थों के बर्मी और पालि संस्करण साथ-साथ मिलते है, यह बात इनके गहरे सम्बन्ध की द्योतक है। इसी प्रकार अन्य गहरे सम्बन्धों को, भावात्मक और साहित्यिक प्रभावों को, हम कम्बोडिया और थाई-देश में पालि साहित्य और इन देशों की लोक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से खोज सकते हैं।

---

१. देखिये विमला चरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५९२-५९३।

दसवाँ अध्याय

काव्य, व्याकरण, कोश, छन्द-शास्त्र, अभिलेख आदि

पालि काव्य

पालि का काव्य-साहित्य उतना विस्तृत, प्रौढ़ और समृद्ध नहीं है, जितना संस्कृत का या बौद्ध संस्कृत साहित्य का भी। कालिदास या अश्वघोष की-सी काव्य-परम्परा यहाँ नहीं मिलती। निश्चय ही यदि काव्य का अर्थ मानव-जीवन के व्यापक, गहन और मार्मिक अनुभवों की, शब्द और अर्थ की निर्व्याज सुन्दरता के साथ (सात्थं सव्यञ्जनं) 'बहुजन हिताय' अभिव्यक्ति ही है, तब तो सम्पूर्ण 'तेपटिक बुद्ध-वचन' ही सर्वोत्तम काव्य हैं। कितना विचार-वैभव, कितना अर्थ-गौरव, कितनी उदात्त, भव्य किन्तु सरल शैली! सौमनस्य की अवस्था में निःसृत कितनी ज्ञानमयिक अभिसम्बुद्ध-गाथाएँ! यह भगवान् बुद्धदेव का वह शाश्वत और अनन्त सौन्दर्यमय काव्य है, जिसका जीवन में साक्षात्कार कर लेने पर मनुष्य के लिए जरा और मरण ही नहीं रह जाते। उसके लिये, अथर्ववेद की भाषा में, यह कहना सर्वथा ठीक ही है—'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' जो पवित्र सौन्दर्य हिमगिरि में नहीं है, जो निष्पापता उषा में नहीं है, जो गहनता महा-समुद्र में नहीं है, संक्षेप में जो काव्यत्व विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं है, वह ज्ञानी (बुद्ध) की चर्या में है, तथागत के ईर्यापथ में है, सम्यक् सम्बुद्ध के शब्दों में है। पालि ने इस सब को ही तो प्रस्फुटित किया है। अतः वह काव्यत्व में हीन है, ऐसा कौन कहेगा? फिर बुद्ध के शिष्य-शिष्याओं के संलाप और गाथाएँ भी हैं, जो बुद्ध के द्वारा अनुमोदित हैं। हम जानते हैं कि बुद्ध के शिष्यों में स्थविर वंगीश एक कवि ही थे और कहा गया है कि उन्हें अर्थ भासित हुआ करते थे। थेर-थेरी गाथाओं में सुन्दर प्रकृति-काव्य और गीति-काव्य हैं। अतः बुद्ध और उनके शिष्यों के वचनों में काव्य है, काव्यत्व का आकर्षण है। परन्तु फिर भी हम उन्हें 'काव्य' कहना उचित नहीं समझते। जब हम पालि के काव्य-साहित्य का विवेचन करते हैं और

उसे संस्कृत की अपेक्षा कम उन्नत कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य तिपिटक-गत काव्य या काव्यत्व से नहीं होता, बल्कि काव्य-शिल्पियों की उन रचनाओं से होता है जो उन्होंने बौद्ध विषयों को आधार मान कर उत्तर काल में पालि भाषा में की हैं। इस प्रकार की रचनाएँ प्रधानतः लंका और अंशतः बरमा में दसवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक और उसके बाद तक भी होती रहीं। इन रचनाओं की विषय-वस्तु तिपिटक से ही ली गई है। तिपिटक में प्राप्त नमूनों का ही कुछ संशोधन और परिवर्द्धन के साथ छन्दोबद्ध संस्करण कर देना यहाँ कवियों का प्रधान व्यवसाय रहा है। वैसे तो पालि काव्य-ग्रन्थ हैं ही अल्प, और जो हैं भी उनमें भी किसी महनीय काव्य-परम्परा का प्रवर्तन नहीं मिलता। सब से बढ़कर तो कला के उस सृजनात्मक सौन्दर्य एवं कल्पना के दर्शन यहाँ नहीं होते जो किसी साहित्य को विशेषता प्रदान किया करता है। सम्भवतः इसका कारण यह भी हो कि कल्पनात्मक मनोरागों के प्रदर्शन को स्थविरवादी बौद्ध परम्परा ने आरम्भ से ही अपनी साधना का अंग नहीं बनाया है। इतना ही नहीं, उसने इसे हेयता की दृष्टि से भी देखा है। विनय-संवृत भिक्षु कभी अपने को आवश्यकता से अधिक अभिव्यक्त नहीं कर सकता। कवि-कृत रचनाओं ('कविकता') और सामान्यतः काव्य ('कावेय्या') को यहाँ भिक्षु संघ के लिये एक अनागत-भय बताया गया है। 'विचित्र अक्षरों वाली ('चित्तक्खरा') और 'विचित्र व्यंजनों वाली' ('चित्त व्यंजना') रचनाएँ शून्यता के गहन सिद्धान्त की उपयुक्त वाहक नहीं बन सकतीं, ऐसी यहाँ मूल मान्यता है। इसलिये काव्य-प्रतिभा को पालि परम्परा में अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल सका है। भाषा की दृष्टि से भी पालि के इस काव्य-साहित्य का अधिक महत्त्व नहीं है। पालि साहित्य की प्राचीन मौलिकता के स्थान पर यह साहित्य संस्कृतापेक्षी अधिक हो गया है। अतः पालि साहित्य के इतिहास में उसके काव्य-साहित्य का विवेचन एक गौण स्थान का ही अधिकारी हो सकता है।

काव्य-ग्रन्थ

विषय की दृष्टि से पालि काव्य-ग्रन्थ दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं, (१) वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ, (२) काव्य-आख्यान। यह भेद सिर्फ विषय के बाह्य स्वरूप का है। मुख्य प्रवृत्ति और शैली तो सब जगह एक-सी ही है--नैतिक आदर्शवाद और नीरस इतिवृत्तात्मक शैली। हाँ, कहीं-कहीं रसात्मकता के भी पर्याप्त दर्शन होते हैं। मुख्य वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ ये हैं (१) अनागतवंस,

(२) तेलकटाहगाथा, (३) जिनालंकार, (४) जिनचरित, (५) पज्जमधु, (६) सद्धम्मोपायन, (७) पञ्चगतिदीपन और (८) लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार। प्रधान काव्य-आख्यान, जिनमें कुछ गद्य में भी हैं, ये हैं (१) रसवाहिनी, (२) बुद्धालंकार, (३) सहस्सवत्थुप्पकरण और (४) राजाधिराजविलासिनी। इनका कुछ संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण देना यहाँ आवश्यक होगा।

अनागतवंस[1]

जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'अनागत-वंस' भविष्य (अनागत) में उत्पन्न होने वाले भगवान् बुद्ध मैत्रेय के जीवन-इतिहास (वंस) के रूप में लिखा गया है। 'अनागतवंस' का वास्तविक स्वरूप अभी बहुत कुछ अनिश्चित है। बरमी हस्तलिखित प्रतियों में उसके तीन रूप मिलते हैं, (१) गद्य-पद्य-मिश्रित रूप, जो सुत्तों की शैली में लिखा गया है। इसका विषय बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का वर्णन करना नहीं है। बल्कि यह भविष्य में संघ पर आने वाले भयों का वर्णन करता है। बुद्ध और सारिपुत्र के संवाद के रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। साथ ही इसके अन्त में उन दस भावी बुद्धों के नाम भी दिये हुए हैं, जो भविष्य में क्रमशः बोधि प्राप्त करेंगे।[2] डा० विमलाचरण लाहा का यह कहना कि 'अनागतवंस' का यह संस्करण पालि-तिपिटक के अनागत-भय सूत्रों और उन सूत्रों, जिनमें दस भावी बुद्धों का निर्देश हुआ है, के पूरक रूप में लिखा गया है,[3] ठीक मालूम पड़ता है। (२) गद्य-मय रूप, जिसमें दस अध्याय हैं और जिसका विषय दस भावी बुद्धों की जीवनी का वर्णन करना है। (३) पद्य-मय रूप, जो १४२ गाथाओं में केवल बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का वर्णन करता है। यह संस्करण भी भगवान् बुद्ध

---

१. मिनयेफ द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में रोमन अक्षरों में सम्पादित।

२. मेत्तेय्यो उत्तमो रामो पसेनदि कोसलोभिभू।
दीघसोणि च संकच्चो सुभो तोदेय्य ब्राह्मणो॥
नालागिरिपलले्यो बोधिसत्ता इमे दस।
अनुक्कमेण सम्बोधिं पापुणिस्सन्ति' नागते ति॥
जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, पृष्ठ ३७।

३. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१२।

और उनके शिष्य धर्मसेनापति सारिपुत्र के संवाद के रूप में लिखा गया है। भगवान् बुद्ध भावी बुद्ध मैत्रेय के विषय में भविष्यवाणी करते दिखाये गये हैं। 'अनागतवंस' का यह संस्करण ही उसका प्रामाणिक और वास्तविक रूप माना जाता है। अपने इस रूप में 'अनागतवंस' 'बुद्धवंस' का परिवर्द्धित और पूरक रूप माना जा सकता है। 'बुद्धवंस' पूर्व के चौबीस बुद्धों का वर्णन करता है। पच्चीसवें बुद्ध अर्थात् गौतम बुद्ध की जीवन-गाथा के साथ ही वहाँ वर्णन समाप्त कर दिया गया है। अतः स्वाभाविक रूप से 'अनागतवंस', जो छब्बीसवें बुद्ध, बुद्ध मैत्रेय, की जीवन-गाथा को अपना विषय बनाता है, 'बुद्धवंस' की कथावस्तु को पूर्णता देने की दृष्टि से ही लिखा गया जान पड़ता है। दोनों की शैली में भी पर्याप्त समानता है।[१] दीघ-निकाय के चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (३।३) में भी बुद्ध मैत्रेय के भावी आविर्भाव के विषयमें उल्लेख किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जब भगवान् बुद्ध मैत्रेय उत्पन्न होंगे, तो मनुष्य ८०,००० वर्ष की आयु में तरुण हुआ करेंगे और कुमारियाँ ५०० वर्ष की आयु में विवाह-योग्य हुआ करेंगी। 'अनागतवंस' के भी वर्णनों की यही बानगी समझी जा सकती है। बुद्ध मैत्रेय जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में केतुमती नामक नगरी में ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न होंगे। उनकी माता का नाम ब्रह्मवती और पिता का नाम सुब्रह्मा होगा। उनका आरम्भ का नाम अजित होगा। वे बड़े समृद्धशाली होंगे। ८००० वर्ष तक गृहस्थ-सुख का उपभोग करेंगे। उसके बाद प्रव्रज्या लेंगे। बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन-वृत्त के आधार पर ही ये अतिशयोक्तिमय वर्णन गढ़ लिये गये हैं, जिनमें काव्यत्व या विचार की अपेक्षा हम बौद्ध पौराणिकवाद के ही अधिक दर्शन करते हैं।

'अनागतवंस' की रचना कब और किसके द्वारा हुई, इसके विषय में निश्चित नहीं है। रायस डेविड्स ने इस ग्रन्थ को बहुत प्राचीन माना है—यहाँ तक कि बुद्धघोष से भी प्राचीन। इसका कारण उन्होंने यह दिया है कि 'विसुद्धिमग्ग' में बुद्धघोष ने बुद्ध मैत्रेय का वर्णन करते हुए उनके माता-पिता के विषय में कहा है 'सुब्रह्मा नामस्स ब्राह्मणो पिता भविस्सति, ब्रह्मवती नाम ब्राह्मणी माता ति"।[२] 'अनागत-

---

१. कुछ उद्धरणों के लिए देखिये लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१३।

२. विसुद्धिमग्ग १३।१२७ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण); देखिये अट्ठसालिनी पृष्ठ ३२६-३२७ (देवनागरी संस्करण, पूना, १९४२)।

वंस' में भी बिलकुल इन्हीं शब्दों में बुद्ध मैत्रेय के माता-पिता का वर्णन मिलता है।[१] अतः रायस डेविड्स ने बुद्धघोष के शब्दों को 'अनागतवंस' से उद्धरण मानकर 'अनागतवंस' को प्राक्-बुद्धघोषकालीन ठहराया है[२] विण्टरनित्ज़ ने यह स्वीकार नहीं किया कि बुद्धघोष के उपर्युक्त शब्द 'अनागतवंस' से ही उद्धृत किये गये हैं।[३] अतः उनको 'अनागतवंस' की इतनी प्राचीनता मान्य नही है। चूँकि बुद्धघोष ने अपने उपर्युक्त शब्दों में केवल बुद्ध मैत्रेय के माता-पिता के नाम का ही उल्लेख किया है, अतः यह कोई इतना विशेषतापूर्ण सैद्धान्तिक या अन्य दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि बुद्धघोष जैसे आचार्य को 'अनागतवंस' से इसका उद्धरण देने की आवश्यकता पड़ती। यह तो बौद्ध परम्परा की एक अति सामान्य मान्यता थी, जो 'अनागतवंस' के रचयिता के समान बुद्धघोष को भी मालूम हो सकती थी, फिर कालानुक्रम से कोई किसी का पूर्ववर्ती क्यों न रहा हो, शब्द-साम्य इस सम्बन्ध में अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। अतः हम बुद्धघोष के उपर्युक्त शब्दों को 'अनागतवंस' से उद्धरण मानने को बाध्य नहीं। मललसेकर भी इसे सम्भव नहीं मानते कि 'अनागतवंस' का उद्धरण 'विसुद्धिमग्ग' मे हो।[४] 'गन्धवंस' में 'अनागतवंस' के रचयिता का नाम कस्सप (काश्यप) कहा गया है।[५] 'गन्धवंस' के वर्णन के अनुसार 'अनागतवंस' पर एक अट्ठकथा भी लिखी गई, जिसके लेखक उपतिस्स (उपतिष्य) नामक भिक्षु थे। चूँकि कस्सप और उपतिस्स नाम के अनेक भिक्षु अनेक समयों में लंका और बरमा में हो गये हैं, अतः निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि कौन से कस्सप और उपतिस्स क्रमशः 'अनागतवंस' के रचयिता और अट्ठकथाकार हैं। 'गन्धवंस' में 'अनागतवंस' के रचयिता कस्सप और 'मोहविच्छेदनी' और 'विमतिच्छेदनी' नामक ग्रन्थों के रचयिता कस्सप को एक ही

---

१. पृष्ठ ९६ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)।

२. विसुद्धिमग्ग, पृष्ठ ७६१, ७६४ (श्रीमती रायस डेविड्स का संस्करण, पालि टैक्स्ट् सोसायटी, १९२०-२१)।

३. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२१, पद-संकेत १।

४. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १६१।

५. पृष्ठ ६१, ७२ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)।

व्यक्ति माना गया है।[1] गायगर ने इसका अनुसरण किया है।[2] 'सासनवंसदीप' के अनुसार कस्सप चोळ देश के निवासी थे। परन्तु वहाँ उन्हें 'विमतिविनोदनी' का रचयिता बताया गया है, जो विनय की टीका थी। इसके विपरीत बरमी परम्परा 'विमति-विनोदनी' और 'मोह-विच्छेदनी' के लेखक कस्सप को सिंहली भिक्षु मानती है। अतः कठिनाई और बढ़ जाती है। फिर भी बहुत सम्भव है कि चोळ देश के निवासी कस्सप स्थविर ही 'अनागतवंस' के भी रचयिता हों। जहाँ तक उपतिस्स का सम्बन्ध है, उन्हें 'महाबोधिवंस' के रचयिता उपतिस्स (१०वीं-११वी शताब्दी) से एकाकार किया जा सकता है। इस प्रकार कस्सप को इनसे एक-दो शताब्दी पूर्व का माना जा सकता है।

तेलकटाहगाथा[3]

१०० (किन्हीं संस्करणों में केवल ९८) गाथाओं में लिखी हुई एक परिष्कृत, प्रौढ़ और रमणीय काव्य-रचना है। 'तेलकटाहगाथा' का अर्थ है (खौलते हुए) तेल की कढ़ाई में लिखी हुई गाथाएँ (पालि श्लोक)। ये गाथाएँ बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कल्याणिय नामक भिक्षु के द्वारा लिखी गई थीं। अनुश्रुति है कि कल्याणी (वर्तमान केलानिया, श्री लंका) के राजा तिष्य (ई० पू० ३०६—ई० पू० २०७) ने उपर्युक्त भिक्षु को अपनी रानी के साथ किसी षड्यन्त्र में सम्मिलित होने के सन्देह में बन्दी बना लिया था और खौलते हुए तेल की कढ़ाई में डाल देने की आज्ञा दी थी।[4] भिक्षु निरपराध

---

१. पृष्ठ ६१।

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३६।

३. ई० आर० गुणरत्न द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८४, में रोमन अक्षरों में सम्पादित। इसमें ९८ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ का मूल पालि-सहित हिन्दी-अनुवाद त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने किया है, जो सन् १९४८ में पुस्तकाकार रूप में महाबोधि सभा, सारनाथ से प्रकाशित हो चुका है। इस अनुवाद का द्वितीय संस्करण भी सन् १९५५ (बुद्धाब्द २४९९) में निकल चुका है। इस संस्करण में १०० गाथाएँ हैं। मैंने उद्धरण इसी संस्करण से दिये हैं।

४. कुछ अन्य स्रोतों के अनुसार कहानी के वर्णन के लिये देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १६२।

थे, किन्तु यह असह्य दुःख उन्हें सहना ही पड़ा। खौलते हुए तेल की कढ़ाई में ही उनकी मृत्यु हो गई। किन्तु मृत्यु से पूर्व उन्होंने बुद्ध-शासन का चिन्तन किया और ९८ गाथाओं को गाया। ये गाथाएँ क्या हैं, संसार की अनित्यता, जीवन की असारता और वैराग्य की महत्ता पर गम्भीर प्रवचन हैं। उपर्युक्त अनुश्रुति में सत्यांश कितना है, यह कह सकना कठिन है। हाँ, स्वयं 'तेलकटाहगाथा' में इसका कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु 'महावंस' में इस कथा का निर्देश मिलता है।[1] बाद में 'रसवाहिनी' में भी इस कथा का सविस्तर वर्णन किया गया है।[2] सिंहली ग्रन्थ 'सद्धम्मालंकार' में भी इस कथा का वर्णन मिलता है।[3] सिंहली साहित्य में यह कथा इतनी प्रसिद्ध है कि इसकी सत्यता पर सन्देह करना कठिन हो जाता है। फिर भी 'तेलकटाहगाथा' की मार्मिक गाथाओं को पढ़ जाने के बाद और कहीं भी उनमें उपर्युक्त घटना का निर्देश न पाने पर यही लगने लगता है कि यहाँ भिक्षु कल्याणिय ने खौलते हुए तेल वाली किसी विशेष कढ़ाई से उत्तप्त होकर ही नहीं, बल्कि इस 'महामोहमय' संसार रूपी उस खौलती हुई कढ़ाई से व्यथित होकर ही अपने अन्तर्मन को इन गाथाओं में प्रवाहित किया है, जिसके विषय में महाभारतकार ने कहा है—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन,
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता।

'तेलकटाहगाथा' शतक-काव्य की शैली पर लिखी गई रचना है। अतः उसमें नैतिक ध्वनि प्रधान है। फिर भी काव्यमयता का उसमें अभाव नहीं है। वह एक सुन्दर रचना है, जो बुद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तों को एक भावनामय भिक्षु की पूरी तन्मयता और मार्मिकता के साथ उपस्थित करती है। ९८ गाथाएँ ९ वर्गों या भागों में विभक्त हैं, जिनके नाम हैं, (१) रतनत्तय (तीन रत्न—बुद्ध, धर्म, संघ), (२) मरणानुस्सति (मरण की अनुस्मृति), (३) अनिच्चलक्खण (अनित्यता का लक्षण), (४) दुक्खलक्खण, (५) अनत्त लक्खण (अनात्म का लक्षण), (६) असुभ लक्खण, (७) दुच्चरित-आदीनवा (दुराचार के दुष्परिणाम), (८)

---

१. २२।१२-१३ (गायगर का संस्करण)।

२. देखिये ऊपर पद-संकेत ४।

३. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट् सोसायटी, १८८४, पृष्ठ ४९; देखिये गायगर: पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ४६, पद-संकेत ४ भी।

चतुरारक्खा (चार आरक्षाएँ), (९) पटिच्च समुप्पाद (प्रतीत्य समुत्पाद)। इस विषय-सूची से यह देखा जा सकता है कि बुद्ध-धर्म के सभी महत्वपूर्ण विषय इन गाथाओं में आ गये हैं। किन्तु सब से बड़ी बात तो ग्रन्थकार की अपने विषय के साथ तल्लीनता है, जिसके दर्शन प्रत्येक गाथा में होते हैं। अनात्म-संज्ञा पर यह उक्ति देखिये--

पोसो यथा हि कदलीसु विनिब्भुजन्तो,
सारं तदप्पमपि नोपलभेय्य कामं।
खन्धेसु पञ्चसु छळायतनेसु तेसु,
सुञ्ञेसु किञ्चिदपि नोपलभेय्य सारं॥ गाथा ६०

(जिस प्रकार केले के तने को उधेड़ते हुए मनुष्य उसमें कुछ भी सार न पाये, उसी प्रकार इन शून्य पंच स्कन्धों और छह आयतनों में भी कुछ सार नहीं है।)

प्रतिकूल-मनसिकार (गीता के शब्दों में 'दुःखदोषानुदर्शन') पर,

गंडूपमे विविधरोगनिवासभूते,
काये सदा रुधिरमुत्तकरीसपुण्णे।
यो एत्थ नन्दति नरो ससिगालभक्खे,
कामं हि सोचति परत्थ स बालबुद्धि॥ गाथा ६९॥

(जो मूर्ख आदमी फोड़े के समान, विविध बीमारियों के घर, खून, पेशाब और पाखाना से भरे हुए, गीदड़ों के भक्ष्य, इस शरीर को देखकर आनन्दित होता है, वह अवश्य ही यहाँ से जाकर परलोक में दुःख पाता है।)

उपर्युक्त गाथाएँ 'तेलकटाहगाथा' की काव्यगत सुन्दरता का परिचय देने में अलम् हैं। प्रथम बार पढ़ने पर ही उनमें भर्तृहरि के वैराग्य-सम्बन्धी पदों का सा निर्वेद प्रकाशित होने लगता है। भाषा और शैली की दृष्टि से इस तीसरी गाथा को देखिये--

सोपानमालममलं तिदसालयस्स
संसारसागरसमुत्तरणाय सेतुं।
सब्बागतीभय विवज्जितखेममग्गं,
धम्मं नमस्सथ सदा मुनिना पणीतं॥

मुनि (बुद्ध) द्वारा प्रणीत उस धर्म की वन्दना करो, जो स्वर्ग की विमल सीढ़ी के समान है, जो संसार रूपी सागर को तरने के लिये पुल के समान है और जो सम्पूर्ण आपत्तियों और भयों से रहित एवं कल्याण का मार्ग है।

'सोपानमालममलं' एवं 'संसारसागरसमुत्तरणाय' जैसे पदों में अनुप्रास की छटा तो देखने ही योग्य है 'सब्बागतीभयविवज्जितखेममग्गं धम्मं नमस्सथ सदा मुनिना पणीतं' तो बिलकुल संस्कृत श्लोक का अंश सा ही जान पड़ता है। संस्कृत का यह बढ़ता हुआ प्रभाव 'तेलकटाहगाथा' की आपेक्षिक अर्वाचीनता का सूचक है। विंटरनित्ज़ ने कहा है कि यह ग्रन्थ बारहवीं शताब्दी ईसवी से पूर्व की रचना नहीं हो सकता।[1] कम से कम ई० पू० तीसरी शताब्दी की रचना तो 'तेलकटाहगाथा' मानी ही नहीं जा सकती। फिर भी भाषा और शैली का साक्ष्य किसी भी अवस्था में इतना दृढ़ और अन्तिम नहीं हुआ करता कि उसके आधार पर हम किसी ग्रन्थ की तिथि असंदिग्ध रूप से निश्चित कर सकें। अतः विंटरनित्ज़ द्वारा निश्चित बारहवीं शताब्दी ईसवी भी 'तेलकटाहगाथा' की प्रामाणिक रचना-तिथि नहीं मानी जा सकती। विंटरनित्ज़ की स्थापना केवल अनुमान पर आश्रित है। इसी प्रकार अनुमान से ही गायगर ने इस रचना का काल चौदहवीं शताब्दी माना है।[2] जब तक कोई और महत्वपूर्ण बाह्य साक्ष्य न मिले, 'तेलकटाहगाथा' के रचयिता और रचना-काल का सुनिश्चित ज्ञान हमारे लिये अज्ञात ही रहेगा।

जिनालङ्कार[3]

पालि काव्य-साहित्य की उसी कोटि की रचना है, जिस कोटि के संस्कृत में किरातार्जुनीय और शिशुपालवध जैसे महाकाव्य हैं। काव्य-चमत्कार की प्रवृत्ति

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२३; गायगर ने इस ग्रन्थ का वास्तविक रचना-काल अज्ञात मानते हुए तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की रचनाओं में इसका उल्लेख किया है। देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लॅंग्वेज, पृष्ठ ४६।

२. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४६।

३. जेम्स ग्रे द्वारा अंग्रेजी अनुवाद सहित रोमन लिपि में सम्पादित (लन्दन १८९४)। सिंहली लिपि में इस ग्रन्थ का दीपंकर और धम्मपाल का उत्कृष्ट संस्करण सिंहली अनुवाद सहित (गॅले, १९००) उपलब्ध है।

यहाँ बहुत अधिक उपलक्षित होती है और शैली में भी पर्याप्त कृत्रिमता है। 'जिनालंकार' की रचना बारहवीं शताब्दी में बुद्धरक्षित (बुद्धरक्खित) नामक भिक्षु के द्वारा हुई। एक बुद्धरक्षित नामक स्थविर सिंहल में ४२६ ई० पूर्व में भी हुए हैं और कभी-कभी जिनालंकार को उनके नाम से भी सम्बद्ध कर दिया जाता है, परन्तु यह ठीक नहीं है।[1] ग्रन्थ का विषय ज्ञान-प्राप्ति तक बुद्ध-जीवनी का वर्णन करना है। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने उसका रचना-काल बुद्ध-परिनिर्वाण से १७०० वर्ष बाद दिया है।[2] इसका अर्थ यह है कि इसकी रचना ११५६ ई० में हुई। यह तिथि विद्वानों को मान्य है। उत्तरकालीन संस्कृत काव्यों की शैली का इस ग्रन्थ पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। एक पद्य में 'न्' व्यंजन का ही प्रयोग किया गया है। यह प्रवृत्ति किरातार्जुनीय जैसे संस्कृत-काव्यों में भी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के चमत्कारमय प्रयत्न चाहे भाषा-सम्बन्धी विद्वत्ता के परिणाम भले ही हों, किन्तु संस्कृत काव्य-विवेचकों ने उन्हें अधम काव्य' ही माना है। यही बात हम 'जिनालंकार' की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २५० गाथाएँ हैं। ग्रन्थ की मुख्य विशेषता उसकी कृत्रिम शैली, पौराणिक अतिरंजनामयी वर्णन-प्रणाली एवं विद्वत्ता-प्रदर्शक प्रवृत्ति ही है। महायानी प्रभाव भी कहीं-कहीं उपलक्षित है। बुद्धरक्षित ने अपने इस ग्रन्थ पर एक टीका भी लिखी थी। 'जिनालंकार' नाम का एक अन्य ग्रन्थ भी बताया जाता है, जिसकी रचना 'गन्धवंस' के अनुसार प्रसिद्ध अट्ठकथाकार बुद्धदत्त (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी) ने की थी। प्रस्तुत 'जिनालंकार' से उसे भिन्न ही होना चाहिये। 'गन्धवंस' के वर्णनानुसार ही बुद्धदत्त द्वारा लिखित 'जिनालंकार' पर बुद्धरक्षित ने एक टीका भी लिखी थी।[3] कुछ भी हो, हमें उपर्युक्त दोनों रचनाओं को मिलाने की गलती नहीं करनी चाहिये और यह स्मरण रखना चाहिये कि सिंहली परम्परा बुद्धदत्त को 'जिनालंकार' का रचयिता नहीं मानती।

---

१. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ ११०-१११।

२. पृष्ठ २७१ (ग्रे का संस्करण); देखिये गन्धवंस, पृष्ठ ७२ (मिनयेफ द्वारा सम्पादित); सद्धम्मसंगह ९।२१ (सद्धानन्द द्वारा सम्पादित)।

३. पृष्ठ ६९, ७२ (मिनयेफ द्वारा सम्पादित, जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)।

जिनचरित[1]

'जिनालंकार' के समान 'जिनचरित' का भी विषय बुद्ध-जीवनी का वर्णन करना है। 'जिनालंकार' में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सम्बोधि प्राप्ति तक बुद्ध-जीवनी का वर्णन किया गया है। किंतु 'जिनचरित' में भगवान् बुद्ध के उपदेश-कार्य का भी वर्णन किया गया है और उनके ४५ वर्षावासों का ब्यौरेवार वर्णन किया गया है। 'जिनचरित' में ४७२ गाथाएँ हैं। जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, 'जिनचरित' में कोई नवीनता नहीं है। बुद्ध-जीवन के विषय में उसने कोई नई बात हमें नहीं बताई है। उसके सारे वर्णन जातक-निदानकथा पर आधारित हैं। एक हद तक तो वह जातक-निदान-कथा का छन्दोबद्ध संस्करण ही जान पड़ता है। चार्ल्स डुरोइसिल का यह कथन ठीक है कि जहाँ कवि इस अन्धानुकरण से बच सका है और उसने अपनी प्रेरणा से लिखा है, वहीं उसके काव्य में कुछ रसात्मकता भी आ सकी है।[2] यद्यपि काव्य-गुणों की दृष्टि से 'जिनचरित' की 'बुद्ध-चरित' से कोई तुलना नहीं की जा सकती, फिर भी यह कहना ठीक है कि पालि साहित्य में 'जिनचरित' का वही स्थान है जो बौद्ध संस्कृत साहित्य में 'बुद्धचरित' का। 'जिनचरित' पर संस्कृत काव्यों का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। चार्ल्स डुरोयिसिल ने 'जिनचरित' पर अश्वघोष और कालिदास के प्रभाव की बात कही है। उन्होंने 'जिनचरित' और 'महाभारत' की कुछ पंक्तियों की भी तुलना की है।[3] यह सम्भव है कि 'जिनचरित' के रचयिता को संस्कृत काव्यों की जानकारी रही हो और उससे उन्होंने लाभ उठाया हो, किन्तु काव्य-शैली के लिए वे संस्कृत काव्यों के ऋणी नहीं कहे जा सकते। जहाँ तक 'जिनचरित' के स्रोतों का सवाल है, हमें संस्कृत काव्यों की ओर नहीं जाना चाहिए। जैसा डॉ० लाहा ने कहा है, जातक-साहित्य और सुत्त-निपात के

---

१. डबल्यू० एच० डी० राउज द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५ में अंग्रेजी अनुवाद-सहित सम्पादित। चार्ल्स डुरोइसिल द्वारा भी अंग्रेजी-अनुवाद-सहित रोमन लिपि में सम्पादित, रंगून १९०६।

२. जिनचरित (चार्ल्स डुरोइसिल द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १-२ (भूमिका)।

३. उदाहरणतः जिनचरित—कोयं सक्को नु खो ब्रह्मा मारो नागो ति आदिना।
महाभारत—कोऽयं देवोऽथवा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति।
(वन-पर्व)

नालक-सुत्त जैसे सुत्तों की गाथाएँ 'जिनचरित' के लिए सर्वोत्तम नमूने हो सकते थे।[१] इतना ही नहीं, कालिदास के पूर्ववर्ती अश्वघोष को भी इन स्रोतों से अपने काव्य-शैली के निर्धारण में पर्याप्त प्रेरणा मिली होगी, ऐसा हम मान सकते हैं। 'जिनचरित' के विषय और शैली के स्रोत मूलतः पालि साहित्य में हैं, संस्कृत साहित्य में नहीं।

'सद्धम्म-संगह'[२] और 'गन्धवंस'[३] के वर्णनों के अनुसार 'जिनचरित' के रचयिता का नाम मेधंकर था। मेधंकर नाम के अनेक व्यक्ति सिहल में हो चुके हैं।[४] एक बर्मा में भी हुए हैं चौदहवीं शताब्दी में, लोकदीपसार के रचयिता। प्रस्तुत मेधंकर 'वनरतन मेधंकर' के नाम से प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु थे। उपर्युक्त स्रोतों के अनुसार वनरतन मेधकर लकाधिप भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०–१२८८ई०) के समकालीन थे। टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स[५] और विण्टरनित्ज[६] ने उनके इसी काल को प्रामाणिक माना है। किन्तु गायगर का दूसरा मत है। 'गन्धवस' में मेधकर का उल्लेख वाचिस्सर, सुमंगल और धम्मकित्ति के बाद किया गया है। अतः गायगर ने यह अनुमान लगाया है कि वे भी उपर्युक्त भिक्षुओं के समान सिंहली स्थविर सारिपुत्त के शिष्य थे। 'जिनचरित' के अन्तिम पद्यों में लेखक ने कहा है कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना राजा विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण में की। गायगर ने इससे अनुमान किया है कि यहाँ लेखक को लका का राजा विजयबाहु तृतीय (१२२५ ई०-१२२९ ई०) अभिप्रेत था। उन्होंने आगे यह भी अनुमान किया है कि विजयबाहु तृतीय मेधकर का समकालीन था, क्योंकि उसी हालत में उसकी प्रशंसा का कुछ अर्थ हो सकता है। इतने अनुमानों के बाद गायगर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मेधंकर विजयबाहु तृतीय के समकालीन और सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य थे। उन्होंने मेधंकर और वाचिस्सर का एक ही समय माना

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१५।
२. सद्धम्मसंगह, पृष्ठ ६३, (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)।
३. गन्धवंस, पृष्ठ ६२, ७२ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)।
४. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १९०४-०५, पृष्ठ २।
५. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ चार में डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स का 'नोट ऑन मेधंकर'।
६. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२४।

है।[1] चार्ल्स डुरोइसिल ने उपर्युक्त विजयबाहु को विजयबाहु द्वितीय माना है जो सन् ११८६ ईसवी में गद्दी पर बैठा था और जो लंका के प्रसिद्ध राजा पराक्रमबाहु का उत्तराधिकारी था।[2] विजयबाहु से तात्पर्य हम चाहे किसी विजयबाहु से लें, 'जिनचरित' के लेखक ने तो सिर्फ इतना कहा है कि विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण में उसने 'जिनचरित' की रचना की। अतः समकालीनता का आरोप इतना आवश्यक नहीं जान पड़ता। इसलिए 'गन्धवंस' और 'सद्धम्मसंगह' के वर्णन, जो मेधंकर को भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०—१२८८ ई०) के समकालीन बतलाने के पक्षपाती हैं, 'जिनचरित' के वर्णन के विरोधी नहीं कहे जा सकते। अतः मेधंकर या वनरतन मेधंकर को भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०—१२८८ ई०) का ही समकालीन मानना अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है। हर हालत में उनका समय तेरहवीं शताब्दी ही होना चाहिये। 'पयोग-सिद्धि' व्याकरण के रचयिता भी वनरतन मेधंकर ही हैं।[3] परन्तु गायगर इन्हें भिन्न व्यक्ति समझते हैं।[4] यह ठीक नहीं जान पड़ता। जैसा हम पहले दिखा चुके है, सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य मेधंकर सिंहली ग्रन्थ 'विनयार्थ-समुच्चय' के लेखक हैं और वे उदुम्बर गिरि विहार के निवासी थे। 'जिन-चरित' और 'पयोग-सिद्धि' के लेखक वनरतन मेधंकर सुमंगल महाथेर के शिष्य थे।

पज्जमधु[5]

१०४ गाथाओं में शतक ढंग की रचना है। बुद्ध-स्तुति इसका विषय है। प्रथम ६९ गाथाओं में बुद्ध की सुन्दरता का वर्णन है, शेष में उनके ज्ञान और संघ की प्रशंसा है। शैली कृत्रिम और काव्योचित रसात्मकता से रहित है। कम से कम अपने

---

१. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४२।

२. जिनचरित (डुरोइसिल का संस्करण, रंगून १९०६) पृष्ठ ३ (भूमिका); मललसेकर का भी ऐसा ही मत है। देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन', पृष्ठ २३०।

३. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २३०–२३१।

४. पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ५४।

५. गुणरत्न द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८७ पृष्ठ १-१६ में सम्पादित; देवमित्त द्वारा भी सम्पादित, कोलम्बो १८८७।

नाम (पज्जमधु-पद्यमधु) को वह सार्थक नहीं करती। संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी उसका एक विशेष लक्षण है। 'पज्जमधु' बुद्धप्पिय (बुद्धप्रिय) नामक स्थविर की रचना है, जो स्थविर वेदेह (वेदेह थेर) के समकालीन भिक्षु थे। बुद्धप्पिय चोळ देश के निवासी थे, परन्तु शिक्षा उन्होंने लंका में सिंहली भिक्षु आनन्द वनरतन के शिष्यत्व में पाई थी। 'चोळिय दीपंकर' के नाम से भी ये प्रसिद्ध हैं, चोळ देश में अपनी जन्मभूमि के कारण। 'पज्जमधु' की १०३वीं गाथा में कवि-भिक्षु ने अपना परिचय देते हुए अपने को आनन्द का शिष्य बताया है।[1] इन आनन्द से तात्पर्य आनन्द वनरतन से ही है। आनन्द वनरतन बुद्धप्पिय के साथ-साथ वेदेह स्थविर के गुरु थे। अतः वेदेह स्थविर के साथ बुद्धप्पिय का समकालिक होना निश्चित है। इसलिए इनका काल भी वेदेह स्थविर के साथ तेरहवीं शताब्दी ही होना चाहिए, यह निश्चित है।[2] सम्भवतः यही 'बुद्धप्पिय' 'रूपसिद्धि' व्याकरण के रचयिता भी हैं। उस रचना के अन्त में उन्होंने अपना नाम बुद्धप्पिय 'दीपंकर' बताया है और अपने को आनन्द स्थविर का शिष्य कहा है। अतः दोनों का एक व्यक्ति होना प्रायः सिद्ध ही है।

सद्धम्मोपायन[3]

६२९ गाथाओं में सद्धम्म की भेंट (उपायन) के रूप में बुद्ध-धर्म के नैतिक मार्ग के गुणों का वर्णन है। विषय नवीन न होते हुए भी शैली में पर्याप्त ओज और मौलिकता है। ग्रन्थ को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है, (१) दुराचार के दुष्परिणाम, (२) सदाचार की प्रशंसा या उसके सुपरिणाम। इसके साथ-साथ बुद्ध-

---

१. आनन्दरञ्ञा रतनादिमहायतिन्द निच्चप्पबुद्ध पदुमप्पिय सेवि नंगी। बुद्धप्पियेन घनबुद्धगुणप्पियेन थेरालिना रचितपज्जमधुं पिबन्तु॥

२. मिलाइये गायगरः पालि लिटरेचर एंड लॅग्वेज, पृष्ठ ४४, ५१, विंटरनित्जः हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२३; मललसेकर: दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २११, २२०। गुणरत्न ने बुद्धप्रिय का काल सन् ११०० ई० के लगभग बताया है। देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८७, पृष्ठ १।

३. रिचार्ड मॉरिस द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८७, पृष्ठ ३५-९८ में सम्पादित।

धर्म के प्रायः सभी मौलिक सिद्धान्तों का समावेश इस ग्रन्थ के अन्दर हो गया है, जिसे अत्यन्त प्रभावशाली और मननशील ढंग से कवि ने उपस्थित किया है। पाप-दुष्परिणाम, पुण्य-फल, दान-प्रशंसा, शील-प्रशंसा, अ-प्रमाद आदि के काव्यमय वर्णन काफी अच्छे हुए हैं। पद्यबद्ध होते हुए भी 'सद्धम्मोपायन' के विवेचन इस विषय-सम्बन्धी गद्य-ग्रन्थों से अच्छी तरह मिलाये जा सकते हैं। उनको काव्य-मय रूप देने में और साथ ही उनका विचारात्मक अंश अक्षुण्ण रखने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। सद्धम्मोपायन के रचयिता सिंहली स्थविर आनन्द थे, जो 'अभयगिरि कवि चक्रवर्ती आनन्द' भी कहलाते थे। उन्होंने यह रचना अपने प्रिय सब्रह्मचारी बुद्धसोम (बुद्धसोमस्स पियसब्रह्मचारिनो) को भेंट करने के लिये और उन्हें भिक्षुपन न छोड़ने की सलाह देने के लिये लिखी थी।[1] जहाँ तक उनके काल का सम्बन्ध है, आनन्द या अभयगिरि कविचक्रवर्ती आनन्द को मललसेकर ने सिंहली भिक्षु वेदेह थेर और बुद्धप्पिय (चोळिय दीपंकर) के गुरु सिंहली भिक्षु आनन्द वनरतन का समकालीन माना है।[2] इस प्रकार उनका समय बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के आसपास ही होना चाहिये। गायगर ने 'सद्धम्मोपायन' का रचना-काल चौदहवीं शताब्दी माना है,[3] जो ठीक नहीं माना जा सकता। 'सद्धम्मोपायन' पर 'सद्धम्मोपायन-विग्गह' नाम की एक व्याख्या भी लिखी गई।

पञ्चगतिदीपन[4]

११४ गाथाओं में उन पाँच गतियों या योनियों का वर्णन है, जिन्हें प्राणी अपने भले या बुरे कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के कारण प्राप्त करते हैं, यथा

---

१. परन्तु डॉ० विमलाचरण लाहा ने ब्रह्मचारी बुद्धसोम पिय को इस ग्रन्थ का रचयिता ही मान लिया है। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६२६। यह ठीक नहीं जान पड़ता। वस्तुतः बुद्धसोम को तो भेंट करने के लिये यह रचना लिखी गयी थी। देखिये मललसेकर: दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २१२।

२. देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन', पृष्ठ २११–२१२।

३. पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ४६।

४. लियोन फियर द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८४, पृष्ठ १५२-१६१ में सम्पादित।

नरक-योनि, पशु-योनि भूत-प्रेतादिकी योनि, मनुष्य-योनि और देव-योनि। वर्णन अत्यन्त सरल और स्वाभाविक एवं प्रसादगुणमय होते हुए भी यह रचना अत्यन्त साधारण कोटि की ही मानी जायगी। स्वर्ग-नरक के वर्णन काव्य के अच्छे विषय बनाये ही नहीं जा सकते, उनमें नैतिक तत्त्व चाहे जितना भी गहरा हो। वास्तव में बुद्ध ने भी स्वर्ग के प्रलोभन या नरक के भय के कारण अपने नीतिवाद का उपदेश नहीं दिया था। उनके नैतिक आदर्शवाद की यही तो एक विशेषता थी। वहाँ विशुद्धि का मार्ग अपने आप में एक आचरणीय वस्तु थी। ब्रह्मचर्य का क्या उद्देश्य होना चाहिए, इसे शास्ता ने अनेक बार स्पष्ट कर दिया था। किन्तु लोक-धर्म इसे कब सुनता है? वहाँ तो भय या पारितोषिक का प्रलोभन होना ही चाहिए। फलतः अशोक को ही हम अपनी जनता को स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से शुभ-कर्म करने के लिए प्रेरणा करते हुए देखते है। यह नितान्त स्वाभाविक भी है। बुद्ध-मन्तव्य इससे बहुत अधिक ऊँचा था। उसे लोक-धर्म की भूमि पर ला कर अर्थात् लोक-विश्वासों का उसमें समावेश कर, उसके नैतिक तत्त्व की व्याख्या का प्रारम्भ हम स्वयं सुत्त-पिटक के कुछ अंशों में ही देखते है। बाद में कुछ जातकों और पेतवत्थु जैसे ग्रन्थों में तो वह बहुत ही स्फुट हो गया है। महायान-परम्परा में जिस विस्तार के साथ स्वर्ग-नरक के वर्णन मिलते हैं, वह तो निश्चय ही एक आश्चर्य की वस्तु है। निश्चय ही इस प्रकार के बौद्ध वर्णनों में चाहे वे स्थविरवादियों के हों, चाहे अन्य सम्प्रदायों के, पुराणों (विशेषतः ब्रह्माण्ड, मार्कंडेय, पद्मपुराण आदि) के इस विषयक वर्णनों से कुछ भी विशेषता नहीं है। किसी युग में जब मनुष्य अधिक विश्वास करने की क्षमता रखता हो, इन सब का चाहे भले ही उपयोग रहा हो, किन्तु आज तो ये सभी मननशील व्यक्तियों के लिये विरतिकर हो चुके हैं, इसमें सन्देह नहीं। स्वभावतः 'पंचगतिदीपन' भी इसका अपवाद नहीं। प्रारंभ में ही कम से कम आठ प्रकार के नरकों का वर्णन किया गया है, यथा संजीव, काल-सूत्र, (कालसुत्त), संघात, रौरव, (रोरुव) महा रौरव (महारोरुव) तप, महातप और अवीचि। इनकी यातनाओं का वर्णन तो निश्चय ही रोमांचकारी है। केवल महत्वपूर्ण भाग वह है जहाँ नाना-प्रकार के पाप-कर्मों के परिणामस्वरूप वहाँ जाना दिखलाया गया है। इसके अलावा इस ग्रन्थ में अन्य कुछ ज्ञातव्य नहीं है। तुलनात्मक पौराणिक तत्व के विद्यार्थी के लिए 'पंचगति-दीपन' में प्रभूत सामग्री मिल सकती है, इसमें सन्देह नहीं। इसके रचयिता या उसके काल के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है।

लोकप्पदीसार या लोकदीपसार[1]

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु 'पञ्चगतिदीपन' के समान ही है। 'सासनवंस' के वर्णनानुसार यह चौदहवीं शताब्दी के बर्मी भिक्षु मेधंकर की रचना है, जिन्होंने अध्ययनार्थ सिंहल में प्रवास किया था और जो बाद में मर्तबान (बर्मा) में आकर रहे।[2] पाँच प्रकार की योनियों का वर्णन करने के अतिरिक्त यहाँ आख्यानों के द्वारा उनमें निहित नैतिक उपदेशों को समझाया भी गया है। 'महावंस' से इस ग्रन्थ में काफी सामग्री ली गई है। अन्य कुछ काव्यगत विशेषता इस ग्रन्थ की नहीं है।

पालि आख्यान : रसवाहिनी[3]

उत्तरकालीन पालि साहित्य में गद्य-पद्य मिश्रित कुछ आख्यानों की भी रचना हुई। नैतिक ध्वनि की प्रधानता के अतिरिक्त इन सब की एक बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने जातक, अर्थकथाओं और कुछ अंश तक 'महावंस' आदि से पर्याप्त सामग्री ली है। पालि आख्यानों में 'रसवाहिनी' का नाम अधिक प्रसिद्ध है। मौलिक रूप में यह सिंहली भाषा की रचना थी। महाविहारवासी रट्ठपाल (राष्ट्रपाल) नामक स्थविर ने इसका प्रथम पालि रूपान्तर किया। बाद में प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु वेदेह स्थविर (वेदेह थेर) ने इसको शुद्ध कर इसे नवीन रूप प्रदान किया। अतः 'रसवाहिनी' का कर्तृत्व वेदेह स्थविर के नाम के साथ ही संबद्ध हो गया है। वेदेह स्थविर का काल निश्चित रूप से तेरहवीं शताब्दी ही माना जाता है,[4] यद्यपि कुछ विद्वान् उसे चौदहवीं शताब्दी मानने के भी पक्षपाती

---

१. देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३६।

२. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३५-३६।

३. सिंहली लिपि में सरणतिस्स द्वारा दो भागों में सम्पादित, कोलम्बो १९०१ एवं १८९९; उसी लिपि में सिंहली व्याख्या-सहित देवरक्खित द्वारा सम्पादित, कोलम्बो, १९१७।

४. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४३ पद-संकेत २; विंटरनित्ज: हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२४। मललसेकर के मतानुसार वेदेह थेर के गुरु सिंहली भिक्षु आनन्द वनरतन बुद्धप्पिय (रूपसिद्धि और पज्जमधु के रचयिता) के भी गुरु थे और वे (आनन्द वनरतन) विजय-

हैं।[1] संभवतः तेरहवीं शताब्दी के अंतिम और चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वे जीवित थे। वैदेह स्थविर का जन्म विप्रग्राम (विप्पगाम) के एक ब्राह्मण-वंश में हुआ था। बाद में उन्होंने बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होकर प्रव्रज्या ले ली थी। उनके गुरु प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु आनन्द स्थविर थे, जो 'वनरतन' या 'अरण्यायतन' (अरञ्ञायतन—अरण्यवासी) भी कहलाते थे। वैदेह स्थविर ने भी स्वयं अपने को 'वनवासी' संप्रदाय का अनुयायी बतलाया है।[2] इन्हीं की रचना 'समन्तकूट-वण्णना'[3] नामक कविता भी है, जिसमे बुद्ध के जीवन और विशेषतः उनके तीन बार लंका-गमन तथा उनके चरण (श्रीपद) चिन्ह द्वारा अंकित समन्त-कूट (सुमन-कूट) पर्वत का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ में ७९६ पालि वृत्त हैं। किन्तु इनकी अधिक प्रसिद्ध रचना 'रसवाहिनी' ही है। 'रसवाहिनी' १०३ आख्यानों का संग्रह है। इनमें प्रथम ४० के देश और परिस्थिति का चित्रण भारत (जम्बुद्वीप) में और शेष ६३ का लंका में किया गया है। कहानियाँ प्रायः गद्य में ही है, किन्तु बीच-बीच में कहीं-कहीं गाथात्मक अंश का भी छिटका दिखाई देता है। भाषा की दृष्टि से यह उतनी सफल रचना नही कही जा सकती, किन्तु आख्यानात्मक कला के पर्याप्त दर्शन इस सुन्दर रचना में होते हैं। नैतिक उपदेश की प्रधानता होते हुए भी अनेक कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण हुई हैं। कृतज्ञ पशु और अकृतज्ञ मनुष्य की कहानी (जिसका एक रूप सच्चकिर जातक में भी पाया जाता है) निश्चय ही विश्व-साहित्य की एक संपत्ति है। जातक, अपदान, पालि अट्ठकथाएँ और महावंस की पृष्ठभूमि में लिखा हुआ यह ग्रन्थ निश्चय ही सिंहली और भारतीय आख्यान-साहित्य का एक महत्वपूर्ण रत्न है। कुछ कहानियों के देश-काल को भारत और कुछ को लंका में रखकर, यह ग्रन्थ उक्त

बाहु तृतीय के समकालिक थे। दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २१०-२१२; २२०-२२५। इस प्रकार भी वेदेह थेर का काल तेरहवीं शताब्दी ही ठहरता है।

१. देखिये विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६२५।

२. 'रसवाहिनी' के अन्त में, देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २१०।

३. सिंहली अनुवाद-सहित सिंहली लिपि में धम्मानन्द और ज्ञाणिस्सर (ज्ञानेश्वर) द्वारा सम्पादित, कोलम्बो, १८९०।

दोनों देशों की अभिन्न सांस्कृतिक और धार्मिक एकता को एक सुन्दर कलात्मक रूप में उपस्थित करता है। खेद है कि इस ग्रन्थ का अभी कोई नागरी-संस्करण या हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ। दोनों देशों के सांस्कृतिक सम्बन्ध और विशेषत: भारतीय साहित्य के सिंहली साहित्य पर प्रभाव के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का पारायण अत्यन्त आवश्यक है। बुद्ध-पूजा का तत्व इस ग्रन्थ की कुछ कहानियों में ध्वनित होता है, जो इस संबंधी महायानी प्रवृत्ति या भारतीय भक्तिवाद के प्रभाव का सूचक हो सकता है। 'रसवाहिनी' की एक 'रसवाहिनी-गण्ठि' नामक पालि-टीका भी लिखी गई। सिंहली भाषा में इसका शब्दश: अनुवाद भी मिलता है। उस भाषा में इस विषय-संबंधी अन्य भी प्रभूत साहित्य उपलब्ध है। बरमा में यह ग्रन्थ 'मधुरसवाहिनी' या 'मधुररसवाहिनी' के नाम से प्रसिद्ध है।

बुद्धालङ्कार

१५वीं शताब्दी के आवा (बरमा)-निवासी शीलवंस (सीलवंस) नामक भिक्षु की रचना है।[1] यह पद्यबद्ध है। निदान-कथा की सुमेध-कथा पर यह आधारित है। अन्य कुछ ध्यान देने योग्य विशेषता इसमें नहीं है।

सहस्सवत्थुप्पकरण

इस ग्रन्थ में लगभग एक हजार कहानियों का संग्रह बताया जाता है। संभवत: 'रसवाहिनी' का यही आधार था। कम से कम इन दोनों का संबंध तो स्पष्ट ही है। बरमा से इस ग्रन्थ का लंका में प्रचलन हुआ। किन्तु संभवत: यह मौलिक रूप में लंका में ही लिखा गया था। इस ग्रन्थ की 'सहस्सवत्थट्ठकथा' नामक एक टीका भी थी, जिसका उल्लेख कई बार महावंस-टीका (ग्यारहवीं-तेरहवीं शताब्दियों के बीच में रचित) में किया गया है। मललसेकर ने इसे ही 'रसवाहिनी' का स्रोत माना है।[2]

राजाधिराजविलासिनी

१८वीं शताब्दी के बरमी राजा बोदोपया (बुद्धप्रिय) की प्रार्थना पर लिखा गया एक पद्य-ग्रन्थ है, जिसमें उनकी प्रशंसा की गई है। इसकी कहानियों का

---

१ मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४३।

२. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २२५-२२६।

आधार प्रधानतः जातक ही है, यद्यपि अट्ठकथा तथा वंश-साहित्य से भी लेखक ने पर्याप्त सामग्री ली है। विशेषणों का प्रयोग पंडिताऊपन के ढंग पर किया गया है, जो अरुचिकर है संस्कृत के व्याकरण और ज्योतिष शास्त्र से भी लेखक का पर्याप्त परिचय था, यह भी उसके विद्वत्तामय वर्णनों से और साहित्यिक निर्देशों से, जो उसने दिये हैं, विदित होता है।[१]

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अल्प महत्व के भी ग्रन्थ कथा-साहित्य पर इस उत्तरकालीन युग में लिखे गये। इनकी प्रेरणा का मुख्य आधार जातक ही रहा, यह तो निश्चित ही है। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में आवा (बरमा) के निवासी रट्ठसार ने कुछ जातकों का पद्यबद्ध अनुवाद किया।[२] प्रोम के भिक्षु तिपिटकालंकार ने १७वीं शताब्दी में वेस्सन्तर जातक का पद्यबद्ध अनुवाद किया।[३] अठारहवीं शताब्दी मे 'मालालंकारवत्थु' नामक बुद्ध-जीवनी भी किसी बरमी भिक्षु ने लिखी।[४] जातक-अट्ठकथा और वंश-साहित्य के बाद इस दिशा में मौलिक कुछ नहीं किया गया, यह हम इस सब कथा-साहित्य के पर्यवेक्षण स्वरूप कह सकते हैं।

पालि का व्याकरण-साहित्य : उसके तीन सम्प्रदाय

पालि साहित्य के इतिहास में व्याकरण का विकास बहुत बाद में चलकर हुआ। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के समय तक अर्थात् पाँचवी शताब्दी ईसवी या उसके कुछ बाद तक हमें किसी पालि व्याकरण या व्याकरणकार का पता नहीं चलता। जहाँ तक ज्ञात हुआ है, आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी व्याख्याओं में किसी प्राचीन पालि व्याकरण का आश्रय न लेकर पाणिनीय अष्टाध्यायी का ही लिया है। 'विसुद्धि मग्ग' में उनके द्वारा की हुई 'इन्द्रिय' शब्द की व्याख्या इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। 'विसुद्धि-मग्ग' के सोलहवें परिच्छेद 'इन्द्रियसच्च-निद्देसो' (इन्द्रिय और सत्य का निर्देश) में आता है "को पन नेसं इन्द्रियट्ठो नामाति ? इन्दलिङ्गट्ठो

---

१. विस्तृत विवरण के लिये देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ७८-८२।

२.-३. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४४, ५३।

४. इस ग्रन्थ का बिशप बिगेण्डेट ने अंग्रेजी अनुवाद दो भागों में किया है। प्रथम संस्करण, रंगून, १८५८ ई०। बाद में यह अनुवाद लन्दन से छपा है।

इन्द्रियटठो, इन्ददेसितट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्ददिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्दसिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्दजुट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो"।[1] निश्चय ही यहाँ पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण का यह सूत्र प्रतिध्वनित है "इन्द्रिय इन्द्रलिगं, इन्द्रदृष्टं, इन्द्रजुष्टं, इन्द्रदत्तम्, इति वा" (५।२।९३)। इसी प्रकार पाणिनीय सूत्र ३।३।१३१ भी सुत्तनिपात की अट्ठकथा[2] में प्रतिध्वनित हुआ है। दोनों निरुक्तियाँ आपस में शब्दशः इतनी मिलती हैं कि आचार्य बुद्धघोष ने पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लिया है, इस निष्कर्ष का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता।[3] इसी प्रकार पाणिनि ने 'आपत्ति' शब्द का प्रयोग 'प्राप्ति' के अर्थ में किया है। आचार्य बुद्धघोष ने इस विषय में भी उनका अनुसरण कर इस शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग 'समन्तपासादिका' (विनयपिटक की अट्ठकथा) में अनेक बार किया है।[4] यहाँ हमारा यह कहना है कि यह प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के प्रभावस्वरूप उतना नहीं भी माना जा सकता, क्योंकि पालि-तिपिटक के स्वयं 'सोत आपत्ति' शब्द में यह प्रयोग रक्खा हुआ है। यह संभव है कि पालि और संस्कृत का विकास समकालिक होने के कारण पाणिनीय व्याकरण में कुछ ऐसे प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हों जो उस समय की साहित्यिक भाषा (संस्कृत) और लोक-भाषा (पालि) में समान रूप से प्रतिष्ठित हों। अतः बुद्धघोष ने ऐसे प्रयोगों को पाणिनीय व्याकरण से न लेकर संभवतः पालि-तिपिटक

---

१. विसुद्धिमग्ग १६।४ (धर्मानन्द कोसम्बी द्वारा सम्पादित देवनागरी संस्करण)।

२. जिल्द पहली, पृष्ठ २३ (पालि टेक्स्ट सोसायटी का संस्करण); इसी प्रकार विसुद्धिमग्ग ७।५८ (कोसम्बी जी का संस्करण) में "वण्णागमो वण्णविपरिययो" अक्षरशः 'काशिका' का उद्धरण है, जिसे बुद्धघोष ने प्राचीन संस्कृत-व्याकरण की परम्परा से लिया है। काशिका वृत्ति का समय सातवीं शताब्दी ईसवी है, बुद्धघोष के दो शताब्दी बाद।

३. इस मत की स्थापना बड़ी योग्यता के साथ डॉ० विमलाचरण लाहा ने की है: देखिये उनका 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष', पृष्ठ १०४-१०५; हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३२-३३; मिलाइये जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १९०६-०७, पृष्ठ १७२-७३।

४. 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष', पृष्ठ १०५; हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३३।

से ही लिया हो, ऐसा मानना भी अधिक समीचीन जान पड़ता है।[1] यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि उनकी अनेक निरुक्तियाँ तिपिटक और विशेषतः अभिधम्म-पिटक के एतत्संबंधी विशाल भांडार पर ही आश्रित हैं। यद्यपि बुद्धघोष से पहले पारिभाषिक अर्थों में पालि में व्याकरण या निरुक्ति-शास्त्र (पालि-निरुत्ति—पालि तिपिटक के शब्दों की व्याकरण-सम्मत व्याख्या) न भी रहा हो, किन्तु तिपिटक के शब्दो की व्याख्या (वेय्याकरण) के लिए कुछ नियम तो अवश्य ही रहे होंगे। सुत्त-पिटक के प्राचीनतम अंशों में भी 'ब्राह्मण, 'श्रमण', 'भिक्षु', 'तथागत' आदि शब्दों की जो निरुक्तियाँ और व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ किये गये है, उनसे यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। धम्मपद में महाप्रज्ञ भिक्षु के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह 'निरुक्ति और पदों का ज्ञाता' ('निरुत्तिपदकोविदो') हो और 'अक्षरों के सन्निपात' (अक्खरान सन्निपातं) अर्थात् शब्द-योजना से परिचित हो।[2] इससे भी यही प्रकट होता है कि शब्दों की निरुक्ति और व्याकरण संबंधी साधारण नियमों की कोई परम्परा पालि साहित्य के प्राचीनतम युग में भी अवश्य रही होगी। संभवतः इसी परम्परा का प्रवर्तन हमें नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस में मिलता है। फिर भी बौद्ध अनुश्रुति का यह सामान्य विश्वास कि भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य महाकच्चान (महाकात्यायन) ने भी एक पालि व्याकरण की रचना की थी, तत्संबंधी साहित्य के अभाव में ठीक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार बोधिसत्त और सब्बगुणाकर नामक दो प्राचीन व्याकरण भी, जिनका नाम बौद्ध परम्परा में सुना जाता है, आज उपलब्ध नहीं हैं। आज जो व्याकरण-साहित्य पालि का हमें उपलब्ध है, तीन शाखाओं या संप्रदायों में विभक्त है (१) कच्चान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य, (२) मोग्गल्लान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य, (३) अग्गवंस-कृत सद्दनीति और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य। लंका और बरमा में ही इस प्रभूत पालि व्याकरण-संबंधी साहित्य का प्रणयन सातवीं

---

१. यह इससे भी प्रकट होता है कि बुद्धघोष ने शब्द-निरुक्ति करने वाले तिपिटक के अंशों, विशेषतः अभिधम्म-पिटक, को 'वेय्याकरण' कहा है। देखिये "सकलं पि अभिधम्म-पिटकं तं वेय्याकरणं ति वेदितब्बं"। अट्ठसालिनी की निदान-कथा।

२. धम्मपद २४-१९।

शताब्दी के बाद से हुआ है। अब हम उपर्युक्त तीनों संप्रदायों की परम्परा का अलग-अलग विवेचन करेंगे।

कच्चान-व्याकरण[१] और उसका उपकारी साहित्य

'कच्चान-व्याकरण' (या कच्चायन-व्याकरण—कात्यायन-व्याकरण) पालि साहित्य का प्राचीनतम व्याकरण है। इसका दूसरा नाम 'कच्चायन गन्ध' (कात्यायन-ग्रन्थ) भी है। इस व्याकरण के रचयिता का बुद्ध के प्रधान शिष्य महा कच्चान (महाकात्यायन) से कोई सम्बन्ध नहीं, इसे बौद्ध विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।[२] इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण के वार्तिककार कात्यायन (तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व) से भी ये भिन्न हैं, ऐसा भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस के रचयिता कच्चान से भी व्याकरणकार कच्चान भिन्न हैं। व्याकरणकार कच्चान यदि बुद्धघोष के पूर्वगामी होते तो यह असम्भव था कि कच्चान-व्याकरण जैसे प्रामाणिक पालि-व्याकरण का वे अपनी व्याख्याओं में कहीं भी उद्धरण न देते। इस निषेधात्मक साक्ष्य के अलावा अन्य स्पष्ट साक्ष्य भी कच्चान-व्याकरण के बुद्धघोष के काल से उत्तरकालीन होने के दिये जा सकते हैं। कच्चान ने अपने व्याकरण में सर्ववर्मा के कातन्त्र व्याकरण (चतुर्थ शताब्दी ईसवी) का अनुगमन किया है। उन्होंने स्पष्टतापूर्वक पाणिनि व्याकरण का उसकी काशिका-वृत्ति के साथ अनुसरण किया है। काशिका-वृत्ति की रचना का समय सातवीं शताब्दी ईसवी है। अतः यह निश्चित है कि कच्चान-व्याकरण भी सातवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता। स्वयं कच्चान-व्याकरण में ही उसके संस्कृत संबंधी ऋण को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार सूत्र १।१।८ में कहा गया है 'परसमञ्ञायोगे'। इसकी व्याख्या करते हुए उसकी वृत्ति (वुत्ति) में कहा गया है 'या च पन सक्कतगन्धेसु समञ्ञा....आदि'। इन' संस्कृत ग्रन्थों' में (सक्कत-गन्धेसु), जैसा हम अभी कह चुके हैं, कातन्त्र-व्याकरण (चौथी शताब्दी ईसवी) और काशिका वृत्ति (सातवीं शताब्दी) प्रधान हैं। अतः कच्चान व्याकरण का काल सातवीं शताब्दी के बाद का ही है। कच्चान-व्याकरण में ६७५ सूत्र है। ये आठ परि-

---

१. डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित, कलकत्ता, १८९१; डॉ० मेसन ने भी इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है।

२. सुभूति: नाममाला, पृष्ठ ६ (भूमिका)।

च्छेदों में विभक्त हैं, जिनमें प्रत्येक में चार बातों का विवेचन है, (१) सुत्त (सूत्र, नियम, संक्षिप्त रूप में), (२) वुत्ति (पूरक विवरण, सूत्रों को सुगम बनाने के लिये), (३) पयोग (प्रयोग), और (४) न्यास (व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ)। 'न्यास' सामान्यतः अलग पुस्तक के रूप में प्राप्त है और उसका नाम 'मुखमत्तदीपनी' भी है, हम जैसा आगे देखेंगे। ऐसा माना जाता है कि सुत्त कच्चायन-रचित है, वुत्ति संघनदी नामक स्थविर द्वारा, पयोग ब्रह्मदत्त-रचित और न्यास विमलबुद्धि द्वारा रचित हैं। इस व्याकरण के अलावा कच्चान 'महानिरुत्ति गन्ध' (महानिरुक्ति ग्रन्थ) और 'चुल्ल निरुत्ति गन्ध' (लघु निरुक्ति-ग्रन्थ) नामक दो व्याकरण-ग्रन्थों के भी ये रचयिता बताये जाते हैं।[1] कच्चान-व्याकरण का सहायक साहित्य काल-क्रमानुसार इस प्रकार है (१) कच्चान-व्याकरण का सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण भाष्य 'न्यास' है। इसी का दूसरा नाम 'मुखमत्तदीपनी' भी है। यह आचार्य विमलबुद्धि की रचना है, जिनका काल ग्यारहवीं शताब्दी से पहले और कच्चान-व्याकरण की रचना (सातवीं शताब्दी) के बाद था। (२) 'न्यास' की टीका-स्वरूप 'न्यास-प्रदीप' बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखा गया। इसके रचयिता 'छपद' नामक आचार्य थे। यह बरमी भिक्षु थे, किन्तु इनकी शिक्षा लंका में हुई थी। यह सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे। इनकी अन्य रचनाओं का परिचय हम पहले दे चुके हैं। 'न्यास' पर अन्य साहित्य भी उत्तरकालीन शताब्दियों में बहुत लिखा जाता रहा।[3] छपद ने कच्चान-व्याकरण साहित्य को एक ग्रन्थ और भी दिया। (३) सुत्त-निद्देस—छपद-कृत कच्चान-व्याकरण की टीका-स्वरूप यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसका निश्चित रचना-काल ११७१ ई० (बुद्धाब्द १७१५) है।[4] (४) स्थविर संघ-

---

१. गन्धवंस, पृष्ठ ५९ (मिनयेफ द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी में सम्पादित)। सुभूति ने इन ग्रन्थों को यमक की रचना बताया है। देखिये उनकी नाममाला, पृष्ठ २८ (भूमिका)।

२. गन्धवंस, पृष्ठ ६०; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ९ (भूमिका)।

३. सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में बर्मी भिक्षु दाठानाग द्वारा रचित 'निरुत्त सार-मंजूसा' नामक 'न्यास' की टीका प्रसिद्ध है। देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५५; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १० (भूमिका)।

४. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १५ (भूमिका); मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ १७-१८।

रक्खित (संघरक्षित) द्वारा रचित 'सम्बन्ध-चिन्ता'। यह ग्रन्थ कच्चान-व्याकरण के आधार पर पालि पद-योजना या शब्द-संबंध का विवेचन करता है। पालि क्रियाओं और वाक्यों में उनके प्रयोग का विवेचन है और कारकों का भी। स्थविर संघरक्खित सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे, अतः निश्चित रूप से इनका काल १२वीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही है। इस प्रकार ये छपद के समकालिक थे। इन्होंने विनय-साहित्य पर भी 'खुद्दक-सिक्खा' (क्षुद्रक-शिक्षा-रचयिता भिक्षु धर्मश्री-धम्मसिरि) के टीका स्वरूप 'खुद्दकसिक्खा-टीका' लिखी थी। 'संबंध-चिन्ता' पर एक टीका भी पाई जाती है, किन्तु उसके लेखक के नाम और काल का पता नहीं है। कुछ के मतानुसार सम्बन्ध-चिन्ता-टीका के लेखक सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के ही शिष्य वाचिस्सर हैं। पगान के अभय नामक स्थविर ने भी सम्बन्ध-चिन्ता पर एक टीका लिखी। (५) स्थविर सद्धर्मश्री (सद्धम्मसिरि)-विरचित 'सद्दत्थभेदचिंता' (शब्दार्थभेदचिन्ता)। यह ग्रन्थ बरमा में १२ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखा गया। इस पर भी एक अज्ञात लेखक की टीका मिलती है। (६) स्थविर बुद्धप्रिय (दीपंकर)-विरचित 'रूप-सिद्धि' या 'पद-रूप-सिद्धि'। स्थविर बुद्धप्रिय दीपंकर ने इस ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय देते हुए अपने को आनन्द स्थविर का शिष्य कहा है। 'पज्जमधु' के रचयिता स्थविर बुद्धप्पिय से, जो चोळिय दीपंकर भी कहलाते थे और सिंहली स्थविर आनन्द के शिष्य थे, यह सम्भवतः अभिन्न हैं। इनका काल इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही है।[1] 'रूपसिद्धि' सात परिच्छेदों में विभक्त है और कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ कच्चान-व्याकरण का ही रूपान्तर मात्र है या उस पर आधारित है। 'रूप-सिद्धि' पर बुद्धप्रिय स्थविर ने ही एक टीका लिखी और सिंहली भाषा में उसका रूपान्तर भी किया गया। (७) बालावतार-व्याकरण—यह व्याकरण विशेषतः बरमा और स्याम में बड़ा लोकप्रिय है। लंका में इसके कई संस्करण निकले हैं।[2] यह भी कच्चान-व्याकरण के आधार पर ही लिखा गया है। यह ग्रन्थ 'धम्मकित्ति' (धर्मकीर्ति) की रचना मानी जाती है। यह धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति), डा० गाय-

---

१. परन्तु श्रीमती मेबिल बोड ने 'रूप-सिद्धि' को बारहवीं शताब्दी की रचना माना है। देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा', पृष्ठ ३७।

२. विशेषतः श्री धर्माराम द्वारा सम्पादित, पलियगोड, १९०२; बालावतार, टीका-सहित, सुमंगल महास्थविर द्वारा सम्पादित, कोलम्बो १८९३।

गर के मतानुसार, 'सद्धम्मसंगह' के रचयिता 'धम्मकित्ति महासामि' (धर्मकीर्ति महास्वामी) ही हैं, जिनका जीवन-काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है।[1] गन्धवंस के वर्णनानुसार यह वाचिस्सर (वागीश्वर) की रचना है।[2] वाचिस्सर सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे। उनका जीवन-काल निश्चित रूप से बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग और तेरहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग है। इस प्रकार उनकी रचना मानने पर 'बालावतार' का रचना-काल भी उसी समय मानना पड़ेगा। परन्तु, जैसा हम 'सद्धम्मसंगह' के प्रकरण में स्पष्ट कर चुके, हैं 'बालावतार' व्याकरण के रचयिता सिंहली भिक्षु धम्मकित्ति महाथेर है, जिन्होंने सिंहली भाषा में 'निकाय-सग्रह' और 'सद्धर्मालंकार' आदि ग्रन्थ भी लिखे और जिनका समय चौदहवीं शताब्दी ही है। यह 'सद्धम्म संगह' के रचयिता धम्मकित्ति महासामि से भिन्न थे। 'बालावतार' व्याकरण पर लिखी हुई एक टीका भी मिलती है, किन्तु उसके लेखक का नाम और काल आदि सब अज्ञात हैं। (८) पन्या (बरमा) के भिक्षु कण्टकखिप नागित (या खण्टकखिप नागित) या केवल नागित-विरचित 'सद्दसारत्थजालिनी' नामक कच्चान व्याकरण की टीका १३५६ ई० (बुद्धाब्द १९००) में लिखी गई। (९) 'कच्चायन-भेद' नामक कच्चान-व्याकरण की टीका, जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में थातोन (बर्मा) के स्थविर महायस ने की। इन्हीं स्थविर की एक और व्याकरण-संबंधी रचना 'कच्चायन-सार' है।[3] 'गंधवंस' के वर्णनानुसार 'कच्चायन-भेद' और 'कच्चायन-सार' दोनों धम्मानन्द नामक भिक्षु की रचनाएँ हैं।[4] 'कच्चायन-भेद' और 'कच्चायन-सार' पर टीकाएँ भी लिखी गईं। 'कच्चायन-भेद' की दो टीकाएँ अति प्रसिद्ध हैं, (१) 'सारत्थविकासिनी', जिसकी रचना १६०८ ई० (बुद्धाब्द २१५२) के लगभग अरियालंकार नामक बरमी भिक्षु ने की, जो आवा के निवासी थे। (२) 'कच्चायनभेद-महाटीका' जिसके रचयिता उत्तम सिक्ख

---

१. पालि लिटरेचर एंड लॅग्वेज, पृष्ठ ४५, ५१।

२. पृष्ठ ६२, ७१ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)।

३. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ८३ (भूमिका); मेडिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३६।

४. पृष्ठ ७४ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)।

(उत्तम शिक्ष) माने जाते हैं, जिनके काल का कुछ निश्चित पता नहीं है। 'कच्चायन-सार' पर स्वयं इसके रचयिता महायस ने एक टीका लिखी थी। गायगर के मतानुसार यह 'कच्चायनसार-पुराणटीका' थी[1] जो आज उपलब्ध है। सिंहली विद्वान् सुभूति ने इसे किसी अज्ञात लेखक की रचना माना है।[2] 'कच्चायन-सार' की एक और टीका 'कच्चायनसार-अभिनव टीका' या 'सम्मोहविनासिनी' पगान के भिक्षु सद्धम्मविलास के द्वारा लिखी गई।[3] (१०) पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में कच्चान-व्याकरण पर 'सद्दबिन्दु' (शब्द-बिन्दु) नामक सहायक ग्रन्थ लिखा गया। 'सासनवंस' के वर्णनानुसार अरिमद्दन (अरिमर्दन-पगान-बरमा) का राजा क्यच्वा इसका रचयिता था।[4] सुभूति ने इस ग्रन्थ का निश्चित रचना-काल १४८१ ई० (बुद्धाब्द २०२५) बताया है।[5] 'सद्दबिन्दु' पर 'लीनत्थ-विसोधनी'[6] नामक टीका ञाणविलास (ज्ञान-विलास) नामक बरमी भिक्षु द्वारा १६वीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखी गई। (११) सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग में 'बालप्पबोधन' (बालप्रबोधन) नामक व्याकरण लिखा गया। इसके रचयिता का ठीक नाम पता नहीं है। (१२) 'अभिनव-चुल्लनिरुत्ति' नामक व्याकरण में, जिसके रचयिता या रचना-काल के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कच्चान व्याकरण के नियमों के अपवादों के विवरण हैं। (१३) सत्रहवीं शताब्दी के आदि भाग में बरमी भिक्षु महाविजितावी या विजितावी ने 'कच्चायन-वण्णना' नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की। कच्चान-व्याकरण के सन्धिकप्प

---

१. पालि लिटरेचर एंड लॅंग्वेज, पृष्ठ ५२।

२. नाममाला, पृष्ठ ८४-८५ (भूमिका)।

३. बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बर्मा, पृष्ठ ३६-३७।

४. पृष्ठ ७६ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का मेबिल बोड द्वारा सम्पादित संस्करण); देखिये बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बर्मा, पृष्ठ २५ भी।

५. नाममाला, पृष्ठ ९१-९२ (भूमिका)। मिलाइये बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २५, पद-संकेत ४।

६. श्रीमती मेबिल बोड ने इसका यही नाम दिया है। देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा', पृष्ठ २५, पद-संकेत ४। परन्तु गायगर ने इसे 'लीनत्थसूदनी' नाम से पुकारा है। पालि लिटरेचर एण्ड लॅंग्वेज, पृष्ठ ५२। पता नहीं गायगर का आधार क्या है?

(सन्धि-कल्प) का यह विवेचन है। 'कच्चान-वण्णना' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ भी है, जिससे इस अर्वाचीन रचना को भिन्न समझना चाहिए। महाविजितावी ने 'वाचकोपदेस' नामक एक और व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें उन्होंने व्याकरण-शास्त्र का नैयायिक दृष्टि से विवेचन किया है। इस ग्रन्थ का आज भी महत्व माना जाता है। (१४) धातुमंजूसा—कच्चान-व्याकरण के अनुसार धातुओं की सूची इस ग्रन्थ में संगृहीत की गई है। इस ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपना नाम स्थविर सीलवंस (शीलवंस) बताया है। यह एक पद्यबद्ध रचना है। सुभूति ने कहा है कि वोपदेव के कवि-कल्पद्रुम से इस ग्रन्थ में काफी सहायता ली गई है।[1] फ्रेंक ने पाणिनीय धातुपाठ का भी इस ग्रन्थ पर पर्याप्त प्रभाव दिखाया है।[2]

मोग्गल्लान-व्याकरण और उसका उपकारी साहित्य

कच्चान-व्याकरण के समान मोग्गल्लान या मोग्गल्लायन[3] व्याकरण पर भी प्रभूत सहायक साहित्य की रचना हुई है। सर्वप्रथम 'मोग्गल्लान-व्याकरण' को ही लेते हैं। इस व्याकरण का लंका और बरमा में बड़ा आदर है। पालि-व्याकरणों में निश्चय ही इसका एक ऊँचा स्थान है। कच्चान-व्याकरण के समान प्राचीन न होने पर भी यह उससे अधिक पूर्ण है और भाषा-उपादानों को इसने अधिक विस्तृत रूप से संकलित और व्यवस्थित किया है। जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है, "पालि व्याकरणों में 'मोग्गल्लान-व्याकरण' पूर्णता तथा गंभीरता में श्रेष्ठ है"।[4] मोग्गल्लान-व्याकरण में ८१७ सूत्र हैं, जिनमें सूत्र-पाठ, धातु-पाठ, ण्वादि-पाठ आदि सभी व्याकरण के विषयों का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है। मोग्गल्लान-व्याकरण की विषय-वस्तु को समझने के लिए भिक्षु जगदीश काश्यप कृत 'महा-पालि व्याकरण' द्रष्टव्य है। यह स्वयं हिन्दी में पालि-व्याकरण पर प्रथम और अपनी श्रेणी की उच्चकोटि की रचना है, एवं मोग्गल्लान-व्याकरण पर आधारित

---

१. देखिये नाममाला, पृष्ठ ९५ (भूमिका)।
२. देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५६।
३. पालि व्याकरण की दृष्टि से कच्चान और कच्चायन, मोग्गल्लान और मोग्गल्लायन, इन शब्दों के ये दोनों रूप ही शुद्ध हैं।
४. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)।

है। मोग्गल्लान-व्याकरण का दूसरा नाम 'मागध सद्दलक्खण' भी है। ग्रन्थ के आदि में ही व्याकरणकार ने कहा है "सिद्धमिद्धगुणं साधु नमस्सित्वा तथागतं। सधम्मसंघं भासिस्सं मागध सद्दलक्खणं॥" पाणिनि (४५० ई० पूर्व), कातंत्र-व्याकरण (चौथी शताब्दी ईसवी) और अन्य प्राचीन पालि-व्याकरणों का आधार लेने के अतिरिक्त मोग्गल्लान-व्याकरण पर चन्द्रगोमिन् के चान्द्र-व्याकरण (सातवीं शताब्दी ईसवी) का भी पर्याप्त प्रभाव उपलक्षित होता है। मोग्गल्लान-व्याकरण लिखने के अतिरिक्त मोग्गल्लान महाथेर ने उसकी 'वृत्ति' (वुत्ति) भी लिखी और फिर उस वृत्ति पर 'पञ्चिका' या "पञ्जिका' नामक पांडित्यपूर्ण टीका भी। 'मोग्गल्लान-पञ्चिका' अभी तक अनुपलब्ध थी। किन्तु जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने हमें सूचना दी है "परम-पूज्य विद्वद्वर श्री धर्मानन्द नायक महास्थविर को ताल-पत्र पर लिखी 'पञ्चिका' की एक पुरानी पुस्तक लंका के किसी विहार में मिल गई। उन्होंने उसे संपादित कर विद्यालंकार परिवेण, लंका से प्रकाशित करवाया है।"[१] निश्चय ही मोग्ग-ल्लान-व्याकरण और मोग्गल्लान-पञ्चिका पालि-व्याकरण का शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए आज भी बड़े आवश्यक ग्रन्थ हैं। मोग्गल्लान-व्याकरण की वृत्ति (वुत्ति) के अन्त में व्याकरणकार ने अपना परिचय दिया है, जिससे हमें मालूम होता है कि मोग्गल्लान महाथेर अनुराधपुर(लंका) के थूपाराम नामक विहार में निवास करते थे और उन्होंने अपने व्याकरण की रचना परक्कमभुज (पराक्रम-बाहु) के शासन-काल में की थी। विद्वानों का अनुमान है कि इन परक्कमभुज से तात्पर्य पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) से है, जिनके शासन-काल में लंका में पालि साहित्य की बड़ी समृद्धि हुई। अतः मोग्गल्लान महाथेर का काल बारहवीं शताब्दी का अंतिम भाग ही मानना चाहिए।[२] मोग्गल्लान-व्याकरण के आधार पर बाद में चलकर अन्य व्याकरण-साहित्य की रचना हुई, जिसके अन्तर्गत मुख्य ग्रंथ ये है। (१) 'पद-साधन' जिसकी रचना मोग्गल्लान के शिष्य पियदस्सी ने की। पियदस्सी मोग्गल्लान के समकालिक ही थे। 'पद-साधन' एक प्रकार से मोग्गल्लान के व्याकरण का ही संक्षिप्त रूप है। प्रसिद्ध सिंहली विद्वान् डे ज़ॉयस।

---

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ इक्यावन (वस्तुकथा)।

२. मोग्गल्लान-व्याकरण का देवमित्त द्वारा सम्पादित संस्करण, कोलम्बो, १८९०, प्रसिद्ध है। अन्य भी बरमी और सिंहली संस्करण उपलब्ध हैं।

का कथन है कि पियदस्सी के 'पद-साधन' का मोग्गल्लान-व्याकरण के साथ वही सबंध है, जो बालावतार का कच्चान-व्याकरण के साथ।[1] १४७२ ई० में तित्थगाम (लंका) के निवासी स्थविर श्री राहुल ने, जिनकी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) थी 'पद-साधन' पर 'पद-साधन-टीका' या 'बुद्धिप्पसादिनी' नाम की टीका लिखी। (२) वनरतन मेधंकर विरचित 'पयोग-सिद्धि' (प्रयोग-सिद्धि)—मोग्गल्लान व्याकरण-संप्रदाय पर लिखा गया यह संभवतः सर्वोत्तम ग्रन्थ है। डे ज़ॉयसा ने मोग्गल्लान-व्याकरण के साथ इसका वही संबन्ध दिखाया है, जो 'रूपसिद्धि' का 'कच्चान-व्याकरण' के साथ।[2] वनरतन मेधंकर तेरहवीं शताब्दी में हुए। 'जिन-चरित' के रचयिता के रूप में हम उनके काल का पहले विवेचन कर चुके हैं। वे भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७-१२८८) के समकालिक थे। अतः उनका जीवन-काल' तेरहवीं शताब्दी है। यहाँ यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि 'पयोग सिद्धि' कार और 'जिन-चरित' कार मेधंकर इसी नाम के लोकप्पदीपसार के कवि से भिन्न हैं। पहले मेधंकर (या वनरतन मेधंकर) भिक्षु सिंहली थे और दूसरे मेधंकर बरमी, जैसा हम पहले भी दिखा चुके हैं। गायगर 'पयोग-सिद्धि' के रचयिता वनरतन मेधंकर को 'जिन-चरित' के इसी नाम के लेखक से भिन्न समझते हैं,[3] जिसे हम पहले ही अस्वीकार कर चुके है। हमने दोनों को एक ही व्यक्ति मानना उचित समझा है। (३) मोग्गल्लान-पञ्चिका-प्रदीप' (या मोग्गल्लान-पञ्जिका-प्रदीप) —'मोग्गल्लान-पञ्चिका' की व्याख्या है। 'पदसाधन-टीका' के लेखक श्री राहुल 'वाचिस्सर' ही 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-प्रदीप' के लेखक है। यह ग्रन्थ अशतः पालि और अंशतः सिंहली में लिखा गया है। 'गन्धवंस'[4] के वर्णनानुसार 'वाचिस्सर' ने 'मोग्गल्लान-व्याकरण' पर एक टीका लिखी थी। डा० गायगर ने इन 'वाचिस्सर' को उसी नाम के सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य (१२ वीं शताब्दी का उत्तर भाग) न मानकर 'मोग्गल्लान-पंचिका प्रदीप' के लेखक इन स्थविर राहुल को ही माना

---

१. केटेलाग, पृष्ठ २५।

२. केटेलाग, पृष्ठ २६; मिलाइये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २३१।

३. पालि लिटरेचर एंड लॅग्वेज, पृष्ठ ५४।

४. पृष्ठ ६२, ७१।

है, जिनकी भी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) थी।[1] डे ज़ॉयसा के मतानुसार 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-प्रदीप' व्याकरण-शास्त्र पर एक अत्यन्त गंभीर और पांडित्य-पूर्ण रचना है।[2] इसमें भाषा-संबंधी बहुत मूल्यवान् सामग्री संकलित की गई है। अनेक प्राचीन संस्कृत और पालि-व्याकरणों से भी उद्धरण दिये गये हैं। संस्कृत, पालि, सिंहली और तमिल भाषाओं के उद्धरणों से यह ग्रन्थ परिपूर्ण है। इसकी रचना-तिथि १४५७ ई० है।[3] आचार्य श्री धम्माराम नायक महाथेर ने सन् १८९६ ई० में इस ग्रन्थ का सम्पादन किया, जो विद्यालंकार परिवेण, लंका, से उसी साल प्रकाशित भी हुआ। डा० मललसेकर ने इस संस्करण को उनके द्वारा पालि विद्वत्ता के लिए सिंहल में की गई एक स्पष्ट सेवा माना है।[4] श्री राहुल वस्तुतः पन्द्रहवीं शताब्दी के एक महान् बहुभाषातत्त्वविद् विद्वान् और वैयाकरण थे, ऐसा उनके उपर्युक्त दो ग्रन्थों से सिद्ध है। वे 'षड्भाषापरमेश्वर' कहलाते थे। इन 'षड् भाषाओं' में सम्मिलित हैं संस्कृत, मागधी (पालि), अपभ्रंश, पैशाची, शौरसेनी और तमिल। इनके अतिरिक्त सिंहली तो उनकी मातृभाषा थी ही, जिसके वे अगाध विद्वान् ही नहीं, महत्वपूर्ण कवि भी थे। 'काव्य-शेखर' नामक सिंहली काव्य के भी वे लेखक हैं। प्रासंगिक तौर पर श्री राहुल के 'षड्भाषा-परमेश्वर' उपपद पर कुछ रुकना पड़ता है। भारतीय साहित्य में 'षड्-भाषाओं' की रूढ़ि प्राकृत साहित्य में पाई जाती है। परन्तु वहाँ मान्य छह भाषाएँ हैं, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। हिन्दी के आदि कवि चन्द ने भी केवल रूढ़िवश कहा है, "षट भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।"

(४) धातुपाठ[5]— मोग्गलान-व्याकरण के अनुसार धातुओं की सूची है।

---

१. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५३। मललसेकर भी इन्हीं राहुल 'वाचिस्सर' या श्री राहुल को निर्विवाद रूप से 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-प्रदीप' का रचयिता मानते हैं। देखिये उनकी कि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २५१।

२. केटेलाग, पृष्ठ २४; सिलाइवे मललसेकर : कि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २५१-२५२।

३. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५४।

४. कि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २५२।

५. देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ ३६७-४१२ (मोग्गल्लान-धातुपाठो)।

कच्चान-व्याकरण की 'धातु-मंजूसा' की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक संक्षिप्त है। उसकी तरह पद्यबद्ध न होकर यह गद्य में है। संभवतः काल-क्रम में यह उससे प्राचीन है, क्योंकि 'धातु-मंजूसा' में इसी का आश्रय लिया गया है।[१] धातुपाठ के रचयिता के नाम या काल से विषय में अभी कुछ ज्ञात नहीं हो सका है।[२]

सद्दनीति[३] और उसका उपकारी साहित्य

पालि-व्याकरण का तीसरा सम्प्रदाय 'सद्दनीति' का है। यह बरमा में रचित पालि व्याकरण है। बरमा में भी सिंहल की ही तरह और उसी से प्रेरणा लेकर पालि व्याकरण के अध्ययन की महती परंपरा चली, जिसके पूर्ण विकास को हम 'सद्दनीति' में देखते है। कहा जाता है कि 'सद्दनीति' की प्रति जब श्री लंका के महा-विहार में उत्तरजीव (छपद के गुरु) उसके लिखे जाने के कुछ ही समय पश्चात् ले गये, तो वहाँ के भिक्षुओं ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और स्वीकार किया कि निश्चय ही इसके समान विद्वत्तापूर्ण रचना उनके यहाँ कोई नहीं है।[४] इसकी रचना सन् ११५४ ई० मे हुई। इसके रचयिता पगान के निवासी बरमी भिक्षु अग्गवंस थे, जो 'अग्गपंडित तृतीय' भी कहलाते थे। 'अग्ग पंडित द्वितीय' उनके चाचा थे, जो 'अग्ग पंडित प्रथम' (महा अग्ग पण्डित) के शिष्य थे। प्रथम अग्ग पण्डित 'लोकुप्पत्ति' के रचयिता थे। अग्गवंस बरमी राजा नरपति-सिथु (११६७-१२०२) के गुरु थे। अग्गवंस-कृत 'सद्दनीति' एक प्रकार से कच्चान-व्याकरण पर ही आधारित है।[५] मोग्गल्लान-व्याकरण तो सम्भवतः उसके

---

१. गायगर: पालि लिटरेचर एंड लॅग्वेज, पृष्ठ ५६।

२. 'मोग्गल्लान-पंचिका' (मोग्गल्लान-पंजिका) पर 'सारत्थविलासिनी' या 'सुस-द्दसिद्धि' नामक टीका सिंहली भिक्षु संघरक्खित ने लिखी, ऐसी सूचना मललसेकर ने दी है। देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २००, २८४।

३. हेमर स्मिथ ने तीन भागों में इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है, देखिये गायगर: पालि लिटरेचर एंड लॅग्वेज, पृष्ठ ५४, पद-संकेत ६; लाहा: हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३६, पद-संकेत १।

४. मेबिल बोड: दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ १६-१७।

५. यह फ्रैंक का मत है, जिसे गायगर ने पालि लिटरेचर एंड लॅग्वेज, पृष्ठ ५५ में उद्धृत किया है।

बाद की ही रचना है। संस्कृत व्याकरण का भी अग्गवंस ने पर्याप्त आश्रय लिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है कि पूर्व आचार्यों (आचरिया) और तिपिटक-साहित्य से आश्रय लेकर उन्होंने 'सद्दनीति' की रचना की है। निश्चय ही 'सद्दनीति' एक पांडित्यपूर्ण व्याकरण है। बरमा में वह शास्त्र की तरह पूजित है। इस ग्रन्थ में सत्ताईस अध्याय हैं। प्रथम १८ अध्याय 'महा-सद्दनीति' और शेष ९ अध्याय 'चूल-सद्दनीति' कहलाते है। 'पदमाला', 'धातुमाला' और 'सुत्तमाला, इन ३ भागों में सम्पूर्ण सद्दनीति-व्याकरण विभक्त हैं। 'धातुमाला' मे लेखक ने पालि रूपों के संस्कृत प्रतिरूप भी दिये हैं।

'धात्वत्थ दीपनी' नाम की पद्यबद्ध धातु-सूची में सद्दनीति-व्याकरण के अनुसार धातुओं का संकलन किया गया है। कच्चान-व्याकरण की धातुसूची 'धातु-मंजूसा' और मोग्गल्लान-व्याकरण की धातुसूची 'धातुपाठ' के समान इसमें भी पाणिनीय धातुपाठ का पर्याप्त आधार लिया गया हैं। इसके लेखक और उसके काल का ठीक पता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'सद्दनीति' पर और कोई विशेष साहित्य नहीं है।

अन्य पालि-व्याकरण

उपर्युक्त तीन सम्प्रदायों के व्याकरण-साहित्य के अतिरिक्त अन्य भी बहुत व्याकरण-साहित्य उपलब्ध है, जो यद्यपि इनमें से किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में नहीं रक्खा जा सकता, किन्तु जो पालि व्याकरण के पूर्ण शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह साहित्य भी परिमाण में इतना अधिक है कि इसकी पूरी सूची तो आचार्य सुभूति द्वारा सकलित 'नाममाला' (पालि व्याकरण पर सिहली भाषा मे लिखित ग्रन्थ) या डे ज़ॉयसा के 'केटेलाग' ('ए केटेलाग ऑव दि टैम्पिल लाइब्रेरीज़ ऑव सिलोन) में ही देखी जा सकती है। यहाँ हम केवल कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों का ही उल्लेख करेंगे।

(१) पगान (बरमा) के निवासी भिक्षु सामणेर धम्मदस्सी-कृत 'वच्चवाचक' या 'वाचवाचक'। चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है। इसकी टीका १७९८ ई० में बरमी भिक्षु सद्धम्मनन्दी ने की।[1]

(२) मंगल-कृत 'गन्धटिठ्', जिसका विषय उपसर्गों का विवेचन करना है।

---

१. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २२।

यह चौदहवीं शताब्दी की रचना है। इसकी भी रचना पगान में हुई।[1] इस बर्मी भिक्षु मंगल को उन महामंगल नामक सिंहली भिक्षु के पृथक् समझना चाहिये जो बुद्धघोसुप्पत्ति के रचयिता थे, यद्यपि दोनों का एक ही समय है।

(३) अरियवंस-कृत 'गन्धाभरण' ('गन्थाभरण' या 'गण्डाभरण' भी) उपसर्गों का विवेचनपरक ग्रन्थ है। इसकी रचना १४३६ ई० में हुई।[2] सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों में इस पर बर्मी विद्वानों द्वारा टीकाएँ लिखी गईं।

(४) विभत्त्यत्थप्पकरण—२७ श्लोकों की यह पुस्तिका विभक्तियों के प्रयोगों का विवेचन करती है। सुभूति ने सासनवंस का अनुसरण कर माना है कि इसकी रचना बरमी राजा क्यच्वा की पुत्री ने १४८१ ई० में की।[3] इस पर बाद में 'विभत्त्यत्थ-टीका' या 'विभत्त्यत्थदीपनी' के नाम से एक टीका लिखी गई। सम्भवतः ये दो अलग-अलग टीकाएँ भी हों। एक और टीका 'विभत्तिकथावण्णना' के नाम से भी इस रचना पर लिखी गई। 'विभत्यत्थ' नाम से एक रचना चौदहवीं शताब्दी के पगान के प्रसिद्ध भिक्षु सद्धम्मञाण की भी बताई जाती है। उन्होंने कातंत्र-व्याकरण का पालि में अनुवाद भी किया।

(५) 'संवण्णनानयदीपनी'—इस ग्रन्थ की रचना जम्बुधज (जम्बुध्वज) के द्वारा १६५१ ई० में की गई। इसी लेखक के दो अन्य ग्रन्थ 'निरुत्ति-संगह' और "सर्वज्ञस्तवदीपनी' भी प्रसिद्ध है।[4]

(६) सद्दवुत्ति (शब्दवृत्ति), जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के सद्धम्म-पाल नामक पगान (ब्रह्मा) के भिक्षु ने या इसी शताब्दी के सद्धम्मगुरु नामक पन्या (बर्मा) के निवासी भिक्षु ने की।[5] डे ज़ॉयसा ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल १६५६ ई० माना है।[6]

---

१. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २६।
२. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४३।
३. गेइगर : पालि लिटरेचर ऐंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५७। मिलाइये बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बर्मा, पृष्ठ २५।
४. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५५।
५. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २९, ४६।
६. केटेलाग, पृष्ठ २७।

(७) कारकपुप्फमंजरी—पालि शब्द-योजना पर लिखित यह रचना कांडी (लंका) के अत्तरगम बंडार राजगुरु नामक लेखक की है, जो सरणंकर संघराज के शिष्य थे। लंका के राजा कीर्ति श्री राजसिंह के शासन-काल (१७४७-८०) में यह रचना लिखी गई।[1]

(८) सुधीरमुखमंडन—यह रचना पालि-समास पर है।[2]
इसके भी लेखक "कारकपुप्फमंजरी' के समान ही हैं।

(९) नयलक्खणविभावनी—बरमी भिक्षु विचित्ताचार (विचित्राचार) ने १८वीं शताब्दी के उत्तर भाग में इस ग्रन्थ की रचना की।[3]

(१०-१२) सद्दबिन्दु (नारद थेर), सद्दकलिका, सद्दविनिच्छय आदि अनेक ग्रन्थ पालि-व्याकरण पर लिखे गये हैं, जिनका पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता।

लंका और बरमा में छठी या सातवीं शताब्दी से लेकर ठीक उन्नीसवीं शताब्दी तक पालि-व्याकरण सम्बन्धी जो गहरी तत्परता और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न महान् ग्रन्थ-राशि हम देखते हैं, जिसका किंचित् दिग्दर्शन ऊपर किया जा सका है, उसका वास्तविक महत्वाकन क्या है? निश्चय ही पालि-व्याकरण का अध्ययन इन देशों में उस समय किया गया जब पालि जीवित भाषा नहीं रही थी। अतः पिटक और अनुपटिक साहित्य एवं संस्कृत-व्याकरण ही इनके प्रधान आधार रहे। स्वभावतः इनमें वह भाषावैज्ञानिक तत्व नहीं मिल सकता, जो आधुनिक भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को तृप्त कर सके। किन्तु 'न्यास', 'रूप-सिद्धि', 'सद्दनीति' और 'बालावतार' जैसे व्याकरण पांडित्य की दृष्टि से किसी भी देश या साहित्य में रचित व्याकरण ग्रन्थों से टक्कर ले सकते हैं। निश्चय ही, जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है, मोग्गल्लान व्याकरण की गिनती पाणिनि, चान्द्र, कात्यायन आदि महान् वैयाकरणों में करनी होगी।[4] भारतीय मूल स्रोत से

---

१. ग्रॉयसा: केटेलाग, पृष्ठ २४; देखिये मललसेकर: दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २८३ भी।
२. ग्रॉयसा: केटेलाग, पृष्ठ २८।
३. ग्रॉयसा: केटेलाग, पृष्ठ २५; देखिये गायगर: पालि लिटरेचर ऐंड लॅंग्वेज, पृष्ठ ५८ भी।
४. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)।

इतने अलग रह कर भी इन बरमी और सिंहली आचार्यों ने संस्कृत के समकालिक पालि-भाषा का कितना सुन्दर और मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है, इसे देख कर आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। सांस्कृतिक एकता की इससे अधिक गहरी बुनियाद कभी डाली गई हो, इसका इतिहास साक्ष्य नहीं देता। यह एकता राजाओं के दरबारों में न डाली जाकर भिक्षु-परिवेणों में डाली गई और इसकी मूल प्रेरणा थी अपने शास्ता के धम्म को 'सात्थं सव्यञ्जन' समझने की गहरी जिज्ञासा। इसीलिये वह इतनी स्थायी भी हुई है। यह कितनी विडम्बना की बात है कि जिस पालि भाषा को हमारे प्राचीन वैयाकरणों ने नाम से भी नही जाना, उसी का इतना गहन अनुशीलन दूसरे देशो में हुआ। एक ही ग्रन्थ (मोग्गल्लानपञ्चिका-प्रदीप) का अंशतः पालि और अंशतः सिंहली में लिखा जाना, भारत और सिंहल के उस गौरवमय सम्बन्ध का सूचक है, जिसकी नींव बौद्ध धर्म ने डाली थी और जिसे उसके साहित्य ने दृढ़ किया है। भारत और स्वयं मध्य-मंडल (शास्ता की विचरण-भूमि) में पालि-अध्ययन के प्रति गहरी उदासीनता को देख कर इन दूरस्थित बौद्ध बन्धुओं के प्रति श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है।[१] कारण, इन्होंने ही धम्म की ज्योति को प्रकाशित रक्खा है, इन्होंने ही ज्ञान के दीपक को हम तक पहुँचाया है। उनका पालि व्याकरण-सम्बन्धी प्रभूत कार्य इसका एक बाह्य साक्ष्य मात्र है।

पालि कोश : अभिधानप्पदीपिका एवं एकक्खरकोस

पालि-साहित्य में केवल दो प्रसिद्ध कोश हैं, मोग्गल्लान-कृत 'अभिधानप्प-

---

१. वस्तुतः हमसे अधिक पालि-भाषा और उसके व्याकरण का अध्ययन तो उन पाश्चात्य विद्वानों ने ही किया है जो बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए हैं। उनके इस संबंधी कार्य और उनकी व्याकरण-संबंधी रचनाओं के परिचय के लिए देखिए गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ५९-६०; लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३८-६४०; लाहा ने पाश्चात्य विद्वानों के साथ-साथ भारतीय विद्वानों के भी इस संबंधी कार्य का विवरण दिया है। बाद का प्रकाशन होने के कारण सम्भव है, 'पालि महाव्याकरण' (भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत) का उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सका है। पालि व्याकरण साहित्य पर भिक्षु जी की यह हिन्दी को महत्वपूर्ण देन है।

दीपिका'[1] और बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति)-कृत 'एकक्खर-कोस'।[2] 'अभिधानप्पदीपिका' (अभिधानप्रदीपिका) तीन भागों या कांडों में विभक्त है, (१) सग्गकड (स्वर्ग-काड) जिसमें देवता, बुद्ध, शाक्यमुनि, देव-योनि, इन्द्र, निर्वाण आदि के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है। (२) भूकंड (भू-काण्ड) जिसमें पृथ्वी आदि सम्बन्धी शब्दों के पर्यावाची शब्दों का सकलन है। (३) सामञ्ञ-कण्ड (श्रामण्य-काण्ड), जिसमें प्रव्रज्या सम्बन्धी आदि शब्दों के पर्यायवाची शब्दो का संकलन है। यह कोश पर्यायवाची शब्दों का संकलन ही है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग मे ऐसे शब्दो की सूची है जो सदृश रूप वाले किन्तु भिन्नार्थक हैं। साथ ही अविभक्तिक उपसर्गों की सूची भी है। बरमा और सिंहल में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है। इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत के अमर-कोश के आधार पर हुई है। शैली और प्रक्रिया बिल-कुल वही है।[3] जैसा अभी कहा जा चुका है, अभिधानप्पदीपिका मोग्गल्लान थेर की रचना है। यह स्थविर लकानिवासी भिक्षु थे। अभिधानप्पदीपिका में इन्होंने कहा है कि लंकाधिपति 'परक्कम-भुज नामक भूपाल' के शासन-काल में इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की।[4] वहीं इन्होंने अपना निवास-स्थान पुलत्थिपुर (पोलोन्नरुवा) मे 'महाजेतवन' नामक विहार बताया है।[5] जिस 'परक्कमभुज नामक भूपाल' के शासन-काल में मोग्गल्लान स्थविर ने 'अभिधानप्पदीपिका' की रचना की, वह विद्वानों के निश्चित मतानुसार पराक्रमबाहु प्रथम ही है, जिसका शासन-

---

१. सुभूति द्वारा संपादित, द्वितीय संस्करण, कोलम्बो १८८३; नागरी लिपि में मुनि जिनविजय द्वारा संपादित, गुजरात पुरातत्व मन्दिर, अहमदाबाद, सं० १९८० वि०।

२. मुनि जिनविजय द्वारा संपादित उपर्युक्त 'अभिधानप्पदीपिका' के संस्करण में ही 'एकक्खर कोस' भी सम्मिलित है, अभिधानप्पदीपिका, पृष्ठ १५७-१७०।

३. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १८८-१८९।

४. परक्कमभुजो नाम भूपालो गुणभूसणो। लंकायमासि तेजस्सी जयी केसरि-विक्कमो। पृष्ठ १५६ (मुनि जिनविजय द्वारा संपादित नागरी-संस्करण)

५. सुभूति के संस्करण के अनुसार। परन्तु देवनागरी संस्करण में पाठ है— महाजेतवनाख्यम्हि विहारे साधुसम्मते। सरोगाम समूहम्हि वसता सन्तवुत्तिना॥ सद्धम्मदिट्ठतिकामेन मोग्गल्लानेन धीमता। थेरेन रचिता एसा अभिधानप्पदीपिका॥ पृष्ठ १५६। यहाँ पुलत्थिपुर का उल्लेख नहीं है।

काल ११५३-११८६ है और जिसके समय पालि के टीका-साहित्य की अद्भुत समृद्धि हुई। अतः मोग्गल्लान थेर का भी यही समय है। 'अभिधानप्पदीपिका' के लेखक मोग्गल्लान थेर को उसी नाम के और प्रायः उसी समय के वैयाकरण मोग्गल्लान से भिन्न समझना चाहिये। वैयाकरण मोग्गल्लान, जैसा हम पहले देख चुके हैं, अनुराधपुर के थूपाराम नामक विहार में रहते थे, जब कि कोशकार मोग्गल्लान ने अपना निवास-स्थान पुलत्थिपुर या पोलोन्नरुवा का महाजेतवन-विहार बतलाया है। 'गन्धवंस' में कोशकार मोग्गल्लान को 'नव मोग्गल्लान' कहा गया है[1] और वह निश्चयतः वैयाकरण मोग्गल्लान से उसकी भिन्नता दिखाने के लिये ही। चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में बर्मी राजा कित्तिसीहसूर (कीर्तिसिंह शूर) के शासन-काल में एक उच्च राजकीय पदाधिकारी द्वारा अभिधानप्पदीपिका पर 'संवण्णना' नामक टीका लिखी गयी। अठारहवीं शताब्दी में बर्मी भिक्षु ञाणवर ने अभिधानप्पदीपिका का बर्मी भाषा में अनुवाद किया। सिंहल में भी अभिधानप्पदीपिका पर 'सन्न' और 'टीका' लिखे गये, जिनमें 'सन्न' अधिक प्राचीन और महत्वपूर्ण माना जाता है। 'एकक्खरकोस' बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति) की रचना है। यह अरियवंस के शिष्य थे। १४६५ ई० में इस कोश की रचना की गई। यह कोश एकाक्षरात्मक शब्दों की पद्यबद्ध सूची है। संस्कृत भाषा के एकाक्षरी कोश का यह पालि रूपान्तर मात्र ही कहा जा सकता है। इसके अन्त में आता है—इति सद्धम्मकित्ति नाम महाथेरेन सक्कतभासातो परिवत्तेत्वा विरचित एकक्खर-कोसं नाम सट्ठ्यकरणं परिसमत्तं।" ("सद्धर्मकीर्ति नामक महास्थविर द्वारा संस्कृत भाषा से रूपान्तरित कर के विरचित 'एकाक्षरकोश' नामक शब्द-प्रकरण समाप्त")

छन्दः शास्त्र : वुत्तोदय आदि

पालि में छन्दः शास्त्र पर 'वुत्तोदय' (वृत्तोदय) नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह छह परिच्छेदों में है और गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। 'छन्दोविचिति', 'कविसारपकरण' और 'कविसार-टीका-निस्सय' नामक अल्प प्रसिद्धि के एक-आध ग्रन्थ और भी छन्दः शास्त्र पर पालि में हैं। 'वुत्तोदय' की रचना सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य, खुद्दकसिक्खा-टीका और कच्चान-व्याकरण पर 'सम्बन्ध-चिन्ता'

---

१. पृष्ठ ६२।

के लेखक (जिनका निर्देश पहले हो चुका है) स्थविर संघरक्खित हैं, जिनका काल १२ वीं शताब्दी का उत्तर भाग है। चौदहवीं शताब्दी में पगान के प्रसिद्ध विद्वान् भिक्षु सद्धम्मञाण ने वुत्तोदय पर अपनी टीका लिखी जो, 'वुत्तोदय पंचिका' या 'छन्दोसारत्थ विकासिनी' कहलाती है। सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की लिखी 'वुत्तोदय-विवरण' नाम की एक अन्य टीका भी 'वुत्तोदय' पर मिलती है। 'वुत्तोदय' पर 'वचनत्थजोतिका' नाम की एक अन्य टीका बरमा में ही पगान के वेपुल्ल या वेपुल्लबुद्धि के द्वारा और एक अन्य टीका पन्या (बरमा) के नव-विमल-बुद्धि या चुल्ल विमलबुद्धि के द्वारा लिखी गई। उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में छन्द शास्त्र पर एक रचना पालि में लिखी गई, जिसका नाम है 'छन्दोमंजरी'। इसके लेखक विसुद्धाचार नामक बर्मी विद्वान् थे और इन्होंने यह रचना सन् १८९७ में लिखी। बर्मी भाषा में इस पर एक 'निस्सय' भी लिखा गया। पन्द्रहवी शताब्दी मे श्री लंका के गन्तारा परिवेण के निवासी थेर उपतपस्सी के द्वारा लिखी गई 'वुत्तमाला' या 'वुत्तमाला-सन्देस-सतक' का भी यहाँ उल्लेख कर देना चाहिये। इसमें छन्दों की ध्वनियों का उच्चारण सिखाया गया है, यद्यपि इसका विषय राज-स्तुति आदि है।

काव्य-शास्त्र—सुबोधालङ्कार

पालि काव्य-शास्त्र पर 'सुबोधालंकार' एक मात्र रचना है। इसके रचयिता उपर्युक्त स्थविर संघरक्खित ही हैं। इस पर वाचिस्सर (सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य) ने टीका लिखी है। सुबोधालंकार पर 'अलंकार-निस्सय' नाम की एक व्याख्या सन् १८८० में बर्मा में लिखी गई। 'छपच्चयदीपनी' नामक एक काव्य-शास्त्रीय रचना बर्मी भिक्षु सद्धम्मञाण ने चौदहवीं शताब्दी के आदि में लिखी। इसी प्रकार छक्किन्दाभिसिरि नामक बर्मी लेखक ने सन् १८७२ में 'काव्य सारत्थ-संगह' नामक एक रचना भी काव्य-शास्त्र पर लिखी।

पालि का अभिलेख-साहित्य

पालि का सब से बड़ा गौरव बुद्ध-वचनों के बाद उसका अभिलेख-साहित्य है। भारतीय साहित्य और इतिहास की ही नहीं, विश्व-संस्कृति के इतिहास की भी वह मूल्यवान् सम्पत्ति है। मात्रा में स्वाभाविक रूप से अल्प होते हुए भी यह साहित्य अपनी उदात्त और गम्भीर वाणी, स्वाभाविक और सरल शैली, एवं

जीवन के गम्भीरतम पहलुओं और अनुभवों पर निष्ठित होने के कारण उसी महत्ता को लिये हुए है, जिसे हम उपनिषत्कालीन ऋषियों की वाणी, बुद्ध-वचनों, मध्यकालीन सन्तों के उद्‌गारों या आधुनिक काल में महात्मा गांधी की सहज आत्म-निःसृत वाणी से सम्बन्धित करते हैं। पालि का अभिलेख-साहित्य ई० पू० तीसरी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी तक मिलता है। अशोक के अभिलेख उसकी उपरली काल-सीमा और बरमा के राजा धम्मचेति के प्रसिद्ध कल्याणी-अभिलेख उसकी निचली काल-सीमा निश्चित करते हैं। इन काल-कोटियों से वेष्टित प्रसिद्ध पालि अभिलेख-साहित्य यह है, अशोक के अभिलेख, साँची और भरहुत के अभिलेख, सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख, मौगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र-लेख, मब्ज़ा का पाँचवी-छठी शताब्दी का स्वर्ण-पत्र लेख, बोबोगी पेगोडा (मब्ज़ा-बरमा) के खंडित पाषाण-लेख, पगान का सन् १४४२ ई० का अभिलेख और कल्याणी-अभिलेख। इनमें अशोक के अभिलेख सब के सिरमौर हैं और काल-क्रम में भी वे सर्वप्रथम आते हैं।

अशोक के अभिलेख

अशोक के अभिलेख उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसूर तक और पूर्व में उड़ीसा से पच्छिम में काठियावाड़ तक पहाड़ी चट्टानों, पत्थर के विशाल स्तम्भों और गुफाओं पर उत्कीर्ण मिलते हैं। अब तक करीब २०० से अधिक अभिलेख मिल चुके हैं। इन अभिलेखों का प्रधानतः तीन दृष्टियों से बड़ा महत्व है। (१) इन अभिलेखों में अशोक ने अपने शब्दों में अपनी जीवनी का वर्णन किया है। जीवनी किसी स्थूल अर्थ में नहीं। अशोक ने यहाँ अपने आन्तरिक जीवन के परिवर्तन का, अहिंसा के अपने प्रयोगों का, जीवन के अपने गम्भीरतम अनुभवों का, सादी से सादी भाषा में, बड़ी स्पष्टता और सच्चाई के साथ वर्णन किया है। (२) अशोक-कालीन इतिहास को जानने के लिये ये अभिलेख प्रकाशगृह हैं। पालि साहित्य के अन्य वर्णनों की अपेक्षा इन अभिलेखों का साक्ष्य इतिहास-लेखकों को सदा अधिक मान्य रहा है। निश्चय ही ये अभिलेख स्वतः प्रमाण-सिद्ध हैं और इन्ही के आधार पर अशोककालीन इतिहास का निर्माण किया गया है। (३) अशोक के अभिलेखों से पालि भाषा के स्वरूप और उसके साहित्य के विकास पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। हमारे प्रस्तुत अध्ययन के प्रसंग में उनका यह महत्व हमारे लिये सब से अधिक मूल्यवान् है। पहले हम अशोक के अभिलेखों का संक्षिप्त

विवरण देंगे, फिर उपयुक्त तीनों दृष्टियों से उनके महत्व का विवेचन करेंगे।

उनका वर्णीकरण

अशोक के अभिलेखों का वर्गीकरण सामान्यतया निम्न प्रकार से किया जाता है :

१. चौदह शिला-लेख।
२. सात स्तम्भ-लेख।
३. दो कलिग के फुटकर अभिलेख।
४. दो लघु शिला-लेख तथा भाब्रू शिला-लेख।
५. लघु स्तम्भ लेख।
६. गुफा-लेख।

उपर्युक्त अभिलेख जिन स्थानों में पाये गये हैं, उनका विवरण क्रमशः इस प्रकार है :

१. चौदह शिला-लेख इन निम्न आठ स्थानों में पाये गये हैं :
   (१) गिरनार पहाड़ी, जूनागढ़ के समीप, वर्तमान गुजरात राज्य में।
   (२) कालसी, जिला देहरादून, उत्तरप्रदेश ।
   (३) धौली, जिला पुरी, उड़ीसा ।
   (४) जौगढ़, जिला गंजाम, उड़ीसा ।
   (५) शाहबाजगढ़ी, जिला पेशावर, पश्चिमी पाकिस्तान ।
   (६) मनसेहरा, जिला हज़ारा, पश्चिमी पाकिस्तान ।
   (७) सोपारा, जिला ठाणा, बम्बई राज्य ।
   (८) एर्रगुडि, जिला कुरनूल, आन्ध्र प्रदेश।

उपर्युक्त कई स्थानों में १४ या १३ अभिलेख एक साथ उत्कीर्ण मिले है। धौली और जौगढ़ में उपर्युक्त लेखों में से केवल दस मिले हैं और साथ में एक-एक प्रादेशिक लेख भी हैं।

२. सात स्तम्भ-लेख इन छह स्थानों पर मिले हैं :
   दिल्ली, मेरठ, इलाहाबाद, लौरिया अरराज (बिहार), लौरिया नन्दनगढ़ (बिहार) और रामपुरवा (बिहार)। दिल्ली के स्तम्भ पर, जिसे फीरोजशाह तुगलक ने अम्बाला के समीप तोपरा से मँगवाया था,

सातों लेख हैं। मेरठ वाली लाट, पर, जिसे भी फीरोजशाह तुगलक ने दिल्ली मँगवाया था, लेख अस्पष्ट हैं। बाकी स्थानों के स्तम्भों पर छह-छह लेख है।

३. कलिंग के दो फुटकर अभिलेख धौली और जौगढ़ में मिले है।

४. दो लघु शिला-लेख तथा भाब्रू शिला-लेख--दो लघु शिला-लेखों के दो संस्करण है, उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी संस्करण इन चार स्थानों पर मिलते हैं, यथा सहसराम (बिहार), रूपनाथ (मध्यप्रदेश), बैराट (राजस्थान) और गुजर्रा (मध्य-प्रदेश)। दक्षिणी संस्करण इन आठ स्थानों पर मिलते हैं, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जटिंग रामेश्वर (तीनों मैसूर राज्य में), मास्की (हैदराबाद), एर्रागुडि (आन्ध्र-प्रदेश), गोवीमठ (हैदराबाद), पल्कीगुण्डु (हैदराबाद) और राजुल मण्डगिरि (आन्ध्र प्रदेश)। भाब्रू शिलालेख जयपुर (राजस्थान) के पास मिला है।

५. लघु स्तम्भ-लेख संख्या में चार है और ये इन छह स्थानों में मिले हैं, सारनाथ, कौशाम्बी, साँची, इलाहाबाद, रुम्मिनदेई और निगलीवा।

६. गुफा-लेख गया के समीप बराबर पहाड़ी की गुफाओं में उत्कीर्ण हैं।

इन अभिलेखों में अशोक ने अपना परिचय अधिकतर 'देवानं पियो पियदसि राजा' ('देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा') या केवल 'देवानं पियो' या 'पियदसि राजा' के रूप मे दिया है। केवल दो अभिलेखों में उसका नाम 'अशोक' भी पाया जाता है। ये हैं लघु शिलालेख प्रथम के गुजर्रा और मास्की के संस्करण, जिनमें गुजर्रा के अभिलेख में है 'देवान पियस असोकराजस' और मास्की के अभिलेख में है, 'देवानं पियस असोकस'।

अशोक का व्यक्तित्व, उसका शासन, उसका राजनीति-दर्शन और तत्कालीन भारत की परिस्थिति, इन लेखों से स्पष्टतः व्यंजित होते हैं। सब से पहले अशोक की बुद्ध-भक्ति है, जिसने अशोक को अशोक बनाया। अशोक का विश्व-इतिहास में जो कुछ भी स्थान है' या अपने राजनीति-दर्शन के रूप में अशोक जो कुछ भी विश्व

---

१. 'Amidst the tens and thousands of names of monarchs that crowd the columns of History....the name of Asoka shines, and shines almost alone a star". एच० जी० वेल्स अपनी 'आउट लाइन ऑव हिस्ट्री' पृष्ठ २१२ में (सन १९२० का संशोधित

को दे गया है, वह सब बुद्ध का एक छोटा सा दान है। उससे अधिक भी बहुतों ने पाया है, यद्यपि इतिहास में उनका नाम नही है। अशोक ने बुद्ध से जो कुछ पाया, उसे वह स्वयं भी ज्ञानपूर्वक समझता था। भीषण कलिंग-युद्ध के बाद उसके हृदय में जो ग्लानि पैदा हुई थी, उसका उसने अपने तेरहवें शिलालेख में मार्मिक वर्णन किया है। यह उसके लिये एक युगान्तकारी घटना थी। इसके बाद उसने निश्चय किया कि ससार में क्षेम, सयम, चित-शांति और प्रसन्नता की ही वृद्धि करूँगा, शान्ति, सद्भाव और अहिंसा का ही प्रचार करूँगा। यही सर्वोत्तम विजय होगी। रणभेरी को छोड़कर उसने धर्म-घोष से ही दिशाओं को गुजायमान करने का निश्चय किया। यही उसका 'प्रियदर्शी' रूप था। अशोक पहले नर-हत्यारा था, चंडाशोक था। बुद्ध-अनुभाव से वह देवताओं और मनुष्यों का प्यारा हुआ, धर्माशोक हुआ। अशोक के इस जीवन-परिवर्तन में कहाँ तक बौद्ध प्रभाव उत्तर-दायी था अथवा कहाँ तक यह उसके स्वतंत्र विचार और चिन्तन का परिणाम था, इसके विषय में विवाद करने की गुजायश नहीं है। विंसेन्ट स्मिथ का यह कहना कि अशोक अपने धर्म-परिवर्तन का श्रेय किसी दूसरे को नही देना चाहता था,[1] ठीक नहीं है। इसमें सन्देह नही कि पुरुषार्थ तो मनुष्य को स्वयं ही करना होता है और पर्याप्त हृदय-मंथन के बाद उपयुक्त चित्त-भूमि भी उसे ही तैयार करनी होती है। यह सब अशोक ने भी किया था। कलिंग-युद्ध के बाद उसके हृदय में धार्मिक पवित्रता और शान्ति के लिये उत्कट अभिलाषा (तिव्रे धम्मवय धम्म-कसट) उत्पन्न हुई थी। परन्तु कौन जानता है कि इतना होने पर भी अशोक को यदि स्थविर (या श्रामणेर[2]) न्यग्रोध न मिलते तो 'बिखरे हुए बादल की तरह'

संस्करण)। देखिये उनकी 'ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव दि वर्ल्ड' भी, पृष्ठ १०४-१०५ (पैलिकन बुक्स, जून १९३८) भी।

१. स्मिथ ने इस बात पर जोर दिया है कि अशोक ने जिस धर्म का अपने शिला-लेखों में उपदेश दिया है, वह तो सम्पूर्ण भारतीय धर्मों का वह समन्वित रूप था जिसे अशोक ने अपने स्वतन्त्र विचार के परिणामस्वरूप उद्भावित किया था और उसका बुद्ध-धर्म से, जैसा कि वह तिपिटक के अनेक ग्रन्थों में निहित है, कोई संबंध नहीं है। देखिये उनका अशोक: पृष्ठ ५९-६६ (रूलर्स ऑव इण्डिया सीरीज़)।

२. जिस व्यक्ति से अशोक को बुद्ध-मत की दीक्षा मिली, उसका नाम स्थविर-

वह विनष्ट नहीं हो जाता। अतः अशोक को बुद्ध-शासन का प्रकाश अवश्य मिला था, जिसके लिये उसने अपने शिलालेखों में पर्याप्त कृतज्ञता भी प्रकाशित की है। भाब्रू-शिलालेख में उसने मगध के भिक्षु-संघ का श्रद्धापूर्वक अभिवादन किया है, उनके कुशल-मंगल की कामना की है और कहा है, "भन्ते ! आपको मालूम ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति मेरे हृदय में कितना आदर और श्रद्धा है। भन्ते! भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर ही कहा है,।" कलिंग-युद्ध अशोक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में हुआ था, और उसके बाद ही उसने न्यग्रोध नामक भिक्षु से उपासकत्व की दीक्षा ली थी।[1] उसके बाद तो अशोक नियमित रूप से बौद्ध गृहस्थ-शिष्य (उपासक) हो गया। अपने 'धर्म तथा शील में प्रतिष्ठित' (धम्मम्हि सीलम्हि तिट्ठन्तो) होने की बात अशोक ने अपने छठे शिलालेख में कही है। मैसूर के तीन लघु शिलालेखों में अशोक ने अपने उपासक-जीवन का वर्णन किया है। यहाँ उसके उपासक स्वरूप की दो अवस्थाएँ उपलक्षित होती हैं। पहली अवस्था वह है जिसमें अशोक एक साधारण उपासक मात्र है। 'य हकं उपासके' अर्थात् 'जब कि मैं उपासक था।' दूसरी अवस्था वह है जिसमें अशोक संघ में जाने वाला (संघ उपयिते) उपासक बन गया है। अपनी इस अवस्था को सूचित करते हुए उसने कहा है 'यं मया संघे उपथिते' अर्थात् 'जब कि मैं संघ के दर्शनार्थ जाता था।' अशोक के धर्म-विकास की अन्तिम अवस्था वह है जब कि वह 'भिक्खुगतिक' हो जाता है, अर्थात् स्वयं भिक्षु तो नहीं होता, किन्तु उसकी गति भिक्षुओं की-सी हो जाती है। अनासक्त भाव से राज्यकार्य करता हुआ वह कभी-कभी सत्संग

वाद परम्परा के अनुसार न्यग्रोध था। 'दीपवंस' के वर्णन के अनुसार न्यग्रोध स्थविर थे; 'समन्तपासादिका' में उन्हें स्थविर और श्रामणेर दोनों ही कहा गया है। महावंश (५।६४-६८) के अनुसार से केवल श्रामणेर थे। अधिकतर वे न्यग्रोध श्रामणेर (निग्रोध सामणेर) के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। चाहे स्थविर हों, चाहे श्रामणेर, भिक्षु न्यग्रोध एक कुशल योगी अवश्य थे, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से अशोक को आकृष्ट कर लिया। 'दिव्यावदान' में निहित परम्परा के अनुसार अशोक को बुद्ध-धर्म की ओर आकृष्ट करने वाले प्रथम व्यक्ति स्थविर समुद्र थे। देखिये दिव्यावदान, पृष्ठ २३७ (दरभंगा संस्करण)।

१. यद्यपि पालि-वृत्तान्त के अनुसार अभिषेक के चौथे वर्ष अशोक ने बुद्ध-मत की दीक्षा ली (चतुत्थे संवच्छरे बुद्ध-सासने पसीदि)।

पाने के लिये विहार में जाकर भिक्षुओं के साथ रहने लगता है।[1] यहाँ अशोक पूर्ण राजर्षि-पद प्राप्त कर लेता है। चीनी यात्री इ-त्सिंग् ने, जो सातवीं शताब्दी में भारत में आया था, अशोक की एक मूर्ति भिक्षु-वेश में भी देखी थी। किन्तु यह सन्दिग्ध है कि अशोक अपने अन्तिम जीवन में भिक्षु हो गया था। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध, धम्म और संघ में अशोक की असीम निष्ठा थी। अपने राज्याभिषेक के इक्कीसवें वर्ष में वह भगवान् बुद्धदेव की जन्मभूमि लुम्बिनी-वन में गया और वहाँ एक सुन्दर, गोलाकार स्तम्भ पर उसने अंकित करवाया "हिद बुधे जाते सक्य-मुनीति.....हिद भगवा जाते ति लुम्मिनिगामे" अर्थात् "यहीं लुम्बिनी-ग्राम में शाक्यमुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे, यहीं भगवान् उत्पन्न हुए थे।" अशोक की बुद्ध-निष्ठा का यह ज्वलन्त उदाहरण है। उसने कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, गया आदि अन्य स्थानों की भी, जो बुद्ध की स्मृति से अंकित थे, यात्रा की और अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। पहले अशोक की पाकशाला में हजारों जीव प्रतिदिन मारे जाया करते थे।[2] अपने प्रथम शिलालेख में उसने सूचना दी है कि इस समय सिर्फ दो मोर और एक हिरन ही मारे जाते हैं, जिनमें हिरन का मारा जाना निश्चित नहीं है और आगे ये तीन प्राणी भी नहीं मारे जायँगे।[3] मृगया और विहार-यात्राओं के स्थान पर उसने धर्म-यात्राएँ करना प्रारम्भ किया[4], क्योंकि अब उसे जीवन की गम्भीरता का ज्ञान हो चुका था। उसने देख लिया था कि संसार के सुख-भोग, प्रतिष्ठा और बड़प्पन, परलोक में कुछ काम नहीं आते।[5] अशोक यद्यपि बौद्ध था, किन्तु सम्प्रदायवाद उसके हृदय में नही था। विश्व का होने के लिये ही वह बुद्ध का हुआ

---

१. देखिये राधाकुमुद मुकर्जी : मैन एंड थॉट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ १३०।

२. पुलुवं महानसंसि देवानं पियस पियदसिने लाजिने अनुदिवसं बहूनि पान सत सहसानि आलभियिसु सूपठाये (पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में अनेक शत-सहस्र प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे) शिलालेख १ (जौगढ़ पाठ)।

३. से अज अदा इयं धंमलिपि लिखिता तिनियेव पानानि आलभियंति—दुवे मजुला एके मिगे। से पि चु मिगे नो धुवं। एतानि पि चु तिनि पानानि पछा नो आलभियिसंति। शिलालेख १ (जौगढ़ पाठ)।

४. शिलालेख ८।

५. शिलालेख १०।

था। ब्राम्हण और जैन साधुओं को भी वह बौद्धों के समान ही दान देता था और उनके तीर्थ-स्थानों के भी समान आदर के साथ ही दर्शन करता था। अपने बारहवें शिलालेख में अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता का मर्मस्पर्शी उपदेश दिया है। उसका कहना है कि सच्ची धर्मोन्नति का मूल वाक्-संयम है (इदं मूलं वचि गुति)। मनुष्य अपने धर्म की स्तुति और दूसरे के धर्म की निन्दा न करे। जो अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण अपने ही धर्म वालों की प्रशसा करता है और अन्य धर्मानुयायियों की निन्दा करता है, वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को बहुत हानि पहुँचाता है। वह इस प्रकार अपने धर्म को क्षीण करता है और पर-धर्म का अपकार करता है। लोग एक दूसरे के धर्म को सुनें और उसका सेवन करें। सब धर्म वाले बहुश्रुत हों और उनका ज्ञान कल्याणमय हो। "प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब धर्म वाले सर्वत्र मेल-मिलाप से रहें। वे सभी संयम और भाव-शुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच अनुराग होते है। कोई अपने धर्म का पूरी तरह और कोई अंशमात्र पालन करेंगे। जिसके यहाँ देने को बहुत दान नहीं है, उसमें भी संयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति तो अवश्य हो ही सकती है"[1]। सर्वधर्म-समभाव का इससे अधिक प्रभावशाली उपदेश विश्व-इतिहास में नहीं दिया गया। अशोक ने भारत और उसके बाहर पश्चिमी एशिया के देशों में इस विश्वधर्म का प्रचार करने के लिये जो महनीय कार्य किया, वह उसके दूसरे और तेरहवें शिलालेखों में अंकित है और दूसरे अध्याय में तृतीय बौद्ध संगीति का वर्णन करते समय हम उसका कुछ उल्लेख कर चुके हैं।

अशोक ने बुद्ध-धर्म को जैसा समझा और जैसा उसका आचरण किया, वह कुछ प्रव्रजितों का ही धर्म नही था, बल्कि जीवन की पवित्रता पर आश्रित वह विस्तृत लोक-धर्म था, जिसका आचरण जीवन की प्रत्येक अवस्था में और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है। अहिसा, बड़ों का आदर, सत्य-भाषण, इन बातों को सिखाते हुए प्रियदर्शी राजा कभी थकता नहीं।[2] माता-पिता की सेवा करना, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण और श्रमणों का आदर करना, दास और भृत्यों के साथ सद्व्यवहार करना, यही सब अशोक की शिक्षाएँ थीं।[3] अल्पव्ययता और अल्प-

---

१. शिलालेख १२।

२., ३. शिलालेख ३, ९ और ११।

भाण्डता (कम सामान इकट्ठा करना) की उसने बड़ी प्रशंसा की है।[1] आत्म-निरीक्षण को उसने धर्म का प्रमुख साधन माना है। बुद्ध के समान अशोक ने भी धर्म के आन्तरिक स्वरूप पर जोर दिया है। तत्कालीन लोकाचारों की एक सच्चे बुद्धिवादी के समान तुच्छता दिखाते हुए उसने कहा है--"बीमारी में, निमंत्रण में, विवाह में, पुत्र-जन्म और यात्रा के प्रसंगों पर, स्त्री-पुरुष बहुत से मंगल-कार्य करते हैं, परन्तु वे मंगल थोड़े फल के देने वाले होते हैं। किन्तु अहिंसा, दया, दान, गुरुजनों की पूजा इत्यादि धर्म के मंगल-कार्य अनन्त पुण्य उत्पन्न करते हैं।"[2] अशोक ने धर्म-दान की बड़ी प्रशंसा की है। उसने कहा है कि सच्चा अनुष्ठान धर्म का अनुष्ठान है, सच्ची यात्रा धर्म की यात्रा है, सच्चा मंगलचार धर्म-मंगल है।[3] वास्तव में धर्म (धम्म) शब्द को यहाँ अशोक ने बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।

अशोक की शासन-नीति को जानने के लिये उसके अभिलेख बड़े सहायक हैं। कोई भी शासक अपनी आज्ञाएँ शिलालेखों पर खुदवा सकता है। किन्तु अशोक के अभिलेखों जैसा स्थायित्व, उनकी इतनी विश्वजनीनता, इतनी मार्मिकता, इतनी गम्भीर सच्चाई, विश्व-साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं देखी गई। वे एकदम इतिहास की सामग्री है, उच्चतम साहित्य हैं, और गम्भीरतम जीवन-दर्शन भी हैं। उनके अन्दर 'प्रियदर्शी' की लोक-कल्याण के लिए छटपटाती हुई आत्मा अभी तक निःश्वास ले रही है और अतीत को जीवन प्रदान कर रही है। राजनीति जीवन से भिन्न नहीं है। बल्कि उसका ही एक अंग है। अशोक ने जो तत्त्व जीवन में देखा है, उसी का अपने राजनैतिक जीवन में अभ्यास किया है, उसी को अपनी प्रजाओं को सिखाया है और उसी को लेखों में अंकित करवाया है। क्या है वह तत्त्व? यह वही तत्त्व है जिसे स्थविर न्यग्रोध ने उसे प्रथम बार सिखाया,[4] तथागत ने जिसे अन्तिम बार

---

१. शिलालेख ३।

२. शिलालेख ९।

३. देखिये शिलालेख ९; शिलालेख ११ भी; मिलाइये धम्मपद, 'सब्बदानं धम्मदानं जिनाति।'।

४. दीपवंस में कहा गया है कि न्यग्रोध ने अशोक को यह गाथा सुनाई "अप्रमाद अमृत-पद है। प्रमाद मृत्यु का पद है। अप्रमादी मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं होते, प्रमादी मनुष्य तो मृत ही हैं।" धम्मपद के द्वितीय वग्ग की यह प्रथम

दुहराया,[1] अशोक ने जिसे जीवन भर निभाया—कल्याणकारी कार्यों में अप्रमाद, अनवरत और अनासक्त कर्म-योग का अभ्यास। यही तथागत का वीर्यारम्भ है, अशोक के लेखबद्ध शब्दों में यही 'उस्टान'[2] (उत्थान) है, यही 'उयम'[3] (उद्यम) है, यही 'उसह'[4] (उत्साह), यही 'पकम'[5] या 'परक्कम'[6] (पराक्रम) है, जिसे सिखाते हुए 'पियदसी धम्म-राजा' कभी थकता नहीं। निरालस होकर परोपकार के लिये अदम्य कर्मयोग का अभ्यास ही अशोक के जीवन का मूल दर्शन है, जिसे उसने राज-नीति के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया है और उसे धर्म-साधना का अंग बना लिया है।[7] अपने छठे शिलालेख में उसने कहा है "मैंने यह प्रबन्ध किया है कि प्रत्येक समय चाहे उस समय में खाता होऊँ, चाहे अन्तःपुर में रहूँ, चाहे शयनागार में रहूँ, चाहे उद्यान में रहूँ, सब जगह ही प्रतिवेदक (पेशकार) जनता के कार्य की सूचना मुझे दें। मैं जनता के कार्य सब जगह करूँगा। यदि मैं स्वयं आज्ञा दूं कि अमुक कार्य किया जाय और महामात्रों में उसके विषय में कोई मतभेद उपस्थित हो अथवा मन्त्रि-परिषद् उसे स्वीकार न करे, तो हर घड़ी और हर समय मुझे सूचना दी जाय,

---

गाथा है। महावंस ५।६८ के अनुसार भी न्यग्रोध ने अशोक को यही गाथा सुनाई।

१. तथागत के अंतिम शब्द ये थे 'अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को) सम्पादन-करो" (अप्पमादेन सम्पादेथ—महापरिनिब्बाण-सुत्त—दीघ. २।३); मिला-इये महासुकुलुदायि-सुत्त—मज्झिम. २।३।७—आनापानसति-सुत्त—मज्झिम. ३।२।८; अप्पमत्तक वग्ग (अंगुत्तर-निकाय, एकक निपात); सम्म-प्पधानसंयुत्त (संयुत्त-निकाय); थपति-सुत्त (संयुत्त-निकाय), पधान-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय) आदि, आदि।

२. शिलालेख ६।

३. शिलालेख १३।

४. स्तम्भलेख १।

५. लघु शिलालेख प्रथम।

६. शिलालेख १०।

७. इसी को व्यक्त करते हुए उसने अमर शब्दों में कहा है "नास्ति हि कंमतरं सर्वलोकहितत्पा य च किं चि" (शिलालेख ६, गिरनार पाठ), ("नहीं है निश्चय ही सब लोगों के हित से अधिक उपादेय काम")।

क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम करूँ और कितना ही राज्य-कार्य करूँ, फिर भी मुझे पूर्ण संतोष नहीं होता। मैं जो कुछ प्रयत्न (पराक्रम) करता हूँ, वह इसलिये कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है, उससे उऋण हो जाऊँ और यहाँ कुछ लोगों को सुखी करूँ और परलोक में उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाऊँ। अत्यधिक प्रयत्न (पराक्रम) के बिना यह कार्य कठिन है। जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों का हित और सुख चाहता हूँ, उसी प्रकार मैं लोक के ऐहिक और पारलौकिक हित और सुख की कामना करता हूँ।" इसी प्रकार अपने चौथे स्तम्भ-लेख में अशोक ने घोषणा की है, "जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी सन्तान का निपुण दाई के हाथ में सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि यह धाय मेरे बालक को सुख देने की भरपूर चेष्टा करेगी, उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के लिये मैंने 'रज्जुक' (लजुका) नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं।" इन वाणियों से अशोक के कार्य और नीति का पता लग सकता है। अहिंसा के सिद्धान्त को वह व्यावहारिक राजनीति के साथ समन्वित करने की कितनी क्षमता रखता था, यह उसके उस अभिलेख से स्पष्ट होता है जो उसने सतत उपद्रव करने की ओर प्रवणता रखने वाली उत्तर-पच्छिमी सीमा की जंगली जातियों को सम्बोधित करते हुए उनके प्रदेश में अंकित करवाया था, "सीमान्त जातियाँ मुझ से भयभीत न हों, मुझ पर विश्वास रखें और मेरे द्वारा सुख प्राप्त करें, कभी दुःख न पावें और विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है, राजा हम लोगों के साथ क्षमा का व्यवहार करेंगे।"[1] सम्राट् अशोक और उसके उच्च कर्मचारी समय-समय पर जनता के सम्पर्क में आने और उसके दर्शन करने के लिये (जानपदस जनस दसनं) राज्य का दौरा (अनुसंयान) करते थे।[2] अशोक चाहता था कि कानून के भय से ही लोग सदाचार का आचरण न करें, बल्कि उनके आन्तरिक जीवन को इस प्रकार शिक्षित किया जाय जिससे वे पाप की ओर प्रवण ही न हों। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने 'महामात्र' नामक उच्च कर्मचारी नियुक्त किये थे और उन्हें अनेक विशेषाधिकार भी दिये थे।[3]

---

१. शिलालेख २।

२. शिलालेख ८ (गिरनार); शिलालेख १२ भी।

३. शिलालेख ५; स्तम्भ लेख ७; धर्म महामात्रों के क्या कर्तव्य थे, इसके लिए देखिये 'अशोक की धर्मलिपियाँ' प्रथम भाग, पृष्ठ ५१-५२, (काशी नागरी प्रचारिणी सभा)।

इन कार्यों के अलावा अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य में स्थान-स्थान पर धर्मशालाएँ बनवाई, मनुष्यों और पशुओं को आराम देने के लिये छायादार पेड़ लगवाये, आम्र-वाटिकाएँ बनवाई और पानी के कुण्ड बनवाये।[१] सब से बड़ा काम उसने औषधालय और चिकित्सालय खोलने का किया। अपने दूसरे शिलालेख में अशोक ने कहा है कि उसने रोगी मनुष्यों और पशुओं के लिये अलग अलग चिकित्सालय स्थापित किये हैं।[२] यह काम उसने न केवल अपने ही राज्य में किया है, बल्कि विदेशों में भी अपने धर्मोपदेशकों द्वारा करवाया है।[३] जहाँ-जहाँ मनुष्यों और पशुओं के प्रयोग में आने वाली औषधियों और औषधोपयोगी कन्द-मूल फल नहीं हैं, वहाँ-वहाँ वे भिजवाये गये हैं और लगवाये गये हैं।[४] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह काम अशोक ने जाति-धर्म-देश-निर्विशेष प्राणि-मात्र के कल्याणार्थ ही किया। उसी के द्वारा मानवता की दुन्दुभी विश्व में चारों ओर बजवाई गई। बौद्ध धर्म उसी समय से विश्व-धर्म बन गया।

इस संक्षिप्त विवरण के बाद अब हमें उस महत्त्वपूर्ण साक्ष्य को देखना है, जो अशोक के अभिलेख पालि-भाषा के स्वरूप और उसके साहित्य के विकास के विषय में देते हैं। अशोक के अभिलेखों में तत्कालीन राष्ट्र-भाषा (मागधी भाषा) के कितने स्वरूप दृष्टिगोचर होते है और उनका तथाकथित पालि-भाषा से क्या सम्बन्ध है, इसका विस्तृत विवेचन हम पहले अध्याय में कर चुके है। गिरनार (पच्छिम), जौगढ़ (पूर्व) और मनसेहरा (उत्तर) के अभिलेखों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन और अनेक विद्वानों के एतद्विषयक मतों की समीक्षा वहीं की जा चुकी है। अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त प्रादेशिक भाषाओं के यही तीन मुख्य वर्ग हम कर सकते हैं। यदि चाहें तो दक्षिणी भारत का एक अलग वर्ग भी मान सकते हैं। इन प्रादेशिक भाषा-रूपों के सम्बन्ध में यहाँ यही कहा जा सकता है कि विभिन्न

---

१. स्तम्भलेख ७।

२. द्वे चिकीछा कता मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च। शिलालेख २ (गिरनार पाठ)।

३. शिलालेख १३ एवं २।

४. ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च। मूलानि च फलानि च यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च। शिलालेख २ (गिरनार पाठ)।

प्रदेशों में राजकीय आज्ञा से स्थानीय आवश्यकताओं को देखते हुए जो विभिन्न प्रादेशिक भाषाएँ प्रयुक्त की गई हैं, उनमें विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से भारी समानता है और वे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। डा० बड़ुआ ने अशोक के अभिलेखों की भाषा में पाँच प्रादेशिक बोलियों के रूप देखे हैं, जो गिरनार, शाहबाजगढ़ी, कालसी, ब्रह्मगिरि और धौली के अभिलेखों में प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं। इनके विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन के बाद डा० बड़ुआ इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इनमें से गिरनार के शिलालेख की भाषा का पालि से सर्वाधिक साम्य है।[1] वास्तव में अशोक के अभिलेखों का महत्व पालि भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में ही महत्व-पूर्ण नहीं है, उनका महत्व समग्र भारतीय साहित्य की दृष्टि से भी है और जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा-युग के पूरे भाषा-रूप को समझने के लिए उनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। अब पालि साहित्य के विकास पर इन अभिलेखों से क्या प्रकाश पड़ता है, इस पर हम यहाँ कुछ विचार करेंगे। इस दृष्टि से अशोक के भाब्रू-शिलालेख का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। विषय-गौरव की दृष्टि से भी यह लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अतः उसे यहाँ उद्धृत करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

(भाब्रू-शिलालेख)

पियदसि लाजा मागधं संघं अभिवादेत आहा, अपाबाधतं च फासु विहालतं चा। विदिते वे भन्ते आवतके हमा बुधसि धम्मसि संघसिति गालवे च पसादे चं। ए केचि भंते भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभासिते वा। ए चु खो भंते हमियाये दिसेया हेवं सधंमे चिलठितीके होसतीति अलहामि हकं तं वतवे। इमानि भंते धंमपलियायानि विनयसमुकसे, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूते, उपतिसपसिने ए चा लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते। एतानि भंते धंमपलियायानि इच्छामि किं ति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनयु चा उपधालेयेयु चा। हेवं मेवा उपासका चा उपासिका चा। एतेनि भंते इमं लिखापयामि अभिपेतं मे जानंतूति।

---

१. पूरे विवेचन के लिये देखिये उनका 'अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स', भाग द्वितीय, पृष्ठ ४९-६१ (कलकत्ता, १९४६)।

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रियदर्शी राजा मगध के संघ को अभिवादन करता है और उनका कुशल मंगल चाहता है। भन्ते ! आपको मालूम ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति मेरे हृदय में कितना आदर और श्रद्धा है। भन्ते ! भगवान् ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर ही कहा है। भन्ते ! जो कुछ मुझे कहना है, उसे कहता हूँ, ताकि सद्धर्म चिरस्थायी हो।

भन्ते ! ये धम्म-पलियाय हैं—विनय-समुत्कर्ष, आर्यवंश, अनागतभय, मुनि-गाथा, मोनेय्य-सूत्र, उपतिष्य-प्रश्न और राहुलोवाद-सूत्र, जिसमें भगवान् ने मृषावाद के विषय में उपदेश दिया है। भन्ते ! मैं चाहता हूँ कि सभी भिक्षु, भिक्षुणियाँ, उपासक तथा उपासिकाएँ, इन्हें सदा सुने और पालन करें। भन्ते ! इसीलिए मैं यह लेख लिखवा रहा हूँ, ऐसा समझें।"

उपर्युक्त अभिलेख में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ अशोक ने कुछ बुद्ध-वचनों (धम्म-पलियाय) के नाम लेकर भिक्षु-भिक्षुणियों और उपासक-उपासिकाओं सभी को उनका सतत स्वाध्याय करने की प्रेरणा की है। उसने बुद्ध-वचनों के कुछ ऐसे अंशों को चुना है जिनकी महत्ता सार्वजनीन है और जिनमें सदाचार के उस रूप की प्रतिष्ठा की गई है जिसका आचरण सभी स्त्री-पुरुष कर सकते है। जिन सात धम्म-परियायों या धम्म पलियायों को अशोक ने गिनाया है, वे प्रायः उन्हीं नामों में वर्तमान पालि-तिपिटक में भी विद्यमान हैं। किस-किस धम्म-पलियाय की अनुरूपता पालि तिपिटक के किस-किस अंश या सुत्त के साथ है, यह नीचे लिखे विद्वानों के एतद्विषयक मतों से, जिनमें कहीं-कहीं कुछ अल्प विभिन्नता भी है, स्पष्ट होगा।

१. विनय-समुकसे (विनय-समुत्कर्ष)

१. विनय का उत्कृष्ट उपदेश या पातिमोक्ख--डा० रायस डेविड्स और ओल्डनबर्ग[1]

---

१. **सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द तेरहवीं, पृष्ठ २६ (भूमिका), अलग-अलग भी रायस डेविड्स : जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९६; बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६९; इसी प्रकार ओल्डनबर्ग : विनय-पिटकं, जिल्द पहली पृष्ठ ८० में टिप्पणी (विनय-**

द्वितीय संस्करण—११००

PG H3708
H/891.37109
U65P

मूल्य : पन्द्रह रुपये

1969

मुद्रक—रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

२. बुद्ध की 'सामुक्कंसिका धम्मदेसना' (ऊँचा उठानेवाला धर्मोपदेश), जिसका उपदेश वाराणसी में दिया गया (अर्थात् धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त)--ए० जे० एडमंड्स[२]

३. सप्पुरिस-सुत्त (मज्झिम ३।२।३) या अंगुत्तर-निकाय का विनय-संबंधी उपदेश (अत्थवसवग्ग)--प्रो० मित्र[३]

४. 'गिहि-विनय' (गृह-विनय) नाम से प्रसिद्ध सिगालोवाद-सुत्त (दीघ. ३।८) तथा 'भिक्खु-विनय' (भिक्षु-विनय) के नाम से प्रसिद्ध अनुमान-सुत्त (मज्झिम. १।२।५)--डा० वेणीमाधव बड़ुआ।[४]

५. तुवट्ठक-सुत्त (तुवट्टक या तुवटक-सुत्त भी) (सुत्त-निपात)--प्रो० डी० आर० भांडारकर[५]।

२. अलियवसानि (आर्यवंश)

१. अंगुत्तर-निकाय के चतुक्क-निपात के महा-अरियवस-सुत्त में निर्दिष्ट चार आर्य-वंश (चत्तारो अरियवंसा)--आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी[१]।

पिटक का रोमन-लिपि में संस्करण, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित)।

१. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९१३, पृष्ठ ३८५। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य भी धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त को ही 'विनय-समुकसे' मानते हैं। देखिये उनकी 'बुद्धिस्ट टैक्स्टस् ऐज़ रिकमण्डेड बाई अशोक, पृष्ठ ग्यारह (प्रस्तावना), (कलकत्ता, १९४८)।

२. लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६६५ में उद्धृत।

३. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ८०५। 'अशोक एण्ड हिज़ इन्स्क्रिप्शन्स', द्वितीय भाग, पृष्ठ ३३ (कलकत्ता, १९४६) में उन्होंने मज्झिम-निकाय के अनुमान-सुत्त या अंगुत्तर-निकाय के विनय-सम्बन्धी उपदेश 'अत्थवसवग्ग' को ही 'विनय-समुत्कर्ष' माना है। उनका तर्क यह है कि यहीं विनय के वास्तविक उत्कर्ष और उसके प्रयोजन का पूर्ण निरूपण है।

४. इण्डियन एंटिक्वेरी, जिल्द ४०, पृष्ठ ८९।

५. इंडियन ऐंटिक्वेरी ४१, ४०; देखिये उनकी 'भगवान् बुद्ध', पृष्ठ ३२०-३२२ (साहित्य अकादेमी के लिये राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण, १९५६)।

२. अंगुत्तर निकाय के दसक निपात के अरियवास-सुत्त में अथवा दीघ-निकाय के संगीति-परियाय सुत्त और दसुत्तर-सुत्त में निर्दिष्ट दस आर्य-वास—डा० रायस डेविड्स[1]।

३. अंगुत्तर-निकाय का महाअरियवंस-सुत्त—बड़ुआ।[2]

३. अनागत-भयानि

१. अंगुत्तर-निकाय के पंचक निपात में निर्दिष्ट पाँच अनागत-भय—डा० रायस डेविड्स[3]।

४. मुनि-गाथा

१. मुनि-सुत्त (सुत्त-निपात)—डा० रायस डेविड्स[4]।

५. मोनेय-सूते (मोनेय्य-सूत्र)

१. नालक-सुत्त (सुत्त-निपात)—आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी[5]।

२. प्रस्तावना को छोड़कर नालक-सुत्त का शेष भाग—डा० वेणीमाधव बड़ुआ[6]।

---

१. ऊपर उद्धृत पद्य-संकेत १ के समान। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने भी इसी के समान दीघ-निकाय के संगीति-सुत्तन्त और दसुत्तर-सुत्तन्त को 'अरियवस' (अरिय-वास) माना है। देखिये उनकी बुद्धिस्ट टैक्स्ट्स, पृष्ठ ग्यारह (प्रस्तावना)।

२. अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स, भाग द्वितीय, पृष्ठ ३४।

३. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९८।

४. उपर्युक्त के समान। डा० बड़ुआ और विधुशेखर भट्टाचार्य भी इससे सहमत हैं।

५. इंडियन एंटिक्वेरी, ४० ४१, देखिये उनकी 'भगवान् बुद्ध', पृष्ठ ३२६-३२९ भी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५६)।

६. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ८०५। 'अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स' में उन्होंने स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा। केवल दूसरे विद्वानों के मतों को उद्धृत किया है।

३. इतिवुत्तक का मोनेय्य-सुत्त—डा० रायस डविड्स[1]।

४. 'इतिवुत्तक' का ६७वाँ सुत्त (मोनेय्य-सुत्त) एवं अंगुत्तर-निकाय के तिक-निपात में निर्दिष्ट मोनेय्यानि– डा० विंटरनित्ज[2]।

६. उपतिस-पसने (उपतिष्य-प्रश्न)[3]

१. सारिपुत्त-सुत्त (सुत्त-निपात)—कोसम्बी और बड़ुआ[4]।

२. मज्झिम-निकाय के रथविनीत-सुत्त (१।३।४) में निर्दिष्ट उपतिष्य-प्रश्न—न्यूमैन[5]।

७ लाधुलोवादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते

(राहुल को उद्देश्य कर मृषावाद के संबंध में भगवान् बुद्ध का दिया हुआ उपदेश)

१. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम. २।२।१)—डा० रायस डेविड्स[6]

---

१ उपर्युक्त पद-संकेत ३ के समान।

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ ६०७ (परिशिष्ट ३)।

३. उपतिष्य सारिपुत्र का नाम है। चूंकि सुत्त-निपात के सारिपुत्त-सुत्त में सारिपुत्र ने कुछ प्रश्न किए हैं जिनका उत्तर बुद्ध ने दिया है, अतः यह प्रायः सुनिश्चित ही है कि अशोक का तात्पर्य इसी उपदेश से था।

४. इन विद्वानों के लेखों का निर्देश ऊपर हो चुका है। 'अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स', भाग द्वितीय, पृष्ठ ३६ में डॉ० बड़ुआ ने यह सम्भावना बिखाई है कि मज्झिम-निकाय का रथविनीत-सुत्तन्त भी 'उपतिस-पसिने' हो सकता है। सम्भवतः न्यूमन के अनुसरण पर उन्होंने ऐसा किया है। डा० विंटरनित्ज सुत्त-निपात के सारिपुत्त-सुत्त को ही 'उपतिस-पसिने' समझते हैं। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०७ (परिशिष्ट ३)।

५. विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०६ में उद्धृत।

६. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९८।

२. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम. २।२।१)--ई० सेनाँ[1]

भाब्रू-अभिलेख में निर्दिष्ट धम्म-पलियायों की पहचान का विवेचन हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है। इसलिये केवल विभिन्न विद्वानों के मतों के उद्धरण से सन्तोष कर लिया है। हमारा उद्देश्य है अशोक के भाब्रू अभिलेख के ऐतिहासिक साक्ष्य और महत्व को स्पष्ट करना और पालि तिपिटक के सन्दर्भ में उसे देखना। यद्यपि भाब्रू-शिलालेख में निर्दिष्ट धम्म-पलियायों की पालि-तिपिटक के विशिष्ट सूत्रों से पहचान करने में विद्वानों में कुछ मतभेद अवश्य रहा है, किन्तु यह मतभेद बहुत अल्प है और अधिकांश तो एक ही विषय के पालि-तिपिटक में अनेक स्थलों में प्रायः समान शब्दों में वर्णन करने के कारण ही है। अतः यह कहना इसके साक्ष्य को अतिरंजित करना नहीं होगा कि जिस समय अशोक का यह शिलालेख लिखा गया था, अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व, उस समय पालि तिपिटक अपने उसी रूप में और अपने सूत्रों के प्रायः उन्हीं नामों के साथ, जिनमें वह आज पाया जाता है, विद्यमान था।[2] अशोक के प्रज्ञापनों की भाव-शैली से भी यही परिलक्षित होता है। उनपर बुद्ध-वचनों का, जैसे कि वे आज पालि-तिपिटक में निहित हैं, पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। हाँ, विशेषता केवल यही है कि उसने बुद्ध-वचनों के अथाह समुद्र में से केवल ऐसे सुवचनों को चुन लिया है, जिनका उपदेश सर्व-साधारण के लिये, जिनमें विशेषतः गृहस्थों की ही अधिकता होती है, उपकारी हो सकता था। यही कारण है कि चार आर्य-सत्य, आर्य-अष्टांगिक मार्ग, प्रतीत्य समुत्पाद, निर्वाण जैसे गंभीर विषयों का उल्लेख न कर उसने जन-साधारण के सामने इस लोक के साधारण सामाजिक, पारिवारिक और आधुनिक भाषा में कहें तो नागरिक कर्तव्यों का उपदेश रक्खा है, जिसे पालि-तिपिटक के सिंगालोवाद (या सिगालोवाद)-सुत्त (दीघ. ३।८) लक्खण-सुत्त (दीघ. ३।७) और महामंगलसुत्त (सुत्त-निपात) जैसे भागों में गृहस्थों को लक्ष्य कर सिखाया गया है। 'सिंगालोवाद-सुत्त' तो पूरे अर्थों

---

१. जर्नल एशियाटिक, १८८४, जिल्द तीसरी पृष्ठ ४७८।

२. डा० वेणीमाधव बाड़ुआ इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, किन्तु विंटरनित्ज ने उनके इस निष्कर्ष को कुछ अतिरंजित माना है। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०८; फिर भी विंटरनित्ज ने उन विद्वानों के साथ सहमति नहीं दिखाई है जो अशोक के समय किसी भी प्रकार के पालि-तिपिटक का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। देखिये वहीं, पृष्ठ ६०८-६०९।

में 'गिहि-विनय' (गृह-विनय) ही कहा गया है। अशोक ने जिस धर्म को सिखाया है, उसमें प्राणधारियों की अहिंसा (अनारम्भो प्राणानं), जीवों को कष्ट न पहुँचाना (अविहिंसा भूतानं), माता-पिता की सेवा (मातरि पितरि सुस्रूसा), बड़ों का आदर (थेर-सुस्रूसा), मित्र, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता और शिष्टता का व्यवहार (मित-संस्तुत-अतिकानं ब्राह्मण-समणानं दानं सम्पटिपति), गुरुओं का सम्मान (गुरूनं अपचिति), दासों और नौकरों के साथ शिष्टता और उदारता का व्यवहार (दास-भतकम्हि सम्मपटिपत्ति), मितव्ययता और अल्प संग्रह करना (अपव्ययता, अपभांडता) आदि सामान्य लोक-धर्म की बातें ही हैं। बुद्ध ने यही धर्म साधारण जनता को सिखाया था। 'सिगालोवाद-सुत्त' के इस संक्षिप्त उद्धरण को ही देखिये--

"माता-पिता पूर्व दिशा हैं, आचार्य दक्षिण दिशा।

पुत्र-स्त्री पश्चिम दिशा हैं, मित्र-अमात्य उत्तर दिशा।

दास-कर्मकर नीचे की दिशा हैं, श्रमण-ब्राह्मण ऊपर की दिशा।

गृहस्थ को अपने कुल में इन दिशाओं को अच्छी तरह नमस्कार करना चाहिये।"[१]

निश्चय ही अशोक ने अपने 'धम्म' को ऐसे ही बुद्ध-वचनों से पाया है। ऊपर भाब्रू अभिलेख में उसकी बुद्ध-भक्ति दिखाई जा चुकी है। साँची, प्रयाग और सारनाथ के अपने स्तम्भ-प्रज्ञापनों में संघ-भेद को रोकने के लिये अशोक ने जो तत्परता दिखाई है, वह भी स्पष्ट ही है। वास्तव में उसने अपने सारे जीवन-कार्यों में चक्रवर्ती धर्मराज के उस आदर्श को पूर्ण करने का प्रयत्न किया, जो पालि-तिपिटक में उपदिष्ट किया गया है। लक्खण-सुत्त (दीघ. ३।७) के अनुसार "चक्रवर्ती-धार्मिक, धर्मराज, चारों दिशाओं को जीतकर, सागर-पर्यन्त इस पृथ्वी (भारत-भूमि) को दंड और शस्त्र से नहीं, किन्तु धर्म से जीतकर उसके ऊपर शासन करता है।"[२] अशोक की धम्म-विजय का, उसकी प्राणि-अविहिंसा का, जाति-धर्म-निर्विशेष, संपूर्ण मनुष्य-जाति की सेवा के उसके उच्च आदर्श का, इसके अलावा और

---

१. दीघ-निकाय, पृष्ठ २७६ (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)।

२. चक्कवत्ती धम्मिको धम्मराजा चातुरन्तो विजितावी सो इमं पठविं सागर-परियन्तं अदण्डेन असत्थेन अभिविजिय अज्झावसति। लक्खण-सुत्त (दीघ. ३।७)।

अर्थ ही क्या हो सकता था ? अतः यह निर्विवाद है कि अशोक की प्रेरणा का मूलाधार बुद्ध-धर्म ही था। किस प्रकार धम्म-दान की प्रशंसा करते हुए अशोक ने धम्मपद की एक गाथा के अंश ('धम्मदान सब्बदान जिनाति' को प्रतिध्वनित किया है, अथवा किस प्रकार उसके नवें शिलालेख के अन्तिम भाग की शैली 'कथावत्थु' से मिलती जुलती है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। अतः यह निःसंदेह है कि अशोक के अभिलेखों का साक्ष्य उसके बुद्ध-वचनों या पालि-तिपिटक के उस रूप से परिचित होने के पक्ष में है जो आज हमें प्राप्त है और जिसमें से 'गृहविनय' के ही लोक सामान्य आदर्श को लेकर अशोक ने स्वयं (अपने गृहस्थ शासक होने की अवस्था में) उसको अपनाया और उसी को अपनी प्यारी जनताओं को भी सिखाया।[1]

अशोक के अभिलेखों के अलावा अन्य प्रभूत पालि अभिलेख-साहित्य भी हमें आज प्राप्त है। यह बहुत पुराना भी है और उसकी परम्परा ठीक अर्वाचीन काल तक चलती आ रही है। तीसरी और दूसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व से लेकर ठीक अठारहवीं शताब्दी तक के पालि अभिलेख हमें प्राप्त हैं। यद्यपि इन सब अभिलेखों का साहित्यिक महत्व और ऐतिहासिक साक्ष्य अशोक के अभिलेखों के समान महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु इनमें से अधिकांश पालि-साहित्य के विकास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। उसकी विकास-परम्परा के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए वे हमें बहुत सहायता देते हैं। हम इन सात मुख्य अभिलेखों का यहाँ उल्लेख करेंगे (१) साँची और भरहुत के अभिलेख, (२) सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख, (३) मौंगन (बरमा) के दो स्वर्ण-पत्र लेख (४) मञ्जा (प्रोम-बरमा) का पाँचवीं-छठी शताब्दी का स्वर्ण-पत्र लेख, (५) मञ्जा (प्रोम-बरमा) के बोबोगी पेगोडा में प्राप्त खंडित पाषाण-लेख, (६) १४४२ ई० का पगान (बरमा) का अभिलेख और (७) रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति का सन् १४७६ ई० का प्रसिद्ध कल्याणी-अभिलेख।

---

१. अशोक के अभिलेखों पर भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से पालि तिपिटक का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। अशोक-वचनों में किस प्रकार बुद्ध-वचन ध्वनित हैं, इसके सोदाहरण विवेचन के लिये देखिये बड़ुआ : अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स, भाग द्वितीय, पृष्ठ ६२-९२। महाभारत आदि के अवतरणों से भी यहाँ डा० बड़ुआ ने अशोक-वचनों को मिलाया है और तत्सम्बन्धी उद्धरण दिये हैं।

सांची और भरहुत के अभिलेख[1]

प्रायः सभी पुरातत्वविदों का इस विषय में एक मत है कि सांची और भरहुत के स्तूप तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व के हैं। इन स्तूपों की पाषाण-वेष्टनियों पर जो लेख उत्कीर्ण हैं और प्राचीन बौद्ध कथाओं के जो चित्र अंकित हैं, वे भारतीय पुरातत्व की तो अमूल्य निधि हैं ही, पालि-तिपिटक की प्राचीनता और प्रामाणिकता को दिखाने के लिये भी उनका प्रमाण अन्तिम और पूर्णतम रूप से निश्चित है। हम पहले देख चुके हैं कि इन स्तूपों के लेखों में भिक्षुओं के विशेषण-स्वरूप 'सुत्तन्तिक', 'पेटकी', 'धम्मकथिक', 'पञ्चनेकायिक', 'भाणक' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनसे स्पष्ट है कि जिस समय ये लेख लिखे गये थे, बुद्ध-वचनों का "पिटक", 'सुत्त', 'पंच निकाय' आदि में वर्गीकरण प्रसिद्ध था और उनका संगायन करने वाले (भाणक) भिक्षु भी पाये जाते थे। अतः पालि तिपिटक प्रायः अपने उसी विभाजन में जिसमें वह आज उपलब्ध हैं, तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व भी पाया जाता था, यह निश्चित है। एक और प्रमाण भी इन्हीं स्तूपों से इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मिलता है। भरहुत और सांची की पाषाण-वेष्टनियों पर बौद्ध कथाओं के चित्र अंकित हैं, जो जातक की अनेक कथाओं से विचित्र समानता रखते हैं। इतना ही नहीं, भरहुत-स्तूप में तो कुछ जातक-कथाओं के नाम तक भी उल्लिखित हैं, जो इस प्रकार हैं (१) वितुर पुनकिय (२) मिग (३) माग (४) यवमझकिय (५) मुगपकय, (६) लतुवा (७) छदन्तिय (८) इसि-सिंगिय, (९) यं बमणो अवयेसि, (१०) हंस, (११) किनर (१२) इसिमिगो (१३) जनोको राजा (१४) सिवला देवी (१५) उद (१६) सेछ (१७) सुजतो गहुतो (१८) बिडल जातक (१९) कुकुट जातक (२०) मघादेविय (२१) भिस और (२२) हरनिय। इन जातकों की कथाएँ और कहीं-कहीं नाम भी आज प्राप्त 'जातक' की इन कहानियों से समानता रखते हैं, यथा (१) विधुर पंडित (२) निग्रोध-मिग (३) कक्कट, (४) महाउम्मग्ग (५) मूगपक्ख (६) लटुकिक (७) छद्दन्त (८) अलम्बुस (९) अण्डभूत, (१०) नच्च, (११) चन्द किन्नर, (१२)

---

१. सांची और भरहुत के अभिलेखों के अध्ययन के लिए देखिये विशेषतः बड़ुआ और सिंह "भरहुत इन्सक्रिप्शन्स", कलकत्ता, १९२६; मेसे: सांची और इट्स रिमेन्स, लन्दन १८९२, मार्शल: ए गाइड टू सांची, कलकत्ता, १९१८; हिन्दी में अभी इस विषय का विशेषतापूर्ण अध्ययन नहीं किया गया।

मिगपोतक, (१३) महाजनक, (१४) दब्ब-पुप्फ, (१५) दूभिय मक्कट, (१६) सुजात, (१७) कुक्कुट, (१८) मखादेव और (१९) भिस जातक। भरहुत-स्तूप में कहीं-कही दृश्य तो अंकित है, किन्तु नीचे उनके नाम नहीं दिये गये है। फिर भी इन चित्रों से विदित होता है कि वे पालि-जातक की कुछ कहानियों के चित्रों को ही अकित करते है। इस प्रकार की 'जातक' की कहानियाँ, जो यहाँ अंकित है, ये है (१) कुरुंग-मिग, (२) सन्धि-भेद, (३) असदिस, (४) दसरथ, (५) महाकपि, (६) चम्मसाटक, (७) आराम-दूसक (सख्या ४६) और (८) कपोत जातक। अतः इन सब साक्ष्यों से स्पष्ट है कि न केवल पालि-तिपिटक बल्कि उसके कुछ विशिष्ट ग्रन्थ भी अपने उसी स्वरूप में, जैसे वे आज है, तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसवी-पूर्व भी विद्यमान थे। इस प्रकार साँची और भरहुत के महत्वपूर्ण अभिलेख और चित्र अशोक के अभिलेखों के साक्ष्य का ही अनुमोदन करते हुए 'तेपिटक' बुद्ध-वचनों की प्रामाणिकता और प्राचीनता का साक्ष्य देते है।

सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख

सारनाथ संग्रहालय में लंबे आकार की बोधिसत्व की एक मूर्ति सुरक्षित है। उस पर तीन अभिलेख अकित है, जो कुषाण-राजा कनिष्क के शासन-काल के तीसरे वर्ष में अंकित किये गये थे। इन लेखों का विषय बुद्ध का 'धम्मचक्कपवत्तन' है। पंचवर्गीय भिक्षुओं के प्रति भगवान् ने वाराणसी में चतुरार्य सत्य-विषयक जो उपदेश दिया, वह यहाँ इन शब्दों में अंकित है "चत्तारि मानि भिक्खवे अरिय-सच्चानि। कतमानि चत्तारि? दुक्खं दि भिक्खवे अरिय सच्चं। दुक्खसमु-दयो अरियसच्चं दुक्ख-निरोधो अरियसच्चं दुक्खनिरोधो-गामिनी च पटिपदा।" इसका हिन्दी अनुवाद है--"भिक्षुओ! ये चार आर्य सत्य है? कौन से चार? भिक्षुओ! दुःख आर्य सत्य है, दुःख-समुदय आर्य-सत्य है, दुःख निरोध आर्य सत्य है, दुःख-निरोध गामिनी-प्रतिपदा (मार्ग) आर्य सत्य है।" 'धम्मचक्क पवत्तन-सुत्त' का यह अक्षरशः उद्धरण ही है। कनिष्क ने इसे अंकित करवाकर उसी स्थान पर रक्खा जहाँ पर कि वह ऐतिहासिक रूप से प्रथम बार दिया गया था, इससे स्पष्ट विदित होता है कि ईसवी सन् के लगभग (कनिष्क का समय) पालि-माध्यम में निहित बुद्ध-वचन ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक माने जाते थे। अशोक के तथा साँची और भरहुत के अभिलेखों के कालक्रम से प्राप्त साक्ष्य का इस प्रकार यह अभिलेख भी अनुमोदन करता है।

मौंगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र-लेख

स्वर्णपत्रों पर लिखे हुए दो पालि-अभिलेख बरमा में प्रोम के समीप मौगन नामक गाँव में मिले है। संभवतः ये पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी के है और दक्षिण भारत की कदम्ब (कन्नड-तेलगू) लिपि में लिखे हुए है। प्रथम अभिलेख यह है "ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतु तथागतो आह तेसं च यो निरोधो एवंवादी महासमणो ति, चत्वारो सम्मप्पधाना, चत्वारो सतिपट्ठाना, चत्वारि अरियसच्चानि, चतुवेसारज्जानि, पञ्चिन्द्रियाणि, पञ्च चक्खूनि, छ असद्धारणानि, सत्त बोज्झग, अरियो अट्ठगिको मग्गो, नव लोकुत्तरा धम्मा, दस बलानि, चुद्दस बुद्धञ्ञाणानि, अट्ठारस बुद्धधम्मा ति।" इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है, "जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न हैं, उनके हेतु को तथागत बतलाते हैं और उनके निरोध को भी, उन महाश्रमण का यही मत है, जैसे कि चार सम्यक् प्रधान, चार स्मृति-प्रस्थान, चार आर्य-सत्य, चार वैशारद्य, पाँच इन्द्रिय, पाँच चक्षु, छह असाधारण, दस बल, चौदह बुद्ध-ज्ञान, एव अठारह बुद्ध-धर्म।" इस अवतरण का प्रथम भाग अर्थात् यह अश "जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न हैं, उनके हेतु को तथागत बतलाते है और उनके निरोध को भी, यही उन महाश्रमण का मत है" बुद्ध के सारे मन्तव्य को जैसे एक सक्षिप्त सूत्र में ही रख देता है। पालि-तिपिटक में भी यह बहुत प्रसिद्ध है। अस्सजि (अश्वजित्) नामक भिक्षु ने यही कहकर प्रथम बार सारिपुत्र को बुद्ध-मन्तव्य का परिचय दिया था ; बाद के अश में बोधिपक्षीय धर्मो का परिगणन कराया गया है, जो बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद की एक परिपूर्ण सूची है। स्थविरवाद बौद्ध धर्म बुद्ध-धर्म के नैतिक सिद्धातों को आधार मानकर भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट बोधिपक्षीय धर्मो को ही उनका मुख्य मन्तव्य मानता है। पाँचवीं-छठीं शताब्दी में बरमी बौद्ध धर्म की प्रगति पर यह स्वर्ण-पत्र लेख अच्छा प्रकाश डालता है। द्वितीय स्वर्णपत्र पर भी प्रथम लेख के आदि का अश अकित है (ये धम्मा . . . . महासमणोति), किन्तु उसके बाद यहाँ त्रिरत्न की वन्दना और अकित है, यथा --'तिपि सो भगवा अरह सम्मा सम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसद्दम्मसारथि सत्था देवमनुस्सान बुद्धो भगवाति'। यह भी पालि तिपिटक का ही एक उद्धरण है। इसका हिन्दी अनुवाद है "वे भगवान् अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या चरण-सम्पन्न, सुगत, लोकविद्, अद्वितीय पुरुष-दम्य-सारथी, देव और मनुष्यों के शास्ता भगवान् बुद्ध है।" बुद्ध-भक्ति के उद्गार-स्वरूप ही ये लेख लिखे गये है ।

मञ्जा का पाँचवीं-छठी शताब्दी का स्वर्णपत्र-लेख

बरमा में प्रोम के पास मञ्जा नामक स्थान पर (जो बरमा की प्यू नामक जाति की पुरानी राजधानी का अवशेष है और जिसके पास ही उपर्युक्त मौंगन गाँव है) बीस स्वर्ण-पत्रों पर लिखा हुआ एक पालि अभिलेख पाया गया है; यह भी दक्षिण-भारत की कन्नड़-तेलगू प्रकार की लिपि में लिखा हुआ है। इस अभिलेख में विनय और अभिधम्म पिटक के कुछ उद्धरण अंकित हैं। बोधिपक्षीय धर्मों और प्रतीत्यसमुत्पाद के भी उद्धरण हैं। कुछ अंश इस प्रकार हैं, "चत्तारो सतिपट्ठाना, चत्तारो सम्मप्पधाना, चत्तारो इद्धिपादा . . . अविज्जा-पच्चया संखारा, संखार-पच्चया विञाणं, विञाण-पच्चया नाम रूपं . . .।" इस अभिलेख में यह भी अंकित है "विरागो सेट्ठो धम्मानं दिपदानं चक्खुमाति।" बरमा में पालि-बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास पर इस अभिलेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

मञ्जा के बोबोगी पेगोडा में प्राप्त खंडित पाषाण-लेख

बरमा में मञ्जा (प्राचीन प्रोम) के बोबोगी पेगोडा में सन् १९१०-११ ई० में तीन खंडित पाषाण-लेख मिले, जो संभवतः छठी शताब्दी ईसवी के हैं। इनकी लिपि भी दक्षिण भारत की कन्नड़-तेलगू लिपि से मिलती-जुलती है। इन अभिलेखों में पालि-तिपिटक, विशेषतः अभिधम्म-पिटक, के ही किसी ग्रन्थ का उद्धरण है, जिसका अभी निश्चयतः पता नहीं लगाया जा सका है। इस अभिलेख से बरमा की अभिधम्म-पिटक संबंधी अध्ययन की ओर विशेष रुचि का, जो वहाँ आरंभ से ही रही है, पता चलता है।

१४४२ ई० का पगान (बरमा) का अभिलेख

बरमा के तौंगद्विन नामक प्रान्त के बौद्ध उपासक राज्यपाल और उसकी पत्नी ने १४४२ ई० में वहाँ के भिक्षु-संघ को कुछ महत्वपूर्ण दान दिया था। उसी की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए यह लेख अंकित करवाया गया था। इस लेख में अन्य बातों के साथ-साथ उन ग्रन्थों का भी उल्लेख है, जिनका दान उक्त राज्यपाल ने भिक्षु-संघ को दिया था। अतः बरमा में पालि-साहित्यके विकास की दृष्टि से इस अभिलेख का एक विशेष महत्व है। एक विशेष महत्वपूर्ण बात इस अभिलेख की यह भी है कि यहाँ पालि-ग्रन्थों की सूची में अमरकोश, वृत्तरत्नाकर जैसे कुछ संस्कृत-ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं, जो बरमा में तद्विषयक अध्ययन की परम्परा

का अच्छा साक्ष्य देते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी तक बरमी पालि साहित्य की प्रगति को दिखाने के लिए यद्यपि इस अभिलेख में निर्दिष्ट ग्रन्थों का अधिक विवेचन अपेक्षित है, किन्तु विस्तार-भय से हम यहाँ ऐसा न कर केवल उनका नाम परिगणन मात्र ही करते हैं, जिनकी भी संख्या २९५ है, यथा—(१) पाराजिककंड, (२) पाचित्तिय, (३) भिक्खुनी-विभंग, (४) विनय-महावग्ग, (५) विनय-चूळवग्ग, (६) विनय-परिवार, (७) पाराजिक-कंड-अट्ठकथा, (८) पाचित्तियादि-अट्ठकथा (९) पाराजिककंड-टीका, (१०) तेरसकंडटीका, (११) विनय-सग्रह-अट्ठकथा, (महा), (१२) विनय-सग्रह-अट्ठकथा (लघु), (१३) कङ्खावितरणी-अट्ठकथा, (१४) खुद्दसिक्खा- टीका, (प्राचीन) (१५) खुद्दसिक्खा-टीका (अभिनवा), (१६) कंखा-टीका (अभिनवा), (१७) विनय गण्ठिपद, (१८) विनय-उत्तर-सिचय-अट्ठकथा, (१९) विनय-सिचय-टीका, (२०) विनयक्खन्ध-निद्देस, (२१) धम्मसंगणि, (२२) विभंग, (२३) धातुकथा, (२४) पुग्गलपञ्ञत्ति, (२५) कथावत्थु, (२६) मूल-यमक, (२७) इन्द्रिय यमक, (२८) तिक-पटठान, (२९) दुक-तिक-पट्ठान, (३०) दुक-पुट्ठान, (३१) अट्ठसालिनी-अट्ठकथा, (३२) सम्मोहविनोदनी-अट्ठकथा, (३३) पञ्चप्पकरण-अट्ठकथा, (३४) अभिधम्म-अनुटीका (३५) अभिधम्मत्थसगह-अट्ठकथा, (३६) अभिधम्मत्थसंगह-टीका, (३७) अभिधम्मत्थविभावनी-टीका, (३८) सीलक्खन्ध, (३९) महावग्ग, (४०) पाथेय्य, (४१) सीलक्खन्ध-अट्ठकथा, (४२) महावग्ग-अट्ठकथा, (४३) पाथेय्य-अट्ठकथा, (४४) सीलक्खन्ध टीका, (४५) महावग्ग-टीका, (४६) पाथेय्य-टीका, (४७) मूलपण्णास, (४८) मूलपण्णास-अट्ठकथा, (४९) मूलपण्णास-टीका, (५०) मज्झिमपण्णास, (५१) मज्झिमपण्णास-अट्ठकथा, (५२) मज्झिमपण्णास-टीका, (५३) उपरिपण्णास, (५४ उपरिपण्णास-अट्ठकथा, (५५) उपरिपण्णास-टीका, (५६) सगाथवग्ग-सयुत्त, (५७) सगाथवग्गसंयुत्त-अट्ठकथा, (५८) सगाथवग्गसंयुत्त-टीका, (५९) निदान-वग्ग-संयुत्त, (६०) निदानवग्गसंयुत्त-अट्ठकथा, (६१) खन्धवग्ग-सयुत्त, (६२) खन्धवग्ग-संयुत्त-टीका, (६३) सळायतन-वग्ग-संयुत्त, (६४) सळा-यतनवग्ग-संयुत्त-अट्ठकथा, (६५) महावग्ग-संयुत्त, (६६) एक-दुक-तिक-निपात-अंगुत्तर, (६७) चतुक-निपात-अंगुत्तर, (६८) पञ्चनिपात-अंगुत्तर (६९) छसत्तनिपात-अंगुत्तर, (७०) अट्ठ-नव-निपात-अंगुत्तर, (७१) दस-

एकादस-निपात-अंगुत्तर, (७२) एकनिपात-अंगुत्तरट्ठकथा, (७३) दुक-तिक-चतुक-निपात-अंगुत्तर-अट्ठकथा, (७४) पञ्चादि-अंगुत्तर-अट्ठकथा, (७५) अंगुत्तर-टीका, (१) (७६) अंगुत्तर-टीका (२) (७७) खुद्दक-पाठ, अट्ठकथा-सहित, (७८) धम्मपद, अट्ठकथा-सहित, (७९) उदान, अट्ठकथा-सहित, (८०) इतिवुत्तक, अट्ठकथा-सहित, (८१) सुत्त-निपात, अट्ठकथा-सहित (८२) विमानवत्थु, अट्ठकथा-सहित, (८३) पेतवत्थु, अट्ठकथा-सहित, (८४) थेरगाथा, अट्ठकथा-सहित, (८५) थेरीगाथा, अट्ठकथा-सहित (८६) पाठचरिय (८७) एक-निपात-जातक-अट्ठकथा, (८८) दुकनिपात-जातक-अट्ठकथा, (८९) तिक-निपात-जातक-अट्ठकथा, (९०) चतुक-पंच-छ-निपात जातक-अट्ठकथा, (९१) सत्त-अट्ठ-नव-निपात-जातक-अट्ठकथा, (९२) दस-एकादस-निपात-जातक-अट्ठकथा, (९३) द्वादसतेरस-पकिण्णक-निपात-जातक-अट्ठकथा, (९४) वीसतिजातक-अट्ठकथा, (९५) जातत्तकी-सोत्तत्तकी-निदान-अट्ठकथा, (९६) चूळनिद्देस, (९७) चूल-निद्देस-अट्ठकथा, (९८) महानिद्देस, (९९) महानिद्देस, (१००) जातक-टीका, (१०१) दुम-जातक-अट्ठकथा, (१०२) अपदान, (१०३) अपदान-अट्ठकथा, (१०४) पटिसम्भिदामग्ग, (१०५) पटिसम्भिदा-मग्ग-अट्ठकथा, (१०६) पटिसम्भिदामग्ग-गण्ठिपद, (१०७) विसुद्धिमग्ग-अट्ठ-कथा, (१०८) विसुद्धिमग्ग-टीका (१०९) बुद्धवंस-अट्ठकथा, (११०) चरिया-पिटक-अट्ठकथा, (१११) नामरूप-टीका, (नवीन), (११२), परमत्थ-विनिच्छय (नवीन) (११३) मोह-विच्छेदनी, (११४) लोक-पञ्ञत्ति, (११५) मोह-नयन, (११६) लोकुप्पत्ति, (११७) अरुणवति, (११८) छगति-दीपनी, (११९) सहस्सरंसिमालिनी (१२०) दसवत्थु (१२१) सहस्सवत्थु (१२२) सीहल-वत्थु (१२३) पेटकोपदेस, (१२४) तथागतुप्पत्ति, (१२५) धम्मचक्क (-पवत्तन-सुत्त), (१२६) धम्मचक्क-टीका, (१२७) दाठाधातुवंस, (१२८) दाठा-धातुवंस टीका, (१२९) चूलवंस, (१३०) दीपवंस, (१३१) थूपवंस, (१३२) (१३२) अनागतवंस (१३३) बोधिवंस, (१३४) महावंम, (१३५) महावंस टीका, (१३६) धम्मदान, (१३७) महाकच्चायन, (१३८) न्यास, (१३९) थन्-ब्यन्-टीका, (१४०) महाथेर टीका, (१४१) रूपसिद्धि-अट्ठकथा, (१४२) रूपसिद्धि-टीका, (१४३) बालावतार, (१४४) वुत्ति-मोग्गल्लान, (१४५) पञ्चिक-मोग्गल्लान, (१४६) पञ्चिक-मोग्गल्लान-टीका, (१४७) कारिका (१४८) कारिका-टीका, (१४९) लिंगत्थ-विवरण (१५०) लिंगत्थ-विवरण-टीका, (१५१)

मुखमत्तसार, (१५२) मुखमत्तसार-टीका (१५३) महागण, (१५४) चूलगण, (१५५) अभिधान, (१५६) अभिधान-टीका, (१५७) सद्दनीति, (१५८) चूलनिरुत्ति, (१५९) चूलसन्धि-विसोधन, (१६०) सद्दत्थभेदचिन्ता, (१६१) सद्दत्थभेद-चिन्ता-टीका, (१६२) पद सोधन, (१६३) सम्बन्ध-चिन्ता-टीका, (१६४) रूपावतार, (१६५) सद्दावतार, (१६६) सद्धम्मदीपक, (१६७) सोतमालिनी, (१६८) सम्बन्धमालिनी, (१६९) पदावहामहाचक्क, (१७०) ण्वादि (मोग्गल्लान) (१७१) कतचा (कृत्-चक्र) (१७२) महाका (महाकप्प या महाकच्चायन) (१७३) बालत्तजन, (बालावतारण), (१७४) सुत्तावलि, (१७५) अक्खरसम्मोहच्छेदनी, (१७६) चेतिद्धिनेमिपरिगाथा, (१७७) समासतद्धितदीपनी, (१७८) बीजख्यं, (१७९) कच्चायन-सार, (१८०) बालप्पबोधन, (१८१) अट्ठसालिनी, (१८२) अट्ठसालिनी-निस्सय, (१८३) कच्चायन-निस्सय, (१८४) रूपसिद्धि-निस्सय, (१८५) जातक-निस्सय, (१८६) जातकगण्ठि, (१८७) धम्मपदगण्ठि-निस्सय, (१८८) कम्मवाचा, (१८९) धम्मसत्त, (१९०) कलापपञ्चिका, (१९१) कलाप-पञ्चिका-टीका, (१९२) कलापसुत्त-प्रतिञ्ञासकु, (१९३) प्रिण्डो-टीका, (१९४) रत्नमाला, (१९५) रत्नमाला-टीका, (१९६) रोगनिदान, (१९७) दव्वगुण, (१९८) दव्वगुण-टीका, (१९९) छन्दोविचिति, (२००) चन्द्रप्रुति (चन्द्रवृत्ति), (२०१) चन्द्रपञ्चिकर, (२०२) कामन्दकी, (२०३) धम्मपञ्ञा-पकरण, (२०४) महोसट्ठि, (२०५) सुबोधालंकार, (२०६) सुबोधालंकार-टीका, (२०७) तनोगबुद्धि, (२०८) तण्डि (दण्डी) (२०९) तण्डि-टीका, (२१०) चंकदास, (२११) अरियसच्चावतार, (२१२) विचित्रगन्ध, (२१३) सद्धम्मुपाय, (२१४) सार संगह (२१५) सारपिण्ड, (२१६) पटिपत्ति संगह, (२१७) सूलचारक, (२१८) पालतक्क (२१९) त्रक्कभासा (तर्कभाषा) (२२०) सद्दकारिका, (२२१) कासिकाप्रुत्तिपालिनी, (२२२) सद्धम्मदीपक, (२२३) सत्यतत्वावबोध, (२२४) बालप्पबोधन-प्रुत्तिकरण (२२५) अत्थब्याख्यं, (२२६) चूलनिरुत्ति मंजूसा, (२२७) मंजूसाटीका ब्याख्यं (२२८) अनुटीका ब्याख्यं, (२२९) पकिण्णक-निकाय, (२३०) चत्थ-पयोग, (२३१) मत्थपयोग, (२३२) रोगयात्रा, (२३३) रोगयात्रा-टीका, (२३४) सत्थेक-विपसवप्रकाश, (२३५) राजमत्तन्त, (२३६) परासव, (२३७) कोलद्धज, (२३८) बृह-ज्जातक, (२३९) बृहज्जातक-टीका (२४०) दाठाधातुवंस, टीका-सहित,

(२४१) पतिंग-विवेक-टीका, (२४२) अलंकार-टीका, (२४३) चलिन्द-पञ्चिका, (२४४) वेदविधिनिमित्तनिरुत्ति-वण्णना, (२४५) निरुत्ति-व्याख्यं, (२४६) वुत्तोदय, (२४७) वुत्तोदय-टीका, (२४८) मिलिन्द-पञ्ह, (२४९) सारत्थ-संगह, (२५०) अमरकोस- निस्सय, (२५१) पिंडो-निस्सय, (२५२) कलाप-निस्सय, (२५३) रोगनिदान-व्याख्यं, (२५४) दन्नगण-टीका, (२५५) अमरकोस, (२५६) दण्डी-टीका, (२५७) दण्डी-टीका (द्वितीय) (२५८) दण्डी-टीका (तृतीय), (२५९) कोलध्वज-टीका, (२६०) अलंकार, (२६१) अलंकार-टीका (२६२) भेसज्जमंजूसा, (२६३) युद्धजेय्य, (२६४) यतनप्रभा टीका, (२६५) विरग्घ, (२६६) विरग्घ-टीका, (२६७) चूळमणि-सार, (२६८) राजमन्तन्त टीका, (२६९) मृत्युवञ्चन, (२७०) महाकाल-चक्क, (२७२) महाकालचक्क-टीका, (२७२) परविवेक, (२७३) कच्चायन-रूपावतार, (२७४) पुम्भरसारी, (२७५) तक्कावतार (तत्त्वावतार), (२७६) तक्कावतार-टीका, (२७७) न्याय-बिन्दु, (२७८) न्यायबिन्दु-टीका, (२७९) हेतुबिन्दु, (२८०) हेतुबिन्दु-टीका, (२८१) रिक्कणिय-यात्रा (२८२) रिक्कणिय-यात्रा-टीका, (२८३) बरित्तरताकर (वृत्तरत्नाकर), (२८४) ग्यारामितिकब्य, (२८५) युत्तिसंगह (२८६) युत्ति-संगह टीका (२८७) सारसंगह-निस्सय, (२८८) रोग-यात्रा-निस्सय, (२८९) रोग-निदान-निस्सय, (२९०) सद्दत्थभेदचिन्ता-निस्सय, (२९१) पारानिस्सय, (२९२) ग्यारा-मितिकब्य-निस्सय, (२९३) बृहज्जातक-निस्सय (२९४) रत्तमाला, और (२९५) नरयुत्ति-संगह।[1]

रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति का १४७६ ई० का कल्याणी-अभिलेख

कल्याणी अभिलेख रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति ने सन् १४७६ ई० में अंकित करवाया था। बरमा में बौद्ध धर्म के विकास, विशेषतः भिक्षु-संघ की परम्परा, पर इस अभिलेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भिक्षुओं के उपसम्पदा-संस्कार की विधि एवं विहार-सीमा के निर्णय करने के विषय पर राजा

---

१. देखिए मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ १०१-१०९। यहाँ पद-संकेतों में कुछ रचनाओं के सम्बन्ध में अधिक सूचना दी गई है।

धम्मचेति (१४६०-१४९१ ई०) के समय में बरमी भिक्षु-संघ में विवाद उपस्थित हो गया। इस विवाद का निश्चित समाधान करने के लिए प्राचीन बौद्ध साहित्य, विशेषतः विनय-पिटक और उसकी अट्ठकथा एवं उपकारी टीका-साहित्य का काफी गवेषण किया गया। उसके परिणामस्वरूप जो निश्चित मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ, उसी का उल्लेख कल्याणी-अभिलेख में है। राजा धम्मचेति ने (जो स्वयं पहले बौद्ध भिक्षु रहा था और जिसका अब भी बौद्ध धर्म में अनुराग था) कुछ भिक्षुओं को उपसम्पदार्थ सिंहल भेजा, क्योंकि वहाँ महेन्द्र के समय से ही उपसम्पदा की विधि महाविहार की परम्परा के रूप में अपने विशुद्ध रूप में चली आ रही थी। राजा धम्मचेति द्वारा भेजे गये इन बर्मी भिक्षुओं की कोलम्बो के समीप कल्याणी नदी के तट पर स्थित कल्याणी-विहार में उपसम्पदा हुई और जब ये भिक्षु लौटकर बर्मा आये तो इन्होंने पेगू नगर में एक 'सीमा' स्थापित की, जो कल्याणी की स्मृति में 'कल्याणी-सीमा' कहलाई और जहाँ सिंहल-निकाय के अनुसार दीक्षा देने का विधान हुआ। इसीलिये वहाँ अंकित अभिलेख भी कल्याणी-अभिलेख के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह लेख पत्थर की दस पट्टिओं पर है और पेगू नगर के पश्चिमी भाग में मिला है। आजकल ये पट्टियाँ टूट चुकी हैं। प्रथम तीन पट्टिओं पर अंकित अभिलेखों की भाषा पालि है और शेष की तलैङ, जो मूल पालि पाठ से अनूदित की गई है। यह सारा विषय बौद्ध क्रियाकाण्ड से इतना संबंधित है कि उसका उद्धरण देने से यहाँ कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। पालि साहित्य के बरमा में विकास की दृष्टि से केवल इस अभिलेख पर अंकित उन पालि ग्रन्थों के नाम महत्वपूर्ण हैं, जिनकी सहायता उपर्युक्त विवाद के शमनार्थ ली गई थी। इन ग्रन्थों में ये मुख्य हैं—पातिमोक्ख, खुद्दक-सिक्खा, विमति-विनोदनी, विनय-पालि, वज्रबुद्धि स्थविर (वजिरबुद्धि थेर)—कृत विनय-टीका, सारत्थदीपनी, विनयट्ठकथा, कंखावितरणी, विनय-विनिच्छय-पकरण, विनयसंगह-पकरण, सीमालंकार-पकरण, सीमालंकार-संगह, आदि। जैसा स्पष्ट है, विनय-पिटक संबंधी साहित्य ही इसमें प्रधान है। इनमें से कुछ रचनाओं का परिचय हम पहले दे चुके है।

कल्याणी-अभिलेख इस दिशा में पालि-साहित्य सृजन की अंतिम काल-सीमा निश्चित करता है। वह उस प्रभूति पालि-साहित्य की ओर भी संकेत करता है, जो लंका की तरह बरमा में भी लिखा गया। साथ ही म्रम्म (बरमी) और सिंहली भिक्षु-निकायों के सम्बन्ध की कथा भी उसमें है और मध्यकालीन बरमी शासकों

की बुद्ध-धर्म-सम्बन्धी गहरी निष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण भी। पालि साहित्य यद्यपि संस्कृत की तरह एक पूरा वाङमय नहीं है, फिर भी उसकी रचना भारत, लंका, बरमा, स्याम, कम्बोडिया और लाओस जैसे देशों में हुई है। उसकी अनेक-विध बिखरी हुई सामग्री इसका प्रमाण है। पालि में विभिन्न ज्ञान-शाखाओं पर ग्रन्थ नहीं लिखे गये। जो कुछ लिखे भी गये, उनका भी आधार विशाल संस्कृत वाङमय ही था और उनका अपने आप में कोई विशेष महत्व नहीं है।

उपसंहार

भारतीय वाङ्मय में पालि साहित्य का स्थान

गत पृष्ठों में जिस साहित्य का पर्यालोचन किया गया है, वह भारतीय साहित्य का अभी तक प्रायः एक उपेक्षित अंग ही रहा है। संपूर्ण मध्यकालीन भारतीय आर्य साहित्य का ही वैसे तो यथावत् अध्ययन अभी हिन्दी में नहीं किया गया है, किन्तु पालि साहित्य के अतिशय गौरवशाली होने के कारण उसकी उपेक्षा तो अत्यंत हृदयद्रावक है। छठी शताब्दी ईसवी-पूर्व से लेकर छठी शताब्दी ईसवी तक अर्थात् पूरे १२०० वर्ष के भारतीय इतिहास में जो कुछ भी सबसे अधिक स्मरणीय, जो कुछ भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह पालि साहित्य में निहित है। इस युग का भारतीय समाज, धर्म, दर्शन और सबसे अधिक विश्व-संस्कृति को उसका मौलिक दान, सभी कुछ पालि साहित्य में अंकित है। फिर भी इस महत्वपूर्ण साहित्य का जितना अध्ययन और प्रकाशन कोलम्बो (सिंहल), रंगून, (बरमा), बंकाक (स्याम) और पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन, से हुआ है, उतना किसी भारतीय नगर या शिक्षा-केन्द्र के विषय में तो कहा भी नहीं जा सकता। संपूर्ण भारत की बात जाने दें, तो भी मध्य-मंडल (शास्ता की विचरण-भूमि) में पालि स्वाध्याय की जो दयनीय अवस्था है (जिसमें अब कुछ कमी अवश्य हुई है) उसे देखकर तो आश्चर्य होता है कि हम किस प्रकार अपनी संस्कृति के तत्वों के संरक्षण का दम भरते हैं। जिस संस्कृति के प्रभाव को चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत, मध्य-एशिया और अफगानिस्तान की भूमियाँ अभी नहीं भूली हैं, जिसकी स्मृतियाँ अभी तक लंका, बरमा, स्याम, कम्बोडिया, वियतनाम और लाओस के निवासियों के हृदयों में, उनके सारे सामाजिक संस्थान और राजनैतिक विधान में, गुंथी हुई पड़ी हैं, उसे हम भारतवासी, जो उसके वास्तविक प्रतिनिधि हैं, भूल चुके हैं। यह एक दुःखद किन्तु सत्य बात है। भगवान् बुद्ध के जिस शासन के माध्यम से हम संसार के सम्पर्क में आये थे, उसे हम आज तोड़ चुके हैं।आज हम कच्ची बुनियादों पर महल खड़े कर रहे हैं। समय ही बतायेगा कि ये बुनियादें

कितनी स्थायी होती हैं। हाँ, इतिहास की ओर मुड़कर हम चाहें तो एक ऐसे आधार का भी आश्रय ले सकते हैं जिसकी परीक्षा पहले हो चुकी है। यह आधार उस साहित्य और सस्कृति का है जिसे हम बुद्ध के नाम से सयुक्त करते हैं। इस माध्यम की पूर्व परम्परा बड़ी शुभ्र रही है। इसके द्वारा हम जिस किसी से मिले तो उसका शोषण करने के लिए नहीं, बल्कि अपने सम्पर्क से केवल उसी को कृतार्थ करने के लिए, उसी के अनुकम्पार्थ ! अशोक के प्रव्रजित पुत्र महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओं ने जब लकाधिपति देवान पिय तिस्स से गौरव भरे शब्दों में यह कहा 'हम तेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही भारत से यहाँ आये हैं', ('तवेव अनुकम्पाय जम्बुदीपा इधागता') तो उन्होंने अपने इन शब्दों से उस सारी भावना का ही प्रतिनिधित्व कर दिया जिससे प्रभावित होकर शतसहस्र धर्मोपदेशक भिक्षुओं और मानव जाति के सेवक भारतीय मनीषियों ने हजारों कोसों की भयानक पैदल यात्राएँ कर विदेश-गमन किया था। इन स्मृतियों की पृष्ठभूमि को लेकर चाहे तो भारतीय राष्ट्र आज भी कम से कम एशिया के देशों में अपने पूर्व सम्बन्धों को फिर से जीवित कर सकता है, उनके साथ मैत्री के संबंध दृढ़तर कर सकता है। पालि साहित्य का शुभ आशीर्वाद सदा उसे अपने इस प्रयत्न में मिलेगा।

विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि साहित्य का अर्थ-गौरव और उसकी प्रभावमयी ओजस्विनी भाषा-शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती हैं। किन्तु उसके इन संबंधी गुणों या ऐतिहासिक महत्व के विषय में हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है। पहले भी इसके सबंध में बहुत कहा जा चुका है। भारतीय साहित्य के इतिहास में पालि का स्थान सब प्रकार संस्कृत के साथ है। संस्कृत साहित्य रूपी महासमुद्र में ही आर्य जाति के संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का भांडार निहित है। उसी महासागर का एक आवर्त पालि भी है। पालि संस्कृत से व्यतिरिक्त नहीं, बल्कि भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से वह उसी का एक रूपान्तर या अंग ही है। अतः संस्कृत साहित्य के अविभाज्य अवयव के रूप में पालि का महत्व भारतीय साहित्य में सदा सुप्रतिष्ठित रहना ही चाहिये। हाँ, भारत की सीमा के बाहर के देशों में पालि अपनी ज्येष्ठ भगिनी संस्कृत से भी कहीं-कहीं प्रभावशीलता में अधिक बढ़ गई है। इसका कारण है पालि का तथागत की सन्देश-वाहिका होना। अपने इस गौरव के कारण ही सचमुच पालि जैसी प्रादेशिक भाषा को भी विश्वजनीन होने तक का सौभाग्य मिल गया है, जो संभवतः आज तक अंशतः संस्कृत को छोड़कर अन्य किसी भारतीय भाषा को नहीं मिला।

पालि और विश्व-साहित्य

जर्मन कवि–दार्शनिक गेटे ने साहित्य को विश्व का मानवीकरण कहा है। दुनिया का शायद ही कोई साहित्य इस कसौटी पर उतना खरा उतर सके जितना पालि साहित्य। भारतीय भाषाओं में यदि किसी के भी साहित्य में विश्वजनीन तत्व सबसे अधिक हैं तो निश्चय ही पालि में। गत पृष्ठों में पालि साहित्य के विवेचन में यदि लेखक ने अधिक प्रमाद नहीं किया है तो उससे स्पष्ट हो गया होगा कि पालि साहित्य एक धार्मिक संप्रदाय (स्थविरवाद बौद्ध धर्म) का ही साहित्य नहीं है, बल्कि वह जाति-धर्म-निर्विशेष विश्व-मानव का साहित्य है, जो विश्वजनीनता की भावनाओं से अनुप्राणित है। यही कारण है कि भारतीय भूमि से उद्भूत होकर उसका विकास समान रूप से ही अन्य देशों मे भी हुआ है। संकुचित राष्ट्रीय आदर्शों की अभिव्यक्ति उसके अन्दर नहीं है। वह मनुष्य मात्र की समस्याओं को लेकर उनके समाधान के लिए खड़ा है, जिनमें देश या राष्ट्र का वैसा कुछ भेद नहीं होता। बुद्ध-धर्म कैसे विश्व धर्म हो गया, इसका बहुत कुछ रहस्योद्घाटन पालि साहित्य में ही हो जाता है। यहाँ कोई ऐसा विशिष्ट विश्वास नहीं, कोई ऐसा कर्मकांड का विधान नहीं, कोई ऐसा देवत्व का आदर्श नहीं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद डाल सके। यहाँ केवल नैतिक आदर्शवाद है, मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न है, और यह सब है मनुष्य को मनुष्य समझकर, मनुष्य के द्वारा मनुष्य को मार्ग दिखाकर। यदि धर्म के नाम पर मानवता का अपलाप ही आज हमारे अनेक अनर्थों का कारण, है, तो पालि साहित्य हमें आज उसके प्रतिकार करने के लिए आह्वान करता है। यदि मनुष्यता के गठ-बन्धन में बँधना ही विश्व-मानव के भावी कल्याण का एकमात्र मार्ग है और उसी के लिए चारों ओर से प्रगति करनी है, तो उसके लिए भी पालि साहित्य सबसे पहले हमारा आह्वान करता है और हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है। विश्व-धर्म के प्रसारक इस साहित्य का यदि समुचित प्रचार और प्रसार किया जाय तो निश्चय ही वह भारतीय जनता को संसार के शेष मनुष्यों के साथ मनुष्यता की उस समान भूमि पर लाकर खड़ा कर देगा जिसकी आज सबसे अधिक आवश्यकता है और जिसके बिना भारत विश्व-संस्कृति को अपने उस महत् दान को दे भी नहीं सकता जिसे उसने बुद्ध-धर्म के रूप में कभी उसे दिया था।

परिशिष्ट

१—नामानुक्रमणी

अ

अकालरावी-जातक (संख्या ११९) ३०९

अकित्ति-चरियं ३२९

अकित्ति-जातक (संख्या ४८०) ३२९

अक्खरसम्मोहच्छेदनी ६८७

अखरावट २५५

अगोन् १२७

अग्गञ्ञ-सुत्त १०३, १६६

अग्गपण्डित (प्रथम, द्वितीय, तृतीय) ६१९, ६५४

अग्गवंस ६१९, ६४४, ६५४, ६५५

अग्गि भारद्वाज (ब्राह्मण) २६४

अग्गिक-भारद्वाज-सुत्त—देखिये 'वसल-सुत्त'।

अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त १०६, १७५, १८१

अंकोत्तर-निकाय—देखिये 'अंगुत्तर-निकाय'।

अंकोत्तरागम १२७, देखिये 'एकोत्त-रागम' तथा 'अगुत्तर-निकाय' भी।

अंग (जनपद) १५७, १६४, १८१, २१९, २७१, ३१४, ५५३, ५९९

अंगिरा (मन्त्रकर्ता ऋषि) १६१, ३१८

अंगुत्तर-निकाय (अंगुत्तर.) २७, ८३, ८४, ९२, १०१, ११२, ११४, ११६, ११८, ११९, १२७, १३८, १४४, १४८, १६४, १७६, २०१-२२०, २२५, २३३, ३१३, ३३३, ३३४, ३३६, ३४०, ३४६, ३६५, ३७४, ३७६, ३७७, ४५१, ४७४, ५२७, ५४०, ५४३, ५४४, ६०४, ६७०, ६७५, ६७६, ६७७

अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा ५४३, ५४४, ५५४-५५५, ५७०

अंगुत्तर-टीका (अभिनवा) ६८६

अंगुत्तर-टीका (पोराण) ६८६

अंगुत्तराप (प्रदेश) २०१

अंगुलिमाल १७६

अंगुलिमाल-परित्त २३६

अंगुलिमाल-सुत्त १०७, १७६

अचिण्णकप्प ९२

अचिरवती (नदी) १६०, २०१, २१९, ३१४

अचेल कस्सप (अचेल (नग्न) काश्यप) १५८, १५९

अच्छरियब्भुतधम्म-सुत्त १०८, १७९

अजकर्णी (अजकरणी, नदी) २८४

अजन्ता ९८, ३१७

अजातशत्रु (अजातसत्तु, मगधराज) १२०, १५४, १५५, १६२, १७८, १८५, १९०, २०१, २१९, ५८७, ६०९, ६२१

अजित केसकम्बलि १५४, १५५, १८१, ५१२

अजितमाणवपुच्छा २६५, २६६

अंजन-वन २०१

अञ्ञा-कोण्डञ्ञ (अञ्ञात-कोण्डञ्ञ भी)—देखिये 'आज्ञा-कौण्डिन्य'।
अट्ठक (अट्ठक मन्त्रकर्ता ऋषि) १६१, ३१८
अट्ठकथा (अर्थकथा, साहित्य) १, २, ३, ८ ९, ७९, ११६, १२०, १२१ १२५. १४५, १४९, १६९, २३०, ३०५, ३०६ ३२६, ३२८, ३२९, ३७२, ३७३, ४५४, ४५५, ४५७ ४७७ ४७९, ४९७, ४९८, ५२६-५६८, ५६९, ५८५, ६३९, ६४०, ६४१
अट्ठकथाचरिय ६१६
अट्ठकनागर-सुत्त १०५, १७३
अट्ठक-निपात ११२, २०२, २०५, २१३, २१४, २१७, २१८
अट्ठनवनिपात-अंगुत्तर ६८५
अट्ठक-वग्ग (अष्टक-वर्ग) ८३, ११८, ११९, १२७, २२९, २३८, २६५, २६८, ३२६
अट्ठसालिनी (अत्थसालिनी) १, ९०, ११६, १३४. १३८, १३९, १४९, १८२, १८३, २०२, २२०, २२२, २२३, ३००, ३२९, ३६८, ३६९, ३७०, ३७३, ३७६, ३८५, ३८७, ५०४, ५२८, ५२९, ५३७, ५४३, ५५८, ५६०, ५७०, ५७६, ५७७, ६२६, ६४४, ६८७
अट्ठसालिनी-निस्सय (अत्थसालिनी-नस्सय) ६८७
अट्ठान-जातक (४२५) ३२१
अड्ढकासी (भिक्षुणी) २९४
अण्डभूत जातक (६२) ३१५, ६८१
अतीतवत्थु ३०४, ३०५
अत्तदण्ड-सुत्त २६५
अत्तदीप-सुत्त १९९
अत्त-वग्ग २४०, २४२, २४८
अत्तनगल्ल (या अत्तनगलु—श्रीलंका में स्थान) ६१२
अत्तनगलुविहारवंस (अत्तनगलुवंस) ५७४, ५८४, ६१२-६१३
अत्तरगम बण्डार राजगुरु ६५७
अत्थब्यख्यानं ६१७
अत्थब्याख्यं ६८७
अत्थवसवग्ग ६७५
अथर्ववेद ६२३
अदसक-निसिदन ९२
अधिकरणपच्चय-कथा ५३४
अधिकरणसमथा धम्मा (सात) ३४३, ३४४. ३५०-३५२, ३५५
अनंगण-सुत्त १०३, १७०
अनमतग्ग-संयुत्त ११०, १८८-१८९
अनागतवंस ५६३, ६१८, ६२४, ६२५-६२८, ६८६
अनागतवंसस्स अट्ठकथा ६२०
अनागतभय-सूत्र २२५, ४७४, ६२५
अनागतभयानि (अनागत-भय) ६२४, ६७३, ६७४, ६७६
अनाथपिण्डिक १४१, १९७, २०६, २०८, २१२, २५०, २५२, ३५८, ५५६
अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्त १०९, १८०
अनाभोग-चर्या (तथागत की) ३३७
अनियत-कथा ५३४
अनियत-धम्मा (अनियता धम्मा) ३४३, ३४४, ३४८, ३५४
अनिरुद्ध—देखिये 'अनुरुद्ध'।
अनुटीका (अभिधम्म पर) ५७६, देखिये 'अभिधम्म - अनुटीका' भी।
अनुटीका-ब्याख्य ६८७
अनुपद-वग्ग १०८, १७९
अनुपद-सुत्त १०८, १७९
अनुपालि (साहित्य)— देखिये 'अनुपिटक (साहित्य)'।

अनुपिटक (साहित्य) ८० १०१, १२०-१२२, १४५, १४९, ४९७-६९३
'अनुपुब्ब किरिया' १७८
'अनुपुब्ब सिक्खा' १७८
अनुमतिकप्प ९१-९२
अनुमान-पञ्हो ५०८, ५११, ५२०
अनुमान-सुत्त १०४, १७१, ६७५
अनुराधपुर ९९, ५२५, ५२९, ५३८, ५३९, ५६४, ५८८, ६०७, ६११, ६१४, ६५१, ६६०
अनुरुद्ध (भिक्षु, बुद्ध-शिष्य) ८७, १७२, १७५, १७९, १९४, २०७, २३८, २५८
अनुरुद्ध (परमत्थविनिच्छय, नामरूप-परिच्छेद और अभिधम्मत्थ-संगह के रचयिता) १२१, ५६२, ५६३-५६४, ५७२, ५७३, ६१८
अनुरुद्ध-शतक ५६४
अनुरुद्ध-सुत्त १०८, १३८, १७९
अनुरुद्ध-संयुत्त ११२, १९५
अनुला देवी (देवानं पिय तिस्स के भाई की पत्नी) ६१०, ६११
अनुलोम-पटिलोम-पटिच्चसमुप्पाद-सुत्त २३५
अनुष्टुप् (छन्द) २६०
अनुसय-यमक ४८२
अनुसय-सुत्त १८९
अनुस्सति-कम्मट्ठान-निद्देसो ५५०
अनेसाकि (मसाहरु) १२६, २२४
अनोपमा (भिक्षुणी) २९३, २९४
अनोमदस्सी (संघराज, सिंहली भिक्षु) ६१२
अनोमा (नदी) ३१३
अन्तकिन (एटिगोनस गोनटस) ९९
अन्तियोक (एंटियोकस थियोस) ९९
अन्धक (अन्धका—बौद्ध सम्प्रदाय) ४५८, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५' ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०
अन्धकविन्द २०१, ३५८
अन्धगजन्याय २५४
अन्धट्ठकथा ५२७, ५२८, ५८५
अन्धवन १८९
अन्धवेणु-परम्परा (अन्धवेणि-परम्परा-संसत्ता) १४५
अपगत-सुत्त १८९
अपण्णक-जातक (१) ३००, ३०५, ३०८-३०९
अपण्णक-सुत्त १०६, १७४, १८१
अपदान ११३, ११८, ११९, १२८, २२०, २२१, २२३, २२६, २२९, २३०, ३२७, ५८४, ६४०, ६८६
अपदानट्ठकथा (अपदान-अट्ठकथा) ६१७, ६८६
अपभ्रंश (भाषा) १२, ३२, ३३, ८०, १२५, १३२, ६५३
अपरशैलीय (अपरसेलिय, बौद्ध सम्प्रदाय) ४५८, ४६२, ४७१, ४७३, ४७८, ४८०
अपरान्त (अपरान्तक, प्रदेश, राष्ट्र) ९८, ५९४, ६०४, ६०९, ६११, ६२१
अपरान्त-कल्पिक (मिथ्या दृष्टियाँ) १५२-१५३
अप्पमञ्ञ-विभंग ४३१, ४४३
अप्पमाद-वग्ग २३९, २४१, २४५, २४८
अफगानिस्तान ६९१
अफ्रीका ३२४
अब्भुतधम्म ११३, ११४
अभय (श्रीलंका मे विनय-धर) ३४१
अभय (पगान के भिक्षु, सद्दत्थभेदचिंता की टीका के लेखक) ६२०, ६४७
अभयमाता (भिक्षुणी) २९४

अभयगिरि कविचक्रवर्ती आनन्द महाथेर—देखिये 'आनन्द'।
अभयगिरि-विहार ५९९, देखिये 'उत्तरविहार' भी।
अभय (राजकुमार) १७४
अभयराजकुमार - सुत्त १०६, १७४, १८१
अभिण्ह-जातक (२७) ३००
अभिधज महारट्ठ गुरु भद्दन्त रेवत न्योगन सयदाव (बरमी स्थविर) ५७९
अभिधम्म-पिटक (अभिधम्म, अभिधर्म) ८२, ८३, ८९, ९४, ९७, १००, १०१, १०२, ११३, ११४, ११८, १२०, १२२, १२८, १२९, १३२, २०३, २२१, २२२, २२३, २३०, ३२७, ३३८, ३५९, ३६४, ३६८-४९६, ४९८, ५०१, ५०२, ५११, ५१३, ५३०, ५५८, ५६४, ५६५, ५६८, ५७५, ५७७, ५८०, ६०४, ६४४, ६८४
अभिधम्म-अनुटीका ६८५
अभिधम्म-गन्धि ६२०
अभिधम्मत्थगण्ठिपद ५७७
अभिधम्मत्थविकासनी ५७२, ६१९
अभिधम्मत्थविभावनी ५७२, ५७६, ५८०, ६१९
अभिधम्मत्थविभावनी-टीका ६८५
अभिधम्मत्थ-संगह (अभिधम्मत्थसंग्रह-पकरणं) १२१, १२२, ३८५, ४१६, ४९०, ५६३, ५६४-५६८, ५६९, ५७२, ५७३, ५७८, ५८०, ६१८, ६८५
अभिधम्मत्थसंगह-अट्ठकथा ६८५
अभिधम्मत्थसंगह-टीका ६८५
अभिधम्मत्थसंगह की पोराण-टीका (उदुम्बरगिरिवासी महाकस्सपकृत) ५६९
अभिधम्मत्थसंगह की टीका (धर्मानन्द कोसम्बी-कृत)—देखिए 'नवनीत-टीका'।
अभिधम्मत्थसगह की टीका (लेदि सयदाव-कृत) ५७८
अभिधम्मत्थसगह की टीका (सुमगलकृत) ५७२
अभिधम्मत्थसंगह-सखेप-टीका (छपदकृत) ५७३
अभिधम्मपण्णरसट्ठान ६१९
अभिधम्म फिलॉसफी (भिक्षु जगदीश काश्यप) ९६ ३७७, ३८०, ३८१, ३८२, ३८४, ४२५, ४२७, ४२९, ५४६, ५६४
अभिधम्म-भाजनिय ३७८, ३७९, ४३५, ४३६, ४३८, ४४०
अभिधम्म-मूलटीका ५६२, ५६३, ५७६, देखिये 'मूल-टीका' भी।
अभिधम्मावतार ५३३, ५३४, ५३५, ५७२, ६०३, ६१७
अभिधम्मावतार की टीका (अभिधम्मावतार-टीका) ५७१
अभिधर्मकोश ३६८, ४५६, ५९९
अभिधान (ग्रन्थ) ६८७
अभिधान-टीका ६८७
अभिधानप्पदीपिका (अभिधानप्पदीपिकं) ७, ८, ९, ५७७, ६१८, ६५८-६६०
अभिनव-खुद्दकसिक्खा-टीका ५७१, देखिये 'खुद्दकसिक्खा-टीका (अभिनव)' भी।
अभिनव-चुल्लनिरुत्ति ६४९
अभिरूपा नन्दा (भिक्षुणी) २९४
अभिलेख-साहित्य (पालि का) ६६१-६९०
अभि-विनय ३६८
अभिसमय-संयुत्त ११०, १८८
अभिसमयालंकार ११४

अभिसम्बुद्ध-गाथा ३०६
अमथितकप्प ९२
अमरकोश ६५९, ६८४
अमरकोस-निस्सय ६८८
अमर्सिंह १८२
अमरावती (स्तूप) ३१७
अमराविक्षेपवाद १५२
अमिताभ (बुद्ध) ४७८
अमितायु (बुद्ध) ४७८
अम्ब-जातक ३१६
अम्बट्ठ (ब्राह्मण) १५६, ५५३
अम्बट्ठ-सुत्त १०२, १४३, १४४, १४६, १५६, १६७, १९५
अम्बपाली (गणिका, बाद मे भिक्षुणी) १६२, २९२, २९३, २९४, २९६
अम्बलट्ठिका (आम्रयष्टिका, मगध में) १५७, १६३, १७४
अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्त १०६, १७४, ६७७, ६७८
अम्ब सामणेर ६१४
अम्बाटक-वन २०१
अयोघर-चरिय ३३०
अयोघर-जातक (५१०) ३३०
अयोध्या ६०५
अरणविभंग-सुत्त २७, १०९, १८०, ५३०
अरण्यवासी निकाय (अरञ्ञवासी निकाय) ५६२, ६१६, देखिये 'वनवासी-निकाय' भी।
'अरण्यायतन' (आनन्द वनरतन) ६४०
अरब (अरबी) ३२३, ३२४
अरस्तू ४८६
अरहन्त-वग्ग २३९, २४१-२४२
अरहन्त उपतिस्स—देखिये 'उपतिष्य'।
अरिट्ठ (श्रीलंका में विनय-धर) ३४१
अरिमद्दन (अरिमर्दन—पगान — वरमा में) ६४९, देखिये 'पगान' भी।
अरियपरियेसन-सुत्त १०४, १७२, १८२
अरियवास-सुत्त ६७६
अरियवंस (बरमी भिक्षु) ५६४, ५७२, ५७६, ६१९, ६५६, ६६०
अरियसच्चावतार ६८७
अरियालंकार (बरमी भिक्षु) ६४८
अरुणवति (ग्रन्थ) ६८६
अर्थकथा—देखिये 'अट्ठकथा'।
अर्द्धमागधी १९-२०, ३०, ३२, ३३, ३४-३५, ४३, १२३
अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया (स्मिथ) ५०५, ५०७
अर्ली हिस्ट्री ऑव दि स्प्रैड ऑव बुद्धिज्म एण्ड दि बुद्धिस्ट स्कूल्स (नलिनाक्ष दत्त) ३८
अलगद्दूपम-सुत्त १०४, ११६, १७१, ३३६
अलंकार-टीका (सुबोधालंकार पर) ६८८
अलंकार-निस्सय ६६१
अलकार-सूत्र १३९
अलक्षेन्द्र—देखिये 'अलेक्ज़ेण्डर'।
अलम्बुस-जातक ६८१
अल मंसूर (खलीफा) ३२४
अल्लकप्प ६०९
अलसन्द ३२२, ५२५
अलिकसुदर (अलिकसुन्दर) ९९
अलियवसानि (आर्यवश) ६७३, ६७४, ६७५-६७६
अली ३६१
अलेक्ज़ेण्डर (एलेक्ज़ेण्डर, अलक्षेन्द्र) ९९, ३२२
अलेक्ज़ेण्ड्रिया ३२२, ५२५
अवदान (अवदानं) ३२७
अवदान-शतक १२५
अवधूत-व्रत ५२१, ५२२, ५४७-५४८

अवन्तिपुत्र (मथुरा का राजा) १३४, १७६
अवन्तिजा (प्राकृत) ३३
अवन्ती १७, १९, १६४, २०१, २१९, ३१४, ५९९
अवारिय-जातक (३७६) ३११
अविदूरे निदान ३०४
अवेस्ता ६५
अव्याकत-संयुत्त १११, १९३-१९४
अशोक (प्रियदर्शी, 'धम्मराजा') ४, १२, १४, १६, १८, २०, २८, २९, ३०, ३३, ४३, ६१, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, ११५, ११७, ११८, १२४, १२५, १२६, १२९, १३०, १३२, १३५, १३७, १६७, १७४, १९९, २२७, २२८, २२९, २३०, २५९, २७२, ३०३, ३१९, ३२०, ३४०, ३४१, ३६७, ३७०, ३७२, ३७३, ३७६, ३७८, ३८१, ४५४, ४५५, ४५७, ४५८, ४५९, ५५९, ५८७, ५८८, ५९३, ५९७, ५९८, ६०९, ६१०, ६२१, ६३८, ६८२, ६९२, के अभिलेख ६६२-६८०
'अशोक एण्ड हिज़ इन्स्क्रिप्शन्स' (बड़ुआ) ३८, ६७३, ६७५, ६७६, ६७७, ६८०
'अशोक की धर्मलिपियाँ' (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) ९८, ६७१
'अशोक' (स्मिथ) ६६५
अशोकाराम ९५
अश्वघोष २०, ३०३, ३९०, ६२३, ६३३, ६३४
अश्वजित् (कीटागिरि का विनयहीन भिक्षु) ३६२
अष्टक-वर्ग—देखिये 'अट्ठक-वग्ग'।
अष्टादश निकाय (बौद्ध धर्म के प्राचीन अठारह सम्प्रदाय) ९५, १२५, १३१, ३३३
अष्टादश-निकाय-शास्त्र ४५६, ४८१
अष्टाध्यायी (पाणिनीय) ६४२
असदिस-जातक ६८२
असभतिस्स ६१३
असिबन्धकपुत्त-सुत्त १९९
असंखत-संयुत्त १११, १९३
असंग (महायानी आचार्य) १३९, ३६८, ४९५
असम्पदान-जातक (१३१) ३१३
अस्सक (अश्मक) १६४, २१९, ३१३
अस्सगुत्त (अश्वगुप्त) ५१२
अस्सजि (अश्वजित्, पंचवर्गीय भिक्षुओं में एक, सारिपुत्र के प्रथम उपदेष्टा) ३५७, ६८३
अस्सलायन-सुत्त १०७, १७७, ३१८

आ

आउटलाइन ऑव हिस्ट्री (एच० जी० वेल्स) ६६४
आकंखेय्य-सुत्त १०४, १७०, ३५६
आख्यान (गीति, काव्य) १८३, २९६, ३१०, ३१८, ३१९
आगम १२७, २२२, २२४, ५४४, ६१३
आगमट्ठकथा ५२७, ५२९
आचरियानं समानट्ठकथा ५२७, ५२८
आज्ञा - कौण्डिन्य (आज्ञात-कौण्डिन्य भी) २०६, ३५७
आटानाटिय-परित्त २३६
आटानाटिय-सुत्त १०३, १४१, १५०, १६८, २३५
आणञ्जसप्पाय-सुत्त - —देखिये 'आनेञ्जसप्पाय-सुत्त'।
आदिच्चुपट्ठान-जातक (१७५) ३०९
आदित्तपरियाय-सुत्त ४५४

आदि-पर्व ३१९
आनञ्जसपाय-सुत्त—देखिये 'आनेञ्जसप्पाय-सुत्त'।
आन्ध्र ९७, १३०, ४५४, ४५८
आनन्द (बुद्ध-शिष्य) ८६, ८७, ११६, १३४, १३५, १३६, १४०, १६०, १६२, १६३, १७७, १७८, १९१, १९७, १९८, २०७, २१३, २१४, २२२, ३३५, ३३६, ३३७, ३५०, ३५१, ३५२, ३५८, ३६१, ५२०, ५५६, ५८७
आनन्द (अभयगिरि-कविचक्रवर्ती, महाथेर) ५६३, ५७५, ६३७
आनन्द (वनरतन) ५६२, ५७५, ६३६, ६३७, ६३९, ६४७
आनन्द (वनरतन तिस्स, मूलटीका के लेखक) ५६१, ५६२, ५६३, ५७१, ५७६, ६१७
आनन्द (सिहली भिक्षु, जिन्हें छपद अपने साथ बरमा ले गये) ५६२, ५६३,
आनन्द (बरमी भिक्षु, मधुसारत्थ-दीपनी के लेखक, 'पिटकत्थमेन्' के अनुसार) ५६३
आनन्द कौसल्यायन (भदन्त)—देखिये 'कौसल्यायन (आनन्द, भदन्त)'।
आनन्दभद्देकरत्त-सुत्त १०९, १८०
आनापान-संयुत्त ११२, १९५
आनापानसति-सुत्त १०८, १७९, १९५, ६७०
आनेञ्जसप्पाय-सुत्त १०८, १७८
आपण (कस्बा) २०१
आपत्ति-समुट्ठान-कथा ५३४
आमगन्ध-सुत्त २६५
आयतन-यमक ४८२
आयतन-विभंग ४३१, ४३५-४३६
आयुपाल (स्थविर) ५१३
आर्य कात्यायनीपुत्र (सर्वास्तिवादी आचार्य) ३१९, ३८८, ३९०, ३९१
आर्य तिष्यदत्त (श्री लंका में विनय-धर) ३४१
आर्य मौद्गल्यायन (सर्वास्तिवादी आचार्य) ३८९, ३९२
आर्य शारिपुत्र (सर्वास्तिवादी आचार्य) ३८९, ३९२, ३९३
आर्यशूर ३०३
आरामदूसक जातक (४६ तथा २६८) ३१०, ३११, ६८२
आरुणि ५२४
आरुप्प-निद्देसो ५५०
आर्य महासांघिक निकाय १३१, १३२, देखिये 'महासांघिक' भी।
आर्य मूल सर्वास्तिवाद १३१, १३२, देखिये 'मूल सर्वास्तिवाद' तथा 'सर्वास्तिवाद' भी।
आर्य सम्मितिय निकाय १३१, १३२, देखिये 'सम्मितिय' भी।
आर्य स्थविर निकाय १३१, १३२, देखिये 'स्थविरवाद' भी।
आर्ष (जैन सूत्रों की भाषा, अर्द्ध मागधी) १९
आलवक (यक्ष) २६४
आलवक-सुत्त २३५, २६४, २६५
आलविका (भिक्षुणी) २९७
आलवी २९४, ५५५
आलोक (अभिसमयालंकार की टीका) ११४
आवन्ती (अवन्तिजा, प्राकृत) ३३
आवा (बरमा में) ५७६, ६४१, ६४२, ६४८
आवासकप्प ९१
आश्वलायन १७७, १८१, ३१८

इ

इक्ष्वाकु (राजा) १५६

इच्छानंगल (ग्राम) १५६, २०१, २१९
इटली ३२४
इट्ठिय (इट्टिय, इत्तिय, इद्धिय भी) ९८, ३४१, ३७१, ५९४, ६०५, ६१०
इण्डियन एण्टिक्वेरी ५८६, ६७५, ६७६
इण्डियन फिलॉसफी (राधाकृष्णन्) ५१६
इण्डियन लिटरेटर (विण्टरनित्ज़) देखिये 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर'।
इण्डियन लिटरेटर इन चाइना एण्ड दि फार ईस्ट (प्रभातकुमार मुखर्जी) ५०८
इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली ८, १५, २६
इतिवुत्तक ११२, ११३, ११४, ११८, ११९, १२७, २०३, २२०, २२१, २२६, २२७, २३०, २५५-२५९, ५६१, ६७७
इतिवुत्तक (साट्ठकथं) ६८६
इतिवुत्तक-अट्ठकथा ६१७
इतिहास-पुराण ५८३
इत्तिय—देखिये 'इट्ठिय'।
इ-त्सिंग् १३१, ६६७
इद्धिपाद-विभंग ४३१, ४४१
इद्धिपाद-संयुत्त ११२, १९५
इद्धिय—देखिये 'इट्ठिय'।
इन्द्र १६४, १८८, २७७
इन्द्रकूट (पर्वत) १८६
इन्द्रप्रस्थ ३१३, ५९९
इन्द्रवज्रा (छन्द) ६१३
इन्द्रिय-जातक ३१४
इन्द्रियभावना-सुत्त १०९, १८०
इन्द्रिय-यमक ४८२, ६८५
इन्द्रिय-विभंग ४३१, ४३९-४४०
इन्द्रिय-संयुत्त १११, १९४
'इन्स्क्रिपशन्स ऑव अशोक' (भाण्डारकर और मजूमदार) ९५
इरावदी (नदी) ६२१
इलियट (सर चार्ल्स) ३७१
इसिगिलि-सुत्त १०८, १७९, २३५
इसिदासी—देखिये 'ऋषिदासी'।
इसिपतन (मिगदाय)—देखिये 'ऋषिपतन (मृगदाव)'।
इसिसिंग (ऋषि) ३२१
इस्लाम ३६७

ई

ईश्वर-प्रणिधान ४९५
ईसप ३२३
ईसाई (धर्म, सन्त) ३२४, ३६७, ६०१, ६१५

उ

उइगर (भाषा) २६८
उक्काचेल (स्थान) १९८, २०१
उक्काचेल-सुत्त १९८
उग्र (गृहपति) २०८
उच्छेदवाद (उच्छेदवादी) १५२-१५३
उजुञ्ञा १५९
उज्जेनी (उज्जयिनी) १३, १४, १६, २६८, ३१५, ५२५, ५९९
उट्ठान-सुत्त २६५
उड़ीसा ३१३, ६६२
उत्कल (देश) ३१३
उत्तम (बर्मी भिक्षु) १४६, २३०. २३१, २४९, २५५, २६९, २७१, ३२८
उत्तम (बालावतारटीकं के लेखक) ६१९
उत्तमसिक्ख (भिक्षु) ६४८-६४९
उत्तमा (भिक्षुणी) २९४

उत्पलवर्णा (उप्पलवण्णा—भिक्षुणी) १८६, २०८, २९६, २९७
उत्तर (कस्बा) २०१
उत्तर (ब्रह्मायु का शिष्य) १७७
उत्तर (स्थविर, सुवर्णभूमि में धर्म-प्रचारक) ९८, ५९४, ६०५, ६०९
उत्तर-कुरु (द्वीप) ५९६
उत्तरजीव ६५४
उत्तर-पंचाल ३१३
उत्तरमन्ति परिवेण (महाविहार में) ५६३
उत्तरलोनत्थदीपनी ५३५
उत्तरविनिच्छय ५२९, ५३४, ५३५, ५७२, ६१७
उत्तरविनिच्छय-टीका ५७२
उत्तर-विहार (अभयगिरि-विहार भी) ५२९, ५३४, ५९९
उत्तरा नन्दमाता २०८
उत्तरापथ ३१८
उत्तरापथक (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५८, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७५, ४७६, ४७८, ४७९, ४८०
उत्तरी कोरिया ३६७
उत्तिय (उत्रिय, विनय-धर, महेन्द्र के साथी भिक्षु) ९८, ३४१, ३७१, ५९४, ६०५, ६१०
उद्गत (उग्गत) गृहपति २०८
उदयन (कौशाम्बी-नरेश) २०१, २५५, ५५६
उदयन (स्थविर) १३४, १७७
उदयन (नैयायिक) ४९५
उदय-जातक ३१६
उदय-माणव-पुच्छा २६५
उदान (उदानं) ८३, ११२, ११३, ११४, ११८, ११९, १२७, २२०, २२१, २२६, २२७, २३०, २४९-२५५, २५८, ४५३, ५६१
उदानं (साट्ठकथं) ६८६
उदानट्ठकथा ६१७
उदान-वर्ग २४७
उदायि-सुत्त १९७
उदायी (स्थविर) १७५, १९७
उदुम्बर (आचार्य) ६२०
उदुम्बरगिरि - विहार ५६९, ५७३, ६३५
उदुम्बरिक-सीहनाद-सुत्त (उदुम्बरिक-सुत्त) १०३, १६६
उदुम्बरिका परिव्राजकाराम १६६
उदेन—देखिये 'उदयन'।
उद्दाल-जातक (४८७) ३१८
उद्दालक ३१८, ५२४
उद्देस-विभंग-सुत्त १०९, १८०
उपक (आजीवक) ३५७
उपक्किलेस-सुत्त १०९, १७९
उपचाला (भिक्षुणी) २९३, २९४, २९७
उपतपस्सी (वुत्तमाला के लेखक) ६६१
उपतिष्य (धर्मसेनापति सारिपुत्र)—देखिये 'उपतिस-पसने'।
उपतिष्य (ताम्रपर्णी द्वीप में विनय-धर) ३४१
उपतिष्य (अरहन्त, विमुत्तिमग्ग के मूल लेखक) ५५२
उपतिष्य स्थविर (महाबोधिवंस के लेखक) ६०६
उपतिष्य (आचार्य, अनागतवंस के अट्ठकथाकार, गन्धवंस के अनुसार) ६२०, ६२७, ६२८
उपतिष्य-प्रश्न—देखिये 'उपतिस-पसने'।
उपतिस-पसने (उपतिष्य-प्रश्न) २५९, ६७३, ६७४, ६७७
उपतिस्साचरिय (उपतिष्याचार्य)—देखिये 'उपतिष्य (आचार्य)'।

उपनिषद् १४६, १४७, २४५, २५३, ३०२, ३१७, ३१८, ३२०, ४६०, ४९५, ५२४, ५३६, ६६२
उपरिपण्णासक (उपरिपण्णास) १६८, ६८५
उपरिपण्णास - अट्ठकथा ६८५
उपरिपण्णास-टीका ६८५
उपशमा (भिक्षुणी) २९४
उपसम्पदा-ज्ञप्ति ३४४
उपसीव-माणव-पुच्छा २६५
उपसेन ५६२, ५६३, ६१८
उपसेन वंगन्तपुत्त (भिक्षु, बुद्ध-शिष्य) २०७
उपालि (भिक्षु, विनय-धर, बुद्ध-शिष्य) ८५, ८७, १७३, २०७, ३४०, ३४१, ३५८, ५५४, ५५६, ५८७, ५९९
उपालि (गृहपति) १७३
उपालि-सुत्त १०६, १७३, १८१, १८२
उपेन्द्रवज्रा (छन्द) ६१३
उपोसथ ३५५, ३६०
उप्पलवण्णा—देखिये 'उत्पलवर्णा'।
उप्पाद-संयुत्त १११, १९१
उब्बरी-पेतवत्थु २७०
उब्बिरी (उर्विरी, भिक्षुणी) २९३, २९४, २९५
उम्मदन्ती-जातक (५२७) ३१२
उरगपुर (उरइपुर) ५३४
उरग-पेतवत्थु २७०
उरग-वग्ग २५९, २६५
उरग-सुत्त २६०, २६५
उरुवेल कप्प (कस्बा) २०१
उरुवेल कस्सप (उरुविल्व काश्यप) २०७, ३५७, ५५४
उरुवेला ८२, १९७, २५२, ३१३, ३५७, ५६०, ५९८, ५९९
उशीनर (राजा) ३२१
उशीरध्वज (पर्वत) ३१२

ऋ

ऋग्वेद १२, ३०, ४३, १८८, २६०, २९७
ऋषिदासी (भिक्षुणी) २९३
ऋषिपतन (मृगदाव) १९६, ५५४, ५५५, ५९९
ऋष्ट्रिय—देखिये 'इट्ठिय'।
ऋष्यशृंग—देखिये 'इसिसिंग'।

ए

एकक-निपात (एक-निपात भी) ११२, २०२, २०३, २०५, २०६-२०८, २५६
एकक्खर-कोस ६५९, ६६०
एक-दुक-तिक-अंगुत्तर ६८५
एक-निपात-अंगुत्तर-अट्ठ कथा ६८६
एक-निपात-जातक-अट्ठ कथा ६८६
एकब्बोहारिक (एकव्यावहारिक—बौद्ध सम्प्रदाय) ४५४, ४५५, ४५६
ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑव दि प्रातिमोक्ष (पचोव) ३४४, ३४६, ३५७
एकराज-चरियं ३३१
एकराज-जातक (३०३) ३३१
एकशाला (गाँव) २०१
एकादसक-निपात ११२, २०२, २०६, २१२
एकुत्तर-निकाय (एकोत्तर-निकाय) २०२
ए केटेलाग ऑव दि टैम्पिल लाइब्रेरीज ऑव सिलोन (डे ज़ायसा)—देखिये 'केटेलाग'।
एकोत्तरागम १२७, २०३
एकंसिक ३३८, ५७७, ६२१
ए गाइड टू साँची (मार्शल)—देखिये 'गाइड टू साँची'
एडमंड्स (ए० जे०) २५८, ६७५
ए डिक्शनरी ऑव दि पालि लेंग्वेज

(चाइल्डर्स)—देखिये 'पालि डिक्शनरी।'
एंटिगोनस गोनटस ९९
एण्टियोकस थियोस ९९
एतदग्ग-वग्ग ८४, २०६-२०८, ३४०
एतिमासमिदीपक ६१९
एतिमासमिदीपिकाय टीक ६२०
एपिरस ९९
ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (श्रीमती रायस डेविड्स्) ३७४, ३७५, ३८५, ३९४, ४७५, ५२८
एर्रगुडि (आन्ध्र प्रदेश) ६६३, ६६४
ए रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट रिलिजन ऐज़ प्रेक्टिज़्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया आर्किपेलेगो (तकाकुसु-अनुवादित) १३१
ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव दि वर्ल्ड (वेल्स) ६६५
एळार (दमिल नेता) ६१०
एल्विस (जेम्स डि) १६, ६१२
एलेक्ज़ेण्डर—देखिये (अलेक्ज़ेण्डर)।
एलेक्ज़ेण्ड्रिया — देखिये 'अलेक्ज़ेण्ड्रिया।
एसुकारी (ब्राह्मण) १७७, १८१
एसुकारी-सुत्त १०७, १७७
एस्ने (यहूदी भिक्षु-संगठन) ३६७
एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स (जेम्स हेस्टिंग्स-सम्पादित) २९९, ३२३, ५१०, ५२३
एहार (एन० आर० एम०) ५५२

ऐ

ऐज़ यू लाइक इट ३२५
ऐतरेय ब्राह्मण १६१, ३१८
'ऐतिहासिक महाकाव्य' ५९०

ओ

ओक्कन्तिक संयुत्त १११, १९१
ओपम्मकथा पञ्हं ५०८, ५११, ५२२
ओपम्म-वग्ग १०४, १७१-१७२, ४७४
ओपम्म-संयुत्त ११०, १९०, २२५
ओल्डनबर्ग (हरमन) २, ११, १४, १६, २८, ८७, ८८, ९४, ९९, ११६, १२४, १५०, ३३२, ३७५, ३८८, ५८४, ६७४

औ

औग् (श्वे जैन्) ४५४
औन् दि क्रोनिकल्स ऑव सिलोन (लाहा) ६१३

क

ककचूपम-सुत्त १०४, १३८, १७१, ३३४
ककुसन्ध (ककुच्छन्द, पूर्ववर्ती बुद्ध) १६२
ककुसन्ध (सिंहली ग्रन्थ 'धातुवंस' के लेखक) ६१५
कक्कट-जातक ६८१
कंखा-टीका (नवीन) ६८५
कंखा रेवत (कांक्षा रेवत, स्थविर) २०७, २५०
कंखावितरणी ५४३, ५५२, ५७०, ६१७, ६८९
कंखावितरणी-अट्ठ कथा ६८५
कंखावितरणी की टीका—देखिये 'विनयत्थमजूसा।'
कच्चान (कात्यायन—बुद्ध-शिष्य) —देखिये 'कात्यायन' तथा 'महाकात्यायन'।
कच्चान (कच्चायन, कात्यायन, व्याकरणकार) ६४५, ६४६
कच्चान (नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस के रचयिता) ५०३, ५०४

कच्चान-व्याकरण (कच्चायन-व्याकरण) १०, ६४४, ६४५-६५०, ६५२, ६५४, ६५५, ६६०
कच्चायन-गन्ध (कच्चायनगन्धो) ६१७, ६४४
कच्चायन-धातुमंजूसा ६५०, ६५४, ६५५, देखिये 'धातुमंजूसा' भी।
कच्चायन-निस्सय ६८७
कच्चायन-भेद (कच्चान-व्याकरण की टीका) ६२०, ६४८
कच्चायन-भेद-महाटीका (कच्चायन-भेद की टीका) ६४८, ६४९
कच्चायन-रूपावतार ६८८
कच्चायन-वण्णना ६४९, ६५०
कच्चायन-सार ६२०, ६४८, ६४९, ६८७
कच्चायनसारस्स टीका ६२०
कच्चायनसार-अभिनवटीका ६४९
कच्चायनसार-पुराणटीका ६४९
कच्छप-जातक (१७८, २१५) ३०९, ३२३
कजंगला (कजंगल, कस्बा) ३१२, ५१२, ५२५
कजंगला (भिक्षुणी) २०३, २०४
कजंगला-सुत्त २०३-२०४
कटाहक-जातक (१२५) ३१५
कठिन-विनिच्छय ५७९
कण्टक-खिप नागित (बरमी भिक्षु, खण्टकखिप नागित भी) ५७८, ६२०, ६४८
कण्टकी-वन २०१
कण्डिन जातक (या कण्डि जातक) (संख्या १३) ३०९
कणवेरे-जातक ३१६
कण्णकत्थल (मृगदाव) १५९, १७७
कण्णकत्थल-सुत्त १०७, १७७, १८२
कण्ह-जातक (२९) ३०९, ३१४
कण्हदास (कृष्णदास) ५३४
कण्हदीपायन-चरियं ३३१
कण्हदीपायन-जातक (४४४) ३३१
कतचा (कृत्-चक्र) ६८७
कथावत्थु (कथावत्थुप्पकरण) ९५, ९७, १०२, ११८, ११९, १२५, १२८, १३५, २२९, २३९, ३४२, ३७०, ३७१ ३७२, ३७५, ३७६, ३७८, ३८१, ३८८, ३८९, ३९१, ३९३, ४५४-४८१, ४८४, ५२४, ५३०, ५३१, ६८०, ६८५
कथावत्थु की अट्ठकथा ३७१-३७२, ४५४, ४५५, ४५७, ४५९, ४७९, ५३१, ५५९, ५७०, ५८५
कथासरित्सागर ३२१
कदम्ब-लिपि ६८३, देखिये 'कन्नड़-तेलुगु' भी।
कद्दम-दह २१९
कनारा ९८
कनिष्क (कुषाण-राजा) ३९०, ३९१, ३९२, ६६२, ६८०, ६८२
कन्दरक-सुत्त १०५, १७३, १८१, १८२
कन्धार ५२५
कन्नड़ तेलुगु (लिपि) ६८३, ६८४
कपिलवस्तु १८१, २०९, २१३, २१९, २६८, २८९, ३१३, ३२८, ५५५, ५६०, ५९९, ६०९, ६११, ६६७
कपि जातक (२५०) ३३१
कपिराज-चरियं ३३१
कपोत-जातक ६८२
कप्पमाणव-पुच्छा २६५, २६८
कबन्धी कात्यायन १९९
कबीर ३२
कम्पिल्ल-राष्ट्र ३१३
कम्पेरेटिव फिलॉलॉजी ऑव दि इण्डो-आर्यन लेंग्वेजेज (इण्ट्रोडक्शन टू दि कम्पेरेटिव फिलॉलॉजी ऑव

दि इण्डो-आर्यन लेंग्वेजेज़—जहाँ-गीरदार) ८
कम्बोज २१९
कम्बोडिया ८०, १२२, २३८, ३६५, ३६६, ५४२, ५४३, ५८०, ६१५, ६२२, ६९०, ६९१
कम्म-कथा ५३५
कम्मट्ठान-कथा ५३५
कम्मट्ठानगहण-निद्देसो ५४९
कम्मवाचा (कर्म-वाक्य) ३५९, ६८७
कम्मासदम्म (कस्बा) १६२, १६५, २१९
कर्न (एच.) ३४०, ३७५
करणीयमेत्त-सुत्त २३४
करेरि-कुटिका १६२
कलन्दक-निवाप (वेणुवन में) १६७
कलसिगाम ५२५
कलहविवाद-सुत्त २६५
कलाप—देखिए 'कातंत्र'।
कलापनिस्सय ६८८
कलापपचिका ६८७
कलापपंचिका-टीका ६८७
कलापसुत्त-प्रतिज्ञासकु ६८७
कळार जनक (कराल जनक) १७६
कलिंग १४, १६, १६४, ५२५, ६१४, ६६३, ६६४, ६६५
कलिंगारण्य (कालिंगारण्य) १८१
कलेला-दमना ३२२
कल्याणि-तिष्य (कल्याणी का राजा) ६२८, देखिये 'तिष्य कल्याणि' भी।
कल्याणिय (स्थविर) ५७५, ६२८, ६२९
कल्याणी (स्थान, प्रदेश, नदी, विहार, श्री लंका में) ६२८, ६८९
कल्याणी-अभिलेख (बरमा में) ५७१, ६६२, ६८०, ६८८-६९०
'कल्याणी-सीमा' ६८९
कविट्ठ-वन ३१४
कविकल्पद्रुम (वोपदेव-कृत) ६५०
कविसार-टीका ६६०
कविसारटीका-निस्सय ६६०
कविसारपकरण ६६०
कश्मीर (कस्मीर) ९८, १३०, ३९०, ५९४, ६०४, ६०९, ६११
कस्सप (काश्यप—बुद्ध-शिष्य), देखिये 'महा काश्यप'
कस्सप (काश्यप—मन्त्रकर्ता ऋषि) देखिये 'काश्यप (मन्त्रकर्ता ऋषि)'
कस्सप (पूर्ववर्ती बुद्ध) देखिये 'काश्यप (पूर्ववर्ती बुद्ध)'
कस्सप (काश्यप—मोह- विच्छेदनी, अनागतवंस, विमतिच्छेदनी आदि ग्रन्थों के रचयिता) ५६२, ५६३, ६१८, ६२८
कस्सप-सीहनाद-सुत्त १०२, १५८-१५९
कस्सप-सुत्त २३४
कस्सप-संयुत्त ११०, १८९
कस्सपिक (काश्यपिक-काश्यपीय- बौद्ध सम्प्रदाय) ४५५, ४५६, ४६२, ४८०
कसि-भारद्वाज (ब्राह्मण) २६३-२६४
कसि-भारद्वाज-सुत्त २३५, २६३-२६४, २६५
काकवण्ण तिस्स (लंकाधिपति) ५८८
कांचीपुर ५४०, ५६०, ५६३
काठियावाड़ ६६२
काण्डी (श्री लंका में) ६५७
कात्यायन (बुद्ध-शिष्य)—देखिये 'महा कात्यायन'।
कात्यायन (वार्तिककार) ६४५
कात्यायनी (अग्र उपासिका) २०८
कात्यायनी - पुत्र (सर्वास्तिवादी आचार्य)—देखिए 'आर्य कात्यायनी-पुत्र'
कातंत्र व्याकरण ५७५, ६४५, ६५१, ६५६

काबुल १३०, ५०६
काम्बोज ९७, देखिये 'कम्बोज' भी।
कामन्दक ३२०
कामन्दकी ६८७
काम-सुत्त २६५
कायगता सति २३३, २३४, २५३, २५५
कायगतासति-सुत्त १०८, १७९
कारकपुप्फमंजरी ६५७
कारपेण्टर (जे० ई०) १२४
कारिका (कारिकं) ६१९, ६८६
कारिका-टीका (कारिकाय टीकं) ६२०, ६८६
काल्सी ६६३, ६७३
काल उदायी २०७, २८८
काल सुमन (श्रीलंका में विनय - धर) ३४१
कालाम (क्षत्रिय) २०९, २१०, २१९
कालाशोक (कालासोक) ६२१
कालिगबोधि-जातक (४७९) ३१४, ३२३
कालिदास ६२३, ६३३, ६३४
काली (उपासिका) २०८
कॉवल (ई० बी०) २९८, ३०५
कावेरी (नदी) ५३४
काव्य (पालि) ६२३-६४२
काव्य-आख्यान (पालि) ६३९-६४२, देखिये 'आख्यान' भी।
काव्यविरतिगाथा ५७६
काव्य-शास्त्र (पालि में) ६६१
काव्यशेखर (सिंहली काव्य) ६५३
काव्यसारत्थसंगह ६६१
काव्यादर्श ३३
काशगर ३६७
काशिका (-वृत्ति) ६४३, ६४५
काशी (गाँव, जनपद, प्रदेश, राज्य) १६४, १७५, १८१, १८५, २०१, २१९, ३१४, ३१५, ५९९
काश्यप (बुद्ध-शिष्य) देखिये 'महा काश्यप'।
काश्यप (मन्त्रकर्ता ऋषि) १६१, ३१८
काश्यप (बुद्ध) १७६, ४६४
काश्यप प्रथम (लंका का राजा) ३८७
काश्यप (जगदीश भिक्षु), ४, ६, ७, १६, २७, २८, ७८, ८३, ९६, १००, १४४, १४९, १६८, १८२, १८३, १८४, १८७, २०१, २०९, २३१, २३४, २३७, २४९, २५५, २५९, २६०, २६९, २७१, २७२, २९८, ३२७, ३२८, ३३२, ३४५, ३४६, ३५५, ३५६, ३५९, ३६०, ३७६, ३७७, ३८०, ३८१, ३८६, ३९४, ४२५, ४२७, ४२९, ४३०, ४४५, ४५०, ४५४, ४८२, ४८४, ५०४, ५१३, ५४५, ५४६, ५६४, ६५०, ६५१, ६५३, ६५७, ६५८
काश्यपिक (काश्यपीय)— देखिये 'कस्सपिक'।
कासिका प्रुत्तिपालिनी (काशिका वृत्ति-पालिनी) ६८७, देखिये 'काशिका' भी।
किग जोन्ह (नाटक) ३२३
कित्तिमा (उ, भिक्षु) ५०४
कित्ति सिरि मेघवण्ण (कीर्ति श्री मेघवर्ण) ६१३, ६१४, देखिये 'सिरि मेघवण्ण' भी।
कित्ति सिरि राजसीह (कीर्ति श्री राजसिंह, सिंहली राजा) ५७८, ६०१, ६५७
कित्ति सीह सूर (कीर्ति सिंह शूर, बरमी राजा) ६६०
किन्ति-सुत्त २७, १०८, १७८, ३६८
किम्बिल १७२
किरगिज ३६७

किरातार्जुनीय ६३१, ६३२
किलेस-संयुत्त १११, १९१
किष्किन्धा-काण्ड ३१९
किसा गोतमी (कृशा गौतमी) २०८, २९३, २९५, २९७
किसील-सुत्त २६५
कीटागिरि (काशी राज्य में) १७५
कीटागिरि-सुत्त १०६, १७५, ३६२
कीथ (ए० बी०) ८ १५, १७, २०, २६, ९५, १३६, १३८, ५१६
कीर्ति श्री मेघवर्ण (कित्ति सिरि मेघवण्ण)—देखिये 'कित्ति सिरि मेघवण्ण'।
कीर्ति श्री राजसिंह—देखिये 'कित्ति सिरि राजसीह'।
कीर्ति सिंह शूर—देखिये 'कित्ति सीह सूर'।
कुक्कुट-जातक ६८२
कुक्कुटाराम २०१
कुक्कुरवतिक-सुत्त १०६, १७३, १८१-१८२
कुक्कुलिक ४५४, ४५७—देखिये 'गोकुलिक' भी।
कुटिदूसक-जातक (३२१) ३१०, ३२२
कुण्डधान (भिक्षु, बुद्ध-शिष्य) २०७
कुण्डधान (वन) २५२
कुण्डिया (नगर) २५२
कुणाल-जातक (५३६) ३११-३१२, ३२१
कुद्दाल-जातक (७०) ३०९
कुप्पु-स्वामी (शास्त्री) ५५९
कुम्भकार-जातक (४०८) ३१३, ३१४, ३२०
कुम्भवति (नगर) ३१४
कुम्मासपिण्ड-जातक (४१५) ३१४, ३२१
कुमार काश्यप (कुमार कस्सप) १६५, २०७, ५५४
कुमार-पञ्हं २०३, २३१, २३३
कुमारस्वामी (आनन्द) ६०६
कुमार (मुटु) ६१३
कुमारिल ४९५
कुररघर (पर्वत) २०१, २०८
कुरु (जनपद, राष्ट्र, प्रदेश) १९, २२, १६२, १६४, १६५, १७६, १८१, २१९, ३१३, ३१९, ५५३
कुरुराजा ३१३
कुरुंगमिग-जातक (२१) ३००, ३०४, ६८२
कुरुधम्मचरियं ३२९
कुरुधम्म-जातक (२७६) ३१३, ३१४, ३२९
कुरुन्दिगन्ध ६२०
कुरुन्दी (कुरुन्दिय, कुरुन्दिय अतुवव) ५२७, ५२८, ५८५, ६१६
कुल्ल (स्थविर) २७६
कुशीनगर—देखिये 'कुसिनारा'।
कुषाण (राजा) ६८२
कुस-जातक (५३१) ३१४
कुसावती (कुशावती) ३१४
कुसिनारा (कुशीनारा, कुशीनगर) १६३, २१९, ३१४, ५९९, ६०९
कुहन (ई०) १३, १५
कूचा ३६७
कूटदन्त (ब्राह्मण) १५७
कूटदन्त-सुत्त १०२, १४३, १४४, १४६, १५७, १९५, ३०१
कूटागारशाला (वैशाली के महावन में) १५८, ५५४
कृशा गौतमी—देखिये 'किसा गोतमी'।
कृष्ण १५६, ३२१, ३२६
कृष्णदास—देखिये 'कण्हदास'।
केकय १४, १६

केटेलाग (ए केटेलाग ऑव दि टैम्पिल लायब्रेरीज ऑव सिलोन—डे ज़ायसा) ६०२, ६५२, ६५३, ६५५, ६५६, ६५७
केतुमती (नगरी) ३१४, ६२६
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया १३
केरलपुत्र ९७
केलानिया (श्री लंका में) ६१३, ६२८, देखिये 'कल्याणी' भी।
केवट्ट (केवड्ढ भी, गृहपति, नालन्दा का) १६०
केवट्ट-सुत्त (केवड्ढ-सुत्त भी) १०२, १४४, १६०, १९५, २३६
केसधातुवंस ६१४, देखिये 'छकेसधातुवंस'।
केसपुत्त (निगम) २००, २१०, २१९
केसपुत्तिय-सुत्त १३८, २०९-२११
कैलाश (पर्वत) ५९६
कोकालिय-सुत्त २६५
कोटिग्राम (कोटिगाम) १६३, २०१
कोट्ठित (बुद्ध-शिष्य)—देखिये 'महा कोट्ठित'।
कोड्स (जी०) ५८०
कोणागमन (बुद्ध) १६२, ३२८
क्रोध-वग्ग २४०, २४३, २४८
कोन्-पोन्-सेत्सु-इस्से-उबु ३४१, ३६६
कोनो (स्टैन) १३, १५, १६
कोरव्य (कोरव्य भी) ३१३, ३१६
कोरिया ३६५, ६९१
कोलद्धज ६८७
कोलद्धज-टीका ६८८
कोलम्बक ६१५
कोलम्बो ५३५, ६१५, ६३५, ६५१, ६८९, ६९१
कोलिय १८१, २०१, ३१४, ६०९, ६११
कोलिय-पुत्री (सुप्रवासा)—देखिये 'सुप्रवासा'।
कोश (पालि) ६५८-६६०
कोसम्बिय-सुत्त १०५, १७३
कोसम्बी (धर्मानन्द) १२२, २३४, ३८६, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४४, ५४६, ५६४, ५८०, ६२६, ६४३, ६७५, ६७६, ६७७
कोसल (कोशल) १३, १४, १५, १७, ३०, १५६, १६०, १६४, १८१, १८५, १९९, २०१, २०९, २११, २१९, २६१, २९४, ३१३, ३१४, ५२५, ५५३
कोसलराज (प्रसेनजित्)—देखिये 'प्रसेनजित्'।
कोसल-सुत्त २१८
कोसल-संयुत्त ११०, १८५
कोसला देवी ३१४
कोसिय-पुत्त (स्थविर) ३७१
कौटिल्य विष्णुगुप्त ३२०
कौशाम्बिक (भिक्षु) ३३३
कौशाम्बी (कोसम्बी) १७३, १८१, २०१, २१९, २५५, २५८, २६८, ३१५, ५५४, ५५५, ५६०, ५९९, ६६४
कौसल्य ३१८
कौसल्यायन (आनन्द, भदन्त) ८५, ८६, ९७, ९९, ११६, ११७, १३६, २०२, २३१, २३७, २४९, २५५, २५९, २६९, २७१, २९७, ३०५, ३०८, ३१०, ३११, ३१२, ३१९, ३२०, ३२८, ३४६, ३५८, ३७३, ५६४, ५८७, ५८९, ५९१, ५९३, ५९७
कंस-वध ३२१
क्यच्वा। (बरमी राजा) ६१९, ६४९, ६५६
क्यच्वारञो — देखिये क्यच्वा (बरमी राजा)।'
ककुच्छन्द—देखिये 'ककुसन्ध'।

क्विशन्स ऑव किंग मिलिन्द (टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स्) ५०६, ५०७, ५२३, ५२५
क्षुद्रकवस्तु १२८, देखिये 'विनय-क्षुद्रक (विनय-क्षुद्रक-वस्तु)' भी।
क्षुद्रकागम १२७, २२४
क्षुद्रानुक्षुद्र (शिक्षापद) ३३२, ३३६, ३४५, ३६३, ५१९-५२०
क्षेम (श्री लंका में विनय-धर) ३४१
क्षेमा (भिक्षुणी)—देखिये 'खेमा'।

ख

खग्गविसाण-सुत्त २२९, २६३, २६५, २६८, ३२६
खड़ी बोली (हिन्दी) १९
खण्डगिरि (अभिलेख) १४, १६
खण्डहाल-जातक (५४२) ३३०
खन्धक १०१, ११८, १२८, ३५७-३५९
खन्धक-कथा ५३५
खन्ध-परित्त २३६
खन्धक-पुच्छा ५३४
खन्ध-यमक ४८२
खन्ध-वग्ग ११०-१११, १९०-१९२
खन्धवग्गसंयुत्त ६८५
खन्धवग्गसंयुत्त-टीका ६८५
खन्ध-विभंग ४३१, ४३२-४३५
खन्ध-संयुत्त ११०, १८९, १९०, १९९, ३८३
खरस्सर-जातक (७९) ३०९
खरोष्ठी (लिपि) १३, २४५
खाणुमत १५७
खारवेल १४, १६
खुज्जुत्तरा (कुब्जा उत्तरा) २०८, २५८
खुद्दक-ग्रन्थ (खुद्दक-गन्ध, खुद्दक-गन्थो) ६२१
खुद्दक-निकाय २, १०१, ११२-११३, १२७, १३२, १४८, २०३, २२०-३३१, ३९१, ५२५, ५४३, ५५६, ५६१, ६०४
खुद्दक-पाठ ११२, १२७, २२०, २२१, २२२, २२६, २२७, २३०, २३१-२३७, ४६६, ५५६, ६८६
खुद्दक-पाठ (सटीक) ११८, ११९, २०३, ५४३
खुद्दकपाठट्ठकथा ६१७
खुद्दकवत्थु-विभंग ४३१, ४४४
खुद्दक-सिक्खा (खुद्द-सिक्खा, खुद्द-सिक्खं भी) ५६२, ५६४, ५७१, ५७२, ६१८, ६४७, ६८९
खुद्दसिक्खा-टीका (पोराण) ६८५, देखिये 'खुद्दकसिक्खा-टीका' (पोराण) भी
खुद्दसिक्खा-टीका (अभिनव) ६८५, देखिये 'खुद्दकसिक्खा - टीका) (अभिनव)' भी।
खुद्दकसिक्खा-टीका (अभिनव)—संघरक्खित-कृत ५७०-५७१, ६४७, ६६०, ६८५
खुद्दकसिक्खा-टीका (पोराण)—महायस या रेवत-कृत ५७१, ६८५
खुद्दकसिक्खा-टीका (वाचिस्सर-कृत) ५७२
खुद्दकागम—देखिये 'क्षुद्रकागम'।
खुद्दानुखुद्द (सिक्खापद)—देखिये 'क्षुद्रानुक्षुद्र (शिक्षापद)।
खुरप्प-जातक (२६५) ३१५
खेत्तुपमा-पेतवत्थु २७१
खेम (श्रीलंका में विनय-धर)—देखिये 'क्षेम'।
खेम (अट्ठकथाकार) ५६२, ५६३, ५७१, ६१८
खेमं (ग्रन्थ) ६१८
खेमप्पकरण ५६३, ५७१
खेमप्पकरणस्स टीका (खेमप्पकरण-टीका) ५७१, ६१८

खेमा (क्षेमा, भिक्षुणी) १९३, १९४, २०८, २९४
खेमिन्द (थेर) ५५२
खोतन २४५, ३६७

ग

गग्गरा पोक्खरणी (गर्गरा पुष्करिणी) १५७, १६८
गंगमाल जातक (४२१) ३१४, ३२१
गंगा १८७, १९८, २०१, २१९, ३१६, ५३९, ५४०
गण्डक (नदी) २६१, २८०
गण्डतिन्दु जातक (५२०) ३१३
गण्ठाभरण ५७६, ६१९, ६५६
गणक मोग्गल्लान (ब्राह्मण) १७८
गणकमोग्गल्लान-सुत्त १०८, १७८
गणपाठ ६५०
गन्तारा-परिवेण (श्री लंका में) ६६१
गन्थाकर (ग्रन्थाकर, परिवेण, महा-विहार से संयुक्त, अनुराधपुर में) ५३९
गन्धट्ठि ६०२, ६५५
गन्धब्बकाय-संयुत्त १११, १९१
गन्धमादन (पर्वत) ३१४
गन्धवंस ११६, २२२, ३०८, ५०२, ५२८, ५२९, ५३७, ५५७, ५६३, ५७१, ५७८, ५८४, ६०४, ६०५, ६०७, ६१६-६२०, ६२१, ६२७, ६३२, ६३४, ६४८ ६६०
गन्धसार (गण्ठिसार) ५७३, ६१९
गन्धाभरण (गन्थाभरण भी)—
—देखिये 'गण्ठाभरण'।
गन्धार १४, १६, ९८, २१९, ३१४, ५२५, ५९४, ६०४, ६०९, ६११
गन्धार-जातक (४०६) ३१४
गन्धाचरियो (गन्धकाचरिय) ६१६, ६२०
गया ५३७, ६६७
गयासीस पर्वत ३१३
गरहित-जातक (२१९) ३११
गहपति-वग्ग १०५-१०६, १७३-१७४
गाइड टू साँची (मार्शल) ६८१
गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक (ज्ञाना-तिलोक) ३७६, ३८०, ३८५, ३९२, ४२५, ४२७, ४५५, ४५८, ४५९, ४८०
गाइल्स (एच० ए०) २२७, ३०३
'गाथा' ११३, ११४
'गाथा-जातक' ३०६
'गाथा'-संस्कृत २४७
गान्धार ९७, देखिये 'गन्धार' भी।
गान्धी (महात्मा) २३७, ६६२
गामणि-सयुत्त १११, १९३
गामन्तरकप्प ९१, ९३
गायगर (विल्हेल्म) २, १३, १६, १७, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, ४६, ४७, ५२, ५८, ८८, ९५, ९६, ९९, ११६, १३६, १५०, १८३, १८४, २९९, ३७६, ३८०, ५०२, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५२५, ५२६, ५२८, ५३८, ५५६, ५५७, ५६२, ५७३, ५७८, ५८६, ५८७, ५८९, ५९०, ६००, ६०२, ६०५, ६०६, ६१२, ६१४, ६२८, ६२९, ६३१, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३९, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५२, ६५३, ६५४, ६५६, ६५७, ६५८
गार्बे (आर०) ५०९
गिज्झकूट (पब्बत)— देखिये 'गृध्र-कूट (पर्वत)'।
गिरनार (-शिलालेख) १३, १६, २८, ४३, ६२, ६६३, ६७१, ६७२, ६७३
गिरिदत्त-जातक (१८४) ३०९
गिरिमानन्द (भिक्षु) २३५
गिरिमानन्द-सुत्त २३५, २३६

गिरिव्रज (गिरिब्बज) २८५, ५९९
गिलगित पाण्डुलिपियाँ (गिलगित मैनुस्क्रिप्ट्स्) १३०, ३४२, ३४४
गिहि-विनय (गृह-विनय) २११
गीता (श्रीमद्भगवद्गीता) १८७, २३८, २४५, २८९, ६३०
गुजर्रा ६६४
गुजरात (गुजराती) १२, १३, ९८, १३१
गुजरात - पुरातत्व - मन्दिर (अहमदाबाद) ६५९
गुण-जातक (१५७) ३०९, ३१२
गुणभद्र १२७, ३९१, ५११
गुणरत्न (ई० आर०) ४४५, ६२८, ६३५, ६३६
गुणसागर (ग्रन्थकार) ६२०
गुणाढ्य ३२१
गुन्दावन (मथुरा में) १७६, २१९
गुप्ता (भिक्षुणी) २९३, २९४
गुरु-धर्म (आठ) २१४, ३३५-३३६, ३५२-३५३
गुलिस्सानि (आरण्यक भिक्षु) १७५
गुलिस्सानि-सुत्त १०६, १७५, ३६८
गुह (देवप्रसाद) ६१६
गुहट्ठक-सुत्त २६५
गुहसीव (कलिंग का राजा) ६१४
गूळ्हट्ठटीकं (गूल्हत्थटीकं) ६२०
गूळ्हत्थदीपनी ५७७
गृध्रकूट (पर्वत) १४१, १८६, २०१, २१९
गृह्य-सूत्र १३९
गेटे (जर्मन कवि-दार्शनिक) ६९३
गेय्य (गेय्यं) ११३, ११४
गेलेहेड (Galahad) १६४
गोकुलिक (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४६२, ४७९
गोठाभय (गोठकाभय) ६१२, ६१३
गोतम (गौतम) देखिये 'बुद्ध'।
गोतमी (गौतमी, महापजापती, भिक्षुणी) देखिये 'महापजापती गोतमी'।
गोतमी-सुत्त २१३
गोदावरी (नदी) २६६, २६८, ३१४
गोध-जातक (१४१, ३२५), ३००, ३०९
गोनद्ध २६८
गोपक-मोग्गल्लान (ब्राह्मण) १२०, १७८
गोपक-मोग्गल्लान-सुत्त ८९, १०८, १२०, १३२, १७८, ३३६, ३५६
गोपालक-सुत्त ५३९, देखिये 'चूल-गोपालक-सुत्त' तथा 'महा-गोपालक सुत्त'।
गोबुन्-रित्सु ३४१, ३६६
गोलियानि - सुत्त—देखिये 'गुलिस्सानि-सुत्त'।
गोविन्द (अनागारिक) ३८६
गोसिंग सालवन (गोश्रृंग शालवन) १७२
गोस्वामी तुलसीदास २७७
गौतम—देखिये 'गोतम'।
गौतम संघदेव (भिक्षु) १२६, ३९०
ग्युंथर (एच० बी०) ३८६
ग्रियर्सन (सर जार्ज) १४, १६, १७
ग्रीक (ग्रीस, उसकी भाषा, प्रभाव, राजा, शासन, ज्ञान) १४७, ३१९, ३२२, ३२३, ३२४, ३६७, ५०५, ५०६, ५१२, ५२३, ५२४
ग्रे (जेम्स) ५०६, ६०२, ६०३, ६३१, ६३२

घ

घट-जातक (३५५) ३२१
घटिकार - सुत्त (घटीकार-सुत्त भी) १०७, १७६, ३०१

घोटमुख (ब्राह्मण) १, १३४-१३५, १७७, १८१
घोटमुख-सुत्त १०७, १२०, १३२, १३४, १७७
घोष (ईशान चन्द्र) २९८
घोषिताराम (घोसिताराम) ५५३

च

चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त १०३, १४४, १६६, १९५, ६२६
चंकदास ६८७
चंकी (ब्राह्मण) १७७, १८१
चंकी-सुत्त १०७, १३८, १४३, १४५, १७७
चण्डप्पज्जोत (चण्ड प्रद्योत)—देखिये प्रद्योत (पज्जोत)।
चण्डाशोक ६६५
चण्डीदास २९७
चत्थपयोग ६८७
चतुक - पंच - छ - निपात-जातक-अट्ठ कथा ६८६
चतुक्क-निपात ११२, २०२, २०५, २११, २१२, २१४, २५९, ३७७, ६७५
चतुक-निपात-अंगुत्तर ६८५
चतुत्थसारत्थ मंजूसा ५७०
चतुभाणवार ५७५
चतुभाणवारट्ठ कथा ५७५
चतुसामणेरवत्थु ५७७
चन्द (हिन्दी का आदि कवि) ६५३
चन्द किन्नर जातक ६८१
चन्द कुमार चरियं ३३०
चन्दन-सुत्त २६५
चन्दपुत्ति (चन्द्र वृत्ति) ६८७
चन्दा (चन्द्रा, भिक्षुणी) २९१, २९३, २९४, २९५
चन्द्रकीर्ति ४५६
चन्द्रगुप्त (चन्दगुत्त) ५९८
चन्द्रगोमिन् ६५१, ६५७ ('चान्द्र' शब्द यहाँ 'चन्द्रगोमिन्' के अर्थ में प्रयुक्त है)
चन्द्रपंचिकर (चान्द्रपंजिका) ६८७
चन्द्रभागा (नदी) ५९६
चम् (जाति) ३६६
चम्पा (नगर) १५७, १६४, १६८, १८१, २०१, ५९९
चम्पा (नदी) ३१४
चम्पेय्य-जातक (५०६) ३१३, ३१४, ३३०
चम्पेय्यनागचरियं ३३०
चम्पसाटक-जातक ६८२
चरिया-पिटक ११३, ११८, ११९, १२८, २२०, २२१, २२३, २२६, २२८, २२९, २३०, ३०४, ३२८-३३१, ५६१, ५८६
चरियापिटक-अट्ठ कथा ६१७, ६८६
चलिन्द पंचिका ६८८
चाइल्डर्स (आर० सी०) १६, ३९४
चाटुर्ज्या (सुनीति कुमार) ३५, ३६, ३८, १२३
चाणक्य (चण्णक्क) ५९८
चातुम-सुत्त १०६, १७५
चातुमा १७५
चातुर्याम-संवर (चातुयाम-संवर) १७३
चान्द्र व्याकरण ५६९, ६५१
चापा २९३, २९४
चामर्स (लार्ड) २९८, ५४२
चाला (भिक्षुणी) २९३, २९४, २९६, २९७
चालिय (पर्वत) ५५५
चि-तो-तओ-लुन् ५५२
चित्त (गृहपति) २०८
चित्त-यमक ४८२
चित्तलता-वग्ग २७०
चित्त-वग्ग २३९, २४१, २४६, २४८
चित्त-संयुत्त १११, १९३

चित्रा (भिक्षुणी) २९३, २९४
चिनाब (नदी) ५९६
चीन (देश, राष्ट्र, उसकी भाषा, अनुवाद, बौद्ध धर्म, परम्परा आदि) ९५, ११४, १२५, १२६, १२९, १३०, १३१, १५०, २०३, २२२, २२४, २२७, २४७, २४९, २६८, ३२७, ३३९, ३४१, ३४२, ३४३, ३४५, ३४६, ३४९, ३५६, ३६१, ३६६, ३८८, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ४८१, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५२५, ५५२, ६२२, ६९१
चीन-पट्ट ३२८
चीवरो (ग्रन्थकार) ६१९
चुन्द (सुनार) १६२, २५५
चुन्द समणुद्देस १९७
चुन्द-सुत्त १३७, १९७, २३४, २६४, २६५
चुल्लकालिंग-जातक (३०१) ३१३
चुल्ल-गन्धवंस ६१६
चुल्ल-धम्मपाल (चूल-धम्मपाल भी) ५६१, ५६२, ५६३, ५७१, ५७२, ६१८
चुल्ल-निद्देस ११९, २२१, २२७, २२८, २२९, ३०२, ३२६, ३२७
चुल्ल-निरुत्ति गन्ध (चुल्लनिरुत्तिगन्धो) ६१७, ६४६
चुल्ल-पच्चरी—देखिये 'चूल-पच्चरी'।
चुल्ल पन्थक २०७
चुल्ल बुद्धघोष ५५७, ६१९
चुल्लबोधि-जातक (४४३) ३३०
चुल्ल-वग्ग (विनय-पिटक) ८३, ८५, ८६, ८७, ९०, ९१, ९५, १०१, ११९, १२८, १९७, २१३, २२४, २२५, २३६, ३०१, ३३२, ३४५, ३५२, ३५७, ३५८-३५९, ३७३, ३७४, ५८७, ६०४
चुल्ल वजिरो ६१७
चुल्ल विमलबुद्धि ६६१
चुल्ल - वेदल्ल - सुत्त—देखिये 'चूल-वेदल्ल-सुत्त'।
चुह्-खि-उ-थिङ २४७
चूल अभय (श्री लंका में विनय-धर) ३४१
चू-फा-नैन् १२६
चूल-अस्सपुर-सुत्त १०५, १७३
चूल-कम्मविभंग-सुत्त १०९, १८०
चूल गण ६८७
चूल-गोपालक-सुत्त १०५
चूल-गोसिंग-सुत्त १०५
चूल-तण्हासंखय-सुत्त १०५, १७२
चूल-दुक्खक्खन्ध-सुत्त १०४, १७१
चूल देव (श्री लंका में विनय-धर) ३४१
चूल - धम्मपाल — देखिये 'चुल्ल-धम्मपाल'।
चूल-धम्मसमादान-सुत्त १०५, १७३
चूलनाग (श्री लंका में विनय-धर) ३४१
चूल-निद्देस ६८६, देखिये 'चुल्ल-निद्देस'
चूल-निद्देस-अट्ठ कथा ६८६
चूल-निरुत्ति ६८७
चूल-निरुत्ति-मंजूसा ६८७
चूल-पच्चरी (चुल्ल-पच्चरी भी) ५२८, ५८५
चूल पन्थक ३३४
चूलपदुम-जातक (१९३) ३२३
चूल-पुण्णम-सुत्त १०८, १७८
चूल-बोधि-चरियं ३३०
चूल-मणिसार ६८८
चूल-मालुक्य-सुत्त १०६, १४५, १७४, १९४
चूल-यमक-वग्ग १०५, १७३
चूल-राहुलोवाद-सुत्त १०९, १८०, १९०
चूल-वग्ग २५०, २५५, २६५
चूल-वियूह-सुत्त २६५

चूल-वेदल्ल - सुत्त (चुल्ल-वेदल्ल-सुत्त भी) १०५, ११४, १३५, १७३
चूलवंस २, १०, ११, १२२, ५३६, ५७४, ५८४, ५८५, ५९०, ६००-६०२, ६०३, ६१२, ६१३, ६१४, ६८६
चूल-सकुलुदायि-सुत्त १०६, १७६
चूल-सच्चक-सुत्त १०५, १७२
चूल-सद्दनीति ६५५
चूल-सारोपम-सुत्त १०४, १७२
चूल-सीहनाद-सुत्त १०४, १७०
चूल-सुञ्ञता-सुत्त १०८, १७९
चूल-सन्धिविसोधन ६८७
चूल-सारोपम-सुत्त १०४, १७२
चूल-हत्थिपदोपम - सुत्त १०४, १४४, १७२, १९५, ४४२
चूलिका पैशाची ६५३
चेति (चेदि) १६४, २१९, ३१५
चेतिय गिरि विहार ६०६
चेतियवादी (चैत्यवादी, बौद्ध सम्प्रदाय) ४५४, ४५५
चेतिद्धी नेमिपरिगाथा ६८७
चेतोखिल-सुत्त १०४, १७१
चैत्य पर्वत विहार ५९४
चोळ (देश, राज्य) ५३४, ६२८, ६३६
चोळिय दीपंकर ५६२, ६३६, ६३७, ६४७, देखिये 'दीपंकर' तथा 'बुद्धप्पिय' भी।
चौरासी हजार धर्मस्कन्ध—देखिये 'धर्मस्कन्ध'।

छ

छकेसधातुवंस ५७८, ५८४, ६१४
छक्क-निपात ११२, २०२, २०५
छक्किन्दाभिसिरि (बर्मी लेखक) ६६१
छगतिदीपनी ६८६
छछक्क-सुत्त १०९, १८०
छद्दन्त-जातक (५१४) ३११, ६८१
छन्दःशास्त्र (पालि में) ६६०-६६१
छन्दस् २३-२४, २६, ३०
छन्दावा-ब्राह्मण १६१, ३१८
छन्दोग-ब्राह्मण १६१, ३१८
छन्दोमंजरी ६६१
छन्दोविचिति ६६०, ६८७
छन्दोसारत्थविकासिनी ६६१
छन्न (भिक्षु) १८०, ५५६
छन्नागरिक (पाण्णागारिक, बौद्ध सम्प्रदाय) ४५५, ४५६, ४५७
छन्नोवाद-सुत्त १०९, १८०
छपच्चयदीपनी ६६१
छपद (छपट भी) ५६२, ५६३, ५६४, ५७०, ५७२-५७३, ६४६, ६४७, ६५४, देखिये 'सद्धम्म जोतिपाल' भी।
छब्बिसोधन-सुत्त १०८, १७९
छसत्ततिनिपात-अंगुत्तर ६८५
छान्दोग्य-उपनिषद् (छान्दोग्य०) १६१, ३१७, ५२४, ५८३
छामदेवीवंस ५८०
छिन् (राजवंश) ३२८

ज

जगती (छन्द) २६०, ६१३
जंघदासस्स टीकं ६१९
जटिल काश्यप ३५७
जतुकण्णि-माणव-पुच्छा २६५
जनक (राजा) ३२०
जनवसभ-सुत्त १०३, १६४
जम्बुकोल ५९३
जम्बुखादक (परिव्राजक) १९३
जम्बुखादक-जातक (२९४) ३२३
जम्बुखादक-संयुत्त १११, १९३
जम्बुद्वीप (जम्बुदीपो) १६४, ३१२, ३४१, ३७१, ५१३, ५३२, ५९४, ६२६, ६४०
जम्बुधज (जम्बुध्वज, ग्रन्थकार) ६५६

जयद्दिस-चरियं ३३०
जयद्दिस जातक (५१३) ३१३, ३२०, ३३०
जयन्त पुरोहित-पुत्र २९४
जयदेव २९७
जयबाहु ५०६
जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट् सोसायटी ३, ११६, २२२, ३०८, ३९०, ३९३, ४५६, ५२७, ५२८, ५८६, ६०४, ६१४, ६१५, ६१६, ६२५, ६२७, ६२८, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६४३, ६४६, ६४८, ६७४
जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी २२८, ३२१, ३८९, ४५६, ४८१, ५०२, ५९०, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७
जर्नल एशियाटीक ६७८
जरा-वग्ग २४०, २४२, २४६, २४८
जरा-सुत्त १२५, १९७, २६५
जलोगी-पान ९२, ९३
जहागीरदार ८
जातक ७९, ९४, ११३, ११४, ११५, ११८, ११९, १२७, १३२, १५७, २२०, २२१, २२३, २२५, २२६, २२७, २२८, २३०, २९७-३२६, ४५३, ५५६, ५७६, ६८१, ६८२
जातकट्ठकथा ३०४, ३०५, ३०८, ३२९, ५४३, ५६१, ६१७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४२, देखिये 'जातक-ट्ठवण्णना' भी।
जातकट्ठ कथाय लीनत्थप्पकासिनी नाम टीका—देखिये 'लीनत्थप्पकासिनी'।
जातकट्ठवण्णना — (जातकत्थवण्णना भी) ३०४, ३०५, ३०८, ५४३, ५५६, ५५७-५५८
जातक-गंठि ६८७
जातक-टीका ६८६
जातक-निस्सय ६८७
जातकमाला ३०३
जातक-विसोधन ५७६, ६१९
जातत्तकी - सोतत्तकी - निदान -अट्ठ - कथा ६८६
जातत्तगीनिदानं (जातत्तकीनिदानं) ५५७, ६१९
जानुस्सोणि (ब्राह्मण) १६९
जापान (जापानी भाषा, बौद्धधर्म आदि) ३३९, ३४२, ३६५, ३६६, ६९१
जालिय (परिव्राजक) १५८
जालिय-सुत्त १०२, १५८
जावा ३१७, ३२२
जिनकालमालिनी ५८०
जिनचरित ५७३, ६१९, ६२५, ६३३-६३५, ६५२
जिनविजय (मुनि) ६५९
जिनालंकार ५७३, ६२५, ६३१-६३२, ६३३
जीवक (कौमार भृत्य) १५४, १७३, २०८, ३५९, ५५३
जीवक-सुत्त १०५, १७३
जूजु-रित्सु ३४१, ३६६
जेकोबी (हरमन) ५२
जेतवन (आराम) १४१, १५९, १६०, १६२, १६७, १९७, २०६, २१२, २१८, २३८, २५०, २५२, २५४, ३०८, ३५८, ५५५, ५५६, ५९९
जेन्त (स्थविर) २७६
जेन्ती (भिक्षुणी) २९४
जेय्यसूर ५७९
जेन्-कोन्-रोन् ३४२
जैन (आगम, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि) १९, ३४, १४५, २५५
जोतिपाल (ज्योतिपाल, स्थविर) ५४०, ५५४

जोसफत (सन्त) ३२४, ३२५
'जोसफत एण्ड बरलाम' ३२४-३२५
जौगढ़ २८, ६१, ६६३, ६६४, ६६७, ६७२
ज्ञानप्रस्थान - शास्त्र १२८, ३१९, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१
ज्ञानातिलोक (महास्थविर) ३७६, ३८०, ३८५, ३९२, ४२५, ४२७, ४४५, ४५०, ४५५, ४५६, ४५८, ४५९, ४८०, ४८७
ज्योतिष (फलित, शास्त्र) १५३, ३१६, ६४२

झ

झान-विभंग ४३१, ४४२-४४३
झान-संयुत्त १११, ११२, १४४, १९२, १९५

ञ

ञाणवर (बरमी भिक्षु) ५७७, ६६०
ञाण-विभंग ४३१, ४४४
ञाणविलास (ज्ञानविलास, भिक्षु) ६४९
ञाणसागर (भिक्षु) ६२०
ञाणातिलोक—देखिये 'ज्ञानातिलोक'।
ञाणाभिवंस (संघराज, भिक्षु) ५७७
ञाणिस्सर ६४०
ञाणोदय (ज्ञानोदय) ५३७, ५४३, ५५९
ञेय्यसन्दति ६२०
ञेय्यसन्दतिया टीका ६२०

ट

ट्रान्जैक्शन्स ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव जापान २२४
टीका-साहित्य (पालि का) ५६९-५८०
'टीका-ग्यु' ('प्रसिद्ध टीका') ५७२
'टीका-हुल' ('सुन्दर टीका') ५७२
टेलर (ए० सी०) ४५४
ट्रेंकनर (वी०) ५०४
टोलेमी फिलाडेल्फस ९९

ठ

ठाणङ्ग (स्थानांग, जैन आगम) १४५

ड

डॉयलाग्स ऑव दि बुद्ध (टी० डब्ल्यू रायस डेविड्स तथा सी० ए० फ० रायस डेविड्स्) १४७
डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स (मललसेकर) ५२५
डिवाइना कोमेडिया ३२६
डुरोयिसिल (चार्ल्स) ६३३, ६३५
डे जायसा (लुई) ६०२, ६५१, ६५२, ६५३, ६५५, ६५६, ६५७
डैज़िगनेशन ऑव ह्यूमन टाइप्स (लाहा) ४५०

ढ

ढालके (पॉल) १६९

ण

ण्वादि (मोग्गल्लान) ६८७

त

तकाकुसु (जुजिरो) १३१, ३८९, ३९०, ३९३
तक्कारिय-जातक (४८१) ३२३
तक्कोल ५२५
तक्षशिला (तक्कसिला) १७, ३१४, ३१५, ३१८, ५९९
तच्छसूकर-जातक ३१४
तण्डि (दण्डी) ६८७
तण्डि-टीका ६८७
तण्डुलनालि-जातक (५) ३१४

तण्हा-वग्ग २४०, २४४, २४६, २४९
तत्वावतार (तक्तावतार) ६८८
तत्वावतार-टीका ६८८
ततिय परमत्थप्पकासिनी ५७०
ततिय सारत्थमंजूसा ५७०
तथागत—देखिये 'बुद्ध'।
तथागतुप्पत्ति (पकरणं) ६२०, ६८६
तनोगबुद्धि ६८७
तपस्सु २०८, ३३३, ३५७
तमिल—५६०, ५८८, ६०१, ६५३; देखिये 'दमिळ' भी।
तम्बपण्णि दीप (ताम्रपर्णी द्वीप, श्री लंका) ९८, ३४१, ३६१, ६१०
तम्बरट्ठ ६००
तलैङ (जाति, लिपि, भाषा) ३६६, ५८१, ६८९
ताम्रपर्णी द्वीप—देखिये 'तम्बपण्णि'।
तारानाथ (लामा) १२५, १३१, ३०३
तालपुट (स्थविर) २७७-२७९, २८६-२८७
तिक-निपात ११२, २०२, २०५, २०९, २५६, ३३४, ३४६, ३७७, ६७७
तिक-पट्ठान ६८५
तिकनिपात-जातक-अट्ठकथा ६८६
तित्तिर-जातक (३७) ३०१, ३०९
तित्थगाम (श्रीलंका में) ६५२
तिपिटक (त्रिपिटक) १, २, ३, ४, ६, ७, ९, १०, ११, १३, १५, १७, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २८, ३२, ७९, ८०, ८१, ८२, ९०, ९९, १००, १०१-१२०, १२३-४९६, ४९७, ४९८, ५०३, ५१९, ५२४, ५२५, ५२६, ५३०, ५३१, ५३२, ५३८, ५५३, ५७३, ५७९, ५८६, ५८९, ५९७, ५९९, ६१६, ६२४, ६४३, ६४४, ६७५, ६७८, ६७९, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४
तिपिटकालंकार (बरमी भिक्षु) ५७७, ६४२
तिब्बत (तिब्बती भाषा, अनुवाद, परम्परा, बौद्ध धर्म आदि भी) ९५, १२५, १२६, १३०, २४७, ३४४, ३४५, ३५६, ३६५, ३६६, ३९२, ४८१, ६९१
तिरोकुड्ड-सुत्त २३३
तिलमुट्ठि-जातक (२५२) ३१४
तिलोक गुरु (त्रिलोक गुरु) ५७७
तिष्य (तिस्स, भिक्षु, बुद्ध-शिष्य) १९०, ३३७
तिष्य (तिस्स, स्थविर) ५१०
तिष्य (तिस्स, कुमार, अशोक के अनुज, बाद में भिक्षु) २२८, २७२
तिष्य (कल्याणि-, कल्याणी का राजा) ६२८
तिष्य (लंकाधिराज दुट्ठगामणि का छोटा भाई) ५९५
तिष्यदत्त (आर्य, श्री लंका में विनय-धर)—देखिये 'आर्य तिष्यदत्त'।
तिष्य श्रामणेर ५५३
तिष्य स्थविर (श्री लंका में विनय-धर) ३४१
तिष्या (तिस्सा, भिक्षुणी) २९४
तिस्सदत्त—देखिये 'विसुदत्त'।
तिस्समेत्तेय्यमाणवपुच्छा २६५
तिस्समेत्तेय्य-सुत्त २६५
तुखारी (भाषा) २६८
तुरमय (टोलेमी फिलाडेल्फस) ९९
तुर्फान २४७, ३६७
तुलसीदास — देखिये 'गोस्वामी तुलसीदास'।
तुवटक-सुत्त (तुवट्टक-सुत्त या तुवट्टक-सुत्त भी) २६५, ६७५
तुशी (जी०) ११४
तुषार (तुखार) ३६७
तुषित (पुर, लोक) ३०५, ५९५, ६११

तूरानी (जाति) ३६६
तेकुल २३
तेपिटक बुद्धवचन — देखिये 'तिपिटक'
तेमिय-चरियं ३३०
तेमिय-जातक (मूगपक्ख जातक— ५३८) ३३०
तेरसकण्ड-टीका ६८५
तेलकटाहगाथा ७९, ५७५, ६२५, ६२८-६३१
तेलपत्त-जातक (९६) ३१४
तेलुगु (तेलगू) ५४०
तेविज्ज-वच्छगोत्त-सुत्त १०६, १७५, १८१, १९२
तेविज्ज-सुत्त १०२, १४३, १४५, १४६, १६०-१६१, ३१८
तैत्तिरीय-ब्राह्मण १६१, ३१८
तोदेय्यमाणव-पुच्छा २६५
तोपरा ६६३
तौगद्विन् (बरमा में प्रान्त) ६८४
त्रक्कभासा (तर्कभाषा) ६८७
त्रायस्त्रिंश (-लोक) ३६९, ३८४, ५५४, ५५५
त्रिष्टुप् (छन्द) २६०

थ

थन्-ब्यन्-टीका ६८६
थपति-सुत्त (थपतयो-सुत्त) १९९
थाई-देश १००, ५७६, ५७८, ५७९, ५८०, ६१५, ६२२
थातोन् (बरमा में) ५७९, ६४८
थॉमस (ई० जे०) ८, २८
थिच् मिन्ह चाउ १२६
थुल्लकोट्ठित १७६, १८१
थूण (ब्राह्मण-ग्राम) ३१२
थूपवंस ५७२, ५८४, ६०६-६१२, ६१३, ६१४, ६२०, ६८६
थूपाराम ५९९, ६५१, ६६०
थेर-अपदान २२९, ३२७
थेरगाथा ११३, ११८, ११९, १२७, १३२, १३५, १४६, २०३, २२०, २२१, २२३, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २६३, २७१-२९७ ३३५, ५६१, ६२३, ६८६
थेरगाथा-अट्ठकथा ५६१, ६१७, देखिये 'परमत्थदीपनी' भी।
थेरप्युते (सिकन्दरिया का भिक्षु-संगठन) ३६७
थेरवाद—देखिये 'स्थविरवाद'।
थेरी-अपदान २२९, २९७, ३२७
थेरीगाथा ११३, ११८, ११९, १२७, १३५, २०३, २२०, २२१, २२३, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २७१-२९७, ३८३, ५६१, ६२३, ६८६
थेरीगाथा की अट्ठकथा ५६१, देखिये 'परमत्थदीपनी' भी।

द

दकरक्खस-जातक (५१७) ३०१
दक्खिणाविभंग-सुत्त १०९, १८०, ५३०
दक्षिण-पूर्वी एशिया ३२२
दक्षिणापथ ३१४, ५५३
दण्डक-वन ३१४
दण्डकारण्य १८१, ३२०
दण्ड-वग्ग २४०, २४२, २४८
दण्डि-टीका ६८८
दण्डी ३३, ५२३
दत्त (नलिनाक्ष) ३८, ११३, ३४४, ४७५
दधिवाहन-जातक ३२४
दन्तकुमार ६१४
दन्तधातु-पकरणं ६१९
दन्तधातुवंस ६१३
दन्तपुर १६४
दन्तभूमि-सुत्त १०८, १७९

दन्तिका (भिक्षुणी) २९३, २९४
दब्ब (स्थविर) २५१, २५३
दब्बपुप्फ-जातक ६८२
दब्ब मल्लपुत्त २०७
दव्व (द्रव्य) -गुण ६८७
दव्व (द्रव्य)-गुण-टीका ६८७
दमिळ (तमिल) ५८८, ६०१, ६१०, ६११
दमिश्क का सन्त जोन्ह ३२४
दरीमुख-जातक (३७८) ३१५
दळदा पूजावली ६१४, ६२२
दळदावंस ६१४
दर्शन - दिग्दर्शन (राहुल सांकृत्यायन) १४८, १६१, ४६०
दशबल (दसबल) ८६— देखिये 'बुद्ध'।
दस - एकादस निपात - अगुत्तर ६८५-६८६
दस-एकादस - निपात - जातकट्ठ कथा ६८६
दसगण्ठिवण्णना ६१९
दसधम्म-सुत्त २३४
दसक - निपात (अंगुत्तर - निकाय) ११२, २०२, २०६, ६७६
दस - ब्राह्मण-जातक (४९५) ३१३, ३२१
दसरथ-जातक (४६१) ३२०, ६८२
दसवत्थु ६८६
दस वत्थूनि ९१-९४
दसुत्तर-सुत्त १०३, १६८, २०३, २०५, २३३, ३६८, ३७४, ६७६
दाक्षिणात्या (प्राकृत) ३३
दाठाधातुवंस ६८६, ६८७
दाठाधातुवंस-टीका ६८६
दाठानाग (संघस्थविर, महाविहार में बुद्धघोष के साथी) ५५३
दाठानाग (बरमी भिक्षु, निरुत्तिसार-मंजूसा के लेखक) ६४६
दाठावंस ७९, ५७३, ५८४, ६१३-६१४
दासक (स्थविर, विनय-धर) ३४१, ५९९
दासक (आभिधम्मिक भिक्षु) ३७१
दाँते (इतालियन कवि) ३२६
दि अभिधर्म लिटरेचर ऑव दि सर्वास्तिवादिन्स् (तुकाकुसु) ३८९
दि ऑरीजिन एण्ड डिवेलप्मेण्ट ऑव दि बंगाली लेंग्वेज (सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या) ३६, ३७, १२३
दिङ्नाग ४९५
दि ट्रेविल्स ऑव फा-ह्यान (गाइल्स) २२७, ३०३
दि डॉयलॉग्स ऑव दि बुद्ध — देखिये डॉयलॉग्स ऑव दि बुद्ध।
दि डैजिगनेशन ऑव ह्यूमन टाइप्स (लाहा)—देखिये 'डैजिगनेशन ऑव ह्यूमन टाइप्स'।
दिट्ठि-संयुत्त १११, १९०-१९१
दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा (श्रीमती मेबिल बोड) ११, २२३, ३३८, ५०३, ५६२, ५६३, ५७८, ५८२, ६०२, ६३९, ३४१, ६४२, ६४६, ६४७, ६४९, ६५४, ६५५, ६५६, ६८८
दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन (मललसेकर) ३१९, ५५७, ५६२, ५६३, ५६४, ५७२, ५८५, ६०२, ६०५, ६०६, ६१२, ६१३, ६१५, ६२७, ६२८, ६३२, ६३५, ६३६, ६३७, ६४०, ६४१. ६५२, ६५३, ६५४, ६५७, ६५९
'दि बुद्धिस्ट' (कोलम्बो) ३२६
'दि महाबोधि' (जर्नल, कलकत्ता) ३२६, ६०७
दि लॉ ऑव मोरा ४६-४८, देखिये पृष्ठ ४२-४३ भी।
'दि लाइट ऑव दि धम्म' ६१६

'दि लाइफ एण्ड वर्क ऑव बुद्धघोष (लाहा) ५२९, ५४२, ५४३, ५५९, ६०३, ६४३
दिव्यावदान ६६६
दि विज़्डम ऑव बलहवार ३२५
दि साइकोलोजीकल एट्टीट्यूड ऑव बुद्धिस्ट फिलॉसफी (अनागारिक गोविन्द) ३८६
दि सूत्र ऑव वे-लेंग् (वोंग् मो-लम् का अनुवाद, नया संस्करण क्रिसमस हम्फ्रेज़ द्वारा) ११४, ४७५
दि हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑव बुद्धिज्म (टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स्, भारतीय संस्करण) १४७
दि होम ऑव पालि (कीथ का लेख) १७
दि होम ऑव लिटररी पालि (ग्रियर्सन का लेख) १७
दीघनख (परिव्राजक) १७६, १८१
दीघनख-सुत्त १०६, १७६
दीघ-निकाय १, ८३, ८७, ९२, १०२-१०३, ११३, ११८, ११९, १२४, १२६, १३२, १३५, १३६, १३७, १४१, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४९-१६८, १७०, १८०, १८२, १८८, १९३, १९५, १९५, २०३, २०४, २०५, २०६, २१२, २२२, २२५, २२६, २२८, २५५, ३०१, ३०२, ३१८, ३२९, ३३६, ३६८, ३७४, ३७६, ३७७, ३९२, ३९३, ४३८, ४८६, ४८७, ५१०, ५२४, ५२७, ५७७, ६०४, ६२६, ६७०, ६७५, ६७६, ६७८, ६७९
दीघ-निकाय की अट्ठकथा ५४३, ५४४, ५५३, ५७०, ६१७
दीघ तपस्सी (दीर्घ तपस्वी, निगण्ठ नाटपुत्त का अनुयायी) १७३
दीघ-भाणक २२१, २२२
दीघलम्बिक (गाँव) २३५
दीघसन्द (सेनापति) ५९१
दीघसन्द विहार (दीघसन्द सेनापति-परिवेण) ५९१
दीघसुमन (श्री लंका में विनय-धर) ३४१
दीघ स्थविर (श्री लंका में विनय-धर) ३४१
दीघित-कोसल जातक (३७१) ३०१
दीप (ग्रन्थकार, भिक्षु) ३६०
दीपवंस २, ३, ९, ७९, ८६, ८७, ८८, ९४, ९५, ९७, ९९, ११६, ३८७, ३८८, ४५५, ४८१, ५२५, ५२६, ५३०, ५८४-५८९, ५९०, ५९१-६००, ६०४, ६०६, ६०९, ६१०, ६२०, ६२१, ६२२, ६६६, ६६९, ६८६
'दीपवंस एण्ड महावंस' (गायगर-कृत, आनन्द कुमारस्वामी का अंग्रेज़ी अनुवाद) ६०६
दीपिका (दीपवंस पर) ५९०, ५९१
दीपंकर (बुद्ध) ३०४, ६०६
दीपंकर (चोळिय; रूपसिद्धि-पकरण और पज्जमधु के लेखक) ६१८, ६३६, ६३७, ६४७ देखिये 'चोळिय दीपंकर' तथा 'बुद्धप्पिय' भी
दीपंकर (जिनालंकार के सम्पादक सिंहली भिक्षु) ६३१
दीर्घागम १२६, १५०
दुक-निपात ११२, २०२, २०५, २०९, २५६
दुक-पट्ठान ६८५
दुक-तिक-पट्ठान ६८५
दुक - तिक- चतुक्क - निपात- अंगुत्तर अट्ठकथा ६८६
दुक-निपात-जातक-अट्ठ कथा ६८६
दुट्ठ गामणि (लंकेश्वर) १००, ५८८, ५९०, ५९१, ५९४-५९६, ५९७,

६०१, ६०७, ६०८, ६१०, ६११, ६१३
दुट्ठट्ठक-सुत्त २६५
दुतिय-परमत्थप्पकासिनी ५७०
दुतिय-राहुल-सुत्त १८९
दुतिय-सारत्थमजूसा ५७०
दुम्मेध-जातक (५०) ३१५, ३२१
दुमजातक-अट्ठकथा ६८६
दुर्मुख (पंचाल-राज) ३१३
दुल्व (तिब्बती विनय) ८६, ८८
दूभिय-मक्कट जातक (दुब्भिय-मक्कट-जातक भी) ६८२
दूरे निदान ३०४-३०५
दे (गोकुलदास) २९९, ३१६
देव (स्थविर, सुमनकूटवण्णना के लेखक, गन्धवंस के अनुसार) ६१९
देवता-संयुत्त ११०, १८५
देवदत्त १७२, ३३३, ५५६
देवदत्त-संयुत्त १८५
देवदह (शाक्यों का निगम) १७८
देवदह-वग्ग १०७-१०८, १७८
देवदह-सुत्त १०७, १४४, १७८
देवदूत-सुत्त १०९, १७९ (देखिये शुद्धि-पत्र)
देवधम्म जातक (६) ३१५, ३२०
देवपुत्त-संयुत्त ११०
देवमित्त २०१, ६३५, ६५१
देवरक्खित ६०१, ६०५, ६३९
देव शर्मा (स्थविर, सर्वास्तिवादी आचार्य) ३८९, ३९१
देव स्थविर (श्री लंका में विनय-धर) ३४१
देवानं पिय तिस्स (लंकाधिपति) ९९, १००, ५८८, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९७, ६०८, ६१०, ६९२
देवासुर-संग्राम १८८
द्रोण (ब्राह्मण) ६०९
द्रौपदी ३२१
द्वत्तिसाकारं २३१
द्वयतानुपस्सना-सुत्त २६५
द्वंगुलकप्प ९१, ९३
द्वादशांग धर्मप्रवचन ११३-११४, ३०३
द्वादस - तेरस - पकिण्णक - निपात-जातक-अट्ठकथा ६८६
द्वारका ३२१
द्वेधावितक्क-सुत्त १०४, १४४, १७१, १९५

ध

धजग्ग-सुत्त (धजग्ग परित्त) २३५, २३६
धजविदेह-जातक (३९१) ३१४
धनिय (गोप) २६१
धनिय-सुत्त २६१, २६५, २८०
धनंजय (कुरु-राजा) ३१३, ३१६
धनंजय-जातक — देखिए 'धूमकारि-जातक'!
धम्मकथिक ६८१
धम्मकित्ति (थेर, महावंस के प्रथम परिवर्द्धनकर्ता) ५३७, ५५८, ५७४, ६००, ६०३
धम्मकित्ति (दन्तधातुपकरण के लेखक) ६१९
धम्मकित्ति (महाथेर, सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य, दाठावंस के रचयिता) ५७०, ५७३, ६१३, ६३४
धम्मकित्ति (सिंहली स्थविर, सद्धर्मालंकार और निकाय-संग्रह के लेखक) ६०५
धम्मकित्ति महासामि (सिंहली भिक्षु, सद्धम्मसंगह और बालावतार के लेखक) ५७५, ६०५, ६४७, ६४८
धम्मकित्ति संघराज ६०५
धम्मगुत्तिक (धर्मगुप्तिक, धर्मगुप्त

भी, बौद्ध सम्प्रदाय) ३३९, ३४१, ३४२, ३४६, ३४९, ४५५, ४५६
धम्मचक्क-टीका ६८६
धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त १३२, १९६, २०४, २३५, ३३९, ६०७, ६७५, ६८२, ६८६
धम्मचरिय-सुत्त २६५
धम्मचेति (बरमी राजा) ६८०, ६८८, ६८९
धम्मचेतिय-सुत्त १०७, १७७, १८२
धम्म-जातक (४५७) ३३०
धम्मट्ठ-वग्ग २४०, २४३, २४६, २४८
धम्मथत्—देखिये 'धम्मसत्थ'।
धम्मदस्सी (वच्चवाचक के लेखक) ६५५
धम्मदान (ग्रन्थ) ६८६
धम्मदायाद-सुत्त ८९, १०३, १६९
धम्मदिन्ना (भिक्षुणी) १३५, २०८, २९३, २९४, ५५६
धम्मदीपको ६२०
धम्मपञ्ञा-पकरण ६८७
धम्मपद (धम्मपदं) ११२, ११४, ११८, ११९, १२७, २२०, २२१, २२६, २२७, २३०, २३७-२४९, २५९, ५४३, ६४४, ६६९, ६८०, ६८६
धम्मपदट्ठ कथा ११६, २३६, ३०१, ३२९, ५४३, ५५६-५५७, ६१७
धम्मपदगण्ठिनिस्सय ६८७
धम्मपलियाय ४, १२४
धम्मपाल (आचार्य, अट्ठकथाकार) २, १२१, ३२९, ३३८, ४९७, ५०३, ५३२, ५६०-५६१, ५६४, ५८०, ६१६, ६१७, ६४२
धम्मपाल (जिनालंकार के सम्पादक सिंहली भिक्षु) ६३१
धम्मरतन (सिंहली स्थविर, थूपवंस के सम्पादक) ६०७
धम्म-विनय (धर्म-विनय) १३६, १७८, ३३४, ३३६, ३६२
धम्मविलास (बरमी स्थविर) ५८१
धम्मविलास धम्मसत्थ ५८१
धम्मसत्त—६८७, देखिये 'धम्मसत्थ'।
धम्मसत्थ (धर्मशास्त्र, पालि में) ५८१-५८२
धम्मसिरि (धर्मश्री, खुद्दक-सिक्खा के लेखक) ५६२, ५६४, ५७१. ५७२, ६१८, ६४७
धम्मसेनापति (बरमी स्थविर, कारिका (व्याकरण-ग्रन्थ) के लेखक) ६१९
धम्मसंगणि १०२, १२८, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८५, ३८९, ३९३-४२९, ४३०, ४७५, ४८४, ५३७, ५४३, ५६५, ५६७, ६८५
धम्मसंगणि की अट्ठ कथा १, ५७०, देखिये 'अट्ठ सालिनी' भी।
धम्म-हृदय-विभंग ४३१, ४४४-४४५
धम्मा (भिक्षुणी) २९३
धम्माधम्मदेवपुत्त-चरियं ३३०
धम्मानुसारणी ६२०
धम्मानन्द (आचार्य, गन्धवंस के अनुसार कच्चायन-सार के लेखक) ६२०
धम्मानन्द (महास्थविर) ६४०, ६५१
धम्मारामं (महास्थविर) ६४७, ६५३
धम्मासोक (धर्माशोक) २३०, ५९३, ६२१
धम्मिक (स्याम का राजा) ५७८
धम्मिक-सुत्त २६५
धम्मिय (स्थविर) ३७१
धम्मुत्तरिय (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५५, ४५६
धर्मकीर्ति ४९५

धर्मगुप्त (धर्मगुप्तिक) देखिए 'धम्मगुत्तिक'।
धर्मनन्दि १२७
धर्मपद (धर्मपदम्) १२७
धर्मपालित (श्रीलंका में विनय-धर) ३४१
धर्म-प्रवचन (बारह) ११३-११४, ३०३
धर्मरक्ष ३९२
धर्मरक्षित (भिक्षु, त्रिपिटकाचार्य) १८२, १८४, २३४, २५५, ३२८, ५४४, ५४६, ६२८
धर्मरक्षित (नागसेन के गुरु) ५१२, ५१३
धर्मरक्षित (योनक धम्मरक्खित—यूनानी भिक्षु) ९८, ५९४, ६०४, ६०९
धर्मरत्न (भिक्षु) २३१, २६०, २६१ २६३, २७२
धर्म-सूत्र १३९
धर्मसंग्रह (महायानी संस्कृत-ग्रन्थ) ११३
धर्म-स्कन्ध (८४०००) ९०, ९५, ११५ ११६, ११७, १३४
धर्मस्कन्धपाद (-शास्त्र) १२८, ३८९, ३९१, ३९२
धर्मसेनापति सारिपुत्र (बुद्ध-शिष्य, अग्र श्रावक) १३५, १३७, १४०, १६६, १६८, १७०, १७१, १७५, १७७, १७९, १८०, १९०, १९१, १९३, १९४, १९७, १९८, २०६, २५५, २७४, २७५, २९३, ३२६, ३३४, ३३५, ३५८, ३६९, ३७१, ४८६, ५३०, ६२५, ६२६, ६८३,
धर्मसेनापति (ग्रन्थकार)—देखिये 'धम्मसेनापति'।
धर्माशोक—देखिये 'धम्मासोक'।
धर्मोत्तरीय—देखिये 'धम्मुत्तरीय'।
धातुकथा (पकरण) १०२, ११९, १२८, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३८०, ३८१, ३८९, ३९२, ४४५-४५०, ४८४, ५७०, ५७७, ६८५
धातुकथा की अट्ठकथा ५५८-५५९, ५७०
धातुकथा -योजना ५७७
धातुकथा-टीका-वण्णना ५७७
धातुकथा-अनुटीका-वण्णना ५७७
धातुकायपाद (शास्त्र) १२८, ३८९, ३९२
धातुपाठ ६५३-६५४, ६५५
धात्वत्थदीपनी ६५५
धातुमाला ६५५
धातुमंजूसा (कच्चायन - व्याकरण की) ६५०, ६५४, ६५५
धातु-यमक ४८२
धातु-विभंग ४३१, ४३६-४३८
धातुविभंग-सुत्त १०९, १८०, ३७४, ५३०
धातुविवण्ण-पेतवत्थु २७०
धातुवंस (सिंहली ग्रन्थ) ६१५, ६२२
धातुसेन (लंका-नरेश) ५८५, ५८६, ५९०, ५९१
धातु-संयुत्त ११०, १८८, ३८३, ३९२
धानंजानि (ब्राह्मण) १७७, १८१
धानंजानि-सुत्त १०७, १७७, १८२
धान्यकटक ४५४
धीरा (भिक्षुणी) २९४
धुतंग-कथा ५०८, ५११, ५२१
धुतंग-निद्देसो ५४७-५४८
धूमकारि - जातक (धनंजय-जातक भी नाम—संख्या ४१३) ३१३
धोतकमाणवपुच्छा २६५, २६७-२६८
धोनसाख जातक (३५३) ३१४
धौली ६१, ६६३, ६६४, ६७३
ध्यान-सम्प्रदाय ११४, ४७५

न

नकुलपिता २०८
नकुलमाता २०८
नगई (एम०) ३४२, ३४३, ३६२, ५५२
नग्गजि (नग्गजिन्) ३१४
नगरविन्देय्य-सुत्त १०९, १८०
नच्च-जातक ६८१
न-तुम्हाकं-सुत्त १९२
नदी काश्यप ३५७
नन्द (भिक्षु, बुद्ध-शिष्य) १९०, २०७, २५३, २७३, ३३७
नन्दक (भिक्षु, बुद्ध-शिष्य) २०७
नन्दपञ्ञ ६१६
नन्द-वग्ग २५०, २५३
नन्दकोवाद-सुत्त १०९, १८०
नन्दमाणवपुच्छा २६५
नन्दा २०८, २९४
नन्दिय (भिक्षु, बुद्ध-शिष्य) १७२
नमक्कार-टीका ५७९
नयलक्खणविभावनी ६५७
नरपति सि-थु (बरमी राजा) ५७३, ५८१, ६५४
नरयुत्तिसंगह ६८८
नर्मदा ९८, ५९६
नळकपान १७५, २१९
नळपान जातक (२०) ३१५
नळकपान-सुत्त १०६, १७५
नळाटधातुवंस ५७८, ५८४, ६१४-६१५
नळातधातुवण्णना ६२०
नळिनिका-जातक (५२६) ३२१
नवक-निपात ११२, २०२, २०६
नव-टीकं ६१८
नव महानाम -- देखिये 'महानाम'।
नवविमलबुद्धि ६१९, ६६१, देखिये 'चुल्ल विमलबुद्धि' भी।
नव मेधंकरो (लोकदीपसार के रचयिता) ६१९, देखिये 'मेधंकर (बरमी भिक्षु)' भी।
नव मोग्गल्लान (अभिधानप्पदीपिका के रचयिता) ६१८, ६६०
नवांग बुद्ध-वचन ८६, ९०, ९५, ११३-११४, ११६, ३०३
नवनीत-टीका १२२, ३८५, ५८०
नवीन सर्वास्तिवादी (विनय) ३४५
'न - सियन् - पि - कियु - चिग्' (न-सियन्-चिग्) ५०८
नाग-वग्ग २४०, २४४, २४९
नागसमाल (भिक्षु) २७५
नागसेन (भदन्त) ५०५, ५०६, ५०७, ५१०, ५११-५२४, ६०३
नागसेन - भिक्षु - सूत्र (नागसेन-सूत्र) ५०८, ५०९, ५११
नाग-सयुत्त १११, १९१
नाग स्थविर (श्री लंका में विनय-धर) ३४१
नागार्जुन ४५६, ४६०, ४८६, ४९५
नागित (आचरिय, बरमी भिक्षु, मद्दसारत्थजालिनी के लेखक) ६२०, ६४८, देखिये 'कण्टकखिप नागित' भी।
नाट्यशास्त्र ३३
नाट्य-सूत्र १३९
नाना-तित्थिय-सुत्त १९९
नादिका १६३
नामचारदीप (नामचारदीपनी) ५७३
नाममाला (पालि व्याकरण पर सिंहली भाषा में ग्रन्थ, सुभूति-रचित) ६४५, ६४६, ६४८, ६४९, ६५०, ६५५
नामरूप-टीका (अभिनवा) ६८६
नामरूपपरिच्छेद (नामरूपपरिच्छेद) ५६३, ५७१, ६१८
नामरूपपरिच्छेद-टीका ५७१, ६१८
नामसिद्धि-जातक (९७) ३०९

नारद थेर (सद्धम्मबिन्दु के लेखक) ६४९, ६५७
नालक (गाँव) २०१
नालक-सुत्त २५९, २६४, २६५, ६३४, ६७७
नालन्दा १५३, १६०, १६३, १६६, १८१, ५९९
नालन्दा - देवनागरी - पालि - ग्रन्थ-माला — देखिये 'श्री नालन्दा संस्करण'।
नाला (ब्राह्मण-ग्राम) ५५५
नावा-सुत्त २६५
निकाय-संग्रह (सिंहली ग्रन्थ) ६०५, ६२२, ६४८
निगण्ठ (निर्ग्रन्थ, जैन साधु) २१७
निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्र, जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर) १५४, १५५, १७३, १७६, १७८, १८१, ५१२
निगण्ठ नातपुत्त (या निगण्ठ नाथ-पुत्त)— देखिये 'निगण्ठ नाटपुत्त'।
निगण्ठ-सुत्त १९९
निगलीवा ६६४
निग्रोधमिग-जातक (१२) ३००, ३२४, ६८१
निघण्टु ५१३
निदान-कथा (जातक की) ३०८, ५७६, ६०६, ६०७, ६०८, ६३३, ६४१
निदान-वग्ग ११०, १८८-१९०
निदान-वग्ग-संयुत्त ६८५
निदान-वग्ग-संयुत्त-अट्ठ कथा ६८५
निदान-संयुत्त ११०, १८४, १८८
निद्देस ९४, ११३, ११८, १२७, १३२, १३५, २२०, २२१, २२३, २२६, २२८, २२९, २३०, २३९, ३२६-३२७
निद्देस की टीका ५६३
निघिकण्ड-सुत्त २३३
निब्बाण-कथा ५७९
निमि (राजा) १७६, ३१३
निमि-जातक (५४१) ३२१, ३२५-३२६, ३३०
निमिराज-चरियं ३३०
निरय-वग्ग २४०, २४४, २४९
निरुत्ति-व्याख्य ६८८
निरुत्तिसारमंजूसा ('न्यास' की टीका) ६४६, देखिये 'शुद्धि-पत्र भी'।
निरुत्ति-संगह ६५६
निरुक्त ४९७
निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र — देखिये 'निगण्ठ नाटपुत्त'
निवाप-सुत्त १०४, १७२
निसन्देहो (ग्रन्थ) ६२०
निस्सग्गिय-कथा ५३४
निस्सग्गिय - पाचित्तिय कथा ५३४, ५३५
निस्सग्गिया पाचित्तिया (धम्मा) ९३, ३४३, ३४४, ३४८-३४९, ३५४
निस्सय (छन्दोमंजरी पर) ६६१; अभिधम्मत्थसंगह पर ५६४; सामान्यतः ५८०
नि:सर्गिक पातयन्तिक ३४३, ३४४, देखिये 'निस्सग्गिया पाचित्तिया'।
नेति - गन्थ (नेत्ति-गन्थो) ४९७, ६१७, देखिये 'नेत्ति-पकरण'।
नेत्तिपकरण (नेत्ति) १२१, २२३, ४९७-५०३, ५२५, ५७६, ५७९, ६४४, ६४५
नेत्तिपकरणगन्धि ६२०, देखिये 'नेत्ति-पकरण'।
नेत्तिपकरणट्ठ कथा (नेत्तिपकरण की अट्ठ कथा) ५६१, ५७७, ६१७
नेत्तिप्पकरणस्स अत्थसंवण्णना ५०३, ५६१
नेत्तित्थकथाय टीका ५६१

नेत्तिपकरण की टीका—सद्धम्मसिरि-कृत ५७६; ज्ञानाभिवंश (आणाभिवंस)-कृत ५७७
नेत्तिभावनी ५७६
नेरंजरा (नैरंजना, नदी) २०१, २५२, ३१३
न्यग्रोध (श्रामणेर, स्थविर) ६०९, ६६५-६६६, ६६९, ६७०
न्यग्रोधाराम २०१, २१३
न्याय-बिन्दु ६८८
न्याय-बिन्दु-टीका ६८८
न्याय-सूत्र १३९
न्याम (कच्चायन - व्याकरण पर) ६४६, ६५७, ६८६, देखिये 'मुखमत्तदीपनी' भी।
न्याम-प्रदीप ६४६
न्यूमन (के० ई०) २९६, ६७७

प

पकिण्णक-निकाय ६८७
पकिण्णक-निपात ३०६, ३०७
पकिण्णक-वग्ग २४०, २४४, २४८
पकुध कच्चायन — देखिये 'प्रक्रुध कात्यायन'।
पगान ३१७, ५६३, ५७२, ५७३, ५७५, ५७६, ५७७, ६४७, ६४९, ६५४, ६५५, ६५६, ६६१, ६६२, ६८०, ६८४
पंकधा २१९
पचोव (डब्ल्यू) ३४४, ३४६, ३५७
पच्चय - संगहो (पच्चय-संगह) ५७२, ६१८
पच्चयाकार-विभग ३७७, ४३१, ४४०
पच्चुप्पन्न-वत्थु ३०४, ३०५
पज्जमधु ५६२, ५७४, ६२५, ६३५-६३६, ६३९, ६४७
पंचगतिदीपन ५७५, ६२५, ६३७-६३८, ६३९
पंचतन्त्र ३२१
पंचत्तय-सुत्त १०७, १७८
पंचनेकायिक (पंचनेकायिका) ८३, ११५, २२५, ६८१
पंचकं ६१८
पंचक-निपात ११२, २०२, २०५, २२५, ३७७, ४७४
पंचनिपात-अंगुत्तर ६८५
पंचप्पकरणट्ठ कथा ५४३, ५५८-५५९, ५७०, ६८५
पंचप्पकरणट्ठ कथा की टीका ५७०
पंचपण्डित-जातक (५०८) ३०१
पंचशतिका ८५
पंचशाल (ब्राह्मण-ग्राम) १८५, २०१, ५२०
पंचादि - अंगुत्तर - अट्ठ कथा ६८६
पंचान (नदी) २३९
पंचाल १६४, २१९, ३१३
पंचालराज ३१३
पंचिक मोग्गल्लान ६८६
पंचिक मोग्गल्लान-टीका ६८६
पंचिका — देखिये 'मोग्गल्लान-पंचिका'।
पंचिका नाम अट्ठ योजना ५७९
पजाब १३०, ३१९
पञ्ञत्तिवादी (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५४, ४५५, ४५६
पञ्ञासामि (प्रज्ञास्वामी, बरमी भिक्षु) ६२१
पटाचारा २०८, २९१, २९३, २९४, २९५
पटिदेसनिया धम्मा ३४३, ३४४, ३५०, ३५४, ३५५
पटिदेसनिय-कथा ५३४-५३५
पटिपत्ति-सगह (पटिपत्ति-सगहो) ६२०, ६८७
पटिसम्भिदामग्ग (पटिसम्भिदा) ९४, ११३, ११८, ११९, १२७, १३२,

१३५, २२०, २२१, २२६, २३०, ३२७, ३९१, ६८६
पटिसम्भिदामग्ग - अट्ठकथा (पटिसम्भिदामग्ग की अट्ठकथा) ५६३, ६८६
पटिसम्भिदामग्ग - गण्ठिपद ६८६
पटिसम्भिदामग्ग - विभग ४३१, ४४४
पट्ठान (पकरण) १०२, ११९, १२८, ३७५, ३७६, ३७८, ३८१, ३८९, ४४०, ४८४-४९६, ५०२, ५७६
पट्ठानपकरणट्ठकथा (पट्ठान पकरण की अट्ठ कथा) ५५९, ५७०
पट्ठानगणनानय ५७३, ६१९
पट्ठान - दीपनी (पट्ठानसारदीपनी) ५७६
पट्ठानवण्णना ५७७
पठम परमत्थप्पकासिनी ५७०
पठम-राहुल-सुत्त १८९
पठम-सारत्थमजूसा ५७०
पठम-सवास-सुत्त २११
पण्डित-वग्ग २३९, २४१, २४६, २४८
पण्णवार (प्राचीन सिंहली अट्ठकथा) ५२८
पतिग-विवेक-टीका ६८८
पतजलि ३२१, ४३९, ४४३, ५५०
पद्मपुराण ६३८
पदमाला ६५५
पदरतित्थ (बदरतित्थ) ५६०
पदरूपविभावनं ६१८
पदरूपसिद्धि ६४७, देखिये 'रूपसिद्धि'।
पद-साधन ५६२, ६५१, ६५२
पदसाधन-टीका ६५२
पद-सोधन ६८७
पदावहामहाचक्क ६८७
पद्यचिन्तामणि ५५९
पधान-सुत्त २१२, २६४, २६५, २६९, ६७०
पन्या (बरमा में) ६४८, ६५६
पपंचसूदनी ५२७, ५४३, ५५३, ५७०, ६१७
पपंचसूदनी की टीका ५७०
पब्बज्जा-सुत्त २६४, २६५, २६९
पयाग (प्रयाग) ५९९
पयोगसिद्धि ५७३, ६३५, ६५२
परक्कम भुज भूपाल ६५१, ६५९
परमत्थजोतिका ५४३, ५५६
परमत्थदीपनी २, २७२, २९३, ५६१, ६१७
परमत्थदीपनी - टीका (लेदि सयदाव-कृत) ५७८
परमट्ठ क-सुत्त २६५
परमत्थकथा ६१७
परमत्थदीप ५६३
परमत्थबिन्दु पकरणं ६१९
परमत्थमजूसा ५६१, ६१७, ६१९
परमत्थविनिच्छय ५६३, ६१८, ६८६
परमराज ६०५
परविवेक (ग्रन्थ) ६८८
पराक्रमबाहु (प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ) १२१, ५६९, ५७३, ५७४, ६००, ६०१, ६१२, ६५१, ६५९
पराक्रमबाहु महास्थविर ६०६
पराभव-सुत्त २३५, २६४, २६५
परासव (ग्रन्थ) ६८७
परित्त (परित्ता) २३४-२३७, ५३८
परित्त - पाठ—देखिये 'परित्त'।
परित्तट्ठकथा ५३८, ५५९
परिब्बाजक-वग्ग १०६, १७५-१७६
परिवार (पाठ) ९४, १०१, ११९, १२८, १३२, ३३२, ३४१, ३५९-३६१, ५८६
पर्थिया ३६७
पलास-वन (नलकपान में) १७५
पश्चिमी एशिया ३२४, ३६७, ६६८
पसादजननी ६२०
पसूर (परिव्राजक) २६३

पसूर-सुत्त २६३, २६५
पसेनदि १८५, देखिये 'प्रसेनजित्'।
पहलवी ३२२, ३२४
पाकटवण्णना ३४२
पाचित्तिय (पाचित्तिया धम्मा) ९३, १०१, १२८, ३३२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४८, ३४९-३५०, ३५४, ३५५, ३५८, ६८५
पाचित्तियादि-अट्ठ कथा ६८५
पाचीनक ९२
पाटलिग्राम (पाटलिगाम) १६३
पाटलिगामियवग्गो २५०, २५५
पाटलिपुत्र ८, ९५, ९७, ९९, १८१, २०१, २१९, ३७२, ४५४, ४५७, ५१२, ५१३, ५९९
पाटलि-सुत्त १९९
पाटिक-वग्ग (पाथिक-वग्ग या पाथेय-वग्ग भी) १०२, १०३, १४९, १५०, १५१, १६५-१६८
पाटिक-सुत्त (पाथिक-सुत्त भी) १०३, १६५-१६६
पाटिमोक्ख — देखिये 'पातिमोक्ख'
पाठचरिय (ग्रन्थ, चरियापिटक?) ६८६
पाठेय्यक—देखिये 'पावेय्यक'।
पाण्ड्य ९७
पाण्डव (पर्वत) ३१३
पाणिनि (पाणिनीय व्याकरण, धातुपाठ आदि) ३०, ५४२, ६४२, ६४३, ६४५, ६५०, ६५१, ६५५, ६५७
पातिमोक्ख (पाटिमोक्ख भी) ११८, ११९, ३३२, ३५५-३५७, ५७१, ६७४, ६८९, देखिये 'प्रातिमोक्ष' भी।
पातिमोक्ख की अट्ठ कथा ५४३, ५५२
पातिमोक्ख-विसोधनी ५७३, ६१९
पातंजल (मत, योग, दर्शन) ४४३, ५३७, ५४१, ५५१
पाथिक-सुत्त—देखिये 'पाटिक-सुत्त'।
पाथेय्य ६८५
पाथेय्य-अट्ठकथा ६८५
पाथेय्य-टीका ६८५
पाप-वग्ग २४०, २४२, २४८
पायासि (राजन्य) १६५, २२९, २३०
पायासिराजञ्ञ-सुत्त (पायासि-सुत्त) १०३, १४७, १६५, ५२४
पायासि-वग्ग २७०
पाराजिक (पाराजिका धम्मा) ८५, १०१, ११६, १२८, ३३२, ३३५, ३४३, ३४४, ३४७, ३४८, ३५४, ३५५, ३५८, ३६५
पाराजिक-कथा ५३४, ५३५
पाराजिक-कण्ड ६८५
पाराजिककण्ड अट्ठ कथा ६८५
पाराजिककण्ड टीका ६८५
पारानिम्मय ६८८
पारायण-वग्ग (पारायण) ११८, ११९, १२७, २०४, २२९, २६५, २६६, २६८, ३२६
पारायण-सुत्त २६५
पार्जिटर ५८३
पारिच्छत्तक-वग्ग २७०
पारिलेय्यक (पालिलेय्यक भी, वन-खण्ड) १९७, २५४, ५५४, ५५५
पारुपण ३३८, ५७७, ६२१
पाल-तक्क (बाल-तर्क) ६८७
पालि टैक्स्ट् सोसायटी (सस्करण) १३, ९२, ९७, ११६, १८२, २०१, २०४, २२०, २३०, ३६८, ३७४, ३७७, ३८०, ३९४, ४२९, ४४५, ४५०, ४५४, ४८२, ४८४, ४८९, ५०२, ५३५, ५७३, ५७४, ५८०, ५८९, ६००, ६०४, ६०५, ६०६, ६२१, ६४३, ६४९, ६७५, ६९१
पालि डिक्शनरी (चाइल्डर्स) ३९४

पालि - इंगलिश डिक्शनरी (टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स तथा विलियम स्टीड—पालि टैक्स्ट् सोसायटी) १३
पालि तिपिटक—देखिये 'तिपिटक'।
पालि- प्रकाशन- मण्डल (बिहार राज्य) — देखिये 'श्री नालन्दा संस्करण'।
पालि, भाषा १-८१; साहित्य ८२-६९३
पालि लिटरेचर ऑव बरमा (श्रीमती मेबिल बोड) देखिये 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा'।
पालि लिटरेचर ऑव सिलोन (मलल-सेकर) — देखिये 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन'।
पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज (गायगर) १३, १८, २०, २४, २५, ५८, ८८, ९५, ९६, १३६, १५०, १८३, १८४, २९९, ३८०, ५०२, ५०७, ५०८, ५०९, ५११, ५२८, ५५६, ५५७, ५६२, ५७३-५७४, ५७८, ५८९, ५९०, ६००, ६०२, ६०५, ६०६, ६१२, ६१५, ६२८, ६३१, ६३५, ६३६, ६३७, ६३९, ६४८, ६४९, ६५०, ६५२, ६५३, ६५४, ६५६, ६५७, ६५८
पालिलेय्यक — देखिये 'पारिलेय्यक'।
पालि महाव्याकरण (भिक्षु जगदीश काश्यप) ४, ६, ७, १६, २८, ७८, १४४, २०९, ५४५, ६५०, ६५१, ६५३, ६५७, ६५८
पालि-मुत्तक-विनय संग्रह ५७०
पावा १६३, १६८, २६८, ६०९, ६११
पावेय्यक (पाठेय्यक) ९२
पासरासि-सुत्त —देखिये 'अरिय-परियेसन-सुत्त'।
पासादिक - सुत्त १०३, १६६-१६७, १९४
पासादिका-वण्णना ३४२
पिंगियमाणवपुच्छा २६५
पिटक (शब्द का अर्थ) १३८-१३९
पिटक-साहित्य १०१-१२०, १२३-४९६
पिटकत्तयलक्खण गन्ध (पिटकत्रय लक्षण ग्रन्थ) ५५९
पिटकत्थमेन् (बरमी ग्रन्थ) ५६३, ५७९
पिण्डपातपारिसुद्धि-सुत्त १०९, १८०
पिण्डोल भारद्वाज ५५४
पितनिक ९७
पियंकर-सुत्त २३८
पियजातिक-सुत्त १०७, १७६, १८२
पियजालि (स्थविर) ३७१
पियदसि (राजा) देखिये 'प्रियदर्शी'।
पियदस्सि (स्थविर) ३७१
पियदस्सी (पद-साधन के लेखक) ५६२, ६५१, ६५२
पियपाल (स्थविर) ३७१
पियवग्ग २४०, २४३, २४८
पिरित २३४, देखिये 'परित'।
पिरीरा (केसियस ए०) ३७६
पिलिन्द वात्स्यपुत्र २०७
पीटर ३६१
पुग्गलपञ्ञत्ति १०२, ११८, ११९, १२८, २०३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३८१, ३८९, ३९१, ३९२, ४५०-४५३, ४८४, ६८५
पुग्गलपञ्ञत्ति की अट्ठकथा (पुग्गल-पञ्ञत्तिपकरण - अट्ठकथा) १, ५५९, ५७०
पुण्णकमाणव पुच्छा २६५, २६६, २६७
पुण्ण मन्तानिपुत्त ५५४
पुण्णोवाद-सुत्त १०९, १८०
पुप्फ (फुस्स या पुस्स भी, स्थविर, श्रीलंका में विनय-धर) ३४१

पुप्फ-वग्ग २३९, २४१, २४६, २४८
पुनर्वसु (कीटागिरि का विनय-हीन भिक्षु) ३६२
पुप्फवती (पुष्पवती) ३१४
पुम्भरसारि ६८८
पुराण (भिक्षु) ९०, ९१
पुराण (-इतिहास) ५८३, ५८४, ५८७, ६३८
पुराण-टीका ६२०
पुराणाचार्य—देखिये 'पोराणाचरिय'।
पुराभेद-सुत्त २६५
पुरातत्व - निबन्धावली (राहुल सांकृत्यायन) ४५५, ४५८, ४५९
पुरुरवा-उर्वशी (संवाद) ३१७
पुरुष-सूक्त ५४१
पुलत्थिपुर ६५९, ६६०
पुलिन्द ९७
पुष्प—देखिये 'पुप्फ'
पुष्पपुर (पुप्फपुर) ५९९
पुष्यमित्र १३०
पुसें (लुई डे ला वेली) ९३, ३४०
पुस्स—देखिये 'पुप्फ'।
पुस्सदेव—देखिये 'फुस्सदेव'।
पूर्ण (स्थविर, बुद्ध-शिष्य) ८७, १८०
पूर्ण (सर्वास्तिवादी आचार्य) ३८९, ३९२
पूर्ण काश्यप (पूरण कस्सप) १५४, १८१, १९९, ५१०, ५१२
पूर्ण मैत्रायणीपुत्र २०७
पूर्ण मन्तानिपुत्र — देखिये 'पुण्ण मन्तानिपुत्त'।
पूर्णा (भिक्षुणी) २९३, २९४
पूर्णिका (भिक्षुणी) २९३, २९४, २९६
पूर्व-बुद्धघोष युग १२१, ४९७-५२५
पूर्वशैलीय (पुब्बसेलिय, बौद्ध सम्प्रदाय) ४५८, ४६२, ४६५, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७२, ४७३, ४७६, ४७८, ४७९, ४८०
पूर्वान्तकल्पिक (मिथ्या दृष्टियाँ) १५२
पूर्वाराम (विहार) १२०, १२५, १६६, २५२, २५५
पृथ्वीराज १६७
पृथ्वीराजरासो १६७
पेगू ५६३, ५७६, ६८०, ६८८, ६८९
पेटकालंकार ५७७
पेटकी ८३, ११५, ६८१
पेटकोपदेस १२१, १४३, २२३, ४९७, ४९८, ५०३-५०४, ५२५, ६१७, ६४४, ६४५, ६८६
पेटकोपदेस-अट्ठकथा ५७९
पेटकोपदेसस्स टीकं ६२०
पेतवत्थु ११३, ११८, ११९, १२७, १३२, २२०, २२१, २२३, २२५, २२६, २२९, २३०, २३३, २६९-२७१, २७२, ४६६, ५६१
पेतवत्थु (साट्ठकथं) ६८६
पेतवत्थुस्स (विमलविलासिनी नाम अट्ठ कथा ६१७
पैशाची (प्राकृत) १४, १६, ३०, ३३, ३६, ३७-३८, १२५, १३२, ३२१, ६०९, ६११, ६५३
पोइण्ट्स् ऑव कण्ट्रोवर्सी और सब्जैक्ट्स ऑव डिस्कोर्स (श्वे जैन ओंग् और श्रीमती रायस डेविड्स्) ४५४
पोक्खरसाति (पोक्खरसादि भी)—देखिये 'पौष्करसाति'।
पोट्ठपाद (परिव्राजक) १५९
पोट्ठपाद-सुत्त १०२, १४३, १४४, १४५, १४६, १५९, १९५
पोतन (पोतलि) १६४, ३१३
पोतलिय (गृहपति) १७३
पोतलिय-सुत्त १०५, १४५, १७३
पोप सिक्सटस (पंचम) ३२५
पोराण (पोराणा) १७१
पोराण-अट्ठ कथा १, ५२६-५३०, देखिये 'प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ' भी।

पोराणा (पोराणकत्थेरा) ५२९, ५३०
पोराण-खुद्दकसिक्खा-टीका ५७१, देखिये 'खुद्दकसिक्खा - टीका (पोराण)' भी।
पोराण - टीका (अभिधम्मत्थसगह पर) ५६९
पोराणाचरिय (पोराणाचरिया) ५२५, ५२८, ६१६
पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इण्डिया (हेमचन्द्र रायचौधरी) १९९, ३१८, ३१९, ३२०, ५०५
पोलोन्नरुवा ५६३, ६५९, ६६०
पोसालमाणबपुच्छा २६५
पोष्करसाति (पोक्खरसाति, पोक्खरसादि) १५६
प्यू (जाति) ३६६, ६८४
प्रकरण पाद १२८, ३८८, ३८९, ३९१
प्रक्रुध कात्यायन (पकुध कच्चायन) १५४, १५५, १९९, ५१२
प्रज्ञप्तिपाद (शास्त्र) १२८, ३८९, ३९२
प्रज्ञप्तिवादी (बौद्ध सम्प्रदाय)—देखिये 'पञ्ञत्तिवादी'।
प्रद्योत (पज्जोत) १७८
प्रयाग ६७९
प्रवाहण जैवलि ५२४
प्रश्न-उपनिषद् १७७, १९९, ३१८
प्रमाद (जयशकर) ८१
प्रसेनजित् (पसेनदि) १३४, १७७, १८५, १९३, २०१, २१८, २१९, २५२, २५४,
प्राकृत (भाषा, भाषाएँ) १२, १४, १५, १६-३९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ८०, १२५, १३२, ६५३
प्राकृतत्व (या प्राकृत-तत्व या प्राकृतपन—पालि में पाये जाने वाले) ३३-३४, ६३-६८
प्राकृत धम्मपद २४५-२४७
प्राकृत-प्रकाश (वररुचि-कृत) ३३
प्राचीन सिंहली अट्ठ कथाएँ ५२६-५३०
प्राच्या (प्राकृत, बोली) ३३, १२३, १२४
प्रातिमोक्ष १७०, ३३५, ३४४, ३४५, ३५५-३५७, ३६७, ५७१, देखिये 'पातिमोक्ख' भी।
प्रातिमोक्ष-सूत्र ३४४
प्रातिमोक्षसूत्र-टीका ३४४
प्रायश्चित्तिकम् १२८
प्रावारिक आम्रवन १६०, १६६
प्रिण्डो- टीका (वृन्द-आयुर्वेदीय ग्रन्थ ?) ६८७
प्रिण्डो - निस्सय (पिण्डो-निस्सय) ६८८
प्रियदर्शी (राजा, पियदसि, अशोक) ६६४, ६६५, ६६८, ६६९, ६७४
प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया (रतिलाल मेहता) २९९
प्रोम (बरमा) ५७७, ६४२, ६८०, ६८२, ६८३, ६८४
प्लेटो १४७, १४८, ४८६, ५०५, ५२३
प्लेमोडस (सन्त) ३२४

फ

फ-ख्यू-किङ् २४७, २४८
फन्दन-जातक (४७५) ३१४
फारसी ३२३
फा-ह्यान २२७, ३०२
फॉमबाल (बी०) २९८, ३०५
फियर (एम० लियॉन) १८२, ६३७
फिलिस्तीन ३६७
फीरोजशाह तुगलक ६६३, ६६४
फुस्स—देखिये 'पुष्फ'।
फुस्सदेव (पुस्सदेव भी, श्रीलका में विनय-धर) ३४१
फ्रैंक (आर० ओ०) १३, १५, ९५,

१३३, १४९, १६९, ३४०, ५८६, ६५०, ६५४
पलीट (जे० एफ०) ५९०

ब

बक-जातक (३८) ३०९
बक्कुल (स्थविर, बुद्ध-शिष्य) १७९, २०७
बक्कुल-सुत्त १०८, १७९
बंकाक ५३५, ५७९, ६९१
बंग-प्रदेश (बंगाल) ५८७, देखिये 'वंग' भी।
बट्टक-जातक ३१६
बड़ुआ (अरविन्द) ५०४
बड़ुआ (डी० एल०) ३२९
बड़ुआ (वेणीमाधव) ३८, २४५, २४६, ३९१, ६७३, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६८०, ६८१
बड़ेकर (आर० डी०) ३३२, ३९३, ५०४
बनर्जी (अनुकूल चन्द्र) ३४४, ३८९
बरमा (बरमी परम्परा, साहित्य, भिक्षु-संघ, इतिहास आदि भी) ११, ९८, १००, १०१, १२२, २०१, २२३, २३४, २३८, २९९, ३००, ३१५, ३१७, ३२२, ३३८, ३६५, ३६६, ३९४, ४३०, ४४५, ४५४, ४८४, ५०३, ५०४, ५२३, ५२५, ५३५, ५३९, ५४०, ५४२, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६८, ५६९, ५७१, ५७२, ५७४, ५७५, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५९४, ६०२, ६०३, ६०५, ६२५, ६३४, ६३९, ६४१, ६४४, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५४, ६५५, ६५७, ६५९, ६६६, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१
बरमी विहार (सारनाथ) २५९
बराबर (पहाड़ी, गया के पास, उत्तर में) ६६४
बलदेव ३२७
बलदेववत्तिका ३२६-३२७
बरलाम ३२३, ३२४
बरलाम एण्ड जोसफत — देखिये जोसफत एण्ड बरलाम।
बरित्तरत्नाकर (वृत्तरत्नाकर) ६८८
बल-सयुत्त ११२, १९५
बहुधातुक-सुत्त १०८, १७९
बहुवेदनीय-सुत्त १०६, १७४
बाण ५२३
बापट (पी० वी०) २५९, ३८५, ३९३, ५५२
बायबिल ३२४
बारह धर्म-प्रवचन — देखिये 'धर्म-प्रवचन'।
बार्थ (ए०) ९५, १३३, १३६
बालत्तजन ६८७
बालपण्डित-सुत्त १०९, १७९
बालप्पबोधन (व्याकरण) ६२०, ६४९ ६८७
बालप्पबोधनपुत्ति (वृत्ति)-करण ६८७
बाल-वग्ग २३९, २४१, २४६, २४८
बालावतार (व्याकरण) ६०५, ६१८, ६४७-६४८, ६५२, ६५७, ६८६
बालावतार-टीकं ६१९
बालाववोधन (व्याकरण) ५६९
बावरि (ब्राह्मण) १८५, २६६, २६८
बावेरु (राष्ट्र) ३१०
बावेरु-जातक (३३९) ३१०, ३१५, ३२२
बाहरी मंगोलिया ३६७
बाहित (राष्ट्र, देश) १७७, १८२
बाहितिक-सुत्त (बाहितिय-सुत्त भी) १०७, १३४, १७६, १८२, २१८
बाहिय दारुचीरिय २०७
बाहिर-कथा ५०८, ५११

बाहुलिक (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५४, ४५५
बाहुश्रुतिक बौद्ध सम्प्रदाय)—देखिये 'बाहुलिक'।
बिगेण्डेट (पी०, बिशप) ६४२
बिनि-मो-रोन् ३४२
बिम्बिसार १२०, १५७, २५२, ३१४, ३१९, ३५७, ३५९, ५९७, ५९८
बिळारवत - जातक (बिळार-जातक भी—संख्या १२८) ३०९, ३१०
बिहार (राज्य) २३९, ६६३, ६६४
बीजरूयं ६८७
बुद्ध (गौतम, भगवान्, उनका धर्म, जीवनी, शासन, उपदेश, वचन, काल, शिष्य, संवाद, युग आदि) —इस पुस्तक में प्रायः सर्वत्र व्याप्त।
बुद्धकालीन भारतीय भूगोल (भरत-सिंह उपाध्याय) ५५४
बुद्ध-गया (बोध-गया) ३१७, ५३९
बुद्धघोष (आचार्य, अट्ठकथाकार) १, २, ३, ४, ६, ७, १०, ११, २३, २४, २५, ७९, ८६, ९०, ९१, ९५, ९७, ११६, १२१, १२२, १३४, १३६, १३८, ३४२, ३६०, ३६४, ३६८, ३७०, ३७१, ३७६, ३८१, ३८५, ४५९, ४९७, ५०४, ५०६, ५०७, ५०९, ५११, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६-५६०, ५६१, ५६२, ५६४, ५६८, ५७०, ५७१, ५७५ ५७६, ५८०, ५८५, ६०२, ६०३, ६०४, ६१६, ६१७, ६२६, ६२७, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५
बुद्धघोष-युग १२१, ५२६-५६८, ५८४
बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग १२१-१२२, ५६९-५८२
बुद्धघोष-विहार ५४२
बुद्धघोसुप्पत्ति ५०६, ५३२, ५३३, ५३६, ५३७, ५४१, ५४२, ५७५, ५८४, ६०२-६०४, ६५६
बुद्ध-चरित (अश्वघोष-कृत) ३२५, ६३३
बुद्ध-चरित (हिन्दी काव्य, रामचन्द्र शुक्ल-कृत) ८१
बुद्ध-चर्या (राहुल सांकृत्यायन) ८४, ९०, ११९, १२०, १४९, २३६, २६८, ५५५
बुद्धदत्त (अट्ठकथाकार) १२१, ३३८, ४९७, ५२९, ५३२-५३६, ५६०, ५६१, ५६४, ५७१, ५७२, ६०३, ६१६, ६१७, ६३२, ६४२
बुद्धदत्त (ए० पी०, महाथेर) ५३३, ५३५, ५८०
बुद्धदेव (स्थविर) ३०८
बुद्धनाग (सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य) ५७०, ५७१, ६१८
बुद्धप्पिय (दीपंकर; रूपसिद्धि और पज्जमधु के लेखक) ५६२, ५७४, ६३६, ६३७, ६३९, ६४७, देखिये 'चोळिय दीपंकर' भी।
बुद्धप्पिय (सारत्थसंगह के लेखक) ६२०
बुद्धमित्त (स्थविर) ३०८, ५४०, ५५३
बुद्धयशस् (बोधियशस्) १२६, ३९१
बुद्धरक्षित (श्रीलंका में विनय-धर) ३४१
बुद्धरक्षित (जिनालंकार के रचयिता, सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य) ५७०, ५७३, ६३२
बुद्धरक्षित (चूलवंस के द्वितीय लेखक) ६०१
बुलेटिन डि ल इकोल फांसेज़ डे एक्स्ट्रीम-ऑरियण्ट ५८०
बुद्ध-वग्ग २४०, २४२-२४३, २४८
बुद्ध-विहार (लखनऊ) ५६४
बुद्धवंस (तिपिटक का अंगभूत ग्रन्थ)

११३, ११८, ११९, १२८, २२०, २२१, २२३, २२६, २२८, २२९, २३०, ३०४, ३२८, ५६१, ५८४, ५८६, ६२५
बुद्धवंस (कस्सप-विरचित) ६१८
बुद्धवंस-अट्ठकथा ५३४, ५३६, ५६१, ६८६
बुद्धश्री (बुद्धसिरि) ५५२
बुद्धसोम (ब्रह्मचारी) ६३७
बुद्धालंकार ५७६, ६२५, ६४१
बुद्धिज्म : इट्स् हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर (टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स्) —देखिये 'दि हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑव बुद्धिज्म'।
बुद्धिप्पसादिनी ६५२
'बुद्धिस्ट इण्डिया' (टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स्) १३, ११५, ११८, २२५, २२८, २९९, ३०३, ३०८, ३२०, ५८६, ५९७, ६७४
'बुद्धिस्ट टैक्स्ट्स् ऐज रिकमण्डेड बाई अशोक' (विधुशेखर भट्टाचार्य) ६७५, ६७६
बुद्धिस्ट फिलॉसफी (कीथ) १३८
बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज '(टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स्, श्रीमती रायस डेविड्स् द्वारा सम्पादित) २९८, ३०८, ३२३, ३२५, ३२६, ५५७
बुद्धिस्ट साइकोलोजी (श्रीमती रायस डेविड्स्) ३८५, ५३५
बुद्धिस्टिक स्टडीज (लाहा-सम्पादित) ४, ८, १३, १६, १७, २०, २५, २६, २८, ३१, ८८, ९०, ९१, ९३, ९८, १३०, ३२३, ४५७, ४८१
बुलिय ६०९
बृहत्कथा ३२१
बृहज्जातक ६८७
बृहज्जातक-टीका ६८७
बृहज्जातक-निस्सय ६८८
बृहदारण्यक-उपनिषद् (बृहदारण्यक०) ३१७, ५२४, ५८३
बेन्फे ६२६
बेलुव—देखिये 'वेलुव'।
बैक्ट्रिया ९८, ९९, ५२५
बोज्झग-विभंग ४३१, ४४१
बोज्झंग-सुत्त २३५
बोज्झंग-सयुत्त १११, १९४
बोड (मेबिल हेन्स, श्रीमती) ११, २२३, २३४, ३३८, ५०३, ५३३, ५६२, ५६३, ५७८, ५८२, ५८९, ६०२, ६०४, ६२१, ६३९, ६४१, ६४२, ६४६, ६४७, ६४९, ६५४, ६५५, ६५६, ६८८
बोदोपया (बुद्धप्रिय, बरमी राजा) ६४१
बोधिधर्म ४७५
बोधियशस्—देखिये 'बुद्धयशस्'।
बोधिराजकुमार ५५६
बोधिराजकुमार-सुत्त १०७, १७६, १८२
बोधिवंस ६०५, ६२०, ६८६, देखिये 'महाबोधिवस' भी।
बोधिवंसत्थकथा ६०६
बोधि-वग्ग २५०, २५१, ४८६
बोधि-वृक्ष ५८८, ६१०
'बोधि-वृक्ष की छाया में' (भरतसिंह उपाध्याय) २८०
बोधिसत्व (बोधिसत्त, आदर्श) २९८-३००, ३०१, ३०४, ३०८, ३१७, ३२४, ३२५, ६८२
बोधिसत्त (व्याकरण) ६४४
बोबोगी पेगोडा (बरमा में) ६६२, ६८०, ६८४
बोरोबदूर (स्तूप, जावा में) ३१७
बौद्ध संस्कृत १२५, १३९, ३०२, ५५२, ६२३
ब्रह्म (-देश) ८०, देखिये 'बरमा' भी।

ब्रह्मगिरि ६६४, ६७३
ब्रह्मजाल-सुत्त ४, १०२, १५१-१५४, ३०२
ब्रह्मदत्त (राजा) ३००, ३२१
ब्रह्मदत्त (कच्चान-व्याकरण के 'पयोग' के लेखक) ६४६
ब्रह्मदत्त-जातक (३२३) ३१३
ब्रह्मनिमन्तनिक-सुत्त १०५, १७३
ब्रह्मवड्ढन (नगर) ३१४
ब्रह्मवती ६२६
ब्रह्म-सूत्र १३९
ब्रह्मा १५६, १६१, १७८, १८६, २७७
ब्रह्मा-सयुत्त ११०, १८६
ब्रह्माण्ड-पुराण ६३८
ब्रह्मायु (ब्राह्मण) १७७, १८१
ब्रह्मायु-सुत्त १०७, १६७, १७७, १८२
ब्राह्मण-ग्रन्थ १२, ३०, ५८३, ६३८
ब्राह्मणधम्मिक-सुत्त २६५
ब्राह्मणधम्मिय-सुत्त—देखिये 'ब्राह्मण-धम्मिक-सुत्त'।
ब्राह्मण-वग्ग १०७, १७७-१७८, १८१, २४०, २४४-२४५, २४६, २४९
ब्राह्मण-संयुत्त ११०, १८६

भ

'भगवान् बुद्ध' (धर्मानन्द कोसम्बी) ६७५, ६७६
भग्ग (भर्ग, राज्य) १८१, ३१४, ५५४
भट्टाचार्य (विधुशेखर) ७, ५०४, ६७५, ६७६
भण्डगाम १६३, २१९
भड़ौंच ५२५
भदन्त (स्थविर) ५५४
भद्रकल्प (पूर्ववर्ती बुद्ध) १६२
भद्रयानिक (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५५, ४५६, ४५८, ४६३, ४८०
भद्रा (भिक्षुणी) २९४
भद्रा कात्यायनी (भिक्षुणी) २०८
भद्रा कापिलायिनी (भिक्षुणी) २०८, २९३, २९४
भद्रा कुण्डलकेशा (भिक्षुणी) २०८, २९३, २९४
भद्दजि ३७१
भद्दनाम (स्थविर) — देखिये 'भद्दसाल'।
भद्दसाल (भद्रशाल, स्थविर, महेन्द्र के साथी भिक्षु, 'भद्दनाम' भी) ९८, ३४१, ३७१, ५९४, ६०५, ६१०
भद्दसाल-जातक ३१४
भद्दालि-सुत्त १०६, १७५
भद्रावुधमाणव पुच्छा २६५
भद्दिय (स्थविर) २७६, ३५७
भद्दिय कालिगोधापुत्र २०७
भद्देकरत्त-सुत्त १०९, १७९, ४२९
भयभेरव-सुत्त १०३, १४४, १६९-१७०, १९५, २९९
भरण्डु (कालाम) २०९
भरण्डु-सुत्त २०९
भरत (मुनि) ३३
भरहुत (स्तूप) ११५, २२५, २२८, ३०३, ३०७, ३१७, ६१०, ६६२, ६८०, ६८१-६८२
'भरहुत इन्स्क्रिप्शन्स' (बड़ुआ और सिंह) ६८१
भरुकच्छ ३१५, ५२५, ५८७, ५९९
भर्तृहरि ६३०
भल्लिक २०८, ३३३, ३५७
भव्य (आचार्य) ४५७, ४८१, देखिये 'भावविवेक'।
भागवत (श्रीमद्भागवत, पुराण) १८७, ३१७, ५८४
भागवत (एन० के०) १४९, १६८, २७१, ३३२
भागवत-धर्म ३१६-३१७
भागीरथी (गंगा) ३१६
भाण्डारकर (डी० आर०) ९५, ६७५

भाण्डारकर (आर० जी०) १७
भाण्डारकर ओरियण्टल सीरीज (पूना) ३३२
भाण्डारकर (आर० जी०) कमेमोरेशन वोल्यूम १७
भाणक ८३, ११५, ६८१
भाब्रू (अभिलेख) ४, ६, ११५, १७४, २५९, ६६३, ६६४, ६६६, ६७३-६७८
भारत (भारतवर्ष) १०१, ११७, १२२, १६४, ३१२, ३६५, ३७१, ५०६, ५१३, ५२३, ५२४, ५२८, ५३२, ५३८, ५३९, ५९४, ५९८, ६०५, ६१०, ६११, ६१४, ६१६, ६२६, ६४०, ६५८, ६५९, ६६०, ६६७, ६६८, ६९०, ६९१, ६९२
भारद्वाज (स्थविर) २७९
भारद्वाज (ब्राह्मण) १६०, १६६, १७७, १८१, १८६, १९९, २००
भारद्वाज (मन्त्रकर्ता ऋषि) १६१, ३१८
भावविवेक ४५७, ४८१, देखिये 'भव्य' भी।
भिक्खु - पातिमोक्ख १७१, ३५५
भिक्खुनी-पातिमोक्ख ३५५
भिक्खु-वग्ग १०६, १७४-१७५, २४०, २४४, २४६, २४९
भिक्खु-विनय २११
भिक्खु-विभग (भिक्षु-विभंग) १२८, ३५४-३५५, ५३४, देखिये 'महाविभंग' भी।
भिक्खुनी - विभंग (भिक्षुणी-विभंग) १२८, ३५४-३५५, ५३४, ५३५, ६८५
भिक्खु-संयुत्त ११०, १८३, १९०, १९७, ३३७
भिक्खुणी - संयुत्त (भिक्खुनी-संयुत्त) ११०, १४६, १४७, १८६, २९७
भिक्षु-प्रकीर्णक ३४४
भिस-जातक (४८८) ३३०, ६८४
भीस-चरियं ३३०
भुवनेकबाहु (प्रथम, द्वितीय, तृतीय) ६०१, ६३४, ६३५, ६५२
भूमिज-सुत्त १०८
भूरिदत्त-चरियं ३३०
भूरिदत्त-जातक (५४३) ३३०, ५७६
भृगु (मन्त्रकर्ता ऋषि) १६१, ३१८
भेसकलावन २०१, ५५४
भेसज्जमंजूसा ६८८
भोगनगर २६८
भोज (जाति) ९७
भोजाजानीय-जातक (२३) ३००

म

मक-सोगि-रित्सु ३४१, ३६६
मक्कट-जातक (१७३) ३०९
मक्खलि गोसाल १५४, १८१, १९९, ५१०, ५१२
मखादेव (मिथिला का राजा) १७६
मखादेव-जातक (९) ३०९, ६८२
मखादेव-सुत्त ८९, १०७, १७६, ३०१
मग (यवन राजा) ९९
मगध ४, ७, १०, ११, १२, १४, १५, १६, १७, १९, २२, २५, २७, ३०, १५४, १५७, १८१, २०१, २१९, २६१, २७१, २७७, २८८, २९४, ३१३, ३१४, ३१५, ५५३, ५९९, ६०९
मगध-भाषा १०, १९, २८, ३७, १२१, देखिये 'मागधी' भी।
मगधभूताविदग्गं ६१९
मग्ग-वग्ग २४०, २४३-२४४, २४५, २४८
मग्ग-विभंग ४३१, ४४२
मग्ग-संयुत्त १११, १९४, १९७
मंकुल (पर्वत) ५५४, ५५५

मंकुलकाराम ५९७
मंगल (वेदेह थेर के गुरु, सिंहली भिक्षु) ६०२
मंगल (गन्धट्ठि के लेखक, बरमी भिक्षु) ६०२, ६५५, ६५६
मंगल-दीपनी (मंगलत्थदीपनी) ५७६
मंगल-सुत्त २३२, २३३, ५७६
मंगोलिया ३६५, ३६६, ६९१
मच्छ (मत्स्य, जनपद) १६४, २१९
मच्छ-जातक (३४) ३००, ३०१
मच्छराजचरियं ३३१
मच्छिकासण्ड २०८
मजूमदार (रमेशचन्द्र) ९०, ९३
मजूमदार (सुरेन्द्रनाथ) ९५
मचूरिया ३६६
मज्झन्तिक (स्थविर) ९८, ५९४, ६०४, ६०९
मज्झिम (स्थविर) ९८, ५९४, ६०४, ६०९, ६२२
मज्झिम-निकाय (मज्झिम०) २७, ८९, ९६, १०१, १०३-१०९, १०१, १०३-१०९, ११६, ११८, ११९, १२०, १२६, १३२, १३८, १४३, १४४, १४५, १४८, १६४, १६५, १६७, १६८-१८२, १९०, १९३, १९४, १९५, २०४, २०५, २०६, २१२, २१८, २२१, २२२, २३३, २३४, २९९, ३०१, ३१८, ३३४, ३३६, ३५२, ३५६, ३६२, ३६८, ३७४, ४२९-४३०, ४४०, ४४१, ४४२, ४६३, ४८७, ५०६-५०७, ५२७, ५३०, ५३९, ५४०, ६०४, ६७५, ६७७
मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा ५४३, ५४४, ५५३, ५७०
मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा की टीका ५७०
मज्झिम-पण्णासक (मज्झिम पण्णास) १६८, ६८५
मज्झिम-भाणक २२१, २२५
मज्झिम पण्णास-अट्ठकथा ६८५
मज्झिम पण्णास-टीका ६८५
मज्झिमेसु पदेसु २२
मंजूसाटीका-व्याख्यं ६८७
मंजेट्ठ-वग्ग २७०
मणिकण्ठ-जातक (२५३) ३०१
मणिदीप (मणिदीपं) ५७६, ६१९
मणिसार मंजूसा (मणिसारमंजूस) ५७२, ५७६, ६१९
मत्थपयोग ६८७
मत्स्य (राज्य, जनपद) —देखिये 'मच्छ'।
मत्स्य-पुराण ३२१, ५८४
मथुरा ३८, १३४, १७६, २११, २१९, ५०६, ५२५, ५९९, देखिये 'मधुरा' भी।
मद्र (मद्द) ३१९, ५९९
मधुपिण्डिक-सुत्त १०४, १७१, ३७०, ५०३
मधुरत्थविलासिनी (मधुरत्थ-पकासिनी भी) ५३४, ५३५, ५३६, ५५४, ५६१, ६१७
मधुरसवाहिनी ६१९, ६४१
मधुर-सुत्त १०७, १२०, १३२, १३४, १७६
मधुरा (मथुरा) ३८, १३४, १७६, २११, २१९, ५९९
मधुरार्थ प्रकाशिनी ६०६
मधुरा-सुत्त—देखिये 'मधुर-सुत्त'।
मध्य-एशिया १३०, २४७, २६८, ६९१
मध्य-देश १३, ७९, १२३, १२४, ३०३, ३१२, ५१२
मध्यम (स्थविर)—देखिये 'मज्झिम'।
मध्य-मण्डल १९, २२, २५, ३२, ३५,

३७, ३६५, ३७२, ५९६, ६५८, ६९१
मध्यमागम १२६, १५०
मनसाकट (ग्राम, कोसल में) १६०
मनमेहरा १८, २८, २४६, ६६३, ६७२, ६७३
मनाचे श्लोक २७७
मनु ३६६, ५८१
मनु-धम्मसत्थ ५८१
मनुवण्णना ५८१
मनुसार ५८१
मनुस्मृति २४५, ५८१
मनोरथपूरणी ३६९, ५२७, ५४३, ५५४-५५५, ५७०, ६१७
मनोरथपूरणी की टीका ५७०
मनोहारं ६१९
मन्दाक्रान्ता (छन्द) ६१३
मज्झा (बरमा में) ६६२, ६८०, ६८४
मयूररूपपट्टन (मयूरसुत्तपट्टन) ५४०
मराठी १२
मरिचवट्टि विहार ५९५, ६११
मर्चेण्ट ऑव वेनिस ३२५
मर्तबान ६३९
मलल्सेकर (जी० पी०) १८४, ३१९, ५२५, ५५७, ५६२, ५६३, ५६४, ५७२, ५७३, ५७४, ५८५, ६०२, ६०५, ६०६, ६१२, ६१३, ६२७, ६२८, ६३२, ६३५, ६३६, ६३७, ६३९, ६४०, ६४१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५७, ६५९
मल-वग्ग २४०, २४३, २४८
मलाया ३१५
मलिक मुहम्मद जायसी २५५
मल्ल (राष्ट्र, जाति) १६४, १६८, २०१, २१९, ३१४, ५९९, ६०९
मसूदा (जिर्यो) ४८१
महा-अग्गपण्डित—देखिये 'अग्ग-पण्डित'।
महा-अट्ठकथा (महा-अतुवव) ५२७, ५२८, ५८५
महा-अरियवंस-सुत्त ६७६
महा-अस्सपुर-सुत्त १०५, १४४, १७३, १९५
महा-उम्मग्ग-जातक (५४६) ३०१, ३११, ३१५, ६८१
महा-कच्चान (महाकच्चायन— बुद्ध शिष्य)—देखिये 'महाकात्यायन।'
महा-कच्चान-भद्देकरत्त-सुत्त १०९, १८०
महाकण्ह-जातक (४६९) ३२१
महाकपि-जातक (५१६) ३२३, ६८२
महा-कप्पिन २०७
महाकम्मविभग-सुत्त १०९, १८०
महा-कस्सप (बुद्ध-शिष्य) — देखिये 'महाकाश्यप'।
महा-कस्सप (सिंहली भिक्षु, बारहवीं शताब्दी, उदुम्बरगिरिवासी, अभिधम्मत्थसगह पर 'पोराण' टीका के लेखक) ५६९
महा-कस्सप (बरमी भिक्षु, सत्रहवीं शताब्दी, 'अभिधम्मत्थ-गण्ठिपद' के लेखक) ५७७
महाकस्सपत्थेर-बोज्झग-सुत्त २३५
महा-कात्यायन (महाकच्चायन, बुद्ध-शिष्य) ८७, १३४, १५१, १७१, १७६, २०७, २३४, २५५, ५०२, ५०३, ५०४, ५२९, ५३०, ५५४, ६१७, ६४४, ६४५
महाकाश्यप (बुद्ध-शिष्य) ८५, ८६, ८७, १८९, २०७, २२२, २३४, २८७, ३४०, ३५८, ३६१, ३७४, ५५६, ५८७, ६०९
महाकालचक्क ६८८
महाकालचक्क-टीका ६८८
महा-कोट्ठित (बुद्ध-शिष्य) ८७, १३५, २०७, ५३०
महाकोसल ३१४

महा-कौष्ठिल (सर्वास्तिवादी आचार्य) ३८९
महागण ६८७
महागोड सिरि आणिस्सर ५७९
महा-गोपालक-सुत्त १०५, १७२
महागोविन्द (ब्राह्मण) १६४
महागोविन्द-चरिय ३२९
महागोविन्द-जातक ३०१
महागोविन्द-सुत्त १०३, १६४, २२८, ३०१, ३२९
महागोसिंग-सुत्त १०५, १७२, ३६८
महा-चत्तारीसक-सुत्त १०८, १७९
महाचन्दत्थेर-बोज्झंग-सुत्त २३५
महाचैत्य ४५४
महाजनक-जातक (५३९) ३१४, ३२०, ६८२
महाजनपद (सोलह) २१९, ३१३
महा-जेतवन (श्री लंका में) ६५९, ६६०
महा-टीका (महा टीकं) ५६१, ६१९
महा-तण्हा-सखय-सुत्त १०५, १७२
महाथूप (महास्तूप) ५८८, ५९५, ५९६, ५९७, ६०७, ६११
महाथेर-टीका ६८६
महा-दुक्खक्खन्ध-सुत्त १०४, १७१,
महादेव (स्थविर) ९८, ५९४, ६०४, ६०९
महा-धम्म-समादान-सुत्त १०५ १७३
महा-धर्मरक्षित (स्थविर) ९८, ५९४ ६०४, ६०९, ६२२
महानगरराष्ट्र (महानगर रट्ठ, सियाम) ६२२
महानन्द—देखिये 'महानाम'।
महानाग (स्थविर, श्री लंका में विनय-धर) ३४१
महानाग (ग्रन्थ) ६८७
महानाम (पंचवर्गीय भिक्षुओं में एक) ३५७
महानाम (शाक्य) २०८, २०९, २१२
महानाम (लंकाधिपति) ५३८, ५३९
महानाम (महावंस के रचयिता) ५९१, ६००, ६१८
महानाम (द्वितीय, महावंस-टीका के लेखक) ५७४
महानाम (नव महानाम—सद्धम्म-प्पकासिनी के लेखक) ५६२, ५६३, ६१८
महानाम (महानन्द भी, मधुसारत्थ-दीपनी के लेखक, सासनवंस के अनुसार) ५६३, ५७६
महानाम-सुत्त (पठम और दुतिय) २१२
महानारदकस्सप-जातक (५४४) ३१२, ३२१
महानिदान-सुत्त १०२, १६२, १८८, ४८६, ४८७
महा-निद्देस ११९, २२१, ३२६, ३२७, ६८६
महानिरुत्तिगन्धो (महानिरुत्तिगन्ध) ६१७, ६४६
महानिस्सर ६१९
महापच्चरी (महा पच्चरिय, महा पच्चरिय अनुवव) ५२७, ५२८, ५८५, ६१६, ६२०
महा पजापती गोतमी (महा प्रजावती गौतमी) १८६, २०८, २१३, २१४, २९०, २९३, २९४, ३५८, ५५४
महापदान-सुत्त १०२, १६२, २२८
महापधान (भवन, महाविहार में) ५३८, ५६०
महा पन्थक २०७
महा परित्त—देखिये 'परित्त'।
महापरिनिब्बाण-सुत्त (महा परिनिब्बान-सुत्त भी) ८३, ८५, ८७, ८८, ८९, ९२, १०२, १२५, १३२,

१३६, १३७, १४७, १५१, १६२-१६३, २५०, २५५, ३३६, ५०६, ६०७, ६०९, ६७०
महापरिनिर्वाण-सूत्र (चीनी) १३९
महापिंगल-जातक (२४०) ३१०, ३११
महापुण्णम-सुत्त १०८, १२०, १७८
महापुरुष-लक्षण (बत्तीस) १४४, १६७, १७७
महाप्रजावती गौतमी—देखिये 'महापजापती गोतमी'।
महाबुद्धघोसस्स निदानवत्थु ५३६-५३७, ६०४, देखिये 'बुद्धघोसुप्पत्ति'।
महाबोधि (जर्नल)—देखिये 'दि महाबोधि'।
महाबोधि-ग्रहण ५९४
महाबोधि-वंस ८६, ५८४, ६०५-६०६, ६०९, ६२८
महाबोधिवंस-कथा ६०६
महाबोधि सभा (प्रकाशन) १६८, १८२, २०२, २४९, २५५-२५६, २५९, २७२, ३८५, ५४४, ५६४, ६२८
महाभारत १४५, १४६, १६४, १८७, १८८, २४५, २६४, ३१४, ३१९, ३२०, ३२१, ५८४, ६२९, ६३३, ६८०
महाभाष्य ३२१
महामाया ३६९
महामंगल (सिंहली भिक्षु, बुद्धघोसुप्पत्ति के लेखक) ५३७, ५७५, ६०२, ६०३, ६५६
महामंगल-सुत्त २३३, २३४, २६५, ६७८
महामालुक्य-सुत्त १०६, १७५
महामेघवण्णाराम ५९९
महामोग्गल्लान—देखिये 'महामौद्गल्यायन।'
महामोग्गल्लानत्थेर-बोज्झंग-सुत्त २३५
महामौद्गल्यायन (महामोग्गल्लान, बुद्ध-शिष्य) १४०, १५१, १७०, १७१, १९०, १९३, १९४, १९८, २०७, २३४, २५३, २७५, ३५८
महायमक-वग्ग १०५, १७२-१७३
महायम (कच्चायन-भेद और कच्चायन-सार के रचयिता, बरमी भिक्षु) ५७१, ६४८, ६४९
महायान (बौद्ध धर्म, उसकी परम्परा, साहित्य आदि) ९५, ११३, १२४, १२५, १४०, ३१७, ३३७, ३४५, ३६८, ३७५, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ६३२, ६३८, ६४१
महायानसूत्र-संग्रह (मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, द्वारा प्रकाशित) ११३
महायान-सूत्रालंकार १३९, ३६८
महारक्षित (महारक्खित, स्थविर) ९८, ५९४, ६०४, ६०९
महारट्ठ—देखिये 'महाराष्ट्र'।
महारथ-वग्ग २७०
महाराजाधिपति (बरमी राजा) ५७७
महाराष्ट्र (महारट्ठ) ९८,, ५९४, ६०४, ६०९, ६११, ६२२
महाराष्ट्री (प्राकृत) ३३, ४३
महाराहुलोवाद-सुत्त १०६, १७४, १८२
महारिष्ट (महा-अरिट्ठ) ५९३
महालि (लिच्छवि) १५८
महालि-सुत्त १०२, १४४, १५७-१५८, १९५, २३६
महालोमहंस-चरिय ३३१
महावग्ग (विनय-पिटक) ७, २४, १०१, ११९, १२८, १९६, २०४, २५०, ३०१, ३०२, ३३२, ३४५, ३५६, ३५७-३५८, ४८६
महावग्ग (दीघ-निकाय का) १०२-

१०३, १४९, १५०, १५१, १६२-१६५, ६८५
महावग्ग (संयुत्त-निकाय का) १११-११२, १९४-१९६
महावग्ग-अट्ठ कथा ६८५
महावग्ग-टीका ६८५
महावग्ग-संयुत्त ६८५
महावच्छगोत्त-सुत्त १०६, १७५, १८१, १८२
महावजिरबुद्धि ६१७
महावन (वैशाली में) १५८, २०१, ५५४
महावली-गंगा ५४०
महावस्तु ८६, २४७, २६९, ३०३
महावस्तु (विनय-महावस्तु)—देखिये 'विनय-महावस्तु'।
महाविजित १४६, १५७
महाविजितावी (बरमी भिक्षु) ६४९, ६५०
महाविनयसगहप्पकरणं ५७०
महाविभाषा-शास्त्र ३१९, देखिये 'विभाषा' भी।
महा-विभंग ३५४-३५५, ५३४
महा-वियूह-सुत्त २६५
महा-विहार (अनुराधपुर में) ९९, ३०८, ५२९, ५३८, ५४६, ५६०, ५६३, ५७२, ५८८, ५९४, ५९९, ६०६, ६३९, ६५४, ६८९
महावीर (भगवान्) १५५, १७८, १८१, देखिये 'निगण्ठ नाटपुत्त' भी।
महावेदल्ल-सुत्त १०५, ११४, १३५, १७३
महावंस (महावंश) २, ९, १०, ११, ७९, ८५, ८६, ९५, ९७, ९९, ११६, ११७, १२१, १२२, १२४, १२९, ३४१, ३७३, ३८६, ४५५, ४५७, ४५८, ४८१, ५३०, ५३६, ५३७, ५३९, ५४१, ५७४, ५८४, ५८६, ५८७, ५८९-६००, ६०३, ६०४, ६०६, ६०७, ६०९, ६१०, ६११, ६२१, ६२२, ६२९, ६३९, ६४०, ६६६, ६७०, ६८६
महावंस-टीका ५२६, ५७४, ५८५, ५९०, ५९१, ५९२, ६०६, ६०७, ६०९, ६४१, ६८६
महाव्युत्पत्ति ३४५
महाशून्यतावादी (बौद्ध सम्प्रदाय)—देखिये 'वेतुल्यक'।
महासकुलुदायि-सुत्त १०६, १७६, १८२, ६७०
महासंगीति ९४
महासंगीतिक (भिक्षु) ९४, २२६, ३८७
महासंघिक (महासांघिक, बौद्ध सम्प्रदाय) १२५, ३४१, ३४३, ३८७, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४६१, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ५८७
महासच्चक-सुत्त १०५, १७२, १८२
महासतिपट्ठान-सुत्त १०३, १६५, १७०, १९४, २३३, ४३८
महासलायतनिक-सुत्त १०९, १८०
महासद्दनीति ६५५
महासमय-सुत्त १०३, १४१, १५०, १६४
महासम्मत ५८७, ५९२
महासम्मितिय १२५, १३२ देखिये 'सम्मितिय' भी।
महासामि (महास्वामी, सिंहली भिक्षु, मूल-सिक्खा के लेखक) ५६२, ५६४, ५७१
महासारोपम-सुत्त १०४, १७२
महासीव (महाशिव, स्थविर, श्रीलंका में विनय-धर) ३४१

महासीहनाद-सुत्त १०४, १७०, १८१
महासुञ्ञता-सुत्त १०८, १७९
महासुतसोम-जातक (५३७) ३१३, ३३१
महासुदस्सन-चरियं ३२९
महासुदस्सन-जातक (९५) १६३, ३२९
महासुदस्सन-सुत्त १०२, १६३, ३०१
महासेन (लंकाधिपति) ५८५, ५८७, ५८९, ५९७, ६००, ६०१
महास्तूप—देखिये 'महाथूप'।
महा-हत्थिपदोपम - सुत्त १०४, १७२, ४८७
महिन्द—देखिये 'महेन्द्र'।
महिष-मण्डल (महिसक-मण्डल) ९८, ५९४, ६०४, ६०९, ६११
महिस-चरियं ३३०
महिस-जातक (२७८) ३१७, ३३०
महिसक-मण्डल—देखिये 'महिष-मडल'।
महिसासक (महीशासक, बौद्ध सम्प्रदाय) ३०८, ३४१, ४५५, ४५६, ४५८, ४७९
मही (नदी) २०१, २१९, २६१, २६२, २६५, २६७, २६९, २७५, २७६, २७७, २८०
महेन्द्र (महिन्द, स्थविर) १३, १४, १६, ९८, ९९, १००, १३५, १३७, १८९, ३४१, ३६१, ३७१, ३७२, ३७३, ५२६, ५२८, ५३८, ५८८, ५९१, ५९४, ५९७, ५९८, ५९९, ६०५, ६०६, ६१०, ६८९, ६९२
महेन्द्र-उत्सव ५८५
महोसद्रि (महोसध) ६८७
महोसध-जातक ३२४
मागधा निरुक्ति १०
मागधिक भाषा १०
मागधी (प्राकृत, भाषा) १०-११, १२, १४, १५, १६-३०, ३३, ३५, ३७, ३८, ६१, १२३, ५३८, ५३९, ५६९, ६१३, ६५३, ६७२
मागधको बोहारो १०
मागध सद्दलक्खण (मागधं सद्दलक्खणं) ११ (देखिये शुद्धिपत्र), ६५१
मागन्दिय-सुत्त १०६, १७६, १८२, २६५
मागन्दिय (परिव्राजक) १७६, १८१, ३६४
माघ-सुत्त २६५
माणव (स्थविर) २७३
माण्डले १००, ५७९
मातिकत्थदीपनी ५७३, ६१९
मातिका (मात्रिका) ८३, ३७४-३७५, ३७९, ३९४, ३९५
मातुगाम-सयुत्त १११, १९२
मातग-चरियं ३३०
मातग-जातक (४९७) ३३०
माध्यन्तिक—देखिये 'मज्झन्तिक'।
माध्यमिक-सूत्र ४५६
मानत्त ३४७
मानसरोवर ५९६
मानी (पन्थ) ३६७
मारतज्जनिय-सुत्त १०५, १७३
मार-संयुत्त ११०, १८३, १८५-१८६
मॉरिस (रिचार्ड) २०१, ३७७, ४५०, ६३६
मार्कण्डेय-पुराण ६३८
मार्शल (सर जोन्ह) ५७८, ६८१
मालालंकार-वत्थु ५७८, ६४२
मालुक्यपुत्त १७४, ५२०
मास्की ६६४
माहिस्मती (माहिस्सति) १६४, २६८
मिगपोतक-जातक ६८२
मिगुन सयदाव ५७९
मिण्डन (बरमी राजा) १००, ६१५

मित्र (सुरेन्द्रनाथ) २४५, २४६, ६७५
मित्रा (भिक्षुणी) २९४
मिथिला ३७, १६४, १७६, १७७, ३१३, ३१४, ३१५, ३२०
मिथिला विद्यापीठ (दरभंगा प्रकाशन) ११३
मिथ्या दृष्टियाँ (बासठ) १४३, १४४, १५२-१५३
मिनयेफ (जे० पी०) ८८, ९५, १३६, १३७, ६१४, ६१५, ६१६, ६२५, ६३२
मिलिन्द (यवनकों का राजा) ५०५, ५०६, ५११-५२४
मिलिन्द-अट्ठकथा ५७९
मिलिन्द क्विशन्स (श्रीमती रायस डेविड्स्) ५०७
मिलिन्दपञ्ह (मिलिन्दपञ्हो, मिलिन्द-प्रश्न) २७, ७९, ११६, १२१, १२९, १४५, १४७, १५०, २०२, २२३, २२५, २३६, २३९, ३०१, ३१७, ३४६, ३७३, ३७५, ४६०, ४९७, ५०४-५२५, ५३०, ५९९, ६०३, ६८८
मिश्र ९९, ३६७
मीमांसा-सूत्र १३९
मीरां २९७
मुकर्जी (राधाकुमुद) ६६७
मुक्ता (भिक्षुणी) २९३, २९४
मुखमत्तदीपनी ६१७, ६४६, देखिये 'न्यास' भी।
मुखमत्तसार ६८७
मुखमत्तसारं तट्टीकं ६२०
मुखमत्तसार-टीका ६८७
मुखर्जी (प्रभातकुमार) ५०८
मुचलिन्द-वग्ग २५०, २५२
मुनिक जातक (३०) ३००, ३०१
मुनि-गाथा २५९, ६७३, ६७४, ६७६
मुनि-सुत्त २५९, २६५
मुलर (एडवर्ड) १४, १६, ३९४
मुलर (एफ० मैक्स) ५८६
मूगपक्ख जातक (५३८) ३१६, ५५७, ६८१, देखिये 'तेमिय-जातक' भी।
मूलगन्धकुटी विहार (सारनाथ) २५९
मूल टीका (मूल टीकं) ५६२, ५६३, ५७६, ६१७
मूल पण्णासक (मूलपण्णास) १६८, ६८५
मूलपण्णास-अट्ठकथा ६८५
मूलपण्णास-टीका ६८५
मूल परियाय-जातक १६९
मूलपरियाय-वग्ग १०३-१०४, १६९-१७०
मूलपरियाय-सुत्त १०३, १६९
मूल यमक ४८२, ६८५
मूल सर्वास्तिवाद (मूल सर्वास्तिवादी) १२५, ३४२, ३४४, ३४५, ३६६, देखिये 'सर्वास्तिवाद' तथा 'आर्य मूल सर्वास्तिवाद' भी।
मूलसिक्खा ५६४, ५७१
मूलसिक्खा-टीका (मूलसिक्खाय टीका) ५७१, ६१८, ६२०
मूलसिक्खा-अभिनवटीका ५७१
मूलसिक्खा-पोराणटीका ५७१
मूलसोम विहार ५६३-५६४
मृगारमाता (विशाखा) — देखिये 'विशाखा'।
मृत्युवचन ६८८
मेघिय (स्थविर) २५३-२५४
मेघिय-वग्ग २५०, २५३, २५४
मेण्डक-पञ्हो ५०८, ५११
मेत्तगू-माणव-पुच्छा २६५, २६७
मेत्त-सुत्त २३३, २३५, २३६, २६५
मेत्तभाव-सुत्त २५८-२५९
मेत्तानिसंस-सुत्त २३५
मेत्तेय्य—देखिये 'मैत्रेय्य'।

मेदलुम्प १७७, १८१
मेधंकर (उदुम्बर गिरि-वासी, सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य) ५७०, ५७३, ६३५
मेधंकर (वनरतन, जिनचरित और पयोगसिद्धि के रचयिता, सिंहली स्थविर) ५७३, ६१९, ६३४, ६३५, ६५२, देखिये 'वनरतन मेधंकर' भी।
मेधंकर (बरमी भिक्षु, लोकदीपसार या लोकप्पदीपसार के रचयिता) ५७५, ६३४, ६३९
मेनाण्डर (ग्रीक राजा) ५०५, ५०६, ५०७, ५११-५२४
मेनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म (एच० कर्न) ३७५
मेरठ १९, ६६३, ६६४
मेसन (एफ०) ६४५
मेसिडोनिया (मेसीडन) ९९, ३६७
मेहता (रतिलाल) २९९
मैत्रिका (भिक्षुणी) २९३, २९४
मैत्रेय (भावी बुद्ध) ५३९, ५६०, ६२५, ६२६, ६२७
मैसूर ५९४, ६६२, ६६६
मैन एण्ड थॉट इन एन्शियण्ट इण्डिया (राधाकुमुद मुकर्जी) ६६७
मोग्गल्लान (-व्याकरण) ६१८, ६४४, ६५०-६५४, ६५७
मोग्गल्लान (व्याकरणकार) ११, ६१८, ६५१, ६६०
मोग्गल्लान (अभिधानप्पदीपिका-कार) ६५८-६६०
मोग्गल्लान प्रथम (लंका का राजा) ६१४
मोग्गल्लान पंचिका (मोग्गल्लान पंजिका भी) ६५१, ६५४
मोग्गल्लान-पंचिका - प्रदीप (मोग्गल्लान-पंजिका-प्रदीप भी) ६५२-६५३, ६५८
मोग्गल्लान व्याकरणस्स टीका ६१८
मोग्गल्लान-सयुत्त १११, १९३, १९९
मोग्गलिपुत्त तिस्स (मौद्गलिपुत्र तिष्य) ९६, ९७, ३४०, ३४१, ३७०, ३७१, ४५४, ४५७, ५२४, ५९३, ५९८, ५९९, ६०३, ६०९, ६१०, ६२१
मोघराज (भिक्षु, बुद्ध-शिष्य) २०८
मोघराजमाणवपुच्छा २६५
मोतो-रोग-रोन् ३४२ (देखिये शुद्धि-पत्र)।
मोन्-रूमेर (जाति) ३६६
मोनेय्य-सुत्त ६७७
मोनेय-सूते (मोनेय्य-सूते भी) २५९, ६७३, ६७४, ६७६-६७७
मोरण्डखेटक ५४०
मोरपरित्त-सुत्त २३५, २३६
मोलिनी (नगरी) ३१४
मोहनयन ६८६
मोहविच्छेदनी (धम्मथत्, विधिशास्त्रीय ग्रन्थ, राजबल-क्यव्-दिन् रचित) ११, ५८१
मोहविच्छेदनी (अभिधम्म सम्बन्धी ग्रन्थ, कस्सप-रचित) ५६३, ६१८, ६२७, ६२८, ६८६
म्यो-ग्यो-रोन् ३४२
मौद्गल्यायन—देखिये 'मोग्गल्लान'।
मौंगन (गाँव, अभिलेख, बरमा मे) ६६२, ६८०, ६८२, ६८४
मौर्य (राजा) २३०
म्रम्म ३६६, ६८९

य

यक्ख-सयुत्त ११०, १८६, १८८
यजुर्वेद २६२
यतनप्रभा-टीका ६८८

यमक (पकरण) १०२, ११९, १२८, ३७५, ३७६, ३७८, ३८१, ३८९, ४८१-४८४, ५७८
यमकपकरणट्ठकथा ५५९, ५७०
यमक-वग्ग २३९, २४०-२४१, २४८
यमक-वण्णना ५७७
यमक (लेखक) ६४६
यमदग्नि (मन्त्रकर्ता ऋषि) १६१, ३१८
यम-यमी (संवाद) ३१७
यमुना २०१, २१९
यमेळु २३
यवन (यवनक) ९७, ३१९, ५०५, ५२५
यश (बुद्ध-शिष्य) ३५७
यशोधरा (काव्य, मैथिलीशरण गुप्त-रचित) ८१
यशोमित्र ३९२, ३९३
यष्टिवन (लट्ठिवन) ३१३
यसवड्ढनवत्थु ५७७
यहूदी ३६७
याज्ञवल्क्य ५२४
यास्क ३०, ४३, ४९७
युगिरल पञ्ञानन्द नायक पाद (सिंहली स्थविर) ६०१
युत्तिसंगह ६८८
युत्तिसंगह-टीका ६८८
युदस्तफ ३२५
युधिट्ठिल ३१३, ३२१, देखिये 'युधिष्ठिर' भी।
युधिष्ठिर १८७, १८८, २६४, ३१३, ३२१
युद्धजेय्य (ग्रन्थ) ६८८
युधजय-चरिय ३३०
युधजय - जातक (युद्धजय-जातक या युवजय - जातक भी—संख्या ८६०) ३३०
युवजय - जातक—देखिये 'युधजय-जातक'।
यू-यन् ५७९
यूआन्-चुआङ् ९०, ९१, ९५, ९७, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३
यूनान (यूनानी) ९८, ९९, ५२५, देखिये 'यवन' भी।
यूनियन ऑव बरमा बुद्ध शासन काउंसिल ६१६
यूरोप (यूरोपीय) १६४, ३२३, ३२४, ३२५, ३८५
ये-दिन् (बरमी स्थविर) ५७६
योग (-दर्शन-सूत्र) १३९, ५५०
योगविनिच्छय ५७२, ६१८
योधपुर (योदय) ६०५
योन (योनक, यवनक) ९८, ५०५, ५२५
योन-कम्बोज १८१
योनक धम्मरक्खित (थेर) ५९४, ६०४, ६०९, देखिये 'धर्मरक्षित' भी।
योनक (यवन देश) ५९४, ६०४, ६०९

र

रक्खित थेर (रक्षित स्थविर, वनवासि प्रदेश मे धर्म-प्रचार करने वाले भिक्षु) ९८, १८९, ५९४, ६०४, ६०९
रक्खित वन (रक्षित वन) २५४
रगून १००, ५३५, ६९१
रट्ठपाल (स्थविर, बुद्ध-शिष्य) १७६, २०७, ५५४, देखिए 'राष्ट्रपाल' भी।
रट्ठपाल (मधुरसवाहिनी के लेखक) ६१९
रट्ठपाल (महाविहारवासी भिक्षु, रसवाहिनी के प्रथम पालि रूपान्तरकार) ६३९
रट्ठपाल-सुत्त १०७, १७६
रट्ठसार (बरमी भिक्षु) ५७६, ६४२

रत्नमाला ६८७, ६८८
रत्नमाला-टीका ६८७
रतन-सुत्त २३२, २३३, २३६, २६५
रथविनीत-सुत्त १०४, १७२, १८१, ६७७
रम्मनगर ३१४
रसवाहिनी ५६२, ५७४, ६०५, ६२५, ६२९, ६३९-६४१
रसवाहिनी-गण्ठि ६४१
राउज (डब्ल्यू० एच० डी०) ६३३
रॉकहिल (डब्ल्यू० डब्ल्यू०) २४७
राजगिरिक (राजगिरिय भी, बौद्ध सम्प्रदाय) ४५८, ४६६, ४७१, ४७३, ४७४, ४८०
राजगृह ८५, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, १४१, १५३, १५४, १६३, १६७, १७४, १८१, २०१, २१९, २६८, २७७, ३१३, ३१५, ३५८, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५६०, ६०९, ६११
राजतरंगिणी ५८४
राजबल-वयव्-दिन् ५८१
राजमत्तन्त ६८७
राजमत्तन्त-टीका ६८८
राज-वंग १०७, १७६-१७७
राजवादवत्थु ५७७
राजाधिराजनामप्पकामिनी ५७७
राजाधिराजविलासिनी ५७७, ६२५, ६४१-६४२
राजावली ६२२
राजोवाद-जातक ३२४
राउ ५८७
राध (स्थविर) १९०, २०८
राध-मयूत्त ११०, १९०
राधाकृष्णन् (सर्वपल्ली) १४८, ४६०, ५१६
राम-सन्देश ६१५
रापती (नदी) २८४
राम (नाम,-कथा) २६७, ३२०
रामकृष्ण परमहंस ३०२
रामकृष्ण भाण्डारकर कमेमोरेशन वोल्यूम — देखिये 'भाण्डारकर कमेमोरेशन वोल्यूम'।
रामगाम (रामग्राम) ६०९, ६११
रामण्य (-देश, पेगू, बरमा) ६८०, ६८८
रामदास (समर्थ) २७७
रामायण ३१९, ३२०, ३२१, देखिये 'वाल्मीकि-रामायण' भी।
रामपुरवा ६६३
रायचौधरी (हेमचन्द्र) १९९, ३१८, ३१९, ३२०, ३२३, ५०५
रॉयल एशियाटिक सोसायटी (सस्करण) ११३, ६१३, देखिये 'जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी' भी।
रायस डेविड्स् (टी० डब्ल्यू०) १३, १४, १५, ९५, ११५, ११८, ११९, १२४, १४७, १५०, १६४, १८४, २२५, २२८, २९९, ३०३, ३२०, ३२३, ३२५, ३७५, ५०६, ५०७, ५१०, ५२३, ५२५, ५५७, ६१३, ६२७, ६३४, ६७४, ६७६, ६७७
रायस डेविड्स् (सी० ए० एफ०, श्रीमती) ६, ८, ९५, ३०८, ३२३, ३२५, ३२६, ३७४, ३७५, ३८०, ३८५, ३९४, ४२९, ४५४, ४७५, ४८१, ४८४, ४८९, ५०२, ५०७, ५१६, ५२८, ५३५, ५५७, ५७८, ६२७
राष्ट्रपाल (रट्ठपाल) २०७, ५५४
राष्ट्रिक ७९
राहुल (बुद्ध के पुत्र और शिष्य) १७४, १८९, २०७, २५३, ५५४, ६७७

राहुल वाचिस्सर—देखिये 'श्री राहुल।'
राहुल-सुत्त १८९, २६५
राहुल-संयुत्त ११०, १८९-१९०
राहुल सांकृत्यायन—देखिये 'सांकृत्यायन'।
राहुलोवाद-विपस्सना १८९
राहुलोवाद-सुत्त ११५, १८९
रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट किंग्डम्स (जे० लेगी) २२७, ३०३
रिक्कणिय-यात्रा ६८८
रिक्कणिय-यात्रा-टीका ६८८
रिंझु (जापानी बौद्ध सम्प्रदाय) ३३९, ३४२
रुम्मिनदेई ६६४
रुरुमिग जातक (सख्या ४८२-रुरुमिगराज जातक भी) ३३०
रुरुराज-चरिय ३३०
रूपक्खन्ध-विभग ३७९, ३८०
रूपनाथ (मध्य-प्रदेश) ६६४
रूपसिद्धि (पकरण, व्याकरण) ५६२, ६१८, ६३६, ६३९, ६४७, ६५२, ६५७
रूपसिद्धि-अट्ठकथा ६८६
रूपसिद्धि-टीका (रूपसिद्धि - टीक) ६१८, ६८७
रूपसिद्धिनिस्सय ६८७
रूपारूपविभाग (बुद्धदत्त - कृत) ५३४, ५३५
रूपारूपविभाग (वाचिस्सर-कृत) ५७१, ६१८
रूपावतार ६८७
रेणु (राजा) १६४
रेवत (स्थविर, बुद्धघोष के गुरु) ११, ५३७, ५३८
रेवत (स्थविर, आभिधम्मिक भिक्षु) ३७१
रेवत खदिरवनिय २०७
रेवत (खुद्दक-सिक्खा - टीका (पोराण) के लेखक, सिंहली स्थविर) ५७१
रेवत (स्थविर, द्वितीय संगीति के सभापति) ९४
रोग-निदान ६८७
रोगनिदान-निस्सय ६८८
रोगनिदान-ब्याख्य ६८८
रोग-यात्रा ६८७
रोगयात्रा-टीका ६८७
रोग-यात्रा-निस्सय ६८८
रोम (रोमन) ३१९
रोरुक १६४
रोहण (श्रीलंका में विनय-धर) ३४१
रोहण (स्थविर, नागसेन के गुरु) ५१०, ५१२, ६०३
रोहिणी (नदी) ३१४
रोहिणी (भिक्षुणी) २९३, २९४, २९६
रोहिणी-जातक (४५) ३०९, ३११

ल

लकुंटक भद्दिय (भिक्षु) २०७, २५५
लक्खण (भिक्षु) १९०
लक्खण-पञ्हो ५०८, ५११, ५१८
लक्खण-सुत्त १०३, १४१, १६७, ३९२, ६७८, ६७९
लक्खण-संयुत्त ११०, १९०
लघ्वक्षरोच्चारण-काल का नियम ४६-४८। देखिये 'ह्रस्व मात्रा-काल का नियम' तथा 'दि लॉ ऑव मोरा' भी।
लंका (श्रीलंका) २, ९, ११, १३, १४, १६, ९८, ९९, १००, १०१, ११७, १२१, १२२, १२४, १२९, १३७, १८९, २३४, ३००, ३०३, ३१७, ३२२, ३३८, ३४१, ३६१, ३६५, ३६६, ३७१, ३७२, ३७३, ३८७, ५१०, ५२३, ५२६, ५२७,

५३२, ५३३, ५३४, ५३८, ५३९, ५५८, ५५९, ५६०, ५६२, ५६३, ५६९, ५७४, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०३, ६०५, ६०६, ६१०, ६११, ६१२, ६१४, ६१५, ६१६, ६२२, ६२४, ६२८, ६३४, ६३५, ६३६, ६४०, ६४१, ६४४, ६४६, ६४७, ६५०, ६५१, ६५२, ६५४, ६५७, ६५९, ६८९, ६९०, ६९१

लकाराम ६०५

लंकावतार-सूत्र १३९, १८५, ३३७ ४७५

लटुकिक-जातक ६८१

लटुकिकोपम-सुत्त १०६, १७५

लट्ठिवन (यष्टिवन) ३१३

ललित-विस्तर २६९

लाओस ८०, १२२, २३८, ३६५, ३६६, ५७६, ५८०, ६९०, ६९१

लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते ६७३, ६७४, ६७७-६७८

लाट (देश) १३१, ५८७, देखिये 'लाळ' भी।

लाटी (प्राकृत) ३३

लाभ-सक्कार-सयुत्त ११०, १८९

लाळ (देश) ५८७

लाहा (विमलाचरण) ४, ८, ११, १३, १६, १७, २०, २३, २५, ८८, ९०, ९१, ९३, ११७, ११८, ११९, १३०, १३६, १८४, २२७, २२९, २४५, २९९, ३२३, ३२८, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३९१, ४५०, ४५७, ५२८, ५२९, ५४२, ५४३, ५५९, ५९०, ६०३, ६०४, ६०६, ६०७, ६१३, ६२२, ६२५, ६२६, ६३३, ६३७, ६४०, ६४३, ६५४, ६५८, ६७५

लिंगत्थ-विवरण (पकरणं) ६२०, ६८६

लिंगत्थविवरण-टीका (लिंगत्थविवरण-टीकं) ६१९, ६८६

लिंगत्थविवरण-पकासनं (लिंगत्थविवरण-पकासकं भी) ६२०

लिच्छवि (जाति, गणतन्त्र) १५८, १९०, २०१, २१७, २३५, २९४, ५५६, ६०९

लीनत्थप्पकासिनी ५६१, ५७०, ६१७, ६२०

लीनत्थवण्णना ५६१, ५६३, ६१७

लीनत्थविसोधनी (लीनत्थसूदनी) ६४९

लुम्बिनी (ग्राम, वन) ३०५, ३१३, ५६० ६६७

लूडर्स (एच०) १९, २०, ३५, १२३, ३१८

लेगी (जे०) २२७, ३०३

लेटिन ३२३, ३२४

लेदि सयदाव (बरमी स्थविर) ५७८

लेवी (सिलवाँ) २०, २१, २२, ९५, १२३

लेंग (डेविड मार्शल) ३२५

लोक-आख्यान १८३, देखिये 'आख्यान' भी।

लोकदीपसार—देखिये 'लोकप्पदीपसार'

लोकपञ्ञत्ति (पकरण) ६२०, ६८६

लोकप्पदीपसार (लोकदीपसार) ५७५, ६१९, ६२५, ६३४, ६३९, ६५२

लोक-वग्ग २४०, २४२, २४८

लोकोत्तरवादी (बौद्ध सम्प्रदाय) ३०३, ४५६

लोकायत ५१२, ५१३

लोकुप्पत्ति ६१९, ६५४, ६८६

लोमसकंगिय-भद्देकरत्त-सुत्त १०९, १८०

लोमसकस्सप-जातक (४३३) ३२१

लोमहंस-जातक (९४) ३३१

लोह-पासाद (लौह-प्रासाद) ५८८, ५९५, ५९७, ५९९, ६११
लोहिच्च (ब्राह्मण) १६०
लोहिच्च-सुत्त १०२, १६०
लौरिया अररराज ६६३
लौरिया नन्दनगढ़ ६६३

व

वक्कलि (भिक्षु) २०७
वक्कुल-सुत्त—देखिए 'बक्कुल-सुत्त'।
वगरु (बरमी राजा) ५८१
वगरु धम्मसत्थ ५८१
वग (जनपद, प्रदेश) २१९, ५२५
वंगीस (वंगीश, बुद्ध-शिष्य, भिक्षु) ८७ १८६, २०७, ५५४, ६२३
वंगीस-सुत्त २६५
वंगीस-संयुत्त ११०, १८६
वचनत्थजोतिका ६१९
वच्च-वाचक (वाचवाचक) ६५५
वच्छगोत्त (परिव्राजक, बाद में बुद्ध-शिष्य) १७५ (देखिए शुद्धि-पत्र), १९१, १९२
वच्छगोत्त-सयुत्त १११, १९१-१९२
वजिरञाण पाण्डुलिपि पुस्तकालय (बकाक मे) ५७९
वजिरबुद्धि (समन्तपासादिका की टीका) ५२८, ५६३
वजिरबुद्धि (स्थविर, विनय-टीका या समन्तपासादिका की टीका—वजिर-बुद्धि—के लेखक) ५६२, ५६३, ६८९
वज्जि (गणराज्य) १६२, १६४, २०१, २१९
वज्जिपुत्तक (बौद्ध सम्प्रदाय) ९४, ४५४, ४५५, ४५८, ४६०, ४६१, ४७९, ५८७
वजिरा (वज्रा, प्रसेनजित् की पुत्री) १८५, २०१
वजिरा (वज्रा, भिक्षुणी) १८६, २९७
वट्टगामणि अभय (लंकाधिपति) ९, ९९, १००, १२९, १३७, ३७१, ५२६, ५८९
वट्ट-जातक (३५) ३३१
वट्टपोतक-चरियं ३३१
वड्डकहा ३२१
वड्ढ (स्थविर) २९७
वड्ढकिसूकर-जातक (२८३) ३१४
वड्ढमाता २९६, २९७
वण्णनीति गन्धो ६१७
वण्णुपथ-जातक ३००
वत्तनिय-सेनासन ५१२
वत्थ-सुत्त—देखिये 'वत्थूपम-सुत्त'।
वत्थुगाथा २२९, २६५, ३२६
वत्थूपम-सुत्त (वत्थ-सुत्त भी) १०४, १७०
वत्स (जनपद, राज्य) २१९, ३१४
वनपत्थ-सुत्त १०४, १७१
वन-पर्व १८७, २६४, ६३३
वनरतन—देखिये 'आनन्द'।
वनरतन (भदन्त, स्याम के भिक्षु) ५७८
वनरतन निस्स—देखिए 'आनन्द'।
वनरतन मेधकर (स्थविर, जिन-चरित और पयोग-सिद्धि के लेखक) ५७३, ६३४, ६३५, ६५२, देखिये 'मेध-कर वनरतन' भी।
वनसह्वय २६८
वन-सयुत्त ११०, १८६
वनवास (वनवासि, प्रदेश) ९८, १८९, ५९४, ६०४, ६०९, ६११
वनवासी (प्रदेश)—देखिये 'वनवास'।
वनवासी निकाय (वनवासी-सम्प्रदाय) ५६२, ६४०, देखिये 'अरण्यवासी-निकाय' भी।
वन्न क्यव्-दिन् ५८१
वप्प (भिक्षु) ३५७
वम्मिक-सुत्त १०४, १७२
वरणा २१९
वररुचि ३३

वरुण ४८५
वर्मा (धीरेन्द्र) ८०
वलाह-संयुत्त १११, १९१
वशिष्ठ (वासेट्ठ, वासिट्ठ, मन्त्रकर्ता ऋषि) १६१, ३१८
वस्मकडव (वस्कडुव) ६१५
वस्सकार (वर्षकार, ब्राह्मण) २१९
वसल-सुत्त (अग्गिकभारद्वाज-सुत्त भी नाम) २३५, २६४, २६५
वसुबन्धु (आचार्य) ३६८, ३९०, ४९५
वसुमित्र (सर्वास्तिवादी आचार्य) ३८८, ३९१, ३९२, ४५६, ४५७, ४८१
वस्कडुवे सिरि सुभूति—देखिए 'सुभूति'
वाचकोपदेस ६५०
वाचस्पति मिश्र ४९५, ५७१
वाचिस्सर (सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य) ५३५, ५७०, ५७१-५७२, ५७३, ६०५, ६०६, ६०७, ६१८, ६३४, ६४७, ६४८, ६६१
वाचिस्सर (श्री राहुल) ६५२-६५३, देखिये 'श्री राहुल' भी।
वाजिरीय (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५८
वाडिया (ए० आर०) १४८
वात्सीपुत्रीय (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५५, ४५६
वात्स्यायन ४९५
वानर-जातक (३४२) ३१०
वानरिन्द-जातक (५७) ३०९, ३१०
वामक (मन्त्रकर्ता ऋषि) १६१, ३१८
वामदेव (मन्त्रकर्ता ऋषि) १६१, ३१८
वायु-पुराण ५८४
वाराणसी (बाराणसी) १६४, १८१, १८६, १९६, ३००, ३१३, ३१४, ३१५, ३५७, ५२५, ५५४, ५९९
वालकाराम (वालिकाराम) ९१
वाल्मीकि २८०, २८९, ३२०
वाल्मीकि-रामायण १२४, ३१९, ३२०, ३२१
वशिष्ठ (वासेट्ठ, ब्राह्मण) १६०, १६१, १६६, १७७, १८१
वाशिष्ठी (वासेट्ठी, वासिट्ठी) २९३, २९५
वासवदत्ता ५५६
वासुदेव ३२६
वासुदेववत्तिका ३२६
वासेट्ठ (ब्राह्मण)- देखिये 'वशिष्ठ'।
वासेट्ठ (वासिट्ठ भी, वैदिक ऋषि)— देखिये 'वशिष्ठ'।
वासेट्ठ-सुत्त १०७, १७७, २६४, २६५
वासेट्ठी (वासिट्ठी)-- देखिये 'वाशिष्ठी'।
वाह्लीका (प्राकृत) ३३
विक्रमसिंघे (विक्रमसिंह) ५७८
विचित्ताचार (बरमी भिक्ष) ६५७
विचित्र गन्ध ६८७
विजय ५८७, ५८८, ५९२, ५९७
विजय-सुत्त २६५
विजयबाहु (प्रथम, द्वितीय, तृतीय) ३८७, ५६२, ६३४, ६३५, ६३९-६४०
विजया २९७
विजितावी--देखिये 'महा-विजितावी'।
विज्ञानकाय-पाद १२८, ३८९, ३९१
विण्टरनित्ज (एम०) ८, १३, १५, १६, १७, २६, ८८, ९५, ९६, ११६, १२४, १३६, १५०, १५१, १८४, १८७, २२३, २२४, २२५, २२८, २५१, २५३, २८०, २९६, २९९, ३०१, ३०२, ३०३, ३०६, ३०७, ३१०, ३१८, ३२०, ३२१, ३२४, ३४६, ३५९, ३७६, ३७९, ३८०, ३८५, ५०२, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५१६, ५२३, ५९०, ६२७, ६३१, ६३४, ६३६, ६३९, ६७७, ६७८
विडिश (ई०) १६, १७

वितक्क-संथान-सुत्त (वितकसण्ठान-सुत्त भी) १०४, १७१
विसेसिका (वैशेषिक) ५१२
विदधि-मुखमण्डन-टीका ६१९
विद्यापति (मैथिल कोकिल) ३७
विद्याभूषण (सतीशचन्द्र) ६४५
विद्यालंकार परिवेण (श्रीलंका) ६५१, ६५३
विद्योदय टीका पब्लिकेशन्स सीरीज़ ५७२
विदिशा २६८, ६११
विदुर (विधूर) ३२१
विदुरपोल पियतिस्स ५७९
विदेह १६४, १७६, १८१
विधुरपण्डित-जातक (विधूरपण्डित-जातक भी) ३१३, ३१६, ६८१
विन्ध्य-प्रदेश १३, १४, १५, २२
विनय-उत्तरसिचय-अट्ठकथा ६८५
विनय-गण्ठि (विनय-गण्ठि या विनय-गन्धि भी) ६१७
विनय-गण्ठि-पद ६८५
विनय-चूलवग्ग ६८५
विनय-टीका (वजिरबुद्धि थेर-कृत) ६८९
विनय-पत्रिका २७७
विनय-पिटक (विनय) ७, २४, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, १००, १०१, ११३, ११५, १२०, १२६, १२९, १३०, १३२, १३३, १३६, १४६, १९६, १९७, २०४, २१३, २२२, २२४, २२५, २३१, २३३, २३४, २३६, २५०, ३००, ३०१, ३०२, ३३२-३६७, ३६९, ३७०, ३७३, ३७४, ३९३, ४५५, ४५६, ४८६, ५११, ५३५, ५५६, ५८७, ६०४, ६७४
विनय-पिटक की अट्ठकथा ८६, ९५, ५२७, ५३३, ५३४, ५४३, ५५२, ५७०, ६४३, ६८९
विनय-गूळहत्थ-दीपनी ५७३
विनय-तन्ति १०
विनय-परिवार ६८५
विनयत्थमंजूसा (विनयत्थमंजूसं) ५७१, ६१८
विनय-पालि १०
विनय उत्तर-ग्रन्थ १२८
विनय-क्षुद्रक (विनय-क्षुद्रक-वस्तु) १२८
विनय-महावस्तु १२८
विनय-महावग्ग ६८५
विनय-माता-वण्णना ३४२
विनय-वस्तु १२८
विनय-विभग १२८
विनय-विनिच्छय-पकरण (विनय-विनिच्छयो) ५३३, ५३४, ५३५, ५७१, ६०३, ६१७, ६८९
विनय-विनिच्छय-टीका ५७१, ५७२
विनय-समुट्ठान-दीपनी ५७३, ६१९
विनयसगह (-पकरणं) ५७०, ५७७, ६१८, ६८६
विनय-सग्रह-अट्ठकथा (महा) ६८५
विनय-सग्रह-अट्ठकथा (चूल) ६८५
विनय समुकसे (विनय-समुत्कर्ष) ६६३, ६७४-६७५
विनय-सम्प्रदाय ३३९, ३४२, ३६६, देखिये 'रिश्शू' भी।
विनय-सारत्थ-दीपनी ५३५
विनय-सिचय-टीका ६८५
विनय-सूत्र ३४४
विनयसूत्र-टीका ३४४
विनयार्थ-समुच्चय (सिहली ग्रन्थ) ५७३, ६३५
विनयालंकार-टीका ५७७
विपस्सी (विपश्यी, पूर्ववर्ती बुद्ध) १६२
विप्रग्राम (विप्पगाम) ६४०
विभंग १०२, ११९, १२८, ३७५,

३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८९, ३९१, ३९२, ४२९-४४५, ४८४, ५४३, ६८५
विभंग की अट्ठकथा ३६९, ५४३, ५७०
विभंग-वग्ग १०९, १७९-१८०
विभज्जवाद (विभज्यवाद, विभज्जवादी, विभज्यवादी) ८२, ८३, ९५-९६, १७८, ३८१-३८२, ४५७
विभज्जवादी (विभज्यवादी) १७८, देखिये 'विभज्जवाद'।
विभत्यत्थ (पकरण) ६५६
विभत्यत्थ-टीका ६५६
विभति-कथा-वण्णना ६५६
विभाषा ३९०
विमतिच्छेदन-पञ्हो ५०८, ५११, ५१८
विमतिच्छेदनी ५६३, ६१८, ६२७
विमतिविनोदनी ५६३, ६२८, ६८९
विमलबुद्धि (मुखमत्तदीपनी के लेखक) ६१७, ६४६
विमलबुद्धि (महाटीक के लेखक) ६१९
विमलविलासिनी (पेतवत्थु की अट्ठकथा) ६१७
विमलसार (सिंहली स्थविर, मूलसिक्खापोराणटीका के लेखक) ५७१
विमलसार (स्थविर, उन्नीसवी शताब्दी के सिंहली भिक्षु) ५७८
विमला (भिक्षुणी) २९४
विमानवत्थु (विमानवस्तु) ११३, ११८ ११९, १२७, २२०, २२१, २२३, २२५, २२६, २२९, २३०, २६९-२७१, २७२, ५६१, ५८६
विमानवत्थुस्स विमलविलासिनी नाम अट्ठकथा ६१७
विमुत्तिमग्ग ५५१, ५५२
वियतनाम १२६, ३६६, ६९१
विरग्घ ६८८
विरग्घ टीका ६८८
विरोचन-जातक (१४३) ३०९
विले (डेमी) ५०८
विशाख (उपासक) १३५
विशाखा (मृगारमाता) १२०, २०८, २५२, ५५६
विश्वामित्र (मन्त्रकर्ता ऋषि) १६१, ३१८
विष्णुदास (वेण्हुदास) ५३४
विष्णुगुप्त कौटिल्य ३२०
विष्णु-पुराण ५८४
विसुदत्त (सुदत्त या तिस्सदत्त भी) ३७१
विसुद्धाचार (बरमी लेखक) ६६१
विसुद्धिमग्ग (विसुद्धिमग्गो) १, १०, ८३, १२१, १२२, १४५, २३४, ३०७, ३०८, ३६४, ५२२, ५२९, ५३०, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४-५५२, ५५८, ५५९, ५६०, ५७७, ५८०, ६१७, ६२६ ६२७, ६४२, ६४३
विसुद्धिमग्ग-अट्ठकथा ५६१, ६८६
विसुद्धिमग्गगण्ठिपदत्थ ५७७
विसुद्धिमग्ग-गन्धि ६२०
विसुद्धिमग्ग-चुल्ल-नवटीका ६२०
विसुद्धिमग्ग-टीका (विसुद्धिमग्ग की टीका) १२२, ५७९, ६८६
विसुद्धिमग्ग-दीपिका १२२, ५८०
विसेसिका (वैशेषिक) ५१२
वीतसोक (स्थविर) २२८, २७२, २७३
वीणूपमोवाद-सुत्त (वीणूपमोवाद-सुत्त भी) १४६
वीमंसक-सुत्त १०५, १७३
वीसतिजातक-अट्ठकथा ६८६
वीसति-वण्णना ५७७
वुत्तमाला-सन्देस-सतक (वुत्तमाला) ६६१
वुत्तिमोग्गल्लान ६८६
वुत्तोदय ५७०, ६१८, ६६०-६६१, ६८८

वुत्तोदय-टीका ६१९, ६८८
वुत्तोदय-पंचिका ६६१
वुत्तोदय-विवरण (वुत्तोदय-विवरणं) ५७२, ६१८, ६६०
वू-ति (चीनी सम्राट्) ४७५
वृज्जि—देखिये 'वज्जि'
वृज्जिपुत्रक—देखिये 'वज्जिपुत्तक'।
वृत्तरत्नाकर ६८४
वृत्ति (वुत्ति), कच्चायन-व्याकरण पर ६४६; मोग्गल्लान-व्याकरण पर ६५१
वेखनस (वेक्खनस, परिव्राजक) १७६, १८१
वेखनस-सुत्त (वेखनस्स-सुत्त भी) १०६, १४३, १७६
वेठदीप (वेठदीपक) ६०९
वेळुक-जातक (४३) ३०९
वेळुद्वार (ग्राम) २०१
वेळुवन (वेणुवन) १६७, १७४, २०१, ३५८, ५५४, ५९९
वेण्हुदास—देखिये 'विण्णुदास'।
वेनुल्ल ४५८, देखिये 'वेतुल्यक।'
वेतुल्यक (वैतुल्यक, वैपुल्यक, बौद्ध सम्प्रदाय) ४६०, ४७४-४७५, ४८०
वेतुल्यक (महाशून्यतावादी, बौद्ध सम्प्रदाय) ४६०, ४७४-४७५, ४८०
वेद (-वेदांग) १२, २३, २४, ३०, १६१, २००, ३५९, ३९०, ४९८, ५१२, ५१३, ५३१, ५३७, ५४१
वेदनापरिग्गह-सुत्त १७६
वेदना-संयुत्त १११, १८४, १९२
वेदविधिनिमित्तनिरुत्तिवण्णना ६८८
वेदब्भ-जातक (४८) ३१५
वेदल्ल ११३, ११४
वेदान्त ४९५, ५००
वेदेह थेर (वैदेह स्थविर) ५६२, ५७४, ६०२, ६३६, ६३७, ६३९-६४०
वेनागपुर २१९
वेपुल्लबुद्धि ५६४, ६१९, ६६१
वेय्याकरण ११३, ११४, ३०४, ३०७, ६४४
वेरंज (ब्राह्मण, वेरंजा-निवासी) २१७
वेरज-सुत्त १४४ (देखिये शुद्धि-पत्र), २१७
वेरंजक-सुत्त १०५, १४४, १७३
वेरंजकण्डवण्णना २
वेरंजा २११, २१९, ५५५
वेलुव (गाँव) ५५५
वेलेसर (मैक्स) ८, ९५
वेल्स (एच० जी०) ६६४
वेस्सन्तर (राजा) ३०५
वेस्सन्तर-चरियं ३३०
वेस्सन्तर-जातक (५४७) २८९, ३०५ ३१२, ३२०, ३३०, ६४२
वेस्सभू (विश्वभू, पूर्ववर्ती बुद्ध) १६२
वेहलिंग १७६
वैदिक (धर्म, भाषा, साहित्य, आख्यान, परम्परा आदि) ५, ३०-३१, ३२, ६५, ७६-७८, ७९, ८१, १३८, १३९, २५९, ३१७, ३१८, ५०३, ५८३
वैदिक ध्वनि-समूह ३९-४०
वैदेह स्थविर—देखिये, 'वेदेह थेर'।
वैपुल्य (वैपुल्यक) ४५८, ४७४-४७५ देखिये 'तेतुल्ल' तथा 'वेतुल्यक' भी।
वैभार गिरि (वेभार गिरि) ८५, ३१३
वैभाषिक (बौद्ध सम्प्रदाय) ३९०
वैशाली (वेसालि) ८५, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, १५८, १६३, १६६, १८१, २०१, २०८, २३५, २६८, ३१३, ३३२, ३३८, ३४०, ३५९, ३७२, ३७४, ५५४, ५५५, ५५६, ५९९
वैशेषिक (सूत्र, दर्शन) ११९, ५१२

वैस्टर गार्ड १३, १५
वोपदेव ६५०
वोंग् मो लम् ११४
वंस (वत्स, जनपद, राज्य)—देखिये 'वत्स'।
वंस (वंश, साहित्य, पालि का) ५२८, ५६८, ५८३-६२२, ६४२
वंसत्थप्पकासिनी ५७३, ५७४, ५९०, ६०६, देखिये 'महावंस टीका' भी।
व्याकरण-साहित्य (पालि का) ६४२-६५८
व्याकरण-सूत्र १३९
व्रज भाषा ३७
व्रजमण्डल ३५

श

शक ३१९
शक्र (सक्क) १८८
शकर ४८६, ५२३
शतपथ-ब्राह्मण ३१८
शतक (-काव्य) ६२९, ६३५
शब्द-कल्पद्रुम १३९, ५३१
शाक्य (जाति, जनपद) १५६, १७७, १७८, १८१, २९४, ३१४, ६०९
शाक्यमुनि—देखिये 'बुद्ध'।
शाक्यसिंह—देखिये 'बुद्ध'।
'शाक्य और बुद्धिस्ट ओरीजिन्स' (श्रीमती रायस डेविड्स्) ६, ८
शान्ति-पर्व ३२०
शारिपुत्र (सर्वास्तिवादी आचार्य)—देखिये 'आर्य शारिपुत्र'।
शालवतिका (सालवतिका, कोसल में ग्राम) १६०
शाला (ग्राम) २०१
'शास्त्र-संग्रह' ३८८
शाहबाजगढ़ी २४६, ६६३, ६७३
शिखी (पूर्ववर्ती बुद्ध)—देखिये 'सिखी'।
शिक्षापद (सिक्खापद) ३३४, ३३५, ३४३-३४६, ३५६, ३५९, ३६०
शिन्कोट (अभिलेख) ५०७
शिबुन्-रित्सु ३४१, ३४२, ३४३, ३४५, ३४६, ३४९, ३६६
शिव स्थविर (श्रीलंका में विनय-धर) ३४१
शिवि (राजा) ३२१
शिशुपालवध ६३१
शिशूपचाला (भिक्षुणी) २९३, २९४, २९६, २९७
शिंशपा-वन (सिंसपा-वन) १६५
शीलभद्र (भिक्षु) २५९, ३२५
शुक्ला (सुक्का, भिक्षुणी) २९३, २९४
शुग १२९, १३०
शुद्धोदन २९३
शुनः शेप ३१७
शुभ (माणवक)—देखिये 'सुभ तो-देय्यपुत्त'।
शुभा (भिक्षुणी) २९३, २९४, २९६
शूर-अम्बष्ठ २०८
शूरसेन (सूरसेन, जनपद, प्रदेश) ३५, १६४, २१९
शेक्सपियर ३२३, ३२५
शैल (सेल, ब्राह्मण) १७७, १८१
शैला (भिक्षुणी) २९४, २९६, २९७
शोण—देखिये 'सोण'।
शौरसेनी १९, ३०, ३३, ३५-३७, ३८, ४३, ४४, ६५३
शृगालमाता २०८
श्यामा (भिक्षुणी) २९३, २९४
श्यामावती—देखिये 'सामावती'।
श्यारामितिकब्य ६८८
श्यारामितिकब्य-निस्सय ६८८
श्रामणेर-टीका ३४४
श्रावस्ती (सावत्थि) १९, १२०, १४१, १५९, १६०, १६२, १६७,

१७७, १८१, २०६, २१२, २१८, २१९, २३८, २५०, २५२, २५४, २६८, ३१३, ३१४, ३१५, ५४५, ५५३, ५५५
श्री धर्मादासय (सद्धर्मादासय भी) ५११
श्री नालन्दा संस्करण (नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला) १०६, ११६, १४९, १६८, १७२, १८२, १८९, २०२, २३१, २३७, २४९, २५६, २५९ २६९, २७२, ३२७, ३२८, ३३२, ३९४, ४३०, ४४५, ४५०, ४५४, ४८२, ४८४
श्रीपद (बुद्ध का चरण-चिन्ह) ६४०
श्री महासिह शूर सुधर्मराज (बरमी राजा)—देखिये 'सिरि महासीह सूर सुधम्म राजा'।
श्री मेघवर्ण— देखिये 'सिरि मेघवण्ण' तथा 'कित्ति सिरि मेघवण्ण'।
श्री राजाधिराज सिंह— देखिये 'सिरिराजाधिराज सीह'।
श्री राहुल (वाचिस्सर, संघराज) ६५२-६५३, देखिये 'वाचिस्सर राहुल' भी।
श्रीलंका—देखिये 'लंका'।
श्री विक्रम राज सिंह (सिरि विक्कम राज सीह) ६०१
श्री संघबोधि (सिरि संघबोधि, लंकाधिराज) ६१२
श्री हर्ष ४९५
श्रेडर (एल० बी०) ५०९, ५१०
श्रौत-सूत्र १३९
श्वेतकेतु (आरुणेय), ३१८, ५२४

ष

'षड् भाषाएँ' ६५३
'षड्भाषापरमेश्वर' ६५३ देखिये 'श्री राहुल' भी।
षाण्णागारिक—देखिये 'छन्नागरिक'।

स

सकलिक-सुत १९७
सकुला (भिक्षुणी) २९४
सकुलुदायि (सकुलदायि भी, परिव्राजक) १७६
सक्कपञ्ह-सुत्त १०३, ११४, १६४, ५२४
सक्क-संयुत्त ११०, १८८, १९७
सगाथक (सुत्त—नवांग बुद्ध-वचनों मे एक) ११४—देखिये 'गेय्य' भी।
सगाथकम् (लंकावतार-सूत्र का अन्तिम परिच्छेद) १८५
सगाथ-वग्ग ११०, १८३, १८५-१८८
सगाथवग्ग-सयुत्त ६८५
सगाथवगसंयुत्त-अट्ठकथा ६८५
सगाथवग्ग-संयुत्त-टीका ६८५
संकस्स (संकाश्य) ३१४
सकिच्च (स्थविर) २८८
संकिच्च-जातक (५३०) ३१२, ३१६
सक्रन्तिक (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५५
सख-चरियं ३२९
संखपाल-चरियं ३३०
संखपाल-जातक (५२४) ३१५, ३२९, ३३०
संखार-यमक ४८२
संखारुप्पत्ति-सुत्त १०८, १७९
संखित्त-सुत्त २१४
सखेपत्थजोतनी ५७९
सखेपट्ठ कथा ५२७, ५२८
संखेप-वण्णना ५७३, ६१९
संखेय्य परिवेण ५१२, ५१३
संख्या-योग (सांख्य-योग) ५१२
संगाम (आर्य, स्थविर) २५३
सगारव (ब्राह्मण) १७८, १८१
संगारव-सुत्त १०७, १७८
संगीति- परियाय-सुत्त (संगीति-सुत्त)

१०३, १४४, १६८, १९५, २०३ २०५, २३३, ३६८, ३७४, ३७७, ३९३, ६७६
संगीति-पर्याय-पाद (-शास्त्र) १२८, ३८९, ३९१, ३९३,
संगीति-वंस १००, ५७८, ५७९, ५८४, ६२२
सघनन्दी (कच्चान वृत्ति के लेखक) ६४६
संघपाल (स्थविर) ५३८
सघमित्रा (भिक्षुणी) ९८, ९९, ५८८, ६१०, ६११
संघरक्खित (सिहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य, सम्बन्ध-चिन्ता आदि के लेखक) ५७०, ५७१, ६१८, ६४६-६४७, ६५४, ६६१
संघादिशेष (संघावशेष, नियम) ३४३, ३४४, ३४७-३४८, ३५४, ३५५
सघादिसेस-कथा ५३४, ५३५,
सच्चक (आजीवक) १७२
सच्च किरिया ३१६
सच्च-यमक ४८२
सच्च-विभंग ४३१, ४३८-४३९
सच्चविभंग-सुत्त १०९, १६५, १८०, २३५
सच्चसङ्हय चरियं ३३०
सच्च-संखेप (सच्च संखेपं) ५६२, ५७१, ५७२, ६१८
सच्चसंखेप-टीका (वाचिस्सर-कृत) ५७१, ५७२
सच्चसंखेप-टीका (सुमंगल-कृत) ५७२
सच्च-संयुत्त ११२, १९६
सच्चकिर-जातक (७३) ३२३, ३३१, ६४०
सज्झाय-सुत्त २३९
सञ्जय बेलट्ठिपुत्त १५४, १५५, १९९, ५१२
सळायतन-वग्ग (मज्झिम-निकाय का) १०९, १८०
सळायतन-वग्ग (संयुत्त-निकाय का) १११, १८३, १९२-१९४, ६८५
सळायतनवग्गसयुत्त—अट्ठकथा ६८५
सळायतनविभंग-सुत्त (सळायतन-सुत्त) १०९, १८०, ३७४, ५३०
सळायतन-संयुत्त १११, १४४, १८४, १८९, १९२, १९६, ३८२ (देखिये शुद्धि पत्र), ३८३ (देखिये शुद्धि-पत्र)
सतिपट्ठान-विभंग ४३१, ४४०-४४१
सतिपट्ठान-सुत्त १०४, १६५, १९४, ४४०, ४४२
सतिपट्ठान-संयुत्त १११, १९४, १९७, २३३
सत्त-अट्ठ-नव-निपात-जातकट्ठथा ६८६
सत्तक-निपात ११२, २०२, २०५, २१२, २१५,
सत्थेकविपसवप्रकाश ६८७
सत्यतत्वावबोध ६८७
सत्यपुत्र ९७
सद्दकलिका ६५७
सद्दकारिका ६८७
सद्दत्थभेदचिन्ता ६१९, ६४७, ६८७
सद्दत्थभेदचिन्ता-टीका ६८७
सद्दत्थभेदचिन्ता-निस्सय ६८८
सद्दत्थभेदचिन्ताय मज्झिम-टीक ६२०
सद्दत्थभेदचिन्ताय महाटीकं ६२०
सद्दनीति (सद्दनीति-पकरण, व्याकरण) ६१९, ६४४, ६५४-६५५, ६५७, ६८७
सद्दबिन्दु ६१९, ६४९, ६५७
सद्दविनिच्छय ६५७
सद्दवुत्ति ६५६, देखिये 'सद्दवुत्ति-पकासकं' भी।
सद्दवुत्ति-पकासकं ६१९

सद्दवुत्तिपकासकस्स टीकं ६१९
सद्दसारत्थजालिनी ५७८, ६४८,
सद्दसारत्थजालिनिया टीका ६१९
सद्दावतार ६८७
सद्धम्मकित्ति (बरमी भिक्षु) ६५९
सद्धम्मगुरु (बरमी भिक्षु) ६१९, ६५६
सद्धम्मजोतिपाल ५७०, ५७२-५७३, देखिये 'छपद' भी।
सद्धम्मञाण (बरमी भिक्षु) ५७५, ६५६ ६६१
सद्धम्मट्ठितिका (सद्धम्मट्ठितिकं) ५६३, ६१८, देखिये सद्धम्मप्पज्जोतिका' भी।
सद्धम्मनन्दी ६५५
सद्धम्मपाल (बरमी भिक्षु) ६१९, ६५६
सद्धम्मप्पकासिनी ५६३
सद्धम्मप्पज्जोतिका (सद्धम्मपज्जोतिका भी) ५६३, ६१८
सद्धम्मदीपक ६८७
सद्धम्मविलास (बरमी भिक्षु) ६४९
सद्धम्मविलासिनी ५६३, देखिये 'सद्धम्मप्पकासिनी' भी।
सद्धम्मसिरि ५७६, ६१९, ६४७
सद्धम्मसंगह ३, ५२७, ५३७, ५७५, ५८४, ६०४-६०५, ६०९, ६३२, ६३४, ६४८,
सद्धम्मालंकार (सद्धर्मालंकार, सिंहली ग्रंथ) ६०५, ६२२, ६२९, ६४८
सद्धम्मालंकार (बरमी स्थविर) ५७६
सद्धम्मुपाय ६८७
सद्धम्मोपायन ५६३, ५७५, ६२५, ६३६-६३७
सद्धम्मोपायन-विग्गह ६३७
सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र ११३, १३९, ३०२, ४७५
सद्धर्मादासय ५११, देखिये' श्री धर्मादासय' भी।
सद्धानन्द ३, ६०४, ६३२
सनंकुमार ब्रह्मा (सनत्कुमार ब्रह्मा) १६४
सन्त जोन्ह का सुसमाचार ३२४
सन्तिके निदान ३०४-३०५
सन्दक (परिव्राजक) १७६, १८१
सन्दक-सुत्त १०६, १३८, १७६
सन्देश-काव्य ६१५
सन्देस-कथा ५७८, ५८४, ६१५-६१६
सन्देह (स्थविर) ३७१
सन्धिभेद-जातक (३४९) ३१०, ६८२
सन्न (अभिधानप्पदीपिका पर) ६६०
सप्तपर्णी (गुफा) ८५, ५५६
सप्तशतिका ९१
सप्पक (स्थविर) २८४
सप्पिनी (सप्पिनिका, सर्पिणी, नदी) २०१, २३९
सप्पुरिस-सुत्त १०८, १७९, ६७५
सब्बगुणाकर (व्याकरण) ६४४
सब्बत-रोन् ३४२
सब्बत्थि-वण्णना ३४२
सब्बत्थिवाद (सव्बत्थवाद भी)— देखिये 'सर्वास्तिवाद'।
सब्बदाठ-जातक (२४१) ३११
सब्बासव-सुत्त १०३, १६९
सभिय-सुत्त २६४, २६५,
समणमण्डिका-सुत्त १०६, १७६
समथक्खन्धक ३५२
समन्तकूट (पर्वत) ६४०
समन्तकूटवण्णना ५६२, ५७४, ६४०
समन्तपासादिक-अत्थयोजना ५८०
समन्तपासादिका २, १०, ८६, ९०, ९५, ९७, १२५, ३००, ३४०, ३४१, ३४२, ३७३, ३७५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३४, ६३५, ५४३, ५५२, ५६०, ५६३, ५७०,

६०४, ६०७, ६०८, ६०९, ६१७, ६२१, ६४३, ६६६
समरसेकर ५७८
समर्थ रामदास २७७
समाधि-सयुत्त—देखिये 'झान-सयुत्त'।
समास-तद्धित-दीपनी ६८७
समुग्ग-जातक (४३६) ३२३
समुद्र (स्थविर) ६६६
सम्पसादनिय-सुत्त १०३, १६६, २३६
सम्बन्ध-चिन्ता ५७०, ६१८, ६४७, ६६०,
सम्बन्धचिन्ता-टीका ५७२, ६१८, ६४७, ६८७
सम्बन्धमालिनी ६८७
सम्बल (शम्बल, स्थविर) ९८, ३४१ ३७१, ५९४, ६०५
सम्बलहुरि (लंका में स्थान) ५९३
सम्बहुल-सुत्त १९८-१९९
सम्बुल कच्चान (स्थविर) २८३
सम्भव-जातक ३१३
सम्पप्पधान -विभंग ४३१, ४४१
सम्मप्पधान-सयुत्त १११, १९४
सम्मादिट्ठि-सुत्त १०४, ११४, १७०
सम्मापरिब्बाजनिय-सुत्त २६५
सम्मितिय (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५५, ४५६, ४५८, ४६१, ४६३, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७३, ४७७, ४८०
सम्मोदमान-जातक (३३) ३०९
सम्मोहविनामिनी ६४९, देखिये 'कच्चायनसार-अभिनव टीका' भी।
सम्मोहविनोदनी ५४३, ५५८, ५७०
सम्मोहविनोदनी - अट्ठकथा ६८५
सरणकर संघराज ५७८, ६०६, ६५७
सरभू (सरयू) २०१, २१९
सरभंग (स्थविर) ३३५
सरभंग-जातक (५२२) ३१४
सर्वज्ञन्यायदीपनी ६५६.
सर्ववर्मा ५७५, ६४५
सर्वास्तिवाद (सब्बत्थिवाद, सब्बत्थवाद भी, बौद्ध सम्प्रदाय) १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, २०३, २२४, ३४१, ३४२, ३४४, ३५६, ३७२, ३७४, ३८८-३९३, ४५५, ४५६, ४५७; ४५८, ४६१, ४६३, ४७०, ४७९, ४८१, ५९९
'सर्वास्तिवाद लिटरेचर' (अनुकूल चन्द्र बनर्जी) ३४४, ३८९
सरणतिस्स ६३९
मललवती (नदी) ३१२
सल्ल-सुत्त २६५
सल्लेख-सुत्त १०४, १७०
सस-जातक (ससपण्डित-जातक — सख्या ३१६) ३३०
ससपण्डित-चरियं ३३०
सहसराम (बिहार राज्य मे) ६६४
सहम्मरसिमालिनी ६८६
सहस्स-वग्ग २४०, २४२, २४६, २४७, २४८
सहस्सवत्थुप्पकरण ६२५, ६४१, ६८६
सहस्सवत्थट्ठ कथा ६४१
साइमन हेवावितरणे बिक्वेस्ट सीरीज (कोलम्बो) २९८, ५६१, ५७५
साकेत १८१, २०१, २६८, ५२५
सागल ३१४, ५०५, ५११, ५१२, ५१३, ५२५, ५९९
सागू (बरमा में) ५७८
सांकृत्यायन (राहुल) ७, ११९, १४५, १४८, १४९, १५०, १६१, १६८, १६९, २१७, २३१, २३७, २४९, २५५, २५९, २६८, २६९, २७१, ३३२, ४५५, ४५६, ४५८, ४५९, ४६०, ५१६, ५५५, ५९९
सांख्य (सूत्र, दर्शन) १३९, १४५
साँची (स्तूप) ९८, ११५, ११६, २२५, २२८, ३०३, ३०७, ३१७,

६१०, ६६२, ६६४, ६७९, ६८०, ६८१-८२
साधुविलासिनी ५७७
सानु (स्थविर) २७९
साम-जातक (सुवण्णसाम-जातक — संख्या ५४०) ३२०, ३३१
सामगाम १७८
सामगाम-सुत्त १०८, १७८, ३५२
सामञ्ञफल-सुत्त ४, १०२, १४३, १४४, १४६, १५४-१५५, १९५, ३०२, ५१०
सामञ्ञफलसुत्त-वण्णना १, २
सामण्डक (परिव्राजक) १९३
सामण्डक-संयुत्त १११, १९३
सामावती (श्यामावती) २०८, २५५
साम्स ऑव दि सिस्टर्स (श्रीमती रायस डेविड्स्) २९६
सारत्थदीपनी ५२८, ५७०, ६१८, ६८९
सारत्थप्पकासिनी ५२७, ५४३, ५५४, ५७०, ६१७
सारत्थमंजूसा (सारत्थमंजूसं, पठम, दुतिय, ततिय, चतुत्थ) ५७०, ६१८
सारत्थविकासिनी ६४८
सारत्थविलासिनी ६५४
सारत्थसमुच्चय ५७५
सारत्थसालिनी ५७२
सारत्थसंगह ६२०, ६८८
सारदस्मी (स्थविर, आवा के) ५७७, ५७८
सारदम्मी (स्थविर, पगान के) ५७७
सारनाथ १९६, ६६२, ६६४, ६६७, ६७९, ६८०, ६८२
सारपिण्ड ६८७
सारसंगह (सारत्थसंगह) ५७४, ६८७
सारसंगह-निस्सय ६८८
सारिपुत्त (बुद्ध-शिष्य)—देखिये 'धर्मसेनापति सारिपुत्र'।
सारिपुत्त (सिंहली भिक्षु) १२२, ५३५, ५६९, ५७०, ५७२, ५७३, ५७७, ६०६, ६१३, ६१८, ६३४, ६३५, ६४६, ६४७, ६४८
सारिपुत्त (सद्दवुत्तिपकासक के टीकाकार) ६१९
सारिपुत्त (बरमी स्थविर)—देखिये 'धम्मविलास'।
सारिपुत्त-सुत्त २५९, २६५
सारिपुत्त-संयुत्त १११, १९१
सालित्तक-जातक (१०७) ३१४
सालूक-जातक (२८६) ३००
सालेय्यक-सुत्त १०५, १७३
सासन-वंस ५३३, ५३७, ५५९, ५६३, ५७८, ५८४, ६०४, ६१८, ६२१-६२२, ६४९, ६५६
सासनवसदीप ६२८
सिआम (स्याम, देश, उसकी भाषा, परम्परा, साहित्य आदि) ८०, १००, १०१, १२२, २२३, २२६, २३३, २३८, २९८, ३००, ३१७, ३२२, ३३८, ३६५, ३६६, ३९४, ४३०, ४४५, ४५४, ४८४, ५०४, ५२३, ५३५, ५६१, ५७६, ५७८, ५७९, ५८०, ६२२, ६४७, ६९०, ६९१
सिकन्दरिया ३६७
सिक्खापद-विभंग ४३१, ४४३
सिखी (शिखी, पूर्ववर्ती बुद्ध) १६२
सिगनिफिकेन्स एण्ड इम्पोर्टेंस ऑव दि जातक्स् (गोकुलदास दे) २९९, ३१६-३१७
सिगाल (सिगाल, गृहपति-पुत्र) १६७
सिगाल-जातक (११३) ३११
सिगालोवाद-सुत्त (सिगालोवाद-सुत्त

भी) १०३, १६७, ३७५, ६७८, ६७९
सिग्गव (स्थविर) ३४१, ३७१, ५१०, ५९९, ६०३
सिथियन ३१९
सिंगिलोण कप्प ९१, ९३
सिद्धत्थ (भिक्षु, ग्रन्थकार) ५७४
'सिद्धार्थ' (हिन्दी काव्य) ८१
सिद्धार्थ (भिक्षु) ४, ५, ६, १६, २५, ३१
सिद्धत्थिक (सिद्धार्थिक, सिद्धार्थक, बौद्ध सम्प्रदाय) ४५८, ४६६, ४७४, ४८०,
सिन्धु (नदी प्रदेश) १३१, २७१, ३००
सिम्पलीफाइड ग्रामर ऑव दि पालि लैंग्वेज (ई० मुलर) १४
सिरि धम्मरतन (सिंहली स्थविर) ५७८
सिरि महासीह सूर सुधम्मराजा (बरमी राजा) ६२१
सिरि राजाधिराज सीह (लंका-नरेश) ६०१
सिरि विक्कम राज सीह (लंका-नरेश) ६०१
सिरि सिद्धत्थ धम्मानन्द ५७९
सिरिमा (श्रीमान्, स्थविर) २७३
सिरि मेघवण्ण ६०१, देखिये 'कित्ति सिरि मेघवण्ण' भी।
सिरि मंगल (लाओस के स्थविर) ५७६
सिरिया (सीरिया) ९९, ३२४, ३६७
सिरि संघबोधि ६१२
सिरीन ९९
सिविराज-चरिय ३३०
सिवि-जातक (४९९) ३२१, ३३०
सिंसपा-वन २०१
सिंह (सेनापति) २१७
'सिंह सेनापति' (उपन्यास) २१७
सिंहबाहु ५८७
सिंहल (सिंहली परम्परा, भाषा, साहित्य, अट्ठकथा आदि) २, ९, १०, ११, १२, १४, १६, ८०, ९७, ९८, १३५, १८२, २०१, २२३, २२७, २३३, २३८, २९८, ३०८, ३३८, ३६०, ३६१, ३७१, ३७३, ३८६, ३८७, ३९४, ४३०, ४४५, ४५४, ४८४, ५०३, ५०४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५३२, ५३४, ५३५, ५३७, ५३८, ५३९, ५४२, ५५६, ५५७, ५६०, ५६१, ५६२, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७८, ५७९, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५९९, ६०९, ६१४, ६१५, ६१८, ६२२, ६२८, ६२९, ६३६, ६३९, ६४०, ६४१, ६४७, ६४८, ६४९, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५९, ६६०, ६८९, ६९१
सिंहल-निकाय (सीहल-निकाय) ६८९, देखिये 'सीहल-संघ' भी।
सिंहली अट्ठकथाएँ (प्राचीन) ५२६-५३०, ५८९-५९०, ५९१, ६१६
सिंहली वंश-ग्रंथ ६२२
सिंहा (भिक्षुणी) २९३, २९४
सीतवन (शीतवन) २८५
सीमा (विहार-सीमा) ३३८
सीमालंकार (प्रकरण) ६१८, ६८९
सीमालंकार-संगह ५७१, ५७३, ६८९
सीमालंकारसंगह-टीका ५७३
सीमालंकारस्स टीका ६१९
सीमाविवाद-विनिच्छय ५७८
सीमाविवादविनिच्छय-कथा ५७९
सीलक्खन्ध (-वग्ग) १०२, १४९, १५०, १५१-१६१, ६८५
सीलक्खन्ध-टीका ५०९, ६८५

सीलवनागराज-जातक (सीलवनाग-जातक—संख्या ७२) ३०९, ३३०
सीलवंस (बरमी भिक्षु, बुद्धालंकार के रचयिता) ५७६, ६४१
सीलवंस (सिंहली भिक्षु, कच्चायन-धातुमंजूसा के लेखक) ६५०
सीवली (भिक्षु, बुद्ध-शिष्य) २०७
सीहचम्म-जातक (१८९) ३१०, ३२३
सीहचम्म-जातक (१८९) ३१०, ३२३
सीहनाद-वग्ग १०४, १७०-१७१
सीहल-निकाय—देखिये 'सिंहल-निकाय'।
सीहल-वत्थु ६२०, ६८६
सीहलट्ठ कथा ५२८, देखिये 'प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ'।
सीहलट्ठकथा-महावंस ५८५, ५९०
सीहल-मघ ५६३, ५७२-५७३, देखिये 'मिहल निकाय भी'।
सीह-सुत्त २१७
सुकरात १४७
सुख-वग्ग २४०, २४३, २४६, २४८
सुखावती-व्यूह ४७७
सुखोदय ३१७
सुग्रीव ३१९
सुचिलोम-सुत्त (सूचिलोम-सुत्त भी) २६५
सुजात-जातक ६८२
सुजाता (सेनानी-दुहिता, उपासिका) २०८
सुजाता (भिक्षुणी) २९३, २९४
सुञ्ञता-वग्ग १०८-१०९, १७९
सुतनु (नदी) २०१
सुतसोम (कुरु-राजा) ३१३
सुतसोम-चरियं ३३१
सुत्त (सुत्तन्त) ११३-११४, १३८, १३९, १४०, ३३८, ३६९, ३७०, ३७७, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३९३, ४५३, ५११
सुत्तन्त-भाजनिय ३७८, ४३५, ४३६, ४३८, ४४०
सुत्तन्तिक ८३, ११५
सुत्त-निद्देस (सुत्त-निद्देसो) ६१९, ६४६
सुत्त-निपात २४, ७९, ११२, ११३, ११८, ११९, १२७, २०४, २२०, २२१, २२६, २२७, २२९, २३०, २३३, २३८, २५९-२६९, २८०, ३२६, ५४३, ५५६, ६३३, ६४३, ६७८, ६८६
सुत्त-पिटक ८२, ८३, ८९, ९०, ९२, १००, १०१-११३, १२०, १२३-३३१, ३३८, ३४०, ३४२, ३६९, ३७५, ३७६, ३७७, ३८१, ३८२, ३८३, ३८५, ३८७, ३८८, ५२७, ५२८, ५५२, ५४४
सुत्त-माला ६५५
सुत्तवादी (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५५, देखिये 'सौत्रान्तिक' भी।
सुत्त-विभंग १०१, ११८, ११९, ३५४-३५७, ३५९
सुत्त-संगह १२१, २२३, ५२५
सुत्तावली ६८७
सुदत्त (गृहपति) २०८, देखिये 'अनाथ-पिण्डिक' भी।
सुदस्सन (नगर) ३१४
सुदिन्न (कलन्द-पुत्र) ८५
सुद्धट्ठक-सुत्त २६५
सुधीरमुखमण्डन ६५७
सुन्दरिक-भारद्वाज-सुत्त १९९, २६४, २६५
सुन्दरिका (नदी) १९९, २०१
सुन्दरी (भिक्षुणी) २९४, २९६
सुन्दरी नन्दा (भिक्षुणी) २९३, २९४, २९५

सुनक्षत्र (लिच्छवि-पुत्र) १५७, १५८, १६५, १६६, १७०, १७८
सुनक्खत्त-सुत्त १०८, १७८
सुनिक्खित्त-वग्ग २७०
सुनीत (स्थविर) २७६, २७७, २९४
सुपण्ण-संयुत्त १११, १९१
सुप्पारक ५८७, ५९९
सुप्रबुद्ध २५४
सुप्रवासा (कोलिय-दुहिता) २०८, २५२, २५३
सुप्रिया (उपासिका) २०८
सुबोधालंकार ५७०, ६६१, ६८७
सुबोधालंकार-टीका ५७२, ६८७
सुबोधालंकारस्स-नवटीका ६२०
सुब्रह्मा ६२६
सुभ तोदेय्यपुत्त (माणवक) १३५, १६०, १७७, १८१
सुभद्र (परिव्राजक) १६२
सुभद्र (वुड्ढपब्बजितो) ८४, ८५, ८६, ८७, ८८
सुभ-सुत्त ९६, १०२, १०७, १३२, १३५, १४३, १४४, १४५, १६०, १७७-१७८, १९५
सुभासित-सुत्त २६५
सुभूतचन्दन (ग्रन्थकार) ६२०
सुभूति (स्थविर, बुद्ध-शिष्य) २०७
सुभूति (वस्कडुवे सिरि, सिंहली विद्वान् भिक्षु) ५७८, ६४५, ६४६, ६४८, ६४९, ६५०, ६५५, ६५६, ६५९
सुमन (श्रीलंका में विनय-धर) ३४१
सुमनकूट, देखिये 'समन्तकूट'।
सुमनकूटवण्णना ६१९, देखिये 'समन्तकूटवण्णना'।
सुमना (भिक्षुणी) २९४
सुमहावतारो (ग्रन्थ) ६२०
सुमात्रा ३२२
सुमेध (तपस्वी, बोधिसत्व) ३०४, ३०५, ३२८
सुमेध-कथा ५७६, ६४१
सुमेधा (भिक्षुणी) २९४, २९६
सुमंगल (सिंहली स्थविर सारिपुत्त के शिष्य) ५६४, ५७०, ५७२, ५७६, ६१९, ६३४
सुमंगल (महाथेर, वनरतन मेधंकर के गुरु) ६३५
सुमंगल (तिब्बोतुवावे) ६०१
सुमगल (हीनटिकुम्बरे) ५११
सुमंगल (हिक्कडुवे सिरि) ५७९
सुमंगल (महास्थविर, बालावतार व्याकरण के सम्पादक) ६४७
सुमंगलप्पसादनी (सुमंगलपसादनी भी) ५७२, ६१८
सुमगलविलासिनी १, २, ९०, ११६, २२०, २२१, २२२, ३६०, ३६८, ३७३, ३७६, ५२७, ५४३, ५५३, ५६०, ५७०, ६१७
सुरट्ठ (सुराष्ट्र) ३१४, ५२५
सुरापान-जातक (८१) ३१५
सुरिय-सुत्त २३५
सुरुचि-जातक (४८९) ३१४
सुरुन्धन (नगर) ३१४
सुवण्णसाम-चरियं ३३१
सुवण्णसाम-जातक (५४०) ३३१, देखिये 'साम-जातक' भी।
सुवण्णभूमि (सुवर्णभूमि) ९८, ३१५, ५९४, ६०५, ६०९, ६११, ६२१
सुसद्दसिद्धि ५७०, ६५४
सुसन्धि-जातक (३६०) ३१५, ३२२
सुसीम-जातक (१६३, ४११) ३१४ ३२१
सुसुमार-गिरि २०१, ५५४, ५५५
सुसुमार-जातक (२०८) ३१०
सूत्र (-ग्रन्थ,-साहित्य) १२, ३०, १३९, १४०, २५६
सूत्र-निपात: १२७
सूनापरान्त (सुनापरन्त) १८१, ५९६

सूर-अम्बट्ठ—देखिये 'शूर-अम्बष्ठ'।
सूरसेन—देखिये 'शूरसेन'।
सूल-छारक ६८७
सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट (ग्रन्थमाला) ८७, ३७५, ५०७, ५२३, ५२५ ५८६, ६७४
सेख-सुत्त (सेक्ख-सुत्त भी) १०५, १७३
सेखिय-कथा ५३४, ५३५
सेखिया धम्मा ३४३, ३४४, ३४५, ३५०, ३५४, ३५५
सेगेंग (बरमा में) ५७६
सेतकण्णिक (कस्बा) ३१२
सेतकेतु-जातक (३७७) ३१८
सेतव्या १६५, २६८
सेनां (ई०) १३३, २४५, ६७८
सेनानीगाम १९७, २०१
सेनानी-दुहिता (सुजाता) २०८
सेरिस्सक २२९
सेल (ब्राह्मण)—देखिये 'शैल'।
सेल-सुत्त १०७, १७७, २६५
सेवितब्ब-असेवितब्ब-सुत्त १०८, १७९
सोण (सोणक भी, स्थविर, सुवर्णभूमि में धर्म-प्रचारक) ९८, ५९४, ६०५, ६०९
सोण कुटिकण्ण ८३, २०७, २५०, २५४
सोण कोळिविस (शोण कोटिविंश) १४६, २०७, ५५४
सोणक (स्थविर, विनय-धर) ३४१, ३७१, ५९९
सोणक-जातक (५२९) ३२१
सोणदण्ड (ब्राह्मण) १५६, १५७
सोणदण्ड-सुत्त १०२, १४३, १४४, १४६, १५६-१५७, १९५
सोणनन्द-जातक (५३२) ३३०
सोणपण्डित-चरियं ३३०
सोणा (भिक्षुणी) २०८
सोणुत्तर ५१२
सोतत्तगीनिदानं (सोतत्तकीनिदानं) ५५७, ६१९
सोतप्पमालिनी ६२०
सोतमालिनी ६८७
सोतापत्ति-संयुत्त ११२, १९६
सोपारा ६६३
सोभित (स्थविर) २०७, ३७१
सोम (थेर) ५५२
सोमदेज फ वनरत (भदन्त वनरतन) ५७८
सोमदेव ३२१
सोमनस्स-चरियं ३३०
सोमनस्स-जातक (५०५) ३१३, ३३०
सोमप्रिय (ब्रह्मचारी) ६३७
सोमा (भिक्षुणी) २९३, २९४, २९५, २९७
सोळस परिवार ३६०
सोलह महाजनपद—देखिये 'महाजनपद'।
सोवीर (सौवीर) १६४, २७१
सो-सोर्-थर्-पा ३४४, ३६६
सौत्रान्तिक ३८७, ४५५, ४५६
सौराष्ट्र १३०, देखिये 'सुरट्ठ' भी।
संयुत्त-निकाय १०१, १०९, ११०-११२, ११८, ११९, १२५, १२७, १३७, १४४, १४६, १४७, १४८, १६४, १८२-२०१, २०४, २०५, २०६, २१२, २१८, २२२, २२५, २३४, २३८, २३९, २९७, ३३७, ३८२, ३८३, ३८४, ३९२, ४७४, ५२७, ५४३, ५४४, ५७९, ६०४
संयुत्त-निकाय की अट्ठकथा ५४३, ५४४, ५५४, ५७०
संयुक्तकागम (संयुक्तागम) १२७, ३४६

संकण्णना (अभिधानप्पदीपिका पर) ६६०
संवण्णनानयदीपनी ६५६
संवर-जातक ५७६
संस्कृत (भाषा, साहित्य, शब्द, व्याकरण आदि) ३, ७, १२, २३, २७, ३०, ३१-३२, ३५, ३९-८१, १०१, १२६, १२९, १३५, ५३१, ५४२, ५८४, ६१३, ६२३, ६२४, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३६, ६४३, ६४५, ६५३, ६५५, ६९०, ६९२
संस्कृत त्रिपिटक १२६-१३२, २०३
संस्कृत धर्मपद २४७
संस्कृत बौद्ध धर्म ३०३, ३७५, ४८१, देखिये 'बौद्ध संस्कृत' भी।
संहिता ५, २४
स्ट्रांग (एस० ए०) ६०५
स्टीड (विलियम) ३०२
स्थविर-गाथा १२७
स्थविरवाद (उसकी परम्परा, साहित्य आदि) १०, ९५-९६, १००, १०१, १२१, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, २२१, २२४, २२५, २२९, २३६, ३३३, ३३८, ३३९, ३४१, ३४२, ३४४, ३६२, ३६३, ३७०, ३७२, ३७४, ३८६, ३८७, ३८८, ३९३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६६, ४६७, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७७, ४७८, ४८१, ५०४, ५०८, ५१६, ५२२, ५२४, ५३८, ५८७, ६२१, ६२४, ६३८, ६९३
स्पेन ३२४
स्याम—देखिये "सिआम'।
स्यालकोट ५०५, ५१२
स्रग्धरा (छन्द) ६१३
स्लेवोनिक (जाति) ३२५
स्वागत (सागत, भिक्षु) २०८
स्मिथ (वी० ए०) १३६, ५०५, ५०७, ५८६, ६६५
स्मिथ (हैमर) ६५४

ह

हण्ट (मेबिल) २०१
हत्थवनगल्लविहारवंस ६१२, देखिये 'अत्तनगलुविहारवंस' भी।
हत्थिगाम १६३
हत्थिपाल-जातक ५५७, ५७६
हम्फ्रेज़ (क्रिसमस) ११४
हरितमात-जातक (२३९) ३१४
हरिभद्र ११३
हलिद्दवसन (कोलियों का कस्बा) १८१
हस्तक आलवक (उपासक) २०८
हार्डी (ई०) २०१, ३७५, ५०२
हिक्कडुवे सिरि सुमंगल ५७९, ६०१
हितोपदेश ३२१
हिन्द-चीन ३२२
हिन्दी (भाषा, साहित्य) १२, ३२, ७९, २८९, ६५३
'हिन्दी भाषा का इतिहास' (धीरेन्द्र वर्मा) ८०
हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) २९७
हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म (इलियट) ३७२
हिन्दुकुश (पर्वत) ३२२
हिमवन्त (हिमवान्, प्रदेश) ९८, २०१, ५५३, ६०९, ६२२,
हिमालय २२, ९८, ३१९, ३२२, ५१२, ५९४, ६०५, ६६२
हिरि-सुत्त २६५
हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर (इण्डियन लिटरेचर, विण्टरनित्ज़) ८,

१३, १५, १७, २६, ८८, ९५, ९६, ११६, १२४, १३६, १५०, १५१, १८४, १८७, २२३, २२४, २२५, २२८, २८०, २९६, २९९, ३०१, ३०२, ३०३, ३०६, ३०७, ३१०, ३१८, ३२०, ३२१, ३२४, ३४६, ३५९, ३७९, ३८०, ३८५, ५०२; ५०६, ५०७, ५२३, ५९०, ६२७, ६३१, ६३४, ६३६, ६३९, ६७७, ६७८

हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर (लाहा) ८, ११, १३, २०, २३, २६, ११७, ११९, २२७, २२९, २४५, २९९, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३९१, ५२८, ५९०, ६०३, ६२२, ६२५, ६२६, ६३४, ६३७, ६४०, ६४३, ६५४, ६५८, ६७५

हिस्ट्री ऑव फिलासफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न (राधाकृष्णन्- सम्पादित) १४८

हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑव बुद्धिज्म (टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स्) देखिये 'दि हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑव बुद्धिज्म'।

हुइ-नेंग् (छठे धर्मनायक) ११४

हीनयान ३१७, ३८७

हुल्श (ई०) २२८

हेतुबिन्दु ६८८

हेतुबिन्दु-टीका ६८८

हेतुवादी (बौद्ध सम्प्रदाय) ४५८, ४७२, ४७३, ४७४, ४७६, ४७७, ४७९, ४८०

हेम्यू ३६७

हेमकमाणवपुच्छा २६५

हेमचन्द्र (वैयाकरण) ३३

हेमवत (हैमवत, बौद्ध सम्प्रदाय) ४५६, ४५८

हेमवत-सुत्त २६४, २६५

हेवावितरणे संस्करण—देखिये 'साइमन हेवावितरणे बिब्लेस्ट सीरीज (कोलम्बो)'

हंसवती (हसावती भी) ५६३, ५७६

ह्रस्व मात्राकाल का नियम ४६-४८, देखिये पृष्ठ ४२-४३ भी।

२—उद्धृत पालि शब्दों की अनुक्रमणी[1]

अ

अकलु २२, ६५
अक्खि (अच्छि) ७०
अगरु ५८
अगलु ५८
अग्ग ५३
अग्गि ४१, ५०, ७२
अग्गीसु ४२
अग्गीहि ४२
अंगुलि (अंगुली) ५
अच्छ ४३
अच्छेर (अच्छयिर, अच्छरिय) ५५, ७१
अज्झेन ५४
अञ्ञ ३७
अट्ट ७५
अट्ठ ४१, ७५
अड्ड ७५
अत्तनोपद ७६
अतिधोन ५५
अधिगिच्य २१
अनण ४४
अपरगोयान ६४
अपरण्ह ७३
अपारुत ४५
अपेखा (अपेक्खा) ४६
अब्बहति ४७
अब्भमत्त (अब्भामत्त) ५८
अभिनन्दुं ति ५९
अभिवन्दित्वा (अभिवन्दिय) ७८
अम्ब ३१, ५८
अम्बपालि ७
अम्हना ७३
अय्य (अरिय) ७१
अरभिपंति २९
अरंजर ५१, ६७
अलिक ५३
अवस्सं ७२
अवीवदाता २६०
अवेच्च ५९
अवग ६४
अस्म ७२
असु ५३
अहिकार ५२

आ

आचरिय (आचेर) ५५
आजिर (अजिर) ५३
आणा ७४
आतुमान २६०
आयस्मन्त ५१
आरभरे २९
आरभितु २८
आरभित्वा १८, २८, २९

---

१. यहाँ केवल उन्हीं पालि शब्दों की सूची दी गई है, जिन्हें पालि भाषा के विवेचन के सम्बन्ध में उद्धृत किया गया है।

आरभिसु २९
आरम्मण ६७
आरोग (अरोग) ५३
आलभितु १८, २९
आलभियिसु २९
आळविक ५
आळारिक ६८
आलिन्द (अलिन्द) ५३
आवुध ६८
आवुसो ६८

इ

इक्क ४४
इच्छति (इच्छते) ७७
इण ४४
इत्थी ५५
इदपि ५९
इध ६५
इरियति ५६
इसिपतन २१
इस्सरिय ४९

उ

उच्छु (इक्खु) ५०
उजु (उज्जु) ४४
उण्ह ७३
उत्त ७१
उत्तिट्ठ ७४
उदाहु २१, ५३, ६४
उदिय्यति ७१
उदुक्खल ४७
उपथेय्य ६६
उपनेत्वा (उपनीय) ७८
उपामकासे २६०
उपाहन-दान ५८
उपेखा (उपेक्खा) ४६
उपेतो ५९
उप्पज्जति ७१
उब्बिग्ग ७२
उम्मूलेति ७१
उम्हयति (उम्हयते) ५५
उळुंक ५१
उसभ ४४
उसु ५०
उसुमा ५७
उस्सुक ४९
उसूया ५०

ऊ

ऊहादेति ५५

ए

एक (एके, एको) २९
एक्कं ४३
एकोदि २०, २१
एकारस (एकादस) ६७
एदिस (एरिस) ४८
एदिसक ४८
एरावण ४९
एरिक्खा (एदिक्खा) ६७
एरिस (एदिस) ६७
एळ ६७
एळक ५
एलन्द ६७
एव्वं ४३

ओ

ओक ५३
ओक्कामुख ४२
ओट्ठ ४२
ओत्तप्प ५५
ओधि ५४
ओरस ४१, ४९
ओवरक ५५

क

कक्क ७१

कक्खळ ६४
कच्चान (कच्चायन) ५५
कच्छ ७०
कजंगल २१, ३६
कण्णपालियो ७
कण्णेभि ३१
कण्णेहि ३१
कणेरु ६८
कण्ह ५७, ७३
कत ४४
कथेति ५४
कपोणि ६५
कम्मञ्ञ ७४
कम्मास ७१
करोति ३६, ६०
कल्ल ७२
कवि (कपि) ६४
कविट्ठ ६४
कसट ३७, ५६
कसाव ६८
कस्सक ७१
काकणिका ५१
कातवे ३१, ७८,
कातून ३६, ७८
काल ४५
कालुसिय ५६
किण्ण ७२
कित ४४
किपिल्लिका ६८
किब्बिस ७१
किलन्तो ६९
किलेसो ६९
कुत्त ४५
कुत्ति ४५
कुप्पटिच्चस्सन्ति २६०
कुब्बन्ति ७१
कुब्बर ४७
कुरुंग ५१
कुसिनअर (कुसिनार) ६४
कुसीत २२, ३६, ६६
कूटट्ठ ७५
केवट्ट ७५
को ५०
कोसिय ६४

ख

खत्तु ६२
खनति ६०
खम्भो ६९
खायित ६४
खीरं ४५
खील ६२
खुज्ज ६२
खुद्द ४९
खुधा ७०
खेळ ६४

ग

गच्छति ३६, ६०
गणनायं ४५
गधित (गथित) २१, ६४
गत्वान ७८
गन्तवे ३१
गन्तून ३६
गमिस्सिति ३६
गरहति ५७
गरहा ५७
गरु ५८
गहित ५३
गाम ६९
गिम्ह ७३
गिरिमिव ५९
गुन्नं ७७
गेरुक ५२
गोनं ७७

घ

घटो ६१

च

चजति ६९
चत्तारो मे ५९
चन्दिमा ५२
चरामसे ७८, २६०
चरिम ५२
चापक २२, ६६
चित्ता ३१
चिन्ह ७३
चुन्द ६३
चेतिय ४२, ४८
चेमे ५९
चोरो ६०

छ

छकल ६५
छारिका ७०
छिज्जति ७४

ज

जच्चा ७४
जनेत्व २६०
जनो ६०
जम्बोनद ४८
जल्लिका ६३
जायरे ७८
जिगुच्छति ५१
जिण्ण ४६
जिम्ह ७३
जिया ५६
जिव्हा ७३
जीवन्तो (जीवतो) ५७
जुण्हा (जुन्हा) ७४
जेति ५४

ञ

ञाम ७०

ठ

ठापेति ७०
ठितो ७०

ड

डसति ६३
डहति ६३
डाह ६३, ६६

त

तक्क ७२
तच्छति ७०
तथरिव ५९
तळुण (तरुण) १८, ६७
तसिणा ५६
तन्ति ५, ७, ८, १०
ताडेदि ६०
ति (इति) ५९
तिकिच्छति ६६
तित्थं ४६
तिव्ब ७२
तिमिस्मा ५०
तीह ५४
तुरियं (तूरियं) ५७
तुय्हं ७३
तेमे ५९

थ

थरु ३५
थीन ५३
थूपो ६९
थेर ५५

द

दक्खिणा ७०
दद्दल्लति ६६
दळ्ह ४३
दन्तपालि ७
दन्तो ६०
दमिळ ६८

दातवे ७८
दातु पि ५९
दानि ५९
दाय (दाव) ६८
दासिगण ५८
दीघ ४६
दीघमद्धानं (दीघमद्धान) ५७
दुक्कटं (दुक्कतं) ७८
दुक्खे ३४
दुक्खं ४९, ५७
दुग्गताहं ५९
दुल्लभ ७१
दुवे ५७
दुस्सहो ४९
देण्डिम (दिण्डिम) ६७
देवा ति ५९
देवानं ४५
देवासे ३१, ७७
देवेभि ३१, ७७
देवेहि ३१
देवो ५०
देसो ६२
देहनी ६८
दोस ५४
द्वोह ५३
द्वेळ्हक ६६

ध

धम्मासे ३१, ७७, २६०
धारोप २७
धेनु ५०

न

नग्ग ५७
नङ्गळ ३५, ६८
नदति (नदती) ५७
नदि ४५
नयिदं ५९
नरो ३६
नवुति ५२
नासेति ६१
निक्ख (नेक्ख) ७१
निक्खमितून ३६
निग्गहीत ४०
निड्ड (नेड्ड) ४७
निघातवे ७८
निन्न ७१
निय्याति ७१
निस्सित्वा (निस्साय) ७८
निसिन्न ५१
निस्सोको ४९
नीयाति ४७
नेक्ख ४२
नेतवे ७८
नेरजरा ६७

प

पकिरिय ४८
पग्घरति ७०
पच्चनीका (पच्चनिका) ५७
पच्चयासे २६०
पच्चरे ३१
पज्जलति ७२
पञ्ञा ६९
पञ्ह ७३
पटंग ६६
पटिगच्च (पटिकच्च) ६३
पटिमा ६६
पटिविस्सक ४९
पटिसल्लान ५५
पट्ठाय ७५
पठम ६६
पठवी ६६, देखिये 'पथवी' भी।
पण्डितासे २६०
पतिना ७७
पत्त २७

पथवी (पठवी, पुथवी, पुथुवी, पुठुवी) ४४, ६६
पन ५८
पम्ह ७४
परस्सपद ७६
परिधापयित्वा ७८
परिब्बय ७२
परिम ५२
परियत्ति १३८
परियाय (पलियाय) ४, ९
पळच्चर ५
पलिख (पलिघ) ६६
पलिखनति ६७
पलिघ २२, देखिये 'पलिख' भी।
पलिस्सजति ६७
पवेधति २१
पसद ६४
पसन्तो ६९
पसिब्बक ४९
पसुत ५२
पहीण ४५
पाकट ५८
पाचित्तिय २१
पाति २७
पानसतसहसानि २९
पानानि २९
पानिय ५३
पापुरण २२, ५२, ६६
पाराजिक २१
पारुत ४५
पारुपण (पापुरण) ६८
पाळ ५, ६
पाळि ४, ५, ६
पालि (शब्द) १-९
पावचन ५, ५८
पि (अपि) ५९
पिटक १३८-१३९
पिटक-सम्पदाय १३८-१३९
पितिपक्खतो ४४
पितुघातक ४४
पिथीयति ६६
पिप्फल ७५
पिय ४१
पियदसि २९
पियदसिना २९
पिलक्ख ५६
पिसील २७
पुच्छति ४४
पुञ्ञ ३७
पुत्तिमा ५२
पुत्तो ६०
पुन ५८
पुब्बण्ह ७३
पुर २८
पुरा १८, २८, २९
पुरिसो (पुरिस) ३६, ६२
पुरिसकारे ३४
पुरे ३४
पुलुवं १८, २९
पेक्ख ३६
पेय्यालं ६, १४४
पोक्खर ४२
पोक्खरणी ५१
पोण २७, ५४
पोर ४९
पोसथ ५९
प्रणनि २९
प्राणशतसहस्रानि २९
प्राणसतसहस्रानि १८, २९
प्राणा २९
प्रियदर्शि १८, २९
प्रियदसि २९
प्रियदसिना २९
प्रियदसिनो २९
प्रियद्रशिन १८, २९

फ

फरसु ६२
फला ७७
फलानि ७७
फलं १८, ६१, ७७
फळिक ६४
फेग्गु ४२

ब

बधिं ७७
बधी ७७
बब्बु ७५
बहिनी (बहिणी) ६३
बहिरो ६०
बह्पकारं ५९
बिल्ल ७२
बुद्धानुस्सति ५९
बुद्धासे ३१, ७७
बुद्धेभि ७८
बुद्धेहि ७८
बुद्धो १८, ३६
बुधे १८
ब्राह्मणासे २६०
ब्रूहेति ४५

भ

भगवा ७५
भवामसे २६०
भारिय ३७
भासरे ३१
भिक्खवे ३४
भिक्खूसु ४२
भिक्खूहि ४२
भिसक्क (भेसज्ज) ७४

म

मकस ६८
मक्खिका ७०
मग ४३, ४४
मगो २९
मच्चुस्सेवोदके ५९
मच्छेर ५५
मज्झिम ५२
मत ४४
मत्थि ५९
मद्दवं ४६
मन्त्रेति ६१
मयूहं ७३
मरियादा ५६
'मसे' (प्रत्यय) ३१, ७८
महेमसे (महामसे) ७८
मागन्दिय २१, ६४
मातिपक्खतो ४४
मातुघातक ४४
मिगे (मिग) १८, २९, ४४
मिञ्जा ५१
मित ४४
मिय्यरे ७८
मिस्स ७२
मुखं ४१, ६१
मुखोदकं ५९
मुग्ग ७१
मुतिंग २२, ३६, ६६
मुनीमा ५१
मुदिता (मुदुता) ५२
मुळाल ६७
मूळ (मूल भी) ४५
मेत्ता ४९
मोग्गल्लान (मोग्गल्लायन) ५५
मोचेति ५४
मोर (मयूर) ५५
मोरिय ४२, ४८
मंकुण (माकुण) ४७
म्रिग्गे २९

य

यट्ठिका (लट्ठिका भी) ६१

यथरिव ५९
यथाज्ञासयेन ४८
यमामसे ३१
यस्मिन्द्रियाणि ५९
यागु ५५
याव ६१
युध्यति (युध्यते) ७७
येव ३५
य्वायं ५९

र

रज २८
रजपथ (रजापथ) ५८
रञ्ज्रा ३७
रन्तून ३६
रम्म ७२
रहद ६८
राज ६१
राजा १८, २८, २९
राजिने २८
राजुल ५२
रुक्ख ४५
रुहिर (रुधिर) ६५
रूपा ३१
रूपानि (रूपानि भी) ६१

ल

लग्ग ७२
लघुमेस्सति ५९
लभेमसे (लभामसे) ७८
लहु ६५
लाम्बा ४६
लाघुलोवादे १८, २१
लाजा १८, २९, ६१
लाजिना २९
लुज्जति ६१
लूह ४९, ६१
लोकस्सा ति ५९
लोण ५४
लोह ७५

व

व (इव) ५९
वक ४३
वजिर ५६
वड्ढति ७५
वड्ढि ४४
वदेमसे ७८
वधू ४१
वाक ४७, ७१
वादो ६१
विकट (विकृत) ४३
विच्छिक ४४
विज्ज् ७५
वित्थ २७
विप्पहातवे ७८
विम्हय ७३
विमोक्ख (विमोक्ष) ४६
वीतिवत्त ५४
वीमसति ६८
वीसति (वीस) ४८
वुच्चति ७२
वृद्धि ४४
वे ४९
वेळु ५, ३५, ६७
वेणु ४२
व्यसन ५४
व्याकतो ५९
व्याध ५४
व्यावट ६६

स

सका निरुत्ति (सकाय निरुत्तिया) २३-२७
सकुण ६६
सक्क ७२
सक्कटभासाय २३

कल्याणमित्र

श्री तुलसीराम वर्मा को

सक्किति ३६
सक्खली (सक्खलिका) ५१
सक्खि (सक्खिं) ३५
सखिभाव (सखीभाव) ५८
सचायं ५९
सच्च ७४
सज्जु ५३
सतिमती (सतीमती) ५७
सत्त ७१
सत्थवाहो ६२
सद्द ३६, ७१
सण्ह ७४
सत ६४
सब्बञ्ञू ५
समूहतासं २६०
सम्मन्तीध ५९
सम्मा ७५
सम्मुज्जनी ५१
सम्मुति ५२
सम्ह ७३
सम्मदत्थो ५९
सवनीय ६२
सराव २७
सहित (संहिता) ५
संघादिसेस २०, २१
संवरी (सावरी) ४७
सागल ६३
साज्ज ४८
साण ४४
सायति (सादियति) ६४
सासप ४७
साहु (साधु) ६५
सिंगिवेर ५१
सिघाटक ७५
सिनान ३७
सिनेह ५६
सिन्धव ४९
सिम्बल (सिम्बली) ५८
सिरिसप ५०
सीह ४८
सुक ७२
सुखुम ५७
सुखुमाल ६५
सुक (सूक) ४७
सुजा ६४
सुणुहि ७७
सुणोथ ७७
सुनख ६५
सुन्हात ७३
सुपिन (सोप्प) ५४
सुमुग्ग ५०
सुरिय (सुय्य) ४८
सुव (सुक) ६४
सुवन्थि (सोन्थि) ५४
सुवानि २६०
सुवाना २६०
सुवे ३४
सुसु ५०
सुस्स ४९
सून ५४
सेम्ह ४२, ७२
सेय्यथा ३४
सेय्या ४२
सोचरे ७८
सोतवे ७८
सोतून ३६
सोत्थान ५५
सोपाक ५४
सोप्प ७२
स्वागतं ५९

ह

हट ६६
हदय ४३
हसितून ३६
हिय्यो ५६
हिलाद ५६

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२७	'अन्तः स्थल्'	अन्तःस्थ 'ल्'
११	९	"भासिस्सं मागधी सद्दलक्खणं"	"भासिस्सं मागधं सद्दलक्खणं"
२१	१३	अचिरवती अजिरवती	इसे हटाएँ
३६	७-८	और 'अचिरवती' से 'अजिरवती'	इसे हटाएँ
८७	४	कोट्टित	कोट्ठित
१०४	१९	अलगद्दपम-सुत्त	अलगद्दूपम-सुत्त
१४४	६	(दीघ० १।५)	(दीघ० १।६)
१४४	१०	वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त	वेरंज-सुत्त
१७५	२७	अग्गिवच्छगोत्त नामक परिव्राजक	वच्छगोत्त नामक परिव्राजक
१७९	२५	देवदत्त-सुत्त	देवदूत-सुत्त
१९२	२	(१।३।१)	(२।३।१)
२०१	१६	तज्जि	वज्जि
२३२	५	अर्हत	अर्हत्
२७२	२०	प्रकाशित	प्रकाशित।
३४२	१६	मोतो-रोग-रोग्	मोतो-रोग-रोन्
३६९	१८	रपमार्थ-देशना	परमार्थ-देशना
३८२	अन्तिम पंक्ति	आयतन-संयुत्त	सळायतन-सयुत्त
३८३	१७	आयतन-संयुत्त	सळायतन-संयुत्त
४५४	२४	पूर्ण	पूर्व
४६६	१३	राजगृहिक	राजगिरिक
४७३	१५	महासाधियों	महासांघिकों
४७५	२६	व	वे
५०७	१७	निवयक्तिकता	निर्वैयक्तिकता
५१७	११	युगपप्	युगपद्
५५४	१३	संघमित्रा	इसे हटाएँ
५६३	१	अनटीका	अनुटीका
६०२	४	बुद्धोंसुप्पत्ति	बुद्धघोसुप्पत्ति
६१५	७	सन्देश-कथा	सन्देस-कथा
६१६	१५	गन्धकाचारियों	गन्धकाचरियों
६२३	१	छन्द-शास्त्र	छन्दःशास्त्र
६४६	२५	निरुत्तसारमंजूसा	निरुत्तिसारमंजूसा